

कृपया यह ग्रन्थ नीचे निर्देशित तिथि के पूर्व अथवा उक्त तिथि तक वापस कर दें। विलम्ब से लौटाने पर प्रतिदिन दस पैसे विलम्ब शुल्क देना होगा।



The Hindu Philosophy of life, conduct and emancipation.

श्रीमद्भगवद्गीता

अथवा

भगवदाशयार्थदीपिका

द्वितीय व तृतीय षट्क, तीसरी जिल्द

अन्वयाङ्कानुसार शब्दार्थ, भाषानुवाद, व्याख्या तथा
अर्थ-निर्णायक टिप्पणी इत्यादि समेत

लेखक
श्री आर० एस० नारायण स्वामी, पट्ट शिष्य
ब्रह्मलीन परमहंस श्रीस्वामी रामतीर्थजी

प्रकाशक
श्रीरामतीर्थ-पब्लिकेशन लीग,
द्वितीयावृत्ति] लखनऊ. [मार्च, १९४०
मूल्य सा० संस्करण ३) विशेष संस्करण ३॥)

शुभ समाचार

यों तो श्रीरामतीर्थ-पब्लिकेशन लीग, लखनऊ समय-समय पर अधिकारी सज्जनों व धार्मिक पुस्तकालयों को यथाशक्ति अपनी पुस्तकें विना दाम अथवा आधे दाम पर बाँटती ही है, किन्तु धार्मिक सज्जनों को इस धर्म-कार्य में हाथ बँटाने का शुभ अवसर देने के लिये लीग ने यह निश्चय किया है कि जो सज्जन इस शुभ उद्देश्य से स्थायी रूप से जितनी रक़म लीग के पास जमा करा देंगे, लीग उसके व्याज से—जो अधिक-से-अधिक ।।) प्रति सैकड़ा तक होगा—प्रतिवर्ष उनके नाम से पुस्तकें विना दाम लिए अधिकारी सज्जनों व सार्वजनिक पुस्तकालयों को निरन्तर वितरण करती रहेगी। आशा है, दानी सज्जन प्रसन्नतापूर्वक इस शुभ कार्य में योग देंगे और इस रीति से यश व पुण्य दोनों के भागी होंगे।

मंत्री
श्रीरामतीर्थ-पब्लिकेशन लीग
लखनऊ

मुद्रक—पं० मन्नालाल तिवारी, शुक्ला प्रिंटिंग प्रेस, नज़ीराबाद, लखनऊ.

ॐ

भूमिका

(प्रथम संस्करण की)

धन्यवाद

सबसे पहले उस सच्चिदानन्द भगवान् को धन्यवाद है जिसकी प्रेरणा से प्रेरित मन, बुद्धि, चित्त कई वर्षों के बाद गीता के अवशिष्ट भाग (अर्थात् बारह अध्यायों) की व्याख्या पुनः लिखने में प्रवृत्त हुए। फिर अपने पूज्यपाद गुरुदेव ब्रह्मलीन परमहंस श्री १०८ स्वामी रामतीर्थजी महाराज को धन्यवाद है जिनकी अपार कृपा, शिक्षा और मस्तीभरी संगति से प्रभावित लेखक इस भगवदाशयार्थ-दीपिका नामक व्याख्या के सम्पूर्ण करने में सफल हुआ। फिर उन अनेक पत्रों के सम्पादकों को धन्यवाद है जिन्होंने प्रथम षट्क (अर्थात् गीता के प्रथम छ अध्यायों) की व्याख्या पर अपने शुद्ध चित्त के साथ बहुत-सी सराहनीय समालोचना निकालकर एक ओर तो पाठकों की (इसके पढ़ने में) रुचि बढ़ाई, और दूसरी ओर लेखक का उत्साह भी इस व्याख्या के समाप्त करने में पहले से अधिक बढ़ाया। और अन्त में विशेषतः उन राम-प्यारों तथा पाठकों को धन्यवाद है जिन्होंने अनेक पत्रों द्वारा प्रशंसा-भरे शब्दों से व्याख्या का आदर किया और यथाशक्ति तन, मन, धन से इस व्याख्या के प्रकाशन में सहायता दी। ईश्वर करे इस व्याख्या के अवलोकन से गीता-प्रेमियों व पाठकों के हृदय हरे-भरे, प्रफुल्लित, प्रसन्न, प्रेममय और परमात्म-परायण हों, और वे पहले से भी अधिक तन, मन, धन से सहायता करके

इसके प्रकाशकों का उत्साह बढ़ानेवाले हों, जिससे इसका अगला संस्करण पहले से भी अधिक उत्तम और उपयोगी रूप से प्रकाशित हो सके।

प्रथम षट्क की व्याख्या सन् १९१७ में प्रकाशित हुई थी। और पूरे दस

विलम्ब का कारण वर्ष तक दूसरे तथा तीसरे षट्क (अर्थात् पिछले बारह अध्यायों) की व्याख्या का प्रकाशन न हो सका। इसका मुख्य कारण यह हुआ कि परमहंस स्वामी रामतीर्थ के समग्र अँगरेज़ी व्याख्यानों और लेखों के सम्पादित व प्रकाशित होने के बाद हिन्दी-भाषा के प्रेमी राम-प्यारों ने पत्र-पर-पत्र भेजकर लेखक की नाक में दम कर दिया कि वह सब कार्यों को छोड़कर सबसे पहले राम के समग्र अँगरेज़ी व्याख्यानों और लेखों का हिंदी में अनुवाद करके उनका शीघ्र प्रकाशन करे। राम-प्रेमियों के इस लगातार आग्रह से विवश होकर लेखक को गीता की व्याख्या का कार्य उसका प्रथम भाग छपवाने के बाद ही रोक देना पड़ा, और राम भगवान् के अँगरेज़ी उपदेशों के हिन्दी-अनुवाद का कार्य हाथ में लेना पड़ा। यह अनुवाद-कार्य कोई छोटा काम न था, इसकी पूर्ति एक अकेले व्यक्ति द्वारा और वह भी थोड़े-से फ़ंड से होना अत्यन्त कठिन वा असम्भव-सी थी। इसलिये इस निमित्त राम-प्रेमियों की एक संस्था चलानी पड़ी। सन् १९१९ में, लखनऊ नगर में, थोड़े-से फ़ंड के साथ यह संस्था स्थापित की गई, और १९२० के आरम्भ में ही नियम-पूर्वक रजिस्टर्ड करा दी गई। इस संस्था के अधीन यह महान् कार्य प्रारम्भ कर दिया गया। और स्वामी राम का प्रत्येक शब्द जो भी अँगरेज़ी व उर्दू-भाषा में व्याख्यान, लेख, पत्र या कविता के रूप में मिला, सबका हिन्दी-भाषा में अनुवाद कर दिया गया। इस कार्य में लगभग छ वर्ष लग गये। इन छ या सात वर्षों के भीतर-भीतर हिन्दी-भाषा में स्वामी राम के समग्र लेख, व्याख्यान, पत्र और भजन इत्यादि २८ भागों में प्रकाशित किये गये, तथा अँगरेज़ी व उर्दू के सब व्याख्यानों व लेखों के नये संस्करण भी हुए। एक तो इस कारण गीता की व्याख्या में विलम्ब हुआ, दूसरे फ़ंड का भी अभाव था। जो फ़ंड राम के उर्दू-व्याख्यानों व लेखों और गीता के प्रकाशनार्थ प्राप्त हुआ था, वह सब-का-सब

गीता के प्रथम भाग और हिन्दी-ग्रन्थावली के प्रकाशन में लग चुका था और गीता के शेष भागों के प्रकाशनार्थ एक छदाम भी पास न था। जब छः या सात वर्ष बाद रामतीर्थ-ग्रन्थावली के काम से अवकाश मिला, तब गीता के अवशिष्ट अध्यायों की व्याख्या का काम हाथ में लिया गया और कुछ परिचित और उदार-चित्त राम-प्यारों से इस महान् कार्य के प्रकाशनार्थ धन भेजने की प्रार्थना की गई। दो वर्षों में इधर व्याख्या पूर्ण-रूप से लिखी गई और उधर लगभग ३०००) रुपये निम्नलिखित महानुभावों से प्राप्त हो गये—

१५००) श्रीमान् प्रेममूर्ति राजा भगतचन्द साहब बहादुर, रियासत जुब्बल, ज़िला शिमला (पंजाब),

१०००) श्रीमान् प्रेममूर्ति राजा दौलतसिंह साहब बहादुर, रियासत लिम्बडी, ज़िला राजकोट (काठियावाड़),

२६८) श्रीमान् ठाकुर पर्वतसिंहजी रियासत कोद, धारवार राज (सेंट्रल इण्डिया) तथा उनकी रियासत के कुछ प्रेमी सज्जन,

११५॥=) श्रीयुत ध्रुवसिंहजी तहसीलदार, रियासत कशमीर, तथा

२००) फुटकर रीति से प्राप्त हुआ।

और फ़ैज़ाबाद के प्रसिद्ध रईस लाला रामरघुवीरलाल ने १०००) की रक़म (गीता-कापियाँ अधिकारी लोगों में धर्मार्थ बाँटने के लिये) पेशगी भेज दी।

इन्हीं सज्जनों की उदारता व अमली सहानुभूति से यह विशाल व्याख्या इतनी शीघ्र प्रकाशित हो सकी, अन्यथा पता नहीं कि कब होती।

प्रकाशन-विचार

लीग जैसा उत्तम रीति से इस व्याख्या को प्रकाशित करना चाहती थी, धनाभाव के कारण वैसा नहीं कर सकी, और इसीलिये जितना कम दाम इस व्याख्या का वह रखना चाहती थी, न रख सकी। यद्यपि लगभग १०५० पृष्ठ की सजिल्द पुस्तक का दाम २) सर्वसाधारण की दृष्टि में बहुत नहीं दीखता, तथापि लीग का पूर्ण विश्वास है कि अगर इसी व्याख्या की कम-से-कम बीस हज़ार कापियाँ को एकदम छपवाने का फ़ंड भगवत्प्रेमियों से प्राप्त हो जाय, तो इस व्याख्या के दोनों भागों को, जो आज

४) पर दिये जा रहे हैं, लीग २) पर देने को तैयार हो जायगी। पर जितनी थोड़ी धन की सहायता सज्जनों से प्राप्त हुई, उसी के अनुसार लीग को विवश होकर साधारण-रूप से इस व्याख्या को प्रकाशित करना पड़ा और अपनी इच्छा के विरुद्ध २) प्रति भाग दाम रखना पड़ा। ईश्वर करे गीता-प्रेमियों के हृदय इस ओर अधिक प्रेरित हों, और वे लीग को सहायता देने में समर्थ हों, जिससे लीग अपने उच्च उद्देश्य के पालन में सफल हो।

इस अवशिष्ट भाग की प्रस्तावना प्रथम षट्क की प्रस्तावना की रीति से नहीं लिखी गई। प्रथम भाग की प्रस्तावना में तो केवल कर्म-अकर्म, धर्म-अधर्म तथा यज्ञ-अयज्ञ इत्यादि क्लिष्ट शब्दों पर विस्तारपूर्वक विचार किया गया था, और उन शब्दों के जो-जो अर्थ वा भाव गीता के अन्दर अस्पष्ट रूप से वर्णित थे, उन्हें स्पष्ट रूप से दर्शाया गया था। पर इस दूसरे भाग की प्रस्तावना में केवल शब्दों का नहीं किंतु मार्गों व सिद्धांतों का विवेचन किया गया है, और यह भी स्पष्ट रीति से दर्शाया गया है कि गीता के उद्देश्य और उपदेश कहाँ तक अन्य शास्त्रों से मिलते-जुलते हैं और कहाँ तक नितान्त विपरीत हैं। और मुक्ति के अनेक प्रचलित मार्गों से गीता में वर्णित मार्गों का कहाँ तक भेद है।

प्रस्तावना-ध्येय

इसके साथ-साथ प्रत्येक प्रकरण (विषय) के सम्बन्ध में जितने भी श्लोक अठारहों अध्यायों में बिखरे हुए पाये, उन सबको अपने-अपने प्रकरण के अन्तर्गत एक ही स्थान पर एकत्रित करके रख दिया है, जिससे पाठकगण एक ही प्रकरण वा विषय के सब श्लोकों को एक ही स्थान पर पाकर उनके भाव तथा उस प्रकरण के आशय व उद्देश्य को ठीक-ठीक समझकर लाभ उठा सकें।

पर किसी एक शास्त्र के सिद्धान्तों के समर्थन वा प्रचार के उद्देश्य से अथवा किसी एक शास्त्र को खण्डन करने की भावना से यह प्रस्तावना नहीं लिखी गई। इसलिये पाठकों से विनय-पूर्वक निवेदन है कि जैसी शुद्ध भावना से यह प्रस्तावना लिखी गई है, वैसी ही शुद्ध भावना वा वृत्ति से इसे ध्यान-पूर्वक पढ़ें, और फिर जो कुछ त्रुटि या अशुद्ध विचार इसमें उन्हें दिखाई दे,

उसे सूचित करने की कृपा करें। सम्भव है, इस रीति से आगे चलकर गीता की व्याख्या जनता के लिये अधिक लाभकारी हो सके।

अन्य भाष्य

इससे पहले गीता के अनेक भष्य जो दृष्टिगोचर हो चुके थे, उनके विषय में अपना विचार प्रथम भाग की भूमिका में विस्तार-पूर्वक स्पष्ट किया जा चुका है। पर गीता के इस दूसरे भाग की व्याख्या करते समय गीता पर जो अनेक छोटी-मोटी व्याख्याएँ अथवा लेख देखने में आये, उनमें से मुख्य-मुख्य लाला कन्नोमल-कृत 'गीतादर्शन', राजा दुर्जनसिंह-कृत 'भगवद्गीतासिद्धान्त', और बाबू हीरेन्द्रनाथ दत्त-कृत 'गीताय ईश्वरवाद' थे। 'गीतादर्शन' यद्यपि बहुत रूप से आकर्षक, निराला और अनेक विषयों से पूर्ण है और इस पर राजे-महाराजे तथा पं० दीनदयाल शर्मा-जैसे प्रसिद्ध व्यक्तियों के वचनारम्भ व वक्तव्य भी उसी में प्रकाशित हैं, तथापि विचार-पूर्वक पढ़ने से स्पष्ट हो जाता है कि जितना परिश्रम इस दर्शन में अनेक विषयों के दर्शाने में किया गया है, उतना किसी एक विषय की विस्तारपूर्वक व्याख्या, विधि और परिणाम के दर्शाने में नहीं किया गया, जिससे व्याख्याता का उद्देश्य पूर्णतया सफल होता हमें दिखाई नहीं देता। यदि इस ओर भी लेखक महोदय ने पूरा-पूरा ध्यान दिया होता, तो आशा थी कि उनका परिश्रम बहुज्ञ और अल्पज्ञ सबके लिये बहुत लाभकारी सिद्ध होता। पर अनेक विषयों की खिचड़ी अधकची-अधपकी एक ही थाली में मिलने से किसी एक का भी ठीक-ठीक स्वाद विचारवान् पाठक को नहीं मिलता प्रतीत होता और न इस रीति से मिल ही सकता है। तिस पर भी लालाजी का परिश्रम सराहनीय है, क्योंकि इस विधि से भी कुछ-कुछ विषयों में थोड़ी बहुत भूख पाठकों की निवृत्त हो रही है। लाला कन्नोमल एम० ए० के समान राजा दुर्जनसिंहजी ने भी अपनी पुस्तक 'श्रीमद्भगवद्गीतासिद्धान्त' में गीता के किसी एक अध्याय का आद्योपान्त अर्थ वा अनुवाद तो नहीं किया, परन्तु "कहीं की ठीकड़ी कहीं का रोड़ा, भानमती ने कुनबा जोड़ा" इस प्रचलित उक्ति के अनुसार अपने हार्दिक आशयों को, जो उनको गीता-अध्ययन से

स्फुरित या मालूम हुए, उनको आपने गीता का सिद्धान्त-रूप से दर्शाने का परिश्रम किया है, और उसके समर्थन में जिस किसी अध्याय में जो भी श्लोक उन्हें अनुकूल दिखाई दिया उसे लाकर वहाँ इकट्ठा कर दिया और अपने भावानुसार अनुवाद करके उसे गीता के सिद्धान्त का रूप दे दिया है। इस विधि से पाठक को यह निश्चय तो हो नहीं सकता कि अमुक सिद्धांत जो टीकाकार से वर्णित हुआ वह वास्तव में गीता का है या नहीं, पर इतना ज़रूर स्पष्ट हो जाता है कि यह टीकाकार के हृदय का अपना निश्चय वा उद्गार अवश्य है। भिन्न-भिन्न हृदयों के उद्गार को जानने की इच्छावालों के लिये राजा साहब का यह परिश्रम बहुत ही लाभदायक सिद्ध होगा, और भक्ति-भरे हृदय के आह्लाद का कारण तो ज़रूर होगा; पर गीता के सिद्धांतों को जानने की इच्छावाले जिज्ञासु की ठीक-ठीक तृप्ति नहीं कर सकता। श्रीयुत बाबू हीरेंद्रनाथ दत्त-कृत्त 'गीताय ईश्वरवाद' अपने नमूने का न केवल अद्वितीय ग्रंथ है बल्कि गीता के सिद्धांतों वा रहस्यों को भी ऐसी उत्तम रीति से स्पष्ट कर दर्शानेवाला है कि जो आज तक किसी भाष्य वा टीका द्वारा नहीं हुआ। अनेक वर्षों से ये विचार अपने हृदय में उमड़ रहे थे कि जो लोग गीता के अंदर सब शास्त्रों के सिद्धांतों वा उपदेशों को दर्शाने का यत्न करते हैं, वे व्यर्थ अपना और दूसरों का समय नष्ट करते हैं, क्योंकि गीता सिवाय वेदांत के और किसी शास्त्र के सिद्धांत को न मानती है और न प्रतिपादन करती है। गीता के बार-बार अध्ययन से यह भाव हमें स्पष्ट रूप से ज्ञात हुए, और इन्हीं विचारों को दर्शाने के लिये हमें गीता-व्याख्या लिखने की उमंग कभी-कभी उठा करती थी। पर प्रस्तावना में ये सब भाव हम स्पष्ट करने लगे ही थे कि इन्हीं भावों से पूर्ण ग्रंथ 'गीताय ईश्वरवाद' हमारे हाथ में आ पड़ा, और हमें अपनी प्रस्तावना के लिखने में इससे भारी सहायता मिली। इस ग्रंथ के लेखक अपने लेखों से विशिष्टाद्वैत मतानुयायी दीखते हैं, जिससे जैसी उत्तम रीति से विशिष्टाद्वैत मत का निरूपण इन्होंने किया है वैसी उत्तम शैली से अद्वैत मत का नहीं किया, और कुछ-कुछ स्थलों पर तो अद्वैत का स्पष्टीकरण बहुत संक्षिप्त और दबे शब्दों में किया गया है। इतने अंग को छोड़कर शेष सारा

ग्रंथ विचित्र-रूप से मोतियों की लड़ियों से गुथा हुआ है। यह ग्रंथ प्रथम वंग-भाषा में प्रकाशित हुआ था। पं० ज्वालादत्त शर्मा ने इसका हिंदी में अनुवाद किया है। अनुवादक महोदय की भाषा ऐसी सरल, उत्तम और भाव-पूर्ण है कि कुछ स्थलों पर तो उनकी वर्णन-शैली को जैसा-का-तैसा ही अपनी प्रस्तावना में रख दिया है। हमारा अनुमान है कि जिस विधि से अन्य शास्त्रों की इस ग्रंथ में विवेचना की गई है, वैसी वेदांत-शास्त्र के दोनों मतों (अद्वैत वा विशिष्टाद्वैत) की भी परस्पर विस्तारपूर्वक विवेचना की जाती, तो यह ग्रंथ सर्वाङ्ग-पूर्ण होता, और ऐसी दशा में हम इस विषय को गीता की प्रस्तावना में ज्यों-का-त्यों रख देते। पर बहुत स्थलों में कुछ भिन्न और कुछ विपरीत भाव देखकर उन सिद्धांतों को अपने ढंग पर अपनी प्रस्तावना के प्रथम अध्याय में निरूपण करना पड़ा। तिस पर भी इस ग्रंथ के लेखक व अनुवादक महोदय को हृदय से धन्यवाद दिये विना चित्त नहीं रह सकता क्योंकि हमें अपनी प्रस्तावना का प्रथम अध्याय लिखने में इस ग्रंथ से बहुत सहायता मिली है।

वर्णानुक्रमणिका

गीता के प्रथम भाग के आरंभ में जैसे छ अध्यायों की श्लोकशः विषयानुक्रमणिका और गीता-श्लोकों के प्रथम पाद की वर्णानुक्रमणिका दी गई है, वैसे इस भाग में गीता के अवशिष्ट बारह अध्यायों की श्लोकशः विषयानुक्रमणिका और गीता-श्लोकों के प्रथम पाद की नहीं किन्तु तृतीय पाद की वर्णानुक्रमणिका भी दी गई है, जिससे पाठक को श्लोक की किसी भी पंक्ति के स्मरण होने पर श्लोक ढूँढ़ने में किञ्चित् कठिनाई का सामना न पड़े। इसलिये पाठक के ध्यान में यह रहे कि अगर उसे किसी श्लोक की प्रथम पंक्ति याद हो और उसी के आधार पर श्लोक ढूँढ़ना हो, तो उसे गीता के प्रथम भाग की वर्णानुक्रमणिका में ढूँढ़ना चाहिए, और श्लोक की दूसरी पंक्ति याद हो, तो उसे इस (द्वितीय) भाग की वर्णानुक्रमणिका में ढूँढ़ना चाहिए।

विशेष परिचय

यद्यपि प्रथम भाग की भूमिका में कई कारणों से उन सज्जन का नाम स्पष्ट नहीं किया गया था कि जिनकी प्रेम-भरी प्रार्थना और सहयोग पर यह भगवदाशयार्थदीपिका-रूपी व्याख्या

विस्तारपूर्वक लिखी गई थी, और जिनकी मुख्य आर्थिक सहायता से ही गीता का प्रथम भाग प्रकाशित हुआ था। पर जब उनके प्रेम-भरे हृदय की धारणा, भावना और उमंग के प्रताप से यह महान् कार्य पूर्ण-रूप से समाप्त हो गया है, हृदय मानता नहीं है और न उचित ही दिखाई देता है कि अब उनका नाम जनता के सन्मुख न रक्खा जाय। और अपने हार्दिक कार्य की पूर्ति की प्रसन्नता में हमें आशा भी नहीं होती कि अब वह प्यारे अपने नाम के स्पष्टीकरण को बुरा समझेंगे। यह सज्जन मुरादाबाद ज़िले के अंतर्गत ठाकुरद्वारा नगर के प्रसिद्ध रईस साहु ललिताप्रसादजी के सुपुत्र साहु रघुनन्दनशरण वैश्य हैं कि जिनके बड़े भाई साहु व्रजपालशरण बी० ए० वहाँ के आनरेरी मजिस्ट्रेट हैं। यद्यपि अपने निजी कारणों से इस दूसरे भाग के प्रकाशन में ये प्यारे कोई आर्थिक सहायता नहीं दे सके, तथापि यह सब उनके हृदय के प्रेम-प्रवाह, भाव और शुद्ध विचार का फल है जो इस प्रकार की विस्तार-पूर्वक व्याख्या के साथ यह पुस्तक समाप्त हुई; क्योंकि अगर उनके प्रेममय हृदय की तह से यह प्रार्थना न निकली होती, और उनकी हार्दिक शुद्ध भावना और धारणा का गहरा प्रभाव लेखक के चित्त पर न पड़ा होता, तो यह सम्भव नहीं था कि कार्य की इतनी बाहुल्यता के होते हुए भी लेखक निरन्तर इस विस्तार-पूर्वक व्याख्या के लिखने में लगा रहता, और इस निरन्तर प्रवृत्ति के बाद इस प्रकार सफलता को प्राप्त होता। इसलिये क्या लेखक के और क्या पाठकों के धन्यवाद के पात्र सबसे अधिक वास्तव में यही सज्जन हैं। ईश्वर करे इस सज्जन के हृदय की भावना, प्रेम और धारणा दिन दुगुणी और रात चौगुणी उन्नति को प्राप्त हो, और इसी प्रकार धर्मपरायण और उदार-चित्त होते हुए यह प्यारे अपना जीवन सफल करें, ॐ तथास्तु।

हरिः ओम्। सह नाववतु। सह नौ भुनक्तु। सह वीर्यं करवावहै। तेजस्विनावधीतमस्तु। मा विद्विषावहै। ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

एप्रिल, १९२८] आर० एस० नारायण स्वामी



ॐ

भूमिका

(दूसरे संस्करण की)

'प्रकाश' बड़े हर्ष के साथ गीता की इस तीसरी जिल्द को लेकर पाठकों के सामने उपस्थित होता है। श्रीरामतीर्थ-पब्लिकेशन लीग के जन्मदाता, प्रेसिडेंट और श्री १०८ परमहंस स्वामी रामतीर्थजी महाराज के प्रधान शिष्य श्रीमन्नारायण स्वामीजी के कामों में श्रीमद्भगवद्गीता पर विस्तृत व्याख्या उनका एक बहुत बड़ा काम और उनकी एक अमर कीर्ति है। इस व्याख्या का नाम श्रीस्वामीजी ने 'भगवदाशयार्थदीपिका' रक्खा है, जिससे उनका स्पष्ट प्रयोजन यह है कि वह सांप्रदायिक खैंचातानी से बचकर केवल उसी आशय को विस्तार के साथ पाठकों के सन्मुख रख दें, जो गीता की दिव्य वाणी से स्वयं भगवान् को अभिप्रेत था। यही कारण है कि इसका प्रथम संस्करण जनता को इतना पसंद आया कि उसकी सारी प्रतियाँ श्रीस्वामीजी महाराज के सामने ही समाप्त हो गईं, और यह आवश्यकता हुई कि दूसरा संस्करण निकाला जाय।

दूसरे संस्करण को और अधिक परिष्कृत व परिमार्जित-रूप से प्रकाशित करने के विचार से श्रीस्वामीजी ने इसका संशोधन बड़ी गंभीरता और बड़े मनोयोग के साथ किया। इस संशोधन में श्रीस्वामीजी ने उन सारी त्रुटियों को ही दूर नहीं किया, जो प्रथम संस्करण में रह गई थीं, वरन् इस बीच में गीता पर जो अन्य कई टीकाएँ प्रकाशित हुईं, उन्हें अध्ययन करने पर जो नये विचार श्रीस्वामीजी के हृदय में फड़के, उनको भी उन्होंने यथास्थान सन्निवेशित

कर दिया। इस बृहद् संशोधन का परिणाम यह हुआ कि गीता का कलेवर पहले से ड्योढ़ा हो गया और श्रीस्वामीजी को इसे दो की जगह तीन जिल्दों में प्रकाशित करने की व्यवस्था करनी पड़ी। तीन जिल्दों का विभाग श्रीस्वामीजी ने इस रीति से किया। प्रथम जिल्द में आपने संपूर्ण प्रस्तावना, श्रीकृष्णार्जुन के भिन्न-भिन्न नामों की सविस्तर व्याख्या, गीता-माहात्म्य, गीता करादि न्यास और गीता के समस्त श्लोकों के प्रथम और तृतीय पादों की वर्णानुक्रमणिका रक्खी; द्वितीय जिल्द में प्रथम व द्वितीय संस्करण की भूमिका, पूर्व-वृत्तांत और गीता के प्रथम षट्क अर्थात् ६ अध्यायों की व्याख्या; और इस तृतीय जिल्द में शेष दो षट्कों अर्थात् ७ से १८ अध्यायों की व्याख्या तथा समस्त गीता और उसके पूर्व-वृत्तांत का उपसंहार।

इस विभाग से गीता की प्रथम जिल्द गीता-संबंधी समग्र अंतरंग व बहिरंग सूचनाओं से संपन्न एक सुन्दर संग्रह बन गया है। इसमें श्रीस्वामीजी ने प्रथम संस्करण के दोनों भागों की संपूर्ण प्रस्तावना को केवल इकट्ठा ही नहीं कर दिया, वरन् नये सिरे से विषय-विभाग करके बड़े परिश्रम से उसका संशोधन, परिवर्द्धन और पुनर्लेखन किया है। इस परिश्रम के फल से यह विस्तृत प्रस्तावना अब शास्त्रीय विवेचन तथा अद्वैत ज्ञान से पूर्ण एक स्वतंत्र पुस्तक हो गई है। इसे यदि गीता का यथार्थ रहस्य कहा जाय, तो अत्युक्ति न होगी। इसके अध्ययन से पाठक को एक दृष्टि मिल जाती है, जिससे गीता की व्याख्या का यथार्थ मर्म हृदयंगम करने में बड़ी सुगमता होती है। इसी जिल्द में, जैसा कि ऊपर वर्णन हुआ, श्रीकृष्णार्जुन के नामों की व्याख्या इत्यादि भी रहने से इसकी उपयोगिता और बढ़ गई है। इसी तरह दूसरी जिल्द के पूर्व-वृत्तांत को भी श्रीस्वामीजी ने बढ़ा दिया है। पहले यह केवल ४६ पृष्ठ का था, अब परिवर्द्धित होकर सौ पृष्ठों का हो गया है, और गीता की समाप्ति पर, तीसरी जिल्द में, इसका उपसंहार भी रहने से यह एक संक्षिप्त महाभारत-सा बन गया है।

यह संतोष का विषय है कि गीता की इन तीनों जिल्दों का संशोधन

श्रीस्वामीजी ने अपने ही कर-कमलों से कर दिया था, किन्तु खेद है कि वह इन्हें मुद्रित रूप में अपनी आँखों से न देख सके। दूसरी जिल्द को तो उन्होंने अपनी इच्छानुसार छपवा दिया था, और इस तीसरी जिल्द के, जो आपके कर-कमलों में है, छपाने के विचार में ही थे कि भगवदिच्छा से महासमाधि ले ली! श्रीस्वामीजी के महासमाधि ले लेने से गीता की शेष दोनों जिल्दों की छपाई का भार लीग के कंधों पर आ पड़ा। लीग ने यथासाध्य श्रीस्वामीजी की इच्छा के अनुसार ही गीता को इस तीसरी जिल्द को छपा दिया है, और इसका प्रूफ़-संशोधन भी उन्हीं पं० चंद्रिकाप्रसाद जिज्ञासु से कराया है जिन्होंने सर्व-प्रथम श्रीस्वामीजी को गीता के प्रथम संस्करण के प्रूफ़-संशोधन में भारी सहायता दी थी, जिसके लिये श्रीस्वामीजी ने उन्हें अपनी भूमिका में धन्यवाद दिया है। तात्पर्य यह कि काग़ज़, छपाई, संशोधन तथा जिल्दबंदी सभी दृष्टियों से इस जिल्द को श्रीस्वामीजी की छपाई हुई जिल्द के अनुरूप ही तैयार कराने का भरपूर प्रयत्न किया गया है।

इस प्रकार दूसरी और तीसरी, दोनों जिल्दों के तैयार हो जाने से गीता की व्याख्या तो पूर्व-वृत्तांत-सहित संपूर्ण हो गई, जिससे गीता के प्रेमियों को बहुत कुछ संतोष लाभ होगा; किंतु जो प्रेमी जिज्ञासु इस अनुपम व्याख्या पर प्रस्तावना-रूप में बहे हुए श्रीस्वामीजी के स्वतंत्र ज्ञानप्रवाह के अध्ययन के इच्छुक हैं, उन प्यारों की अभिलाषा की पूर्ति प्रथम जिल्द के विना न हो सकेगी, इस बात को हम खिन्न हृदय से अनुभव करते हैं। किंतु फ़ंड के अभाव के कारण हम इसी सिलसिले में प्रथम जिल्द को भी छपाकर शीघ्र पाठकों की सेवा में उपस्थित करने में असमर्थ हैं।

फ़ंड के संबंध में, जैसा कि श्रीमन्नारायण स्वामी ने अपनी भूमिका में प्रकट किया है, यहाँ यह निवेदन कर देना उचित प्रतीत होता है कि गीता के प्रथम संस्करण की प्रथम जिल्द के प्रकाशन-व्यय के लिये सब से बड़ी दो हज़ार रुपये की रक़म ठाकुरद्वारा नगरी के रईस साहु रघुनंदनशरणजी ने दी थी, जिनके प्रेमानुरोध से श्रीस्वामीजी इस व्याख्या के लिखने में प्रवृत्त हुए थे,

और शेष व्यय अन्य सज्जनों द्वारा प्राप्त सहायता से पूरा हुआ था। अनंतर दूसरी जिल्द का प्रकाशन-भार सबसे अधिक पंजाब के श्रीजुब्बल-नरेश राजा भगतचन्द साहब बहादुर और काठियावाड़ के लिमडी-नरेश राजा दौलतसिंह साहब बहादुर ने अपने ऊपर ले लिया था, और बहुत थोड़ा ख़र्च अन्य सज्जनों से हुआ था। किंतु दूसरी आवृत्ति में दोनों जिल्दों का संपूर्ण प्रकाशन-व्यय लीग के फ़ंड से ही किया गया, बाहर से किसी धर्मात्मा सज्जन की कोई सहायता न तो प्राप्त हुई और न किसी से सहायता के लिये प्रार्थना ही की गई। इन दोनों बृहद् पुस्तकों के प्रकाशन में लीग को लगभग छ हज़ार रुपया अपने फ़ंड से ख़र्च करना पड़ा। अब लीग के पास इतना धन नहीं है कि वह प्रथम जिल्द को भी, जिसमें कि प्रस्तावना आदि है, इसी सिलसिले में छपाकर गीता का कार्य पूरा कर सके। हाँ, यदि श्रीस्वामी नारायण के प्रेमी व उनकी व्याख्या के जिज्ञासु सज्जन इस पुण्यमय कार्य के लिये अपने उदार हृदय और मुक्त हाथों से धन की सहायता करें, तो गीता का यह महान् कार्य पूरा होने में देर न लगे।

अंत में नारायण के ही शब्दों में, जैसा कि उन्होंने प्रथम षट्क के दूसरे संस्करण की भूमिका में लिखा है, हम प्रार्थना करते हैं कि "ईश्वर करे धनी-दानी सज्जन शीघ्र धन से लीग की सहायता करें, जिससे लीग अपने कर्तव्य-पालन में कृतकार्य हो। तथास्तु ॐ"

लखनऊ
२२ फ़रवरी, १६४०

शान्तिप्रकाश
प्रेसिडेंट, श्रीरामतीर्थ-पब्लिकेशन लीग

ॐ

अथ श्रीमद्भगवद्गीता

द्वितीय षट्क

अध्याय ७ से १२ पर्यन्त

अध्यायों की श्लोकशः विषयानुक्रमणिका

द्वितीय षट्क (पृष्ठ १–३७२)

सातवाँ अध्याय—ज्ञान-विज्ञान-योग (पृष्ठ १—५८)

१—२ छठे अध्याय में जो 'मम', 'माम' शब्द अनेक बार वर्ते गये, उनके रहस्य (अर्थात् भगवान् का अपने स्वरूप के रहस्य) को समझाने के लिये अर्जुन की वृत्ति आकर्षित करना। ३ हज़ारों यत्न करनेवालों में से भी किसी बिरले को ही भगवान् के तत्त्व-स्वरूप का ज्ञाता दर्शाना। ४—५ भगवान् का सबसे पहले अपने शबल-रूप का वर्णन (अर्थात् अपने चराचर रूप का वर्णन) और उसी से आगे सारा विस्तार। ६ उक्त चर-अचर का आधार-रूप निज स्वरूप का वर्णन। ७—१२ निज स्वरूप को सब रसों का सारभूत तथा सब वस्तुओं का तत्त्व-स्वरूप करके दर्शाना। १३—१५ भगवान् के शबल-रूप अर्थात् गुणमयी माया से समस्त जगत् का मोहित होना और भगवत्परायण होनेवालों का दुस्तर माया को तर जाना। १६—१९ भगवत्परायण उपासकों के भेद और उनका फल-भेद, तथा अनेक जन्मों के अन्त में ज्ञान की पूर्णता और भगवत्प्राप्ति-रूप नित्य फल। २०—२३ भगवान् को छोड़कर अन्य देवताओं के उपासकों के लक्षण, उनकी श्रद्धा, गति वा फल का भेद, और उस फल की अनित्यता तथा उससे अपने शबल-रूप की ही प्राप्ति का वर्णन। २४—२८ मूर्खों का अज्ञान के कारण भगवान् के अव्यक्त (असली) स्वरूप को न जानना, किन्तु उसके व्यक्त (शबल-रूप को ही भगवत्-स्वरूप समझना, और भगवान् का भी अपनी योग-माया से आच्छादित होने के कारण उक्त मूर्खों से अप्रकट वा दुर्विज्ञेय रहना, पर द्वन्द्व मोह के निवृत्त होने पर भगवत्प्राप्ति होना। २९—३० भगवत्परायण होने से ब्रह्म, अध्यात्म, समस्त कर्म, अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञ का पूरा-पूरा जान लेना, और ऐसा जान लेने से अन्तकाल में ज्ञान

की सिद्धि का होना अर्थात् भगवान् में लीन होना (वा भगवत्-स्वरूप होना)।

आठवाँ अध्याय—अक्षर-ब्रह्म-योग (पृष्ठ ५६—१२२)

१—५ अर्जुन के प्रश्न पर ब्रह्म, अध्यात्म, कर्म, अधिभूत, अधिदैव, अधियज्ञ की व्याख्या और अधिदेह की गति का वर्णन। ६—८ अन्तकाल में भगवत्स्मरण से भगवत्प्राप्ति व अन्य देवता इत्यादि भावों के स्मरण से उन-उन भावों की प्राप्ति ; अतएव अभ्यास-योग से सदैव भगवान् (निज स्वरूप) को स्मरण करने का उपदेश। ९—१३ अन्त काल में अचिंत्य-स्वरूप अक्षर अर्थात् ओंकार का अभ्यास-योग से समाधिपूर्वक ध्यान और उसका फल। १४—१६ अनन्यचित्तपूर्वक भगवत्-स्मरण से सीधी भगवत्-प्राप्ति और जन्म-मरण के पाश का नित्य के लिये नाश, पर इससे अतिरिक्त अन्य लोकों की प्राप्ति से पुनर्जन्म का न मिटना। १७—१९ ब्रह्मा के दिन-रात का वर्णन, दिन के आरम्भ में अव्यक्त से सृष्टि की उत्पत्ति और रात्रि के आरम्भ में उसी में पुनः लय। २०—२२ इस अव्यक्त से भी परे का अव्यक्त जो अविनाशी अक्षर है, भक्ति से उसका ज्ञान और उसकी प्राप्ति से पुनर्जन्म का नाश। २३—२६ आवृत्ति और अनावृत्ति के काल तथा मार्ग का वर्णन ; उत्तरायण मार्ग से अनावृत्ति और दक्षिणायन मार्ग से आवृत्ति, और जगत् की ये शुक्ल-कृष्ण गति दोनों का अनादिकाल से माना जाना। २७—२८ इन मार्गों के तत्त्व को जाननेवाले योगी की अत्युत्तम गति और फल, अतः वैसा योगी होने का उपदेश।

नवाँ अध्याय—राजविद्या-राजगुह्य-योग (पृष्ठ १२३—१६१)

१—३ ज्ञान-विज्ञान-युक्त, गुह्य-से-गुह्य, सुलभ, प्रत्यक्ष फलप्रद और मोक्ष दिलानेवाली राजविद्या का वर्णन। ४—५ परमेश्वर का अपार योग-सामर्थ्य—प्राणिमात्र में विद्यमान होते हुए उसकी अविद्यमानता, प्राणिमात्र की उसमें अविद्यमानता, और आकाश में वायु के समान प्राणिमात्र की परमेश्वर

में स्थिति दीखना। ७—१० कल्पारम्भ में भगवत्-माया द्वारा सृष्टि की उत्पत्ति और कल्पान्त में उसका संहार; भूतों की उत्पत्ति और लय। इतना होने पर भी भगवान् की निर्लिप्तता। ११—१२ मायिक पदार्थों से मोहित होकर व्यक्तस्वरूप परमेश्वर की अवज्ञा करना, अतएव मूर्ख व आसुरी आदि उपाधि से कहलाना। १३—१५ दैवी प्रकृतिवालों का अनन्य भक्ति से ज्ञान-यज्ञ इत्यादि अनेक उपायों द्वारा परमात्मा-पूजन वा उपासना करना। १६—१९ भगवान् का अपने को क्रतु, यज्ञ, स्वधा, औषध, मंत्र और घी इत्यादि दर्शाना, और जगत् का माँ-बाप, स्वामी इत्यादि अपने को वर्णन करना। २०—२२ श्रौत यज्ञ-याग आदि का उद्योग यद्यपि स्वर्गप्रद है तथापि वह फल अनित्य है। और अनन्यचित्त से भगवद्भक्ति द्वारा योग-क्षेम की रक्षा का होना। २३—२५ अन्यान्य देवताओं की श्रद्धापूर्वक भक्ति यद्यपि टेढ़ी रीति से ईश्वर-भक्ति है पर फल भावनानुसार मिलता है, इस सिद्धान्त का स्पष्टीकरण। २६—२८ भक्तिपूर्वक पत्र, फल, फूल और जल के अर्पण से भी परमेश्वर सन्तुष्ट होते हैं, तो सर्वस्व अर्पण करने के फल का भला क्या कहना, अतएव सब कर्मों को ईश्वरार्पण करने का उपदेश। और इसी विधि से कर्मबन्धन से छुटकारा और मोक्ष। २९—३४ परमेश्वर को किसी से राग-द्वेष नहीं इसलिये दुराचारी, सदाचारी, पापयोनि, स्त्री, शूद्र इत्यादि सबके लिये वह सम है, इसीलिये निस्सीम व अनन्य भक्ति द्वारा सबको एक ही गति मिलती है, और इसी मार्ग का अर्जुन को उपदेश।

दसवाँ अध्याय—विभूति-योग (पृष्ठ १९२—२५५)

१—३ अजन्मा और अनादि परमेश्वर देवताओं व ऋषियों से भी पूर्व का है, ऐसा जान लेने से पाप का नाश। ४—६ ईश्वरी विभूति और योग। ईश्वर से ही बुद्धि आदि भावों की, सप्त ऋषियों की, मनु की एवं परम्परा से सबकी उत्पत्ति। ७—११ इस विभूति और योग के तत्त्ववेत्ता भक्त को ज्ञान-प्राप्ति और भगवान् से ही उनकी सारी ऋद्धि-सिद्धि। १२—१८ विस्तार

से विभूति-योग कहने के लिये अर्जुन की भगवान् से प्रार्थना। १९—४० भगवान् की अनन्त विभूतियों में से मुख्य-मुख्य विभूतियों का वर्णन। ४१—४२ जो कुछ भी विभूतिमत्, श्रीमत्, शक्तिशाली और ऊर्जित है, वह सब परमेश्वरी तेज है, पर उस तेज के केवल अंश से है।

ग्यारहवाँ अध्याय—विश्वरूप-दर्शन-योग (पृष्ठ २५६—३२६)

१—४ पूर्व अध्याय में बतलाये हुए अपने ईश्वरीय रूप को दिखलाने के लिये भगवान् से अर्जुन की प्रार्थना। ५—८ इस आश्चर्यजनक और दिव्य रूप को देखने के लिये भगवान् का अर्जुन को प्रेरणा और दिव्य दृष्टि देना। ९—१४ भगवान् के विश्वरूप का संजय-कृत वर्णन। १५—३१ इस विश्वरूप-दर्शन से विस्मित और भयभीत अर्जुन का विश्वरूप-स्तुति करना और भगवान् से पूछना कि आप यह उग्र-रूप कौन हैं? ३२—३४ पहले यह बतलाकर कि "मैं काल हूँ" फिर अर्जुन को ऐसा उत्साह-जनक उपदेश देना कि इन पूर्व से ही काल-ग्रसित वीरों को तू निमित्त बनकर मार। ३५—३६ अर्जुनकृत स्तुति, क्षमा-प्रार्थना और पहले का सौम्य रूप दिखलाने के लिये विनय। ४७—५१ विना अनन्य भक्ति के ऐसे विश्वरूप का दर्शन मिलना दुर्लभ है। फिर पूर्वरूप का धारण। ५२—५५ विना भक्ति के विश्वरूप का दर्शन देवताओं को भी दुर्लभ होता है, अतएव अनन्य भक्ति का उपदेश और फल।

बारहवाँ अध्याय—भक्ति-योग (पृष्ठ ३२७—३७२)

१ पिछले अध्याय के अन्तिम सारभूत उपदेश पर अर्जुन का प्रश्न—व्यक्तोपासना श्रेष्ठ है या अव्यक्तोपासना। २—८ उत्तर में भगवान् व्यक्तोपासक को अपना परमभक्त और अव्यक्तोपासक को अपना ही तद्रूप हुआ दर्शाते हैं; पर अव्यक्तोपासना क्लेशकारक है और व्यक्तोपासना सुलभ एवं शीघ्र फलप्रद है, अतः व्यक्तोपासना के विषय में उपदेश। ९—१२ भगवान् में व्यक्तोपासना से चित्त स्थिर करने की असमर्थता पर अभ्यास-योग का उपदेश,

अभ्यास-योग की असमर्थता पर मदर्पण कर्म, मदर्पण कर्म की असमर्थता पर कर्मफल-त्याग का उपाय दर्शाते हुए भगवान् इस कर्म-फल-त्याग को श्रेष्ठ कहते हैं। १३—१६ भक्तिमान् पुरुषों की स्थिति का वर्णन और भगवत्-प्रियता। २० उक्त धर्मों पर चलनेवाले श्रद्धालु भक्त भगवान् को अत्यन्त प्यारे हैं।

तृतीय षट्क (पृष्ठ ३७३–७६६)

तेरहवाँ अध्याय—क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-विभाग-योग (पृष्ठ ३७५—४४३)

१—२ क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ की व्याख्या। इनका ज्ञान ही परमेश्वर का ज्ञान है। ३—४ क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-विचार उपनिषदों का और ब्रह्मसूत्रों का है। ५—६ क्षेत्र-स्वरूप-लक्षण। ७—११ ज्ञान-स्वरूप का लक्षण। तद्विरुद्ध अज्ञान है। १२—१७ ज्ञेय के स्वरूप का लक्षण। १८ इस सबको जान लेने का फल। १९—२१ प्रकृति-पुरुष-विवेक। करने-धरनेवाली प्रकृति है, पुरुष अकर्ता किन्तु भोक्ता, द्रष्टा इत्यादि है। २२—२३ देह में पुरुष ही परमात्मा व महेश्वर है। इस प्रकृति-पुरुष-ज्ञान से पुनर्जन्म नष्ट हो जाता है। २४—२५ आत्मज्ञान के मार्ग—ध्यान, सांख्य-योग, कर्म-योग, और श्रद्धा-पूर्वक श्रवण से भक्ति का उल्लेख। २६—२८ क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ के संयोग से स्थावर-जङ्गम-सृष्टि; इसमें जो अविनाशी है वही परमेश्वर है। अपने प्रयत्न से उसकी प्राप्ति। २९—३० कर्ता-धर्ता प्रकृति है और अकर्ता आत्मा है; सब प्राणिमात्र एक में हैं और एक से ही सब प्राणिमात्र होते हैं। ऐसा जान लेने से ब्रह्म-प्राप्ति। ३१—३३ आत्मा अनादि और निर्गुण है, अतएव यद्यपि वह क्षेत्र का प्रकाशक है तथापि निर्लेप है। क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ के भेद को जान लेने से परम सिद्धि की प्राप्ति होती है।

चौदहवाँ अध्याय—गुणत्रय-विभाग-योग (पृष्ठ ४४४—४८३)

१—२ पुनः उत्तम ज्ञान के उपदेश की प्रतिज्ञा, जिस (ज्ञान) का फल ठीक मोक्षप्रद है। ३—४ प्राणिमात्र का पिता परमेश्वर है और उसके अधीनस्थ

प्रकृति माता है। ५—९ प्रकृति-जन्य सत्त्व आदि गुण जीव को देह में बाँधनेवाले हैं, और इन सत्त्व आदि गुणों का स्वरूप व प्रभाव। १०—१३ एक-एक गुण अलग नहीं रह सकता किन्तु कोई दो को दबाकर तीसरे की वृद्धि है। और प्रत्येक की वृद्धि के लक्षण। १४—१८ गुण-प्रवृद्धि के अनुसार कर्म के फल और मरने पर प्राप्त होनेवाली गति। १९—२० त्रिगुणातीत हो जाने से मोक्ष-प्राप्ति। २१—२५ अर्जुन के प्रश्न पर त्रिगुणातीत के लक्षण और आचार का वर्णन। २६—२७ अव्यभिचारि भक्तियोग से त्रिगुणातीत-अवस्था की प्राप्ति वा सिद्धि और ऐसे ही सब मोक्ष, धर्म, एवं सुख के अन्तिम स्थानस्वरूप परमेश्वर की प्राप्ति।

पन्द्रहवाँ अध्याय पुरुषोत्तमयोग (पृष्ठ ४८४—५३४)

१—२ संसार की वृक्ष-रूप से तुलना और उस ब्रह्म वृक्षरूप अश्वत्थ के वेदोक्त और सांख्योक्त वर्णन का मेल। ३—६ इसे असंग शस्त्र से काटने में ब्रह्मपद की प्राप्ति और उस ब्रह्मपद के लक्षण का वर्णन। ७—११ जीव और लिङ्ग शरीर का स्वरूप, एवं सम्बन्ध। अथवा जीव का स्वरूप और उसका संसार से सम्बन्ध। और इन्द्रियों के सम्बन्ध से विषयों का उपभोग। जीव वा लिङ्ग-शरीर के निकलने आदि के विषय में अज्ञानी और ज्ञानी के ज्ञान व दृष्टि का भेद। १२—१५ परमेश्वर की सर्वव्यापकता और विभूति का संक्षिप्त वर्णन। १६—१८ क्षर-अक्षर और उत्तम पुरुष का निरूपण। पुरुषोत्तम नाम का हेतु। इस गुह्य पुरुषोत्तम ज्ञान के जाननेवाले की सर्वज्ञता और कृत-कृत्यता।

सोलहवाँ अध्याय—दैवासुर-संपद्विभाग-योग (पृष्ठ ५३५—५६७)

१—३ दैवी सम्पत्ति के छब्बीस गुण। ४ आसुरी सम्पत्ति के छ गुण वा लक्षण। ५ दैवी सम्पत्ति मोक्षप्रद, और आसुरी सम्पत्ति बन्धकारक है। ६—२० आसुरी स्वभाववालों का सविस्तर वर्णन और उनकी जन्म-जन्म में अधोगति। २१—२२ नरक के त्रिविध द्वार—काम, क्रोध और लोभ और इनसे

वचने में कल्याण। २३—२४ शास्त्रानुसार कार्य-अकार्य का निर्णय और शास्त्रोक्त विधि के त्यागने में सुख, सिद्धि और परमगति की अप्राप्ति, अतएव शास्त्र-विधि को आचरण में लाने के विषय में उपदेश।

सत्रहवाँ अध्याय—श्रद्धात्रय-विभाग-योग (पृष्ठ ५६८—६०७)

१—४ अर्जुन के पूछने पर प्रकृति-स्वभावानुसार सात्त्विकादि त्रिविध श्रद्धा का वर्णन। जैसी जिसकी श्रद्धा वैसा ही वह स्वयं होता है। ५—६ अशास्त्रीय तप आदि का उलटा फल। ७—१० सात्त्विक आदि गुणों के भेद से आहार के तीन भेद। ११—१३ यज्ञ के तीन भेद। १४—१६ तप के तीन भेद—शारीर, वाचिक और मानस। १७—१९ इनमें सात्त्विक आदि भेदों से प्रत्येक तप के तीन भेद। २०—२२ सात्त्विक आदि भेदों से दान के तीन भेद। २३ ॐ तत्सत् ब्रह्मनिर्देश। २४—२७ "ॐ तत् सत्" शब्दों का विनियोग, अर्थात् इनमें 'ॐ' से आरम्भसूचक, 'तत्' से निष्काम और 'सत्' से प्रशस्त कर्म का समावेश होता है। २८ अश्रद्धा से किये हुए हवनादि कर्म न किये कर्म के समान हैं और इहलोक तथा परलोक दोनों में ये निष्फल होते हैं।

अठारहवाँ अध्याय—मोक्ष-संन्यास-योग (पृष्ठ ६०८—७६६)

१—२ अर्जुन के पूछने पर संन्यास और त्याग का तत्त्व-निरूपण। ३—६ कर्म के त्याग और अत्याग में पक्ष-भेद और उस पर भगवान् का ऐसा निर्णय कि यज्ञ-यागादि कर्म मनुष्य को पवित्र करनेवाले हैं, अतएव त्याज्य नहीं हैं। ७—९ कर्म-त्याग के तीन भेद—सात्त्विक, राजस और तामस; फलाशा छोड़कर कर्तव्य-कर्म करना ही सात्त्विक त्याग है। १०—११ कर्मफल-त्यागी ही सात्त्विक त्यागी है, क्योंकि कर्म तो किसी का भी छूट ही नहीं सकता। १२ कर्म का त्रिविध फल सात्त्विक त्यागी को नहीं होता। १३—१५ सारे कर्मों के पाँच कारण। १६—१७ अतएव कर्तृत्व के अभिमान से रहित पुरुष कर्म करने पर भी कर्म के पुण्य-पाप से अलिप्त रहता है। १८—१९ कर्म-चोदना और कर्म-संग्रह का सांख्योक्त लक्षण, और उनके तीन भेद।

२०—२२ सात्त्विक आदि गुण-भेद से ज्ञान के तीन भेद। २३—२५ सात्त्विक आदि गुण-भेद से कर्म के तीन भेद। २६—२८ कर्ता के तीन भेद। २९—३२ बुद्धि के तीन भेद। ३३—३५ धृति के तीन भेद। ३६—३९ सुख के तीन भेद। ४० गुण-भेद से सारे जगत् के तीन भेद। ४१—४४ गुण-भेद से चातुर्वर्ण्य की उपपत्ति; ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के स्वभावजन्य कर्म। ४५—४६ चातुर्वर्ण्य-विहित स्वकर्माचरण से ही अंतिम सिद्धि। ४७—४९ परधर्म भयावह है, स्वकर्म सदोष होने पर भी अत्याज्य है। सारे कर्म स्वधर्मानुसार निरासक्त बुद्धि द्वारा करने से ही नैष्कर्म्य-सिद्धि मिलती है। ५०—५६ सिद्धि को प्राप्त हुआ मनुष्य ब्रह्म को जैसे प्राप्त होता है, उसका संक्षिप्त निरूपण। ५७—५८ इसी (भगवदर्पण कर्म के) मार्ग को स्वीकार करने के विषय में अर्जुन को उपदेश। ५९—६३ प्रकृति-धर्म के सामने अहङ्कार की एक नहीं चलती। ईश्वर ही की शरण में जाना उचित है। अर्जुन को यह उपदेश कि इस गुह्य को समझकर फिर जो दिल में आवे, सो कर। ६४—६६ भगवान् का अन्तिम यह आश्वासन कि सब धर्म छोड़कर "मेरी शरण में आ" सब पापों से "मैं तुझे मुक्त कर दूँगा।" ६७—६९ गीता-शास्त्र का अपात्र के तईं उपदेश का निषेध और पात्र के तईं उपदेश की आज्ञा और उसका फल। ७०—७१ गीता-शास्त्र के पढ़ने और सुनने का फल—माहात्म्य। ७२—७३ भगवान् के पूछने पर अर्जुन का यह स्वीकार करना कि इस गीता-शास्त्र के सुनने से उसका सारा मोह नष्ट हो गया और वह भगवदुपदेशानुसार युद्ध अवश्य करेगा। ७४—७८ धृतराष्ट्र को यह समस्त (कृष्णार्जुन का) संवाद सुना चुकने पर सञ्जय-कृत उपसंहार।

❀ ॐ ❀



सप्तमोऽध्यायः

सम्बन्ध—प्रथम षट्क अर्थात् पूर्व के छः अध्यायों में अर्जुन को उसके मोह और भ्रम की निवृत्ति-निमित्त भगवान् ने सांख्ययोग द्वारा नित्यानित्य वस्तु का विवेक कराया, अर्थात् देहादि अनित्य पदार्थों में जो नित्य-बुद्धि अर्जुन को हो गई थी, उसकी भगवान् ने सांख्ययोग द्वारा निवृत्ति की। फिर इस विवेक का अनुष्ठान-रूप कर्मयोग अथवा उस विवेक में परिपक्वता प्राप्त करने के लिये चित्त-शुद्धि का हेतुभूत कर्मयोग प्रतिपादन किया; अर्थात् उक्त विवेक को बर्ताव में लाने के लिये निष्काम कर्मों की आवश्यकता और कर्तव्यता दर्शाई। फिर आत्म-साक्षात्कार का उपाय कर्मयोग और संन्यासयोग दोनों मानते हुए इन दोनों की आपस में वास्तविक रूप से (अर्थात् लक्ष्य, उद्देश्य और फल-रूप से) एकता सिद्ध की। तदनन्तर योगारूढ़ होने की इच्छावाले के लिये कर्म (निष्काम कर्म में प्रवृत्ति) की आवश्यकता और योगारूढ़ पुरुष (सर्व सङ्कल्पों के त्यागी) के लिये शम (निवृत्ति अर्थात् बाह्य कर्म छोड़कर एकान्त में एकाकी होकर ध्यानयोग द्वारा ध्यानावस्थित रहने) की आवश्यकता दर्शाई, यद्यपि शम-साधन (निवृत्ति) की अपेक्षा कर्मयोग (प्रवृत्ति) को सर्वसाधारण के लिये सुगम और सरल होने के कारण उन्होंने श्रेष्ठ माना। इस प्रकार योगारूढ़ के लिये शम-साधन (निवृत्ति) की आवश्यकता दर्शाकर भगवान् ने छठे अध्याय में ध्यानयोग का विस्तारपूर्वक वर्णन किया। इस वर्णन में पहले

(६, ८ में) तो ज्ञान-विज्ञान से तृप्तात्मा, कूटस्थ, जितेन्द्रिय, ढेला-पत्थर और सोना एक समान समझनेवाला 'युक्त' (समाधिस्थ) कहलाता है, ऐसे कहा, फिर उन्होंने जो स्थान-स्थान पर 'माम्', 'मम' इत्यादि शब्दों का प्रयोग करते हुए ऐसे कहा कि "मच्चित्तो युक्त आसीत् मत्परः।" (मुझमें चित्तार्पण करके मेरे परायण हुआ ध्यान में युक्त बैठे। ६, १४)। "मद्गतेनान्तरात्मना, श्रद्धावान् भजते यो माम्।" (मुझमें लगे हुए मन से श्रद्धा-युक्त होकर जो मेरा भजन करता है, वह मेरा सबसे श्रेष्ठ योगी है। ६, ४७), इसका आशय पूर्व-कथन से भिन्न और अस्पष्ट देखकर कृपालु भगवान् उसे स्वयं विस्तारपूर्वक खोलने लगे हैं, अर्थात् ध्येय वस्तु के विषय जो 'अहं', 'मम्', 'माम्', 'मत्', 'मत्पर', 'मच्चित्त', 'मद्गतेन' इत्यादि शब्दों का भगवान् ने प्रयोग किया और उससे पूर्व जो ज्ञान-विज्ञान से तृप्तात्मा का वर्णन किया है, उनके आशय को भगवान् अब पूर्ण रीति से विस्तारपूर्वक समझाने लगे हैं, जिस पर सातवाँ अध्याय आरंभ होता है। और इस मध्यम षट्क में भगवान् इस ध्येयात्मा (अर्थात् निज-स्वरूप) की विभूति, भक्ति, भक्ति के प्रकार, और भक्तों तथा ध्यानयोगियों का परस्पर संबंध फल के सहित विस्तारपूर्वक वर्णन करेंगे, ताकि यह गम्भीर विषय सर्वसाधारण को स्पष्ट हो जाय—

श्रीभगवानुवाच—

मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युञ्जन्मदाश्रयः।
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु ॥ १ ॥

मयि, आसक्त, मनाः, पार्थ } हे पृथापुत्र (अर्जुन)! मुझमें लगे हुए मन-वाला
योगं, युञ्जन्=योग के साथ जुड़ता हुआ
मत्-आश्रयः=मेरे परायण हुआ, वा मेरे आश्रय हुआ

अ-संशयं=विना संशय (सन्देह) के
समग्रं, मां=सम्पूर्ण मुझको
यथा, ज्ञास्यसि=जैसा तू जानेगा (अनुभव करेगा)
तत्, शृणु=उसे तू सुन

अन्वयार्थ—हे अर्जुन ! मुझमें चित्त लगाकर, मेरे ही आश्रय हुआ, योगाभ्यास करते हुए जैसा सम्पूर्ण तू मुझे बिना सन्देह के जानेगा, उसे सुन ॥ १ ॥

व्याख्या—हे पृथा-पुत्र अर्जुन ! किसी अन्य देवता में नहीं किन्तु मुझ परमात्मा में मन को लगाते हुए और मेरे वास्तव स्वरूप का ही आश्रय लेते हुए अथवा मेरे निज-स्वरूप के नितांत परायण हुए उक्त ध्यानयोग में युक्त होकर तू जैसा मुझे पूरा-पूरा (विभूति, बल, ऐश्वर्य आदि के साथ) जानेगा, अर्थात् जैसा तुझे मेरे स्वरूप का तथा मेरे बल, विभूति और ऐश्वर्य आदि का संशय-रहित अनुभव होगा, उसे तू दत्तचित्त हो सुन ॥ १ ॥

सम्बन्ध—(१) जिस रीति से भगवान् उक्त रहस्य का निरूपण करना चाहते हैं, उसे पहले स्पष्ट करते हैं—

अथवा (२) जिस ज्ञान को विज्ञान के सहित भगवान् सुनाने के लिये तैयार हुए हैं, उसमें श्रोता की रुचि या जिज्ञासा बढ़ाने के लिये भगवान् उसकी पहले स्तुति करते हैं—

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः ।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते ॥२॥

ज्ञानं, ते, अहं, स-विज्ञानं, इदं	तुझे मैं इस ज्ञान को विज्ञान के सहित	यत्, ज्ञात्वा,	जिसको जानकर
		न, इह, भूयः	फिर यहाँ नहीं
वक्ष्यामि, अशेषतः	सारा का सारा मैं कहूँगा	अन्यत्, ज्ञातव्यं, अवशिष्यते	और जानने-योग्य बाक़ी रहता है

अन्वयार्थ—मैं इस ज्ञान* को विज्ञान † के सहित सारा-का-सारा तुझे

---

* ज्ञान=आत्मा का शास्त्र-जन्य ज्ञान अर्थात् परोक्ष ज्ञान (श्रीशंकराचार्य)। साधारण ज्ञान (श्रीरामानुज)। आत्मा का समष्टि-रूप ज्ञान (श्रीतिलक महाराज)। अनुभव ज्ञान (श्रीज्ञानदेव)।

† विज्ञान=आत्मा का अनुभव ज्ञान, अपरोक्ष ज्ञान (श्रीशंकराचार्य)।

बतलाऊँगा, जिसको जानकर फिर यहाँ और जानने-योग्य बाक़ी नहीं रहता है ॥ २ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! इस अपने स्वरूप के ज्ञान को मैं विज्ञान (अनुभव-ज्ञान, विशेष ज्ञान वा व्यवहार-ज्ञान) के सहित सारा-का-सारा (अर्थात् साधन फलादि समेत) तुझे कहूँगा, जिसको जानकर इस लोक में फिर और कुछ जानना बाक़ी नहीं रहता ॥ २ ॥*

सम्बन्ध—इस ज्ञान की दुर्लभता को भगवान् अब कहते हैं—

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये ।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः ॥ ३ ॥

विशेष ज्ञान, अर्थात् जिससे जीव, ईश्वर, प्रकृति का भिन्न-भिन्न विवेक हो जाता है (श्रीरामानुज)। आत्म-तत्त्व का व्यष्टि-रूप ज्ञान, गीता १३, ३० और १८, २० में भी यही अभिप्राय है (श्रीतिलक महाराज)। व्यवहार-ज्ञान, प्रपंच (श्रीज्ञानदेव)।

* श्लोक के पिछले पाद का आशय उपनिषदों में ऐसे वर्णित है—छान्दोग्य उपनिषद् में श्वेतकेतु से उसके पिता ने जब ऐसे प्रश्न किये कि "येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातमिति ॥" (छां०, ६. १. ३)= वह क्या है, जिस एक के जान लेने से सब न सुना हुआ सुन लिया जाता है; सब न समझा हुआ समझ लिया जाता है; सब न जाना हुआ जान लिया जाता है ? और फिर आगे इसको इस प्रकार उदाहरण देकर समझाया— "यथा सौम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृण्मयं विज्ञातं स्याद्, वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम् ।" (छां०, ६. १. ४)=हे प्यारे ! जिस प्रकार मिट्टी के एक गोले (के भीतरी तत्त्व) को जान लेने से ज्ञात हो जाता है कि मिट्टी के शेष पदार्थ उसी मृत्तिका के विभिन्न नाम-रूप धारण करनेवाले विकार हैं, और केवल मृत्तिका एक सत्य है, इसी प्रकार ब्रह्म को जान लेने

मनुष्याणां, सहस्रेषु	मनुष्यों के हज़ारों में से (अर्थात् हज़ारों मनुष्यों में)	यततां, अपि, सिद्धानां	यत्न करनेवाले सिद्धों में भी
कश्चित्, यतति, सिद्धये	सिद्धि के लिये कोई एक यत्न करता है	कश्चित्, मां, वेत्ति, तत्त्वतः	कोई एक मुझको तत्त्व से (यथार्थ) जानता है

अन्वयार्थ—हज़ारों मनुष्यों में कोई एक ही सिद्धि के लिये यत्न करता

से दूसरा कुछ भी जानना बाक़ी नहीं रहता। मुण्डक उपनिषद् (१. १. ३) में भी आरम्भ में यह प्रश्न है कि—"कस्मिन्नु भगवो! विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति।"=वह क्या है कि जिस एक का ज्ञान हो जाने से हे भगवन्! अन्य सब वस्तुओं का ज्ञान हो जाता है?

इन दोनों श्लोकों पर श्रीज्ञानदेवजी ने अपने ढंग से ऐसे व्याख्या की है—

"सुनिए, फिर श्रीअनंत ने पार्थ से कहा कि तुम अब योग-युक्त हो गये। अब हम तुम्हें व्यवहार-ज्ञान समेत ज्ञान बतावेंगे, जिससे तुम मुझ सर्वव्यापी को ऐसे जान लोगे कि जैसे हथेली का रत्न। यहाँ विज्ञान (व्यवहार-ज्ञान) का क्या काम है, ऐसा भाव यदि तुम्हारे मन में आवे, तो वास्तव में प्रथम यही जानना पड़ता है। फिर ज्ञान के समय ज्ञातृत्व के नेत्र बन्द हो जाते हैं। जैसे तीर पर टिकते ही नाव आगे नहीं चलती, वैसे ही जानने की क्रिया जहाँ प्रवेश नहीं करती, विचार आते ही पलट जाता है, तर्क की जिसकी ओर गति नहीं चलती, उसे हे अर्जुन! ज्ञान कहते हैं। और प्रपंच विज्ञान है। तथा प्रपंच में सत्य-बुद्धि रखना यही अज्ञान जानो। अब जिससे सब अज्ञान चला जाता है, विज्ञान निःशेष शुष्क हो जाता है, और स्वरूप ज्ञानमय हो जाता है, जिससे बोलनेहारे का दुःख नाश हो जाता है, जो छोटा-बड़ा भाव बचने नहीं देता, ऐसा जो गुप्त मर्म है, उसका मैं शब्दों से वर्णन करता हूँ जिससे थोड़े में ही तुम्हारे मन की बहुत-सी इच्छा पूरी हो जायगी।"

है, और यत्न करनेवाले सिद्धों* में भी कोई एक ही मुझे तत्त्व से जानता है ॥ ३ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! प्रथम तो हज़ारों मनुष्यों में कोई विरला ही ऐसा होता है कि जो इस ध्यानयोग से प्राप्य मोक्ष-रूप सिद्धि के पाने का यत्न करता है। फिर इस सिद्धि के पाने का यत्न करनेवाले हज़ारों सिद्ध (अधिकारी, जिज्ञासु, साधक) पुरुषों में भी कोई विरला ही ऐसा होता है कि जो साधन-सम्पन्न हुआ मेरे वास्तव स्वरूप को तत्त्व से (यथार्थ) जान जाता है। अर्थात् प्रथम तो मनुष्य से अतिरिक्त असंख्य जीव हैं जिनकी इस मार्ग में प्रवृत्ति ही नहीं हो सकती, फिर मनुष्यों में भी सिद्धि के लिये यत्न करनेवाला दुर्लभ है, और उन यत्न करनेवालों में भी मुझे यथार्थ रूप से जाननेवाला तो दुर्लभतर है ॥ ३ ॥ †

सम्बन्ध—(१) इस प्रकार ज्ञान की स्तुति और दुर्लभता वर्णन करके जो कुछ आगे कहना है, उसमें श्रोता की रुचि उत्पन्न करके भगवान् अपनी प्रतिज्ञानुसार आत्म-स्वरूप का निरूपण करना चाहते हुए पहले अपनी अपरा और फिर परा प्रकृति का निरूपण करने लगे हैं, क्योंकि इन्हीं के द्वारा परमात्मा सृष्टि आदि का कर्ता होता है—

अथवा (२) अब भगवान् अपने समग्र स्वरूप को विस्तारपूर्वक वर्णन करने लगे हैं, और सब से पहले क्या जानना उचित है, उसे स्पष्ट करते हैं, क्योंकि जो ज्ञान अनुक्रमपूर्वक न बतलाया जाय, वह शीघ्र व ठीक फलदायक नहीं होता।

---

* सिद्धों से अभिप्राय यहाँ सिद्धि को प्राप्त पुरुष नहीं किन्तु साधन-सम्पन्न पुरुष है, जो नाना साधनों द्वारा सिद्धि पाने का यत्न करते रहते हैं।

† भगवान् की दुर्विज्ञेयता के विषय में श्रुति ऐसा कहती है—"न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा वा। ज्ञानप्रसादेन विशुद्ध सत्त्वस्ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः ॥" (मुण्डक, ३. १. ८)=वह

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च ।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥ ४ ॥
अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम् ।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्य्यते जगत् ॥ ५ ॥

भूमिः, आपः, अनलः, वायुः, खं	पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश	अपरा, इयं	यह अपरा है
		इतः, तु, अन्यां	और इससे इतर
मनः, बुद्धिः, एव, च, अहङ्कार, इति	ऐसे ही मन, बुद्धि और अहङ्कार, यह	प्रकृतिं, विद्धि, मे, परां, जीवं-भूतां, महाबाहो	हे महाबाहो! मेरी जीव-स्वरूपा परा प्रकृति को तू जान
इयं, मे, भिन्ना, प्रकृतिः, अष्ट-धा	यह मेरी भिन्न-भिन्न आठ प्रकार की प्रकृति है	यया, इदं, धार्य्यते, जगत्	जिससे यह जगत् धारण किया जाता है

अन्वयार्थ—पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहं-

परमात्मदेव न चक्षु से देखा जा सकता है, न वाणी से कथन किया जा सकता है, और न इन्द्रियों से, न तप से या न कर्म से ग्रहण किया जा सकता है, केवल ज्ञान के प्रसाद से शुद्ध अन्तःकरणवाला पुरुष उस निर्गुण वा निर्व्यय भगवान् को ध्याता हुआ जान सकता अर्थात् अनुभव कर सकता है ।

श्रीज्ञानदेवजी अपने ढंग से इस श्लोक की ऐसे व्याख्या करते हैं—

"अजी सहस्रावधि मनुष्यों में किसी एक को ही इस विषय में रति उत्पन्न होती है, और इन बहुतेरे रतिवालों में कोई विरला ही ज्ञानी होता है। जैसे, हे अर्जुन! इस भरे हुए त्रिभुवन में अच्छे-अच्छे पुरुष चुनकर लक्षावधि सेना तैयार की जाती है, परन्तु पश्चात् जिस समय शस्त्र से शरीर

कार, यह मेरी भिन्न-भिन्न आठ प्रकार की प्रकृति* है, और यह अपरा है। अब इससे इतर हे अर्जुन ! तू मेरी जीव-स्वरूपा परा-प्रकृति को जान कि जिससे यह जगत् धारण किया जाता है ॥ ४, ५ ॥

व्याख्या—हे बड़ी भुजावाले अर्जुन ! पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश (शरीर का ढाँचा बनानेवाले), मन (ख्याल करने का द्वार), बुद्धि (निश्चय करने का द्वार), अहंकार (ममता-भाव के प्रकट करने का द्वार), ये आठ प्रकार के जड़ पदार्थ मेरी अपरा (अर्थात् निकृष्ट, परतंत्र, अचेतन वा परम पुरुष से पृथक् रखनेवाली) प्रकृति है, जो जगत् का कारण है, और जड़ वा परतंत्र होने से भोग्य वा परार्थ है। यह मेरी प्रकृति का एक भाग है। पर इससे इतर दूसरा भाग मेरी प्रकृति का जीव है, जो स्वतंत्र, भोक्ता और द्रष्टा है, जिससे वह मेरी परा प्रकृति (अर्थात् उत्कृष्ट, सचेतन, परम पुरुष से अभेदता रखनेवाली प्रकृति) कहलाता है। इस प्रकार मेरी एक ही शक्ति-रूप प्रकृति जड़ और चेतन-भेद से दो प्रकार की कहलाती है। इसमें जड़ भोग्य है, चेतन भोक्ता है; जड़ दृश्य है और चेतन द्रष्टा है; जड़-शक्ति चेतन के लिये नाना रूप

का संहार किया जाता है, उस समय विजयश्री के पद पर एक ही मनुष्य बैठता है, वैसे ही कोट्यावधि लोग आस्था-रूपी नदी की बाढ़ में प्रवेश करते हैं, परन्तु प्राप्ति के परतीर को विरला ही जा पहुँचता है। इसलिये यह बात सामान्य नहीं है, यह बड़ी श्रेष्ठ है, परन्तु इसका वर्णन आगे करेंगे। हाल में दूसरी बात सुनो।"

* "प्रक्रियतेऽनया इति प्रकृतिः"=जिससे यह जगत् बनाया जाय, वह प्रकृति है, इस प्रकार जगत् के कारण का नाम प्रकृति है। सांख्य-शास्त्र की परिभाषा में उस मूल-तत्त्व का नाम प्रकृति है, जो इस जड़-जगत् का उपादान कारण है। जिसको प्रधान और अव्यक्त भी कहते हैं, और जो सत्त्व, रज, तम, इन तीनों गुणों की साम्यावस्था है। सांख्य-शास्त्र में शब्द-

धरती है और चेतन-आत्मा उसके नाना रूपों को देखता और भोगता है। हे प्यारे! जगत् की सारी रचना और शोभा तू इन दोनों के मेल से ही जान। यह सब चर-अचर वा स्थावर-जंगम इन दोनों के मेल से ही प्रकट होता है, इसलिये ये ही दोनों भाग इस सारी रचना वा शोभा की रचना का कारण हैं ॥ ४, ५ ॥

सम्बन्ध--(१) इन दोनों (अपरा और परा वा जड़-चेतन रूप) प्रकृतियों को जगत् का कारण दर्शाते हुए भगवान् अब इन दोनों से इतर इन दोनों के आधारभूत अपने परम शुद्ध स्वरूप को सृष्टि आदि की उत्पत्ति-लय का स्थान (आधार) पुश्ते-पनाह (Substratum) दर्शाते हैं—

अथवा (२) अब भगवान् इन्हीं दो प्रकृतियों द्वारा अपने को समस्त जगत् की उत्पत्ति-लय का स्थान (आधार) स्पष्ट करते हैं—

तन्मात्र, स्पर्श-तन्मात्र, रूप-तन्मात्र, रस-तन्मात्र और गन्ध-तन्मात्र, ये पाँच तन्मात्र और अहंकार, महत्तत्त्व और अव्यक्त, यह आठ प्रकार से प्रकृति कही है। प्रायः व्याख्याकारों ने उसके साथ मिलाप करने के ख़्याल से यहाँ भी पञ्चभूतों से उनके कारण पञ्चतन्मात्र, मन से उसका कारण अहंकार, बुद्धि से महत्तत्त्व और अहंकार से अव्यक्त अर्थ लिया है। पर हमारे ख़्याल में यह सारा परिश्रम उनका अनावश्यक है, क्योंकि प्रकृति-शब्द से अभिप्राय यहाँ सांख्य-शास्त्र की प्रकृति नहीं। प्रकृति-शब्द यहाँ खुले अर्थों में लिया गया है। भगवान् प्रकृति से तात्पर्य वह शक्ति लेते हैं जिसके द्वारा इस समस्त जगत् का प्रकाश (ज़हूर) हुआ है। वह शक्ति दो प्रकार की है, एक जड़ (अपरा) और दूसरी चेतन (परा)। इनमें से जड़-प्रकृति द्वारा शरीर बनते हैं और चेतन-आत्मा उनमें प्रविष्ट होकर उन्हें धारण करता है। अतएव जड़ भोग्य और चेतन भोक्ता है, जड़ दृश्य और चेतन द्रष्टा है, इत्यादि। इन दोनों के मिलाप से ही सारे जगत् की रचना होती है। जड़ पदार्थ चेतन के भोगने के लिये होता है और स्वतंत्र नहीं होता, इसलिये आठ प्रकार की प्रकृति

एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय ।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा ॥ ६ ॥

एतत्, योनीनि, भूतानि, सर्वाणि = सारे पदार्थ यही दोनों योनियों (कारणों) वाले हैं
इति, उपधारय = ऐसा तू जान (निश्चय कर)

अहं, कृत्स्नस्य, जगतः, प्रभवः, प्रलयः, तथा = मैं (इस) समस्त जगत् की उत्पत्ति और प्रलय का स्थान हूँ

पहला अन्वयार्थ—हे अर्जुन! ऐसा जान कि सारे पदार्थ यही दोनों योनियांवाले हैं, और मैं इस समस्त जगत् की उत्पत्ति और लय का स्थान हूँ ॥ ६ ॥

'अपरा' कही है, और चेतन-जीव को 'परा' प्रकृति कहा है। परन्तु सांख्य-शास्त्र में सारी सृष्टि की अचेतन अर्थात् जड़ प्रकृति और सचेतन पुरुष इन दोनों को स्वतन्त्र बतलाकर जगत् का कारण कहा है। इन दोनों से परे तीसरा तत्त्व नहीं माना है। किन्तु गीता को यह द्वैत स्वीकार नहीं। इसलिये भगवान् ने आगे चलकर अपने आपको इन दोनों से इतर इनका आधार-स्वरूप (Substratum) परम पुरुष कहा है और इस प्रकृति तथा पुरुष (जीव) दोनों को अपने निज-स्वरूप (परमात्मा) की ही दो विभूतियाँ माना है, इनमें से एक (जड़-प्रकृति) को निम्न-श्रेणी की और दूसरी (चेतन-प्रकृति) को श्रेष्ठ-श्रेणी की कहा है। और ऐसा ही उपनिषदों में भी वर्णन है कि सामान्यतः— "एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च। खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी।"=परब्रह्म से ही प्राण, मन, सारी इन्द्रियाँ, आकाश, वायु, अग्नि, जल और विश्व को धारण करनेवाली पृथिवी, ये (सब-के-सब) उत्पन्न होते हैं (मुण्डक, २.१.३ । कै., १.१५ । प्रश्न, ६.४)।

दूसरा अन्वयार्थ—हे अर्जुन ! ऐसा निश्चय कर कि सब प्राणी इन्हीं दोनों (प्रकृतियों) से उत्पन्न होते हैं, (इसीलिये) सारे जगत् का प्रभवः (मूल वा उत्पत्ति) और प्रलय (अंत वा नाश) मैं (वास्तव में) हूँ ॥ ६ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! तू यह निश्चय कर कि ये दोनों परा और अपरा प्रकृति समस्त पदार्थों का कारण हैं, अर्थात् सब जड़-चेतन पदार्थ इन्हीं दोनों कारणों से प्रकट होते हैं। और मैं इन दोनों प्रकृतियों का स्वामी होने से वस्तुतः इनका आधार हूँ, जिससे इनके सब कर्म केवल मेरे आश्रय से होते हैं, अतएव मैं ही इस सारे जगत् की उत्पत्ति और लय का स्थान हूँ, अर्थात् मैं ही वास्तव में इन सबको प्रकट करता हूँ और मैं ही इनका संहार करता हूँ ॥ ६ ॥

सम्बन्ध—जब कि मैं ही सबकी उत्पत्ति और प्रलय का स्थान हूँ, इसलिये—

मत्तः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति धनंजय ।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥ ७ ॥

मत्तः, परतरं	=मुझसे अधिक परे	मयि, सर्वं, इदं, प्रोतं	मुझमें यह सब पिरोया हुआ (ओतप्रोत) है
न, अन्यत्, किञ्चित्, अस्ति, धनञ्जय	हे अर्जुन ! दूसरा कुछ नहीं है	सूत्रे, मणिगणाः इव	जैसे धागे में मणियों की लड़ी

अन्वयार्थ—हे अर्जुन ! मुझसे अधिक परे दूसरा कुछ नहीं है। धागे में मणियों की लड़ी के समान यह सब (नाम-रूप) मुझमें पिरोया हुआ है ॥ ७ ॥

पहली व्याख्या—हे सबके धन वा बल को जीतनेवाले अर्जुन ! मैं जो सबका आधारभूत* परब्रह्म हूँ, उससे परे कोई इस जगत् का आधार

---

* पर-अपर, जीव-ईश्वर, जड़-चेतन वा प्रकृति-पुरुष, इत्यादि ये सब

वा आश्रय नहीं है, अतएव मुझसे अधिक दूर या परम श्रेष्ठ और कोई भी पदार्थ इस संसार में नहीं है। यह नाम-रूप प्रपञ्च मुझमें ऐसे ओतप्रोत है, जैसे धागे में मोतियों की लड़ी ॥ ७ ॥

दूसरी व्याख्या—हे अर्जुन ! इस संसार में मुझ परब्रह्म से भिन्न दूसरा कोई पदार्थ परमार्थतः सत्य नहीं है। मुझ सच्चिदानन्द के सिवा और सब मिथ्या है। जैसे स्वप्न में स्वप्न का साक्षी परमार्थ सत्य है और स्वप्न मिथ्या है, वैसे मुझ परब्रह्म की सत्ता से यह स्वप्नवत् जगत् सत्य प्रतीत होता है, पर वास्तव में यह सब मिथ्या है, और इसमें मैं परमेश्वर ही एक परमार्थ सत्य हूँ। जैसे स्वप्न का साक्षी (द्रष्टा) यद्यपि स्वप्न से भिन्न है, पर स्वप्न के प्रत्येक पदार्थ में ओतप्रोत होता है, ऐसे ही यह स्वप्न-

---

सापेक्षक शब्द वा अवस्थाएँ हैं। पाश्चात्य दर्शन-शास्त्र में यह नियम प्रसिद्ध है—"Two relatives cannot stand independent of each other. They must have one substratum behind them. That substratum is though beyond those relations, yet pervades in them and supports them." सापेक्षक पदार्थ वा अवस्थाएँ स्वतन्त्र नहीं हुआ करतीं, वे अन्योऽन्याश्रित ही होती हैं, पर इनका आधार इन दोनों से इतर, इनमें ओतप्रोत, इनका वास्तव स्वरूप, एक निरपेक्ष पदार्थ होता है। जैसे शीत-उष्ण, ये दोनों सापेक्षक हैं। उष्णत्व के अधिक दर्जों का नाम उष्णता (गरमी) है, और उष्णत्व के कम दर्जों का नाम शीत है। एक ही आधार (उष्णत्व) के ये दोनों आधेय हैं, और भिन्न-भिन्न दर्जों के कारण भिन्न-भिन्न नाम और रूप पाते हैं। पर इनका आधार (उष्णत्व) स्वयं निरपेक्ष, इन दोनों रूपों वा भावों से इतर, इनमें ओतप्रोत और इनका वास्तविक स्वरूप होता है। इसी प्रकार यह जड़-चेतन, पर-अपर इत्यादि सापेक्षक अवस्थाएँ वास्तव में स्वतंत्र नहीं। इनका आधारभूत, इनका वास्तव स्वरूप, शुद्ध सच्चिदानन्द परब्रह्म है। वह परब्रह्म (परमतत्त्व) इन सबमें ओतप्रोत, इनकी असली जान, इनका परम आश्रय है;

वत् जगत् यद्यपि मुझसे भिन्न विद्यमान है, पर मुझमें ऐसा पिरोया हुआ है, जैसे धागे में मणियों के गुच्छे वा समूह पिरोये होते हैं ॥ ७ ॥

इस श्लोक पर अपने निराले ढंग से श्रीज्ञानदेवजी ने ऐसे व्याख्या की है—

"यह जो मृगजल है, उसका मूल खोजते आइए, तो किरण नहीं केवल सूर्य ही है। उसी प्रकार, हे किरीटि! इस प्रकृति से उत्पन्न हुई सृष्टि का जब लय होकर पर्यवसान हो, तो केवल मैं ही रह जाऊँगा। एवं यह जो उत्पन्न होना, दिखाई देना और फिर विलीन हो जाना है, सो मुझमें ही होता रहता है। मैं विश्व को थाँभता हूँ, जैसे सूत्र से मणि थाँभे जाते हैं। सुवर्ण के मणि किये जायँ और वे सोने के ही सूत (तार) में पिरोये जायँ, वैसे ही मैंने अंतर्बाह्य जगत् को थाँभा है।"

सम्बन्ध—(१) "सब मुझमें पिरोये हुए हैं", इसको अब नाना दृष्टांतों से भगवान् स्पष्ट करने लगे हैं—

इससे परे और कोई आश्रय या आधार नहीं। इसलिये भगवान् ने अपने स्वरूप को इस सब जगत् का आधारभूत स्वामी वर्णन किया है, जिससे ओत-प्रोत का दृष्टांत दिया है। श्रुति इस विषय में ऐसे कहती है—"यः पृथिव्यां तिष्ठन्, पृथिव्या अन्तरः, यं पृथिवी न वेद, यस्य पृथिवी शरीरम्। यः पृथिवी-मन्तरो यमयति, एष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः।"=अन्तर्यामी आत्मा का वर्णन करते हुए याज्ञवल्क्य मुनि ने कहा कि जो पृथिवी में रहता हुआ पृथिवी से अलग है, जिसको पृथिवी नहीं जानती, जिसका पृथिवी शरीर है, जो पृथिवी के भीतर रहकर उसे नियम में रखता है, यह तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है। (बृहदारण्यक, ३.७.३–२३) इसी प्रकार वहाँ आगे जल, वायु, अग्नि, अन्तरिक्ष और आकाशादि में ओतप्रोत करके आत्मा दर्शाया गया है।

अथवा (२) अब भगवान् उक्त आशयानुसार अपने को सर्व पदार्थों का सारभूत अगले पाँच श्लोकों में वर्णन करते हैं—

अथवा (३) प्रत्येक भाव को शक्ति वा जीवन देते हुए भगवान् उसमें स्थित हैं, ऐसा अब पाँच श्लोकों में दर्शाते हैं—

अथवा (४) सारे जगत् में कैसे मैं ओतप्रोत हूँ, इसे भगवान् अब अनेक दृष्टांतों से विस्तारपूर्वक दर्शाते हैं—

अथवा (५) यह समस्त जगत् किस-किस धर्म या सार से युक्त मुझमें पिरोया हुआ है, इसे भगवान् अब सविस्तर वर्णन करते हैं—

रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभाऽस्मि शशिसूर्ययोः ।
प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु ॥ ८ ॥

रसः, अहं, अप्सु, कौन्तेय	हे अर्जुन ! जलों में मैं रस हूँ	प्रणवः, सर्व-वेदेषु=सब वेदों में ओंकार हूँ
प्रभा, अस्मि, शशि-सूर्ययोः	चन्द्र और सूर्य में मैं प्रभा हूँ	शब्दः, खे=आकाश में शब्द हूँ
		पौरुषं, नृषु=नरों में पुरुषत्व (उद्यम) हूँ

अन्वयार्थ—हे अर्जुन ! जलों में रस, चन्द्र और सूर्य में प्रभा, सब वेदों में ओंकार, आकाश में शब्द और पुरुषों में पुरुषत्व मैं हूँ ॥ ८ ॥

व्याख्या—हे कुन्ती-पुत्र अर्जुन ! यदि तू जानना चाहे कि मैं किन-किन भावों से इस समस्त जगत् में विद्यमान वा ओतप्रोत हूँ, अथवा किस-किस प्रकार से मैं सबका आधारभूत हुआ सबमें व्याप्त स्थित हूँ, तो समझ ले कि जलों में जो उनका सारभूत रस है और उनमें ओत-प्रोत (व्याप्त) है, और जिसके विना जल जल ही नहीं रह सकता, वह जलों में सार-रूप रस मैं हूँ। ऐसे ही चन्द्र और सूर्य में जो प्रभा (तेज, चमक, प्रकाश या कान्ति) है, जिसके विना चन्द्र चन्द्र नहीं

और सूर्य सूर्य नहीं रह सकता, वह चन्द्र और सूर्य की ज्ञान-रूप प्रभा मैं हूँ। ऐसे ही सब वेदों का कारण जो प्रणव (ओंकार) है, अर्थात् जो वेदों का सारभूत होने से उनमें ओतप्रोत है ; "तद्यथा शंकुना सर्वाणि पर्णानि संतृण्णानि एवमोङ्कारेण सर्वा वाक् संतृण्णा इति श्रुतिः।" जैसे वृक्ष के बीच की डंडी से सब पत्ते ग्रथित हैं, वैसे सब वेदों के वचन ओंकार से ग्रथित हैं, ऐसा श्रुति स्वयं कहती है; इस प्रकार ये सब वेद जिस प्रणव (ॐ) से प्रकट हुए माने जाते हैं, वल्कि जिस ओंकार को वेद स्वयं अपने वा जगत् के प्राण वर्णन करता है, वह वेदों का सारभूत ओंकार मैं हूँ। ऐसे ही आकाश में जो उसका गुण शब्द है, जिसके विना आकाश आकाश नहीं रह सकता, वल्कि जो स्वयं आकाश का सारभूत है, वह आकाश का सारभूत शब्द मैं हूँ। ऐसे ही पुरुषों में जो उनका सारभूत पुरुषत्व है, जिसके विना पुरुष पुरुष नहीं कहला सकता, वह पुरुषों का सारभूत पुरुषत्व (उद्यम वा पराक्रम) मैं हूँ। अर्थात् जलों का जलत्व, चन्द्र का चन्द्रत्व, सूर्य का सूर्यत्व, वेदों का वेदत्व, आकाश का आकाशत्व, और पुरुषों का पुरुषत्व (या दूसरे शब्दों में सबके प्राण, सबका सार वा सबका आधारभूत) वास्तव में मैं हूँ, और ये सब मेरे ही आश्रित हैं ॥८॥

और—

पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ ।
जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु ॥ ९ ॥

पुण्यः[3], गंधः[4], पृथिव्यां[2], च[1]	और[1] पृथिवी[2] में पवित्र[3] गन्ध[4]	जीवनं[3], सर्व[1]-भूतेषु[2]	सब[1] प्राणियों[2] में जीवन[3] (जीवन-शक्ति)
तेजः[3], च[1], अस्मि[4], विभावसौ[2]	और[1] अग्नि[2] में तेज[3] हूँ[4]	तपः[3], च[1], अस्मि[4] तपस्विषु[2]	और[1] तपस्वियों[2] में तप[3] हूँ[4]

अन्वयार्थ—पृथिवी में पवित्र गन्ध, अग्नि में तेज, सब प्राणियों में जीवन-शक्ति, और तपस्वियों में तप मैं हूँ ॥ ९ ॥

व्याख्या—और पृथिवी में जो उसका सारभूत गन्ध-गुण है, अर्थात् जिसके विना पृथिवी पृथिवी हो नहीं सकती, वह सारभूत गन्ध-गुण मैं हूँ। ऐसे ही अग्नि में जो तेज है, जिसके कारण अग्नि अग्नि कहलाती है, वह अग्नि का सारभूत तेज मैं हूँ। ऐसे ही सब जीव-जन्तुओं में जो जीवन-शक्ति है, जिस शक्ति के विना जीव-जन्तु जीते नहीं रह सकते, वा जिसके विना वे प्राणी नहीं कहला सकते, वह जीवों की सारभूत जीवन-शक्ति मैं हूँ। ऐसे ही तपस्वियों में जो तप है, जिसके विना तपस्वी तपस्वी नहीं कहला सकता, वह तपस्वियों का तप मैं हूँ ॥ ९ ॥

और—

बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम् ।
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ॥ १० ॥

बीजं, मां, सर्व-भूतानां, विद्धि	सारे भूतों का बीज तू मुझको जान	बुद्धिः, बुद्धिमतां, अस्मि	बुद्धिमानों की बुद्धि हूँ
पार्थ, सनातनं=हे अर्जुन ! सनातन		तेजः, तेजस्विनां, अहं	तेजस्वियों का तेज मैं हूँ

अन्वयार्थ—हे अर्जुन ! सारे भूतों का सनातन बीज तू मुझे जान। बुद्धिमानों की बुद्धि और तेजस्वियों का तेज मैं हूँ ॥ १० ॥

व्याख्या—हे पृथा-पुत्र अर्जुन ! तू ऐसा समझ कि संसार के सारे पदार्थों का सनातन बीज (अनादि काल से चला आया उत्पत्ति-कारण) मैं ही हूँ। और बुद्धिमानों में जो बुद्धि है, जिसके कारण मनुष्य बुद्धि-मान् कहलाते हैं, वह उनकी सारभूत बुद्धि मैं हूँ। ऐसे ही तेजस्वियों में

जो तेज है, जिसके कारण वे लोग तेजस्वी कहलाते हैं, वह उनका सार-भूत तेज मैं हूँ ॥ १० ॥

और—

बलं बलवतां चाहं कामरागविवर्जितम् ।
धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ ॥ ११ ॥

बलं[६], बलवतां[२], च[१], अहं[७], काम[३]-राग[४]-विवर्जितं[५]	और[१] बलवानों[२] का काम[३]-राग[४] से रहित[५] बल[६] मैं[७] हूँ	धर्म[४]-अविरुद्धः[५], भूतेषु[३], कामः[६], अस्मि[७]; भरत[१]-ऋषभ[२]	हे भरतों[१] में श्रेष्ठ[२] (अर्जुन)! प्राणियों[३] में धर्म[४] के अविरुद्ध[५] (धर्मानुकूल) काम[६] मैं[७] हूँ

अन्वयार्थ—हे अर्जुन! बलवानों का काम-राग से रहित बल और प्राणियों में धर्मानुकूल काम मैं हूँ ॥ ११ ॥

व्याख्या—हे भरतों में श्रेष्ठ अर्जुन! अप्राप्त विषयों में जो तृष्णा (काम) है और प्राप्त विषयों में जो प्रीति वा आसक्ति (राग) है, अर्थात् विषय-वासना और विषयासक्ति इन दोनों से रहित जो बल है, अथवा बलवानों में जो बल काम-राग उत्पन्न नहीं करता किन्तु शरीर और धर्म-पालन में सहायता देता है, ऐसा सात्त्विक बल मैं हूँ। और प्राणियों में जो धर्म-शास्त्र के अविरुद्ध (अर्थात् जो धर्म-शास्त्र से निषेध नहीं किया गया किन्तु धर्मानुकूल) काम है, अर्थात् धर्म-शास्त्र के अनुसार अपनी अर्धाङ्गिनी के लिये केवल सन्तान-उत्पत्ति निमित्त अर्पण होनेवाला जो प्राणियों में काम है, अथवा प्राणियों में जो धर्मानुकूल कर्म वा निज कर्तव्य को पालन करने की इच्छा है, अथवा प्राणियों में जो निज स्वरूप के अनुभव करने की कामना है, वह सात्त्विक काम मैं हूँ ॥ ११ ॥

सम्बन्ध—(१) जब भूतों का सनातन बीज स्वयं परमात्मा है और सब कामादि बल परमात्मदेव ही है, तब परमात्मा को नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त-स्वभाव कैसे कह सकते हैं ? इसका उत्तर भगवान् अब देते हैं—

अथवा (२) जब सब पदार्थों का अनादि बीज परमात्मदेव ही है, तब काम-राग से रहित बल और धर्म के अविरुद्ध काम ही परमात्मदेव क्यों, अन्य प्रकार का बल या काम क्यों नहीं ? क्या वास्तव में ये कोई और हैं अथवा किसी और से उत्पन्न हुए हैं ? इस शंका का निवारण भगवान् अब करते हैं—

अथवा (३) बहुत पदार्थों को अलग-अलग करके गिनने से क्या, यह समस्त जगत् ही वास्तव में मुझसे है और मैं इसमें ओतप्रोत हूँ, ऐसा भगवान् अब दर्शाने लगे हैं—

अथवा (४) अब भगवान् सब सात्त्विक, राजस और तामस भावों की उत्पत्ति अपने से बताते हुए यह दर्शाने लगे हैं कि यद्यपि ये सब मुझमें हैं, पर मैं इनमें नहीं—

ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये ।
मत्त एवेति तान्विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि ॥१२॥

ये[२], च[१], एव[३], सात्त्विकाः[४], भावाः[८], राजसाः[५], तामसाः[७], च[६], ये[२]	और[१] जो[२] भी[३] ये सात्त्विक[४], राजस[५] और[६] तामस[७] भाव[८] हैं	मत्तः[१], एव[२], इति[३], तान्[४], विद्धि[५]	मुझसे[१] ही[२] हैं, ऐसा[३] तू उनको[४] जान[५]
		न[४], तु[१], अहं[३], तेषु[२], ते[५], मयि[६]	पर[१] उनमें[२] मैं[३] नहीं[४], वे[५] मुझमें[६] हैं

अन्वयार्थ—और जो भी ये सात्त्विक, राजस और तामस भाव हैं, वे मुझसे ही हैं, ऐसा तू उनको जान । पर मैं उनमें नहीं हूँ, वे मुझमें हैं ॥१२॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! जो भी अन्तःकरण के परिणाम-रूप शम-दमादि

सात्त्विक भाव (गुण) हैं, और राग-द्वेष व हर्ष-दर्पादि राजस भाव हैं तथा शोक-मोहादि तामस भाव हैं, वे यद्यपि प्राणियों के पूर्व-कर्मानुसार उत्पन्न हो आते हैं, पर वास्तव में मैं ही अपने उक्त—"अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः"—कथनानुसार सारे जगत् का मूल अर्थात् उत्पत्ति-स्थान हूँ, इसलिये वे सब-के-सब मुझसे ही उत्पन्न हुए हैं, ऐसा तू जान। या दूसरे शब्दों में—जो भी सत्त्वगुण-प्रधान * भाव हैं अर्थात् जिनमें सत्त्वगुण प्रधान है (जैसे देव, ऋषि, ब्राह्मण इत्यादि), और जिनमें रजोगुण प्रधान है (जैसे गन्धर्व, यक्ष, क्षत्रिय इत्यादि), तथा जिनमें तमोगुण प्रधान है (जैसे राक्षस, क्रव्याद, शूद्र इत्यादि), ये सब-के-सब हे अर्जुन ! तू मुझ परमेश्वर से ही उत्पन्न हुए जान। और

---

* "सात्त्विक, राजस और तामस, जिनमें सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण प्रधान हैं। सब चर-अचर इन्हीं तीनों गुणों से बना हुआ है, और प्रत्येक में कोई एक गुण तीनों में से प्रधान होता है। भाव = पदार्थ ; सात्त्विक भाव = शम-दमादि, राजस भाव = द्वेष-दर्पादि, और तामस भाव = शोक-मोहादि, जो प्राणियों के अपने-अपने कर्म के अधीन उत्पन्न होते हैं, उन सबको तू मुझसे ही उत्पन्न हुआ जान, क्योंकि मेरी प्रकृति के जो तीन गुण हैं, उनके वे कार्य हैं।" (श्रीश्रीधर)

"प्रकृति परमात्मा से उत्पन्न होती है, इसलिये त्रिगुणमयी प्रकृति के सभी त्रिगुण के भाव परमात्मा से ही प्रकट होते हैं, यह बात विज्ञान-सिद्ध है। किंतु परमात्मा प्रकृति के चालक हैं, वश में नहीं हैं, इस कारण तीन गुण के भाव भी उन्हीं के वश में हैं, वे उनके वश में नहीं हैं। त्रिगुणमयी माया दासी की तरह अनंत नागशायी महाविष्णु की सेवा करती है और उन्हीं के इंगित के अनुसार उन्हीं की चेतन सत्ता के बल से त्रिगुणमय अनंत लीला-विलास को बताती है, यही इस श्लोक का रहस्य है।" (भारत-धर्म-महामंडल के स्वामी दयानंद)

यह भी ध्यान में रख कि यद्यपि ये सब-के-सब वास्तव में मुझसे ही उत्पन्न हुए हैं, परन्तु संसारी जीवों के समान मैं इनमें आसक्त वा इनके अधीन नहीं, बरन् ये मेरे आश्रय वा मेरे अधीन हैं।* या दूसरे शब्दों में यह कि सब पदार्थों का उत्पत्ति-स्थान होने से मैं इन (कार्य पदार्थों) से परिच्छिन्न नहीं हो गया हूँ, किन्तु ये मुझमें स्थित वा परिच्छिन्न हैं। अर्थात् मुझ परमेश्वर से ये सब उत्पन्न होने से मेरी व्याप्ति का इन्हीं में अन्त नहीं हो जाता, किन्तु इनसे परे भी मैं व्याप्त हूँ : हाँ इन पदार्थों की व्याप्ति मुझमें ही समाप्त हो जाती है, ये मुझसे बाहर व्याप्त वा स्थित नहीं हैं और न हो सकते हैं॥ १२॥ †

सम्बन्ध—(१) जब परमेश्वर की व्याप्ति समस्त जगत् से भी अधिक है, अर्थात् जगत् में ही सारा-का-सारा परमेश्वर व्याप्त नहीं हो गया किन्तु जगत्

---

* "वे मुझमें हैं, मैं उनमें नहीं हूँ।" इसका अर्थ बड़ा ही गम्भीर है। पहला अर्थात् प्रकट अर्थ यह है कि सभी पदार्थ परमेश्वर से उत्पन्न हुए हैं, इसलिये मणियों में धागे के समान इन पदार्थों का गुण-धर्म भी यद्यपि परमेश्वर ही है, तथापि परमेश्वर की व्याप्ति इसी में नहीं चुक जाती ; समझना चाहिए कि इनको व्याप्त कर इनके परे भी वही परमेश्वर है और यही अर्थ आगे "इस समस्त जगत् को मैं एकांश से व्याप्त कर रहा हूँ" (गी० १०. ४२), इस श्लोक में वर्णित है। परन्तु इसके अतिरिक्त दूसरा भी अर्थ नित्य विवक्षित रहता है। वह यह कि त्रिगुणात्मक जगत् का नानात्व यद्यपि मुझसे निर्माण हुआ दीख पड़ता है, तथापि वह नानात्व मेरे निर्गुण स्वरूप में नहीं रहता, और इस दूसरे अर्थ को मन में रखकर "भूतभृत् न च भूतस्थः" (९.४-५) इत्यादि परमेश्वर की अलौकिक शक्तियों के वर्णन किये गये हैं (गी० १३. १४-१६)। (श्रीतिलक महाराज)

† श्रीज्ञानदेवजी ने इस श्लोक पर अनोखे ढङ्ग से ऐसे व्याख्या की है — "यह जान लो कि जो सात्त्विक भाव हैं अथवा रज-तमादि गुण हैं, वे सब

के परे भी व्याप्त है, तो स्पष्ट है कि परमेश्वर के सच्चे स्वरूप को पहचानने के लिये इस मायिक जगत् से परे भी जाना चाहिए, इस भाव को भगवान् अब वर्णन करते हैं—

अथवा (२) जिस कारण से लोग मेरे इस वास्तविक स्वरूप को नहीं जानते, उसे भगवान् अब स्पष्ट करते हैं—

अथवा (३) जब आप से उत्पन्न हुआ यह समस्त जगत् आपके अधीन है, तो इसके निवासी आपको क्यों नहीं जानते? आपके स्वरूप से विमुख क्यों रहते हैं? इसका कारण भगवान् अब स्पष्ट करते हैं—

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत्।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम् ॥१३॥

त्रिभिः, गुणमयैः, भावैः, एभिः	इन तीन गुणमय भावों से	मोहितं, न, अभिजानाति	मोहा हुआ नहीं जानता है
सर्वं, इदं, जगत्	यह सब जगत्	मां, एभ्यः, परं, अव्ययं	इनसे परे मुझ निर्विकार को

मेरे रूप से ही उत्पन्न हुए हैं। परंतु यद्यपि वे मुझसे उत्पन्न हुए हैं तथापि मैं उनमें नहीं हूँ, जैसे स्वप्न-रूपी देह में जागृति नहीं डूबती, जैसे बीजकणिका दृढ़ और घने रस की ही बनी रहती है, परन्तु उससे अंकुर के द्वारा काष्ठ उत्पन्न होता है, इसलिये क्या काष्ठ में बीजत्व नहीं है? वैसे ही यद्यपि मैं विकृत दिखाई देता हूँ तथापि मैं विकृत नहीं होता। गगन में मेघ उत्पन्न होते हैं, परन्तु उनमें गगन सर्वथा नहीं रहता, अथवा मेघ से जो जल उत्पन्न होता है, उसमें मेघ नहीं रहते या उदक के घर्षण से प्रकट हो जो प्रकाश चमकता हुआ दिखाई देता है, उस विद्युत् में क्या जल रहता है? कहो अग्नि से जो धुआँ उत्पन्न होता है, उस धुएँ में क्या अग्नि रहती है? वैसे ही यद्यपि मैं विकृत दिखाई देता हूँ तथापि मैं विकार-रूप नहीं हूँ।"

अन्वयार्थ—इन तीन गुणमय भावों से मोहा हुआ यह सब जगत् इनसे परे मुझ निर्विकार को नहीं जानता है ॥ १३ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! ये जो सत्त्व, रज, तम तीन गुण हैं, और इन के विकार-रूप जो तीन प्रकार के पदार्थ हैं, इनसे सब जगत् मोह को प्राप्त हो रहा है, अर्थात् इनसे मुग्ध प्राणी नित्य-अनित्य वस्तु के विवेक की अयोग्यता को प्राप्त हो रहे हैं, जिससे इस जगत् का निवासी, मैं जो इन गुणमय भावों से परे, विकार-रहित, अविनाशी, आनन्दघन व ज्योति-स्वरूप हूँ, उस मेरे वास्तव स्वरूप को नहीं जानता। अर्थात् प्रकृति का सौन्दर्य प्राणियों को ऐसा मोह लेता है कि वे उसी में रम जाते हैं और उससे परे देखते तक नहीं ॥ १३ ॥*

सम्बन्ध—(१) इन गुणमय भावों को कौन तर सकता है, इसे भगवान् अब दर्शाते हैं—

अथवा (२) कौन इन गुणमय भावों से परे मेरे वास्तव स्वरूप को जान लेते हैं, इसे भगवान् अब वर्णन करते हैं—

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥ १४ ॥

दैवी, हि, एषा, गुणमयी, मम, माया, दुरत्यया	यह मेरी गुणमयी दैवी माया निःसन्देह दुस्तर है	मां, एव, ये, प्रपद्यन्ते	जो मुझको ही प्राप्त होते हैं
		मायां, एतां, तरन्ति, ते	वे इस माया को तर जाते हैं

---

* श्रीज्ञानदेवजी ने अपने निराले ढङ्ग से इस श्लोक पर ऐसे व्याख्या की है—"परन्तु पानी पर उपजी हुई सेवार जैसे पानी को आच्छादन कर लेती है, अथवा मेघ से जैसे आकाश वृथा लुप्त हो जाता है, अजी स्वप्न मिथ्या कहलाता है, परन्तु नींद में जब वह दीखता है, तब क्या मनुष्य को निज

अन्वयार्थ—यह मेरी गुणमयी* दिव्य माया निःसन्देह दुस्तर है। (परंतु) जो मुझको ही प्राप्त होते हैं, वे इस माया को तर जाते हैं ॥ १४ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन! यह जो मेरी गुणमयी दिव्य माया है, अर्थात् यह जो उक्त सत्त्व, रज, तम, तीन गुणों से युक्त माया मुझ विष्णुभगवान् में वर्तमान रहने से अथवा मुझ शुद्ध चैतन्य देव के आश्रय रहने से दैवी अर्थात् अलौकिक, दिव्य वा अद्भुत कहलाती है, यह मेरी त्रिगुणात्मक दिव्य माया निःसन्देह अति दुस्तर है, अर्थात् इस मेरी माया का पार करना अति कठिन है। पर जो मुझ शुद्ध सच्चिदानन्द को प्राप्त होते हैं, अर्थात् जो मेरे वास्तविक स्वरूप की शरण लेते हैं, अथवा जो मुझ परमात्मदेव के निरंतर परायण हैं और मेरे शुद्ध स्वरूप का अनुभव करते हैं, वे इस माया को तर जाते हैं, अर्थात् वे इस जन्म-मरण-रूप संसार-समुद्र से पार हो जाते हैं ॥ १४ ॥

स्वरूप का स्मरण होता है? और तो क्या, आँख में ही जो जाला उत्पन्न होता है, उससे क्या नेत्रों की देखने की शक्ति नष्ट नहीं हो जाती? वैसे ही यह मेरी त्रिगुणात्मक छाया विस्तृत हुई है, अथवा जवनिका समान मेरी ही ओट में पड़ी है। इसलिये प्राणीगण मुझे नहीं पहचानते। वे मेरे ही हैं, परन्तु जैसे जल से उत्पन्न हुए मोती जल में नहीं गलते, वैसे वे मद्रूप नहीं होते। मिट्टी का घट बनाया जाय, तो मिट्टी में मिलाते ही मिल जाता है, परन्तु वही अग्नि में तपाया जाय, तो भिन्न बन जाता है; वैसे ही सब प्राणी वास्तव में हैं तो मेरे ही अवयव, परन्तु माया के कारण जीव-दशा को प्राप्त हुए हैं। इसलिये मेरे होकर भी वे मद्रूप नहीं हैं। मेरे हैं तथापि मुझे नहीं पहचानते। अहंता और ममता के मद से विषयान्ध हो गये हैं।"

* "इससे प्रकट होता है कि सांख्य-शास्त्र की त्रिगुणात्मक प्रकृति को ही गीता में भगवान् अपनी माया कहते हैं। महाभारत के नारायणीय उपाख्यान में कहा है कि नारद को विश्व-रूप दिखलाकर अन्त में भगवान् बोले—

सम्बन्ध—(१) पर जो मनुष्य भगवान् की शरण नहीं लेते, उनके गुण-कर्म-स्वभाव अब भगवान् वर्णन करते हैं—

अथवा (२) जब मुझ परमात्मदेव की शरण में आये लोग माया को तर जाते हैं, तब सब लोग मेरी शरण क्यों नहीं लेते, इस पर भगवान् अब कहते हैं—

'माया ह्येषा मया सृष्टा यन्मां पश्यसि नारद। सर्वभूतगुणैर्युक्तं नैव त्वं ज्ञातुमर्हसि'= हे नारद ! तुम जिसे देख रहे हो, यह मेरी उत्पन्न की हुई माया है। तुम मुझे सब प्राणियों के गुणों से युक्त मत समझो। (शां० ३३९-४४)। वही सिद्धान्त अब यहाँ भी बतलाया गया।" (श्रीतिलक महाराज)

माया-शब्द के अर्थ यहाँ प्रकृति के हैं, जैसा कि

'मायान्तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनन्तु महेश्वरम्।' इति श्रुतिः

प्रकृति को माया समझो और परमेश्वर को मायावाला जानो, इत्यादि उपनिषद्-वाक्यों से स्पष्ट पाया जाता है कि माया यहाँ प्रकृति का नाम है, और इस माया-रूपी प्रकृति को अर्थात् मोह के हेतु प्रकृति को परमात्मा के ज्ञान से ही पुरुष तर सकता है, अन्यथा नहीं।" (पं० आर्यमुनि)

हमारे ख़्याल में 'माया'-शब्द से अभिप्राय भगवान् की अपनी वह शक्ति है जिसको उन्होंने पूर्व श्लोक ४, ५, ६ में दो प्रकार की अर्थात् परा, अपरा के नाम से निरूपित किया है। ऋग्वेद में देवता के सम्बन्ध में माया का बहुधा वर्णन है (देखो ऋग्० २. १७. ५ ; ५. ४०. ६ ; ५. ६३. ४ ; ६. ४७. १८)। जहाँ-जहाँ देवता के सम्बन्ध में माया का वर्णन है, वहाँ-वहाँ सच्चे ज्ञान और सच्चे कार्य से अभिप्राय है। दूसरा वर्णन असुरों के सम्बन्ध में मिलता है। जहाँ-जहाँ असुरों के सम्बन्ध में वर्णन है, वहाँ-वहाँ धोखे के अर्थ में है (देखो शतपथ ११. १. ६. १२)। सो ये दो भेद देखकर भगवान् से

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः ।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः ॥१५॥

न, मां, दुष्-कृतिनः, मूढाः, प्रपद्यन्ते, नर-अधमाः	खोटे कर्मोंवाले मूढ़, नीच नर मुझको नहीं प्राप्त होते	मायया, अपहृत-ज्ञानाः, आसुरं, भावं, आश्रिताः	माया से हरे गये ज्ञानवाले, और आसुर भाव का आश्रय लिए हुए

अन्वयार्थ—खोटे कर्मोंवाले, मूढ़, माया से हरे गये ज्ञानवाले, और आसुर-भाव* का आश्रय लिए हुए नीच नर मुझको प्राप्त नहीं होते हैं ॥ १५ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! जो नर खोटे कर्मोंवाले अर्थात् पापी हैं; जो

माया का विशेषण दैवी और गुणमयी दिया गया है । और यह भी पुराणों में आया है कि विष्णु भगवान् की शक्ति ही उनकी माया है, जो स्वभावतः उनके आश्रय रहती है, जिससे दिव्य कहलाती है । उनकी यह शक्ति मोहिनी-रूप भी कहलाती है, क्योंकि यह इस जगत् को मोहनेवाली रचना है, जो प्राणी को अपने ही सौन्दर्य में फँसाए व उरझाए रखती है, परे नहीं जाने देती । इसलिये यह प्राणी के लिये एक धोखा ही है । पर यह धोखा मिटता तब है, जब प्राणी परमेश्वर-परायण होता है । जैसा कि उपनिषद् में आया है—"तस्याभिध्यानाद् योजनाद् तत्त्वभावाद् भूयश्चान्ते विश्वमाया-निवृत्तिः" = उस परमात्मदेव के स्मरण से, उसमें (चित्त को) जोड़ने से, और तन्मय हो जाने से फिर अन्ततः सारी माया हट जाती है (श्वेत० १, १०) ।

* आसुर-भाव असुरों की प्रकृति को कहते हैं । देह को आत्मा मानकर उसी की पूजा, सेवा, शुश्रूषा वा पालन-पोषण में प्रवृत्त रहना और छल-छिद्रादि से भी लौकिक सुखों को भोगना, यह असुरों की प्रकृति है ।

मूढ़ अर्थात् विवेक-शून्य हैं ; जो नीच अर्थात् कमीने स्वभाववाले हैं ; जिनके ज्ञान को माया ने हर लिया वा नष्ट कर दिया है ; और जो असुरों के भाव का आश्रय लिए हुए हैं, अर्थात् जिनकी प्रकृति असुरों (राक्षसों वा शैतानों) की-सी हो चुकी है ; ऐसे मनुष्य मुझ आत्म-स्वरूप को प्राप्त नहीं होते, अर्थात् ऐसे पुरुष न मेरी शरणागत होते हैं, न मेरा साक्षात्कार कर सकते हैं, और न मुझे हृदय से भजते ही हैं ॥ १५ ॥*

सम्बन्ध—(१) पर जो-जो नर मुझ परमात्मदेव को प्राप्त होते व भजते हैं, उनके विषय में भगवान् अब कहते हैं—

अथवा (२) परंतु जो पुण्य-कर्म करनेवाले नर-श्रेष्ठ हैं, वे क्या करते हैं, इसे भगवान् अब कहते हैं—

अथवा (३) चार प्रकार के नीच नर मेरे परायण नहीं होते वा मुझ परमात्मा का भजन नहीं करते, ऐसा दर्शाकर अब भगवान् उन पुण्यात्मा (श्रेष्ठ) नरों के प्रकार स्पष्ट करते हैं, जो अपने पूर्व-पुण्यों के कारण मेरा भजन करते हैं—

---

* श्रीयामुनाचार्य और श्रीरामानुज ने यहाँ चार प्रकार के पुरुष माने हैं। एक वे जो पापकारी हैं ; दूसरे वे जो मूढ़ हैं, जिनको परमेश्वर के स्वरूप का ज्ञान नहीं, इसलिये वे प्राकृत विषयों में ही फँसे रहते हैं ; तीसरे वे जिनका ज्ञान माया से नष्ट कर दिया गया है, वे परमात्मा को जानकर भी उलटी वासनाओं के हेतु उससे विमुख ही रहते हैं ; चौथे वे जो आसुर-भाव का आश्रय लिए हुए हैं, अर्थात् जो स्वयं दम्भ-दर्पादि से जीवन बिताते हुए जगत् को ईश्वर से शून्य मानने में ही कुशल समझते हुए परमात्मा के द्वेषी बन जाते हैं। ये चारों ही अधम मनुष्य हैं। ऐसे नर मेरे परायण कदापि नहीं होते, अर्थात् न मुझमें लीन होते हैं और न मेरा भजन करते हैं।

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन ।
आर्त्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ॥ १६॥

चतुर्-विधाः, भजन्ते, माम्, जनाः, सुकृतिनः, अर्जुन	हे अर्जुन ! चार प्रकार के पुण्यात्मा मनुष्य मुझको भजते हैं	आर्त्तः, जिज्ञासुः, अर्थ-अर्थी, ज्ञानी, च, भरत-ऋषभ	दुःखी, मुमुक्षु, अर्थ का अर्थी और ज्ञानी, हे भरतों में श्रेष्ठ !

अन्वयार्थ—हे भरतों में श्रेष्ठ अर्जुन ! दुःखी, मुमुक्षु, अर्थार्थी और ज्ञानी ये चार प्रकार के पुण्यात्मा मनुष्य मुझको भजते हैं ॥ १६ ॥

व्याख्या—हे भरत-वंश में श्रेष्ठ अर्जुन ! मेरी शरण में आनेवाले, वा मेरी उपासना करनेवाले ये चार प्रकार के पुण्यात्मा सज्जन होते हैं—एक तो दुःखी, पीड़ित वा जो विपत्ति को प्राप्त हुए हों; जैसे द्रौपदी, गजेन्द्रादि। दूसरे जिज्ञासु, अर्थात् मुमुक्षुजन; जैसे राजा जनकादि। तीसरे अर्थार्थी, अर्थात् स्त्री, पुत्र, राज्य वा धन आदि की कामना से, या लोक-परलोक के सुखों की कामना से, अथवा किसी लौकिक सिद्धि वा पदवी की कामना से प्रेरित पुरुष; जैसे ध्रुव आदि (ये तीनों तो सकाम होते हैं)। और चौथे ज्ञानी, अर्थात् विना किसी कामना के जो निज-स्वभाव से वा ज्ञान के प्रभाव से स्वतः मुझ परमस्वरूप का आराधन करते हैं; जैसे सनक आदि॥ १६ ॥*

---

* इस विषय पर महाभारत में ऐसा उल्लेख है—"चतुर्विधा मम जना भक्ता एवं हि मे श्रुतम्। तेषामेकान्तिनः श्रेष्ठा ये चैवानन्यदेवताः ॥ अहमेव गतिस्तेषां निराशीः कर्मकारिणाम् । ये च शिष्टास्त्रयो भक्ताः फलकामा हि ते मताः ॥ सर्वे च्यवनधर्मास्ते प्रतिबुद्धस्तु श्रेष्ठभाक् ।" (शां० ३४१. ३३-३५)। —मेरे भक्तजन चार प्रकार के हैं, ऐसा मेरा सुना हुआ है। उनमें अनन्य-

सम्बन्ध—इन चार प्रकार के पुण्यात्मा भक्तों (उपासकों) में से जो श्रेष्ठ है, उसे भगवान् अब कहते हैं—

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते ।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ॥ १७॥

तेषां, ज्ञानी, नित्य-युक्तः, एक-भक्तिः, विशिष्यते	उनमें सदा युक्त, एक भक्तिवाला ज्ञानी बढ़कर है	प्रियः, हि, ज्ञानि-नः, अत्यर्थं, अहं	क्योंकि मैं ज्ञानी का अत्यन्त प्यारा हूँ
		सः, च, मम, प्रियः	और वह मेरा प्यारा है

अन्वयार्थ—इनमें से नित्य युक्त, एक भक्तिवाला ज्ञानी बढ़कर है, क्योंकि मैं ज्ञानी का अत्यन्त प्यारा हूँ और वह मेरा प्यारा है ॥ १७ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! उक्त चार प्रकार के पुण्यात्मा पुरुषों (उपासकों) में से जो ज्ञानवान् है, वह तत्त्ववित् होने से नित्य मुझ परमात्मा में ही समाहित-चित्त वा एकाग्र-चित्त रहता है, अर्थात् एक मुझ आत्मा में नित्य उसका चित्त दृढ़ता से लगा रहता है। और एकमात्र मेरे स्वरूप से ही वह प्रीति रखता है; अर्थात् वह मेरा अनन्य भक्त है। इसलिये वह उक्त चारों उपासकों (भक्तों) में से बढ़कर अर्थात् श्रेष्ठ है। क्योंकि ज्ञानवान् अपना आत्मा ही करके मुझे भजता है, अपना आत्मा ही करके मुझे

दैवत और ऐकान्तिक भक्त श्रेष्ठ है, क्योंकि उसकी मैं ही गति हूँ; और जिस प्रकार यह भक्त निराशी अर्थात् फलाशा-रहित कर्म करता है, उस प्रकार अन्य तीन तरह के भक्त नहीं करते, वे कुछ-न-कुछ हेतु मन में रखकर भक्ति करते हैं, इसी से वे तीनों च्यवनशील (डगमगाते चित्तवाले) हैं; परन्तु एकान्ती श्रेष्ठभाक् और प्रतिबुद्ध अर्थात् जानकार है।

अनुभव करता है, और मनुष्य को आत्मा सबसे अधिक प्यारा होता है, इसलिये ज्ञानी को मैं अत्यन्त प्यारा हूँ और ज्ञानी मेरा आत्मस्वरूप होने से मुझे अत्यन्त प्यारा है। इस हेतु से ज्ञानी अन्य सब भक्तों वा उपासकों से श्रेष्ठतम है ॥ १७ ॥

सम्बन्ध—जब ज्ञानी सबसे श्रेष्ठ और प्रियतम है, तो बाक़ी के तीन भक्त क्या फिर निकृष्ट और अप्रिय समझे जाने चाहिएँ ? इस भ्रम का निवारण भगवान् ऐसे करते हैं—

उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम् ॥ १८ ॥

उदाराः, सर्वे, एवं, एते,	सारे ही ये उदार (अच्छे) हैं	आस्थितः, सः, हि, युक्त-आत्मा	क्योंकि वह युक्त चित्तवाला आश्रय लिए हुए
ज्ञानी, तु, आत्मा, एव, मे, मतं	परन्तु ज्ञानी मेरा आत्मा ही माना हुआ है	मां, एव, अनु-त्तमां, गतिं	मुझ सर्वोत्तम गति को ही

पहला अन्वयार्थ—ये सारे ही उदार हैं, परन्तु ज्ञानी मेरा आत्मा* ही

---

*आर्यसमाज के पण्डित राजाराम इस 'आत्मा'-शब्द पर यों टिप्पणी लिखते हैं—

"आत्मा कहने से प्रेम का अतिशय प्रकट किया है, न कि स्वरूप से एकता, अन्यथा भक्तों में इसको गिना ही न जाता। ज्ञानी की ही भक्ति सबसे ऊँची है, क्योंकि वह परमात्मा से कोई और कामना नहीं करता है।"

हमारे ख़्याल में यदि यही मान लिया जाय कि 'मेरा आत्मा' यह वाक्य प्रेम का अतिशय प्रकट करता है, तब भी इससे स्वरूप की एकता ही सिद्ध होती है। क्योंकि जितना अन्तर प्रेमी व प्यारे में कम होता है, उतना

माना हुआ है, क्योंकि वह युक्तात्मा मुझ सर्वोत्तम गति का ही आश्रय लिए हुए होता है ॥ १८ ॥

दूसरा अन्वयार्थ—ये सभी (भक्त) उदार अर्थात् अच्छे हैं, परन्तु मेरा मत है कि (इन में) ज्ञानी तो मेरा आत्मा ही है, क्योंकि युक्त-चित्त होकर मुझ सर्वोत्तम गति-स्वरूप में ही वह ठहरा हुआ (स्थित) होता है ॥ १८ ॥

व्याख्या—पूर्वोक्त आशय को भगवान् ऐसे स्पष्ट करते हैं कि हे अर्जुन ! वैसे तो ये सारे (उपासक वा भक्त) ही उदार अर्थात् प्रिय वा अच्छे हैं, परन्तु इन चारों में तो ज्ञानवान् मेरा आत्मा ही है, ऐसा मैं मानता हूँ, अथवा ऐसा मेरा निश्चय है, क्योंकि वह ज्ञानी तो युक्तचित्त (मुझमें एकाग्र और समाहित चित्तवाला) होकर मैं जो सर्वोपरि और सर्वोत्तम गति हूँ, उसका ही नित्य आश्रय लिए हुए अर्थात् नितांत उसके ही परायण हुए उसमें स्थित होता है ; दूसरे शब्दों में यह कि वह ज्ञानी

ही प्रेम का दर्जा बढ़ जाता है। और जब अन्तर नितान्त मिट जाता है, तब प्रेम का अतिशय अर्थात् अनन्त दर्जा हो जाता है। इसलिये प्राणी को अपना आत्मा अत्यन्त प्यारा होता है, क्योंकि उसमें और अपने में वह कुछ अन्तर भान नहीं करता, बल्कि उसको अपना आप ही मानता है। प्रेम-मार्ग में तो यह गुह्य और प्रसिद्ध सिद्धान्त है कि Not one but two is the beginning, and not two but one is the end.=प्रेम एक से नहीं किन्तु दो से आरम्भ होता है, और प्रेम का अन्त दो में नहीं किन्तु एक (नितान्त एकता) में होता है। और ज्ञानवान् वही है जो अपने आत्मा को परमात्मा व परमात्मा को निज आत्मा करके भजता और उसी से एकता अनुभव करता है। इसलिये ज्ञानवान् के विषय में जो 'अपना आत्मा' करके कहा है, उससे अभिप्राय स्वरूप से एकता ही है, इतर कुछ नहीं।

युक्तचित्त हुआ मुझ परम प्राप्तव्य गति-स्वरूप परब्रह्म ही को प्राप्त करने के लिये प्रवृत्त है ॥ १८ ॥*

सम्बन्ध—अब ज्ञानी की उपमा और दुर्लभता के विषय में भगवान् कहते हैं—

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते ।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥ १९ ॥

बहूनां, जन्मनां, अन्ते	बहुत जन्मों के अन्त में	वासुदेवः, सर्वं, इति	यह सब वासुदेव है, ऐसा
ज्ञानवान्, मां प्रपद्यते	ज्ञानवान् मुझे प्राप्त होता है वा भजता है	सः, महात्मा, सु-दुर्लभः	वह महात्मा बहुत दुर्लभ है

पहला अन्वयार्थ—बहुत जन्मों के अन्त में ज्ञानवान् मुझको "यह सब वासुदेव ही है" इस भाव से भजता है । वह महात्मा बहुत दुर्लभ है ॥ १९ ॥

दूसरा अन्वयार्थ—बहुत जन्मों के अंत में ऐसा अनुभव हो जाने से कि "यह सब वासुदेव ही है" ज्ञानवान् मुझे प्राप्त होता है ॥ १९ ॥

---

* इस पर श्रीज्ञानदेवजी की अनोखे ढङ्ग से ऐसे व्याख्या है—"अतएव अपने-अपने कल्याण के लोभ से हरएक भक्त मुझे भजता है, परन्तु मैं जिस पर प्रेम करता हूँ, वह एक ज्ञानी ही है । देखो, दूध की आशा से जगत् गाय को डोरी से फाँसता है, पर बछड़े का फंदा डोरी के बिना ही कैसा बलवान् होता है ! क्योंकि वह तन, मन, प्राण से उस गाय के अतिरिक्त और कुछ नहीं जातता । उसे देखते ही वह कहता है कि यह मेरी माता है । इस प्रकार वह अन्याधार-रहित है । इसलिये गाय को भी उससे वैसी ही प्रीति होती है । अतएव श्रीकृष्ण ने सत्य कहा । अस्तु; फिर श्रीकृष्ण

व्याख्या—हे अर्जुन! बहुत जन्मों के पीछे, अर्थात् यत्न में बहुत-से जन्म व्यतीत होने पर ज्ञानवान् इस निश्चय को प्राप्त होता है कि "यह * सब

ने कहा कि और जिन भक्तों का हमने वर्णन किया, वे सब हमें प्रिय हैं। परन्तु मुझे जानकर जो संसार में लौटना भूल जाते हैं, जैसे समुद्र को पहुँचकर नदी का लौटना बंद हो जाता है, वैसे ही अन्तःकरण-रूपी गुहा में जन्म लेकर जिनकी अनुभव-रूपी गङ्गा मुझमें आ मिलती है, वे मद्रूप हैं। इस बात का शब्दों से कहाँ तक विस्तार करूँ। वैसे भी जो ज्ञानी कहाता है, वह केवल मेरा जीवन है। यह बात कहनी नहीं चाहिए, पर क्या किया जाय, हम न कहने की बात भी कह चुके।"

*"वासुदेवः सर्वमिति"—यह सब (अस्ति भाति प्रिय-रूप) वासुदेव ही है, इससे इतर और कुछ नहीं है (श्रीशङ्कर)। "प्रकृतिद्वयस्य कार्यकारणभावस्थस्य परमपुरुषायत्तस्वरूपस्थितिप्रवृत्तित्वं परमपुरुषस्य च सर्वैः प्रकारैः सर्वस्मात्परतरत्वमुक्तम्"=जड़-चेतन-रूप यह दोनों प्रकार की प्रकृति, इस प्रकृति के कार्य-कारण-रूपी भावों में स्थित जो परमपुरुष परमात्मा है, उसी के अधीन इस चराचर प्रकृति के स्वरूप की स्थिति है। इस भाव से 'सब कुछ वासुदेव ही है,' ऐसा कहा है (श्रीरामानुज)। यह सब परमात्मा से व्याप्त है, परमात्मा के अधीन है, इसलिये उसे सब कुछ कहा है (पं० राजाराम)। "वसतीति वसुः, वसुश्चासो देवश्चेति वासुदेवः"। जो व्यापक रूप से सब स्थानों में निवास करे, उसको 'वासु' कहते हैं, और प्रकाश-रूप जो 'वासु', उसे वासुदेव कहते हैं। अर्थात् शशि सूर्यादि सब पदार्थों के अधिष्ठाता का नाम वासुदेव है। एवं आदित्यादिकों के नियन्ता परमात्मा का नाम यहाँ वासुदेव है (पं० आर्यमुनि)।

वसुदेव के पुत्र का नाम वासुदेव तो स्पष्ट ही है, परन्तु ऐसे अर्थ से यहाँ अभिप्राय नहीं। महाभारत (शां० ३४१. ४०) में 'वासुदेव' शब्द की आध्यात्मिक व्युत्पत्ति यों की है कि—"सर्वभूताधिवासश्च वासुदेवस्ततो

वासुदेव ही है।" इस प्रकार सर्वत्र वासुदेव ही निश्चय करता हुआ वह ज्ञानवान् मुझे सर्वत्र आत्म-स्वरूप से भजता रहता है; अर्थात् सिवा मुझ वासुदेव के उसे और कुछ भी सत्य निश्चय नहीं होता, और उसकी वृत्ति निजात्मा (वासुदेव) में सदैव आरूढ़ रहती है। अथवा "यह सब वासुदेव ही है", इस प्रकार के अद्वैत अनुभव द्वारा वह ज्ञानवान् मुझे प्राप्त होता अर्थात् मुझमें रम जाता है और इस प्रकार सर्वात्म-स्वरूप मुझ सच्चिदानन्द परब्रह्म को प्रत्यक्ष रूप से अनुभव करता है। ऐसे ज्ञानवान् का आत्मा सर्वात्मा से अभेद होने के कारण महान् हो जाता है, जिससे ऐसा ज्ञानवान् वास्तव में महात्मा है, और इसका मिलना अति कठिन है, अर्थात् करोड़ों में कोई विरला ही ऐसा दीख पड़ता है॥ १९॥ ※

ह्यहम्"=मैं प्राणिमात्र में वास करता हूँ, इसीसे मुझको वासुदेव कहते हैं। इस प्रकार वासुदेव से अभिप्राय सर्वव्यापक परमात्मदेव है। परन्तु भगवान् ने यहाँ ज्ञानी-भक्त की दृष्टि वर्णन की है, अज्ञानी वा कामना-युक्त भक्त की नहीं। और समाहित-चित्त ज्ञानी की दृष्टि वह छठे अध्याय (२९-३०) में ऐसे वर्णन कर आये हैं कि "जो सब भूतों में आत्मा को और आत्मा को सब भूतों में देखता है, या जो मुझको सबमें और सबको मुझमें देखता है, उसके लिये न मैं दूर, अप्रकट वा परोक्ष हूँ, और न वह मेरे लिये दूर, अप्रकट वा परोक्ष है; अर्थात् वह मुझमें वर्तता वा रम जाता है और मैं उसमें वर्तता वा रम जाता हूँ।" जिससे मैं और वह दोनों एकात्मा हुए-हुए होते हैं। ऐसी अभेदता वा आत्मैकत्व-दर्शन के लक्ष्य से भगवान् ने "यह सब वासुदेव ही है" ऐसा वर्णन किया है। कोई भेद-दृष्टि से अभिप्राय भगवान् का यहाँ किञ्चित् भी नहीं दीखता। और न हमारे ख़्याल में गीता का ऐसा सिद्धान्त ही है।

※ साधारण भक्त और ज्ञानवान् भक्त में भेद यह है कि साधारण भक्त तो द्वैत-भाव से अपनी भक्ति आरम्भ करता है, और यह द्वैत-भाव तो प्रायः जन्म

सम्बन्ध—(१) जब सर्वत्र एक ही परमेश्वर है, तो लोग इसी सर्वव्यापी परमात्मा की उपासना क्यों नहीं करते ? भिन्न-भिन्न देवताओं की उपासना क्यों करते हैं ? और ऐसे उपासकों को क्या फल मिलता है ? इस समस्त विषय को भगवान् अब अध्याय के अन्त तक स्पष्ट करते हैं—

अथवा (२) ज्ञानवान् से अतिरिक्त अन्य जो भक्तजन हैं, वे आपको वैसे प्यारे क्यों नहीं ? और वे आपके परम-स्वरूप की निष्काम भक्ति क्यों नहीं करते ? अन्य देवताओं का आराधन वे क्यों करते हैं ? इस सबका कारण फल के सहित भगवान् अब अध्याय पर्यन्त वर्णन करते हैं—

अथवा (३) जब यह सिद्धान्त है कि "वासुदेवः सर्वमिति"=यह सब वासुदेव ही है, इस भाव से जो परमात्मा को भजता है अथवा ऐसे अद्वैत-अनुभव से जो परमात्मा को प्राप्त होता (साक्षात्कार करता) है, वह महात्मा है और दुर्लभ है, तो ऐसा जानते हुए फिर बहुत-से प्राणी अन्य देवताओं की उपासना क्यों करते हैं ? इसका कारण परिणाम के सहित भगवान् अब वर्णन करने लगे हैं—

से ही प्राणी में उत्पन्न हुआ होता है, इसलिये इस द्वैत-भाव पर चलने, इसे अपने में खचित करने वा भान करने में न अधिक विलम्ब लगता है, न परिश्रम। परन्तु ज्ञानवान् अद्वैत-भाव से अपनी भक्ति आरम्भ करता है, अर्थात् दास इत्यादि सम्बन्ध से नहीं, किन्तु भगवान् को अपना आत्मा समझकर उससे प्रीति करने लगता है। और इस अद्वैत-भाव को अपने में खचित करने के लिये अति अभ्यास, परिश्रम और काल की आवश्यकता होती है, बल्कि प्रायः कई जन्म तक अभ्यास करने के बाद यह अद्वैत-भाव अपने में खचित होता अर्थात् वास्तव-रूप से अनुभव होता है। इसलिये भगवान् ने कहा है कि बहुत जन्मों के बाद ज्ञानवान् को ऐसा अद्वैत-भाव अनुभव होता है कि यह सब (अस्ति, भाति, प्रिय) वासुदेव भगवान् ही है। और जिसको ऐसा

अथवा (४) उक्त उदार भक्तों के विषय में कहकर अब भगवान् अनुदार भक्तों के विषय में कहते हैं—

अथवा (५) "यह सब वासुदेव ही है" इस प्रकार का ज्ञान न होने का कारण भगवान् अब बतलाते हैं—

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः ।
तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया ॥२०॥

कामैः, तैः, तैः, हृत-ज्ञानाः	उन-उन कामनाओं से हरे गये ज्ञानवाले	तं, तं, नियमं, आस्थाय	उस-उस नियम को आश्रय करके
प्रपद्यन्ते, अन्य, देवताः	अन्य देवताओं को भजते हैं	प्रकृत्या, नियताः, स्वया	अपने स्वभाव से विवश हुए

अन्वयार्थ—उन-उन कामनाओं से हरे गये ज्ञानवाले, अपनी प्रकृति से विवश हुए, उस-उस नियम का आश्रय लेकर अन्य देवताओं को भजते हैं ॥२०॥

व्याख्या—*हे अर्जुन ! ज्ञानी से अतिरिक्त अन्य जो धन, पुत्र, स्त्री, कीर्ति इत्यादि नाना कामनाओं में आसक्त हुए भक्ति करते हैं, और उन-उन

अनुभव होता है, वह वास्तव में मेरा आत्मा ही हुआ होता है, अतएव वह महात्मा है और दुर्लभ है ।

* श्रीतिलक महाराज इस श्लोक पर ऐसे व्याख्या करते हैं—"साधारण मनुष्यों की समझ होती है कि यद्यपि परमेश्वर मोक्षदाता है, तथापि संसार के लिये आवश्यक अनेक इच्छित वस्तुओं को देने की शक्ति देवताओं में ही है, और उनकी प्राप्ति के लिये इन्हीं देवताओं की उपासना करनी चाहिए। इस प्रकार जब यह समझ दृढ़ हो गई कि देवताओं की उपासना करनी चाहिए, तब अपनी-अपनी स्वाभाविक श्रद्धानुसार (देखो गी० १७, १-६) कोई पीपल

कामनाओं से जिनका ज्ञान छिन्न-भिन्न हो गया हुआ है, अर्थात् उनसे जिनका ज्ञान-रूपी दीपक बुझ गया है, वा जिनकी विवेक-बुद्धि नाश हो गई है; ऐसे विवेकहीन पुरुष अपने पूर्व-जन्मों के संस्कारों से उत्पन्न हुई प्रकृति के वश में आकर अथवा अपने लौकिक विषयों की वासना-जन्य स्वभाव से विवश होकर अथवा पागल होकर अन्य देवताओं* को भजते हैं या अन्य देवताओं की शरण लेते हैं। और जिस-

---

पूजते हैं, कोई किसी चबूतरे की पूजा करते हैं, और कोई किसी बड़ी भारी शिला को सिंदूर से रँगकर पूजते रहते हैं।"

*"अन्य देवताः" से तात्पर्य यहाँ हमारे ख़्याल में भैरों, काली, भीमसेन, गुग्गा पीर वा चबूतरा इत्यादि नहीं किन्तु वैदिक देवता हैं, जो परमात्मा की शक्तियों के द्योतक हैं। जिस प्रकार जीते-जागते शरीर में एक ही आत्मा शरीर की भिन्न-भिन्न अवस्था व चेष्टा से भिन्न-भिन्न नाम पाता है, इसी प्रकार परमात्मा भी इस जीते-जागते विश्व की भिन्न-भिन्न अवस्था के कारण भिन्न-भिन्न नाम पाता है। शरीर की जाग्रत-अवस्था के कारण वह आत्मा विश्व, स्वप्नावस्था के कारण तैजस, और सुषुप्ति के कारण प्राज्ञ कहलाता है। ऐसे ही विश्व की जाग्रत-अवस्था के कारण वह परमात्मा ब्रह्मा (विराट्), स्वप्नावस्था के कारण विष्णु (हिरण्यगर्भ) और सुषुप्ति-अवस्था के कारण महेश (सूत्रात्मा) कहलाता है। ऐसे ही आँख जब देखती है, तो वह आत्मा द्रष्टा और कान जब सुनते हैं, तो वह श्रोता कहलाता है, इत्यादि। यद्यपि यह देखना, सुनना इत्यादि धर्म सब इन्द्रियों के होते हैं, आत्मा के नहीं होते, पर आत्मा के आश्रय व सम्बन्ध से ही ये धर्म प्रकट होते हैं, अतएव वह (प्रत्येक इन्द्रिय का अधिष्ठाता होने से) भिन्न-भिन्न नाम पाता है। इसी प्रकार इस जीते-जागते समस्त विश्व-रूपी शरीर के इन्द्रिय (सूर्य, चन्द्र, दिशाएँ, देवलोक इत्यादि) जो कुछ धर्म प्रकट करते हैं, वे सब परमात्मा के आश्रय से ही करते हैं, सूर्य चमकता है तो उसके आश्रय से, आग जलती है तो उसके आश्रय से, अर्थात् जो कुछ

जिस देवता के आराधन से जो-जो कामना पूर्ण होती है, उस-उस देवता

भासता वा प्रकाशता है, वह सब उसके आश्रय से है; विना परमात्मदेव की सत्ता के किञ्चिन्मात्र भी विद्यमान नहीं हो सकता, "तस्य भासा सर्वमिदं विभाति।" (मुं० २.२-१०) उसके ही प्रकाश अर्थात् सत्ता से यह सब प्रकाशता है अर्थात् भासता है। इसलिये वह परमात्मा (इनका अधिष्ठाता होने से) भिन्न-भिन्न नाम पाता है। सूर्य जब इसके आश्रय से चमकता है, तो वह सूर्यदेवता कहलाता है, अर्थात् सूर्य के धर्म से वह सूर्यदेवता, अग्नि के धर्म से वह अग्निदेवता, बिजली के धर्म से वह इन्द्रदेवता, इत्यादि भिन्न-भिन्न नाम पाता है। इस प्रकार परमात्मा की सत्ता वा दिव्य शक्ति—जिसके आश्रय यह सब चर-अचर जगत् विद्यमान होता और रहता-सहता है—वास्तव में देवता है, परन्तु भिन्न-भिन्न रूपों में भिन्न-भिन्न गुण व धर्म से प्रकट होने के कारण भिन्न-भिन्न नाम पाती है, जैसे जब वह सत्ता वा शक्ति सूर्य की अधिष्ठात्री होती है, तो सूर्यदेवता नाम पाती है, इन्द्रदेवता नहीं। इसी प्रकार जब बिजली की अधिष्ठात्री होती है, तो इन्द्रदेवता नाम पाती है, सूर्यदेवता नहीं। यही शबल ब्रह्म है, यही अपर ब्रह्म है, यही इन्द्र आदि देवता है। यही एक परमदेव भिन्न-भिन्न नामों से पुकारा जाता है। इसके विषय में वेद ऐसे कहता है—"यो देवानां नामधा एक एव"=जो एक ही सारे देवताओं के नाम धारनेवाला है (ऋग्, १०. ८२. ३)। "स वरुणः सायमग्नि-र्भवति स मित्रो भवति प्रातरुद्यन्। स सविता भूत्वाऽन्तरिक्षेण याति स इन्द्रो भूत्वा तपति मध्यतो दिवम्।"=सायंकाल वह (परमदेव) वरुण और अग्नि होता है और प्रातःकाल उदय होता हुआ वह मित्र होता है। वह सविता होकर अन्तरिक्ष से चलता है, वह इन्द्र होकर मध्य से द्यौ को तपाता है (अथर्व, १३.३.१३)। "स धाता स विधाता स वायुर्नभ उच्छ्रितम्॥ ३॥ सोऽर्यमा स वरुणः स रुद्रः स महादेवः॥ ४॥ सो अग्निः स उ सूर्यः स उ एव महायमः॥ ५॥"=वह धाता है, वह विधाता है, वह वायु है,

के आराधन (पूजन) का जो-जो नियम वा विधि है, उस-उस नियम वा विधि का आश्रय लेकर मुझ वासुदेव से इतर वे अन्य देवताओं का पूजन करते उनकी शरण लेते हैं ॥ २० ॥

वह ऊँचा नभ (आकाश वा मेघ) है ॥ ३ ॥ वह अर्यमा है, वह वरुण है, वह रुद्र है, वह महादेव है ॥ ४ ॥ वह अग्नि है, वह सूर्य है और वही महायम है ॥ ५ ॥ (अथर्व, १३.४)। इस प्रकार उपाधि-भेद से नाम-भेद और धर्म-भेद होकर भी उसी एक परम शक्ति का वर्णन है। इसी उपाधि और धर्म-भेद से ही अलग-अलग देवता के तौर पर उसकी स्तुति की जाती है, और इसी भेद को लेकर प्रार्थना में भेद होता है। हमें बल माँगना हो, तो इन्द्र से माँगते हैं, क्योंकि उस रूप में परमात्मा बल का अधिपति या अधिष्ठाता है; यदि पवित्रता माँगनी हो, तो वरुण से माँगते हैं, क्योंकि इस रूप में वह पवित्रता का अधिष्ठाता वा अधिपति है। ऐसा ही अभिप्राय देवता का गीता से है और इसे आगे के श्लोकों में और भी स्पष्ट किया है। नवें अध्याय (९.२०) में तो विशेष करके इस आशय को स्पष्ट कर दिया है, वहाँ कहा है कि सोम पीनेवाले मुझे यज्ञों से पूजते हैं। सोम-यज्ञों में इन्द्रादि देवताओं को ही आहुतियाँ दी जाती हैं। इन्द्रादि देवताओं की पूजा परमात्मदेव की पूजा इसीलिये है कि वह परमात्मा का ही शबल रूप है। फिर आगे (९.२३ में) और भी स्पष्ट किया है कि जो अन्य देवताओं को भक्ति-भरे चित्त से श्रद्धापूर्वक पूजते हैं, वे मुझे ही पूजते हैं। इस प्रकार देवता द्वारा पूजा भी यद्यपि वास्तव में ईश्वर-पूजा ही है, परन्तु सीधी रीति से नहीं, घूमकर है, जिससे अविधिपूर्वक है, अतएव इसे देव-यज्ञ या देव-पूजा ही कहा जाता है। और फिर कोई विरला भक्त ही इन्द्रादि देवता को परमात्मा-स्वरूप करके पूजता है या इन्द्रादि देवता द्वारा परमात्मा का पूजन करता है, इसलिये इसका फल भी प्रायः ईश्वर-प्राप्ति नहीं किन्तु लौकिक भोगों की प्राप्ति होता है, जिससे इस पूजा का फल अन्तवाला कहलाता है। इसीलिये इनको भगवान् ने आगे श्लोक २३ में

सम्बन्ध—अब इन नाना कामनासक्त भक्तों की श्रद्धा के विषय में भगवान् अपना निश्चय वर्णन करते हैं—

यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति ।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम् ॥२१॥

यः, यः, यां, यां, तनुं, भक्तः, श्रद्धया, अर्चितुं, इच्छति	जो-जो भक्त जिस-जिस तनु को श्रद्धा से पूजना चाहता है	तस्य, तस्य, अचलां, श्रद्धां तां, एव, विदधामि, अहं,	उस-उसकी उस अचल श्रद्धा को मैं ही स्थिर करता हूँ

अन्वयार्थ—जो-जो भक्त जिस-जिस तनु* को श्रद्धा से पूजना चाहता है, उस-उसकी उस अचल श्रद्धा को मैं ही स्थिर करता हूँ ॥ २१ ॥

व्याख्या—क्योंकि मैं ही अन्तर्यामी-रूप से सबमें व्याप्त हूँ, इसलिये हे अर्जुन ! जो-जो भक्त जिस-जिस तनु (शरीर, मूर्ति वा देवता) को श्रद्धा से पूजना चाहता है, उस-उस भक्त के दृढ़ विश्वास या अटल श्रद्धा को, जो उस मूर्ति के प्रति उसकी होती है, मैं ही दृढ़ बनाता हूँ, अथवा मेरे ही आश्रय से उसकी यह श्रद्धा अपने देवता में स्थिर होती है। अथवा मैं ही अन्तर्यामी-रूप से उसके भीतर बैठा हुआ उसकी श्रद्धा को उस देवता के प्रति अचल बनाता हूँ ॥ २१ ॥ †

देव-यजः (देवताओं का पूजन करनेवाले) कहा है, अपना भक्त वा ईश्वर-पूजक नहीं कहा है ।

* अन्तर्यामि ब्राह्मण (बृह० ३.७) में अग्नि, वायु, सूर्य आदि सारे देवताओं को अन्तर्यामी आत्मा का तनु अर्थात् शरीर व मूर्ति या बाह्य-रूप कहा है । इसीलिये तनु से अभिप्राय उक्त देवता हैं, जो परमात्मा से वैसे ही जीवित हैं जैसे अन्तर्यामी आत्मा से यह शरीर ।

† श्रीतिलक महाराज इस श्लोक पर ऐसे व्याख्या करते हैं—"इसमें

सम्बन्ध—अब उक्त कामना-युक्त भक्त की श्रद्धा का फल भगवान् वर्णन करते हैं—

स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते ।
लभते च ततः कामान् मयैव विहितान् हि तान् ॥ २२ ॥

सः, तया, श्रद्धया, युक्तः तस्य, आरा-धनं, ईहते	वह उस श्रद्धा से युक्त हुआ उसका आरा-धन करता है	लभते, च, ततः, कामान्, मया, एव, विहितान्, हि, तान्	और उससे वह उन कामनाओं को पाता है, जो निःसन्देह मुझ से ही रची हुई हैं

अन्वयार्थ—वह (भक्त) उस श्रद्धा से युक्त हुआ उस (तनु) का आराधन करता है, और उससे वह उन कामनाओं को पाता है जो निःसन्देह मुझसे ही रची हुई हैं ॥ २२ ॥

ध्यान देने योग्य पहली बात यह है कि भिन्न-भिन्न देवताओं की आराधना से जो फल मिलता है, उसे आराधक समझते हैं कि उसके देनेवाले वे ही देवता हैं। परन्तु पर्याय से वह परमेश्वर की पूजा हो जाती है (गी० ९.२३), और तात्त्विक दृष्टि से वह फल भी परमेश्वर ही दिया करता है (श्लोक २२)। यही नहीं, इस देवता का आराधन करने की बुद्धि भी मनुष्य के पूर्व-कर्मानुसार परमेश्वर ही देता है (श्लोक २१)। क्योंकि इस जगत् में परमेश्वर के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। वेदान्तसूत्र (३. २. ३८-४१) और उपनिषद् (कौषी, ३.८) में भी यही सिद्धान्त है। इन भिन्न-भिन्न देवताओं की भक्ति करते-करते बुद्धि स्थिर और शुद्ध हो जाती है, तथा अन्त में एक एवं नित्य परमेश्वर का ज्ञान होता है। यही इन भिन्न-भिन्न उपासनाओं का उपयोग है। परन्तु इससे पहले जो फल मिलते हैं, वे सभी अनित्य होते हैं।"

व्याख्या—हे अर्जुन ! जब इस प्रकार दृढ़ श्रद्धा से युक्त हुआ भक्त उस देवता की (जिसे अपनी कामना-सिद्धि के लिये वह भजना चाहता है) आराधना करता है, तो इस श्रद्धायुक्त आराधना से वह संकल्पित वा अभीष्ट कामनाओं (चाहे हुए भोगों) को पाता है, जो वास्तव में मुझ सबके कर्मफल-दाता और अन्तर्यामी से ही रची हुई हैं। तात्पर्य यह है कि जो लोग कामना-युक्त होकर वासुदेव भगवान् का ख्याल छोड़कर कामना-सिद्धि के लिये अन्य देवता की दृढ़ श्रद्धा से उपासना करते हैं, और जब अपनी-अपनी भावना के अनुसार फल पा लेते हैं, तो वे यह समझने लग जाते हैं कि ये फल उनको देवताओं से मिले हैं और देवता ही उन फलों के देनेवाले वा उत्पन्न करनेवाले हैं, जो वास्तव में झूठ है, क्योंकि देवता न तो स्वतन्त्र हैं, न अन्तर्यामी, न सर्वज्ञ और न फलदाता। सबके कर्मानुसार फलों का देनेवाला, स्वतन्त्र, सर्वज्ञ, अन्तर्यामी और सर्वव्यापक एकमात्र परमात्मदेव है, जिसके विना न देवता कुछ कर सकता है और न कोई फल ही मिल सकता है। इसलिये भगवान् ने कहा है कि कामनावाले भक्त भी जिन भोगों को देवताओं से पाते दीखते हैं, वे भोग भी वास्तव में मुझसे ही रचे हुए होते हैं, देवताओं से नहीं, और उनका देनेवाला भी वास्तव में मैं ही होता हूँ, देवता नहीं, यद्यपि ऊपर से ऐसा ही देखने में आता है कि वे भोग देवता ने दिये हैं ॥ २२ ॥

सम्बन्ध—यद्यपि कामनावाले भक्त को वाञ्छित फल मुझ परमात्मा से ही मिलते हैं, पर वे फल किस प्रकार के होते हैं, उसे भगवान् अब स्पष्ट करते हैं—

अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम् ।
देवान्देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि ॥ २३ ॥

अन्तवत्, तु, फलं, तेषां, तत्, भवति, अल्प-मेधसां	परन्तु उन अल्प बुद्धिवालों का वह फल अन्त-वाला होता है	देवान्, देव-यजः, यान्ति	देवताओं के उपासक देवताओं को प्राप्त होते हैं
		मद्-भक्ताः, यान्ति, मां, अपि	मेरे भक्त मुझको ही प्राप्त होते हैं

अन्वयार्थ—परन्तु उन अल्प-बुद्धिवालों का वह फल अन्तवान् होता है। देवताओं की आराधना करनेवाले देवताओं को प्राप्त होते हैं और मेरे भक्त मुझको ही प्राप्त होते हैं ॥ २३ ॥

व्याख्या—परन्तु हे अर्जुन ! यह जो अल्पबुद्धि अर्थात् तुच्छबुद्धि पुरुष हैं, जिसके कारण ये मेरे परम स्वरूप का विवेक नहीं रखते और कामनाओं में आसक्त होकर अन्य देवताओं की भक्ति, पूजा वा आराधना करते हैं, इन मन्दबुद्धि पुरुषों को इस प्रकार की आराधना से जो भी फल मिलते हैं, वे यद्यपि मुझ परमेश्वर से ही रचित हैं तथापि अन्तवाले होते हैं। अर्थात् वे ऐसे नाश-रहित फल नहीं होते जो मेरे शुद्ध स्वरूप की अनन्य भक्ति से मिलते हैं। देवताओं का वास्तविक स्वरूप तो मेरा आत्मदेव है, जिससे नित्य और विभु है। पर देवताओं की मूर्ति या व्यक्ति मेरा तनु (शरीर या शबल रूप) है, मेरा वास्तव स्वरूप नहीं, जिससे अनित्य और परिच्छिन्न है। इसलिये उस अनित्य और परिच्छिन्न मूर्ति (देवता) के उपासक (भक्त) उसको ही प्राप्त होते हैं, जिसलिये नाशवान् फल पाते हैं। और मुझ सच्चिदानन्द-स्वरूप के उपासक (भक्त) मुझको ही प्राप्त होते हैं, जिसलिये अनन्त और अमर फल पाते हैं। 'अपि'-शब्द के अर्थ अगर 'भी' किये जायँ, तो यह व्याख्या होगी कि मेरे शुद्ध स्वरूप के उपासक उन भोगों को भी पा लेते हैं जिनको निरे देव-पूजक पाते हैं, और इसके साथ-साथ मुझे भी प्राप्त होते हैं ॥ २३ ॥

सम्बन्ध—जब भगवान् के शुद्ध स्वरूप की उपासना (भक्ति) से

नाश-रहित फल मिलता है और उसके शबल रूप देव-पूजन से नाशवान् फल मिलता है, तब भी लोग भगवत्-भजन की ओर क्यों नहीं लगते, देव-पूजन में क्यों लगते हैं ? इसका कारण भगवान् अब कहते हैं—

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः ।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम् ॥२४॥

अव्यक्तं, व्यक्तिं, आपन्नं, मन्यन्ते, मां, अबुद्धयः	अज्ञानी, मुझ अव्यक्त को व्यक्ति में आया हुआ समझते हैं	परं, भावं, अजानन्तः, मम, अव्ययं, अनुत्तमं	मेरे परम अविनाशी और सर्वोत्तम भाव को न जानते हुए

अन्वयार्थ—अज्ञानी लोग मेरे परम, अविनाशी और सर्वोत्तम भाव को न जानते हुए मुझ अव्यक्त को व्यक्ति में आया हुआ समझते हैं ॥ २४ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! यद्यपि मैं वास्तव में अव्यक्त (निराकार, अमूर्तिमान्) हूँ, पर मूर्ख पुरुष मुझे ऐसा समझते हैं कि मैं वसुदेव के घर में उत्पन्न हुआ उसका पुत्र, ऐसा व्यक्तिवाला हूँ। अथवा हे अर्जुन ! यद्यपि मैं अव्यक्त हूँ अर्थात् किसी व्यक्तिविशेष से परिच्छिन्न अथवा उसमें आसक्त नहीं हूँ ('य आदित्ये तिष्ठन्नादित्यादन्तरः' इत्यादि,=जो सूर्य में रहता हुआ सूर्य से अलग है। बृह० ३०७), तथापि अज्ञानी पुरुष मुझे सूर्यादि देवता के व्यक्तित्व को प्राप्त हुआ-हुआ अर्थात् सूर्यादि देवता का व्यक्तिवाला ही समझते हैं, कारण यह कि मेरे परम, निर्विकार और सर्वोत्तम स्वरूप को वे जानते तक नहीं ॥ २४ ॥

दूसरी व्याख्या—हे अर्जुन ! यद्यपि मैं वास्तव में अव्यक्त (निराकार वा अमूर्तिमान्) हूँ, और लोकोपकारार्थ वा धर्मरक्षार्थ व्यक्ति में प्रकट

होता हूँ, परन्तु बुद्धिहीन पुरुष मेरे अविनाशी, सर्वोत्तम परमभाव को (अर्थात् व्यक्ति से परे की अव्यक्त, निर्विकार और सर्वोत्तम अवस्था को) न जानते हुए मुझ निराकार (अमूर्त) को मूर्तिमान् (व्यक्तिवाला) ही समझते हैं। तात्पर्य यह कि परमात्मा सूर्यादि व्यक्तियों में रहकर भी इनसे अलग अपने अव्यक्त स्वरूप में स्थित है, जैसा कि पहले कहा है। पर अज्ञानियों की पहुँच व्यक्ति तक ही रहती है, इसलिये वे उस अव्यक्त को व्यक्तिवाला अर्थात् मूर्तिमान् ही बना लेते और मान लेते हैं, क्योंकि वे उसके परले (परम, शुद्ध) स्वरूप को जानते तक नहीं॥ २४॥

सम्बन्ध—मेरे इस अव्यक्त स्वरूप को ठीक न जानने का कारण भगवान् अब पुनः कहते हैं—

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम्॥ २५॥

न, अहं, प्रकाशः, सर्वस्य, योगमाया-समावृतः	योगमाया से ढका हुआ मैं सबका प्रकाश नहीं (अर्थात् सबको प्रकट नहीं)	मूढः, अयं, न, अभिजानाति, लोकः, माम्, अजं, अव्ययं	यह मूढ़ जगत् मुझ अजन्मा अविनाशी को नहीं जानता है

अन्वयार्थ—योगमाया से ढका हुआ मैं सबको प्रकट नहीं हूँ, (इसलिये) यह मूढ़ जगत् मुझ अविनाशी और अजन्मा को नहीं जानता है॥ २५॥

व्याख्या—हे अर्जुन! मैं अपनी योगमाया * से ढके जाने के कारण

---

* योगमाया—तीनों गुणों के मिश्रण का नाम 'योग' और उससे अघटन घटना-रूप 'माया', सो योगमाया (श्रीशङ्कराचार्य)। 'भक्ति-रहित पुरुष मेरे वास्तविक स्वरूप को न जानें', इस प्रकार का जो परमेश्वर का सङ्कल्प है,

सबको स्पष्ट दिखाई नहीं देता हूँ अथवा सबसे ठीक पहचाना नहीं जाता हूँ, इसलिये मूढ़ जगत् मुझे जन्म-रहित और नाश-रहित नहीं जानता, बल्कि नाशवान् या जन्म-मरण को प्राप्त होनेवाली मूर्ति समझता है ।।२५।।

उसका नाम है 'योग', और उस योग के वशवर्ती जो अनादि, अनिर्वचनीय, अविद्या-रूप 'माया' है, उसका नाम योगमाया है । अर्थात् मुझ परमेश्वर के सङ्कल्पानुसार वर्तनेवाली माया का नाम योगमाया है (श्रीचिद्घनानन्द) । योग=प्रकृति के तीनों गुणों का मेल, वही है माया । इस माया में परमात्मा ढका हुआ है, अतएव लोग इसको नहीं जानते ; पर देखनेवालों ने इसको इसी माया के अन्दर छिपा हुआ पाया है । "ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन् देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्"=उन्होंने (ऋषियों ने) ध्यान और समाधि में लगकर उस देव (परमात्मा) की आत्मशक्ति (अपनी निज शक्ति) को, जो अपने गुणों (कार्यों) के अन्दर छिपी हुई है, प्रत्यक्ष देखा (श्वेत, १. ३) । (पं० राजाराम) । अव्यक्त स्वरूप को छोड़कर व्यक्त स्वरूप धारण कर लेने की युक्ति को 'योग' कहते हैं (देखो गी० ४, ६; ७, १५; ९, ७) । वेदान्ती लोग इसी को माया कहते हैं; इस योगमाया से ढका हुआ परमेश्वर व्यक्त स्वरूपधारी होता है । सारांश, इस श्लोक का भावार्थ यह है कि व्यक्त सृष्टि मायिक अथवा अनित्य है, और अव्यक्त परमेश्वर सच्चा या नित्य है । परन्तु कुछ लोग इस स्थान पर और अन्य स्थानों पर भी 'माया'-शब्द का 'अलौकिक' अथवा 'विलक्षण' अर्थ मानकर प्रतिपादन करते हैं कि यह माया मिथ्या नहीं—परमेश्वर के समान ही नित्य है ।......इतनी बात तो अद्वैत वेदान्त को भी मान्य है कि माया परमेश्वर की ही कोई विलक्षण और अनादि लीला है । क्योंकि माया यद्यपि इन्द्रियों का उत्पन्न किया हुआ दृश्य है, तथापि इन्द्रियाँ भी परमेश्वर की ही सत्ता से यह काम करती हैं, अतएव अन्त में इस माया को परमेश्वर की लीला ही कहना पड़ता है । वाद है केवल इसके तत्त्वतः सत्य या मिथ्या होने का, सो उक्त श्लोकों से प्रकट होता है कि इस विषय में

सम्बन्ध—(१) यद्यपि मैं योगमाया से ढका हुआ सबको स्पष्ट नहीं, पर इस माया का प्रभाव क्या मेरे पर भी पड़ता है या केवल मूढ़ पुरुषों पर ही ? इस भेद को भगवान् अब दर्शाने लगे हैं—

अथवा (२) मेरी योगमाया जो लोगों की आँखों पर परदा डालकर मुझे और-का-और उन्हें दिखलाती है, वह मेरे ज्ञान को नहीं ढक सकती, क्योंकि मैं उसका स्वामी हूँ और वह मेरे अधीन है, मैं उसके अधीन वा वश में नहीं हूँ। इस आशय से भगवान् अब अपने ज्ञान के विषय में कहते हैं—

अथवा (३) यह योगमाया जीव को मुग्ध करने पर भी परमात्मा को मुग्ध नहीं कर सकती, इसे भगवान् अब बतलाते हैं—

अथवा (४) अब भगवान् अध्याय के अंत तक यह स्पष्ट करते हैं कि इस योगमाया से धीरे-धीरे छुटकारा कैसे होता है—

वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन ।
भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन ॥२६॥

वेद, अहं, समतीतानि, वर्तमानानि, च, अर्जुन	हे अर्जुन ! मैं बीते हुओं और वर्तमानों को जानता हूँ	भविष्याणि, च, भूतानि,	और होनेवाले भूतों को
		मां, तु, वेद, न, कश्चन	पर मुझको कोई नहीं जानता

अद्वैत वेदान्त के समान ही गीता का भी यही सिद्धान्त है कि जिस नाम-रूपात्मक माया से अव्यक्त परमेश्वर व्यक्त माना जाता है, वह माया—फिर चाहे उसे अलौकिक शक्ति कहो या और कुछ—'अज्ञान' से उपजी हुई दिखाऊ वस्तु या मोह है, सत्य परमेश्वर-तत्त्व इससे पृथक् है। यदि ऐसा न हो, तो 'अबुद्धि' और 'मूढ़' शब्दों के प्रयोग करने का कोई कारण नहीं देख पड़ता। सारांश, माया सत्य नहीं—सत्य है एक परमेश्वर ही। किन्तु

अन्वयार्थ—हे अर्जुन ! मैं बीते हुए, वर्तमान और होनेवाले सब भूतों को जानता हूँ। पर मुझको कोई नहीं जानता ॥ २६ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! यद्यपि मेरी योगमाया औरों के नेत्रों पर परदा डालकर मेरे को और-का-और उन्हें दर्शाती है, परन्तु मुझको उलट-पलट या विपरीत नहीं दर्शाती। अर्थात् मैं यद्यपि अपनी योगमाया से ढक जाने के कारण मूर्ख लोगों को और-का-और दिखाई देता हूँ, किंतु मुझ पर वह माया किञ्चित् प्रभाव नहीं डाल सकती, क्योंकि मैं उसका स्वामी हूँ और उसे अपने वश में अर्थात् अधीन रखता हूँ। इसलिये वह मेरे ज्ञान में किञ्चित् बाधा नहीं डाल सकती, बल्कि माया के होते हुए भी मैं पिछले (बीते हुए), वर्तमान (जो उत्पन्न हो रहे हैं) और भविष्य के (आगे को होनेवाले) सब पदार्थ वा प्राणियों को जानता हूँ। पर मुझे कोई नहीं जानता*, अर्थात् कोई-कोई विरला ही मुझे वास्तव में जानता है, या मेरे अनन्य भक्त के सिवा मुझे कोई नहीं जानता। इस पर श्रुति ऐसे कहती है—"स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता।"—वह सब वेद्य (जानने की वस्तुओं) को जानता है; पर उसका जाननेवाला कोई नहीं है ॥ २६ ॥†

गीता का कथन है कि इस माया में भूले रहने से लोग अनेक देवताओं के फंदे में पड़े रहते हैं। (श्रीतिलक महाराज)

* "कोई नहीं जानता" से अभिप्राय 'सर्वथा कोई नहीं जानता' ऐसा नहीं हो सकता, क्योंकि भगवान् के अनन्य भक्त उसको यथार्थ जान भी जाते हैं। इसलिये इस वाक्य से दो ही अभिप्राय निकल सकते हैं—(१) कोई विरला ही मुझे जानता है, सब नहीं जानते। (२) मेरे अनन्य भक्तों से अतिरिक्त इन कामासक्त भक्तों में से कोई भी मुझे यथार्थ-रूप से नहीं जानता।

† भारत-धर्म-महामंडल के स्वामी दयानन्द इस श्लोक पर अपनी टिप्पणी यों देते हैं—"इस श्लोक का यही तात्पर्य है कि जिस प्रकार मायावी

सम्बन्ध—(१) जिस-जिस निमित्त से मुझे कोई नहीं जानता, उसे भगवान् अब कहते हैं—

अथवा (२) अपने न जाना जाने का प्रथम कारण जीवों का योगमाया से मोहित होना दर्शाकर अब भगवान् अन्य कारणों को बतलाते हैं, जो भगवत्-स्वरूप के जानने में प्रतिबंधक हैं—

इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत ।
सर्वभूतानि सम्मोहं सर्गे यान्ति परन्तप ॥ २७॥

इच्छा-द्वेष-समुत्थेन, द्वन्द्व-मोहेन, भारत	हे अर्जुन ! राग-द्वेष से उत्पन्न द्वन्द्वों के मोह से	सर्व-भूतानि, सम्मोहं, सर्गे, यान्ति, परन्तप	हे अर्जुन ! सारे प्राणी उत्पत्तिकाल (सृष्टि) में सम्मोह को प्राप्त होते हैं

अन्वयार्थ—हे अर्जुन ! हे परन्तप ! सृष्टि-काल में सारे प्राणी राग-द्वेष से उत्पन्न द्वन्द्वों के मोह से सम्मोह को प्राप्त होते हैं ॥ २७ ॥

व्याख्या—हे भरत-पुत्र तथा शत्रुओं को तपानेवाले अर्जुन ! मेरे स्वरूप के अयथार्थ ज्ञान का कारण एक ओर तो यह है कि मैं स्वयं अपनी योगमाया से ढका हुआ हूँ, जिससे मूर्ख लोग मेरा यथाथ ज्ञान नहीं पा सकते (या मुझे ठीक-ठीक नहीं पहचान पाते), और दूसरी

माया के द्वारा दूसरे को मुग्ध कर देने पर भी स्वयं उससे मुग्ध नहीं हो सकता, ठीक उसी प्रकार योगमाया लौकिक जीवों को मुग्ध कर देने पर भी परमात्मा को मुग्ध नहीं कर सकती और उसकी दासी बनकर आज्ञाकारिणी ही रहती है। यही कारण है कि मायातीत परमात्मा चराचर विश्व को जानते हैं किन्तु माया-मुग्ध जीव उनके सच्चे स्वरूप को नहीं जान पाते हैं। केवल भाग्यवान् अलौकिक ज्ञानी भक्त ही उन्हें तत्त्वतः जानकर संसार-सागर से तर जाते हैं।"

और यह है कि सारे प्राणी सृष्टि-काल में (अथवा शरीर की उत्पत्ति होते ही) अनुकूल पदार्थों में इच्छा और प्रतिकूल में द्वेष करते हैं, और इस इच्छा (राग) तथा द्वेष के कारण शीत-उष्ण, सुख-दुःख और क्षुधा-पिपासा इत्यादि द्वन्द्व स्वतः उपज आते हैं। इन द्वन्द्वों से मोहित होकर, अथवा इनमें आसक्त होकर या इनके फेर में पड़कर सब जीव भ्रम, अविवेक, अज्ञान या मोह को प्राप्त हो जाते हैं। और इस अज्ञान में पुरुष ऐसा फँस जाता है कि अपने परम वास्तविक स्वरूप को सर्वथा भूल जाता है और केवल अनात्म-दृष्टि का अनुचर बन जाता है ॥ २७ ॥*

सम्बन्ध—(१) जब सारे प्राणी जन्म से ही अज्ञान या भ्रम को प्राप्त हुए होते हैं, तब कौन-से ऐसे हैं जो इस द्वन्द्व के भ्रम-जाल से छुटकारा पाये होते हैं ? इसे भगवान् अब वर्णन करते हैं—

---

* अपने विचित्र ढंग से श्रीज्ञानदेवजी इस श्लोक की व्याख्या ऐसे करते हैं—

"जब अहंकार और तनु से प्रीति लग जाती है, तब उनसे एक इच्छा-नामक कुँवारी उत्पन्न होती है। उसे काम-रूपी तारुण्य प्राप्त होते ही द्वेष के संग उसका विवाह हो जाता है। उन दोनों से जन्म लेकर जो द्वन्द्व मोह प्रकट होता है, उसे उसका दादा अहङ्कार पालन कर छोटे से बड़ा करता है। वह सदा धैर्य का विरोधी रहता है और इतना बलवान् होता है कि नियम के वश नहीं होता और जन्म से ही आशा-रस से पुष्ट हो तुन्दिल होता है। हे धनुर्धर ! वह असन्तोष-रूपी मदिरा से मत्त होकर विषय-रूपी कोठरी में विकृति के संग पड़ा रहता है। उसने शुद्ध भाव के मार्ग में विकल्प-रूपी काँटे बिछा दिये हैं और कुमार्ग के आड़े-टेढ़े रास्ते निकाल दिये हैं। इससे प्राणी-गण भ्रम में पड़ जाते हैं। अतएव वे संसार-रूपी जंगल में पड़े हैं और दुःख के बोझे के नीचे दबे हुए हैं।"

अथवा (२) जब उत्पत्ति-काल से ही सब प्राणी मोह को प्राप्त हैं, तो इस मोह से धीरे-धीरे छूटना क्योंकर होता है, इसे भगवान् अब वर्णन करते हैं—

अथवा (३) सबसे पहले यह कहा गया कि चार प्रकार के पुण्यात्मा लोग भगवत्-भजन करते हैं और ये सब उदार हैं, फिर कहा गया कि मेरी योगमाया से मुग्ध हुए और जन्म-जात राग-द्वेषोत्पन्न द्वन्द्व से मोहित हुए सब प्राणी भगवान् के यथार्थ रूप को नहीं जान पाते, तो यह प्रश्न स्वतः उठ पड़ता है कि उक्त चार प्रकार के उदार भक्त भी तो इसी संसार में माया-ग्रस्त और द्वन्द्व से मुग्ध उत्पन्न होते हैं, तो वे कैसे भगवान् का यथार्थ रूप जान सकते हैं। इस प्रश्न का उत्तर भगवान् अब विस्तारपूर्वक पुनः स्वतः देते हैं—

येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम् ।
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः ॥२८॥

येषां, तु, अन्तं-गतं, पापं, जनानां, पुण्यं-कर्मणां	परन्तु जिन पुण्य-कर्मोंवाले लोगों का पाप अन्त को प्राप्त हुआ है	ते, द्वन्द्व-मोह-निर्मुक्ताः	वे द्वन्द्व के मोह से छूटे हुए
		भजन्ते, मां, दृढ-व्रताः	दृढ व्रतोंवाले हुए मुझको भजते हैं

अन्वयार्थ—परन्तु जिन पुण्य-कर्मोंवाले लोगों का पाप क्षय हो गया है, वे द्वन्द्व के मोह से छूटे हुए और दृढ़व्रती हुए मुझे भजते हैं ॥ २८ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! यों तो कोई भी मुझे नहीं जानता और न प्रायः मेरी ओर कोई वृत्ति देता है, पर हाँ जिन पुण्य-कर्मी पुरुषों का पाप क्षय हो गया है, अर्थात् शुभ-कर्म करते रहने से अथवा पिछले जन्मों के पुण्य-कर्मों के प्रभाव से जिनके (ज्ञान के प्रतिबन्धक-रूप) पाप सब नष्ट हो गये हैं, वे उक्त द्वन्द्वों से छूट जाते हैं और फिर वे पुण्यात्मा

दृढ़व्रती होकर (पक्के निश्चयवान् वा अचल सङ्कल्पवाले होकर) मेरा भजन करते हैं, अर्थात् मेरे वास्तविक स्वरूप की उपासना करते हैं, और इस प्रकार उपासना करते-करते मुझे जान लेते अर्थात् साक्षात्कार कर लेते हैं ॥ २८ ॥

सम्बन्ध—अब इन पुण्यात्मा पुरुषों के भजन का फल भगवान् अगले दो श्लोकों में वर्णन करते हुए अध्याय की समाप्ति करते हैं—

जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये ।
ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम् ॥२९॥

जरा-मरण-मोक्षाय	बुढ़ापे और मौत से छूटने के लिये	ते, ब्रह्म, तत्, विदुः, कृत्स्नं, अध्यात्मं, कर्म, च, अखिलं	वे उस ब्रह्म को, सम्पूर्ण अध्यात्म को, और सारे कर्मों को जानते हैं
मां, आश्रित्य, यतन्ति, ये	मुझको आश्रय करके जो यत्न करते हैं		

पहला अन्वयार्थ—जरा-मरण से छूटने के लिये जो मेरा आश्रय लेकर यत्न करते हैं, वे उस ब्रह्म, अध्यात्म और सारे कर्मों को पूरा-पूरा जान जाते हैं ॥ २९ ॥

दूसरा अन्वयार्थ—बुढ़ापे और मौत से छूटने के लिये जो मेरा आश्रय लेकर यत्न करते हैं, वे उस ब्रह्म को, सम्पूर्ण अध्यात्म को और सारे कर्मों को जान लेते हैं ॥ २९ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! संसार के जरा-मरणादि दुःखों की निवृत्ति के लिये अथवा इस मौत और बुढ़ापे से नित्य छूटने के लिये जो पुण्यात्मा पुरुष केवल मेरा आश्रय करके (अर्थात् केवल मुझ आत्म-स्वरूप में अनन्य भक्ति से चित्त अर्पण करके वा मेरे में एकाग्र-चित्त हुए) यत्न करते हैं, वे इस जरा-मरणादि दुःखों से छूट जाते हैं और साथ इसके उस (तत्

पद लक्ष्य-रूप) ब्रह्म को भली भाँति जान जाते हैं, भीतर में रहनेवाले (त्वम् पद के लक्ष्य-रूप) आत्मा को यथार्थ समझ जाते हैं, और (इस तत् त्वं पदार्थ-विषयक ज्ञान के) जितने भी श्रवण-मनन इत्यादि कर्म हैं, उन सबको जान लेते हैं। अर्थात् जरा-मरणादि दुःखों से छुटकारा पाने के साथ-साथ वे सम्पूर्ण रीति से ब्रह्म, अध्यात्म और समग्र कर्म को भी जान लेते हैं ॥ २९ ॥

सम्बन्ध—और—

साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः ।
प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः ॥ ३० ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे ज्ञानविज्ञानयोगो नाम सप्तमोऽध्यायः ।

स[1]-अधि[2]भूतं, अ[3]धिदैवं, माँ[7], अधियज्ञं[5], च[4], ये[6], विदुः[8]	सहित[1] अधिभूत[2], अधि[3]दैव [4]और अधियज्ञ[5] के जो[6] मुझको[7] जानते[8] हैं
प्रयाण[5]-काले[6], अपि[7], च[1], मां[8], ते[2], विदुः[9], युक्त[3]-चेतसः[4]	और[1] वे[2] युक्त[3]-चित्त[4] पुरुष मरण[5]-काल[6] में भी[7] मुझको[8] जानते[9] हैं

अन्वयार्थ—जो मुझको अधिभूत*, अधिदैव और अधियज्ञ के सहित जानते हैं, वे युक्तचित्त हुए मरण-काल† में भी मुझको जानते हैं ॥ ३० ॥

---

* श्लोक २९-३० में ब्रह्म, अध्यात्म, कर्म, अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञ ये जो छ परिभाषा आई हैं, इनकी विस्तारपूर्वक व्याख्या भगवान् ने स्वयं ही अगले अध्याय में की है, इसलिये इनकी यहाँ व्याख्या नहीं की।

† धर्मशास्त्र और उपनिषदों का सिद्धान्त है कि मरण-काल में मनुष्य के

व्याख्या—हे अर्जुन ! इस प्रकार जो लोग अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञ के सहित मुझ शुद्ध-स्वरूप को जान लेते हैं, वे मेरे ध्यान में नित्य युक्त चित्त (अर्थात् समाहित चित्त) होते हैं। ऐसे नित्य समाहित चित्त रहनेवाले सज्जन मरण-काल में भी मुझे जानते हैं, अर्थात् मरने का समय यद्यपि सब लोगों को व्यामोह में डाल देता है, इन्द्रियादिक उस समय सब असावधान हुए होते हैं, तथापि उक्त ईश्वर-चिन्तन से वा उक्त अभ्यास-जन्य संस्कारों की दृढ़ता से वे लोग उस समय भी मुझे जानते होते हैं, अर्थात् उन पुरुषों की वृत्ति उस समय भी विस्मृति को प्राप्त नहीं होती बल्कि मुझ परमात्मदेव के आकार हुई होती है ॥ ३० ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतानुवादे ज्ञानविज्ञानयोगो नाम सप्तमोऽध्यायः।

मन में जो वासना प्रबल रहती है, उसके अनुसार उसे आगे जन्म मिलता है। इस सिद्धान्त को लक्ष्य करके अन्तिम श्लोक में 'मरण-काल में भी' शब्द आये हैं, तथापि उक्त श्लोक के 'भी' पद से स्पष्ट होता है कि मरने से प्रथम परमेश्वर का पूर्ण ज्ञान हुए विना केवल अन्त-काल में ही यह ज्ञान नहीं हो सकता (देखो, गीता २. ७२)। (श्रीतिलक महाराज)

श्रीज्ञानदेवजी ने इस श्लोक पर विचित्र ढंग से ऐसे व्याख्या की है—

"जिन्होंने मुझ पञ्चभूतात्मक साकार को अनुभव-रूपी हाथों से पकड़कर अधिदैव जीवात्मा को स्पर्श किया है, जिनको ज्ञान-शक्ति के बल से मैं अधियज्ञ परमात्मा दिखाई देता हूँ, वे शरीर के वियोग से विरही नहीं होते। यों तो आयुष्य की डोरी टूटते समय प्राणियों को जो व्याकुलता होती है, उसे देख न मरनेवालों के चित्त में भी क्या प्रलय नहीं हो जाती ? परन्तु जो मेरे स्वरूप को पहुँच गये हैं, वे देहान्त की व्याकुलता के समय भी, न जाने क्यों, मुझे नहीं भूलते। सामान्यतः यही समझो कि जो ऐसे निपुण हैं, वही अन्तःकरण-युक्त योगी हैं।"

सातवें अध्याय का संक्षेप

(१) छठे अध्याय में जो ध्यानयोग वर्णन हुआ, उसका मुख्य उद्देश्य यह था कि योगारूढ़ मनुष्य मुझ परमात्मदेव के ध्यान में ख़ूब युक्त होने से मेरे परमस्वरूप (अर्थात् स्वस्वरूप) का साक्षात्कार करे। पर उस अध्याय में भगवान् ने जो पहले श्लोक ८ में "ज्ञान-विज्ञान से तृप्तात्मा, कूटस्थ, जितेन्द्रिय और ढेला-पत्थर तथा सोना को एकसमान समझनेवाला युक्त (समाहित) पुरुष कहलाता है" ऐसा कहा और फिर स्थान-स्थान पर 'मम', 'माम' इत्यादि शब्दों का प्रयोग कर "मुझमें चित्त अर्पण करके मेरे परायण हुआ ध्यान में युक्त बैठे" (६. १४) अथवा "मुझमें लगे हुए मन से श्रद्धायुक्त हुआ जो मेरा भजन करता है, वह मेरा सबसे श्रेष्ठ योगी है" (६. ४७) ऐसा उपदेश सिद्धान्त के सहित दिया; अब उसी संक्षिप्त उपदेश को कृपालु भगवान् विस्तार से समझाने लगे हैं और उसके सुनने में रुचि उत्पन्न करने के लिये पहले उस रहस्य-रूप उपदेश की स्तुति इस प्रकार करते हैं—

(क) अब मैं तुझे ऐसे ज्ञान-सहित विज्ञान को सुनाऊँगा कि जिसको जानकर फिर तुझे और कुछ इस संसार में जानना बाक़ी नहीं रहेगा।

(ख) हज़ारों मनुष्यों में से कोई ही एक सिद्धि के लिये यत्न करता है, और इन यत्न करनेवालों में से भी कोई एक विरला ही वस्तुतः मुझे जानता है।

(२) इस प्रकार रुचि उत्पन्न करके भगवान् अपने शुद्ध स्वरूप के अनुभव-ज्ञान का वर्णन करने से पूर्व अपने शबल रूप (प्रकृति) का वर्णन करते हैं—

(क) पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहङ्कार यह मेरी भिन्न-भिन्न आठ प्रकार की प्रकृति है, जो 'अपरा'

कहलाती है। इससे अतिरिक्त मेरी जीव-स्वरूपा प्रकृति है, जो 'परा' कहलाती है और ज़गत् को धारण करती है।

(ख) इन दोनों प्रकृतियों से सारे पदार्थ उत्पन्न होते हैं, और इन्हीं दोनों का आधार वा अधिष्ठान होने के कारण मैं सारे जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और लय का स्थान कहलाता हूँ।

(ग) वास्तव में मेरे से परे वा श्रेष्ठ और कोई नहीं है, मैं ही सबका आधार, अधिष्ठान और आश्रय-स्थान हूँ, इसलिये सब मुझमें ऐसे पिरोए हुए हैं, जैसे धागे में मोती।

(घ) और मेरे ओतप्रोत के दृष्टान्त ये हैं कि जलों में तो मैं रस हूँ, चन्द्र और सूर्य में प्रभा, वेदों में ओंकार, आकाश में शब्द, पुरुषों में पुरुषत्व, पृथिवी में पवित्र गन्ध, अग्नि में तेज, प्राणियों में जीवन-शक्ति और तपस्वियों में तप मैं हूँ; तात्पर्य यह कि सब भूतों का अनादि कारण, बुद्धिमानों की बुद्धि, तेजस्वियों का तेज, बलवानों का काम-राग से रहित बल, और प्राणियों में धर्मानुकूल काम, यह सब मैं हूँ।

(ङ) इस प्रकार इस जगत् में जो भी सात्त्विक, राजस और तामस भाव हैं, वे सब मुझसे ही हैं। परन्तु उनमें मैं आसक्त व परिच्छिन्न नहीं हूँ, वे मेरे अधीन वा मुझमें परिच्छिन्न हैं, या मैं उनके आश्रय नहीं, वे मेरे आश्रय हैं, ऐसा तू जान।

(च) इन उक्त तीन गुणयुक्त भावों से यह सारा जगत् मोहा गया है, इसलिये मेरे परम (शुद्ध) स्वरूप को जगत् नहीं जानता।

(छ) यह मेरी उक्त गुणमयी प्रकृति (माया) वास्तव में दुस्तर है, पर जो मुझको प्राप्त होते हैं अर्थात् जो मेरी भक्ति करते हैं, मेरी शरण में आते हैं, वा मेरे परायण होते हैं, अथवा मुझे अनुभव करते हैं, वे इसको तर जाते हैं।

(ज) इसलिये खोटे कर्मोंवाले, मूढ़, माया से हरे गये ज्ञानवाले, असुरों के भाव से युक्त (शैतानों की ख़सलतवाले) नीच नर मुझको नहीं पा सकते।

(३) इस प्रकार अपना शबल रूप (प्रकृति वा माया), उसका गुण और उसके अधीन वा वशीभूत प्राणियों की गति इत्यादि वर्णन करके अब भगवान् अपने उपासकों के भेद और उनकी गति फल के सहित सविस्तर ऐसे वर्णन करते हैं—

(क) हे अर्जुन ! चार प्रकार के पुण्यात्मा सज्जन मेरा भजन करते हैं— (१) दुःखी वा पीड़ित, (२) जिज्ञासु, (३) किसी लौकिक वा पारलौकिक सुख, लाभ वा अर्थ का इच्छुक, और (४) ज्ञानी।

(ख) इन चारों में ज्ञानी मेरे स्वरूप के ध्यान में नित्ययुक्त रहता, मेरे स्वरूप का अनन्य भक्त होता है, अतएव श्रेष्ठ है, और इसीलिये ज्ञानी को मैं अत्यन्त प्यारा हूँ और ज्ञानी मुझको अत्यन्त प्यारा है।

(ग) यों तो उक्त चारों प्रकार के भक्त ही अपने-अपने स्थान पर सब अच्छे हैं, पर ज्ञानी तो मेरे ख्याल में मेरा आत्मा ही (मेरा स्वरूप ही) हुआ होता है, क्योंकि मैं जो वास्तव में सर्वोत्तम गति हूँ, उसके वह नित्ययुक्त चित्त से परायण हुआ होता है।

(घ) इस प्रकार मेरे परायण होते-होते बहुत जन्म बीतने पर ज्ञानवान् को ऐसा साक्षात्कार होता है कि "वासुदेव ही यह सब कुछ है, और वासुदेव परमात्मा से इतर कुछ है ही नहीं। इससे इतर जो कुछ भासता है, वह सब मिथ्या है, केवल एक परमात्मा सत्य है।" ऐसा ज्ञानवान् सच्चा महात्मा है और दुर्लभ होता है।

(४) इस प्रकार अपने उपासकों (भक्तों) के भेद व गति फल के

सहित वर्णन करके अब भगवान् अपने से इतर अन्य देवताओं के उपासकों की गति फल के सहित वर्णन करते हैं—

(क) पर जो कामनाओं से भ्रष्ट हुए ज्ञानवाले और कामी भक्त मेरी नहीं किन्तु अन्य देवताओं की उपासना करते हैं, वे जिस-जिस कामना से जिस-जिस मूर्ति वा देवता की श्रद्धा से उपासना करते हैं, वे उस श्रद्धा के कारण उस-उस देवता और कामना को प्राप्त होते हैं।

(ख) यद्यपि इन कामी भक्तों में वह अचल श्रद्धा (जिसके कारण वे इच्छित फल पाते हैं) मैं ही दृढ़ कराता हूँ, उनकी कामनाओं के फलों को भी मैं ही वास्तव में रचता हूँ, और वह अन्य देव-पूजा भी वास्तव में मेरी ही अविधिपूर्वक पूजा होती है, तथापि देवताओं के उपासक देवताओं को प्राप्त होते हैं, और मेरे उपासक मुझको; कामासक्त वा देवताओं के भक्तों को तुच्छ (अन्तवान्) फल प्राप्त होते हैं और मेरे अनन्य भक्त को अनन्त (अमर) फल मिलता है।

(५) इस प्रकार अज्ञानी तथा कामी और निष्कामी भगवत्-परायण भक्तों के भजन व फल का परस्पर भेद वर्णन करके अब भगवान् यह दर्शाते हैं कि क्यों कामी वा अज्ञानी भक्त मेरे परम स्वरूप की उपासना नहीं करते? और क्यों अन्य देवताओं को पूजते हैं?

(क) अज्ञानी भक्त अज्ञानता के कारण मेरे परम, अविनाशी और सर्वोत्तम स्वरूप को नहीं जानते, जिससे मुझ अव्यक्त को व्यक्तिमान् समझते हैं।

(ख) मैं स्वयं अपनी योगमाया से ढका हुआ हूँ, जिससे सबको स्पष्ट दिखाई नहीं देता, इसलिये यह मूढ़ जगत् मेरे अजन्मा और अविनाशी स्वरूप को नहीं जानता।

(ग) मैं यद्यपि भूत, भविष्यत् और वर्तमान के सब प्राणियों को जानता हूँ, पर मुझको कोई नहीं जानता। क्योंकि राग-द्वेषोत्पन्न द्वन्द्वों के मोह से यह जगत् भूला फिरता है।

(घ) पर जिन पुण्यात्मा सज्जनों वा पुण्य-कर्मियों के सब पाप नष्ट हो गये होते हैं, वे द्वन्द्व-मोह से मुक्त हुए मुझे भजते हैं।

(६) अन्त में भगवान् अपने परम स्वरूप के उपासकों की गति व फल को इस प्रकार वर्णन करते हुए अध्याय की समाप्ति करते हैं—

(क) इस प्रकार द्वन्द्व-मोह से छूटे हुए मनुष्य जब जरा-मरण से छुट्टी पाने के लिये मेरे वास्तविक स्वरूप के परायण हुए यत्न करते हैं, तो वे मेरे परम स्वरूप (ब्रह्म) को, आत्मा को और सकल कर्मों को जान जाते हैं।

(ख) इस तरह जो मुझको अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञ के सहित जान जाते हैं, वे युक्त चित अर्थात् नित्य सावधान चित्त हुए देह-त्याग के समय भी मुझको भूलने नहीं पाते, किन्तु जानते ही होते हैं।

इस सातवें अध्याय के सर्व अर्थ को श्रीश्रीधर स्वामी संक्षेप से ऐसे श्लोकबद्ध करते हैं—

"कृष्णभक्त्यैव यत्नेन ब्रह्मज्ञानमवाप्यते ;
इति विज्ञानयोगाख्ये सप्तमे सम्प्रकाशितम् ।"

अर्थ—(शुद्ध स्वरूप) कृष्ण के भक्त ही यत्न से ज्ञान लाभ करते हैं, यही विज्ञानयोग-नामक सप्तम अध्याय भगवान् ने प्रकाशित किया है।

इस प्रकार श्रीभगवान् से गाए हुए अर्थात् कहे हुए उपनिषद् में, ब्रह्मविद्यान्तर्गत योगशास्त्र-विषयक, श्रीकृष्ण और अर्जुन के संवाद में, ज्ञान-विज्ञान-योग-नामक सातवाँ अध्याय समाप्त हुआ।



अष्टमोऽध्यायः

सम्बन्ध*—सातवें अध्याय के अन्त (श्लोक २९-३०) में भगवान् से जो सात परिभाषा वा संज्ञा (ब्रह्म[1], अध्यात्म[2], कर्म[3], अधिभूत[4], अधिदैव[5], अधियज्ञ[6] और मरण-काल में भी मेरा स्मरण वा मेरे स्वरूप का बोध[7]) संक्षेपपूर्वक वर्णन हुई, उन परिभाषाओं के अर्थ पूरा-पूरा न समझने के कारण अर्जुन उनके तत्त्व जानने की इच्छा से भगवान् से ऐसे प्रश्न करता है, जिस पर आठवाँ अध्याय आरम्भ होता है—

अर्जुन उवाच

किं तद्ब्रह्म किमध्यात्मं किं कर्म पुरुषोत्तम ।
अधिभूतं च किं प्रोक्तमधिदैवं किमुच्यते ॥१॥

---

* श्रीतिलक महाराज इस पर ऐसे सम्बन्ध लिखते हैं—"इस अध्याय में कर्म-योग के अन्तर्गत ज्ञान-विज्ञान का ही निरूपण हो रहा है ; और पिछले अध्याय में ब्रह्म, अध्यात्म, कर्म, अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञ, ये जो परमेश्वर के स्वरूप के विविध भेद कहे हैं, पहले उनका अर्थ बतलाकर विवेचन किया है कि उनमें क्या तथ्य है। परन्तु यह विवेचन इन शब्दों की केवल व्याख्या करके अर्थात् अत्यन्त संक्षिप्त रीति से किया गया है, अतः

**अधियज्ञः कथं कोऽत्र देहेऽस्मिन्मधुसूदन ।
प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसि नियतात्मभिः ॥२॥**

यहाँ पर उक्त विषय का कुछ अधिक खुलासा कर देना आवश्यक है। बाह्य सृष्टि के अवलोकन से, उसके कर्ता की कल्पना अनेक लोग अनेक रीतियों से किया करते हैं। (१) कोई कहते हैं कि सृष्टि के सब पदार्थ पञ्चमहाभूतों के ही विकार हैं और इन पञ्चमहाभूतों को छोड़ मूल में दूसरा कोई भी तत्त्व नहीं है। (२) दूसरे कुछ लोग, जैसा कि गीता के चौथे अध्याय में वर्णन है, यह प्रतिपादन करते हैं कि यह समस्त जगत् यज्ञ से हुआ है और परमेश्वर यज्ञ-नारायण-रूपी है, यज्ञ से ही उसकी पूजा होती है। (३) और कुछ लोगों का कहना है कि स्वयं जड़ पदार्थ सृष्टि के व्यापार नहीं करते; किन्तु उनमें से प्रत्येक में कोई-न-कोई सचेतन पुरुष या देवता रहते हैं, जो कि इन व्यवहारों को किया करते हैं और इसीलिये हमें उन देवताओं की आराधना करनी चाहिए। उदाहरणार्थ, जड़ पाञ्चभौतिक सूर्य के गोले में सूर्य नाम का जो पुरुष है, वही प्रकाश देने वग़ैरह का काम किया करता है। अतएव वही उपास्य है। (४) चौथे पक्ष का कथन है कि प्रत्येक पदार्थ में उस पदार्थ से भिन्न किसी देवता का निवास मानना ठीक नहीं है, जैसे मनुष्य के शरीर में आत्मा है, वैसे ही प्रत्येक वस्तु में उसी वस्तु का कुछ-न-कुछ सूक्ष्म-रूप अर्थात् आत्मा के समान सूक्ष्म-शक्ति वास करती है, वही उसका मूल और सच्चा स्वरूप है। उदाहरणार्थ, पञ्च स्थूल महाभूतों में पञ्च सूक्ष्म तन्मात्राएँ और हाथ-पैर आदि स्थूल इन्द्रियों में सूक्ष्म इन्द्रियाँ मूलभूत रहती हैं। इसी चौथे तत्त्व पर सांख्यों का यह मत भी अवलम्बित है कि प्रत्येक मनुष्य का आत्मा भी पृथक्-पृथक् है और पुरुष असंख्य हैं; परन्तु जान पड़ता है कि यहाँ इस सांख्य-मत का 'अधिदेह' वर्ग में समावेश किया गया है। उक्त चार पक्षों को ही क्रम से अधिभूत, अधियज्ञ, अधिदैवत और

किं, तत्, ब्रह्म किं, अध्यात्मं, किं, कर्म, पुरुष-उत्तम	हे पुरुषों में उत्तम (श्रीकृष्ण)! वह ब्रह्म क्या, अध्यात्म क्या, और कर्म क्या है	अधियज्ञः, कथं, कः, अत्र, देहे, अस्मिन्, मधु-सूदन	हे मधु-दैत्य को मारनेवाले (कृष्णजी)! अधि-यज्ञ कैसे, कौन यहाँ इस देह में है
अधिभूतं, च, किं, प्रोक्तम्	और अधिभूत क्या कहा गया है	प्रयाण-काले, च, कथं, ज्ञेयः, असि, नियत-आत्मभिः	और मरने के समय में अपने आपको वश में किये हुए पुरुषों से कैसे तू जानने योग्य है
अधिदैवं, किं, उच्यते	अधिदैव क्या कहा जाता है		

अध्यात्म कहते हैं। किसी भी शब्द के पीछे 'अधि' उपसर्ग रहने से यह अर्थ होता है—'तमधिकृत्य', 'तद्विषयक', 'उस सम्बन्ध का', या 'उसमें रहनेवाला'। इस अर्थ के अनुसार अधिदैवत अनेक देवताओं में रहनेवाला तत्त्व है। साधारणतया अध्यात्म उस शास्त्र को कहते हैं, जो यह प्रतिपादन करता है कि सर्वत्र एक ही आत्मा है। किन्तु यह अर्थ सिद्धान्त-पक्ष का है; अर्थात् पूर्व-पक्ष के इस कथन की जाँच करके कि "अनेक वस्तुओं या मनुष्यों में भी अनेक आत्मा हैं," वेदान्त-शास्त्र ने आत्मा की एकता के सिद्धान्त को ही निश्चित कर दिया है। अतः पूर्व-पक्ष का जब विचार करना होता है, तब माना जाता है कि प्रत्येक पदार्थ का सूक्ष्म स्वरूप या आत्मा पृथक्-पृथक् है, और यहाँ पर अध्यात्म-शब्द से यही अर्थ अभिप्रेत है। महाभारत में मनुष्य की इन्द्रियों का उदाहरण देकर स्पष्ट कर दिया है कि अध्यात्म, अधिदैवत और अधिभूत-दृष्टि से एक ही विवेचन के इस प्रकार भिन्न-भिन्न भेद क्योंकर होते हैं (देखो म० भा० शां० ३१३ ; और अश्व० ४१)। महाभारतकार कहते

अन्वयार्थ—अर्जुन बोला—हे श्रीकृष्ण ! वह ब्रह्म क्या है, अध्यात्म क्या है और कर्म क्या है, अधिभूत क्या कहा गया है और अधिदैव क्या कहा जाता है। इस देह में यहाँ हे मधुसूदन ! अधियज्ञ कैसे और कौन है, और मरने के समय अपने आपको वश में किये हुए सज्जनों से तू कैसे जानने योग्य है॥ १,२ ॥

हैं कि मनुष्य की इन्द्रियों का विवेचन तीन तरह से किया जा सकता है, जैसे अधिभूत, अध्यात्म और अधिदैवत। इन इन्द्रियों के द्वारा जो विषय ग्रहण किये जाते हैं—उदाहरणार्थ हाथों से जो लिया जाता है, कानों से जो सुना जाता है, आँखों से जो देखा जाता है, और मन से जिसका चिन्तन किया जाता है—वे सब अधिभूत हैं और हाथ-पैर आदि के (सांख्य-शास्त्रोक्त) सूक्ष्म स्वभाव, अर्थात् सूक्ष्म इन्द्रियाँ, इन इन्द्रियों के अध्यात्म हैं। परन्तु इन दोनों दृष्टियों को छोड़कर अधिदैवत-दृष्टि से विचार करने पर—अर्थात् यह मान करके कि हाथों के देवता इन्द्र, पैरों के विष्णु, गुदा के मित्र, उपस्थ के प्रजापति, वाणी के अग्नि, आँखों के सूर्य, कानों के आकाश अथवा दिशा, जीभ के जल, नाक के पृथिवी, त्वचा के वायु, मन के चन्द्रमा, अहङ्कार के बुद्धि, और बुद्धि के देवता पुरुष हैं—कहा जाता है कि येही देवता लोग अपनी-अपनी इन्द्रियों के व्यापार किया करते हैं। उपनिषदों में भी उपासना के लिये ब्रह्म-स्वरूप के जो प्रतीक वर्णित हैं, उनमें मन को अध्यात्म और सूर्य अथवा आकाश को अधिदैवत प्रतीक कहा है (छां० ३. १८. १)। अध्यात्म और अधिदैवत का यह भेद केवल उपासना के लिये ही नहीं किया गया है, बल्कि जब इस प्रश्न का निर्णय करना पड़ा कि वाणी, चक्षु और श्रोत्र प्रभृति इन्द्रियों एवं प्राणों में श्रेष्ठ कौन है, तब उपनिषदों में भी (बृ० १.५.२१-२३; छां० १. २-३ ; कौषी० ४. १२, १३) एक बार वाणी, चक्षु और श्रोत्र इन सूक्ष्म इन्द्रियों को लेकर अध्यात्म-दृष्टि से विचार किया गया है तथा दूसरी बार उन्हीं इन्द्रियों के देवता अग्नि, सूर्य और आकाश को लेकर अधिदैवत-दृष्टि

व्याख्या—अर्जुन ने प्रश्न किया कि हे पुरुषों में श्रेष्ठ भगवान् कृष्णजी ! पूर्व जो आपने "ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नं" इस प्रकार ज्ञेय-रूप से ब्रह्म कहा है, वह ज्ञेय-रूप ब्रह्म कौन वा कैसा है ? अर्थात् वह ब्रह्म सोपाधिक है वा निरुपाधिक ।

यह मेरा पहला प्रश्न है । और हे भगवन् ! आत्मा के सम्बन्धवाला होने से, 'आत्मा'-शब्द से प्रतिपादित जो यह देह है, उस देह-रूप आत्मा के आश्रय से जो स्थित हो, उसका नाम अध्यात्म है ; सो वह अध्यात्म

से विचार किया गया है । सारांश यह है कि अधिदैवत, अधिभूत और अध्यात्म आदि भेद प्राचीन काल से चले आ रहे हैं और यह प्रश्न भी उसी ज़माने का है कि परमेश्वर के स्वरूप की इन भिन्न-भिन्न कल्पनाओं में से सच्ची कौन है तथा उसका तथ्य क्या है । बृहदारण्यक उपनिषद् (३.७) में याज्ञवल्क्य ने उद्दालक आरुणि से कहा है कि सब प्राणियों में, सब देवताओं में, समग्र अध्यात्म में, सब लोकों में, सब यज्ञों में, और सब देहों में व्याप्त होकर, उनके न समझने पर भी, उनको नचानेवाला एक ही परमात्मा है । उपनिषदों का यही सिद्धान्त वेदान्तसूत्र के अन्तर्यामी अधिकरण में है (वे० सू० १.२.१८-२०), वहाँ भी सिद्ध किया है कि सबके अन्तःकरण में रहनेवाला यह तत्त्व सांख्यों की प्रकृति या जीवात्मा नहीं है, किन्तु परमात्मा है । इसी सिद्धान्त के अनुरोध से भगवान् अब अर्जुन से कहते कि मनुष्य की देह में सब प्राणियों में (अधिभूत), सब यज्ञों में (अधियज्ञ), सब देवताओं में (अधिदैवत), सब कर्मों में और सब वस्तुओं के सूक्ष्म स्वरूप (अर्थात् अध्यात्म) में एक ही परमेश्वर समाया हुआ है—यज्ञ इत्यादि नानात्व अथवा विविध ज्ञान सच्चा नहीं है । सातवें अध्याय के अन्त में भगवान् ने अधिभूत आदि जिन शब्दों का उच्चारण किया है, उनका अर्थ जानने की अर्जुन को इच्छा हुई ; अतः वह पहले पूछता है—"

कौन है ? अर्थात् श्रोत्रादि करणों का समूह अध्यात्म है या प्रत्यक् चैतन्य ? यह मेरा दूसरा प्रश्न है। और हे भगवन् ! "कर्मचाखिलम्" ऐसे जो अखिल कर्म को आपने कहा, वह अखिल कर्म क्या वा कौन है ? अर्थात् वह अखिल कर्म यज्ञ-रूप है या उससे भिन्न नित्य-नैमित्तिक कार्य्य-कर्म है ? यह मेरा तीसरा प्रश्न है। और हे प्रभो ! भूतों के आश्रय से जो स्थित हो, वह अधिभूत कहलाता है ; सो इस अधिभूत से आपका क्या अभिप्राय है ? अर्थात् जो पृथिवी आदि सकल भूतों में विद्यमान है, वही अधिभूत है या सम्पूर्ण कार्य में जो विद्यमान है, वह अधिभूत है ? यह मेरा चौथा प्रश्न है। और हे भगवन् ! देवताओं के आश्रय से जो स्थित हो, उसको अधिदैव कहते हैं ; सो अधिदैव आप किसको कहते हैं ? अर्थात् देवता-विषयक जो ध्यान है, उसको आप अधिदैव कहते हैं या देवताओं के आदित्य मण्डलादिकों में ओतप्रोत जो चैतन्य है, उसे आप अधिदैव कहते हैं ? यह मेरा पाँचवाँ प्रश्न है। और हे मधु-दैत्य के मारनेवाले भगवान् कृष्णचन्द्रजी ! यज्ञ का आश्रय करके यज्ञ में जो स्थित हो, उसका नाम अधियज्ञ है ; सो अधियज्ञ आप किसको कहते हैं, अर्थात् किसी देवता-विशेष का नाम अधियज्ञ है वा परब्रह्म का नाम अधियज्ञ है। उस अधियज्ञ का किस प्रकार चिन्तन किया जाय अर्थात् तादात्म्य-रूप से उसका चिन्तन किया जाय, या अत्यन्त अभेद-रूप से ? और वह अधियज्ञ इस देह में रहता है या इससे बाहर ? और अगर इस देह में रहता है, तो भी इस देह में वह अधियज्ञ कौन है ? अर्थात् बुद्धि आदि रूप है या उनसे भिन्न ? यह मेरा छठा प्रश्न है। और हे भगवन् ! "प्रयाणकालेपि च मां ते विदुः इति" ऐसा जो आपने पूर्व कहा है, सो मरते समय में पुरुष प्रथम समाहित चित्त (वा अपने आपको वश में किए हुए) कैसे हो सकता है (क्योंकि मरने के समय श्रोत्रादि इन्द्रियों का समूह सावधानी से रहित हो जाता है, जिससे उस समय

चित्त की सावधानता सम्भव नहीं होती) और फिर ऐसे समाहित-चित्त पुरुषों को उस समय आपके परम स्वरूप का ज्ञान कैसे रहता है ? यह मेरा सातवाँ प्रश्न है। कृपापूर्वक मेरे इन सातों प्रश्नों को निवारण कर दीजिए ॥ १, २ ॥

सम्बन्ध—अर्जुन के उक्त सात प्रश्नों का यथाक्रम उत्तर भगवान् अब तीन श्लोकों में देते हैं—

श्रीभगवानुवाच—

अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते ।
भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः ॥ ३ ॥

अक्षरं, ब्रह्म, परमं	अक्षर परम ब्रह्म है	भूत-भाव-उद्भवकरः, विसर्गः, कर्म-संज्ञितः	भूतों के भाव को उत्पन्न करनेवाला दान (सृष्टि-व्यापार), कर्म नामवाला है
स्वभावः, अध्यात्मं, उच्यते	स्वभाव अध्यात्म कहलाता है		

अन्वयार्थ—श्रीभगवान् बोले—परम अक्षर ब्रह्म है, स्वभाव अध्यात्म कहलाता है, भूतों के भाव को उत्पन्न करनेवाला विसर्ग कर्म नाम पाता है ॥ ३ ॥

व्याख्या—उक्त प्रश्नों के उत्तर में भगवान् ऐसे बोले कि हे अर्जुन ! पहले के तीन प्रश्नों ('किं तद् ब्रह्म', 'किं अध्यात्म', 'किं कर्म') का उत्तर क्रम से यह है कि परम अक्षर ब्रह्म है, अर्थात् सोपाधिक ब्रह्म से यहाँ अभिप्राय नहीं किन्तु (न क्षरति न नश्यतीति अक्षरम्) ज्ञान, अज्ञान, देश, काल तथा अन्य किसी कारण से जो न क्षय को और न नाश को प्राप्त हो, उसको अक्षर कहते हैं। अथवा "अश्नुते सर्वमिति अक्षरम्" जो सब अव्याकृत व उसके कार्य को अन्दर, बाहर से व्याप्त करके स्थित हो,

वह अक्षर* कहलाता है, अथवा उत्पत्ति-नाश से रहित तथा सर्वत्र व्यापक वस्तु का नाम अक्षर है; ऐसा चैतन्य-स्वरूप अक्षर यहाँ ब्रह्म-शब्द से विवक्षित है, और वह अक्षर परम † अर्थात् सापेक्षक अक्षरों से भी

---

* इस पर बृहदारण्यक उपनिषद् के तीसरे अध्याय और आठवें ब्राह्मण के ८ से ११ मंत्रों में श्रुतियाँ ऐसा कहती हैं—"एतद्वै तदक्षरं गार्गि ! ब्राह्मणा अभिवदन्ति अस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घम् इत्यादि"=हे गार्गि ! इसको ब्राह्मण (ब्रह्मवेत्ता) अक्षर कहते हैं, वह न मोटा है, न पतला, न छोटा है, न लम्बा इत्यादि। "एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि ! सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः। इत्यादि"=इसी अक्षर के प्रशासन (अटल आज्ञा) में हे गार्गि ! सूर्य और चन्द्रमा मर्यादा में खड़े हैं। इत्यादि। "तद्वा एतदक्षरं गार्ग्यदृष्टं द्रष्टृश्रुतं श्रोत्रमतं मन्त्रविज्ञातं विज्ञातृ। नान्यदतोऽस्ति द्रष्टृ, नान्यदतोऽस्ति श्रोतृ, नान्यदतोऽस्ति मन्तृ, नान्यदतोऽस्ति विज्ञातृ। एतस्मिन्नु खल्वक्षरे गार्ग्याकाश ओतश्च प्रोतश्च। इति ॥ ११ ॥"=यही अक्षर हे गार्गि ! स्वयं अदृष्ट हुआ देखनेवाला है, अश्रुत हुआ सुननेवाला है, अमत हुआ माननेवाला है, अज्ञात हुआ जाननेवाला है, इस (अक्षर) से भिन्न दूसरा कोई देखनेवाला नहीं; इससे भिन्न दूसरा कोई सुननेवाला नहीं; इससे भिन्न दूसरा कोई मनन करनेवाला नहीं; इससे भिन्न दूसरा कोई जाननेवाला नहीं। इसी अक्षर में, हे गार्गि ! यह आकाश (अव्याकृत) ओतप्रोत है। (यही परम ब्रह्म है। इसको पाकर ही मनुष्य कृतकृत्य हो जाता है)।

† यहाँ 'परम' शब्द ब्रह्म का विशेषण नहीं किन्तु अक्षर का विशेषण है। सांख्य-शास्त्र में अव्यक्त-प्रकृति को भी 'अक्षर' कहा है (गी० १५. १६)। परन्तु वेदान्त में इस अव्यक्त और अक्षर प्रकृति से भी परे के तत्त्व को 'ब्रह्म' कहा है। (इसी अध्याय का २० वाँ और २१ वाँ श्लोक इसे स्पष्ट करता है)। दूसरा तात्पर्य यह है कि जैसे मर्त्य-लोक के मनुष्य की अपेक्षा देवतादि अक्षर हैं, पर वे वास्तव में अक्षर नहीं; इसी प्रकार देवों की अपेक्षा बृहस्पति-लोक-

जो परम है अर्थात् जो परमानन्द-स्वरूप, स्वप्रकाश, सर्वोपरि, सबका आधार, सबका धारणकर्ता, द्रष्टा और शासक है, अतएव वह परम है, ऐसा परम अक्षर यहाँ 'ब्रह्म' है। और स्वभाव (स्व=अपना, भाव=स्वरूप वा मूल-भाव) अध्यात्म कहलाता है, अर्थात् इस अक्षर-ब्रह्म का अपना स्वरूप जो प्रत्येक पदार्थ में प्रत्यक् चैतन्य-रूप से स्थित है, वह 'अध्यात्म' है। अथवा महाभारत में दिये हुए उदाहरणों के अनुसार किसी भी पदार्थ का सूक्ष्म-स्वरूप 'अध्यात्म' कहलाता है। तात्पर्य यह है कि परम अक्षर (परब्रह्म) तो सर्वव्यापक-रूप से सबको अपने आप में से प्रकाशता है, और अपने प्रत्यगात्मा-रूप से (जो वास्तव में वह आप ही है) इन कोशों व पदार्थों में व्यक्ति-भाव से प्रकाशता है, वह प्रत्यगात्म-भाव 'अध्यात्म' कहलाता है। अथवा एक ही परम तत्त्व समष्टि-रूप से सबका आधार वा मूल होने से परम अक्षर कहलाता है और वही व्यष्टि-रूप से प्रत्येक व्यक्ति का आधार वा मूल-भाव (सूक्ष्म-स्वरूप) होने से अध्यात्म कहलाता है। या स्पष्ट शब्दों में यह कि परम अक्षर (सर्वव्यापक अविनाशी तत्त्व) ब्रह्म कहलाता है और जीव (प्रत्यगात्मा

निवासी अक्षर कहलाते हैं, पर वे वास्तव में अक्षर नहीं; इसी तरह इनकी अपेक्षा प्रजापति-लोक-निवासी प्रजापति के सहित अक्षर कहे जा सकते हैं, पर यथार्थ में वे भी अक्षर नहीं; कुछ काल के लिये एक-दूसरे की अपेक्षा से ये सब-के-सब भले ही अक्षर कहलायें, पर सब-के-सब ये महाप्रलय में नाश हो जाते हैं; इसलिये इनमें से कोई भी 'परम अक्षर' नहीं कहा जा सकता, यद्यपि एक-दूसरे की अपेक्षा से अक्षर नाम से प्रसिद्ध अवश्य होते हैं। और इसी कारण अकेले 'अक्षर' शब्द के प्रयोग से सांख्यों की प्रकृति अथवा सापेक्ष देव प्रजापति आदि अथवा वेदान्तियों का ब्रह्म सब अर्थ हो सकते हैं, इस संदेह के निवारणार्थ भगवान् ने 'अक्षर' शब्द के आगे 'परम' विशेषण रखकर ब्रह्म की व्याख्या की है।

वा सबका सूक्ष्म-स्वरूप) अध्यात्म कहलाता है। और भूतों के भावों को (अर्थात् पदार्थों के अस्तित्व को) उत्पन्न करनेवाला वा प्रकट करनेवाला जो विसर्ग (यज्ञ का हविरुत्सर्ग वा सृष्टि-व्यापार) है, वह कर्म कहलाता है। अर्थात् यज्ञ हवन के समय अग्नि में जो आहुतियाँ दी जाती हैं, वे सूक्ष्म-रूप से सूर्य-मण्डल में पहुँचती हैं, उनसे वर्षा होती है, वर्षा से नाना प्रकार के अन्न उत्पन्न होते हैं, अन्नों से प्राणियों की उत्पत्ति और वृद्धि होती है, सारे प्राणियों की उत्पत्ति और वृद्धि करनेवाले उस त्याग-रूप यज्ञ* को 'कर्म' कहते हैं। अथवा अक्षर-ब्रह्म से भूत-भावादि (चर-अचर) पदार्थों की उत्पत्ति करनेवाला जो विसर्ग अर्थात् सृष्टि-व्यापार है, वह 'कर्म' कहलाता है। संक्षेप से यह कि नित्य, मुक्त, अविनाशी, निराकार, सर्वत्र-व्यापक और सर्वाधार परमात्मा को 'ब्रह्म' कहते हैं; शरीर में रहनेवाले प्रत्यगात्मा वा जीव (अथवा पदार्थों के सूक्ष्म-स्वरूप) को 'अध्यात्म' कहते हैं; और यज्ञ (वा सृष्टि-व्यापार) को 'कर्म' कहते हैं ॥ ३ ॥ †

सम्बन्ध—अब इससे आगे के तीन प्रश्नों का उत्तर भगवान् देते हैं—

---

* इस पर स्मृति ऐसे कहती है—"अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते। आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः ॥ (मनु० ३. ७६)"=वैदिक अग्नि में विधिपूर्वक वा श्रद्धापूर्वक डाली हुई आहुति सूक्ष्म-रूप से आदित्य-मण्डल में स्थित होती है। उस आहुति-विशिष्ट आदित्य-मण्डल से जल की वृष्टि होती है, उस वृष्टि से अन्न उत्पन्न होता है, और अन्न से स्थावर-जंगम-रूप प्रजा उत्पन्न होती है।

† श्रीज्ञानदेवजी अपने विचित्र ढंग से इस पर ऐसे व्याख्या करते हैं—

"फिर सर्वेश्वर श्रीकृष्ण ने कहा कि इस छिद्र-युक्त शरीर में जो वस्तु भरी हुई है और कभी नहीं झिरती, यों तो जो सूक्ष्म दिखाई देती है परन्तु स्वभावतः शून्य नहीं है, जो इतनी विरल है मानो आकाश के अञ्चल से छानी

अधिभूतं क्षरो भावः पुरुषश्चाधिदैवतम् ।
अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतां वर ॥४॥

अधिभूतं, क्षरः, भावः	नाशवान् भाव अधिभूत है	अधियज्ञः, अहं, एवं, अत्र, देहे, देह-भृतां, वर	हे देह-धारियों में श्रेष्ठ ! इस देह में मैं ही अधियज्ञ हूँ
पुरुषः, च, अधिदैवतं	और पुरुष अधि-दैवत है		

गई हो, और जो इस प्रपञ्च-ज्ञान की खोल में हिलोरने से भी नहीं टपकती, उस वस्तु को परब्रह्म कहते हैं । यद्यपि आकार उत्पन्न होते हैं तथापि उस वस्तु को जन्म-धर्म नहीं लगते । आकार का लोप होता है तथापि उसका कभी नाश नहीं होता । इस प्रकार अपनी सहज स्थिति से रहनेहारी जो उस परब्रह्म की नित्यता है उसे, हे सुभद्रा-पति ! अध्यात्म कहते हैं । तथा निर्मल गगन में जैसे किसी समय, न जाने कैसे, रङ्ग-बिरङ्गे अभ्र-पटल छा जाते हैं, वैसे ही उस अत्यन्त शुद्ध निराकार-रूपी अधिष्ठान पर महत्तत्त्व इत्यादि ब्रह्माण्ड के भूत-भेदात्मक आकार दिखाई देने लगते हैं । कल्पनातीत ब्रह्म-स्वरूपिणी धरती पर आदि-संकल्प के अंकुर फूटते हैं और साथ ही उनमें ब्रह्माण्ड के आकार की बहार आ जाती है । उनमें परस्पर एक-दूसरे का अन्तर देखो तो बीज़ों से ही भरा हुआ दिखाई देता है और उनमें उत्पन्न होनेवाले और नाश होनेवाले जीवों की गणना नहीं की जाती । फिर उस ब्रह्माण्ड के अनेक अंश असंख्यात आदि-संकल्प उपजाते हैं । किंबहुना, इस प्रकार बहुतेरी सृष्टि बढ़ती जाती है । तथापि, दूसरा कोई नहीं, सर्वत्र एक परब्रह्म ही भरा हुआ रहता है और अनेकता की मानो बाढ़ आती है, परन्तु चराचर सम-विषम भावों की न जाने कैसे व्यर्थ रचना करता है । उसे उत्पन्न करनेहारी योनियों के भी लक्षावधि प्रकार दिखाई देते हैं । जीव-भाव के और भी अनेक अंकुरों की कुछ मर्यादा नहीं है,

अन्वयार्थ—हे अर्जुन ! नाशवान् भाव अधिभूत है, और पुरुष अधिदैवत है, और इस देह में अधियज्ञ※ मैं ही हूँ ॥ ४ ॥

व्याख्या—हे देहधारियों में श्रेष्ठ अर्जुन ! "अधिभूतं च किं प्रोक्तं अधिदैवं किमुच्यते"=अधिभूत किसको कहते हैं और अधिदैव कौन कहलाता है, ऐसा जो तूने चौथा और पाँचवाँ प्रश्न किया था, उसका उत्तर सविस्तर यह है कि पदार्थ-मात्र के नाम-रूपात्मक विनाशी स्वरूप को 'क्षर' कहते हैं और इससे परे जो अक्षर-तत्त्व है, उसे 'ब्रह्म' कहा गया है। इस

और यदि यह देखा जाय कि यह सब किससे उत्पन्न होता है, तो मूल अव्यक्त है; एवं मुख्य कर्ता दिखाई नहीं देता और निदान का हेतु भी कुछ नहीं रहता, परन्तु बीच में कार्य ही अपने आप बढ़ता रहता है। इस प्रकार, कर्ता के बिना ही प्रकट होनेवाला जो अव्यक्त में आकार का निपजना है, उस व्यापार को कर्म कहते हैं।"

※ "इस देह में 'अधियज्ञ' मैं ही हूँ, अर्थात् मनुष्य-देह में अधिदैव और अधियज्ञ भी मैं ही हूँ। प्रत्येक देह में पृथक्-पृथक् पुरुष (आत्मा) मानकर सांख्यवादी कहते हैं कि वे असंख्य हैं; पर गीता को वा वेदान्त-शास्त्र को यह मत मान्य नहीं। उन्होंने निश्चय किया है कि देह यद्यपि अनेक हैं तथापि आत्मा सबमें एक ही है। 'अधिदेह मैं ही हूँ', इस वाक्य में यही सिद्धान्त दर्शाया है। तो भी इस वाक्य के 'मैं ही हूँ' शब्द केवल अधियज्ञ अथवा अधिदेह को ही उद्देश करके प्रयुक्त नहीं हैं, उनका सम्बन्ध अध्यात्म आदि पूर्व-पदों से भी है। अतः समग्र अर्थ ऐसा होता है कि अनेक प्रकार के यज्ञ, अनेक पदार्थों के अनेक देवता, विनाशवान् पञ्चमहाभूत, पदार्थ-मात्र के सूक्ष्म भाग अथवा विभिन्न आत्मा, ब्रह्म, कर्म अथवा भिन्न-भिन्न मनुष्यों की देह—इन सबमें 'मैं ही हूँ', अर्थात् सबमें एक ही परमेश्वर-तत्त्व है।" (श्रीतिलक महाराज)

प्रकार यह क्षर-भाव अर्थात् उपजे हुए सब पदार्थों की नाम-रूपात्मक नाशवान् स्थिति 'अधिभूत' है। और इस पदार्थ में जो पुरुष अर्थात् सचेतन अधिष्ठाता है, वह 'अधिदैवत' है। या दूसरे शब्दों में ऐसे कि जो पदार्थ नाश को प्राप्त हो, वह 'क्षर' और जो उत्पत्ति को प्राप्त हो, वह 'भाव' कहलाता है। इस प्रकार उत्पत्ति-नाशवान् जितना पदार्थ-मात्र है, वह 'अधिभूत' है, और जो इस पदार्थ में पुरुष है अर्थात् जिससे प्रत्येक पदार्थ पूर्ण या व्याप्त है और पदार्थ जिसका एक शरीर-मात्र वा तनु-मात्र होता है, वह 'अधिदैवत' है। उदाहरणार्थ देह, सूर्य आदि पदार्थ अधिभूत हैं, और जो इस देह वा सूर्य आदि पदार्थ में रहता इनमें चैतन्यता उत्पन्न करता इनका पोषण इत्यादि करता है, अर्थात् जो प्रत्येक पदार्थ में उसका देवता-रूप से वा अधिष्ठाता-रूप से स्थित है; जैसा कि श्रुति कहती है—"य आदित्ये तिष्ठन्नादित्यादन्तरः, यमादित्यो न वेद, यस्यादित्यः शरीरं। य आदित्यमंतरो यमयति, एष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः।"=जो सूर्य में रहकर सूर्य से अलग है, जिसको सूर्य नहीं जानता, सूर्य जिसका शरीर है, जो सूर्य के भीतर रहकर उसे नियम में रखता है, यह तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है। (बृ० ३. ७. ६)। वह अधिदैवत है। संक्षेप से तात्पर्य यह कि नाम-रूपात्मक देह तो अधिभूत है, और जो इस देह में विराजमान इसका आत्मा है, जो इन्द्रियों को उत्तेजित करनेवाला और पोषण करनेवाला है, और जो सूर्य में होकर जगत् के सब प्राणियों को पोषण करता और उत्तेजना देता है, वह 'अधिदैव' कहलाता है।* और जो तेरा छठा प्रश्न

---

* महाभारत के शांति पर्व में 'अध्यात्म', 'अधिभूत' और 'अधिदैवत' इन तीनों का एक ही स्थान पर उदाहरणों से संक्षेपपूर्वक वर्णन विचित्र ढंग से इस प्रकार है—

पादोऽध्यात्ममिति प्राहुर्ब्राह्मणास्तत्त्वदर्शिनः।
गन्तव्यमधिभूतन्तु विष्णुस्तत्राधिदैवतम्॥

(इस देह में अधियज्ञ कैसे और कौन है ?) है, उसका उत्तर सविस्तर यह है कि सब यज्ञों के अधिपति को 'अधियज्ञ' कहते हैं, इस प्रकार सब यज्ञों पर जिसकी प्रधानता है अर्थात् जो देवताओं का भी पूज्य है, और सब यज्ञों का भोक्ता व प्रभु विष्णु भगवान् है (जैसा कि श्रुति कहती है कि "यज्ञो वै विष्णुः"=विष्णु ही यज्ञ है, अर्थात् विष्णु ही यज्ञ का अभिमानी देवता है), और इस देह में जो यज्ञ हैं, उनके अधिष्ठाता भी भगवान् विष्णु आप ही हैं। इस प्रकार इस देह में जो अधियज्ञ-रूप विष्णु भगवान् हैं और जो बाहर सूर्यादि में भी स्थित हैं, वह अधियज्ञ-रूप विष्णु इस देह में मैं ही हूँ ॥ ४ ॥ ❀

मनोऽध्यात्ममिति प्राहुर्योगतत्त्वविशारदाः ।
मन्तव्यमधिभूतन्तु चन्द्रमा चाधिदैवतम् ॥

अर्थ—तत्त्वदर्शी ब्राह्मण ऐसा कहते हैं कि सूक्ष्म पादेन्द्रिय 'अध्यात्म' है, चलना-फिरना-रूप स्थूल व्यापार 'अधिभूत' है, और इसके संचालक विष्णु 'अधिदैवत' हैं। और योग-तत्त्व में निपुण ऐसा कहते हैं कि मन-रूपी सूक्ष्म इंद्रिय 'अध्यात्म' है, मनन-क्रिया 'अधिभूत' है और उसके संचालक चन्द्रदेव 'अधिदैवत' हैं।

❀ इस पर श्रीज्ञानदेवजी अपने अनोखे ढङ्ग से व्याख्या ऐसे करते हैं—

"अब जो अधिभूत कहलाता है, वह भी संक्षेप से समझाते हैं। अभ्र जैसे उत्पन्न होता और विलीन हो जाता है, वैसे ही जिसका अस्तित्व मिथ्या और न होना सत्य है; पञ्चमहाभूत आपस में मिलकर जिसका रूप बनाते हैं, जो भूत-मात्र का आश्रय बना रहता है और जो भूतों के संयोग से दिखाई देता है, परन्तु उनके वियोग के समय जिसके नाम-रूप इत्यादि का नाश हो जाता है, उसे अधिभूत कहते हैं। अब अधिदैवत अर्थात् पुरुष उसे जानो जो प्रकृति की सम्पादित सम्पत्ति का भोग लेता है, जो बुद्धि का द्रष्टा है, जो इन्द्रिय-रूपी देश का राजा है, जो देह के अस्तमान के समय संकल्प-रूपी पक्षियों का वृक्ष है,

सम्बन्ध—अब सातवें प्रश्न "प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसि" का उत्तर भगवान् देते हैं—

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम् ।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः ॥५॥

जो परमात्मा ही है परंतु भिन्न दिखाई देता है, क्योंकि वह अहंकार-रूपी निद्रा में सोया हुआ है और स्वप्न की चेष्टा से सन्तोषी वा दुःखी होता है। जिसे स्वभावतः जीव नाम से पुकारते हैं, उसे इस पञ्चायतन का अधिदैवत जानो। हे पांडुकुँवर ! अब इस शरीर-रूपी नगर में जो शरीर-भाव का लय करता है, वह अधियज्ञ मैं हूँ। अन्य जो अधिभूत और अधिदैव हैं, वे भी सब निश्चय से मैं ही हूँ, परन्तु अच्छा सुवर्ण यदि हीन सुवर्ण से मिलाया जाय, तो क्या हलके मोल का नहीं हो जाता ? वास्तव में उस सुवर्ण की उत्तमता मलीन नहीं होती और वह हीन सुवर्ण के अंश में नहीं मिल जाता, तथापि जब तक उसके सम्बन्ध से रहता है, तब तक उसे हलके ही मोल का कहना चाहिए ; वैसे ही ये सम्पूर्ण अधिभूत इत्यादि जब तक अविद्या के अञ्चल से ढँके हुए हैं, तब तक इन्हें भिन्न समझना चाहिए। वही जो अविद्या का परदा हट जाय और भेद-भाव की सीमा मिट जाय और फिर यदि कहो कि वे एक में मिल गये, तो क्या वे यथार्थ में अलग थे ? बालों की गुंडेली पर स्फटिक का एक टुकड़ा रख दो, तो बाह्यतः देखने से दरका हुआ काँच दिखाई देता है, परन्तु बाल हटा लिए जायँ, तो दरार न जाने कहाँ चली जाती है। तब क्या दरके हुए दिखाई देनेवाले स्फटिक को कोई राँजकर जोड़ देता है ? नहीं, वह तो वैसा ही अखण्ड बना हुआ है, परन्तु केवल सङ्ग के कारण भिन्न दिखाई देता था। वही सङ्ग हटा लेने से फिर वह ज्यों-का-त्यों हो जाता है। वैसे ही अहं-भाव निकल जाय, तो ऐक्य तो पहले से ही बना है। यही ऐक्य जहाँ यथार्थतः होता है, वही अधियज्ञ मैं हूँ।"

अन्तकाले, च, मां, एव, स्मरन्, मुक्त्वा, कलेवरं = और अन्तकाल में मुझको ही स्मरण करता हुआ शरीर को छोड़कर	यः, प्रयाति=जो जाता अर्थात् मरता है
	सः, मद्भावं, याति = वह मेरे भाव (स्वरूप) को प्राप्त होता है
	नास्ति, अत्र, संशयः=इसमें संशय नहीं है

अन्वयार्थ—और अन्त-काल में मुझको ही स्मरण करता हुआ जो (प्राणी) शरीर को छोड़कर जाता है, वह मेरे भाव को प्राप्त होता है, इसमें संशय नहीं ॥ ५ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! जो तुमने सातवाँ यह प्रश्न किया था कि "मरने के समय मैं कैसे जाना जाता हूँ ?" उसका उत्तर यह है कि मरने के समय जो अनन्य भक्त वा समाहित-चित्त पुरुष मेरे भाव (मेरे शुद्ध स्वरूप) का स्मरण करता हुआ देह को त्यागता है, वह निस्सन्देह मेरे भाव अर्थात् मेरे परम-स्वरूप वा मेरे विष्णु-पद को प्राप्त हो जाता है अर्थात् वह मेरे स्वरूप से अभेद हुआ उसी में लीन होकर निस्सन्देह वही हो जाता है ॥ ५ ॥

सम्बन्ध—(१) अब भगवान् सिद्धान्त-रूप से यह दर्शाते हैं कि 'न केवल मेरे स्मरण से मेरे भाव को प्राप्त होता है' किन्तु नियम यह है कि

अथवा (२) जो मेरे से अतिरिक्त अन्य को स्मरण करता हुआ देह त्यागता है, वह जिस गति को प्राप्त होता है, उसे भगवान् अब स्पष्ट करते हैं—

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम् ।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः ॥ ६ ॥

यं-यं, वा, अपि, स्मरन्, भावं, त्यजति, अन्ते, कलेवरं	अथवा जिस-जिस भी भावको स्मरण करता हुआ अन्त में शरीर त्यागता है	तं, तं, एव, एति, कौन्तेय, सदा, तद्-भाव-भावितः	हे अर्जुन! सदा उस भाव से भाववाला हुआ उस-उसको ही प्राप्त होता है

अन्वयार्थ—अथवा हे अर्जुन! जिस-जिस भी भाव को अन्त-काल में स्मरण करता हुआ (प्राणी) शरीर त्यागता है, वह सदा* उस भाव से भावित हुआ उस-उस भाव ही को प्राप्त होता है ॥ ६ ॥

व्याख्या—हे कुन्ती-पुत्र अर्जुन! कुछ मेरे ही विषय में यह नियम नहीं कि "मरण-समय में मेरा ही स्मरण करनेवाला मुझे प्राप्त होता है" बल्कि जिस-जिस भी भाव (पदार्थ, वस्तु, व्यक्ति वा देवता) को प्राणी मरने के समय स्मरण करता हुआ देह त्यागता है, वह नित्य उस भाव को स्मरण करने से उसी से संस्कारी हो जाता वा रँग जाता है, जिससे उसी भाव को अन्त समय में प्राप्त होता है। अर्थात् एक ही भाव के नित्य निरन्तर स्मरण करते रहने से उसके संस्कार चित्त में खचित हो जाते हैं और मनुष्य भीतर से उस भाव की भावना से ऐसा रँग जाता है अथवा ऐसा भावित होता है कि मरने के समय उसे वही भाव स्वतः याद आता रहता है, अर्थात् विना परिश्रम वा स्मरण-शक्ति के प्रयोग के वह भाव स्वतः ही उसके सामने आ जाता है, जिससे देह त्यागने पर वह मनुष्य स्वतः उसी भाव को प्राप्त होता है, इसलिये यह प्रसिद्ध है कि मरण-समय में 'जाकी जैसी भावना ताकी तैसी गति' (वा अन्त मतः सो गतः) ॥ ६ ॥ †

---

* "सदा तद्भावभावितः।" ऐसा कहने से यह बोधन किया है कि वेही भावना वा वासनायें अन्त समय में सामने आती हैं कि जो निरन्तर अभ्यास वा स्मरण के कारण चित्त पर पहले से ही जमी होती हैं।

† पाँचवें श्लोक से कोई यह नतीजा न निकाल ले कि बस मरण-समय

सम्बन्ध—(१) भावनानुसार गति का नियम दर्शाकर भगवान् अब अपने परम स्वरूप की निरन्तर उपासना की आवश्यकता दर्शाते हैं—

अथवा (२) भावनानुसार गति का नियम दर्शाकर भगवान् अब अर्जुन को उसके कल्याण-निमित्त ऐसा उपदेश करते हैं—

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम् ॥ ७ ॥

तस्मात्, सर्वेषु, कालेषु	इसलिये सब समयों में	मयि, अर्पित-मनः, बुद्धिः	मुझमें अर्पण की हुई मन-बुद्धिवाला
माम्, अनुस्मर, युध्य, च	मुझको स्मरण कर और युद्ध कर	माम्, एव, एष्यसि, असंशयम्	निस्सन्देह मुझे ही प्राप्त होगा

अन्वयार्थ—इसलिये सब समयों में मुझे स्मरण कर और लड़ । (इस प्रकार) मुझमें अर्पण की हुई मन-बुद्धिवाला होकर तू निस्सन्देह मुझे ही प्राप्त होगा ॥ ७ ॥

में ही भगवत्-स्मरण की आवश्यकता है, और केवल मरण-समय में ही उसे स्मरण करने से काम निकल आता है ; इस कारण छठे श्लोक में भगवान् ने यह सिद्धान्त निरूपण किया है कि जो बात जन्म-भर मन में रहती है अथवा जिसका स्मरण वा अभ्यास जीते जी निरन्तर होता रहता है, वह मरण-काल में भी नहीं छूटती । अतएव न केवल मरण-काल में बल्कि जन्म-भर परमेश्वर का निरन्तर स्मरण और उपासना करने की आवश्यकता है । इस सिद्धान्त को मान लेने से स्वतः स्पष्ट हो जाता है कि जन्म-भर के अभ्यास से विवश हुए प्राणी अन्त-काल में परमेश्वर को भजनेवाले परमेश्वर को पाते हैं और देवताओं के भजनेवाले देवताओं को । इस पर श्रुति का कथन है—"अथ खलु क्रतुमयः पुरुषो, यथा क्रतुरस्मिँल्लोके भवति, तथेतः प्रेत्य भवति ।"=

व्याख्या—हे अर्जुन! जब यह लोकप्रसिद्ध नियम वा निश्चित सिद्धान्त है कि "अन्त मति सो ही गति"=मरने के समय जैसी मति वा भावना होती है, वैसी ही गति होती है; और यह भी ठीक अनुभव-सिद्ध सिद्धान्त है कि जिन बातों व सङ्कल्पों को जन्म-भर मनुष्य करता रहे अर्थात् जिन बातों व विचारों में चित्त जन्म-भर लगा रहे, उन्हीं बातों, सङ्कल्पों और विचारों की वासनाएँ, संस्कार वा भावनाएँ चित्त पर जम जाती हैं, जिससे अन्त समय में उन्हीं का चिन्तन वा स्मरण स्वतः हो जाता है, अर्थात् अन्त समय में वैसी ही मति स्वतः हो जाती है। और तू चूँकि जन्म-मरण से छुटकारा वा भगवत्प्राप्ति चाहता है, इसलिये तुझे अब उचित है कि सब कामों में, सब अवसरों में, सारी अवस्थाओं और दशाओं में तू हरदम मुझ परमात्मदेव का ही स्मरण कर, और मेरे परमस्वरूप को ही नित्य ध्याते हुए तू प्रत्येक कार्य कर; और इस समय यह युद्ध जो निज कर्तव्य-रूप से तेरे सामने है, इसे भी तू मुझ सच्चिदानन्द-स्वरूप को निरन्तर ध्यान में रखते हुए कर। इस प्रकार नित्य मुझमें मन और बुद्धि अर्पित रखने से तू शरीर छोड़ते ही मुझे अवश्य प्राप्त होगा, इसमें किञ्चित् भी संशय नहीं॥ ७॥ ॐ

सम्बन्ध—अब भगवान् उक्त विषय को आगे के तीन श्लोकों द्वारा और स्पष्ट करते हैं—

पुरुष: क्रतुमय हैं। इस लोक में पुरुष जैसे क्रतु अर्थात् सङ्कल्प वा भावना या इच्छावाला होता है, उसे वैसी ही गति मिलती है, जब वह मरकर यहाँ से चल देता है। (छां० ३. १४. १)

ॐ इस श्लोक से स्पष्ट हो रहा है कि मोक्ष तो परमेश्वर की ज्ञान-युक्त अनन्य भक्ति से मिलता है; और यह भी निर्विवाद है कि मरण-समय में भी उसी भक्ति के स्थिर रहने के लिये जन्म-भर वही अभ्यास करना उचित है; पर इससे गीता का अभिप्राय यह नहीं कि मनुष्य इस भक्ति के लिये जङ्गल में

अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना ।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन् ॥८॥

अभ्यास-योग-युक्तेन, चेतसा, न, अन्य-गामिना	अभ्यास-योग से युक्त और न अन्य ओर जानेवाले चित्त से	परमं, पुरुषं, दिव्यं, याति, पार्थ, अनु-चिन्तयन्	हे अर्जुन ! चिन्तन करता हुआ परम दिव्य पुरुष को प्राप्त होता है

अन्वयार्थ—हे अर्जुन ! अभ्यास-योग* से युक्त और अन्य ओर न जानेवाले चित्त से चिन्तन करता हुआ मनुष्य परम दिव्य पुरुष को प्राप्त होता है ॥ ८ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! "सर्वकाल और सर्वअवस्था में तू मेरा चिन्तन कर और इस चिन्तन से युक्त होते हुए तू कर्तव्य-कर्म कर ।" ऐसा जो मैंने पूर्व कहा है, इस प्रकार के अभ्यास की विधि से जिसका चित्त युक्त है, अर्थात् इस प्रकार के अभ्यास में जिसका चित्त प्रवृत्त रहता है, और धन्धों तथा अवसरों में जिसका चित्त अन्य किसी ओर नहीं जाता

जा बैठे और संसार के सब कर्मों को छोड़ दे । विरुद्ध इसके अभिप्राय यह है कि भगवद्भक्त को स्वधर्म के अनुसार जो कर्म प्राप्त होते जायँ, उन सबको वह निष्काम-बुद्धि से केवल अपना कर्तव्य समझकर करता जाय और कर्म के समय भगवत्स्मरण भी निरन्तर जारी रक्खे । इसी आशय को सिद्धान्त-रूप से भगवान् ने यहाँ कहा है कि "मेरा सदैव चिन्तन कर और युद्ध कर ।"

* अभ्यास=बार-बार उस परम पुरुष का ध्यान (स्मरण वा चिन्तन) करना, और उस ध्यान वा चिन्तन में निरन्तर युक्त रहने का नाम योग है ।

किन्तु भगवत्-चिन्तन में ही प्रवृत्त रहता है, ऐसा मनुष्य इस निरन्तर चिन्तन के कारण शरीर छोड़ते ही परम प्रकाश-स्वरूप पुरुष को ही प्राप्त होता है अर्थात् मेरे परमस्वरूप से अभेद हो जाता है ॥ ८ ॥

सम्बन्ध—निरन्तर चिन्तन अर्थात् उपासना की विधि वा स्वरूप कहकर भगवान् अब चिन्तनीय अर्थात् उपास्य का स्वरूप फल के सहित दो श्लोकों में वर्णन करते हैं—

कविं पुराणमनुशासितारमणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः । सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूपमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ॥ ९ ॥

प्रयाणकाले मनसाऽचलेन भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव । भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक् स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥ १० ॥*

इस प्रकार सब काल में और सब कर्मों में उसका निरन्तन चिन्तन करते रहने का नाम 'अभ्यास-योग' है।

* इन श्लोकों में जो परमेश्वर के स्वरूप का वर्णन है, वह बहुत करके शब्दशः उपनिषदों से लिया गया है। नवें श्लोक का "अणोरणीयान्" पद और अन्त का चरण श्वेताश्वतर उपनिषद् का है (श्वे० ३. ८ और ३. २०)। दसवें श्लोक का अन्त का चरण मुण्डक उपनिषद् का है (मुं० ३. २. ८)

कविं, पुराणं, अनुशासितारं, अणोः, अणीयांसं, अनुस्मरेत्, यः	कवि, पुराने, अनुशासन करनेवाले, सूक्ष्म से सूक्ष्मतर को जो स्मरण करता है	प्रयाण-काले, मनसा, अचलेन	मरने के समय अचल मन से
सर्वस्य, धातारं, अचिन्त्य, रूप	सबके धाता, अचिंत्य स्वरूप को	भक्त्या, युक्तः, योग-बलेन, च, एव	भक्ति से युक्त और ऐसे ही योग-बल से
आदित्य-वर्णं, तमसः, परस्तात्	अंधकार से परे आदित्य वर्ण को	भ्रुवोः, मध्ये, प्राणं, आवेश्य, सम्यक्	भ्रुवों के बीच प्राण को ठीक रोककर
		सः, तं, परं, पुरुषं, उपैति, दिव्यं,	वह उस दिव्य परं पुरुषको प्राप्त होता है

अन्वयार्थ—कवि, पुराने, अनुशासन करनेवाले, सूक्ष्म से सूक्ष्मतर, सबके धाता, अचिंत्य-स्वरूप और अंधकार से परे आदित्य-वर्ण को जो मनुष्य मरने के समय भक्ति से युक्त होकर, अचल मन से और ऐसे ही योग-बल से दोनों भ्रुवों के बीच प्राण को ठीक रोककर स्मरण करता है, वह उस दिव्य परम पुरुष को प्राप्त होता है ॥ ९,१० ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! कवि (त्रिकालदर्शी अर्थात् सर्वज्ञ), पुराना (सनातन, सब कारणों का कारण-रूप अर्थात् अनादि), अनुशासनकर्ता (सबका नियन्ता, नियामक वा प्रेरक), सूक्ष्म से सूक्ष्मतर (अणु-मात्र से भी सूक्ष्म अर्थात् अत्यंत सूक्ष्म), सबका धाता (धारणकर्ता, पालन-पोषणकर्ता, अर्थात् सबका आधार वा कर्ता), अचिंत्य-स्वरूप (जो ठीक चिंतन में न आ सके, अर्थात् स्वयं अरूपी वा निराकार होने से जिसका किसी रूप से वास्तव में चिंतन नहीं हो सकता), आदित्य-वर्ण (सूर्य-वर्णवाला अर्थात् सूर्यवत् स्वप्रकाश-स्वरूप वा दीप्तिमान्); और अंधकार से परे (अर्थात् प्रकाश-स्वरूप होने से अंधकार से परे, तात्पर्य

ज्ञान-स्वरूप), ऐसी उपमावाला जो प्रभु है, अथवा जिस पुरुष के ऐसे विशेषण हैं उसको, या इन विशेषणों से प्रभु को जो मनुष्य अनन्य भक्ति से युक्त होकर, उक्त अभ्यास-योग के बल से दोनों भ्रुवों (भवों) के बीच में प्राणों को भली भाँति रखकर (स्थापन करके) निश्चल मन के साथ अंत-काल में अर्थात् देह-त्याग के समय स्मरण करता है, वह मनुष्य देह त्यागते ही उसी दिव्य परम पुरुष को प्राप्त होता है, अर्थात् उक्त परम पुरुष से स्वरूप करके अभेद होता है, अथवा उसी परम दिव्य-स्वरूप परमात्मा में जा मिलता है ॥ ९, १० ॥

सम्बन्ध—जिस एक नाम वा पद के उच्चारण से अंत-काल में उस पुरुष का स्मरण हो जाता है, उसको भगवान् अब तीन श्लोकों में संक्षेप से वर्णन करते हैं, पर पहले उसकी स्तुति करते हैं—

यदक्षरं वेदविदो वदन्ति विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः । यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये ॥ ११ ॥*

यत्, अक्षरं, वेद-विदः, वदन्ति	वेद-वेत्ता जिसे अक्षर कहते हैं	यत्, इच्छन्तः, ब्रह्मचर्यं, चरन्ति	जिसे चाहते हुए ब्रह्मचर्य करते हैं
विशन्ति, यत्, यतयः, वीत-रागाः	वीत-राग यति जिसमें प्रवेश करते हैं	तत्, ते, पदं, संग्रहेण, प्रवक्ष्ये	उस पदको तुझे मैं संक्षेप से कहूँगा

अन्वयार्थ—वेदवेत्ता जिसे अक्षर कहते हैं, वीतराग यति जिसमें प्रवेश

---

* इस श्लोक का पूर्वार्ध अर्थतः और उत्तरार्ध शब्दशः कठ उपनिषद् का है (कठ १. २. १५)।

करते हैं, जिसे चाहते हुए (लोग) ब्रह्मचर्य करते हैं, उस पद* को मैं संक्षेप से तुझे कहूँगा ॥ ११ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! जिस पद को वेद के जाननेवाले लोग अपने अनुभव से अक्षर (अविनाशी) कहते हैं; राग-द्वेष से रहित जो यत्नशील लोग हैं, जिस पद में वे प्रवेश करते हैं, और जिस पद के पाने की इच्छा करते हुए लोग ब्रह्मचर्य का आचरण करते हैं, उस पद को मैं संक्षेप से तेरे तईं कहूँगा ॥ ११ ॥

सम्बन्ध—प्रतिज्ञा किये हुए उपाय को भगवान् अब अंगों के सहित कहते हैं—

सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च ।
मूर्ध्न्याधायात्मनःप्राणमास्थितो योगधारणाम् ॥ १२ ॥
ॐ इत्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन् ।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम् ॥ १३ ॥

सर्व, द्वाराणि, संयम्य	सारे द्वारों को रोक कर	ॐ, इति, एक-अक्षरं, ब्रह्म, व्याहरन्	ॐ इस एक अक्षर ब्रह्म का उच्चारण करता हुआ
मनः, हृदि, निरुध्य, च	और मन को हृदय में निरोध कर	मां, अनुस्मरन्=मुझे स्मरण करता हुआ	
मूर्ध्नि, आधाय, आत्मनः, प्राणं	मस्तक में अपने प्राण को ठहराकर	यः, प्रयाति, त्यजन्, देहं	देह त्यागकर जो जाता है
आस्थितः योग-धारणां	योग-धारणा में स्थित	सः, याति, परमां, गतिं	वह परम गति को प्राप्त होता है

* पद का अर्थ प्राप्ति का स्थान या चिह्न या श्लोक का पद होता है । यहाँ

अन्वार्थ—सारे द्वारों को रोककर, मन का हृदय में निरोध करके, अपने प्राण को मस्तक में ठहराकर, योग-धारणा में स्थित, ॐ* इस एक अक्षर ब्रह्म का उच्चारण करता हुआ, और मुझे स्मरण करता हुआ जो (उपासक) देह त्यागकर जाता है, वह परम गति† को प्राप्त होता है ॥ १२, १३ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! जो पहले श्रोत्रादि इन्द्रिय-रूपी द्वारों को अपने-अपने शब्दादि विषयों से रोकता है अर्थात् इन विषयों से विमुख होता है ; फिर मन को सब ओर से हटाकर अपने हृदय-कमल में निरुद्ध करता है, अर्थात् इन्द्रियों के रुकने पर यदि मन न रोका जाय, तो विषयों का चिन्तन बना रहता है, इसलिये बाह्य इन्द्रियों के रुक जाने पर जो फिर अपने मन का हृदय में निरोध करता है ; फिर मूर्धा (ब्रह्म-रन्ध्र वा

अभिप्राय ॐ से है। इससे भगवान् ने ॐ और ब्रह्म में अभेदता बोधन कराई है, और यह भी स्पष्ट किया है कि ॐकार ब्रह्म-प्राप्ति का अचूक साधन है।

* यहाँ भी ॐ अक्षर को ब्रह्म-प्राप्ति का सच्चा साधन स्पष्ट करने के लिये ब्रह्म-नाम से कहा है। जहाँ सच्चे साधन पर ज़ोर देने की आवश्यकता होती है, वहाँ उसे साधन न कहकर साध्य के साथ एक रूप बना देते हैं, जैसे "आयुर्वै घृतम् ।"=जो घी है, वह सचमुच आयु है। इसी प्रकार यहाँ एकाक्षर ब्रह्म कहा है। इस विषय में उपनिषद् ऐसे कहता है—"परं चापरं च ब्रह्म यदोंकारः। तस्माद्विद्वानेतेनैवाऽऽयतनेनैकतरमन्वेति"=यह जो ॐ अक्षर है, वह परब्रह्म और अपरब्रह्म है। इसलिये विद्वान् इसी आलम्बन से दोनों (पर, अपर ब्रह्म) में से एक को पा लेता है। (प्रश्न ५.२)

†"परम गति"=अव्यक्त ब्रह्म (देखो गी० ८. २०-२१)। श्रुति में भी आया है—"एषाऽस्य परमा गतिरेषाऽस्य परमा संपदेशोऽस्य परम आनंदः।"=यह अद्वितीय आनंद-स्वरूप ब्रह्म ही इस विद्वान् पुरुष की परम गति है, यही परम सम्पद् व परम आनंद है।

मस्तक) में अपने प्राण को ले जाता है, अर्थात् इन्द्रिय और मन के रुकने पर जो फिर अपने प्राण को पहले दोनों भ्रुवों के बीच स्थिर करता है और पीछे उससे भी ऊपर मस्तक में स्थापित करता है और इस प्रकार प्राण के स्थिर होने पर फिर योग की धारणा में स्थित हुआ अर्थात् उक्त अभ्यास-योग द्वारा मुझ आत्म-स्वरूप के ध्यान में युक्त हुआ ॐ, यह जो एक अक्षर ब्रह्म है, इस प्रणव का उच्चारण करता है और इससे मुझ सच्चिदानन्द का स्मरण करता है, अर्थात् योग-धारणा में स्थित होने पर इस प्रणव मन्त्र के उच्चारण से जो मेरे परम स्वरूप का स्मरण वा चिन्तन करता है, और इस प्रकार स्मरण करते-करते जो प्यारा फिर देह त्याग कर जाता है अर्थात् शरीर छोड़ता है, वह परम गति को प्राप्त होता है, अर्थात् ऐसे चिन्तन से देह त्यागनेवाले प्यारे का फिर जन्म नहीं होता बल्कि सीधा परम स्वरूप में मिल जाता है, क्योंकि उसके व्यष्टि प्राण समष्टि प्राणों में लीन हो जाते हैं और वह स्वयं ब्रह्म में लीन हुआ ब्रह्म-स्वरूप हो जाता है। अथवा वह ब्रह्म-लोक को प्राप्त होकर वहाँ 'मैं ब्रह्म हूँ' इस प्रकार के तत्त्व-साक्षात्कार से सर्वोपरि उत्कृष्ट ब्रह्म-भाव को प्राप्त होता है ॥ १२, १३ ॥

सम्बन्ध—(१) उक्त आशय को अर्जुन के चित्त में अधिक दृढ़ करने के लिये भगवान् पुनः कहते हैं—

अथवा (२) भगवान् अब उक्त प्रकार की उपासना से मिलनेवाली उत्तम गति का अधिक निरूपण कहते हैं—

अथवा (३) उक्त उपासना से परम गति की सुलभता भगवान् वर्णन करते हैं—

अथवा (४) पर जो योगाभ्यासी न हो और प्राणों को मस्तक में धारण न कर सकता हो, तो क्या ऐसा मनुष्य सफल नहीं हो सकता ? इसके उत्तर में और सुलभ रीति भगवान् अब वर्णन करते हैं—

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः ।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥१४॥

अनन्य-चेताः, सततं, यः, माँ, स्मरति, नित्यशः	अनन्य चित्त से जो लगातार नित्य मेरा स्मरण करता है	तस्य, अहं, सुल-भः, पार्थ, नित्य-युक्तस्य, योगिनः	उस नित्य-युक्त योगी को हे अर्जुन ! मैं सुलभ हूँ

अन्वयार्थ—अनन्य चित्त से जो लगातार नित्य मेरा स्मरण करता है, उस नित्य-युक्त योगी को, हे पार्थ ! मैं सुलभ हूँ ॥ १४ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! मेरे परम स्वरूप से अतिरिक्त अन्य ओर जिसका चित्त नहीं जमता, अर्थात् जिसका चित्त केवल मेरे स्वरूप के ध्यान में ही निरंतर आसक्त वा जुड़ा हुआ है, ऐसा अनन्य चित्त पुरुष, जो प्रतिदिन मेरे स्वरूप का ही निरन्तर चिन्तन व स्मरण करता है, उस ऐसे उक्त अभ्यास में नित्य-युक्त योगी को मैं सुलभ हूँ, अर्थात् और पुरुषों के लिये तो मेरा पाना अति दुर्लभ वा कठिन है परन्तु मेरे स्वरूप के चिन्तन में नित्य-युक्त रहनेवाले योगियों के लिये मेरा पाना सुलभ वा सहज है। अथवा पूर्व-कथित योग-धारणा से यदि मेरा पाना दुर्लभ भी हो जाय, तो इस अनन्य चित्त से निरन्तर स्मरण करते रहने की विधि से मेरा पाना अति सुलभ वा सहज है ॥ १४ ॥

सम्बन्ध—उक्त रीति से मुझे प्राप्त होकर उपासक को जो फल या लाभ मिलता है, उसे भगवान् अब कहते हैं—

मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम् ।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः ॥१५॥

मां, उपेत्य, पुनः, जन्म, दुःख-आ-लयं, अ-शाश्वतं	मुझे प्राप्त होकर दुःखों के घर-रूप अशाश्वत पुनर् जन्म को	न, आप्नुवन्ति, महात्मानः, संसिद्धिं, परमां, गताः	परम सिद्धि को पाये हुए महात्मा-जन नहीं प्राप्त होते हैं

अन्वयार्थ—मुझे प्राप्त होकर परम सिद्धि को पाये हुए महात्मा लोग दुःखों के घर-रूप अशाश्वत पुनर्जन्म को नहीं प्राप्त होते हैं ॥ १५ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! मुझको प्राप्त होकर, अर्थात् मेरे परम स्वरूप में मिल जाने पर, अथवा मुझ अक्षर-ब्रह्म से अभेद होने पर जो उपासक (भक्तजन) परम गति को प्राप्त हो गये हैं, ऐसे परम गति (सिद्धि) को प्राप्त हुए महात्मा फिर उस पुनर्जन्म को कदापि नहीं पाते हैं, जो सदा दुःखों का घर अर्थात् दुःखों की खानि और अनित्य है ॥ १५ ॥*

सम्बन्ध—(१) जो मेरे स्वरूप से इतर देवताओं के उपासक हैं और उस उपासना से देवताओं को प्राप्त होते हैं, तो ऐसे देवताओं के लोकों को प्राप्त होनेवाले उपासकों का पुनर्जन्म होता है या नहीं, इसे भगवान् अब दर्शाने लगे हैं—

अथवा (२) मेरे परम स्वरूप की प्राप्ति से इतर जो अन्य लोकों की प्राप्ति है, उसका फल वा परिणाम भगवान् अब वर्णन करते हैं—

---

* श्रीमद्भागवत में यह विषय इस प्रकार आया है—

मयि निर्बद्धहृदयाः साधवः समदर्शनाः ।
वशे कुर्वन्ति मां भक्त्या सत्स्त्रियः सत्पतिं यथा ॥

जिस प्रकार पतिभक्ति-परायणा पतिव्रता स्त्री प्रेम के बल से पति को वश

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः* पुनरावर्तिनोऽर्जुन ।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते ॥१६॥

आ-ब्रह्म-भुव-नात्, लोकाः	ब्रह्म-लोक तक सारे लोक	माम्, उपेत्य, तु, कौन्तेय	पर मुझको प्राप्त होकर हे अर्जुन !
पुनर्-आवर्तिनः, अर्जुन	हे अर्जुन ! पुन-रावृत्ति वाले हैं	पुनः, जन्म, न, विद्यते	फिर जन्म नहीं होता है

कर लेती है, उसी प्रकार समदर्शी साधु लोग मुझ भगवान् में पूर्ण-युक्त हृदय से भक्ति के बल से मुझे वशीभूत कर लेते हैं।

* "आ-ब्रह्मभुवनाल्लोकाः=ब्रह्मलोक तक सारे लोक।" 'आ'=तक, शब्द दो अर्थों में बोला जाता है, 'सहित' अर्थ में जैसे बच्चों तक मृत्यु का भय है, अर्थात् बच्चे भी मृत्यु से डरते हैं, वा "आकुमारं यशः पाणिनेः"=बच्चों तक पाणिनि का यश है; और 'रहित' अर्थ में जैसे "आपर्वतं वृष्टो देवः"=पर्वत तक वृष्टि हुई, वा समुद्र तक हम गये, अर्थात् समुद्र के भीतर नहीं गये, बल्कि किनारे तक गये। अब विचारना यह है कि यहाँ "ब्रह्मलोक तक" से अभिप्राय क्या है। इस वाक्य से भगवान् का आशय ब्रह्मलोक-समेत सारे लोकों की पुनरावृत्ति है या ब्रह्मलोक से इतर अन्य सब लोकों की पुनरावृत्ति है। बहुत व्याख्याकारों ने 'तक' को 'सहित' अर्थ में ही लिया है कि ब्रह्मलोक-समेत सारे लोक पुनरावृत्तिवाले हैं, जैसे—"ब्रह्मलोक-सहित जितने लोक हैं, वे पुनरावृत्तिवाले हैं" (श्रीशङ्कराचार्य); यही अर्थ श्रीधर स्वामी, मधुसूदन पंडित, श्रीआनंदगिरि, श्रीचिद्घनानन्द, श्रीज्ञानदेव, श्रीतिलक महाराज और अन्य कई एक भाष्यकारों ने किये हैं। या यों कहिए कि दो-एक द्वैतवादी टीकाकार वा आर्यसमाज के एक-दो पण्डितों से अतिरिक्त अन्य सब टीकाकारों ने 'तक' का अर्थ 'सहित' ही किया है। हमारे ख़्याल में यदि गहरी दृष्टि से विचारा जाय, तो दोनों

अन्वयार्थ—हे अर्जुन ! ब्रह्मलोक तक सारे लोक पुनरावृत्तिवाले हैं, परन्तु मुझे प्राप्त होकर, हे अर्जुन ! फिर जन्म नहीं होता है ॥ १६ ॥

अर्थ (रहित, सहित) अपने-अपने स्थान पर ठीक बैठ सकते हैं, एक-दूसरे के परस्पर-विरोधी नहीं हो सकते । उपनिषदों और ब्रह्मसूत्रों में ब्रह्मलोक से पुनरावृत्ति नहीं मानी गई, बल्कि विशेषतः कल्पपर्यन्त अनावृत्ति ही स्पष्ट कथन की गई है । जैसे—

"स एतान् ब्रह्म गमयत्येष देवपथो ब्रह्मपथः ।
एतेन प्रतिपद्यमाना इमं मानवमावर्तं नावर्तन्ते ॥"

वह इनको ब्रह्म को पहुँचाता है, यह देव-पथ है, ब्रह्म-पथ है, वे जो इस मार्ग से जाते हैं, इस मानुषी जीवन को वापस नहीं आते, हाँ, वापस नहीं आते हैं । (छां० ४.१५.६) । "ब्रह्मलोकमभिसम्पद्यते, न च पुनरावर्तते, न च पुनरावर्तते ।"=वह ब्रह्मलोक को प्राप्त होता है और फिर वापस नहीं आता है, हाँ, फिर वापस नहीं आता है । (छां० ८. १५. १) । "ते तेषु ब्रह्मलोकेषु परः परावतो वसन्ति, तेषां न पुनरावृत्तिः ।"=वे उन ब्रह्मलोकों में तेजस्वी बनकर लम्बे वर्षों के लिये बसते हैं, उनकी पुनरावृत्ति नहीं होती । (बृह० ६. २. १५) । "अनावृत्तिशब्दादनावृत्तिशब्दात् ।"=अनावृत्ति शब्द से जो कहा गया है, वह क्रम मुक्तिवाले उपासकों के लिये कहा गया है । (ब्रह्मसू० ४. ४. २२) । परन्तु यह अनावृत्ति जो उपनिषदों और ब्रह्मसूत्रों में वर्णित है, इससे अभिप्राय उनका न तो "कैवल्य मुक्ति" है, जो तत्त्वसाक्षात्कार से प्राप्त होती है और न ब्रह्मलोक को प्राप्त होनेवाले सर्व प्रकार के मनुष्यों की ही वास्तव में अनावृत्ति है, किन्तु कल्पपर्यन्त अनावृत्ति है ; अथवा यों कहें कि सगुण ब्रह्म के उपासक, जो ब्राह्मलोक-मार्ग से गुज़रते हुए ब्रह्म में लीन होते हैं, उनकी पूर्णतः अनावृत्ति है । और पञ्चाग्नि द्वारा ब्रह्मलोक को प्राप्त होनेवालों की केवल कल्पपर्यन्त अनावृत्ति है । उपनिषदों में मुक्ति वा अनावृत्ति दो प्रकार से मानी गई है, एक तो कैवल्य मुक्ति जो तत्त्वसाक्षात्कार

व्याख्या—हे अर्जुन! ब्रह्मलोक तक जितने भी लोक हैं, अर्थात् ब्रह्मलोक से लेकर जितने भी विष्णु, रुद्रादिक लोक हैं, वे सब-के-सब पुनरावृत्तिवाले हैं, अर्थात् उन लोकों को प्राप्त होकर मनुष्य अपने भोगों के समाप्त होने पर वहाँ से पुनः लौटते हैं और लौटकर यहाँ इस कर्मभूमि में पुनः जन्म लेते हैं। परन्तु मुझ अविनाशी-स्वरूप को प्राप्त होनेवाला अनन्य भक्त (उपासक), हे कुन्ती-पुत्र अर्जुन! कदापि पुनर्जन्म को प्राप्त नहीं होता, बल्कि मुक्ति पाता है, अर्थात् मेरे अनन्य भक्त तो मुझे सीधा प्राप्त होते ही हैं। अथवा दूसरी रीति से यों भी हो सकता है कि मुझको प्राप्त होनेवाले उपासक यदि किसी कारण से ब्रह्मलोक में भी

से प्राप्त होती है और दूसरी सविकल्प मुक्ति अर्थात् ब्रह्मा के कल्पपर्यन्त मुक्ति। कैवल्य मुक्ति जो तत्वसाक्षात्कार के बाद प्राप्त होती है, वह ब्रह्मलोक जाये बिना सीधा इस लोक में भी मिलती है और ब्रह्मलोक के द्वारा भी मिलती है। सविकल्प मुक्ति तो केवल ब्रह्मलोक में पहुँचने पर प्राप्त होती है और कल्पांत तक रहती है, अर्थात् कल्पपर्यन्त अनावृत्ति रहती है और दूसरे कल्प में पुनरावृत्ति हो जाती है। इस लोक में जो कैवल्य मुक्ति तत्त्वज्ञान के श्रवण, मनन और निदिध्यासन द्वारा आत्मसाक्षात्कार पर होती है, उससे मनुष्य देह त्यागते ही सीधा ब्रह्म में लीन हो जाता है, उसे किसी लोक-लोकान्तर में नहीं जाना पड़ता। ऐसे तत्त्ववेत्ता के विषय में ही श्रुति ऐसा कहती है—"न तस्य प्राणा उत्क्रामन्त्यत्रैव समवलीयन्ते।"=उसके प्राण बाहर उत्क्रमण नहीं करते, किन्तु यहाँ ही लय-भाव को प्राप्त होते हैं। "न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति।"=उसके प्राण नहीं उठते अर्थात् बाहर निकलकर दूसरी देह को धारण करने नहीं जाते, बल्कि यहीं ब्रह्माण्ड में लीन हो जाते हैं, और वह स्वयं ब्रह्म ही हुआ ब्रह्म को पहुँचता है अर्थात् ब्रह्म-स्वरूप हो जाता है। (बृह० ४. ४. ६)। और इसी के लिये श्रुति ने कहा है कि "ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति।"=ब्रह्म जाननेवाला ब्रह्म ही होता है। और जो कैवल्य मुक्ति

चले जायँ, तो वे वहाँ से भी गुज़रकर मेरे परम स्वरूप में ही जा मिलते हैं, ब्रह्मलोक से वापस नहीं लौटते, क्योंकि वे पञ्चाग्नि-रूप कर्म से ब्रह्मलोक को प्राप्त नहीं हुए होते, बल्कि मेरे सगुण रूप की अनन्य उपासना से उस मार्ग से केवल गुज़रते हैं और मुझ तक पहुँचते हैं ॥ १६ ॥

सम्बन्ध—(१) ब्रह्मलोक तक पुनरावृत्ति स्पष्ट दर्शाने के लिये भगवान् अब ब्रह्मा की रात्रि-दिन का परिमाण और समस्त सृष्टि की उत्पत्ति और लय का समय आगे श्लोक २१ तक वर्णन करते हैं—

अथवा (२) ब्रह्मलोक की प्राप्ति भी अनित्य है, उसके समर्थन में भगवान् समस्त सृष्टि की उत्पत्ति और लय की विधि वर्णन करते हैं—

अथवा (३) ब्रह्मलोक-सहित सारे लोक काल से परिच्छिन्न होने से अनित्य अतएव पुनरावृत्तिवाले हैं, इस अर्थ को भगवान् अब स्पष्ट करते हैं—

अथवा (४) पुनरावृत्तिवाले लोकों में सृष्टि की उत्पत्ति और प्रलय का समय भगवान् स्पष्ट करते हैं—

ब्रह्मलोक में पहुँचकर साक्षात् ब्रह्मा के उपदेश द्वारा तत्त्वसाक्षात्कार होने पर मिलती है, वह कल्प के अन्त होने पर प्रथम कार्य-ब्रह्म में लीन होने से फिर परब्रह्म में लीन होने से होती है; अर्थात् सगुण ब्रह्म (या कार्य-ब्रह्म) का उपासक अपनी उपासना के बल से जब ब्रह्मलोक में जाता है, तो वहाँ सारूप्य, सालोक्य, सामीप्य और सायुज्य-भेद से चार प्रकार की अवस्था भोगता है, फिर स्वयं ब्रह्मा से तत्त्वज्ञान पाकर आत्मसाक्षात्कार करता है, और प्रलय-काल में कार्य-ब्रह्म में लीन होकर फिर परब्रह्म में लीन होता है, और यह पिछली लीनता कैवल्य मुक्ति है। इसलिये ब्रह्मलोक प्रायः अनावृत्तिवाला माना जाता है। पर इस ब्रह्मलोक की प्राप्ति भी दो मार्गों से होती है। एक सगुण ब्रह्म की उपासना द्वारा और दूसरी पञ्चाग्नि-विद्या द्वारा। जो सगुण ब्रह्म के उपासक वेदों में विधान किये हुए यज्ञों द्वारा उपासना करते

सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद्ब्रह्मणो विदुः ।
रात्रिं युगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः ॥१७॥

हैं, वे मरकर देवयान-मार्ग से ब्रह्मलोक को प्राप्त होते हैं, जहाँ जन्म लेते ही वे सत्यकाम और सत्यसङ्कल्प होते, स्वयं ब्रह्मा से उपदेश लेकर तत्त्वसाक्षात्कार करते हैं और प्रलय-काल में वे पहले कार्य-ब्रह्म में फिर परब्रह्म में लीन होते कैवल्य मुक्ति पाते हैं। और जो लोग कामनाओं से युक्त हुए पञ्चाग्नि-विद्या द्वारा ब्रह्मलोक को प्राप्त होते हैं, वे कल्पपर्यन्त तो नहीं लौटते पर प्रलय-काल के बाद कल्प के आरम्भ में पुनः मनुष्यलोक को आते हैं और सगुण ब्रह्म के उपासकवत् मुक्ति को प्राप्त नहीं होते हैं, जिससे ब्रह्मलोक वास्तव में पुनरावृत्तिवाला और कल्पपर्यन्त अनावृत्तिवाला माना जाता है। हाँ, अन्य लोकों से ब्रह्मलोक का भेद केवल इतना है कि (१) अन्य लोक तो केवल कर्मफल भोगने के ही लोक हैं, ब्रह्मलोकवत् मुक्ति का द्वार नहीं हैं, और (२) ब्रह्मलोक से कल्पपर्यन्त पुनरावृत्ति नहीं होती, परन्तु अन्य लोकों से एक कल्प में कई बार पुनरावृत्ति हो सकती है। इस प्रकार कल्प या काल की अपेक्षा से ही एक (ब्रह्मलोक) को अनावृत्तिवाला और बाक़ी सब लोकों को पुनरावृत्तिवाला उपनिषदों में कहा गया है, वास्तव में ये सब लोक पुनरावृत्तिवाले हैं, क्योंकि 'जाना-आना'-रूप व्यवहार सगुण ब्रह्म में ही होता है, परब्रह्म में कदापि नहीं, इसलिये कार्य-ब्रह्म-रूप ब्रह्मलोक भी जाने-आने से ख़ाली नहीं। यही आशय भगवान् का यहाँ है, क्योंकि सिद्धान्त-रूप से वा वस्तुतः ब्रह्मलोक को भगवान् यदि अनावृत्तिवाला मानते होते, तो इसी श्लोक में फिर ऐसा स्पष्ट न करते कि "परन्तु मुझे प्राप्त होकर कोई पुनः जन्म को प्राप्त नहीं होता।" और न अगले श्लोक १७ में ब्रह्मलोक की उत्पत्ति और नाश अथवा ब्रह्मलोक-सहित समस्त सृष्टि की उत्पत्ति और लय स्पष्टतः दर्शाते। इसलिये स्वतः स्पष्ट यही है कि परब्रह्म की प्राप्ति ही को भगवान्

सहस्र, युग, पर्यन्तं, अहः	हज़ार युगों तक दिन		रात्रिं, युग, सहस्र-अन्तां	हज़ार युगों तक रात्रि
यत्, ब्रह्मणः विदुः	जो ब्रह्मा का जानते हैं		ते, अहः-रात्रि-विदः, जनाः	वे दिन-रात के जाननेवाले जन हैं

अन्वयार्थ—हज़ार युग* तक ब्रह्मा का दिन और हज़ार युग तक (ब्रह्मा की) रात्रि जो जानते हैं, वे जन दिन-रात्रि के जाननेवाले हैं ॥ १७ ॥

वास्तव में अनावृत्तिवाला मानते हैं, और अन्य सब लोकों को पुनरावृत्तिवाला मानते हैं, अथवा इनमें से ब्रह्मलोक को वस्तुतः पुनरावृत्तिवाला और काल या कल्प की अपेक्षा से अनावृत्तिवाला मानते हैं।

इस सोलहवें श्लोक पर श्रीतिलक महाराज ने अपना विचार ऐसे प्रकट किया है—"पुनरावर्तन-शब्द का अर्थ पुण्य चुक जाने पर भूलोक में लौट आना है (देखो गी० ६. २१; म० भा० वन २६०)। यज्ञ, देवताराधन और वेदाध्ययन प्रभृति कर्मों से यद्यपि इन्द्रलोक, वरुणलोक, सूर्यलोक और बहुत हुआ तो ब्रह्मलोक प्राप्त हो जावे, तथापि पुण्यांश के समाप्त होते ही वहाँ से फिर इस लोक में जन्म लेना पड़ता है (बृ० ४. ४. ६), अथवा अन्ततः ब्रह्मलोक का नाश हो जाने पर पुनर्जन्म-चक्र में तो ज़रूर ही गिरना पड़ता है। अतएव उक्त श्लोक का भावार्थ यह है कि ऊपर लिखी हुई सब गतियाँ कम दर्जे की हैं और परमेश्वर के ज्ञान से ही पुनर्जन्म नष्ट होता है, इस कारण वही गति सर्वश्रेष्ठ है (गी० ६. २०-२१)। अन्त में जो यह कहा है कि ब्रह्मलोक की प्राप्ति भी अनित्य है, उसके समर्थन में आगे बतलाते हैं कि ब्रह्मलोक तक समस्त सृष्टि की उत्पत्ति और लय वारंवार कैसे होता रहता है।"

*'युग' से यहाँ अभिप्राय दिव्य युग है, और चारों युगों को मिला देने से एक दिव्य युग होता है। दिव्य युग, महायुग या चतुर्युगी से अभिप्राय एक ही है। हमारा एक वर्ष दिव्य युग का दिन-रात होता है, अर्थात् उत्तरायण के छः

व्याख्या—हे अर्जुन ! हज़ार युग तक ब्रह्मा का दिन होता है और हज़ार युग तक ब्रह्मा की रात्रि, अर्थात् सत्ययुग=१७,२८,००० वर्ष, त्रेतायुग=१२,९६,००० वर्ष, द्वापरयुग=८,६४,००० वर्ष और कलियुग= ४,३२,००० वर्ष का होता है, ये चारों युग जब एक हज़ार बार व्यतीत

मास देवताओं का दिन है और दक्षिणायन के छ मास देवताओं की रात है। इस प्रकार के ३० दिन-रात, अर्थात् हमारे ३० वर्ष से एक दिव्य मास होता है। और ऐसे १२ मास, अर्थात् हमारे ३६० वर्ष से एक दिव्य वर्ष होता है। ऐसे १२००० दिव्य वर्षों का एक दिव्य युग होता है। ऐसे हज़ार दिव्य युग का ब्राह्म दिन और इतने की ही ब्राह्म रात्रि होती है। इसकी संख्या पृथक्-पृथक् इस प्रकार है—हमारे ४,३२,००० वर्षों का कलियुग ; कलियुग से द्विगुणा अर्थात् ८,६४,००० वर्षों का द्वापर ; कलियुग से तिगुणा अर्थात् १२,९६,००० वर्षों का त्रेता; और कलि से चौगुणा अर्थात् १७,२८,००० वर्ष का सत्ययुग होता है। इन चारों के जोड़ अर्थात् ४३,२०,००० वर्षों की एक चतुर्युगी है। यदि दिव्य वर्षों के हिसाब से गिना जाय, तो १२०० दिव्य वर्षों का कलि, २४०० दिव्य वर्षों का द्वापर, ३६०० दिव्य वर्षों का त्रेता, और ४८०० दिव्य वर्षों का सत्ययुग है। इन चारों का जोड़ १२००० वर्षों का एक दिव्य युग है। ऐसे एक हज़ार दिव्य युग (चतुर्युगी) का ब्राह्म दिन और एक हज़ार चतुर्युगी की ब्राह्म रात्रि होती है। अर्थात् ४३,२०,०००×१०००=४,३२,००,००,००० (अर्थात् चार अरब बत्तीस करोड़) वर्ष का ब्राह्म दिन है और इतने ही वर्ष की ब्राह्म रात्रि है। इस प्रकार हमारे ८,६४,००,००,००० वर्षों का ब्राह्म दिन-रात होता है। ब्राह्म दिन को कल्प और ब्राह्म रात्रि को प्रलय कहते हैं। और ऐसे ३० दिन-रात का (अर्थात् हमारे २,५९,२०,००,००,००० वर्षों का) ब्राह्म मास होता है और १२ मास (अर्थात् ३१,१०,४०,००,००,००० वर्षों) का एक ब्राह्म वर्ष है। ऐसे १०० वर्ष (अर्थात् हमारे ३१,१०,४०,००,००,००,००० वर्ष) पूरे होने पर ब्रह्माजी प्रयाण करते हैं, क्योंकि ब्रह्माजी की आयु १०० वर्ष की है।

होते हैं, तब ब्रह्मा का एक दिन होता है, और इसी प्रकार जब पुनः एक हज़ार बार व्यतीत होते हैं, तो ब्रह्मा की रात्रि होती है। ऐसा परिमाण जो ब्रह्मा के दिन-रात का जानते हैं, वे लोग ही वास्तव में (ब्रह्मा के) दिन-रात के तत्त्व को जाननेवाले कहलाते हैं, अन्य नहीं ॥ १७ ॥

सम्बन्ध—(१) ब्रह्मा के दिन और रात्रि में जो होता है, उसे भगवान् अब दो श्लोकों में स्पष्ट करते हैं—

अथवा (२) ब्राह्म दिन-भर सम्पूर्ण सृष्टि की स्थिति और ब्राह्म रात्रि-भर सृष्टि का प्रलय होता है, इसे भगवान् अब दर्शाने लगे हैं—

अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे ।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके ॥ १८ ॥

अव्यक्तात्*, व्यक्तयः, सर्वाः, प्रभवन्ति, अहः-आगमे	दिन के आने पर सब व्यक्तियाँ अव्यक्त से प्रकट होती हैं	रात्रि-आगमे, प्रलीयन्ते, तत्र, एव, अव्यक्त, संज्ञके	रात्रि आने पर उसी ही अव्यक्त नामवाले में लीन होती हैं

जिस समय ब्रह्माजी प्रयाण करते हैं। उसी समय सब लोक सावयव नाश हो जाते हैं, और इसी को महाप्रलय कहते हैं। इस तरह सब लोकों के समय की सीमा बँधी हुई है, जिससे ये वास्तव में नाशवान् कहलाते हैं, और इसीलिये वे वास्तव में पुनरावृत्तिवाले होते हैं। ब्राह्म काल के इस सब तत्त्व और हिसाब का श्लोक महाभारत (शां० २३१. ३१) और मनुस्मृति (१. ७३) में भी वर्णित है।

* यहाँ 'अव्यक्त' से तात्पर्य सांख्य-शास्त्र की प्रकृति, वा वेदान्त-शास्त्र का अव्याकृत अथवा परब्रह्म नहीं किन्तु स्थूल सृष्टि की अव्यक्त-अवस्था या ब्रह्माजी की वह निद्रावस्था है जिसमें यह स्थूल सृष्टि ब्राह्म रात्रि आने पर लय होती है। क्योंकि सृष्टि की इस लय-अवस्था से यहाँ अवान्तर प्रलय अभिप्राय

अन्वयार्थ—(ब्रह्मा के) दिन के आने पर सारी व्यक्तियाँ अव्यक्त से प्रकट होती हैं, और रात्रि के आने पर उसी अव्यक्त नामवाले में लीन होती हैं ॥ १८ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! ब्रह्माजी का दिन आरम्भ होते ही, अर्थात् ब्रह्माजी के जागने पर, सारी व्यक्तियाँ (सर्व स्थावर-जङ्गम मूर्तिमान् पदार्थ) अव्यक्त वा अमूर्त अर्थात् ब्रह्माजी की सुषुप्ति-अवस्था से प्रकट हो आती हैं और ब्रह्माजी की रात्रि आने पर, अर्थात् ब्रह्माजी के सोने पर, वे सब मूर्तिमान् पदार्थ उसी अव्यक्त नामवाले (ब्रह्माजी की सुषुप्ति-अवस्था) में लीन हो जाते हैं। इस प्रकार ब्रह्माजी के जागने पर सृष्टि की उत्पत्ति और उसके सोने पर सृष्टि का लय होता है ॥ १८ ॥

सम्बन्ध—(१) अवान्तर प्रलय में लोकों की उत्पत्ति और लय का पुनः पुनः होना भगवान् अब स्पष्ट करते हैं—

अथवा (२) यह संसार यद्यपि शीघ्र ही विनाश को प्राप्त होता है तथापि इसकी निवृत्ति नहीं होती, क्योंकि अविद्या, काम, कर्म, इन तीनों से परतन्त्र हुआ यह संसार पुनः-पुनः प्रादुर्भाव को वा तिरोभाव को प्राप्त होता है, इस आशय को भगवान् अब स्पष्ट करते हैं—

भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते ।
रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे ॥१९॥

है, महाप्रलय नहीं। क्योंकि महाप्रलय जो ब्रह्माजी के प्रयाण-काल पर अव्याकृत वा प्रकृति में लीन होने से होती है, उसमें सृष्टि सूक्ष्म-रूप से बनी नहीं रहती ; अवान्तर प्रलय जो ब्रह्मा की रात्रि के कारण होती है, उसमें सृष्टि सूक्ष्म-रूप से ब्रह्माजी की निद्रावस्था में बनी रहती है।

भूत-ग्रामः, सः, एव, अयं, भूत्वा-भूत्वा, प्रलीयते	वह ही यह भूतों का समूह हो-होकर लीन होता है	रात्रि-आगमे, अवशः, पार्थ	रात्रि के आने पर अवश्य, हे अर्जुन !
		प्रभवति, अहः-आगमे	दिन के आने पर प्रकट होता है

अन्वयार्थ—हे अर्जुन ! वह ही यह भूतों का समूह हो-होकर रात्रि के आने पर अवश्य लीन और दिन के आने पर प्रकट होता है ॥ १९ ॥

व्याख्या—इस प्रकार, हे अर्जुन ! यह सब स्थावर-जङ्गम भूतों का समुदाय जो पूर्व-कल्प में स्थित था और ब्राह्म रात्रि के आने पर लीन हो गया था, वह ही पुनः उत्तर-उत्तर कल्पों में प्रादुर्भाव को प्राप्त होकर अविद्या, काम (इच्छा वा सङ्कल्प) और कर्म से विवश हुआ ब्रह्माजी की रात्रि के आने पर (अव्यक्त अर्थात् ब्रह्माजी की निद्रावस्था में) लीन हो जाता है, और ब्रह्माजी के दिन के आने पर (उस अव्यक्त वा निद्रावस्था से) पुनः प्रकट हो आता है ; अर्थात् प्रत्येक कल्प में कोई नवीन संसार नहीं उत्पन्न हो आता, बल्कि वही* संसार जो पूर्व-कल्प में था और अविद्या, काम तथा कर्म के वश हुआ लय को प्राप्त हो गया था, वही उक्त कारणों से विवश होकर अर्थात् अपनी इच्छा न होते हुए भी ब्रह्माजी के दिन के समय पुनः प्रकट हो आता है, और ब्रह्माजी की रात्रि के समय लीन हो जाता है, अर्थात् जब तक महाप्रलय नहीं होती, तब तक यह क्रम जारी ही रहता है ॥ १९ ॥

---

* इस पर श्रुति ऐसे कहती है—"विश्वस्य मिषतो वशी सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथा पूर्वमकल्पयत् । दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथोस्वरिति ॥"=विश्व को रचने की शक्तिवाले ब्रह्माजी ने यह सूर्य, चन्द्रमा, पृथिवी, अन्तरिक्ष, स्वर्ग, इससे आदि लेकर यह सब जगत् जिस-जिस प्रकार का पूर्व-पूर्व कल्प में था, उसी-उसी प्रकार का इसे उत्तर-उत्तर काल में रचा । इति ।

सम्बन्ध—(१) इस प्रकार व्यक्त-अव्यक्त का वर्णन करके इस उक्त अव्यक्त से भी परे एक अन्य अव्यक्त (अक्षर ब्रह्म) की विद्यमानता भगवान् अब दर्शाते हैं—

अथवा (२) श्लोक १६ के प्रथम पाद "आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन" का अर्थ तो भगवान् ने तीन श्लोकों में विस्तारपूर्वक स्पष्ट किया, अब उसके दूसरे पाद "मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते" का अर्थ भगवान् दो श्लोकों में सविस्तर स्पष्ट करने लगे हैं—

अथवा (३) पुण्य-कर्मों से यदि नित्य ब्रह्मलोक-वास प्राप्त भी हो जाय, तो भी प्रलय-काल में, ब्रह्मलोक का नाश हो जाने से फिर नये कल्प के आरम्भ में प्राणियों का जन्म लेना नहीं छूटता, इससे बचने के लिये जो एक ही मार्ग है, उसे भगवान् अब और स्पष्ट करते हैं—

अथवा (४) सावयव लोकों को अनित्य कहकर अब शुद्ध सच्चिदानन्द-स्वरूप को भगवान् परात्पर नित्य और अविनाशी प्रतिपादन करने लगे हैं—

अथवा (५) अब इस नश्वर-भाव से विलक्षण नित्य-भाव का वर्णन भगवान् करने लगे हैं—

अथवा (६) अब भगवान् अपने स्वरूप का वर्णन करते हुए कहते हैं—

परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः ।
यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति ॥ २० ॥

परः, तस्मात्, तु, भावः, अन्यः, अव्यक्तः, अव्यक्तात्, सनातनः	परन्तु इस अव्यक्त से परे अन्य सनातन अव्यक्त भाव	यः, सः, सर्वेषु, भूतेषु, नश्यत्सु, न, विनश्यति	जो है वह सब भूतों के नाश होने पर नहीं नाश होता है

अन्वयार्थ—परन्तु इस अव्यक्त* से परे जो अन्य सनातन अव्यक्त-भाव† है, वह सब भूतों के नाश होने पर नाश नहीं होता है ॥ २० ॥

---

* "इस अव्यक्त" से अभिप्राय श्लोक १८ का सापेक्षक अव्यक्त है, जो व्यक्त के मुक़ाबले में यहाँ आया है ; अर्थात् इस संसार की दो अवस्थाएँ हैं, एक व्यक्त और दूसरी अव्यक्त। जब ब्रह्माजी के दिन के आने पर पदार्थ मूर्तिमान् होते हैं, तो उसे व्यक्त और जब ब्रह्माजी की रात्रि के आने पर पदार्थ ब्राह्म निद्रा में लीन होते हैं, तो उसे अव्यक्त कहते हैं ; या यों कहिए कि पाञ्चभौतिक पदार्थों के स्थूल-रूप का नाम व्यक्त और पाञ्चभौतिक पदार्थों के ही सूक्ष्म-रूप का नाम अव्यक्त है। इस प्रकार यह अव्यक्त पाञ्चभौतिक और सापेक्षक है, और परस्पर एक-दूसरे के आश्रित है, स्वतन्त्र नहीं ; अतएव नाशवान् है।

† "यह अन्य अव्यक्त" से अभिप्राय वह निरपेक्षक अव्यक्त है, जो पाञ्चभौतिक पदार्थ नहीं, बल्कि इन सबका आधार, भाव या स्वतन्त्र-स्वरूप है, अतएव अविनाशी (अक्षर) और सनातन है ; इसे परब्रह्म, पुरुषोत्तम या परमात्मा इत्यादि नामों से कहा जाता है। अध्याय के आरम्भ में जो भगवान् ने "अक्षरं ब्रह्म परमं" कहा है, उससे अभिप्राय यही अक्षर अव्यक्त है, जो सबसे परे या सनातन है। श्रीरामानुज के अनुसार यह 'अव्यक्त' जीवात्मा का निज स्वरूप है, जो मुक्ति में होता है। यह ध्यान रहे कि 'अव्यक्त' शब्द के समान 'अक्षर' शब्द का भी गीता में दो प्रकार से उपयोग किया गया है। पन्द्रहवें अध्याय में पुरुषोत्तम के लक्षण बताते हुए जो यह वर्णन है कि वह क्षर और अक्षर से परे का है, उससे स्पष्ट है कि वहाँ का अक्षर सांख्यों की प्रकृति वा अव्याकृत के लिये उद्दिष्ट है (देखो गीता १५.१६-१८)। इस प्रकार 'अव्यक्त' और 'अक्षर' दोनों विशेषणों का प्रयोग गीता में कभी सांख्यों की प्रकृति, अव्याकृत या माया के लिये और कभी इस प्रकृति इत्यादि से परे परब्रह्म के लिये किया गया है। परन्तु यहाँ 'अक्षर' और अन्य 'अव्यक्त' केवल परब्रह्म के लिये ही वर्तें गये हैं।

व्याख्या—परन्तु हे अर्जुन ! ऊपर जो श्लोक १८ में व्यक्त के मुक़ाबले में अव्यक्त कहा है, या ब्रह्माजी की निद्रा-रूप अवस्था का नाम जो अव्यक्त कहा है, अथवा स्थूल सृष्टि की अव्यक्त अवस्था जिसमें कि वह स्थूल सृष्टि ब्राह्म रात्रि के आने पर लीन होती है, उस अवस्था का नाम जो अव्यक्त कहा है, अथवा ब्रह्माजी के प्रयाण-काल में जिस अव्याकृत में ये सब पदार्थ नाश वा लीन हो जाते हैं, इस अभिप्राय से जो पूर्व अव्याकृत वा प्रकृति-रूप अव्यक्त कहा है, अथवा पूर्व जो चराचर स्थूल प्रपञ्च का कारणभूत हिरण्यगर्भ नाम का (वास्तव में नाशवान्) अव्यक्त वर्णन हुआ है, उस अव्यक्त से परे एक और (वास्तव में अविनाशी) अव्यक्त पदार्थ है, जो किसी अंश में भी ऊपर कहे हुए अव्यक्त के समान नहीं, अर्थात् जो अत्यन्त विलक्षण है, जिसके विषय में श्रुति कहती है "न तस्य प्रतिमास्ति"=उसकी कोई प्रतिमा वा सादृश्यता नहीं है (यजु० ३१. ३)। जो इन्द्रियों से जाना नहीं जा सकता, अर्थात् जो इन्द्रिय-गोचर नहीं, बल्कि जो सनातन (अनादि और अनन्त) है, और स्थूल-सूक्ष्म तथा व्यक्त-अव्यक्त-रूप सब पदार्थों के नाश होने पर भी आप नाश नहीं होता है, और न पदार्थों के उत्पन्न होने पर उत्पन्न होता है ॥ २० ॥ ❀

❀ श्रीज्ञानदेवजी ने अपने विचित्र ढङ्ग से इस श्लोक पर इस प्रकार व्याख्या की है—

"जैसे दूध दही हो जाय, तो उसका नाम-रूप नहीं रहता, वैसे ही आकार के नाश के सङ्ग जग के जगत्व का भी नाश हो जाता है ; परन्तु जहाँ से उत्पन्न हुआ था, वहाँ वह ज्यों-का-त्यों बना रहता है । अतः उसे स्वभावतः अव्यक्त कहते हैं । और जब वह आकार को प्राप्त होता है, तब उसी को व्यक्त कहते हैं । ये नाम तो एक-दूसरे के सूचक हैं, वास्तव में हैं दोनों ही नहीं । जब चाँदी गलाई जाती है, तब उसके आकार

सम्बन्ध—इसी अव्यक्त अक्षर को भगवान् अब परम गति वा निज धाम दर्शाते हैं—

अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम् ।
यं प्राप्य न निवर्त्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥ २१ ॥

अव्यक्तः, अक्षरः, इति, उक्तः	अव्यक्त अक्षर है, ऐसा कहा गया	यं, प्राप्य, न, निवर्त्तन्ते	जिसको प्राप्त होकर नहीं वापस लौटते हैं
तं, आहुः, परमां, गतिं	उसको परम गति कहते हैं	तत्, धाम, परमं, मम	वह मेरा परम धाम है

अन्वयार्थ—अव्यक्त अक्षर है, ऐसा जो कहा गया है, उसको परम गति कहते हैं, जिसको प्राप्त होकर फिर नहीं लौटते हैं, वह मेरा परम धाम है ॥२१॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! जो पूर्व श्लोक में (पाञ्चभौतिक विनाशी अव्यक्त वा मायोपहित अथवा कार्य-रूप अव्यक्त से परे अन्य) सनातन

को 'पासा' कहते हैं और फिर जब उसके अलङ्कार बनाये जाते हैं, तब वह घनाकार नष्ट हो जाता है । ये दोनों बातें जैसी एक ही साक्षीभूत चाँदी में होती हैं, वैसे ही व्यक्त और अव्यक्त दोनों विचार ब्रह्म के ही हैं । परन्तु वह ब्रह्म न व्यक्त है न अव्यक्त, न नित्य है न विनाशी, किन्तु इन दोनों भावों के परे अनादि-काल से सिद्ध है । वह विश्वमय बना हुआ है, परन्तु जैसे अक्षर मिटा देने से अर्थ नहीं मिटाया जा सकता, वैसे ही विश्व का नाश होने से उसका नाश नहीं होता । देखो, तरङ्गें उत्पन्न होती और विलीन होती हैं, परन्तु जल अखण्ड बना रहता है, वैसे ही ब्रह्म जो अविनाशी है, वह भूत-मात्र के अभाव से नष्ट नहीं होता । अथवा अलङ्कार गला देने से जैसे सुवर्ण नहीं गल जाता, वैसे ही जीवाकार की मृत्यु होने पर भी जो अमर रहता है ।"

अव्यक्त कहा गया है, वह अव्यक्त अक्षर अर्थात् अविनाशी है, ऐसा उसे श्रुति-स्मृति कहती है और इसी को वह परम गति भी कहती है, जैसे "येनाक्षरं पुरुषं वेद सत्यं"=जिससे अविनाशी सत्य पुरुष को उसने जाना। (मुण्ड० १. २. १३)। "इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः। मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः॥ १०॥ महतः परम-व्यक्तमव्यक्तात् पुरुषः परः। पुरुषान्न परं किञ्चित् सा काष्ठा सा परा गतिः॥ ११॥"=इन्द्रियों से परे अर्थ, अर्थों से परे मन, मन से परे बुद्धि, बुद्धि से परे महान् अर्थात् महत्तत्त्व, महत् से परे अव्यक्त (प्रकृति) और इस अव्यक्त से परे पुरुष है। पुरुष से परे कुछ नहीं है, वह काष्ठा (हद) है, वह परम गति है। (कठोपनिषद्, १. ३. १०-११)। "एषाऽस्य परमा गतिः।"=यह परमात्मदेव ही इस विद्वान् की परम गति है। (बृह० ४. ३. ३२)। इस प्रकार के परमगति-रूप अक्षर ब्रह्म (अव्यक्त) को प्राप्त होकर मनुष्य फिर नहीं लौटता अर्थात् पुनः जन्म-मरण को प्राप्त नहीं होता है, और यही अक्षर मेरा परम धाम (सर्वोत्तम स्थान वा वास्तव स्वरूप) है। "तद्विष्णोः परमं पदम्।"=जिस अद्वितीय निर्गुण ब्रह्म को तत्त्ववेत्ता पुरुष प्राप्त होकर पुनः जन्म-मरण को नहीं पाते, वह ब्रह्म ही विष्णु का परम पद (विष्णु का वास्तव स्वरूप) है। तात्पर्य इस सारे का यह है कि ब्रह्मलोक गति कार्य-रूप होने से नाशवान् है, और अक्षर-अव्यक्त भाव-रूप गति कार्य-कारण-भाव से रहित वा परे होने से अविनाशी और परम है। और ब्रह्मलोक से यद्यपि उसी कल्प में पुनरावृत्ति नहीं होती, तथापि कार्य-रूप होने से दूसरे कल्प में अवश्य होती है। परन्तु यह अक्षर-अव्यक्त तो मेरा परम धाम और वास्तव स्वरूप है, जिससे यह परम गति कहलाता है, यहाँ पहुँचकर कोई पुरुष पुनरावृत्ति को किसी काल में भी प्राप्त नहीं होता, बल्कि जन्म-मरण-रूप संसार से छूटकर ब्रह्म-स्वरूप हुआ वा मुझमें लीन हुआ मुक्त होता है॥ २१॥

सम्बन्ध—(१) अब इस परम गति-रूप अव्यक्त अक्षर की प्राप्ति का उपाय भगवान् पुनः स्पष्ट करते हैं—

अथवा (२) इस परम धाम के पाने में जो अनन्य भक्ति-रूप उपाय पूर्व श्लोकों में वर्णन हुआ था, उसे भगवान् अधिक स्पष्ट करने के लिये पुनः कहते हैं—

पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया ।
यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम् ॥ २२ ॥

पुरुषः, सः, परः, पार्थ	हे अर्जुन ! वह परम पुरुष	यस्य, अन्तः-स्थानि, भूतानि	जिसके अन्दर सब भूत स्थित हैं
भक्त्या, लभ्यः, तु, अनन्यया	सचमुच अनन्य भक्ति से पाने-योग्य है	येन, सर्वं, इदं, ततम्	जिससे यह सब व्याप्त है

अन्वयार्थ—हे अर्जुन ! वह परम पुरुष, जिसके अन्दर सब भूत स्थित हैं और जिससे यह सब (जगत्) व्याप्त है, सचमुच अनन्य भक्ति से पाने-योग्य है ॥ २२ ॥

व्याख्या—हे पृथा-पुत्र अर्जुन ! वह परम पुरुष जो पूर्व श्लोकों में सनातन, परम गति और अव्यक्त अक्षर के नाम से निरूपण हुआ है और जिसके अन्दर ये सब स्थावर-जंगम पदार्थ स्थित हैं, अर्थात् जो सबका कारण है और जिसके आधार पर यह सब कुछ स्थित है, और जिससे यह सारा विश्व ओतप्रोत वा व्याप्त है, वह परम गति-रूप पुरुष सचमुच अनन्य भक्ति से प्राप्तव्य है, अर्थात् वह ऐसी भक्ति से पाया जा सकता है कि जो सबको छोड़कर एक-मात्र उसके साथ ही निरन्तर हो ॥ २२ ॥

सम्बन्ध—(१) इस प्रकार परम पुरुष के उपासक परम धाम को प्राप्त

होकर नहीं लौटते और दूसरे लौटते हैं, ऐसा निरूपण करके भगवान् अब उस-उस मार्ग और काल को जिसके द्वारा पुनरावृत्ति और जिसके द्वारा अनावृत्ति मानी जाती है, निरूपण करने लगे हैं—

अथवा (२) यहाँ तक तो उस अक्षर ब्रह्म का वर्णन हो चुका कि जिस स्थान में पहुँच जाने से पुनर्जन्म से नितान्त छुटकारा हो जाता है। अब मरने पर जिन्हें लौटना नहीं पड़ता (अनावृत्ति) और जिन्हें अन्य लोकों से लौटकर जन्म लेना पड़ता है (आवृत्ति), उनके बीच के समय (काल) और गति (मार्ग) का परस्पर भेद भगवान् निरूपण करते हैं—

यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः।
प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ ॥२३॥

यत्र, काले, तु, अनावृत्तिं, आवृत्तिं, च, एवं, योगिनः	अब जिस काल में योगी लोग अनावृत्ति और ऐसे ही आवृत्ति को	प्रयाताः, यान्ति, तं, कालं, वक्ष्यामि, भरत-ऋषभ	गये हुए जाते हैं, उस काल को हे भरतों में श्रेष्ठ ! मैं कहता हूँ

अन्वयार्थ—हे अर्जुन ! जिस काल में गये हुए योगी लोग अनावृत्ति को और (जिसमें) आवृत्ति को प्राप्त होते हैं, उस काल को अब मैं तुझे कहता हूँ ॥ २३ ॥

व्याख्या—हे भरत-कुल में श्रेष्ठ अर्जुन ! अब मैं तुझे उस काल के विषय में कहता हूँ जिसमें देह त्यागकर योगी लोग अनावृत्ति को प्राप्त होते हैं, अर्थात् शरीर छोड़ने के बाद इस दुःख-रूप संसार में वापस नहीं लौटते हैं या यों कहो कि जन्म-मरण से रहित हो जाते हैं, और उस काल को भी मैं अब कहता हूँ जिसमें देह त्यागकर योगी लोग आवृत्ति को प्राप्त होते हैं, अर्थात् इस दुःख-रूप संसार में पुनः लौट आते

हैं या यों कहो कि पुनः जन्म-मरण के बन्धन में पड़ते हैं। इसको अब तू ध्यान देकर सुन ॥ २३ ॥

सम्बन्ध—(१) पहले अनावृत्ति के काल व मार्ग को भगवान् कहते हैं—

अथवा (२) पहले सगुण ब्रह्म के उपासक के देवयान-मार्ग को भगवान् कहते हैं—

अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम् ।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः ॥२४॥

अग्निः, ज्योतिः, अहः, शुक्लः, षट्, मासाः, उत्तरायणं	अग्नि, ज्योति, दिन, शुक्ल-पक्ष, छः मास के उत्तरायण	तत्र, प्रयाताः, गच्छन्ति, ब्रह्म, ब्रह्म-विदः, जनाः	उसमें गये हुए ब्रह्म-वेत्ता लोग ब्रह्म को प्राप्त होते हैं

अन्वयार्थ—अग्नि,* ज्योति, दिन, शुक्ल-पक्ष और छः मास के उत्तरायण में गये हुए ब्रह्मवेत्ता लोग ब्रह्म को प्राप्त होते हैं ॥ २४ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! जो तत्त्ववेत्ता सम्यक्दर्शी (जीवन्मुक्त) वा भगवान् के शुद्ध स्वरूप के अनन्य भक्त पुरुष हैं, उनकी तो गति व अगति कुछ होती ही नहीं, "न तस्य प्राणा उत्क्रामन्त्यत्रैव समवलीयेत"= ऐसे आत्म-अनुभवी पुरुष के प्राण शरीर से बाहर नहीं उड़ते किन्तु शरीर के भीतर ही अधिष्ठान चैतन्य में लीन हो जाते हैं, और वह शरीर छोड़ते ही ब्रह्म में लीन हुआ कैवल्य-मुक्ति को प्राप्त होता है। परन्तु जो ब्रह्मवेत्ता लोग अर्थात् शबल ब्रह्म के जाननेवाले लोग वा सगुण ब्रह्म के

---

* अग्नि, ज्योति, दिन इत्यादि से अभिप्राय प्रत्येक का अभिमानी देवता है, वे स्वयं नहीं। (श्रीशंकराचार्य)

उपासक जन हैं, वे जब शरीर छोड़कर चलते हैं, तो पहले अग्नि में अर्थात् अग्नि देवता के राज्य में पहुँचते हैं। अग्नि से ज्योति को, ज्योति से दिन को, दिन से शुक्ल-पक्ष को, शुक्ल-पक्ष से छ मास के उत्तरायण को जाते हैं और वहाँ से गुज़रते हुए सीधा ब्रह्मलोक को प्राप्त होते हैं, और वहाँ साक्षात् ब्रह्मा से ब्रह्मज्ञान का यथार्थ उपदेश पाकर ब्रह्म-साक्षात्कार करते हैं, जिससे प्रथम कार्य-ब्रह्म में लीन होकर फिर परब्रह्म में लय होते हैं, इस प्रकार वे क्रम-मुक्ति को पाते हैं ।। २४ ।। *

---

* उपनिषदों में यह विषय इस प्रकार वर्णित है—

"ते य एवमेतद्विदुर्येचामी अरण्ये श्रद्धा ँ सत्यमुपासते, तेऽर्चिरभिसम्भवन्त्यर्चिषोऽहरह्न आपूर्यमाणपक्षमापूर्यमाणपक्षाद् यान् षण्मासानुदङ्ङादित्य एति मासेभ्यो देवलोकं देवलोकादादित्यमादित्याद् वैद्युतं। तान् वैद्युतान्पुरुषो मानस एत्य ब्रह्मलोकान् गमयति। ते तेषु ब्रह्मलोकेषु परः परावतो वसन्ति, तेषां न पुनरावृत्तिः ॥" (बृह० ६. २. १५)

अर्थ—वे जो पञ्चाग्नि-विद्या को इस प्रकार जानते हैं, अर्थात् ठीक-ठीक जन्म-मरण के कारणों को जानते हैं, और वे जो जंगल में श्रद्धा के साथ सत्य को, अर्थात् हिरण्यगर्भ वा शबल ब्रह्म को उपासते हैं, वे अर्चि (लाट) को प्राप्त होते हैं, अर्चि से दिन को, दिन से शुक्ल-पक्ष को, शुक्ल-पक्ष से उन छ महीनों को जिनमें सूर्य उत्तर को जाता है, इन उत्तरायण के महीनों से देवलोक को, देवलोक से सूर्य को, सूर्य से विद्युत् के स्थानों को, उन विद्युत्-वासियों के पास एक मानस पुरुष (जो ब्रह्मा ने मन से रचा है) आता है, वह उनको ब्रह्मलोकों में ले जाता है। वे उन ब्रह्मलोकों में तेजस्वी बनकर लम्बे वर्षों के लिये बसते हैं, उनकी पुनरावृत्ति (वापस लौटना) नहीं है।

इसी प्रकार के मंत्र कुछ अंतर के साथ छान्दोग्य (५. १०) और कौषीतकी (१. ३) उपनिषदों में तथा वेदान्त-सूत्र (४. ३) में पाये जाते हैं।

सम्बन्ध—(१) अब भगवान् आवृत्ति के काल व मार्ग का निरूपण करते हैं—

अथवा (२) अब भगवान् दान-पुण्य कर्म करनेवालों या यज्ञ-कर्म-निष्ठावालों के पितृयाण-मार्ग को कहते हैं—

अथवा (३) देवयान-मार्ग की स्तुति करने के लिये भगवान् अब पितृयाण-मार्ग को कहते हैं—

धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम् ।
तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्त्तते ॥ २५ ॥

धूमो[1], रात्रिः[2], तथा[4], कृष्णः[3], षट्[5], मासाः[6], दक्षिणायनं	धूम[1], रात्रि[2], कृष्ण-[3] पक्ष तथा[4] छ[5] मास[6] के दक्षिणायन	तत्र[1], चान्द्रमसं[2], ज्योतिः[3] योगी[1], प्राप्य[2], निवर्त्तते[3]	उसमें[1] चन्द्रमा-[2] संबंधी ज्योति[3] को योगी[1] प्राप्त[2] होकर लौट[3] आता है

अन्वयार्थ—धूम, रात्रि, कृष्ण-पक्ष तथा छ मास का दक्षिणायन, उसमें (गया हुआ) योगी चन्द्रमा-सम्बन्धी ज्योति को प्राप्त होकर फिर लौट आता है ॥ २५ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! जो सगुण ब्रह्म के उपासक वा पञ्चाग्नि-विद्या के जाननेवाले नहीं हैं, किन्तु जो यज्ञ-दान इत्यादि नित्य-नैमित्तिक कर्म में तत्पर हैं, ऐसे कर्मनिष्ठ लोग जब शरीर छोड़कर चलते हैं, तो पहले धुआँ (अर्थात् धूम के अभिमानी देवता) को प्राप्त होते हैं, धुआँ से रात्रि, रात्रि से कृष्ण-पक्ष, और कृष्ण-पक्ष से छ मास के दक्षिणायन को जाते हैं, छ मास के दक्षिणायन से चन्द्रलोक में पहुँचकर वे चन्द्रमा-सम्बन्धी ज्योति (अर्थात् स्वर्ग) को प्राप्त होते हैं। और वहाँ अपने पूर्व-कृत पुण्य-कर्मों के भोग-काल पर्यन्त निवास करके पुनः यहाँ (इस

पृथिवी-लोक में) वापस लौट आते हैं ; अर्थात् पुनः-पुनः इस मनुष्य-लोक में जन्म लेते हैं, और इस तरह जन्म-मरण के चक्र में फँसे रहते हैं ॥ २५ ॥ ॐ

सम्बन्ध—उक्त दोनों मार्गों का भगवान् अब उपसंहार करते हैं—

शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते ।
एकया यात्यनावृत्तिमन्ययावर्त्तते पुनः ॥२६॥

शुक्ल-कृष्णे, गती, हि, एते	निस्सन्देह ये दोनों शुक्ल-कृष्ण गति	एकया, याति, अनावृत्तिं	एक से अनावृत्ति को प्राप्त होता है
जगतः, शाश्वते, मते	जगत् की सनातन मानी गई हैं	अन्यया, आवर्तते, पुनः	दूसरे से पुनः वापस लौटता है

अन्वयार्थ—निस्सन्देह ये दोनों शुक्ल-कृष्ण गति जगत् की सनातन मानी गई हैं । एक (मार्ग) से (मनुष्य) अनावृत्ति को प्राप्त होता है और दूसरे से पुनः वापस लौट आता है ॥ २६ ॥

ॐ उपनिषदों में यह विषय इस प्रकार वर्णित है—

"अथ ये यज्ञेन दानेन तपसा लोकाञ्जयन्ति, ते धूममभिसम्भवन्ति, धूमाद्रात्रि ँ रात्रेरपक्षीयमाणपक्षमपक्षीयमाणपक्षाद् यान् षण्मासान् दक्षिणाऽऽदित्य एति मासेभ्यः पितृलोकं पितृलोकाच्चन्द्रं । ते चन्द्रं प्राप्यान्नं भवन्ति । ता ँ स्तत्र देवा यथा सोम ँ राजानमाप्यायस्वापक्षीयस्वेत्येवमेना ँ स्तत्र भक्षयन्ति, तेषां यदा तत्पर्यवैत्यथेममेवाकाशमभिनिष्पद्यन्ते, आकाशाद्वायुं, वायोर्वृष्टिं, वृष्टेः पृथिवीं । ते पृथिवीं प्राप्यान्नं भवन्ति, ते पुनः पुरुषाऽग्नौ हूयन्ते, ततो योषाऽग्नौ जायन्ते । लोकान् प्रत्युत्थायिनः, ते एवमेवानुपरिवर्तन्ते । अथ य एतौ पन्थानौ न विदुस्ते कीटाः पतङ्गा यदिदं दन्दशूकम् ॥" (बृह० ६.२.१६)

अर्थ—अब जो लोग यज्ञ, दान और तप के द्वारा लोकों को जीतते हैं,

व्याख्या—हे अर्जुन ! शुक्ल-कृष्ण* नाम से जो दो मार्ग ऊपर वर्णन हुए हैं, ये जगत् के अनादि काल से माने जाते हैं। एक मार्ग से जाता हुआ मनुष्य पुनः इस जन्म-मरण-रूप संसार को वापस नहीं आता और

अर्थात् अपने भविष्य को सुधारते हैं, वे धूम को प्राप्त होते हैं, धूम से रात्रि को, रात्रि से कृष्ण-पक्ष को, कृष्ण-पक्ष से उन छ महीनों को जिनमें सूर्य दक्षिण को जाता है, इन दक्षिणायन के महीनों से पितृलोक को, पितृलोक से चन्द्र को (जाते हैं), वे चन्द्र में पहुँचकर अन्न बन जाते हैं, तब उनको वहाँ देवता खाते हैं अर्थात् उपभोग करते हैं, जैसे (सोम-यज्ञ में) ऋत्विज सोमराजा का बार-बार पूर्ण करते हुए और घटाते हुए (उपभोग करते हैं)। उनका जब वह कर्म (जो उन्होंने इस लोक में चन्द्रलोक की प्राप्ति के लिये किया है) क्षीण हो जाता है, तो वे फिर इसी आकाश की ओर वापस होते हैं, आकाश से वायु को, वायु से वृष्टि को, वृष्टि से पृथिवी को। और जब वे पृथिवी पर पहुँचते हैं, तो अन्न बन जाते हैं, वे फिर पुरुष-रूपी अग्नि में होम किये जाते हैं, उससे फिर वे स्त्री-रूपी अग्नि में उत्पन्न होते हैं। इस तरह वे लोकों की ओर उठते हैं। वे इसी प्रकार ही चक्र लगाते हैं।

अब जो इन दोनों मार्गों को नहीं जानते, वे कीड़े-पतंगे और जो कुछ मक्खी-मच्छर हैं (बनते हैं)।

* "शुक्ल-कृष्ण नाम के दोनों मार्ग अनादि हैं।" इससे यह अभिप्राय नहीं कि वे नित्य रहनेवाले या अविनाशी भी हैं, किन्तु यह कि जैसे जगत् नाशवान् है परन्तु अनादि काल से चला आता है, वैसे ये दोनों भी नाशवान् हैं और अनादि काल से चले आते हैं। एक को शुक्ल (प्रकाशमय) इसलिये कहा है कि वह ज्ञान का प्रकाशक है, और दूसरे को कृष्ण (अन्धकारमय) इस लिये कि वह ज्ञान का प्रकाश नहीं। अथवा अग्नि आदि का मार्ग प्रकाशमय होने से शुक्ल-मार्ग और धूमादि मार्ग अंधकारमय होने से कृष्ण-मार्ग कहलाता है।

दूसरे मार्ग से गया हुआ वापस लौट आता है। अर्थात् एक मार्ग से तो केवल सगुण ब्रह्म के उपासक या पञ्चाग्नि-विद्या के जाननेवाले जाते हैं जो फिर अग्नि, ज्योति, शुक्ल-पक्ष इत्यादि द्वारा होते हुए ब्रह्मलोक को पहुँचते हैं, जहाँ या तो साक्षात् ब्रह्मा से ही उपदेश लेते हुए ब्रह्म-साक्षात्कार करते ब्रह्म में ही लीन होते हैं, जिससे फिर वापस न लौटते हुए कैवल्य-मुक्ति पाते हैं; और या कल्प पर्यन्त ब्रह्मलोक में रहते हुए अपने पुण्य-कर्मों के फल भोगते हैं और दूसरे कल्प में पुनः जन्म लेते हैं, पर किसी भी अवस्था में वे कल्प पर्यन्त पुनर्जन्म को प्राप्त नहीं होते, बल्कि तब तक अनावृत्ति को ही पाते हैं। और दूसरे मार्ग से तो यज्ञ-पूर्त और दान कर्म करनेवाले ही जाते हैं, जो फिर धुआँ, रात्रि और कृष्ण-पक्ष इत्यादि द्वारा होते हुए स्वर्ग को प्राप्त होते हैं, और वहाँ अपने पुण्य-कर्मों के फल भोगने के पश्चात् इसी कल्प में पुनः-पुनः यहाँ वापस लौटते हैं जिससे जन्म-मरण के अपार चक्र में फँसे रहते हैं ॥ २६ ॥ *

---

* उपनिषदों में यह विषय देवयान और पितृयाण के मार्ग-नाम से सविस्तर वर्णित है। (देखो प्रश्न० १. ९-१० । छां० ४.१५.५-६, ५.१०.१-८ । बृहदारण्यक ६. २. १५ । कौषीतकी १. ३)। बृहदारण्यकांतर्गत श्लोक तो पूर्व श्लोक २४,२५ के फुटनोट में अर्थ के सहित दिये गये हैं, पर कुछ अंतर के साथ यही भाव छान्दोग्य में ऐसे वर्णित है—

"अथ यदु चैवास्मिञ्छव्यं कुर्वन्ति यदि च न, अर्चिषमेवाभिसम्भवन्त्यर्चिषोऽहरह्न आपूर्यमाणपक्षमापूर्यमाणपक्षाद् यान् षडुदङ्ङेति मासा ँ स्तान्, मासेभ्यः संवत्सर ँ संवत्सरादादित्यमादित्याच्चन्द्रमसं चंद्रमसो विद्युतं, तत्पुरुषोऽमानवः ॥ ५ ॥ स एनान् ब्रह्म गमयत्येष देवपथो ब्रह्मपथः। एतेन प्रतिपद्यमाना इमं मानवमावर्त्तं नावर्तन्ते नावर्तन्ते ॥ ६ ॥" (छां० ४. १५. ५-६)

अर्थ—अब चाहे वह (ऋत्विज) उन सगुण ब्रह्म के उपासकों के लिये शव-कर्म (अन्त्येष्टि-संस्कार) करते हैं, चाहे नहीं, पर वे (उपासक इस उपासना

सम्बन्ध—(१) उक्त दोनों मार्गों का तत्त्व जानने से जो फल मिलता है, उसे भगवान् अब कहते हैं—

के प्रभाव से) अर्चि ही को (अर्थात् अर्चि अभिमानी देवता ही को) प्राप्त होते हैं ; अर्चि से दिन को, दिन से शुक्ल-पक्ष को, शुक्ल-पक्ष से उन छ महीनों को जिनमें कि सूर्य उत्तर को जाता है, अर्थात् उत्तरायण को प्राप्त होते हैं ; उक्त छ महीनों से वर्ष को, वर्ष से सूर्य को, सूर्य से चन्द्र को, चन्द्र से बिजली को प्राप्त होते हैं । वहाँ एक अमानव (जो मानुषी सृष्टि का नहीं) पुरुष है, वह इनको (सत्यलोकस्थ) ब्रह्म को पहुँचाता अथवा ब्रह्मलोक में ले जाता है । यह देव-पथ (देवताओं का मार्ग वा देवयान-मार्ग) है, यह ब्रह्म-पथ (ब्रह्म को अथवा ब्रह्मलोक को पहुँचानेवाला मार्ग) है । वह जो इस मार्ग से जाते हैं, इस मानव-चक्र (मानुषी जीवन) को वापस नहीं आते हैं, हाँ, वापस नहीं आते हैं ।

फिर आगे चलकर ऐसे कहा है—

"तद्य इत्थं विदुर्ये चेमेऽरण्ये श्रद्धा तप इत्युपासते, तेऽर्चिषमभिसंभवन्त्यर्चिषोऽहरह्न आपूर्यमाणपक्षमापूर्यमाण पक्षाद् यान् षडुदङ्ङेति मासा ँ्स्तान् ॥१॥ मासेभ्यः संवत्सर ँ् संवत्सरादादित्यमादित्याच्चन्द्रमसं चन्द्रमसो विद्युतं तत्पुरुषोऽमानवः । स एनान् ब्रह्म गमयत्येष देवयानः पन्था इति ॥ २ ॥ अथ य इमे ग्राम इष्टापूर्त्ते दत्तमित्युपासते, ते धूममभिसम्भवन्ति, धूमाद्रात्रि ँ् रात्रेरपरपक्षमपरपक्षाद् यान् षड्दक्षिणैति मासा ँ्स्तान्, नैते संवत्सरमभिप्राप्नुवन्ति ॥३॥ मासेभ्यः पितृलोकं पितृलोकादाकाशमाकाशाच्चन्द्रमसम् । एष सोमो राजा । तद् देवानामन्नं, तं देवा भक्षयन्ति ॥ ४ ॥ तस्मिन् यावत्संपातमुषित्वाऽथैतमेवाध्वानं पुनर्निवर्त्तन्ते यथेतमाकाशमाकाशाद्वायुं वायुर्भूत्वा धूमो भवति । धूमो भूत्वाऽभ्रं भवति ॥ ५ ॥ अभ्रं भूत्वा मेघो भवति । मेघो भूत्वा प्रवर्षति । त इह व्रीहियवा ओषधिवनस्पतयस्तिलमाषा इति जायन्ते । अतो वै खलु दुर्निष्प्रपतरम् । यो यो ह्यन्नमत्ति यो रेतः सिञ्चति, तद् भूय एव भवति ॥ ६ ॥ तद्य

अथवा (२) उक्त मार्गों के जानने का फल दिखलाते हुए भगवान् इस भक्तियोग का उपसंहार करते हैं—

इह रमणीयचरणा अभ्याशो ह यत्ते रमणीयां योनिमापद्येरन् ब्राह्मयोनिं वा क्षत्रिययोनिं वा वैश्ययोनिं वा । अथ य इह कपूयचरणा अभ्याशो ह यत्ते कपूयां योनिमापद्येरन् श्वयोनिं वा सूकरयोनिं वा चण्डालयोनिं वा ॥ ७ ॥ अथैतयोः पथोर्न कतरेण च न तानीमानि क्षुद्राण्यसकृदावर्त्तीनि भूतानि भवन्ति, जायस्व म्रियस्वेत्येतत् तृतीय ँ स्थानम् ॥ ८ ॥" (छां० ५. १०. १-८)

अर्थ—जो इस प्रकार इस (पञ्चाग्नि-विद्या को और पाँच अग्नियों द्वारा अपने जन्म) को जानते हैं (वह चाहे गृहस्थ भी हों), और जो जङ्गल में श्रद्धा और तप में तत्पर हैं, वे अर्चि को प्राप्त होते हैं, अर्चि से दिन को, दिन से शुक्ल-पक्ष को, शुक्ल-पक्ष से उन छ मास को जिनमें सूर्य उत्तर को जाता है अर्थात् उत्तरायण को प्राप्त होते हैं ॥ १ ॥ उत्तरायण से वर्ष को, वर्ष से सूर्य को, सूर्य से चन्द्रमा को, चन्द्रमा से बिजली (के स्थानों) को प्राप्त होते हैं। वहाँ एक पुरुष है जो अमानव है (मानुषी सृष्टि का नहीं) । वह इनको ब्रह्म (शबल ब्रह्म=हिरण्यगर्भ, अथवा ब्रह्मलोक) को पहुँचा देता वा ले जाता है। यह देवयान-मार्ग है ॥ २ ॥ पर वह जो इस पञ्चाग्नि-विद्या को नहीं जानते किन्तु ग्राम में इष्ट और पूर्त (यज्ञ और दूसरे सर्वोपयोगी कर्म अर्थात् विद्यालय स्थापन करना इत्यादि) और दान देने में तत्पर रहते हैं; वे धूम को प्राप्त होते हैं, धूम से रात्रि को, रात्रि से कृष्ण-पक्ष को, कृष्ण-पक्ष से उन छ मास को जिनमें सूर्य दक्षिण को जाता है, अर्थात् दक्षिणायन को प्राप्त होते हैं। दक्षिणायन से ये लोग संवत्सर को प्राप्त नहीं होते ॥ ३ ॥ दक्षिणायन से पितृलोक को, पितृलोक से आकाश को, आकाश से चन्द्रमा को प्राप्त होते हैं। यह सोमराजा है, वह सोमराजा देवताओं का अन्न है और वे उसे भक्षण करते हैं, अर्थात् वह सोमराजा देवताओं का प्यारा है और देवता उसको प्यार करते वा भोगते हैं ॥ ४ ॥ वहाँ (उस चन्द्र-

अथवा (३) उक्त दोनों मार्गों को जाननेवालों की स्तुति करते हुए भगवान् अब अर्जुन को योगी होने अर्थात् उक्त अभ्यासयोगी व कर्मयोगी होने का उपदेश देते हैं—

अथवा (४) मार्गों का रहस्य बताकर अब भगवान् उपसंहार-रूप में कर्तव्य का उपदेश दो श्लोकों में करते हैं—

नैते सृती पार्थ जानन् योगी मुह्यति कश्चन ।
तस्मात्सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन ॥२७॥

मण्डल में) वे उतनी देर तक रहते हैं, जब तक उनके कर्म क्षीण नहीं होते। तब वे उसी मार्ग को फिर लौटते हैं (जिससे गये थे)। अर्थात् पहले आकाश को, आकाश से वायु को, वायु बनकर वह धूम बनता है। धूम बनकर धुन्ध बनता है ॥ ५ ॥ धुन्ध बनकर मेघ बनता है। मेघ बनकर बरसता है। तब वह धान, जौ, ओषधियाँ, वनस्पतियाँ, तिल और माष के रूप में यहाँ (पृथिवी में) जन्म लेता है। यहाँ से उसे निकलना बड़ा कठिन है, क्योंकि जो कोई (उस) अन्न को खाता है और वीर्य सेचन करता है, वह पूरा तद्रूप (उसकी शक्ल) ही हो जाता है ॥ ६ ॥ अब वह जिनका कि वर्ताव यहाँ रमणीय (सुहावना, शुद्ध) रहा है, वह जल्दी उत्तम जन्म को प्राप्त होंगे, ब्राह्मण के जन्म को, वा क्षत्रिय के जन्म को, वा वैश्य के जन्म को। पर वह जो यहाँ नीच वर्तावबाले रहे हैं, वह शीघ्र ही नीच योनि को प्राप्त होंगे, कुत्ते की योनि को, वा सुअर की योनि को, वा चाण्डाल की योनि को ॥ ७ ॥ और जो इन दोनों मार्गों में से किसी से नहीं चले, वह यह छोटे जन्तु (मक्खी, मच्छर आदि) बार-बार जन्म लेनेवाले बनते हैं, जो जन्मते हैं और मरते हैं। यह तीसरा स्थान है (जहाँ मरकर जाते हैं)।

लगभग ऐसा ही वर्णन इस विषय में बृहदारण्यक, प्रश्न और कौषीतकी उपनिषदों में पाया जाता है। कुछ स्थानों पर इन दोनों गतियों

न, एते, सृती, पार्थ, जानन्, योगी, मुह्यति, कश्चन,	हे अर्जुन ! इन दोनों मार्गों को जानता हुआ कोई योगी मोह को प्राप्त नहीं होता है	तस्मात्, सर्वेषु, कालेषु, योग-युक्तः, भव, अर्जुन	इसलिये सब कालों में, हे अर्जुन ! तू योग से युक्त हो

को अर्चिः आदि मार्ग और धूम्र आदि मार्ग कहा है। ऋग्वेद में भी इन गतियों का उल्लेख है। पर गीता में यद्यपि इतना विस्तारपूर्वक वर्णन नहीं है, तथापि अभिप्राय इसी देवयान और पितृयाण-मार्ग से है। केवल भेद इतना है कि (१) उपनिषदों में सगुण ब्रह्म के उपासकों वा पञ्चाग्नि-विद्या के जाननेवालों की गति देवयान-मार्ग से और कर्म निष्ठावालों की गति पितृयाण-मार्ग से कही है, और गीता में ये दोनों गतियाँ योगियों की कही हैं। (२) उपनिषदों में ये दोनों केवल मार्ग कहे हैं, यह नहीं वर्णन है कि इस काल में मरने से शुक्ल-गति और उस काल में मरने से कृष्ण-गति को प्राप्त होता है, पर गीता में उस-उस काल में मरनेवालों की ये गतियाँ कही हैं। व्याख्याकारों ने यह भेद इस प्रकार मिटाया है कि गीता में 'योगी' शब्द यहाँ अभ्यासी (अर्थात् उपासक और कर्मी) के लिये आया है, और काल यहाँ मार्ग का उपलक्षण है। वैसे भी शुक्ल-गति में अग्नि और ज्योति, और कृष्ण-गति में धूम कोई काल नहीं, किन्तु शुक्ल और कृष्ण-गति में दिन-रात्रि आदि काल के नाम अधिक हैं, इसलिये काल से वास्तव में अभिप्राय यहाँ मार्ग है। और अग्नि धूप आदि के समान दिन-रात्रि आदि भी मार्ग में आगे-आगे पहुँचानेवाले देवता हैं। यह अभिप्राय नहीं कि दिन को मरा हुआ मनुष्य ब्रह्म को प्राप्त होता है और रात्रि को मरा हुआ चन्द्र को, क्योंकि मरण-काल का नियम नहीं हो सकता, उपासक भी रात्रि को मरते हैं और कर्मी भी दिन को। और जो निरे पापी हैं, वे भी किसी-न-किसी काल में ही मरते हैं। इसलिये अभिप्राय यहाँ यही है कि उपासक चाहे मरे किसी समय, पर वह अग्नि आदि मार्ग से

अन्वयार्थ—हे पार्थ ! इन दोनों मार्गों को जानता हुआ कोई भी योगी मोह को प्राप्त नहीं होता है। इसलिये, हे अर्जुन ! तू सब कालों में योग-युक्त हो ॥ २७ ॥

व्याख्या—हे पृथा-पुत्र अर्जुन ! जो भी कोई योगी, अर्थात् अभ्यास-योगी, अथवा मेरा अनन्य भक्त वा उपासक, उक्त दोनों (देवयान और पितृयाण) मार्गों को भली भाँति जानता है ; अर्थात् ऐसा जान लेता है कि देवयान-मार्ग वा शुक्ल-गति से गया हुआ पुरुष अनावृत्ति को प्राप्त होता है और साक्षात् ब्रह्मा से ज्ञानोपदेश प्राप्त करके कैवल्य मुक्ति को पाता है, और पितृयाण-मार्ग वा कृष्ण-गति से गया हुआ पुनः आवृत्ति को प्राप्त होता संसार-बन्धन में पड़ता है, वह कभी धोखा नहीं खाता और न इस तत्त्व को भूलता है ; अर्थात् ऐसा (मार्गवेत्ता) पुरुष स्वर्गादि सुखों से मोहित होकर निम्न-श्रेणी के मार्ग को स्वीकार नहीं करता किन्तु अपने सच्चे कल्याण के मार्ग को ही ग्रहण करता है। अथवा दोनों मार्गों के रहस्य को जाननेवाला धारणाभ्यासी योगी इन दोनों के फलों को तुच्छ समझता हुआ उनसे प्रीति नहीं करता, बल्कि अपने धारणा-अभ्यास-रूप अनन्य भक्ति वा अनन्य उपासना के बल से इसी जन्म में (ब्रह्मा से भी पहले) मुक्ति चाहता है, और ब्रह्मा के अधीन होकर वह अपना मोक्ष नहीं चाहता किन्तु निज परम-स्वरूप के निरन्तर ध्यान से युक्त हुआ सीधा उसी में मिल जाना चाहता है। इसलिये, हे अर्जुन ! तू भी सर्वदा (निरन्तर) इसी अभ्यास-रूप योग (अथवा

ब्रह्मलोक को ही प्राप्त होता है, और कर्मी भी मरे चाहे किसी समय, पर वह धूम इत्यादि मार्ग से चन्द्रलोक को ही प्राप्त होता है। इसीलिये ब्रह्मसूत्र में आया है—"अतश्चायनेऽपि दक्षिणे।"=चूँकि रश्मियों का सम्बन्ध देह से है, इसलिये दक्षिणायन में भी मरा हुआ उपासक ब्रह्मलोक को ही प्राप्त होता है। (वेदान्त० ४.२.२०)

अनन्य भक्ति-रूप योग) से युक्त हो, अर्थात् तू भी नित्य अनन्य भक्त बन ॥ २७ ॥ ॐ

सम्बन्ध—उक्त उपदेश में श्रद्धा बढ़ाने के लिये भगवान् उक्त योगी की अधिक स्तुति करते हुए अध्याय की समाप्ति करते हैं—

वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम् । अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम् ॥ २८ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन संवादे अक्षरब्रह्मयोगो नामाष्टमोऽध्यायः ।

ॐ इस श्लोक पर श्रीज्ञानदेवजी अपने अनोखे ढङ्ग से इस प्रकार व्याख्या करते हैं—

"हमने दोनों योग-मार्ग उत्तम रीति से स्पष्ट किये हैं। एक से ब्रह्म-स्वरूप प्राप्त होता है और एक से पुनर्जन्म प्राप्त होता है ; परन्तु देहान्त के समय दैवगति से जो जिसे प्राप्त हो जाय, सो सही। उस समय अपनी इच्छानुसार बात नहीं हो सकती। कुछ भी हो, कोई बात एकाएक कैसे हो सकती है ? देह का त्यागकर ब्रह्म-रूप होना उस मार्ग से ही हो सकेगा। परन्तु "शरीर रहे अथवा जाय, हम तो केवल ब्रह्म ही हैं, क्योंकि रस्सी पर जो मिथ्या सर्पत्व दिखाई देता है, वह रस्सी के ही कारण है ; पानी क्या कभी सोचता है कि मुझमें लहरें हैं या नहीं ? वह जब देखो तब जैसा-का-तैसा पानी ही बना है। तरङ्गों के पैदा होने से न उसका जन्म होता है और न उनके लोप से उसका अन्त होता है", इस प्रकार विचारकर जो देहधारी शरीर रहते हुए भी ब्रह्म-रूप हो जाते हैं, उनमें शरीर का कुछ नाम भी नहीं रहता, तो फिर उन्हें मृत्यु कब और कैसे हो सकती है ? और उन्हें मार्ग

वेदेषु[1], यज्ञेषु[2], तपःसु[3], च[4], एव[5], दानेषु[6], यत्[7], पुण्य-फलं[8], प्रदिष्टं[10]	वेदों[1], यज्ञों[2], तपों[3] और[4] ऐसे[5] ही दानों[6] में जो[7] पुण्य-फल[8] बतलाया[10] गया है
अत्येति[3], तत्[1], सर्वं[2]	उस[1] सब[2] को उलाँघ[3] जाता है
इदं[1], विदित्वा[2], योगी[3], परं[4], स्थानं[7], उपैति[8], च[5], आद्यं[6]	यह[1] जानकर[2], योगी[3] परम[4] और[5] आदि[6] स्थान[7] को प्राप्त[8] होता है

अन्वयार्थ—वेदों, यज्ञों, तपों और ऐसे ही दानों में जो पुण्य-फल दर्शाया गया है, योगी इस (रहस्य) को जानकर उस सबको उलाँघ जाता है और फिर परम तथा आदि-स्थान को प्राप्त होता है ॥ २८ ॥

खोजने की भी क्या आवश्यकता है ? देश, काल इत्यादि सब बातें वे स्वयं ही हों, तो कौन कहाँ से कहाँ जावेगा ? अजी, जब घट फूट जाता है, तब वहाँ के आकाश की गति सरल ही होती है, और ऐसी गति हो तभी वह गगन में मिल सकता है, अन्यथा नहीं । और भी देखो, सच तो यह है कि नाश आकार का होता है और आकाश तो घटत्व के पहले से ही गगन में बना है । इस प्रकार के ज्ञान के सुख से उन सोऽहं-शब्द-योगियों को योग्यायोग्य मार्ग ढूँढ़ने का सङ्कट नहीं पड़ता । इसलिये हे पांडुसुत ! तुम्हें योग-युक्त होना चाहिए । उससे साम्यता सर्वदा आप ही आप बनी रहेगी । फिर चाहे जहाँ, चाहे जिस काल में, देह रहे अथवा जावे, परन्तु नित्य बन्ध-रहित ब्रह्म-भाव में कुछ अन्तर नहीं होता । ऐसा योगी कल्प के आदि में जन्मों के वश नहीं होता, कल्पान्त की मृत्यु में डूब नहीं जाता और बीच में स्वर्ग तथा संसार की सुन्दरता में भी नहीं फँसता । यह ज्ञान जिस योगी को होता है, वही इस ज्ञान-मार्ग की सरलता जानता है । क्योंकि वह विषयोपभोगों को लातों से ढकेलकर सीधा निज-रूप को पहुँचता है । इन्द्रादि देवों का राज्य जिन सर्वस्व सुखों के कारण प्रसिद्ध है, उन्हें वह त्याज्य समझकर दूर फेंक देता है ।”

व्याख्या—हे अर्जुन ! जो पुण्य-फल वेदों के भली भाँति अध्ययन से, यज्ञों के विधिपूर्वक अनुष्ठान से, शास्त्र-विहित तपों को दृढ़व्रतपूर्वक भली प्रकार तपने से, और सुपात्र को गौ-स्वर्णादि दानों के देने से प्राप्त होते शास्त्रों में कहे गये हैं, उन सारे फलों को वह योगी (ध्यान-परायण वा शुद्ध सच्चिदानंद-स्वरूप का अभ्यासी भक्त) उलाँघ जाता है और परम (सर्वोपरि श्रेष्ठ) तथा आदि-स्थान को प्राप्त होता है कि जो इस उक्त अनन्य भक्ति को जानता है, अथवा जो सारे ज्ञान-उपदेश को (जो इस अध्याय के सातों प्रश्नों के उत्तर में दिया गया है) भली प्रकार जान लेता है, या जो इस उपासना के बल से अक्षर-ब्रह्म को जान जाता है। संक्षेप से यह कि परम स्वरूप की निरन्तर उपासना के तत्त्व को जानकर अभ्यास-योग-युक्त योगी जो-जो फल वेदों, यज्ञों, तपों और दानों से मिला करते हैं, उन सबके पार टप जाता है, और उस स्थान को प्राप्त होता है, जो सबसे ऊँचा वा श्रेष्ठ और आदि है ॥ २० ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतानुवादे अक्षरब्रह्मयोगो नाम अष्टमोऽध्यायः ।

आठवें अध्याय का संक्षेप

(१) सातवें अध्याय के अन्त में जो सात परिभाषाएँ (ब्रह्म, अध्यात्म, कर्म, अधिभूत, अधिदैव, अधियज्ञ और मरण-काल में भी मेरा स्मरण वा मेरे स्वरूप का बोध) आई थीं, उनके स्पष्ट अर्थ अर्जुन ने भगवान् से पूछे, जिस पर भगवान् क्रमानुसार ऐसे उत्तर देते हैं कि

(क) (१) परम अक्षर ब्रह्म है, (२) स्वभाव अध्यात्म कहलाता है, (३) अक्षर ब्रह्म से चर-अचर पदार्थों की उत्पत्ति करनेवाले विसर्ग अर्थात् सृष्टि-व्यापार अथवा यज्ञ को कर्म कहते हैं, (४) उपजे हुए पदार्थों की नाशवान् स्थिति अर्थात् उत्पत्ति और नाशवाला पदार्थ-मात्र सब अधिभूत है, (५) जो इस नाशवान् पदार्थ में पुरुष है, अर्थात् जिस तत्त्व से यह प्रत्येक पदार्थ पूर्ण या भरा हुआ है, वह अधिदैव है, (६) जो इस देह में विराजमान इसका आत्म-रूप अधियज्ञ है, वह (अधियज्ञ) मैं हूँ, और (७) अन्त-काल में जो मेरा स्मरण करता हुआ शरीर को त्यागता है, वह निस्सन्देह मेरे स्वरूप को ही प्राप्त होता है।

(ख) यही नहीं कि मेरा स्मरण करनेवाला मुझे प्राप्त होता है, बल्कि अन्तकाल में जिस-जिस भाव को स्मरण करता हुआ प्राणी शरीर को छोड़ता है, उसी-उसी भाव से भावित हुआ वह प्राणी उस-उस भाव ही को प्राप्त होता है।

(ग) इसलिये सब समयों पर तू मेरा स्मरण कर और लड़। इस प्रकार मुझमें अर्पित बुद्धिवाला होने से तू अवश्य मुझे ही प्राप्त होगा।

(२) उक्त उत्तर के अन्त में जो उपदेश भगवान् ने अर्जुन को दिया, उसमें उसकी रुचि बढ़ाने के लिये भगवान् उसे अब फल के सहित विस्तारपूर्वक कहते हैं—

(क) उक्त प्रकार के अभ्यास-रूप योग से युक्त और किसी अन्य ओर न जानेवाले चित्त से चिन्तन करता हुआ पुरुष परम दिव्य पुरुष को प्राप्त होता है।

(ख) कवि, पुराण, सूक्ष्मतम, अनुशासन-कर्ता, विधाता, अचिन्त्य-स्वरूप इत्यादि लक्षणोंवाले का जो मनुष्य भक्ति-भरे अचल मन से चिन्तन करता है, और इस निरन्तर चिन्तन के अभ्यास-रूपी योग के बल से मरने के समय प्राणों को दोनों भ्रुवों के बीच में भली प्रकार ठहराकर उसका स्मरण करता है, वह उसी दिव्य परमपुरुष को प्राप्त होता है।

(३) इतना कहने के बाद भगवान् अब उस संक्षिप्त पद (अक्षर) का वर्णन उपमा के सहित करते हैं, जिसका विधिपूर्वक उच्चारण भगवत्-स्मरण में उपयोगी और तुरन्त फल देनेवाला होता है—

(क) जिस पद को वेद-वेत्ता अक्षर कहते हैं, वीत-राग यति लोग जिसमें प्रविष्ट होते हैं, जिस पद को आचरण में लाने के लिये लोग ब्रह्मचर्य करते हैं, वह संक्षिप्त पद ॐ है, और उसके उच्चारण की विधि यह है—

(ख) मनुष्य सारे द्वारों (इन्द्रियों) को उनके शब्दादि विषयों से रोके, मन का हृदय में निरोध करे, प्राण को मस्तक में ठहराये, योग-धारणा में स्थित हो, अर्थात् उक्त अभ्यास-रूप योग के उपाय से मुझ आत्म-स्वरूप के ध्यान में युक्त हो, फिर ॐ का उच्चारण करे। और इस उच्चारण के साथ-साथ या इस उच्चारण की सहायता से जो मेरे परम स्वरूप का स्मरण करता है, वह शरीर छोड़ते ही परम गति को प्राप्त होता है।

(ग) इस प्रकार नित्य जो अनन्य चित्त से मेरा स्मरण करता है, वह मुझे सुगमता से पा लेता है।

(घ) मुझे पाकर दुःखों का घर-रूप जो पुनर्जन्म है, उसे वह प्राप्त नहीं होता, बल्कि परम गति को पाता है।

(ङ) मेरे परम स्वरूप के सिवा और जिस भी लोक की प्राप्ति है, वहाँ से वापस लौटना होता है; केवल मेरे परम स्वरूप को प्राप्त होकर ही मनुष्य पुनर्जन्म को नहीं पाता, इसलिये ब्रह्मलोक इत्यादि सब लोक वास्तव में पुनरावृत्तिवाले माने जाते हैं।

(४) ब्रह्मलोक इत्यादि सब लोक क्यों वा कैसे नाशवान् और पुनरावृत्तिवाले हैं, इस तत्त्व को दर्शाने के लिये भगवान् अब ब्रह्मा के दिन-रात्रि का परिमाण और समस्त सृष्टि की उत्पत्ति और लय का समय क्रम से निरूपण करते हैं—

(क) एक हज़ार दिव्य युग तक ब्रह्मा का दिन होता है, और एक हज़ार दिव्य युग तक ब्रह्मा की रात्रि होती है, ऐसा जो जानता है, वही वास्तव में दिन-रात का जाननेवाला कहलाता है।

(ख) दिन के आरम्भ पर सारी व्यक्तियाँ (नाम, रूप) अव्यक्त (ब्रह्माजी की निद्रावस्था) से प्रकट हो आती हैं, और रात्रि के आने पर उसी में सब लय हो जाती हैं।

(ग) इस प्रकार वही भूतों का समूह ब्राह्म रात्रि के आने पर अवश्य लीन हो जाता है, और ब्राह्म दिन के आने पर पुनः प्रकट हो आता है।

(घ) परन्तु इस अव्यक्त से परे जो अन्य सनातन अव्यक्त पदार्थ है, वह सब भूतों के नाश होने पर भी कभी नाश नहीं होता है।

(ङ) जिस अव्यक्त को अक्षर कहते हैं, उसी को परम गति भी कहते हैं, जिसको पाकर पुनः संसार में वापस नहीं लौटता, अर्थात् पुनः जन्म-मरण को नहीं पाता, वह ही मेरा परम धाम है।

(च) और वह परम पुरुष, जिसके भीतर सारे भूत स्थित हैं और जिससे यह सब संसार व्याप्त है, सचमुच अनन्य भक्ति से ही पाया जा सकता है।

(५) इस प्रकार लोकों की प्राप्ति और अपने परमस्वरूप की प्राप्ति के परिणाम में परस्पर भेद दर्शाकर भगवान् अब अनावृत्ति और पुनरावृत्ति के मार्गों वा गतियों में परस्पर भेद ऐसे निरूपण करते हैं—

(क) अग्नि, ज्योति, दिन, शुक्ल-पक्ष और छ मास उत्तरायण के मार्ग से जो सगुण ब्रह्म के जाननेवाले जाते हैं, वे ब्रह्म अर्थात् सगुण ब्रह्म वा ब्रह्मलोक को प्राप्त होते हैं।

(ख) धूम, रात्रि, कृष्ण-पक्ष और छ मास दक्षिणायन के मार्ग से गया हुआ योगी चन्द्रमा-सम्बन्धी ज्योति, अर्थात् चन्द्रलोक को प्राप्त होकर फिर यहाँ वापस लौटता है, अर्थात् फिर-फिर आकर जन्मता-मरता है।

(ग) ये दोनों उक्त मार्ग शुक्ल-कृष्ण गतियाँ कहलाती हैं, जो संसार की सनातन मानी गई हैं। एक से गया हुआ मनुष्य अनावृत्ति को प्राप्त होता है और दूसरे से गया हुआ पुनरावृत्ति को प्राप्त होता है।

(घ) इन दोनों मार्गों के तत्त्व को जाननेवाला योगी पुरुष (अभ्यासी पुरुष, अर्थात् मेरा अनन्य भक्त) मोह को प्राप्त नहीं होता है, इसलिये, हे अर्जुन ! तू सर्वदा सब अवस्था में योग-युक्त हो, अर्थात् अनन्य भक्ति से मेरे स्वरूप के ही ध्यान में तू युक्त हो।

(६) अन्त में इस प्रकार उपदेश देकर इस योग (अभ्यास अर्थात् भक्ति-योग) में रुचि अधिक बढ़ाने के लिये भगवान् इस योग की स्तुति करते हुए अध्याय की समाप्ति करते हैं—

वेदों, यज्ञों, तपों और दानों में जो पुण्य-फल वेद-शास्त्रों ने वर्णन किया है, उस सबको वही योगी उलाँघ जाता (पार टप जाता) है जो इस उक्त ज्ञान-उपदेश को (या सातों प्रश्नों के उत्तर में जो तत्त्व वर्णन हुआ है, उसको) जान जाता है, और इस ज्ञान-लाभ के वाद फिर वह परम तथा आदि-स्थान को प्राप्त होता है।

इस प्रकार श्रीभगवान् से गाये हुए अर्थात् कहे हुए उपनिषद् में, ब्रह्मविद्यान्तर्गत योगशास्त्र-विषयक, श्रीकृष्ण और अर्जुन के संवाद में, अक्षर-ब्रह्मयोग-नामक आठवाँ अध्याय समाप्त हुआ।

॥ ॐ ॥

नवमोऽध्यायः

सम्बन्ध—आठवें अध्याय में सातवें अध्याय की सातों परिभाषा (जिनके अर्थ समझने के लिये अर्जुन ने आठवें अध्याय के आरम्भ में प्रश्न किया था) का विस्तारपूर्वक अर्थ वर्णन करने के बाद भगवान् ने श्लोक ६ में यह सिद्धान्त निरूपण किया कि "मनुष्य अन्त-काल में जिस-जिस भाव का स्मरण करता हुआ देह त्यागता है, वह सदा उस भाव से भावित हुआ उस-उस भाव ही को प्राप्त होता है।" और तदनुसार अर्जुन को श्लोक ७ में यह उपदेश दिया कि "इसलिये तू सब समयों में मुझे स्मरण कर और लड़, इस प्रकार मुझमें अर्पित मन-बुद्धिवाला होने से तू निश्चय करके मुझे ही प्राप्त होगा।" इस उपदेश के बाद भगवान् ने अपने स्वरूप का स्मरण अर्थात् भगवत्-स्मरण अथवा भगवत्-चिन्तन की विधि दो प्रकार से निरूपण की—(१) "एक तो इन्द्रियों को अपने-अपने विषयों से रोककर, मन का हृदय में निरोध करके, (योगाभ्यास द्वारा) प्राणों को मस्तक में ठहराकर, योग-धारणा के साथ, 'ॐ' इस ब्रह्म-रूप एक अक्षर का उच्चारण करते हुए शुद्ध-स्वरूप का स्मरण करना।" (१२, १३); और (२) "दूसरा, प्रत्येक कार्य में, प्रत्येक अवस्था और समय में अनन्य चित्त वा अनन्य भक्ति से शुद्ध-स्वरूप का स्मरण करना।" (१४)। पहला उपाय कठिन, हानि के भय की सम्भावना से युक्त, और सर्वसाधारण के लिये उसका आचरण में लाना

असम्भव-सा है, अतएव भगवत्-प्राप्ति भी उससे कठिन है। और दूसरा उपाय सरल, हानि वा भय की सम्भावना से रहित, सर्वसाधारण के लिये उपयोगी और उसका आचरण में लाना सहल है, अतएव भगवत-प्राप्ति भी उससे सुलभ है, और इसीलिये भगवान् ने अर्जुन को इसी दूसरे उपाय को ग्रहण करने वा इसमें युक्त होने का बार-बार ज़ोर से उपदेश दिया है। और फिर यह स्पष्ट किया है कि इस भगवत्-प्राप्ति से अतिरिक्त अन्य जिस भी लोक की प्राप्ति है, उससे पुनरावृत्ति की सम्भावना मानी जाती है, क्योंकि वे लोक सब नाशवान् हैं जिससे वे सब-के-सब वास्तव में पुनरावृत्तिवाले कहलाते हैं; केवल येनकेन उपाय से भगवत्-प्राप्ति ही इस जन्म-मरण-रूप संसार से शीघ्र छुटकारा दिलानेवाली है। पर इस भगवत्-प्राप्ति का कठिन उपाय (प्रणव अक्षर के उच्चारण द्वारा योगाभ्यास व योग-धारणा से भगवत्स्मरण) तो गत छठे अध्याय में भी विस्तार से निरूपण किया जा चुका है, और दूसरे सरल उपाय (अनन्य भक्ति) का उपदेश गत अध्याय में श्लोक १४ द्वारा अति संक्षेप से हुआ है, यद्यपि गत २२ वें श्लोक में ज़ोर इस पर अवश्य दिया गया है कि "वह परम पुरुष, हे अर्जुन! अनन्य भक्ति से ही पाया जाता है।" अब * भगवान् इसी ज़ोर दिये हुए उपाय को राज-मार्ग (सर्वसाधारण का मार्ग) के नाम से और अपने ज्ञेय स्वरूप को विज्ञान के सहित विस्तार-पूर्वक वर्णन करने लगे हैं, जिस पर नवाँ अध्याय आरम्भ होता है—

श्रीभगवानुवाच—

इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे।
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥१॥

---

* आर्यसमाज के पण्डितों ने इस अध्याय का सम्बन्ध ऐसे वर्णन किया है—"पूर्व अध्याय में अक्षर-ब्रह्म की अनन्य भक्ति वर्णन की गई......अब

इदं, तु, ते, गुह्यतमं, प्रवक्ष्यामि, अनसूयवे	तुझ असूया-रहित को अब यह अत्यन्त गुह्य (ज्ञान) मैं कहूँगा	ज्ञानं, विज्ञान-सहितं	ज्ञान को विज्ञान के सहित
		यत्, ज्ञात्वा, मोक्ष्यसे, अशुभात्	जिसे जानकर तू अशुभ से छूट जायगा

अन्वयार्थ—श्रीभगवान् बोले—अब मैं तुझ असूया-रहित* को यह अत्यन्त गुह्य† ज्ञान विज्ञान के सहित कहूँगा, जिसे जानकर तू अशुभ से छूट जायगा ॥ १ ॥

व्याख्या—श्रीभगवान् बोले—हे अर्जुन! तू असूया अर्थात् दोष-दृष्टि से रहित है, जिससे तू (इतना सुन लेने के बाद) अब मुझे मेरे स्पष्ट कथन

अहंग्रह उपासना कथन करते हैं, अर्थात् आत्मत्वेन उपासना इस नवमाध्याय में कथन की जाती है।" (पं० आर्यमुनि)। "इस प्रकार सातवें और आठवें अध्याय में परमेश्वर-तत्त्व भक्ति से ही सुलभ है, अन्यथा नहीं; यह कहकर अब परमेश्वर का अत्याश्चर्य ऐश्वर्य और भक्ति वा असाधारण प्रभाव दिखलाना चाहते हुए श्रीभगवान् बोले।" (पं० राजाराम)

* 'असूया' कहते हैं गुणों में दोष देखने को; जिसमें ऐसी दृष्टि न हो, उसे 'अनसूया' कहते हैं। किसी के गुणों में दोष-दृष्टि रखनेवाला तो स्वभावतः दूसरों को, विशेष करके तत्त्वज्ञान (अर्थात् ब्रह्मज्ञान) के वक्ता को, शीघ्र ग़लत समझ जाता है, जिससे वह उस ज्ञान से लाभ उठाने के स्थान पर हानि उठाने लग जाता है, इसलिये ऐसा पुरुष तत्त्वज्ञान के सुनने का अधिकारी नहीं होता। पर अर्जुन को ऐसी दृष्टि से रहित देखकर भगवान् इस ज्ञान को अब स्पष्ट वर्णन करने लगे हैं।

† गुह्य=रहस्य, गुप्त पदार्थ। धर्म-ज्ञान गुह्य है, अपने से भिन्न अक्षर ब्रह्म वा सगुण ब्रह्म का ज्ञान गुह्यतर है, और अपने परम स्वरूप आत्मा (वा

से ग़लत नहीं समझेगा, इसलिये अब मैं तुझे वह तत्त्वज्ञान विज्ञान (अनुभव, अमली साधन या प्रयोग) के सहित बतलाता हूँ, जो अत्यन्त गुप्त है, अर्थात् जिसको सब के आगे स्पष्ट कहने से उसके ग़लत समझे जाने की सम्भावना है, जिससे वह अत्यन्त गुप्त रक्खा जाता है और केवल अधिकारी सज्जन के आगे ही वर्णन किया जाता है; जो सीधा मोक्ष-प्राप्ति का साधन है; और जिसको ठीक-ठीक जानकर तू अशुभ (बुरे कर्मों, दोषों, पापों, अथवा जन्म-मरण-रूप अशुभ संसार-बन्धन) से शीघ्र और अवश्य छूट जायगा ॥ १ ॥

सम्बन्ध—अब जिस गुह्यतम ज्ञान को कहने के लिये भगवान् उद्यत हुए हैं, उसके सुनने में अर्जुन की रुचि अधिक बढ़ाने के लिये भगवान् पहले उसके विशेषण निरूपण करते हैं—

राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम् ।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्त्तुमव्ययम् ॥ २ ॥

राजविद्या, राजगुह्यं, पवित्रं, इदं, उत्तमं	यह राजविद्या, राजगुह्य और परम पवित्र है	प्रत्यक्ष-अवगमं, धर्म्यं, सु-सुखं, कर्त्तुं, अव्ययं	प्रत्यक्ष जाना जानेवाला, धर्मयुक्त, अनुष्ठान करने को बड़ा सहज और अविनाशी है

अन्वयार्थ—यह (ज्ञान) राजविद्या,* राजगुह्य, परम पवित्र, प्रत्यक्ष जाना जानेवाला, धर्मयुक्त, अनुष्ठान करने को बड़ा सहज और अविनाशी है ॥ २ ॥

सच्चिदानन्द ब्रह्म) का ज्ञान अनुभव के सहित तो गुह्यतम है, इसलिये इस निज स्वरूप के ज्ञान को गुह्यतम कहा है।

* राजविद्या, राजगुह्य पर अन्य टीकाकारों ने ऐसे व्याख्या की है—"राजविद्या=अतिशय प्रकाश-युक्त होने के कारण समस्त विद्याओं का राजा

व्याख्या—हे अर्जुन ! इस गुह्यतम ज्ञान के विशेषण मैं पहले तुम्हें सुनाता हूँ, यह ज्ञान राजविद्या है अर्थात् संसार में जितनी भी लौकिक व शास्त्रीय विद्या हैं, उन सब विद्याओं का राजा है। तात्पर्य यह कि विद्या इस संसार में १८ या ६४ मानी जाती हैं, जो भिन्न-भिन्न गति वा फल

है। ब्रह्मविद्या सब विद्याओं में अतिशय देदीप्यमान प्रसिद्ध है; अतएव ब्रह्मविद्या राजविद्या है और यह ब्रह्मविद्या समस्त गुप्त रखने योग्य भावों की भी राजा है, अतएव राजगुह्य है।" (श्रीशंकराचार्य)। "जितनी भी लौकिक व शास्त्रीय विद्या हैं, उन सबकी यह ब्रह्मविद्या राजा है। और लोक-शास्त्र में जितने भी गूढ़ पदार्थ हैं, उन सबसे गुप्त पदार्थ यह ब्रह्मविद्या वा ब्रह्मज्ञान है, अतएव यह (ब्रह्मज्ञान) राजविद्या व राजगुह्य है।" (श्रीस्वामी चिद्घनानन्द गिरि)। "राजविद्या=विद्याओं का राजा और राजगुह्य=गुह्यों का राजा है। अथवा राजविद्या, राजा लोग विशाल और अथाह मनवाले होते हैं, ऐसे पुरुषों की यह विद्या है। और गम्भीर मनवाले ही गुह्य बात को गुप्त रख सकते हैं। अर्थात् जो अपने मन के राजा हैं, यह उनकी विद्या है और उनका गुह्य है।" (पं० राजाराम)। "राजविद्या, राजगुह्य=सब विद्याओं में श्रेष्ठ, सब गुह्यों में श्रेष्ठ। ईश्वर-प्राप्ति के साधनों को उपनिषदों में 'विद्या' कहा है, और यह विद्या गुप्त रक्खी जाती थी। कहा है कि भक्ति-मार्ग अथवा व्यक्त की उपासना-रूपी विद्या सब गुह्य विद्याओं में श्रेष्ठ अथवा राजा है; इसके अतिरिक्त यह धर्म आँखों से प्रत्यक्ष देख पड़नेवाला और इसीसे आचरण करने में सुलभ है, तथापि इक्ष्वाकु प्रभृति राजाओं की परम्परा से ही इस योग का प्रचार हुआ है (गी० ४.२), इसलिये इस मार्ग को राजाओं अर्थात् बड़े आदमियों की विद्या—राज-विद्या—कह सकेंगे। कोई भी अर्थ क्यों न लीजिए, प्रकट है कि अक्षर या अव्यक्त ब्रह्म के ज्ञान को लक्ष्य करके यहाँ वर्णन नहीं किया गया है, किन्तु 'राज-विद्या' शब्द से यहाँ पर भक्तिमार्ग ही विवक्षित है।" (श्रीतिलक महाराज)

दिलाती हैं, केवल निज स्वरूप के ज्ञान अर्थात् आत्मज्ञान से ही सीधे परमानन्द की प्राप्ति शीघ्र होती है, जिससे यह ज्ञान समस्त विद्याओं में राजा कहलाता है और इसीलिये यह विद्याओं में प्रधान वा अतिश्रेष्ठ माना जाता है। या पहले-पहल यह सरल ज्ञान राजाओं के ही आचरण व अनुभव में आया है, जिससे इसको राजविद्या कहा जाता है। और यह राजगुह्य है अर्थात् संसार में जितने भी रहस्य (गुप्त पदार्थ) हैं, उन सबका जान लेना सुगम है क्योंकि उनके वेत्ता बहुत लोग हैं, परन्तु इस निज स्वरूप (आत्मा) के ज्ञान को विज्ञान के सहित कोई विरला महात्मा ही जानता है, और न यह बाजारों में किसी दुकान वा धन पर बिकता है बल्कि जन्म-जन्मान्तर के उत्तम कर्मों के प्रताप से, गुरुजी की अपार कृपा से और उनके वाक्यों पर पूर्ण श्रद्धा व भक्ति रखने से बड़े भाग्यवान् को ही प्राप्त होता है, इसलिये यह ज्ञान सब गुह्य पदार्थों से अत्यन्त गुह्य है। और यह (ज्ञान) उत्तम पवित्र है, अर्थात् धर्मशास्त्र में पापों की निवृत्ति-निमित्त जितने भी प्रायश्चित्त वर्णित हैं, उन सबसे समस्त पापों की निवृत्ति नहीं होती किन्तु किसी एक पाप ही की निवृत्ति होती है, और वह भी पूर्ण-रूप से नहीं बल्कि उसकी सूक्ष्म वासना भीतर में बनी ही रहती है जो पुनः उसी पाप को करा देती है; परन्तु यह आत्म-ज्ञान तो सारे पापों को मूल-सहित उखाड़कर नाश कर देता है, जिससे यह पतित-पावन वा सबसे उत्तम पवित्र अर्थात् परम पवित्र (पूर्णतया शुद्ध) करनेवाला है। और यह प्रत्यक्ष अनुभव किया जानेवाला भी है, अर्थात् जैसे सुख-दुःख, शीतोष्ण वा शोक-आनन्द का सबको स्पष्ट अनुभव होता है वैसे यह ज्ञान भी प्रत्यक्ष (स्पष्ट) अनुभव होता है; अर्थात् सुख-दुःख की भाँति इस ज्ञान का भी जीते-जी प्रत्यक्ष अनुभव होता है। या जैसे और विद्याओं वा ईश्वर-प्राप्ति के साधनों का फल बहुत देर में वा मरने के बाद किसी अन्य जन्म में जाकर

मिलता है, वैसे इस ज्ञान वा इसके साधन की दशा नहीं बल्कि इस ज्ञान वा इसके साधन का फल तो जीते-जी इसी जन्म में शीघ्र ही प्रत्यक्ष हो जाता है। और यह धर्मयुक्त है, अर्थात् जैसे संसार के सब कामों में कुछ-न-कुछ अधर्म मिला हुआ ही रहता है, वा जैसे कोई एक विद्या स्व-धर्म या निज-कर्तव्य के विरुद्ध होती है, वैसे यह ज्ञान नहीं, बल्कि यह तो धर्म-युक्त वा स्वधर्मानुकूल है और इसका अनुष्ठान करना मनुष्य के लिये परम कर्तव्य है। और यह ज्ञान सुसुख है, अर्थात् अन्य विद्याओं वा साधनों के समान इस ज्ञान का अनुष्ठान करना कठिन नहीं बल्कि बहुत ही सुगम है और अनायास ही इससे सिद्धि (परम गति) प्राप्त होती है। और यह अविनाशी है; अर्थात् इसकी सिद्धि के पीछे यह ज्ञान कुछ घटता-बढ़ता नहीं किन्तु अविनाशी वा निर्विकार ही रहता है, और यद्यपि इसका अनुष्ठान सुगम और सरल है पर इससे इसका फल तुच्छ या विकारवान् नहीं हो जाता बल्कि एकरस और निर्विकार ही रहता है। इसी से यह ज्ञान प्राप्त करने-योग्य है ॥ २ ॥

सम्बन्ध—(१) पर ऐसा परम श्रेष्ठ, धर्म-युक्त और सुगम ज्ञान होते हुए भी जो लोग इसमें प्रवृत्त नहीं होते, उनके विषय में भगवान् अब कहते हैं—

अथवा (२) ऐसा सरल वा सुगम मोक्ष-धर्म होते हुए भी फिर भला कौन लोग संसारी रहेंगे ? इस पर भगवान् अब कहते हैं—

अथवा (३) ऐसा सरल और सुलभ ज्ञान होते हुए फिर प्राणी इस मार्ग को छोड़कर अन्य कठिन मार्गों में क्यों जाते हैं और क्या फल पाते हैं, इसे भगवान् अब स्पष्ट करते हैं—

अथवा (४) जो इस सुलभ व सरल मार्ग में श्रद्धा नहीं रखते, उनकी गति परिणाम के सहित भगवान् अब वर्णन करते हैं—

अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परंतप ।
अप्राप्य मां निवर्त्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि ॥ ३ ॥

अ-श्रद्दधानाः, पुरुषाः, धर्मस्य, अस्य, परंतप	हे अर्जुन ! इस धर्म की श्रद्धा से हीन पुरुष	अ-प्राप्य, मां, निवर्त्तन्ते, मृत्यु-संसार-वर्त्मनि	मुझको न पाकर मृत्यु-रूप संसार-मार्ग में लौटते हैं

अन्वयार्थ—हे अर्जुन ! इस धर्म की श्रद्धा से हीन पुरुष मुझे न पाकर मृत्यु-रूप संसार-मार्ग में वापस लौटते हैं ॥ ३ ॥

व्याख्या—हे शत्रुओं को तपानेवाले अर्जुन ! जो लोग इस धर्म में किञ्चित् श्रद्धा नहीं रखते ; अर्थात् उक्त ज्ञान-रूप धर्म के स्वरूप, साधन और फल में जिनकी किञ्चित् श्रद्धा नहीं ; ऐसे असुरों के स्वभाववाले अश्रद्धालु पुरुष जब देह का त्याग करते हैं, तो मुझ सच्चिदानन्द-स्वरूप (मोक्ष) को प्राप्त नहीं होते बल्कि मरकर मृत्यु-रूप संसार-मार्ग में फिर लौट आते हैं, अर्थात् ऐसे अश्रद्धालु पुरुष मरकर मरणशील संसार के मार्ग में ही भ्रमते रहते वा भटकते फिरते हैं ॥ ३ ॥*

सम्बन्ध—इस प्रकार ज्ञान की स्तुति वा उपमा से अर्जुन के चित्त में उसके सुनने की श्रद्धा वा जिज्ञासा उत्पन्न करके भगवान् अब अपनी प्रतिज्ञानुसार अपने ज्ञेय स्वरूप के उस गुह्यतम ज्ञान को विस्तार से वर्णन करते हैं (जो पहले ७. ४–१८ और ८. ७, २०–२२ में संक्षेप से कहा है)—

---

* श्रीज्ञानदेवजी ने अपने अनोखे ढंग से इस श्लोक पर ऐसे व्याख्या की है—

"देखो, दूध पवित्र और मधुर रहता है, केवल त्वचा की एक तह की ओट में भरा रहता है, परन्तु किलनी दूध नहीं पीती केवल रक्त ही पीती है । अथवा भौंरे और दादुर दोनों एक ही जगह बसते हैं, परन्तु कमल की रज

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना ।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः ॥ ४ ॥

मया, ततं, इदं, सर्वं, जगत्-अव्यक्त-मूर्त्तिना	मुझ अव्यक्त मूर्ति से यह सब जगत् व्याप्त है	मत्-स्थानि, सर्व-भूतानि	मुझमें सब भूत स्थित हैं
		न, च, अहं, तेषु, अव-स्थितः	और मैं उनमें नहीं स्थित हूँ

अन्वयार्थ—मुझ अव्यक्त मूर्ति से यह सारा जगत् व्याप्त है। सारे भूत मुझ* में स्थित हैं और मैं उनमें स्थित नहीं हूँ ॥ ४ ॥

का सेवन भौंरे करते हैं और दादुरों के लिये केवल कीचड़ ही रहती है। अथवा अभागे के घर में द्रव्य से भरे हुए हज़ारों हंडे गड़े हों तथापि वह वहाँ बैठा हुआ उपास करता है, अथवा दरिद्रता में दिन काटता है। वैसे ही सब सुखों के विश्रान्ति स्थान मुझ राम के हृदय में रहते हुए भ्रान्त लोगों को विषयों की इच्छा होती है। आँखों से विस्तृत मृगजल देखकर जैसे अमृत का घूँट उगल दिया जाय, अथवा सीप के लोभ से जैसे गले में बँधा हुआ पारस फोड़ दिया जाय, वैसे ही वे बेचारे अहङ्कार और ममता की लवड़-सवड़ के कारण मुझ तक नहीं पहुँचते इसलिये जन्म और मरणरूपी दोनों तीरों के बीच डुबकी खाते रहते हैं। अन्यथा मैं कैसा हूँ, जैसा कि मुँह के सामने का सूर्य। परन्तु अस्त होना वा अदृश्य होना यह जो सूर्य की न्यूनता है सो कभी मुझमें नहीं है।"

* "मुझमें स्थित हैं और मैं उनमें स्थित नहीं" यह विरोधाभास इसलिये है कि परमेश्वर निर्गुण भी है और सगुण भी है। यही भाव पूर्व अध्याय ७ श्लोक १२ में आया है, वहाँ सविस्तर व्याख्या और टिप्पणी देखो।

व्याख्या—हे अर्जुन ! मैं जो वास्तव में अव्यक्त स्वरूप हूँ, अर्थात् नेत्रादि इन्द्रियों का अविषय होता हुआ स्वप्रकाश, निराकार और सच्चिदानन्द-रूप हूँ, ऐसे मेरे अव्यक्त रूप से यह समस्त चराचर जगत् व्याप्त वा ओत-प्रोत है। अर्थात् हे अर्जुन ! यह जो मेरा स्थूल शरीर तुझे दिखाई देता है, इस व्यक्त रूप से नहीं, किन्तु अपने परम अव्यक्त रूप से इस सारे दृश्य-रूप संसार को मैंने व्याप्त कर रक्खा है। और ब्रह्मादि से लेकर तृण पर्यन्त सारे भूत (पदार्थ) मुझमें स्थित हैं, अर्थात् मेरे आश्रय जीते-जागते और अपना अस्तित्व रखते हैं ; पर मैं उनमें स्थित नहीं हूँ, अर्थात् मैं उनके आश्रय न जीता-जागता हूँ और न अपना अस्तित्व रखता हूँ, जैसे समुद्र के आश्रय तरंग स्थित हैं, तरंगों के आश्रय समुद्र स्थित नहीं। अथवा वे सारे पदार्थ मुझमें कल्पित हैं, और मैं जो उन सबका अधिष्ठान हूँ, उनमें कल्पित नहीं हूँ ॥ ४ ॥

सम्बन्ध—(१) व्यावहारिक दृष्टि से अपने में भूतों की स्थिति दर्शाकर अब भगवान् पारमार्थिक दृष्टि से उनकी भी अस्थिति वर्णन करते हैं—

अथवा (२) व्यावहारिक दृष्टि का आश्रय लेकर उक्त श्लोक से तो भूतों के साथ अपना कुछ संग दर्शाया था अब पारमार्थिक दृष्टि का आश्रय लेकर भगवान् उनसे अपनी नितांत असंगता दर्शाते हैं—

न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम् ।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः ॥ ५ ॥

न, च, मत्-स्थानि, भूतानि	और न मुझमें भूत स्थित हैं	भूत-भृत्, न, च, भूत-स्थः	भूतों का धारणेवाला हूँ और भूतों में स्थित नहीं हूँ
पश्य, मे, योगं, ऐश्वरं	मेरे ईश्वरीय योग को तू देख	मम, आत्मा, भूत-भावनः	मेरा आत्मा भूतों का जीवन-दाता

अन्वयार्थ पहला—और न मुझमें भूत ही स्थित हैं, मेरे ईश्वरीय योग ❀ को तू देख, मैं भूतों का धारणेवाला हूँ और फिर भूतों में स्थित नहीं हूँ। मेरा आत्मा भूतों का जीवन-दाता है ॥ ५ ॥

अन्वयार्थ दूसरा—और न मुझमें भूत ही स्थित हैं। मेरे अद्‌भुत योग को तू देख कि मेरा आत्मा भूतों का धारणेवाला और भूतों का जीवन-दाता हुआ भी भूतों में स्थित नहीं है ॥ ५ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! वास्तव में पूछो तो यह जो ऊपर कहा है कि "सब भूत मुझमें स्थित हैं" यह भी कहने-मात्र ही है, वस्तुतः ये सारे भूत मुझमें स्थित भी नहीं हैं; क्योंकि यह सारा ब्रह्माण्ड मुझ एकरस शुद्ध सच्चिदानन्द-स्वरूप में केवल कल्पित वा कहने-मात्र है, वास्तव में है ही नहीं, तो फिर मुझमें ये भूत भी स्थित कैसे ? इसलिये तू मेरे इस योग-ऐश्वर्य को देख, अर्थात् मेरी ईश्वरता और बल को (अथवा मेरे अद्‌भुत प्रभाव, प्रताप वा करामात को) तू देख कि देखने में मैं ही इन भूतों का धारण करनेवाला वा उत्पन्न करनेवाला और पालन-पोषण करनेवाला हूँ, पर मैं इनमें स्थित नहीं हूँ, बल्कि नित्य, असंग और निर्लेप रहता हूँ। या दूसरे शब्दों में यों कि तू मेरी अद्‌भुत लीला को देख कि मेरा आत्मा † यद्यपि देखने में तो सारे भूतों का धर्ता, कर्ता और

❀ 'योग' शब्द का अर्थ यद्यपि अलौकिक सामर्थ्य वा युक्ति किया गया है, तथापि याद रखना चाहिए कि अव्यक्त से व्यक्त होने के इस योग वा युक्ति को ही माया कहते हैं। इस विषय का स्पष्टीकरण (गी० ७. २५) की व्याख्या और टिप्पणी में किया गया है। इसी योग के कारण भगवान् योगेश्वर कहलाये हैं।

† 'मेरा आत्मा', ऐसा शब्द केवल समझाने के लिये व्यावहारिक दृष्टि से वर्ता गया है, तात्पर्य इसका केवल एक सर्वव्यापक आत्मा से है। इसका यह अर्थ नहीं कि यह आत्मा किसी दूसरे के आत्मा से पृथक है, या भगवान् कृष्ण का आत्मा ही ऐसा है, अन्य का नहीं।

जीवन-दाता है, पर वस्तुतः उनमें भी आसक्त वा परिच्छिन्न न हुआ वह उन सबसे न्यारा, असंग और निर्लिप्त स्थित है ॥ ५ ॥ ❀

सम्बन्ध—(१) अपने उक्त कथन को अब भगवान् दृष्टान्तों द्वारा स्पष्ट करते हैं—

अथवा (२) उत्पत्ति और प्रलय का कर्ता हुआ भी मैं असंग रहता हूँ, इसको दृष्टान्त से भगवान् अब स्पष्ट करते हैं—

अथवा (३) जब इन भूतों के साथ शुद्ध-स्वरूप भगवान् का वास्तव में कोई संबंध नहीं, तो फिर इनके साथ परस्पर आधार-आधेय भाव भी कैसे हो सकता है, इसे भगवान् अब दृष्टांतों से स्पष्ट करते हैं—

यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान् ।
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय ॥ ६ ॥

यथा, आकाश-स्थितः, नित्यं	जैसे[1] आकाश[2] में नित्य[3] स्थित[4]	तथा, सर्वाणि, भूतानि, मत्-स्थानि, इति, उपधारय	वैसे[1] सारे[2] भूत[3] मुझमें[4] स्थित[5] हैं, ऐसा[6] निश्चय[7] कर
वायुः, सर्वत्र-गः, महान्	सर्वत्र[5] गतिवाला महान्[6] वायु[7]		

अन्वयार्थ—जैसे सर्वत्र गतिवाला महान् वायु आकाश में नित्य स्थित है, वैसे सारे भूत मुझमें स्थित हैं, ऐसा तू निश्चय कर ॥ ६ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! जैसे असंग स्वभाववाले सर्वव्यापक आकाश में पूर्वादि सर्व दिशाओं में विचरनेवाला महान् वायु (आकाश से वास्तव

❀ पूर्व कहा "सब भूत मुझमें स्थित हैं", यहाँ कहा "मुझमें स्थित नहीं", यह परस्पर विरुद्ध वाक्य हैं, पर तात्पर्य परस्पर विरुद्ध नहीं। आशय यह है कि ईश्वर ही सब प्राणियों का अन्तरात्मा है और इसी से सब प्राणी स्थित

में सम्बन्ध न रखते हुए भी) नित्य स्थित रहता है और उस वायु के वेग से आकाश किञ्चित् भी चलायमान नहीं होता, बल्कि अपने स्वरूप में वैसा-का-वैसा ही निर्लिप्त स्थित रहता है, इसी प्रकार मुझ सर्वव्यापक शुद्ध-स्वरूप में ये समस्त भूत स्थित हैं, परन्तु इनका गमनागमन, घटना-बढ़ना और उत्पत्ति-नाश मुझे किञ्चित् स्पर्श या लिपायमान नहीं करते, बल्कि मैं अपने स्वरूप में वैसा-का-वैसा ही नित्य शुद्ध, अचल और असंग स्थित रहता हूँ। इसलिये वास्तव में ये भूत न मुझमें स्थित हैं और न मैं इनमें स्थित हूँ, बल्कि इनसे मैं अलग-थलग और असंग रहता हूँ, ऐसा तू निश्चय कर, या चित्त में तू ऐसी धारणा कर ॥ ६ ॥

सम्बन्ध—(१) सब भूतों की स्थिति अपने में वस्तुतः न होती दर्शाकर अब भगवान् दो श्लोकों में उनकी उत्पत्ति और नाश को भी वैसा ही अपने में दर्शाने लगे हैं—

अथवा (२) उक्त श्लोकों में भूतों की अपने में स्थिति दर्शाते हुए भी अपना उनसे असम्बन्ध दर्शाया, अब भगवान् दो श्लोकों में भूतों की उत्पत्ति और नाश में भी अपने असंग आत्मा का असम्बन्ध कथन करते हैं—

अथवा (३) भूतों की उत्पत्ति व स्थिति-काल में तो भगवान् ने इनसे अपनी असंगता स्पष्ट की, अब इनके प्रलय-काल में भी भगवान् अपनी असंगता दर्शाने लगे हैं—

अथवा (४) अब भगवान् दो श्लोकों में यह दर्शाने लगे हैं कि इस योग-सामर्थ्य से जगत् की उत्पत्ति और नाश कैसे हुआ करते हैं—

हैं, परन्तु ईश्वर का किसी वस्तु विशेष से संसर्ग नहीं है। या दूसरे शब्दों में, परमात्मा सब वस्तुओं का आश्रय है और आश्रय होकर भी सबसे असंग है। "असङ्गो ह्यं पुरुषः। असङ्गो न हि सज्यते।"=निस्सन्देह असंग यह पुरुष है, क्योंकि यह (असंग पुरुष किसी से) जोड़ा नहीं जाता है। (बृह०

... अथवा (५) सब भूतों की स्थिति अपने में (वा अपने आश्रय) दर्शाकर अब भगवान् उनकी उत्पत्ति और नाश भी अपने में (वा अपने आश्रय) दो श्लोकों द्वारा दर्शाने लगे हैं—

सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम् ।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम् ॥७॥

सर्व-भूतानि, कौन्तेय, प्रकृतिं, यान्ति, मामिकां	हे अर्जुन! सारे भूत मेरी प्रकृति को प्राप्त होते हैं	कल्प-क्षये=कल्प के अन्त में; पुनः, तानि, कल्प-आदौ, विसृजामि, अहं	फिर उनको कल्प के आदि में मैं उत्पन्न करता हूँ

अन्वयार्थ—हे अर्जुन! कल्प के अन्त में सारे भूत मेरी प्रकृति को प्राप्त होते हैं और कल्प के आदि में मैं फिर उनको उत्पन्न करता हूँ ॥ ७ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन! इस प्रकार आकाश में पवनवत् जो सारे भूत मुझमें स्थित हैं, ये सब-के-सब कल्प के क्षय होने पर (अर्थात् प्रलय-काल में) मेरी प्रकृति अर्थात् माया (जिसका विस्तारपूर्वक वर्णन सातवें अध्याय के श्लोक ५ की व्याख्या और टिप्पणी में है) को प्राप्त

---

४. २. ४)। इसलिये साधारण लौकिक अर्थों में यह नहीं कहा जा सकता कि ईश्वर में सब वस्तुएँ स्थित हैं; पर विना उसके कोई वस्तु स्थित भी नहीं रह सकती, वही सबका भर्ता और आश्रय है, इसलिये यह भी वास्तव में नहीं कहा जा सकता कि सब भूत उसमें वा उसके आश्रय स्थित नहीं हैं। दोनों का तात्पर्य यही है कि पुरुष यद्यपि सबका आश्रय है, तथापि असङ्ग और निर्लेप है। यह उसका अद्भुत योग है कि वह सब भूतों का आश्रय भी है और सबसे न्यारा भी है और वही सबका जीवन-दाता भी है।

होते हैं; या दूसरे शब्दों में यह कि प्रलय-काल में सूक्ष्म-रूप से ये सब भूत अपने कारणभूत माया में लय होते हैं। और फिर इनको मैं कल्प के आदि में अर्थात् सृष्टि-काल में (जिसका विस्तारपूर्वक वर्णन पूर्व अध्याय ८ के श्लोक १७, १८, १९ में हो चुका है) उत्पन्न कर देता वा रच देता हूँ ॥ ७ ॥

सम्बन्ध—और—

प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः ।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात् ॥ ८ ॥

प्रकृतिं, स्वां, अवष्टभ्य, विसृजामि, पुनः, पुनः	अपनी प्रकृति का आश्रय करके मैं पुनः-पुनः निर्माण करता हूँ	भूत-ग्रामं, इमं, कृत्स्नं	इस सारे भूतों के समूह को
		अवशं, प्रकृतेः, वशात्	प्रकृति के वश से विवश हुए को

अन्वयार्थ—प्रकृति के वश से विवश हुए इस सारे भूतों के समूह को मैं अपनी प्रकृति का आश्रय करके पुनः-पुनः निर्माण करता हूँ ॥ ८ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! यह जो भूतों का समुदाय मेरी प्रकृति (माया) अथवा निज-स्वभाव के वश में होने से विवश अर्थात् परतन्त्र है, और मुझमें जो यह कल्पित वा अनिर्वचनीय माया है, जिसका अधिष्ठान होने से मैं उसका स्वामी और अधिष्ठाता कहलाता हूँ; उस अपनी प्रकृति का आश्रय करके, अर्थात् अपनी इस माया द्वारा मैं इस अपने-अपने कर्मों से बँधे हुए भूतों के समुदाय को पुनः-पुनः उत्पन्न करता, निर्माण करता वा रचता हूँ ॥ ८ ॥

सम्बन्ध—(१) भगवान् जब जगत् की रचना इत्यादि करते हैं, तो ऐसे कर्म उनको भी बन्धायमान वा लिप्त करते होंगे ? इस भ्रम की निवृत्ति भगवान् ऐसे करते हैं—

अथवा (२) इस प्रकार सृष्टि की विषम रचना से भगवान् में भी विषमता-दोष की शायद सम्भावना होगी, इस आपत्ति का निवारण भगवान् ऐसे करते हैं—

न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय ।
उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु ॥ ९ ॥

न, च, मां, तानि, कर्माणि, निबध्नन्ति, धनञ्जय	और हे धनञ्जय ! मुझको वे कर्म नहीं बाँधते हैं	उदासीनवत्, आसीनं, असक्तं, तेषु, कर्मसु	उन कर्मों में उदासीनवत् स्थित और निरासक्त को

अन्वयार्थ—हे अर्जुन ! उन कर्मों में मुझ उदासीनवत् स्थित और निरासक्त को वे (रचनादि) कर्म नहीं बाँधते हैं ॥ ९ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! यदि तू यह समझे कि मैं जो सृष्टि रचता हूँ और उसमें किसी को सुखभागी रचता दिखाई देता हूँ और किसी को दुःखभागी, तो सुखी के रचते समय नम्रता व दयालुता का भाव और दुःखी के रचते समय निर्दयता और कठोरता का भाव अर्थात् विषम भाव मेरे में उत्पन्न हो जाता होगा, जिससे मैं भी शायद इस विषम-दोष से दूषित हुआ पुण्य-पाप का भागी होता हूँगा । तो इसका उत्तर यह है कि ये रचना आदि कर्म मुझे किञ्चित् भी बाँधते नहीं हैं, क्योंकि मैं उन कर्मों में उदासीनवत् स्थित हुआ निरासक्त रहता हूँ । जैसे सूर्य विना किसी राग-द्वेष के सबको एकसमान प्रकाशता है और किसी के साथ अधिक या न्यून सम्बन्ध नहीं रखता है ; या जैसे मेघ किसी भी बीज में राग-द्वेष न रखता हुआ उदासीनवत् बरसता है, पर अङ्कुरों, पत्तों और फलों में भेद बीज के भेद से होता है, मेघ के कारण से नहीं, इसी प्रकार अपने-अपने भिन्न-भिन्न बीज-रूप कर्मों के कारण लोग भिन्न-भिन्न फलों को

पाते हैं; मेरे कारण से नहीं, और न मुझमें विषमता ही है, क्योंकि मैं पुण्यवानों वा पापियों के साथ कोई राग-द्वेष नहीं रखता, बल्कि उनके कर्मानुसार उन्हें जन्म देता हूँ, इसलिये मुझे यह रचना का काम कोई भी बन्धायमान नहीं करता। अथवा जैसे मायावी पुरुष अपनी माया से अनेक पदार्थ रच लेता है, अर्थात् मायावी पदार्थों की सृष्टि, स्थिति, लय को करता है, तो वे (सृष्टि, स्थिति, लय-रूप) कर्म उस मायावी पुरुष को नहीं बाँधते। या जैसे स्वप्न-द्रष्टा पुरुष स्वप्न में अनेक पदार्थों की सृष्टि, स्थिति और लय का कर्म करता है, पर वे कर्म स्वप्न-द्रष्टा को वास्तव में बन्धायमान नहीं करते, वैसे ही मैं परमेश्वर भी अपनी माया-शक्ति से इस आकाशादि प्रपञ्च की सृष्टि, स्थिति और लय को करता हूँ, पर इन कर्मों से मैं किञ्चित् बन्धायमान नहीं होता हूँ, क्योंकि ये सब कर्म मुझमें स्वप्नवत् मिथ्याभूत ही हैं और मैं उनमें उदासीनवत् द्रष्टा और असंग स्थित हूँ ॥ ६ ॥ *

---

* श्रीज्ञानदेवजी की विचित्र ढंग से व्याख्या इस श्लोक पर ऐसे है—

"समुद्र में जो पानी की लहरें छूटती हैं उन्हें जैसे लवण का घाट रोक नहीं सकता वैसे ही सब कर्मों का अन्त मुझमें ही होने के कारण वे कर्म क्या मुझे बाँध सकते हैं ? धुएँ की रजों का पिंजरा क्या बहती हुई वायु को थाँभ सकता है ? अथवा सूर्यबिम्ब में क्या अँधेरा प्रवेश कर सकता है ? और रहने दो, पर्वत के हृदय में जैसे वर्षा की धाराएँ नहीं चुभ सकतीं वैसे ही प्रकृति का कर्म-समूह मुझे नहीं लग सकता। यों तो इस प्रकृति के कार्यों में एक मैं ही भरा हुआ हूँ ऐसा समझना चाहिए। परन्तु उदासीन के समान मैं न कुछ करता हूँ न कराता हूँ। जैसे घर में रक्खा हुआ दीपक न किसी को कर्म में प्रवृत्त करता है न किसी को निवारण करता है और यह भी नहीं जानता कि कौन क्या व्यापार करता है—वह जैसा साक्षिभूत है; तथापि घर के व्यापार में प्रवृत्ति का कारण है—वैसे ही प्राणियों के कर्मों से उदासीन रहता हुआ मैं

सम्बन्ध—पहले यह कहा कि "मैं सारी सृष्टि को रचता हूँ" और फिर यह कहा कि "मैं उदासीनवत् स्थित हूँ", इन परस्पर-विरोधी दिखाई देनेवाले वाक्यों से अपना आशय स्पष्ट होता न देखकर भगवान् उसे अब अधिक स्पष्ट रीति से वर्णन करते हैं—

मयाऽध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम् ।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्त्तते ॥१०॥

मया, अध्यक्षेण, प्रकृतिः, सूयते, स-चर-अचरं	मुझ अध्यक्ष से प्रकृति चर-अचर के सहित (जगत्) को उत्पन्न करती है	हेतुना, अनेन, कौन्तेय	हे अर्जुन ! इस हेतु से
		जगत्, विपरिवर्त्तते	जगत् परिवर्तन करता रहता है

अन्वयार्थ—हे अर्जुन ! मुझ अध्यक्ष से प्रकृति सब चराचर-रूप (जगत्) को उत्पन्न करती है, इस हेतु से यह जगत् परिवर्तन करता रहता है ॥ १० ॥

व्याख्या—हे कुन्ती-पुत्र अर्जुन ! जैसे सूर्य अथवा दीपक के आश्रय कोई काम हो, तो सूर्य अथवा दीपक उस कर्म का कर्ता-भोक्ता नहीं हो जाता किन्तु वैसे का वैसा ही उस कर्म से असङ्ग वा निर्लिप्त रहता है; वैसे ही मैं जो समस्त ब्रह्माण्ड का वास्तव में साक्षी, नियन्ता और अधिष्ठाता हूँ, मेरे आश्रय यदि कोई काम हो जाय, तो मैं उसका कर्ता-भोक्ता नहीं हो जाता किन्तु वैसे का वैसा ही उस कर्म से असङ्ग वा निर्लिप्त, अर्थात् अकर्ता, अभोक्ता रहता हूँ। इसी प्रकार मुझ अध्यक्ष के

प्राणियों में व्याप्त हूँ। बहुतेरी उपपत्तियों के साथ यही एक अभिप्राय मैं तुमसे बारम्बार कहाँ तक कहूँ ? हे सुभद्रापति ! एक बार इतना ही जान लो कि जैसे सूर्य मनुष्यों के सम्पूर्ण व्यापारों का केवल निमित्त ही रहता है वैसे ही हे पांडुसुत ! जगत् की उत्पत्ति का मैं निमित्त-कारण हूँ।"

आश्रय ही यह प्रकृति (मेरी माया) इस सारे चराचर (स्थावर-जङ्गम) जगत् को उत्पन्न करती है और इस कारण से, (मेरी इस माया के कारण से अथवा मेरे साक्षित्व और अधिष्ठाता होने पर) यह जगत् बनता-बिगड़ता रहता है, अर्थात् बारम्बार उत्पन्न होता और लय होता है, परन्तु मैं इस कारण इन रचनादि कर्मों का कर्ता-भोक्ता नहीं हो जाता हूँ, बल्कि वैसे का वैसा ही असङ्ग वा निर्लिप्त रहता हूँ। यद्यपि कहने में यही आता है कि ये सब कर्म मैं ही कराता हूँ, क्योंकि प्रकृति स्वयं जड़ है और विना मेरी सत्ता वा आश्रय के न कुछ करती है और न कर ही सकती है, तथापि मैं सूर्य वा दीपकवत् निस्सम्बन्ध, साक्षी और प्रेरक होने से इन सब कार्यों के अन्दर अकर्ता, अभोक्ता और असङ्ग ही रहता हूँ। यही मेरी अद्भुत माया है ॥ १० ॥ ❀

सम्बन्ध—(१) मुझ ऐसे शुद्ध-स्वभाव को अकर्ता, अभोक्ता और साक्षी कौन नहीं जानते ? उन्हें भगवान् अब वर्णन करते हैं—

अथवा (२) ऐसे निर्लिप्त व मुक्त-स्वभाव भगवान् को साधारण लोग क्यों नहीं जानते ? इसे भगवान् अब पुनः स्पष्ट करते हैं—

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम् ॥११॥

अवजानन्ति, मां, मूढाः, मानुषीं, तनुं, आश्रितम्	मूर्ख लोग मुझ मानुषी शरीर के आश्रित का अनादर करते हैं	परं, भावं, अजानन्तः, मम, भूत-महा-ईश्वरं	मेरे भूतों के महान् ईश्वर-रूप परम भाव को न जानते हुए

अन्वयार्थ—मूर्ख लोग मेरे भूतों के महेश्वर-रूप परम भाव को न जानते हुए मुझ मानव-शरीरधारी का अनादर करते हैं ॥ ११ ॥

❀ इस विषय में कठ उपनिषद् में ऐसे आया है—"सूर्यो यथा

व्याख्या—हे अर्जुन ! मैं जो वास्तव में निरासक्त, असङ्ग, निर्लिप्त, अकर्ता, अभोक्ता, साक्षी और सब भूतों का महान् ईश्वर हूँ, मेरे इस परम भाव, अर्थात् परम स्वरूप को मूढ़ (मूर्ख वा अविवेकी) पुरुष नहीं जानते हैं। मुझे एक मनुष्य-देह-धारी देखकर यही समझते हैं कि मैं उनके समान एक मनुष्य हूँ, या मनुष्य का शरीर ही मेरा परम स्वरूप है, इस प्रकार मुझे एक परिच्छिन्न देहधारी समझकर वे मेरी अवज्ञा (अनादर वा हतक) करते हैं॥ ११॥

सम्बन्ध—(१) उक्त मूर्खों के भगवान् अब विशेषण निरूपण करते हैं—

अथवा (२) इन मूर्खों की प्रवृत्ति कैसे होती है, इसे भगवान् अब कहते हैं—

अथवा (३) उक्त अवज्ञा से जो इन मूर्खों को फल मिलता है, उसे भगवान् अब कहते हैं—

सर्वलोकस्य चक्षुर्न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्यदोषैः। एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः।"=जिस प्रकार सूर्य सारे लोक का चक्षु होता हुआ भी लोगों की आँख के बाहरी दोषों से लिप्त नहीं होता, इसी प्रकार एक अकेला आत्मा सब भूतों का अंतरात्मा होता हुआ भी भूतों के बाह्य दुःखों से लिप्त नहीं होता। (कठ० २०. ५. ११) और श्वेताश्वतर में ऐसे आया है— "एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा। कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च।"=एक ही देव सब भूतों में गूढ़, सर्वव्यापी और सबका अन्तरात्मा है, वह ही कर्मों का अध्यक्ष, सकल भूतों का अधिवास (घर), साक्षी, सबको चेतनता देनेवाला, अकेला या सकल उपाधियों से शून्य और नितान्त निर्गुण है। (श्वेता० ६: ११)

मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः ।
राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः ॥ १२ ॥

मोघ-आशाः, मोघ-कर्माणः, मोघ-ज्ञानाः, वि-चेतसः	व्यर्थ आशाओं-वाले, व्यर्थ कर्मों-वाले, व्यर्थ ज्ञान-वाले, विचार-हीन	राक्षसीं, आसुरीं, च, एव, प्रकृतिं, मोहिनीं, श्रिताः	मोहनेवाली राक्षसी और आसुरी प्रकृति को ही आश्रय किये हुए

अन्वयार्थ—वे व्यर्थ आशाओंवाले, व्यर्थ कर्मोंवाले, व्यर्थ ज्ञानवाले, विचार-हीन पुरुष मोहनेवाली राक्षसी और आसुरी प्रकृति को ही आश्रय किये होते हैं ॥ १२ ॥ ❀

व्याख्या—हे अर्जुन ! जो मेरा परम भाव (स्वरूप) को न जानकर मेरा अनादर करते हैं, उसका कारण यह है कि वे विचार-हीन मूर्ख लोग उस राक्षसी और आसुरी प्रकृति से युक्त हुए होते हैं, जो मोहिनी है अर्थात् जो देह में ही आसक्त करानेवाली अथवा देह को ही आत्मा करके निश्चय करानेवाली या निज स्वरूप से विमुख करानेवाली होती है। या दूसरे शब्दों में ऐसे कि वे विवेक-हीन मूढ़ जन मोहनेवाली, अर्थात् अपने परम स्वरूप से विमुख करानेवाली, राक्षसी और आसुरी प्रकृति (स्वभाव) के वश में आये हुए होते हैं। इसी से वे व्यर्थ आशाओंवाले होते हैं, अर्थात् वे ईश्वर को छोड़कर अन्य देवताओं वा लोकों की प्राप्ति की तुच्छ आशाएँ रखते हैं, अथवा 'विना ईश्वर के

❀ ११, १२, इन दोनों श्लोकों का इकट्ठा अर्थ भी होता है—"व्यर्थ आशाओंवाले, व्यर्थ कर्मोंवाले, निष्फल ज्ञानवाले राक्षसी, आसुरी और मोहिनी प्रकृति को ही आश्रय किये हुए अविवेकी मूढ़ मेरे परम भूतों के महेश्वर-स्वरूप को न जानते हुए मुझ मानव-तन-धारी की अवज्ञा करते हैं ॥ ११, १२ ॥

केवल कर्म ही फल की प्राप्ति कर लेंगे', इस प्रकार की निष्फल वा व्यर्थ आशाएँ उनकी होती हैं। व्यर्थ या घोर कर्मोंवाले और व्यर्थ ज्ञानवाले होते हैं, अर्थात् मुझ परमात्मदेव को छोड़कर अन्य देवताओं की प्राप्ति के निमित्त अग्निहोत्रादि कर्म, अथवा बदला लेने की नीयत से दूसरों को हानि पहुँचाने के घोर कर्म, वे करते हैं और मेरे से अतिरिक्त अन्य सब पदार्थों को सच्चा समझने लग जाते हैं। संक्षेप से यह कि मोहनेवाली राक्षसी और आसुरी प्रकृति के वश में होने से इन विचार-हीन मूर्ख लोगों की आशाएँ, कर्म और ज्ञान सब-के-सब व्यर्थ (बेहूदा) वा घोर होते हैं, जिससे वे मेरी अवज्ञा करते हैं। या दूसरे शब्दों में ऐसे भी हो सकता है कि मेरे स्वरूप के अज्ञान के कारण मेरी अवज्ञा करने से वे विवेक-हीन मूर्ख जन फिर मेरी मोहनेवाली राक्षसी और आसुरी प्रकृति के अधीन हो जाते हैं जिससे उनकी आशाएँ, कर्म और ज्ञान सब-के-सब व्यर्थ वा घोर हो जाते हैं ॥ १२ ॥

सम्बन्ध—(१) पर जो मेरे वास्तविक स्वरूप को जानते हुए मेरी उपासना करते हैं, उनके विषय में भगवान् अब कहते हैं—

अथवा (२) इतना आसुरी स्वभाव का वर्णन हुआ, अब भगवान् दैवी स्वभाव का वर्णन करते हैं—

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः ।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम् ॥ १३ ॥

महा-आत्मानः, तु, मां, पार्थ	पर महात्मा लोग हे पार्थ ! मुझ	भजन्ति, अनन्य-मनसः	अनन्य मनवाले हुए भजते हैं
दैवीं, प्रकृतिं, आश्रिताः	दैवी प्रकृति को आश्रय किये हुए	ज्ञात्वा, भूत-आदिं, अव्ययं	भूतों का अविनाशी कारण जानकर

अन्वयार्थ—पर दैवी प्रकृति* को आश्रय किये हुए महात्मा लोग, हे अर्जुन! मुझे भूतों का अविनाशी कारण जानकर अनन्य मनवाले हो भजते हैं ॥ १३ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन! मूढ़ पुरुष तो असुरों और राक्षसों की प्रकृति (स्वभाव) से विवश होकर मुझे (इस मानव देह के कारण) केवल मनुष्य ही समझते हुए वस्तुतः नहीं जानते हैं जिससे मेरी अवज्ञा करते हैं, परन्तु दैवी प्रकृति को आश्रय किये हुए महात्मा लोग, अर्थात् देवताओं के स्वभाववाले महात्मा जन मुझे ऐसा देहधारी देखते हुए भी समस्त पदार्थों का आदि-कारण और वस्तुतः अविनाशी समझते हैं, जिससे किसी अन्य ओर मन न लगाकर एक-मात्र मुझमें अर्पित चित्त से मुझे नित्य भजते, उपासते, पूजते वा स्मरण करते हैं। अन्य रीति से अभिप्राय यह निकलता है कि अन्तर्यामी परमात्मा जो मनुष्य का निज-स्वरूप है और उसके घट में बसता है, उसे मूढ़ पुरुष आसुरी और राक्षसी स्वभाव-वाला होने के कारण नहीं जानते, केवल अपनी देह को ही परमात्मा करके मानते हैं, जिससे अपने वास्तविक स्वरूप अन्तर्यामी का, अर्थात् वस्तुतः अपने आपका निरादर करते हैं और स्वयं आत्म-हत्यारे होते हैं। परन्तु जो महापुरुष देवताओं के स्वभाववाले हैं, वे अपनी दैवी प्रकृति के कारण इस अन्तर्यामी परमात्मा (अपने निज-स्वरूप) को भूतों का आदि-कारण, अविनाशी स्वरूप, महेश्वर और साक्षी जानते हैं, जिससे इस सबके भीतर छिपे हुए परम-स्वरूप को अनन्य मन से भजते रहते हैं, अर्थात् प्रत्येक पदार्थ में सर्वत्र चलते-फिरते, सदा अपने स्वरूप का ही भान और स्मरण करते रहते हैं ॥ १३ ॥

---

* प्रकृति=स्वभाव। राक्षसी प्रकृति=राक्षसोंवाला स्वभाव। आसुरी प्रकृति=असुरोंवाला स्वभाव। राक्षस=जंगली, हिंसक और तामस प्रकृतिवाले लोग। और असुर=देवताओं के विरोधी, दम्भादि से युक्त निरे स्वार्थी जन।

सम्बन्ध—(१) उक्त महात्मा लोग जिस-जिस प्रकार से भगवत्-भजन करते हैं, उसे भगवान् अब दो श्लोकों में स्पष्ट करते हैं—

अथवा (२) उक्त महात्मा लोग जिन-जिन साधनों से भगवत्-भजन करते हैं, उनको भगवान् अब दो श्लोकों में स्पष्ट करते हैं—

सततं कीर्त्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः ।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते ॥ १४ ॥

सततं, कीर्त्तयन्तः, माँ	सदा कीर्तन करते हुए मुझे	नमस्यन्तः, च, माँ, भक्त्या, नित्य-युक्ताः, उपासते	नमस्कार करते हुए और भक्ति से सदा युक्त हुए मुझे उपासते हैं
यतन्तः, च, दृढ-व्रताः	यत्न करते हुए और दृढ़ व्रतोंवाले हुए		

अन्वयार्थ—(वे महात्मा) यत्न-शील, दृढ़व्रती और भक्ति * से नित्य युक्त हुए सदा मेरा कीर्तन करते और वंदना (नमस्कार) करते हुए मुझे उपासते हैं ॥ १४ ॥ †

---

* बहुत पुरुष 'भक्त्या' शब्द को 'नित्य-युक्त' के साथ लगाकर यह अर्थ करते हैं 'भक्ति से नित्य-युक्त होकर।' और यदि कुछ पुरुषों के विचारानुसार 'भक्त्या' शब्द को 'नमस्यन्तः' के साथ लगाकर पढ़ा जाय, तो 'नित्ययुक्त' का अर्थ 'सदा अपने स्वरूप के ध्यान में युक्त' वा आठवें अध्याय में वर्णित 'अभ्यास-योग में युक्त रहनेवाला' होगा।

† ११ से १४ तक श्लोकों का आशय कई व्याख्याकारों ने भगवान् का अवतार लिया है, अर्थात् भगवान् ने जो यह कहा है कि "मानव तन मैंने धारण किया हुआ है और मूढ़ पुरुष आसुरी तथा राक्षसी स्वभाववाले होने के कारण मुझे वास्तविक रूप से नहीं जानते, केवल मुझे मनुष्य मानते हैं, जिससे मेरी अवज्ञा करते हैं, और महात्मा लोग दैवी स्वभाववाले हुए मुझे

व्याख्या—हे अर्जुन ! वे महात्मा लोग सदा कीर्तन द्वारा, अर्थात् स्तोत्रादि से मेरी सदा स्तुति और महिमा गाते हुए ; प्रयत्न द्वारा, अर्थात् शम-दमादि साधनों से पुरुषार्थ वा यत्न करते हुए ; और दृढ़ व्रतों द्वारा, अर्थात् पक्के निश्चयों से वा अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्यादि व्रतों को धारण करते हुए ; बड़े प्रेम से नमस्कार करते हुए और परम भक्ति से भरे हुए

भूतों का अविनाशी कारण जानकर अनन्य चित्त से मेरी भक्ति करते हैं।" इस सारे कथन से कई टीकाकार भगवान् का अवतार सिद्ध करते हैं। पर अद्वैतवाद अर्थात् आत्मज्ञान की दृष्टि से तो इन श्लोकों का सीधा एक दूसरा अभिप्राय यह हो सकता है कि श्रीकृष्णजी अपने परमार्थ स्वरूप (नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त-रूप) के लक्ष्य से यह वचन कहते हैं कि मूढ़ मुझे वास्तव में नहीं जानते, बल्कि मुझे एक मनुष्य-देह समझकर मेरी अवज्ञा करते हैं, और विवेकी महापुरुष मुझे भूतों का महेश्वर और आदि-कारण जानकर मेरी भक्ति करते हैं। इस प्रकार अद्वैतवाद में यह सारा कथन मनुष्य-मात्र के अभिप्राय से भी हो सकता है कि "राक्षसी और आसुरी प्रकृति के लोग अपने आपको केवल देह मानते हैं, अर्थात् इस मनुष्य-शरीर को ही आत्मा समझते हैं और इस शरीर के भीतर छिपे हुए अन्तर्यामी को अपना वास्तविक स्वरूप नहीं मानते, जिससे अपने शुद्ध सच्चिदानन्द-स्वरूप की (जो श्रीकृष्णजी का परम स्वरूप है, उसकी) अवज्ञा करते हैं। और दैवी प्रकृति के महापुरुष केवल देह को आत्मा (अपना आप) नहीं मानते, बल्कि सबके भीतर व्यापक और सबके साक्षी अन्तर्यामी को ही अपना आप अर्थात् अपना वास्तविक स्वरूप (आत्मा) समझते हैं, जिससे सब प्राणियों के हितैषी होते और सबके आत्मा को अपना आत्मा मान करते हुए सबसे स्वतः प्यार करते हैं जो वास्तव में श्रीकृष्ण भगवान् की ही भक्ति है।" यह आशय 'आत्मौपम्येन सर्वत्र' (गीता ६. ३२) में कहे भाव के साथ पूरा मेल खाता है।

चित्तवाले होकर, या मेरे परम स्वरूप के ध्यान में निरन्तर युक्त होते हुए मुझे निरन्तर भजते वा उपासते हैं ॥ १४ ॥

सम्बन्ध—और किन-किन विधियों वा साधनों से वे महात्मा लोग भगवत्-भजन करते हैं, इसे भगवान् अब दर्शाते हैं—

ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते ।
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतो मुखम् ॥१५॥

ज्ञान-यज्ञेन, च, अपि, अन्ये, यजन्तः, माम्, उपासते	और कोई एक ज्ञान-यज्ञ से भी यजन करते हुए मुझे उपासते हैं	एकत्वेन, पृथक्त्वेन, बहुधा, विश्वतः-मुखं	सब ओर मुखवाले को एकत्व रूप से, पृथक् रूप से, वा नाना रूप से

अन्वयार्थ—और कई एक मुझ सब ओर मुखवाले को ज्ञान-यज्ञ* से ही यजन करते हुए एकत्व-रूप से, पृथक्-रूप से और नाना-रूप से उपासते हैं ॥१५॥

---

* 'ज्ञान-यज्ञ'=भगवत्-विषयक ज्ञान-रूप जो यज्ञ है, वह ज्ञान-यज्ञ है। (श्रीशङ्कराचार्य)। भगवत्-चिन्तन में चित्तवृत्ति की निरन्तर आहुति (अर्पण वा नित्य-युक्त) होते रहना ज्ञान-यज्ञ है, जो चिन्तन भगवान् के एकत्व-रूप, पृथक्-रूप और नाना-रूप से हो सकता है। (टीकाकार)। ज्ञान-यज्ञ का अर्थ 'परमेश्वर के स्वरूप का ज्ञान से ही आकलन करके उसके द्वारा सिद्धि प्राप्त कर लेना' है। किन्तु परमेश्वर का यह ज्ञान भी द्वैत-अद्वैत आदि भेदों से अनेक प्रकार का हो सकता है ; इस कारण ज्ञान-यज्ञ भी भिन्न-भिन्न प्रकार से हो सकते हैं। इस प्रकार यद्यपि ज्ञान-यज्ञ अनेक हों, तो भी पन्द्रहवें श्लोक का तात्पर्य यह है कि परमेश्वर के विश्वतोमुख होने के कारण, ये सब यज्ञ उसे ही पहुँचते हैं। 'एकत्व', 'पृथक्त्व' आदि पदों से प्रकट है कि द्वैत-अद्वैत-विशिष्टाद्वैत आदि सम्प्रदाय यद्यपि अर्वाचीन हैं, तथापि ये कल्पनाएँ प्राचीन

पहली व्याख्या—हे अर्जुन! पूर्वोक्त भक्तों से अतिरिक्त जो ज्ञानी भक्त हैं, उनमें से कई एक ज्ञानवान् भगवत्-विषयक ज्ञान-रूप जो यज्ञ है उस यज्ञ से मुझे पूजते हुए मुझ सर्व ओर मुखवाले की एकत्व-रूप से उपासना करते हैं, अर्थात् "वासुदेवः सर्वमिति"=यह सब वासुदेव ही है, अथवा "यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति"=जो मुझको सबमें और सबको मुझमें देखता है, इस रीति से अथवा "मैं ही ईश्वर हूँ, मुझमें और ईश्वर में कुछ भी भेद नहीं है", इस प्रकार एकता के भाव से कई एक ज्ञानी मेरी उपासना करते हैं। तात्पर्य यह कि "त्वं वा अहमस्मि भगवो देवते अहं वै त्वमसि।"=हे भगवन्! सगुण अथवा निर्गुण देवता-रूप जो तू है, सो मैं हूँ, और जो मैं हूँ, सो तू है; यह श्रुति-वाक्य ज्ञान है, और इस अभेद-ज्ञान से निरन्तर चिन्तन, अर्थात् अहंग्रह-उपासना का नाम ज्ञान-यज्ञ है। इस प्रकार के ज्ञान-यज्ञ से मेरा यजन करते हुए (पूजन वा चिन्तन करते हुए) मुझ सर्व ओर मुखवाले (विराट् स्वरूप) को एकत्व भाव, अर्थात् अभेद-रूप से उपासते अर्थात् ध्याते हैं। और कई एक ज्ञानवान् भक्त मुझे पृथक् भाव से उपासते हैं, अर्थात् श्रुतियों में जो "आदित्यो ब्रह्मेत्यादेशः"=

हैं। (श्रीतिलक महाराज)। यद्यपि व्याख्याकारों ने यहाँ ज्ञान-यज्ञ से अभिप्राय ज्ञान-रूप यज्ञ लिया है, पर जब अगला श्लोक यज्ञ की सामग्री में ब्रह्म-दृष्टि दिखलाता है, तो यहाँ ज्ञान-यज्ञ से अभिप्राय 'यजनीय देवता का तत्त्व-ज्ञान के सहित यज्ञ' ही हो सकता है, और 'एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतो मुखम्' भी इसी अर्थ में ठीक सङ्गत हो सकता है, और 'यजन्तः उपासते' में पुनरुक्ति भी नहीं आती, अन्यथा ज्ञान को रूपक से यज्ञ कहा हो, तो उपासना ही रूपक से यजन ठहरता है, यजन कोई अलग नहीं रहता। तब 'यजन्तः उपासते' न कहकर केवल 'यजन्ति' कहना ही पर्याप्त हो सकता है। (पं० राजाराम)

सूर्य ब्रह्म है, यह आदेश है, (छां० ३. १९. १, इत्यादि) प्रतीक उपासना-रूप ज्ञान-यज्ञ है, उससे मेरा चिन्तन-रूप पूजन करते हुए मुझ विराट्-स्वरूप को अपने से पृथक् समझते हुए, अर्थात् भेद-भाव से भजते वा ध्याते हैं। और कई एक भक्त तो नाना रूप, नाना भाव और नाना रीतियों से मेरी उपासना करते हैं, अर्थात् कई एक तो ब्रह्मा, विष्णु, महेश, सूर्य, शक्ति, गणेश, अग्नि, चन्द्र, पवन, जल, राम, कृष्ण इत्यादि नाना रूपों से, सखा, दास इत्यादि नाना भावों के साथ, नाना कर्म द्वारा मुझ विश्व-रूप को ध्याते वा उपासते हैं॥ १५॥

दूसरी व्याख्या—हे अर्जुन! यजनीय देवता का उसके तत्त्व-ज्ञान-सहित जो यज्ञ किया जाता है, वह 'ज्ञान-यज्ञ' कहलाता है, और उसके तत्त्व-ज्ञान विना जो यज्ञ किया जाता है, वह केवल 'यज्ञ' कहलाता है। और यह यजनीय देवता व्यष्टि-रूप से वा समष्टि-रूप से एक परमात्मा ही है। समष्टि-रूप में एक भाव से उस परमात्मदेव की पूजा होती है, और व्यष्टि-रूप में इन्द्र, वरुण आदि अलग-अलग भाव से होती है। पर है वही एक बहुधा रूपों में फैला हुआ। उसकी यह नाना भाव अथवा एक भाव से पूजा उसकी व्यापक महिमा का चिह्न है, क्योंकि वह सब ओर मुखवाला है। इस प्रकार ज्ञान-यज्ञ द्वारा यजन करते हुए कोई भक्त एक भाव से, कोई पृथक् भाव से और कोई नाना भाव से मुझ विश्व-रूप परमात्मा की उपासना करते हैं॥ १५॥ ❀

सम्बन्ध—(१) उक्त बहुत प्रकार की उपासना केवल भगवान् की कैसे हो सकती है? इसका हेतु भगवान् स्वयं बीसवें श्लोक तक वर्णन करते हैं—

❀ इस श्लोक में भगवान् ने एकत्व, पृथक्त्व और विश्वतोमुख, इस तरह तीन प्रकार की उपासना बताकर अद्वैत, द्वैत और विशिष्टाद्वैत के सिद्धान्तों को पुष्ट किया है, ऐसा प्रतीत होता है। और ये द्वैत-अद्वैत आदि सम्प्रदायें यद्यपि अर्वाचीन हैं; तथापि ये कल्पनायें प्राचीन हैं।

अथवा (२) अभेद-रूप ज्ञान-यज्ञ की उपासना, अर्थात् अहंग्रह-उपासना की विधि का विस्तार भगवान् अब बीसवें श्लोक तक करते हैं—

अथवा (३) उक्त श्लोक में परमेश्वर का एकत्व और पृथक्त्व बतलाया गया है, अब उसी का अधिक निरूपण कर बतलाते हैं कि पृथक्त्व में एकत्व क्या है—

अथवा (४) भगवान् को विश्वतोमुख जानकर प्राणी उसके विराट्-रूप की उपासना किस प्रकार करते हैं, इसे भगवान् अब दर्शाते हैं—

अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाऽहमहमौषधम् ।
मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम् ॥१६॥

अहं, क्रतुः, अहं, यज्ञः	मैं क्रतु, मैं यज्ञ हूँ	मन्त्रः, अहं, अहं, एव, आज्यं	मैं मन्त्र, मैं ही घी हूँ
स्वधा, अहं, अहं, औषधं	मैं स्वधा, मैं औषध हूँ	अहं, अग्निः, अहं, हुतं	मैं अग्नि, मैं हवन-कर्म हूँ

अन्वयार्थ—मैं क्रतु* हूँ, मैं यज्ञ हूँ, मैं स्वधा हूँ, मैं औषध हूँ, मैं मन्त्र हूँ, मैं ही घी हूँ, मैं अग्नि हूँ, और मैं ही हवन-कर्म हूँ ॥ १६ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! यज्ञ इत्यादि प्रत्येक कर्म में अहंग्रह-उपासना की विधि ऐसे है कि उपासक यज्ञ-याग करते समय यों चिन्तन करता है कि—(अथवा बहुत प्रकार की उपासना जो पूर्व श्लोकों में वर्णन हुई

---

* क्रतु=श्रौत यज्ञ ; और यज्ञ=स्मार्त यज्ञ ; और औषध=मनुष्यों से जो खाई जाती है। (श्रीशङ्कराचार्य)

क्रतु=सङ्कल्प, अर्थात् देवता का ध्यान-रूप ; और यज्ञ=श्रौत-स्मार्त यज्ञ। (श्रीनीलकण्ठ)

क्रतु=सोम-यज्ञ ; और यज्ञ=महायज्ञ ; और औषध=चरु। (पं० राजाराम)

है, वह वास्तव में मेरी ही उपासना इसलिये है कि)—मैं ही क्रतु अर्थात् श्रौत-कर्म हूँ ; अर्थात् जिस वैदिक कर्म में बहुत-से खम्भे गाड़े जाते हैं और मध्य में कुण्ड बनाकर हवन होता है, जैसे अग्निष्टोमादि याग, वह क्रतु-कर्म मैं हूँ। मैं ही यज्ञ हूँ ; अर्थात् बलिवैश्वदेवादिक स्मार्त-कर्म, जो महायज्ञ भी कहलाते हैं, वह मैं हूँ। स्वधा मैं हूँ ; अर्थात् मंत्रों से जो अन्न पितरों को दिया जाता है, वह अन्न मैं हूँ। औषध मैं हूँ ; अर्थात् नाना प्रकार की बूटियाँ वा यवादि जो प्राणी भक्षण करते हैं और यज्ञाग्नि में डाले जाते हैं, वह सर्व प्रकार की औषध मैं हूँ। मैं मंत्र हूँ ; अर्थात् यज्ञ में हवन करते समय पढ़े जानेवाले मंत्र मैं हूँ, अथवा 'स्वाहा', 'स्वधा' ये शब्द जो वैदिक मन्त्र कहलाते हैं, जिनके उच्चारण से यज्ञ में देवता को हवि-द्रव्यादि और पितरों को श्राद्धादि दिया जाता है, वह मंत्र मैं हूँ। मैं ही घी हूँ ; अर्थात् जो हवन-अग्नि में देवताओं के लिये घी डाला जाता है, वह यज्ञ-कर्म का सहायक घी मैं हूँ। मैं ही अग्नि हूँ ; अर्थात् जिस अग्नि में हवन किया जाता है, वह यज्ञाग्नि भी मैं हूँ। और हवन-रूप कर्म भी मैं हूँ ; अर्थात् जिससे होम किया जाता है, वह अग्नि में छोड़ी हुई आहुति अथवा हवन-कर्म मैं ही हूँ। तात्पर्य यह कि यज्ञ और उसकी सब सामग्री, क्रिया, कारक, फल इत्यादि ये सब मैं ही हूँ, इसलिये इस प्रकार अथवा इस ध्यान से जो यज्ञ द्वारा उपासना करता है, वह वास्तव में मेरी ही उपासना करता है, अथवा वह अभेदता से या मेरा एकत्व-रूप से पूजन करता हुआ वास्तव में अहंग्रह-उपासना ही करता है ॥ १६ ॥

सम्बन्ध—और—

पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः ।
वेद्यं पवित्रमोंकार ऋक् साम यजुरेव च ॥१७॥

पिता, अहं, अस्य, जगतः, माता, धाता, पितामहः	इस जगत् का मैं पिता, माता, धाता और पितामह हूँ	वेद्यं, पवित्रं, ओङ्कार, ऋक्, साम, यजुः, एव, च	जानने-योग्य पवित्र ओंकार, ऋक्, साम, और ऐसे ही यजु हूँ

अन्वयार्थ—इस जगत् का मैं पिता, माता, धाता और पितामह हूँ, जानने-योग्य पवित्र* ओंकार, और ऐसे ही ऋक्, साम, यजु हूँ ॥ १७ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! इस संसार का उत्पन्न करनेवाला पिता-माता (पुरुष-प्रकृति, शिव-शक्ति, वा ईश्वर-माया) मैं हूँ। इस जगत् का विधाता भी मैं हूँ ; अर्थात् इस जगत् का पालन-पोषण करनेवाला, तथा प्राणियों के पुण्य-पाप-रूप कर्मों के सुख-दुःख-रूप फल का देनेवाला मैं हूँ। इस ब्रह्माण्ड का पितामह (पिता का भी पिता अर्थात् पुरुषोत्तम भगवान्) भी मैं हूँ। जानने-योग्य परमार्थ वस्तु, शुद्ध करनेवाले गंगा-स्नान आदि पवित्र पदार्थ और ओंकार मैं हूँ ; अथवा जानने-योग्य तथा पवित्र करनेवाला जो प्रणव अक्षर ओंकार है, वह ओंकार मैं हूँ ; अथवा जो कुछ ज्ञेय या जो कुछ पवित्र है, वह और ओंकार मैं हूँ। और इसी प्रकार ऋक्, साम, यजुः और अथर्व वेद भी मैं हूँ ; अथवा वेदों में जो ऋचाएँ, गीत और यजुस् हैं, अर्थात् वेदों में जो पद्य, गीत और गद्य-रूप तीन प्रकार के मन्त्र हैं, वह सब मैं ही हूँ। संक्षेप से यह कि इस जगत् का प्रमाता, प्रमाण और प्रमेय सब मैं ही हूँ ॥ १७ ॥

सम्बन्ध—और—

गतिर्भर्त्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत् ।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम् ॥ १८ ॥

---

* पवित्र=पावन (श्रीशंकराचार्य)। पवित्र=पावन वा प्रायश्चित्त आदिक (श्रीश्रीधर)। और पवित्र=तप आदि (श्रीनीलकंठ)।

गतिः, भर्ता, प्रभुः, साक्षी, निवासः, शरणं, सुहृत्	गति, भर्ता, प्रभु, साक्षी, निवास, शरण, सुहृद् मैं हूँ	प्रभवः, प्रलयः, स्थानं, निधानं, बीजं, अव्ययं	उत्पत्ति, प्रलय, स्थान, निधान और अविनाशी बीज मैं हूँ

अन्वयार्थ—(सबकी) गति, भर्ता, प्रभु, साक्षी, निवास, शरण, सुहृद्, उत्पत्ति, प्रलय, स्थान, निधान और अविनाशी बीज मैं हूँ ॥ १८ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! सब संसार की गति अर्थात् कर्म का फल अथवा ठिकाना या ठौर, मार्ग या मार्गोद्देश्य वा मंज़िले-मक़सूद मैं हूँ । भर्ता अर्थात् सारे जगत् का भरण-पोषण करनेवाला मैं हूँ । प्रभु अर्थात् सबका सुख देनेवाला स्वामी वा नियंता मैं हूँ । साक्षी, अर्थात् समस्त संसार के शुभाशुभ कर्मों को देखनेवाला मैं हूँ । निवास अर्थात् सबका निवास-स्थान (अथवा वह स्थान जिसमें यह समस्त संसार रहता, सहता और स्थित है) मैं हूँ । शरण अर्थात् वह स्थान जहाँ दुःखी लोग आकर शरण लेते हैं (अथवा शरणागत पुरुषों की पनाह वा आश्रय अथवा उनके दुःखों को हरनेवाला) मैं हूँ । सुहृद् अर्थात् विना प्रयोजन वा विना प्रत्युपकार की इच्छा वा अपेक्षा के सबके साथ हित अर्थात् उपकार करनेवाला मैं हूँ । प्रभव, प्रलय, स्थान=अर्थात् जगत् की उत्पत्ति, लय और स्थिति का आधार अथवा वह आधार जिस करके यह जगत् उत्पन्न होता है, जहाँ फिर यह लय हो जाता है, और जिसके आश्रय पुनः यह स्थित होता है, वह सब-का-सब मैं हूँ । निधान अर्थात् वह गुह्य-भण्डार अथवा कोष जिसमें भविष्य-काल में या आवश्यक समय पर भोगने-योग्य पदार्थ वा भोग सब रक्खे रहते हैं, वह मैं हूँ; अथवा सारे जगत् की जमा-पूँजी मैं हूँ । और अविनाशी बीज अर्थात् उत्पत्ति-नाश से रहित वा कदापि न नाश होनेवाला (अनखुट्ट) सबकी उत्पत्ति का कारण भी मैं हूँ ॥ १८ ॥

सम्बन्ध—और—

तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च ।
अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन ॥ १९ ॥

तपामि, अहं, अहं, वर्षं, निगृह्णामि, उत्सृजामि, च	मैं तपाता हूँ, मैं वर्षा को थामता और बरसाता हूँ	अमृतं, च, एव, मृत्युः, च, सत्, असत्, च, अहं, अर्जुन	हे अर्जुन ! अमृत और ऐसे ही मृत्यु और सत् और असत् मैं हूँ

अन्वयार्थ—हे अर्जुन ! मैं तपाता हूँ, मैं वर्षा को थामता और बरसाता हूँ। और अमृत तथा मृत्यु, और सत् तथा असत् (सब) मैं ही हूँ ॥ १९ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! ग्रीष्म-ऋतु में मैं ही अग्नि और सूर्य-रूप से तपाता हूँ, अथवा सब समय मैं ही गरमी करता हूँ। और इस ताप से मैं ही पृथिवी पर वर्षा के जल को ग्रहण करता, आकर्षण करता, खींचता वा थामता हूँ, और मैं ही उस थामे हुए जल को वृष्टि-रूप से छोड़ता हूँ; अर्थात् मैं ही वर्षा को थामता हूँ, और मैं ही उसे बरसाता हूँ। अमृत अर्थात् देवताओं से भक्षण करने-योग्य अन्न, अथवा सब प्राणियों का जीवन वा नितान्त मृत्यु-रहित अवस्था मैं हूँ; और मृत्यु, अर्थात् सब प्राणियों का जो नाश करे, वा सब प्राणियों का जो विनाश है, वह मैं हूँ। और ऐसे ही सत् अर्थात् अविनाशी (अथवा व्यक्त वा दृश्य पदार्थ), और असत् अर्थात् विनाशी (अथवा अव्यक्त वा अदृश्य पदार्थ), ये सब-के-सब मैं हूँ। अतः जो उक्त भाव से, उक्त वर्णित रूपों से यज्ञों द्वारा मेरी पूजा करता है, वह वास्तव में मेरी ही उपासना करता है। अथवा जो उक्त प्रकार की अभेद-दृष्टि से चिन्तन-रूप यज्ञादि कर्म करता है, वह वास्तव में अहंग्रह-उपासना करता हुआ एकत्व-रूप से वस्तुतः मेरा ही ध्यान वा पूजन करता है ॥ १९ ॥

सम्बन्ध—(१) इस प्रकार ज्ञान-यज्ञ से उपासना के नाना रूप दर्शाकर अब भगवान् अज्ञानी वा कामी पुरुषों की यज्ञ-मात्र से उपासना को फल के सहित दो श्लोकों में वर्णन करते हैं—

अथवा (२) इस प्रकार अहंग्रह-उपासना की विस्तारपूर्वक विधि निरूपण करके अब भगवान् प्रतीक-उपासना वा भेद-उपासना की विधि फल के सहित दो श्लोकों में निरूपण करते हैं—

अथवा (३) इस प्रकार ज्ञान-यज्ञ से भगवदुपासना को बहुधा रूप से दर्शाकर अब भगवान् उक्त ज्ञान से हीन केवल यज्ञ-मात्र अर्थात् ज्ञान-रहित कर्म को फल के सहित दो श्लोकों में वर्णन करते हैं—

अथवा (४) इस प्रकार यद्यपि परमात्मा के रूप अनेक हैं, तथापि भगवान् उनकी एकत्व-रूप से उपासना और अनेकत्व-रूप से उपासना में जो भेद है, उसको परिणाम के सहित दो श्लोकों में निरूपण करते हैं—

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते । ते पुण्यमासाद्य सुरेंद्रलोकमश्नन्ति दिव्यान्दिवि देवभोगान् ॥ २० ॥

त्रै-विद्याः, माम् सोम-पाः, पूत-पापाः, यज्ञैः, इष्ट्वा	तीन विद्याओंवाले, सोम पीनेवाले, शुद्ध हुए पापोंवाले, मुझे यज्ञों से पूजन करके	ते, पुण्यं, आसाद्य, सुर-इन्द्र-लोकं, अश्नन्ति, दिव्यान्, दिवि, देव-भोगान्	वे लोग पुण्य-रूप देवेन्द्रलोक को पाकर द्यौ में देवताओं के दिव्य भोगों को भोगते हैं
स्वर्-गतिं प्रार्थयन्ते	स्वर्ग-गति की प्रार्थना करते हैं		

अन्वयार्थ—तीन विद्याओंवाले*, सोम-रस पीनेवाले, शुद्ध हुए पापोंवाले

* त्रयी=ऋक्, यजुः, साम। यज्ञ में इन तीनों वेदों का प्रयोग होता है,

लोग, यज्ञों से मुझे पूजते हुए स्वर्ग-गति की प्रार्थना करते हैं। वे फिर पुण्य-रूप देवेन्द्रलोक को पाकर द्यौ में देवताओं के दिव्य भोगों को भोगते हैं ॥ २० ॥

व्याख्या—अर्जुन! जो लोग तीनों विद्यावाले हैं; अर्थात् वेदों में ऋचाएँ, गीत और यजुस्, इन तीनों के जाननेवाले हैं, अथवा इन तीन प्रकार के मंत्रों द्वारा कर्म करनेवाले जो हैं; अथवा यज्ञ में होता-कृत कर्म, अध्वर्यु-कृत कर्म और उद्गाता-कृत कर्म, और इन कर्मों के ज्ञान का हेतु-रूप ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, इस प्रकार की तीन विद्या के जाननेवाले जो हैं। जो लोग सोम-रस पीनेवाले वा सोम-याजी हैं, अर्थात् यज्ञ से बचे हुए सोमवल्ली के रस को (जिसे अमृत भी कहते हैं) पीनेवाले जो हैं। जो शुद्ध हुए पापोंवाले हैं; अर्थात् उस अमृत-रूप सोम-रस के पीने से जिनके पाप नष्ट हो गये हैं अथवा पापों से रहित जो लोग हो गये हैं। ऐसे निष्पापी लोग जो श्रौत-स्मार्त काम्य-यज्ञों से मेरा यजन (पूजन) करते हैं; अर्थात् देवता मेरा ही शबल रूप हैं, ऐसा न जानते हुए भी जो पुरुष उक्त रीति से निष्पाप हुए वसु, रुद्र, आदित्य वा इन्द्रादि रूपों से मेरी उपासना करते हैं। और कामनाओं के वश में होकर भिन्न-भिन्न काम्य-यज्ञों से जो लोग स्वर्ग-मार्ग अर्थात् भोग-सुखदायक स्वर्गलोक में जाने की अभिलाषा करते हैं। वे इस प्रार्थना से पुण्यों के फल-रूप देवराज इन्द्र के स्वर्गलोक को पाते हैं, और वहाँ पहुँचकर द्यौलोक के दिव्य भोगों को (जो मनुष्यों के नहीं किन्तु देवताओं के भोगने-योग्य हैं) भोगते हैं ॥२०॥

सम्बन्ध—इस स्वर्ग-प्राप्ति का अन्तिम परिणाम भगवान् अब वर्णन करते हैं—

इसलिये त्रयी-विद्या से यहाँ यज्ञ से अभिप्राय है, अथवा इन तीनों वेदों के जाननेवाले, या इन तीनों वेदों से विधान किये हुए कर्मकांड के करनेवाले, ऐसा आशय भी लिया जाता है।

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति । एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना गतागतं कामकामा लभन्ते ॥ २१ ॥

ते[1], तं[2], भुक्त्वा, स्वर्ग-लोकं, विशालं	वे[1] उस[2] विशाल स्वर्ग-लोक को भोगकर	एवं, त्रयी-धर्मं, अनुप्रपन्ना	इस प्रकार त्रयी-धर्म को प्राप्त हुए
क्षीणे, पुण्ये, मर्त्य-लोकं, विशन्ति	पुण्य के क्षीण होने पर मर्त्य-लोक में प्रवेश करते हैं	गतागतं, काम-कामाः, लभन्ते	भोगों की कामना-वाले आवागमन को प्राप्त होते हैं

अन्वयार्थ—वे उस विशाल स्वर्गलोक को भोगकर पुण्य के क्षीण होने पर मर्त्यलोक में पुनः प्रवेश करते हैं। इस प्रकार त्रयी-धर्म को प्राप्त हुए, भोगों की कामनावाले आवगमन को प्राप्त होते हैं ॥ २१ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! वे जो स्वर्ग को प्राप्त होकर दिव्य भोगों को भोगनेवाले ऊपर वर्णन हुए हैं, वे उस विशाल (विस्तारवाले, खुले) स्वर्ग-लोक को भोगकर जब उनके पुण्य-कर्म के फल क्षीण अर्थात् समाप्त हो जाते हैं, तब वे पुनः इस मर्त्य-लोक (जन्म-मरण-रूप संसार वा मनुष्य-लोक) में वापस आ प्रवेश करते हैं, अर्थात् इस मनुष्य-लोक में पुनः जन्म लेते हैं। इस प्रकार तीन धर्म (गद्य, पद्य और गीत, अथवा ऋक्, साम और यजुः से विधान किये हुए काम्य-कर्मों) का अनुष्ठान करनेवाले; अथवा वेदों से प्रतिपादित जो होता, अध्वर्यु और उद्गाता का धर्म विशेष है, इन तीन धर्मों पर चलनेवाले सकामी लोग गमनागमन को प्राप्त होते रहते हैं। अर्थात् कर्मकाण्डी और सकामी पुरुष इसी प्रकार स्वर्ग में जाते, वहाँ अपने पुण्य-कर्मों के फलों को भोग लेने के

बाद पुनः इस मर्त्य-लोक को वापस लौटते, यहाँ जन्मते-मरते हैं और इस आवागमन के चक्र से छूटने नहीं पाते ॥ २१ ॥*

सम्बन्ध—(१) पूर्व दो श्लोकों में सम्यक् ज्ञान से रहित सकामी पुरुषों की गति वर्णन की गई, अब भगवान् सम्यक् ज्ञानवाले निष्कामी पुरुषों की गति वर्णन करते हैं—

अथवा (२) यज्ञ-मात्र से नाना रूपों द्वारा उपासना करनेवाले सकामी पुरुषों की गति वर्णन करके अब भगवान् ज्ञान-यज्ञ द्वारा एकत्व-रूप से उपासना करनेवाले (अथवा अनन्य चित्त से अहंग्रह-उपासना करनेवाले) निष्कामी पुरुषों की गति वर्णन करते हैं—

---

* श्रीज्ञानदेवजी अपने अनोखे ढंग से इस श्लोक की व्याख्या ऐसे करते हैं—

"परन्तु ज्योंही पुण्य की सीढ़ी चढ़ चुकते हैं, त्योंही इन्द्रत्व का तेज उतरने लगता है और वे पलटकर मृत्युलोक में आने लगते हैं। जैसे वेश्या का भोग लेते-लेते जब सब द्रव्य खर्च हो जाता है, तो फिर उसकी देहली नहीं खूँदी जाती, वैसे ही, क्या वर्णन करूँ, उन दीक्षितों की भी लज्जास्पद स्थिति हो जाती है; एवं मुझ सर्वदा रहनेवाले को भूलकर जो पुण्य के द्वारा स्वर्ग की इच्छा करते हैं, उनका अमरत्व वृथा हो जाता है और अन्त में उन्हें मृत्युलोक ही प्राप्त होता है। फिर वे माता की उदर-रूपी गुहा में विष्ठा की ऊम में पककर तथा नौ मास तक उबलकर जनम-जनमकर मरते हैं। अजी, स्वप्न में द्रव्य हाथ आता है परन्तु जाग्रत होते ही सब लुप्त हो जाता है, वैसे ही इन यज्ञ-कर्ताओं का स्वर्ग-सुख समझना चाहिए। हे अर्जुन ! वेद-यज्ञ भी हो तथापि मुझे न जानने से ऐसे वृथा जाता है जैसे कोई धान्य को छोड़ भुस ही उड़ाता रहे। यों एक मेरे विना ये वेदोक्त धर्म निष्फल हैं। इसलिये तुम और चाहे कुछ भी न जानो, पर मुझे जान लो। इसीसे तुम सुखी होगे।"

अथवा (३) उक्त दो श्लोकों से प्रतीक वा भेद-उपासना की गति का निरूपण करके अब भगवान् अहंग्रह वा अभेद-उपासना की गति का निरूपण करते हैं—

अथवा (४) यज्ञ-याग आदि धर्म से वा नाना प्रकार के देवताओं की आराधना से कुछ समय तक स्वर्गवास मिल जाने पर भी पुण्य-फल के क्षीण होने से उन्हें फिर जन्म लेकर भूलोक में आना पड़ता है। पर यज्ञ-याग आदि से ही पर्जन्य प्रभृति की उत्पत्ति होती है, अतएव शङ्का उठ पड़ती है कि इनको छोड़ देने से इस जगत् का योग-क्षेम अर्थात् निर्वाह कैसे होगा ; इस शङ्का का निवारण भगवान् अब ऐसे करते हैं—

अथवा (५) स्वर्ग-फल का उपाय वर्णन करके भगवान् अब मोक्ष-फल का उपाय कहते हैं—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥२२॥

अनन्याः, ॐ चिन्तयन्तः, मां, ये, जनाः, परि-उपासते	जो अनन्यनिष्ठ लोग मुझे चिन्तते हुए पूरा-पूरा उपासते हैं
तेषां, नित्य-अभियुक्तानां, योग-क्षेमं, वहामि, अहं	उन नित्य युक्त पुरुषों का योग-क्षेम मैं उठाता हूँ

अन्वयार्थ—जो अनन्य-निष्ठ लोग मुझे चिन्तते हुए पूरा-पूरा उपासते हैं, उन नित्य-युक्त पुरुषों का योग-क्षेम मैं उठाता हूँ ॥ २२ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! भेद वा प्रतीक उपासनावाले वा भिन्न-भिन्न

ॐ अनन्याः=अनन्यनिष्ठ ; अर्थात् किसी अन्य ओर चित्त न देकर केवल एक-मात्र भगवत् में निष्ठा रखनेवाले, या अभेद-द्रष्टा अथवा जिनका उपास्य दूसरा नहीं, या जो परमात्मा के साथ अभिन्न हुए तन्मय हुए हुए हैं।

देवताओं की उपासनावाले सकामी पुरुष तो पुनः-पुनः भूलोक में आकर जन्मते-मरते हैं; पर जो लोग किसी अन्य ओर चित्त न देकर, अथवा किसी अन्य की भक्ति न करते हुए अर्थात् सर्वत्र अद्वितीय ब्रह्म को ही देखते हुए या मुझसे अपृथक् भाव से (अथवा मेरे वा अपने परम स्वरूप से अभेद या तद्रूप होकर) मेरा चिन्तन करते हैं, और इस प्रकार निरन्तर अभेद-चिन्तन से मुझे उपासते, भजते वा ध्याते रहते हैं, अर्थात् मेरा अनन्य भक्त होकर जो अपृथक्-भाव से वा अहंग्रह-उपासना से मेरे परम स्वरूप को नित्य ध्याते रहते हैं, ऐसे मेरे स्वरूप के ध्यान में (वा मेरे चिन्तन के अभ्यास में) नित्य लगे रहनेवाले निष्कामी सज्जनों का योग-क्षेम* मैं परमात्मदेव ही सिद्ध करता अर्थात् अपने सर पर लेता हूँ ॥ २२ ॥ †

---

* योग-क्षेम=अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति का नाम योग है, और प्राप्त वस्तु की रक्षा का नाम क्षेम है। अर्थात् जो वस्तु मिली नहीं है, उसके जुटाने का नाम है योग, और मिली हुई वस्तु की रक्षा करना है क्षेम। शाश्वत-कोश में भी योग-क्षेम की ऐसी ही व्याख्या है और उसका पूरा अर्थ "सांसारिक नित्य निर्वाह" है। तात्पर्य यह है कि निष्कामी अनन्य भक्त तो अपना समस्त तन, मन, धन अपने उपास्य के लिये नितान्त अर्पण कर देते हैं, और वे फिर शरीर से नितान्त निस्पृह (बेपरवाह) हो जाते हैं। उनके शरीर की रक्षा के लिये अन्न-वस्त्रादि जिस किसी पदार्थ की भी आवश्यकता होती है, वह सब मैं पूरी कर देता हूँ; अर्थात् उनकी सर्व प्रकार की ज़रूरतों और रक्षा (योग-क्षेम) की चिन्ता का भार सब मैं अपने ऊपर स्वयं उठा लेता हूँ, और उनको इस प्रकार की चिन्ता के चंगुल से नित्य-मुक्त किये रखता हूँ।

† इस पर श्रीज्ञानदेवजी विचित्र ढंग से ऐसे व्याख्या करते हैं—

"जो सम्पूर्ण मनोभावों से मुझे चित्त अर्पण करते हैं, जैसे गर्भ का गोला कोई भी व्यापार नहीं जानता, वैसे ही जिन्हें मेरे विना और कुछ भला नहीं

सम्बन्ध—(१) जब अन्य देवता वास्तव में भगवान् से भिन्न नहीं, जिससे उनकी उपासना भी वास्तव में भगवान् की ही उपासना होती है, तो अन्य देवता के उपासक फिर गमनागमन (आवागमन) को क्यों प्राप्त होते हैं ? अनन्य भक्तों के समान वे सीधे भगवान् को क्यों नहीं प्राप्त होते ? इस भेद को भगवान् अब तीन श्लोकों में स्पष्ट करते हैं—

अथवा (२) जब आपके सिवा और कुछ है ही नहीं, तब चाहे कोई किसी की पूजा करे, पर वास्तव में वह भी भगवत्पूजा होने से उसके फल में भेद नहीं होना चाहिए। इस भेद का रहस्य भगवान् अब तीन श्लोकों में स्पष्ट करते हैं —

येऽप्यन्यदेवताभक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम् ॥२३॥

दिखाई देता, और जिन्होंने अपने जीवन को मद्रूप ही कर लिया है, ऐसे जो एकनिष्ठ चित्त से मेरा चिन्तन करते हुए मेरी भक्ति करते हैं, उनकी मैं भी सेवा करता हूँ। वे जिस समय एकाग्र चित्त से मेरे भजन में लगते हैं, उसी समय मुझे भी उनकी चिंता उत्पन्न होती है। उनका जो-जो कार्य हो, वह सब मुझे ही करना पड़ता है। जैसे पक्षिनी पङ्ख न फूटे हुए बच्चों के जीवन के लिये ही अपना जीवन रखती है, अपनी भूख-प्यास नहीं जानती और उस चिरौंटे का हित ही उस माता का कार्य रहता है, वैसे ही जो प्राणों-सहित मेरा अनुसरण करते हैं, उनका सब कुछ कार्य मैं ही करता हूँ। उन्हें मेरे सायुज्य की इच्छा हो, तो मैं उनका वही हेतु पूर्ण करता हूँ, अथवा सेवा की इच्छा हो, तो प्रेम सम्मुख रख देता हूँ। इस प्रकार वे मन में जो-जो भाव रखते हैं, वह मैं बारम्बार पूर्ण करता हूँ और उन्हें दी हुई वस्तु की रक्षा भी मैं ही करता हूँ। हे पाण्डव ! जिनके सब भावों का मैं आश्रय हूँ, उनका इस प्रकार सब योगक्षेम मुझी को करना पड़ता है।"

अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च ।
न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते ॥२४॥

ये, अपि, अन्य-देवता-भक्ताः	जो भी अन्य देवताओं के भक्त	अहं, हि, सर्व-यज्ञानां, भोक्ता, च, प्रभुः, एव, च	क्योंकि मैं ही सब यज्ञों का भोक्ता और प्रभु हूँ
यजन्ते, श्रद्धया, अन्विताः	श्रद्धा से युक्त हुए पूजते हैं		
ते, अपि, मां, एव, कौन्तेय, यजन्ति, अविधि-पूर्वकं	वे भी मुझको ही हे अर्जुन ! अविधि-पूर्वक पूजते हैं	न, तु, मां, अभि-जानन्ति, तत्त्वेन, अतः, च्यवन्ति, ते	परन्तु वे मुझको तत्त्व से नहीं जानते, इसलिये गिर जाते हैं

अन्वयार्थ—जो भी अन्य देवताओं के भक्त श्रद्धा से युक्त होकर (उन्हें) पूजते हैं, वे भी, हे अर्जुन ! मुझे ही अविधिपूर्वक* पूजते हैं, क्योंकि मैं ही सब यज्ञों का भोक्ता और प्रभु हूँ । परन्तु मुझे वे तत्त्व से नहीं जानते हैं, इसलिये गिर जाते हैं ॥ २३,२४ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! जो अन्य इन्द्रादि देवताओं को पूर्ण श्रद्धा से पूजनेवाले भक्त हैं, वे भी मेरा ही पूजन करते हैं, यद्यपि टेढ़ी रीति से करते हैं, सीधी रीति से नहीं ; अर्थात् "मैं वासुदेव इन सब देवताओं का आत्मा हूँ और ये देवता वास्तव में मेरे ही भिन्न-भिन्न रूप हैं", इस

---

* अविधिपूर्वक=अज्ञानपूर्वक (श्रीशंकराचार्य) । विधि=अभेद-बुद्धि, उससे रहित (श्रीनीलकंठ) । मोक्ष के जाननेवाली विधि के विना (श्रीधर) । वेदान्त-वाक्य परम पुरुष के शरीर-रूप से स्थित इन्द्रादि को ही साक्षात् आराध्य विधान करते हैं (श्रीरामानुज) । मुझे प्राप्त करानेवाली विधि के विना (श्रीविश्वनाथ) ।

प्रकार के ज्ञान वा ध्यान से युक्त होकर नहीं बल्कि उन देवताओं को मुझ परमात्मा से भिन्न व्यक्तिवाला समझकर प्रतीक-भाव से वा भेद-चिन्तन से जो लोग ज्योतिष्टोमादि यज्ञों द्वारा इन्द्रादि देवताओं का पूजन करते हैं, वे अविधिपूर्वक वास्तव में मेरा ही चिन्तन वा पूजन करते हैं। क्योंकि मैं सब देवताओं में ओतप्रोत होने से, अथवा सब देवताओं का सारभूत होने से, (जिन यज्ञों द्वारा उनकी पूजा होती है उन) यज्ञों का भोगनेवाला तथा उनका स्वामी (फलदाता वा मालिक अथवा उपास्य) मैं ही होता हूँ। परन्तु वे अज्ञानी केवल अन्य देवताओं के ही उपासक हुए मुझे तत्त्व से (यथार्थ-रूप से ठीक-ठीक) नहीं जानते, इसलिये वे परम गति को प्राप्त नहीं होते, बल्कि अपनी कामनाओं के लोकों को प्राप्त होकर वहाँ अपने पुण्य-कर्मों के फलों को भोगकर पुनः-पुनः नीचे गिरते हैं, अर्थात् पुनः-पुनः इस मृत्युलोक (संसार) में जन्म लेते, मरते और इस रीति से आवागमन के चक्र को प्राप्त होते हैं ॥ २३, २४ ॥ *

---

* ऐसे अविधिपूर्वक भगवदुपासकों के विषय में महाभारत में ऐसे आया है—

"ब्रह्माणं शितिकंठं च याश्चान्या देवताः स्मृताः ।
प्रबुद्धचर्याः सेवन्तो मामेवैष्यन्ति यत्परम् ॥"

ब्रह्मा को, शिव को, अथवा और दूसरे देवताओं को भजनेवाले साधु पुरुष भी मुझमें ही आ मिलते हैं। (म० भा० शां० ३४१. ३५)। इसी प्रकार नारायणीयोपाख्यान में फिर भी कहा है—

"ये यजन्ति पितॄन् देवान् गुरूंश्चैवातिथींस्तथा ।
गाश्चैव द्विजमुख्यांश्च पृथिवीं मातरं तथा ।
कर्मणा मनसा वाचा विष्णुमेव यजन्ति ते ॥"

देव, पितर, गुरु, अतिथि, ब्राह्मण और गौ प्रभृति की सेवा करनेवाले टेढ़ी रीति से (अथवा सीधे नहीं बल्कि घूमकर) विष्णु का ही यजन करते हैं। (म० भा० शां० ३४५. २६-२७)।

सम्बन्ध—(१) भेद-भावना से तथा अभेद-भावना से भगवदाराधन करनेवालों को जो भिन्न-भिन्न फल मिलता है, उसे भगवान् अब एक ही श्लोक में स्पष्ट करते हैं—

अथवा (२) भगवत्-उपासक और भिन्न-भिन्न देवताओं के उपासकों को अपनी-अपनी भावना के अनुसार जैसा-जैसा भिन्न-भिन्न फल मिलता है, उसे भगवान् अब अधिक स्पष्ट रूप से वर्णन करते हैं—

अथवा (३) पूर्व कहे हुए का भगवान् अब उपपादन करते हैं—

यान्ति देवव्रता देवान् पितॄन् यान्ति पितृव्रताः ।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम् २५

यान्ति, देव-व्रताः, देवान्	देव-व्रत-धारी देवताओं को जाते हैं	भूतानि, यान्ति, भूत-इज्याः	भूतों के पूजक भूतों को प्राप्त होते हैं
पितॄन्, यान्ति, पितृ-व्रताः	पितृ-व्रत-धारी पितरों को जाते हैं	यान्ति, मद्-या-जिनः, अपि, माम्	मेरे पूजक मुझको ही प्राप्त होते हैं

अन्वयार्थ—देवव्रती देवताओं को जाते हैं, पितृव्रती पितरों को पहुँचते हैं, भूतों के पूजक भूतों को प्राप्त होते हैं, और मेरे पूजक मुझको ही प्राप्त होते हैं ॥ २५ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! इन्द्रादि देवताओं का व्रत धारण करनेवाले, अथवा देवताओं में अपनी श्रद्धा, भक्ति तथा व्रत-नियम रखनेवाले पुरुष, अर्थात् देवताओं के उपासक तो देवताओं को ; पितरों में अपनी श्रद्धा-भक्ति रखनेवाले, अर्थात् श्राद्धादिक कर्मों द्वारा पितरों के पूजक पितरों को ; और यक्ष, राक्षस इत्यादि भूतों का पूजन करनेवाले, अथवा भूत, प्रेत, पिशाचादिकों के उपासक भूतों को प्राप्त होते हैं, और मेरे परम स्वरूप के उपासक तो निस्सन्देह मुझे ही प्राप्त होते हैं। संक्षेप से तात्पर्य यह

है कि यद्यपि एक ही परमेश्वर सर्वत्र समाया हुआ है, तथापि उपासना का फल, प्रत्येक के भावानुसार न्यून-अधिक योग्यता का मिलता है। अर्थात् जैसी जिसकी भावना होती है, वैसा ही उसका फल होता है। इसलिये जो जिसका आराधन करता है, वह उसी भाव को प्राप्त होता है ॥ २५ ॥ ❀

सम्बन्ध—(१) इस प्रकार अन्य देवताओं के उपासक और अपने स्वरूप के उपासक लोगों के फल का परस्पर भेद दर्शाकर अब भगवान् अपनी भक्ति वा उपासना की अनायासता (सुगमता) को स्पष्ट करते हैं—

अथवा (२) अब भगवान् भक्ति-मार्ग के महत्त्व का यह तत्त्व बतलाते हैं कि प्रभु इस ओर न देखकर कि हमारा भक्त हमें क्या समर्पण करता है, केवल उसके भाव की ही ओर दृष्टि दे करके उसकी भक्ति को स्वीकार करते हैं—

अथवा (३) मेरे शुद्ध स्वरूप के अनन्य भक्तों को केवल अपुनरावृत्ति-रूप अनंत फल मिलता है, इतना ही नहीं, किंतु मेरी आराधना भी सुख-पूर्वक की जा सकती है, इसे भगवान् अब दर्शाने लगे हैं—

अथवा (४) प्रायः देखा जाता है कि विपुल धन या द्रव्य के ख़र्च करने पर भी इंद्रादि देवता प्रसन्न नहीं होते, वर्षा माँगने पर भी ठीक समय पर वर्षा नहीं देते, तो भगवान् जो इन देवताओं का अधिष्ठाता, नायक वा स्वामी है, वह भला थोड़े-से द्रव्य से कैसे प्रसन्न हो सकता है, उस परमात्मा

❀ यह विषय महाभारत में ऐसे वर्णित है—"यस्मिन् यस्मिंश्च विषये यो यो याति विनिश्चयम्। स तमेवाभिजानाति नान्यं भरतसत्तम ॥"=जो पुरुष जिस भाव में निश्चय रखता है, वह उस भाव के अनुरूप ही फल पाता है। (शां० ३५२. ३)। और श्रुति भी इस विषय में ऐसा कहती है— "यं यथायथोपासते तदेव भवति।"=जो पुरुष जिस-जिस देवता की उपासना करता है, वह उसी देवता के भाव को प्राप्त होता है।

को प्रसन्न व संतुष्ट करने के लिये महान् विपुल धन की आवश्यकता होगी, इस आशंका का निवारण भगवान् अब करते हैं—

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति ।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥२६॥

पत्रं[4], पुष्पं[5], फलं[6], तोयं[7], यः[1], मे[3] भक्त्या[2], प्रयच्छति[8]	जो[1] भक्ति[2] से मुझे[3] पत्र[4], पुष्प[5], फल[6] और जल[7] अर्पण[8] करता है	तत्[1], अहं[6], भक्ति[4]-उपहृतं[5], अश्नामि[7], प्रयत[2]-आत्मनः[3]	उस[1] नियत[2]-चित्त[3] पुरुष का भक्ति[4] से अर्पण[5] किया हुआ मैं[6] खाता[7] हूँ

अन्वयार्थ—जो मुझे पत्र, पुष्प, फल और जल को भक्ति से अर्पण करता है, उस नियत-चित्त पुरुष का भक्ति से अर्पण किया हुआ (पत्र-पुष्पादि) मैं खाता* हूँ ॥ २६ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! पत्र, पुष्प, फल, जल इत्यादि जो भी कोई वस्तु विना प्रयत्न के प्राप्त हो सके, ऐसी सुलभ वस्तुओं में से जिस किसी (पत्र-पुष्पादि वस्तु) को जो सज्जन भक्ति के साथ मुझ परमात्मा के आगे अर्पण करता है, ऐसे शुद्ध बुद्धिवाले वा अपने चित्त को वश में

---

* खाने से तात्पर्य सचमुच खाना नहीं किन्तु प्रीति से स्वीकार करना है, जैसे महाभारत में आया है—"याः क्रियाः सम्प्रयुक्ताः स्युरेकान्तगतबुद्धिभिः । ताः सर्वाः शिरसा देवः प्रतिगृह्णाति वै स्वयम् ।"=जो कर्म एकान्त भक्तिवालों से किये जाते हैं, उन सबको भगवान् स्वयं बड़े आदर से स्वीकार करते हैं। (म० भा० शां० १७१. ६३)। भगवान् वा देवता प्रीति के भूखे हैं, और भक्ति से ही तृप्त होते हैं।

श्रुति इस विषय में ऐसा कहती है "न ह वै देवा अश्नन्ति न पिबन्ति एतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यन्ति ।"=जैसे यह मनुष्य अन्नादि पदार्थों को खाता है

रखनेवाले सज्जनों के उस प्रीतिपूर्वक अर्पण किये हुए पत्र-पुष्पादि अत्यन्त तुच्छ पदार्थ को भी मैं परमेश्वर खाता हूँ, अर्थात् जैसे कोई पुरुष भोजन करके तृप्ति को प्राप्त होता है, वैसे मैं महेश्वर भी इन पत्र-पुष्पादि पदार्थों को प्रीतिपूर्वक स्वीकार करके तृप्ति को प्राप्त होता हूँ। तात्पर्य यह है कि भगवान् सचमुच भक्ति के भूखे हैं, वह भक्ति-मात्र से तृप्त होते हैं। इसलिये भक्ति से यत् किञ्चित् भी उनकी भेंट किया जाय, तो वह आनन्दपूर्वक उसे स्वीकार करते हैं। भगवान् को तृप्त वा प्रसन्न करने के लिये बड़े-बड़े यज्ञों, तपों वा व्रतों की आवश्यकता नहीं, केवल हृदय भगवान् की निष्कपट भक्ति और श्रद्धा से भरा हुआ होना चाहिए॥ २६॥ ※

और जलादि पदार्थों को पीता है, वैसे देवता खाते-पीते नहीं, बल्कि वे इस अमृत के दर्शन-मात्र से तृप्ति पाते हैं।

※ इस विषय में सुदामा के तन्दुल की बात प्रसिद्ध है, और यह श्लोक भागवत्पुराण में, सुदामा-चरित के उपाख्यान में भी आया है (भाग० १०.८१.४)। इसमें सन्देह नहीं कि पूजा की सामग्री का न्यूनाधिक होना सर्वथा और सर्वदा मनुष्य के अपने हाथ में नहीं है, इसीलिये शास्त्र में कहा है कि अनायास प्राप्त होनेवाले वा यथाशक्ति प्राप्त होनेवाले स्वल्प पूजा-सामग्री से ही नहीं, बल्कि शुद्ध-भाव से समर्पण किये हुए मानसिक पूजा-सामग्री से भी भगवान् सन्तुष्ट हो जाते हैं। वास्तव में देवता भाव का भूखा है, न कि पूजा की सामग्री का। मीमांसक-मार्ग की अपेक्षा भक्ति-मार्ग में जो कुछ विशेषता है, वह यही है कि यज्ञ-याग करने के लिये बहुत-सी सामग्री एकत्र करनी पड़ती है और परिश्रम भी बहुत करना पड़ता है, परन्तु भक्ति-यज्ञ एक तुलसी-दल से वा केवल मानसिक पूजा-द्रव्यों से भी हो जाता है। महाभारत में स्पष्ट है कि जब दुर्वासा ऋषि घर पर आये, तब द्रौपदी ने इसी प्रकार के यज्ञ से भगवान् को सन्तुष्ट किया था।

सम्बन्ध—(१) अब भगवान् अपनी भक्ति की उक्त रीति से भी अधिक सुगम रीति वर्णन करते हैं—

अथवा (२) यह पत्र-पुष्पादि भी यज्ञ में सोमादि के समान तैयार करके मेरी भेंट करने की ज़रूरत नहीं किन्तु स्वभाव से ही उन्हें अर्पण करना है, ऐसा भगवान् अब दर्शाने लगे हैं—

अथवा (३) सच्चा भगवद्भक्त जिस प्रकार कर्म करता है, अर्जुन को भगवान् उसी प्रकार करने का अब उपदेश देते हैं और फिर उसका फल दर्शाते हैं—

अथवा (४) अपनी भक्ति की अब अधिक सुगम, स्पष्ट और सविस्तर विधि भगवान् दर्शाने लगे हैं—

अथवा (५) पुष्प-पत्र जो भी भक्ति से अर्पण होता है, उसे मैं ग्रहण करता हूँ, भगवद्भक्ति का ऐसा रहस्य बताकर भगवान् इस रहस्य को हेतु में रखते हुए अब अर्जुन को यों उपदेश करते हैं—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥ २७ ॥

किसी टीका में इस (पत्रं पुष्पं) श्लोक का ऐसा अर्थ किया गया है—"द्वे रूपे वासुदेवस्य चलं चाचलमेव च। चलं संन्यासिनो रूपमचलं प्रतिमादिकम्।"=परम पुरुष वासुदेव के दो रूप हैं, चल और अचल ; संन्यासी चल रूप है और शालग्राम-प्रतिमादि अचल रूप है। और "अभ्यागतः स्वयं विष्णुः।"=भोजन के समय घर में आया हुआ अतिथि विष्णु-रूप है, ऐसा स्मृति में कहा गया है। इसलिये जो पुरुष शालग्राम की प्रतिमा के आगे भक्तिपूर्वक पत्र-पुष्पादि अर्पण करता है, या घर में आये अतिथि के आगे भक्तिपूर्वक (घर में बने) शाक-फलादि अर्पण करता है, इस भक्तिपूर्वक अर्पण किये हुए पुष्प, पत्र, फल, शाक आदि को मैं परमेश्वर अङ्गीकार करता हूँ, अथवा अतिथि के मुख से भोजन करता हूँ।

यत्, करोषि,	जो कुछ तू करता है,	यत्, तपस्यसि,	हे अर्जुन ! जो कुछ
यत्, अश्नासि	जो कुछ तू खाता है	कौन्तेय	तप तू तपता है
यत्, जुहोषि,	जोकुछ तू होमता है,	तत्, कुरुष्व,	वह तू मेरे अर्पण
ददासि, यत्	जो कुछ तू देता है	मत्-अर्पणं	कर

अन्वयार्थ—जो कुछ तू करता है, जो कुछ तू खाता है, जो कुछ तू होमता है, जो कुछ तू देता है, जो कुछ तप तू तपता है, हे अर्जुन ! वह (सब) तू मेरे अर्पण कर ॥ २७ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! जो कुछ व्यापार, अर्थात् जो कुछ वैदिक, लौकिक वा स्वाभाविक शुभाशुभ कर्म तू करता है ; जो कुछ अनायास प्राप्त हुए भोगों को तू अपनी तृप्ति-निमित्त या कर्मों की सिद्धि के लिये भोगता है ; जो कुछ तू श्रुति-स्मृति के बल से अग्निहोत्रादि होम-कर्म करता है ; सुपात्रों के लिये जो कुछ तू दान देता है ; और जो कुछ चान्द्रायण-व्रत आदि तप अथवा शरीर के संयम-रूप तप को तू करता है, वह सब-का-सब तू मेरे अर्पण कर । अर्थात् कर्म-फल की इच्छा को त्यागकर पूर्ण निष्काम हुआ तू केवल मेरी प्रीति के लिये सब कुछ कर, बल्कि अपने अन्तःकरण में उन कर्मों की स्मृति भी न रहने दे । इस प्रकार मनसा, वाचा, कर्मणा अपने समस्त कर्मों वा व्यवहार को प्रेम-पूर्वक नित्य मेरे अर्पण करते रहना ही मेरी सर्वोत्तम वा अनन्य भक्ति है । इस मार्ग में इससे इतर न किसी अन्य परिश्रम की आवश्यकता है, और न किसी अन्य उपाय ही का नाम वास्तव में भक्ति है ॥ २७ ॥

सम्बन्ध—ऐसा करने से जो फल मिलता है, उसे भगवान् अब कहते हैं—

शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः ।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि ॥२८॥

शुभ-अशुभ-फलैः, एवं, मोक्ष्यसे, कर्म-बन्धनैः	इस प्रकार शुभ-अशुभ फलवाले कर्म-बन्धनों से तू छूट जायगा	संन्यास-योग-युक्त-आत्मा, विमुक्तः, मां, उपैष्यसि	संन्यास-योग से युक्त चित्तवाला हुआ और कर्म-बन्धन से छूटा हुआ मुझे प्राप्त होगा

अन्वयार्थ—ऐसा करने से तू शुभ-अशुभ फलवाले कर्म-बन्धनों से छूट जायगा। और संन्यास-योग* से युक्त चित्तवाला और (कर्म-बन्धनों से) छूटा हुआ तू मुझको प्राप्त होगा ॥ २८ ॥

---

* संन्यास=भगवान् में समस्त कर्मों तथा उनके फलों का अर्पण, अर्थात् निष्कामता का भाव; और इस भाव से युक्त रहने का नाम योग; और जिस का चित्त इस प्रकार के निष्काम भाव से निरन्तर युक्त रहे, उसे 'संन्यास-योग-युक्तात्मा' कहते हैं। इसी भाव को भगवान् ने पूर्व भिन्न-भिन्न रूप से ऐसे कहा है—"मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्य।" (गी० ३. ३०)। "ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविः।" (गी० ४. २४)। "ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः। लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा।" (गी० ५. १०), जिनका मुख्य तात्पर्य यही है कि सब कर्मों को मेरे (या ब्रह्म के) अर्पण कर, और ब्रह्म में कर्मों को अर्पण करके सङ्ग-रहित कर्म करनेवाले को कर्म का लेप नहीं लगता। गीता के मतानुसार यही यथार्थ संन्यास है। इस प्रकार कर्म-फलाशा छोड़कर (संन्यस्य) सब कर्मों को करनेवाला पुरुष नित्य संन्यासी कहलाता है (गी० ५. ३)। इसी रहस्य को भगवान् ने यहाँ इस भक्ति के प्रकरण में निरूपण किया है।

भागवत पुराण में नृसिंह-रूप भगवान् से प्रह्लाद को भी यही उपदेश मिला है—"मय्यावेश्यमनस्तात कुरु कर्माणि मत्परः।"=मुझमें चित्त लगाकर और मेरे परायण हुआ, ऐ प्यारे! तू सब कर्म किया कर। (भाग० ७.१०.२३) और आगे एकादश स्कन्ध में भक्ति-योग का तत्त्व ऐसे निरूपण किया है—

व्याख्या—हे अर्जुन ! इस प्रकार अपने समस्त कर्म मेरे अर्पण करने से तू उन कर्मों के शुभ-अशुभ-फल-रूप बन्धनों से नितान्त छूट जायगा। और कर्मों के फलों को मेरे अर्पण करते रहने से तू सदा संन्यास-योग से युक्त हुए चित्तवाला बना रहेगा। इस प्रकार संन्यास-योग से युक्त हुए चित्तवाला होकर और कर्म-बन्धनों से मुक्त होकर जब भी तू शरीर छोड़ेगा, तब सीधा मुझ सच्चिदानन्द-स्वरूप को ही प्राप्त होगा, अर्थात् मुझमें ही लीन होगा ॥ २८ ॥

सम्बन्ध—(१) "भगवान् केवल अपने अनन्य भक्तों को प्राप्त होते हैं, अन्य को नहीं।" इस कथन से प्रतीत होता है कि राग-द्वेष-युक्त विषमता वा पक्षपात शायद भगवान् में भी है। इस भ्रम का निवारण भगवान् ऐसे करते हैं—

अथवा (२) इस प्रकार भक्ति का मार्ग सुलभ और सुखकारक निरूपण करके अब उसके समत्व-रूपी दूसरे बड़े और विशेष गुण का भगवान् वर्णन करने लगे हैं—

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः ।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ॥ २९ ॥

समः, अहं, सर्वभूतेषु	सब भूतों में मैं सम हूँ	ये, भजन्ति, तु, मां, भक्त्या	पर जो मुझको भक्ति से भजते हैं
न, मे, द्वेष्यः, अस्ति, न, प्रियः	न मेरा द्वेष्य है, न प्यारा	मयि, ते, तेषु, च, अपि, अहम्	मुझमें वे और उनमें भी मैं हूँ

"कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा बुद्ध्यात्मना वाऽनुसृतस्वभावात्। करोति यद्यत्सकलं परस्मै नारायणायेति समर्पयेत्तत्।"=शरीर, वाणी, मन, इन्द्रिय, बुद्धि या चित्त की प्रवृत्ति से अथवा स्वभाव के अनुसार जो कुछ हम करते हैं, वह सब परात्पर नारायण के समर्पण कर दिया जाय। (भाग० ११. २. ३६)

अन्वयार्थ—सब भूतों में मैं सम हूँ, न मेरा (कोई) द्वेष्य है, न प्यारा। पर जो मुझको भक्ति से भजते हैं, वे मुझमें हैं और मैं भी उनमें हूँ ॥ २६ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन! सब भूतों में मैं सम हूँ, न मेरा कोई द्वेष्य और न प्यारा है। अर्थात् जैसे सूर्य यद्यपि सर्वत्र विद्यमान है, न उसको किसी में राग है, न द्वेष, परन्तु स्वच्छ जलादि में उसका प्रतिबिम्ब स्पष्ट पड़ता है, अस्वच्छ में नहीं; या जैसे अग्नि का स्वभाव शीत को दूर करना है, परन्तु जो उसके समीप जाता है, उसी के शीत को दूर करती है, अन्य दूरस्थ पदार्थ के शीत को नहीं; इसी प्रकार मैं यद्यपि भक्त अथवा अभक्त सब प्राणियों में एकसमान विराजमान हूँ, जिससे न मेरा कोई शत्रु (द्वेष-पात्र) है और न मित्र (प्रीति वा राग का पात्र)। परन्तु, हे अर्जुन! जो भक्तिपूर्वक मुझे भजते हैं, अर्थात् जो सब कर्मों को फल के सहित प्रीतिपूर्वक मेरे अर्पण करते रहने से मेरे शुद्ध स्वरूप के ध्यान में युक्त रहते हैं, वे भक्तजन मेरे में बसते हैं, अर्थात् मेरे ध्यान में लीन रहते वा मेरे स्वरूप से तद्रूप हुए होते हैं, और मैं भी उनमें बसता हूँ, अर्थात् उन शुद्धात्मा पुरुषों में मैं भी प्रतिबिम्बित-रूप से स्पष्ट विद्यमान होता हूँ, अथवा उनके स्वरूप से मैं भी तद्रूप हुआ होता हूँ। इस प्रकार वे मुझमें और मैं उनमें तद्रूप (वा ओतप्रोत) हुए होते हैं, या दूसरे शब्दों में वह मैं और मैं वह हुए होते हैं ॥ २६ ॥

सम्बन्ध—अब भगवान् इसी भक्ति का माहात्म्य तथा प्रभाव वर्णन करते हैं—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥३०॥

अपि, चेत्, सु-दुर्-आचारः	यदि अति दुराचारी भी	साधुः, एव, सः, मन्तव्यः	वह साधु ही माना जाने-योग्य है
भजते, माम्, अनन्य-भाक्	मुझको अनन्य भक्त हुआ भजता है	सम्यक्, व्यव-सितः, हि, सः	क्योंकि वह ठीक निश्चयवाला है

अन्वयार्थ—यदि कोई अति दुराचारी* भी अनन्य भक्त हुआ मुझको भजता है, तो वह साधु ही माना जाने-योग्य है, क्योंकि वह ठीक-ठीक निश्चयवाला है ॥ ३० ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! और तो क्या, यदि कोई वाल्मीकि व अजामिल आदि के समान पहले अत्यन्त दुराचारी भी रहा हो और फिर मेरा अनन्य भक्त होकर वा सच्चे चित्त से मेरा भजन करने लग पड़े, तो ऐसा पुरुष तत्काल सब पापों से छूटकर निर्मल हो जाता है; और पूर्व चाहे वह दुराचारी अर्थात् असाधु ही था, पर भगवद्भजन में सच्चे चित्त से प्रवृत्त हो जाने से वह सच्चा साधु (बहुत भला पुरुष) मानने के योग्य हो जाता है, अर्थात् भगवद्भक्त हो जाने से वह प्रातःकाल में स्मरण करने-योग्य महात्मा हो जाता है, क्योंकि अब वह बड़े अच्छे निश्चयवाला हुआ होता है ॥ ३० ॥ †

---

* 'अति दुराचारी' से यह आशय नहीं कि भगवद्भक्त यदि दुराचारी हों, तो भी वे भगवान् को प्यारे ही रहते हैं। बल्कि इस वचन से आशय भगवान् का यह है कि पहले कोई मनुष्य महादुराचारी भी रहा हो, परन्तु जब एक बार उसकी बुद्धि का निश्चय भगवद्भजन में पक्का हो जाता है, फिर उसके हाथ से कोई भी दुष्कर्म नहीं हो सकता, और वह धीरे-धीरे धर्मात्मा होकर सिद्धि पाता है, और इस सिद्धि से उसके पाप का बिलकुल नाश हो जाता है।

† पूर्व अध्याय छ के श्लोक ४४ में यह सिद्धान्त निरूपण हुआ था कि ध्यानयोगी तो क्या बल्कि ध्यानयोग का जिज्ञासु भी शब्द-ब्रह्म से परे चला

सम्बन्ध—(१) अत्यन्त दुराचारी को भी अनन्य भक्ति से भजन करने पर जो फल प्राप्त होता है, उसे भगवान् अब कहते हैं—

अथवा (२) क्या अच्छे निश्चय-मात्र से ही उसे साधु समझ लेना चाहिए ? इस पर भगवान् अब कहते हैं—

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति ।
कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ॥३१॥

जाता है। अब भगवान् ने उसी सिद्धान्त को भक्ति-मार्ग के लिये लागू करके दिखलाया है। अन्य शास्त्रों में यह सिद्धान्त ऐसे निरूपण हुआ है—"अतिपापप्रसक्तोऽपि ध्यायन्निमिषमच्युतम् । भूयस्तपस्वी भवति पंक्तिपावनपावनः ॥ १ ॥ प्रायश्चित्तान्यशेषाणि तपः कर्मात्मिकानि वै । यानि तेषामशेषाणां कृष्णानुस्मरणं परम् ॥ २ ॥"=अत्यन्त पाप-कर्मों में आसक्त पुरुष भी जभी अनन्य-चित्त होकर एक निमिष-मात्र काल तक भी परमेश्वर का आराधन करता है, तभी उसके प्रभाव से वह सर्वपापों से रहित होकर तपस्वी होता है और पंक्ति के पावन करनेवाले सदाचारियों को भी अपने दर्शन से पावन (पवित्र, स्वच्छ) करता है। और तो क्या, पापों की निवृत्ति-निमित्त शास्त्रोक्त चान्द्रायणादि समस्त तप-रूप प्रायश्चित्त और राजसूयादि समस्त कर्म-रूप प्रायश्चित्त जो हैं, उनसे कृष्ण भगवान् का स्मरण अधिक है। क्योंकि प्रत्येक प्रायश्चित्त एक-एक पाप की निवृत्ति करता है और भगवत्-स्मरण तो शत कोटि कल्पों के पापों को नाश करता है। इस पर दूसरा श्लोक यह है—"अहं ब्रह्मेति मां ध्यायन्नेकाग्रमनसा सकृत् । सर्वं तरति पाप्मानं कल्पकोटिशतैः कृतम् ॥"=जो एकाग्र मन करके एक बार भी 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसे अभेद-रूप से मुझे ध्याता है, सो पुरुष शत कोटि कल्पों के भी किये हुए सर्व पापों का नाश कर देता है।

क्षिप्रं, भवति, धर्मात्मा	वह शीघ्र धर्मात्मा हो जाता है	कौन्तेय, प्रतिजानीहि*	हे अर्जुन! विश्वास रख
शश्वत्, शान्तिं, निगच्छति	नित्य-शान्ति को प्राप्त होता है	न, मे, भक्तः, प्रणश्यति	मेरा भक्त नाश नहीं होता है

अन्वयार्थ—वह शीघ्र धर्मात्मा हो जाता है और नित्य-शान्ति को प्राप्त होता है। हे अर्जुन! विश्वास रख, मेरा भक्त नाश नहीं होता है ॥ ३१ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन! मेरी भक्ति का परिणाम देख कि अत्यन्त दुराचारी भी मेरी भक्ति से शीघ्र धर्मात्मा हो जाता है, और फिर नित्य रहनेवाली शान्ति को निरन्तर पाता है, अर्थात् परमानन्द को प्राप्त हो जाता है। हे अर्जुन! यह तू विश्वास रख अथवा इस बात की तू हाथ उठाकर प्रतिज्ञा कर कि मेरा भक्त कदापि नाश वा नष्ट नहीं होता है। वह सीधा मोक्ष को ही प्राप्त होता है ॥ ३१ ॥

सम्बन्ध—(१) पूर्व श्लोकों में अत्यन्त दुराचारी की भगवद्भक्ति का फल निरूपण करके भगवान् अब जन्म से ही जो पापी, दुष्ट और शूद्र हैं, उनकी भगवद्भक्ति का भी फल निरूपण करते हैं—

अथवा (२) जब अत्यन्त दुराचारी, पापी वा नीच लोग भी मेरी शरण

---

* 'प्रतिजानीहि'=निश्चय कर, निश्चय जान, विश्वास रख। श्रीशङ्कराचार्य तथा अन्य टीकाकारों ने इस शब्द का अर्थ 'प्रतिज्ञा कर' लिया है, और इस पर अपना यह तात्पर्य कहा है कि कुतर्की और मूर्ख इस बात को नहीं जानते कि "दुराचारी भी भगवद्भक्ति से तर जाता है।" इसलिये, हे अर्जुन! तू इन प्रतिवादियों वा मूर्खों की सभा में जाकर हाथ उठाकर निश्शङ्क प्रतिज्ञा कर कि मुझ भगवान् का भक्त कदापि नष्ट नहीं होता, बल्कि कृतार्थ ही होता है। इस प्रकार व्याकुल चित्तवाले अर्जुन को भगवान् उत्साह देते हैं।

पकड़कर तर जाते हैं, तब उत्तमों वा उत्तम योनि के लोगों का तो भला कहना ही क्या, इस भाव को भगवान् अब दो श्लोकों में दर्शाने लगे हैं—

अथवा (३) पूर्व श्लोकों में आगन्तुक दोषों से युक्त दुष्ट पुरुषों का भगवद्भक्ति के प्रभाव से तर जाना कहा, अब भगवान् जन्मजात वा स्वाभाविक दोषों से दुष्ट वा पतित पुरुषों का भी इस भगवद्भक्ति से निस्तार (तर जाना) निरूपण करते हैं—

अथवा (४) परमात्मा की समता तथा भगवत्-उपासना की कल्याण-कारिता की पराकाष्ठा को भगवान् अब बता रहे हैं—

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः ।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ॥ ३२
किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा ।
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम् ॥ ३३ ॥

मां, हि, पार्थ, व्यपाश्रित्य	हे अर्जुन! मुझको ही आश्रय करके	किं, पुनः, ब्राह्मणाः, पुण्याः, भक्ताः, राज-ऋषयः, तथा	फिर पवित्र ब्राह्मणों, भक्तों और राजर्षियों का क्या कहना
ये, अपि, स्युः, पाप-योनयः	जो पाप-योनि भी हों		
स्त्रियः, वैश्याः, तथा, शूद्राः	स्त्रियाँ, वैश्य और शूद्र	अनित्यं, असुखं, लोकं, इमं, प्राप्य, भजस्व, मां	इस अनित्य, सुख-रहित लोक को प्राप्त होकर तू मुझे भज
ते, अपि, यान्ति, परां गतिं	वे भी परम गति को प्राप्त होते हैं		

* पहला अन्वयार्थ—हे अर्जुन ! मुझको ही आश्रय करके स्त्रियाँ, वैश्य

---

* पहला अन्वयार्थ, जिसे हम अधिक ठीक समझते हैं, थोड़े टीकाकारों

और शूद्र अथवा जो भी पाप-योनि हों, वे भी परम गति को प्राप्त होते हैं। फिर पवित्र ब्राह्मणों, भक्तों और राजर्षियों का तो कहना ही क्या। (इसलिये) तू इस अनित्य और सुख-रहित लोक को प्राप्त होकर मुझे भज ॥ ३२, ३३ ॥

ने किया है। दूसरा अर्थ श्रीशङ्कराचार्य, श्रीधर स्वामी तथा अन्य कुछ टीकाकारों ने थोड़े-थोड़े भेद से किया है। अपने-अपने स्थान पर यद्यपि ये दोनों ही अर्थ युक्त हैं, जिससे हमने दोनों ही अपनी सविस्तर व्याख्या के सहित दे दिये हैं, तथापि दूसरे अर्थ कुछ भ्रम-जनक अवश्य हैं, क्योंकि स्त्री और वैश्य-जाति यद्यपि सामान्य रीति से स्वाभाविक दोषों व व्यवहारों के कारण निकृष्ट-जाति वा पाप-योनि कही जा सकती है, पर वास्तव में ये दोनों पाप-योनिवाली नहीं। न तो भगवान् का ऐसा आशय दिखाई देता है और न इसमें कोई प्रमाण ही है। यदि स्त्री-जाति पाप-योनिवाली ही होती, तो इसे अपने पति के साथ बैठकर यज्ञ-याग करने का किञ्चित् अधिकार न होता। पर जब पुण्य-योनिवाले ब्राह्मणादि भी विना स्त्रियों के कोई यज्ञ नहीं कर सकते, क्योंकि वेद में स्त्री-पुरुष को सङ्ग-सङ्ग यज्ञ करने का अधिकार है, तब ब्राह्मणादि कुल की उत्तम स्त्रियाँ पाप-योनि कैसे हो सकती हैं? और अतिथि-शुश्रूषादि गृहस्थ-धर्म भी विना स्त्रियों के ठीक-ठीक नहीं हो सकता है, बल्कि पतिव्रता स्त्रियों में ऐसा उत्तम धर्म है जिससे देवता आदि को भी भय होता है, और जिस पातिव्रत धर्म का माहात्म्य महाभारतादि ग्रन्थों में प्रसिद्ध है। इसलिये शास्त्र में जो सामान्य रूप से अनृतादि दोष स्त्रियों के कहे हैं, वे अच्छी धर्मनिष्ठ स्त्रियों को छोड़कर अन्य स्त्रियों के कहे हैं। और चुडाला, गार्गी, मैत्रेयी और सुरभा आदि स्त्रियों में ब्रह्मविद्या भी प्रसिद्ध है, इससे सब स्त्रियाँ पाप-योनि नहीं हो सकतीं। और वैश्य लोग भी वेदाध्ययनादि धर्मों के अधिकारी पाप-योनि कैसे हो सकते हैं? वैश्य का धर्म भारत में प्रसिद्ध है। यदि वैश्य न हों, तो धनादि से ब्राह्मणादि के धर्म की रक्षा कौन करे? इसलिये यज्ञादि में धन की सहायता बढ़ाने के लिये और गो-ब्राह्मण की रक्षा के लिये ही ईश्वर ने वैश्य

दूसरा अन्वयार्थ—हे अर्जुन ! मेरा आश्रय लेकर जो पाप-योनि भी हों—जैसे स्त्रियाँ, वैश्य और शूद्र—वे भी परम गति को प्राप्त होते हैं। फिर पवित्र ब्राह्मणों, और भक्त राजर्षियों का तो कहना ही क्या। (सो) तू इस अनित्य और सुख-रहित लोक को प्राप्त होकर मुझे भज ॥ ३२, ३३ ॥

पहले अन्वयार्थ की व्याख्या—हे पृथा-पुत्र अर्जुन ! अत्यन्त दुराचारी पुरुष चाहे किसी जाति के हों, वे तो शुद्ध चित्त से भगवद्भक्ति करते हुए तर ही जाते हैं; परन्तु इनसे भी उतरकर जो पाप-योनियोंवाले अर्थात् जन्म के पापी हैं, जैसे अन्त्यज, म्लेच्छ वा राक्षस, वर्णसङ्कर और चाण्डाल आदि; वेदाध्ययनादि से रहित होने से निकृष्ट वा जंजाल में

को उत्पन्न किया है, ऐसा यजुर्वेद शतपथ ब्राह्मण में स्पष्ट है; सो वैश्य पाप-योनि कैसे हो सकता है ? अलबत जो वैश्य धनादि का संग्रह करके धर्म में ख़र्च नहीं करते और ब्रह्म-द्रोही हैं, और अति कृपणता से कुटुम्बियों को भी दुःख देते हैं, उनको 'अवश्य पाप-योनित्व है', ऐसा कहा जाय, तो फिर ब्राह्मणादि को भी अपने-अपने धर्म से फिसलने पर वा मद्य-पानादि के सेवन पर पाप-योनित्व कहना पड़ेगा। इस प्रकार हीन जाति ही भगवान् को पाप-योनि इष्ट है, या (पाप-योनि शब्द से) वह जाति विवक्षित है जिसे कि आजकल राज-दरबार में जरायम-पेशा क़ौम कहते हैं। पर स्त्री, वैश्य और शूद्र कुछ इस वर्ग के नहीं हैं। उन्हें मोक्ष मिलने में इतनी ही बाधा है कि वे प्रायः वेद के सुनने के अधिकारी नहीं हैं। इसी से भागवत में कहा है—"स्त्रीशूद्रद्विजबन्धूनां त्रयी न श्रुतिगोचरा। कर्मश्रेयसि मूढानां श्रेय एवं भवेदिह। इति भारतमाख्यानं कृपया मुनिना कृतम् ॥"=स्त्रियों, शूद्रों अथवा कलियुग के नामधारी ब्राह्मणों के कानों में वेद नहीं पहुँचता, इस कारण उन्हें मूर्खता से बचाने के लिये व्यास मुनि ने कृपालु होकर उनके कल्याणार्थ पंचम वेद-रूपी महाभारत की—अर्थात् गीता की भी—रचना की। (भाग० १. ४. २५)। इसलिये दूसरा अर्थ भगवान् का आशय पूर्णतया स्पष्ट नहीं करता।

फँसी हुई स्त्रियाँ ; सत्यानृत-वृत्ति से आजीविकावाले वा व्यापार में फँसे हुए वैश्य, और जो विद्याहीन शूद्र हैं, वे भी मेरी शरण पकड़कर मेरी भक्ति के प्रभाव से परम गति को प्राप्त होते हैं, इसमें सन्देह नहीं। जैसे चाण्डाल गुह, वाल्मीकि, आधुनिक काल के रैदास चमार, सदना क़साई और कबीर, राक्षस विभीषण, पशु-योनि हनुमान्, दैत्य प्रह्लाद, वर्णसङ्कर जाति विदुर, और वैश्य श्रीदामा आदि तथा स्त्री-जाति मैत्रेयी, गार्गी, शबरी व गोपियाँ आदि असंख्यों प्राणी मुझमें अनन्य-चित्त से भक्ति वा प्रीति रखने से पार हो गये। जब ये पाप-योनियोंवाले तथा निकृष्ट-जाति के प्राणी भगवद्भजन से मोक्ष को प्राप्त हो जाते हैं, तो फिर पवित्र, पुण्यात्मा और उत्तम कुल में उत्पन्न होनेवाले ब्राह्मणों और जन्म से ही भक्ति-भरे चित्तवाले भक्तों और शूर-वीर राजर्षियों के विषय में भला कहना ही क्या है, अर्थात् वे तो निस्सन्देह भगवद्भक्ति से सीधे परम गति को अवश्य प्राप्त होंगे। जब मेरे वास्तव स्वरूप के भजन का यह प्रताप है, तो हे अर्जुन ! तू भी जो इस अनित्य, क्षण-भंगुर और सुख-रहित (अर्थात् दुःखकारक मृत्यु-) लोक में है, मेरा भजन कर ; अर्थात् अनन्य चित्त से मेरे भजन वा ध्यान में तू भी नित्य-युक्त हो, जिससे तेरा भी अवश्य और शीघ्र छुटकारा हो ॥ ३२, ३३ ॥

दूसरे अन्वयार्थ की व्याख्या—हे पृथा-पुत्र अर्जुन ! आगन्तुक दोष से जो दुराचारी वा दुष्ट जन हैं, वे तो भगवद्भक्ति के प्रभाव से तर ही जाते हैं, ऐसा मैंने कहा ; पर इनसे भी अधम जो स्वभाव से (अर्थात् जन्म से) ही पतित वा पापी हैं, अर्थात् जो पाप-योनियोंवाले हैं—जैसे स्त्रियाँ, वैश्य और शूद्र—वे भी भगवद्भक्ति के प्रताप से मेरा आश्रय करके तर जाते अर्थात् परम गति को प्राप्त होते हैं। इसमें फिर पुण्यात्मा ब्राह्मणों और भक्त राजर्षियों के विषय में तो भला कहना ही क्या है। अर्थात् शास्त्र में सामान्य रूप से स्त्री-जाति के ये सात दोष (अनृत,

साहस, माया, मूर्खता, अविवेकता, अपवित्रता और निर्दयता) स्वाभाविक कहे हैं, जिससे इसकी गणना श्रीभाष्यकार ने पाप-योनि में की है, और वैश्य की भी हिंसा-प्रधान कृषि-वृत्ति तथा सत्यानृत-वृत्ति, अर्थात् सत्य-झूँठ-मिली हुई आजीविका, शास्त्र में स्वाभाविक कही गई है जिससे इसकी गणना भी श्रीभाष्यकार ने पाप-योनि में की है; और शूद्र को तो शौच (लोगों के कूड़ा-कर्कट इत्यादि की सफ़ाई) करने से तथा वेद-शास्त्र के अनधिकार से पाप-योनित्व है ही; ऐसे पाप-योनिवाले प्राणी भी यदि मेरे आश्रय होकर शुद्ध-चित्त से मेरी भक्ति करें, तो इस भक्ति के प्रताप से वे भी परम गति को प्राप्त हो जाते हैं। जब इन निकृष्ट-योनि प्राणियों को भगवद्भक्ति का ऐसा फल मिलता है, तो फिर उत्तम-योनि वा उत्तम कुल में उत्पन्न होनेवाले पुण्यात्मा ब्राह्मणों और भक्ति-भरे चित्तवाले राजर्षियों के विषय में भला कहना ही क्या है, वे तो अवश्य ही इस भगवद्भक्ति के प्रताप से शीघ्र परम गति को प्राप्त हो जायँगे। जब मेरे परम स्वरूप की अनन्य भक्ति का ऐसा प्रताप है, तो तू भी, हे अर्जुन! जो इस अनित्य, क्षण-भंगुर और सुख-रहित लोक को प्राप्त हुआ है, मेरा अनन्य चित्त से भजन कर, जिससे इस दुःख-कारक संसार से तेरा भी नित्य के लिये छुटकारा हो॥ ३२, ३३॥*

---

* श्लोक ३२ पर श्रीज्ञानदेवजी ने अपने अनोखे ढंग से ऐसे व्याख्या की है—

"अजी, जिनका नाम लेना भी अनुचित है, जो सब अधमों में अधम हैं, उन पाप-योनियों में भी जिनका जन्म हुआ हो, जो पापोत्पन्न मूढ़ चाहे पत्थर-जैसे मूर्ख हों, परंतु मुझमें सर्वभावों से दृढ़ हों, जिनकी वाचा से मेरे गुणानुवाद निकलते हों, जिनकी दृष्टि मेरा ही रूप भोगती हो, जिनका मन मेरा ही सङ्कल्प धारण करता हो, जिनके श्रवण मेरी कीर्ति से रीते न रहते हों, मेरी सेवा ही जिनके सर्वाङ्गों का अलङ्कार है, जिनका ज्ञान विषयों को नहीं

सम्बन्ध—(१) पूर्व श्लोक में जो भगवद्भजन करने का उपदेश अर्जुन को दिया गया, अब उस भजन के प्रकार को स्पष्ट दर्शाते हुए भगवान् इस अध्याय की समाप्ति करते हैं—

अथवा (२) अब अपने उक्त उपदेश को अधिक स्पष्ट करते हुए भगवान् इस विषय का उपसंहार करते हैं—

जानता, जिनका ज्ञातृत्व मुझ एक को ही जानता हो, जो इस प्रकार का लाभ हो तो ही जीवन समझते हैं, अन्यथा मरण ; हे पाण्डव ! जो सब प्रकार से अपने सब भाव सजीव रखने के हेतु मुझको ही जीवन समझते हों, वे चाहे पाप-योनि भी हों, चाहे वेद पढ़े हुए न हों, परन्तु मुझसे तुलना करते हुए उनकी योग्यता में कुछ न्यूनता नहीं रहती। देखो, भक्ति की सम्पन्नता से दैत्यों ने देवों को हीनता में डाल दिया है, जिसकी महिमा के लिये मैंने नृसिंह-रूप धारण किया, उस प्रह्लाद की मुझसे तुलना की जाय, तो वही श्रेष्ठ दिखाई देता है क्योंकि जो वस्तुएँ मैं उसे देना चाहूँ, वे सब उसे उपलब्ध थीं। यों तो दैत्य का कुल था, परन्तु उसकी श्रेष्ठता की बराबरी इन्द्र भी नहीं कर सकता। अतएव इस विषय में अकेली भक्ति ही शोभा देती है, और जाति अप्रमाण है। राजाज्ञा के अक्षरों का सिक्का जिस एक चमड़े पर पड़ता है, उस चमड़े से सब वस्तुएँ मिल सकती हैं ; एवं सोना-चाँदी प्रमाण नहीं है परन्तु राजाज्ञा ही समर्थ है। वही एक चमड़ा प्राप्त हो जाने से सम्पूर्ण सोना-चाँदी मोल मिल सकता है। वैसे ही उत्तमता तभी फलती है, सर्वज्ञता तभी शोभती है, जब मन और बुद्धि मेरे प्रेम से भर जाती है। अतएव कुल, जाति और वर्ण सब वृथा हैं। हे अर्जुन ! संसार में मेरी भक्ति से ही कृतार्थता होती है। चाहे जिस भाव से हो, परन्तु मन का प्रवेश मुझमें होना चाहिए ; और यदि यह बात हो जाय, तो पिछले कर्म सब वृथा हो जाते हैं। जैसे छोटे-छोटे नाले तभी तक नाले कहाते हैं, जब तक गङ्गा के जल तक नहीं पहुँचते ; वहाँ पहुँचते ही वे केवल गङ्गा-रूप हो जाते हैं। अथवा खैर-चन्दन इत्यादि काष्ठों का भेद

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः ॥३४॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे राजविद्याराजगुह्ययोगो नाम
नवमोऽध्यायः ।

तभी तक होता है, जब तक वे इकट्ठे करके अग्नि में नहीं डाले जाते; वैसे ही क्षत्रिय, वैश्य, स्त्री अथवा शूद्र, अन्त्यज इत्यादि जातियाँ तभी तक भिन्न हैं, जब तक मुझे नहीं प्राप्त होतीं। पर जब वे प्रेम से मुझमें मिल जाती हैं, तब जाति और व्यक्ति का कुछ भी निशान नहीं बच रहता, मानों लवण के कण समुद्र में मिला दिये गये हों। नद-नदियों के नाम तभी तक हैं, उनका पूर्व और पश्चिम के मार्ग से बहना तभी तक है, जब तक वे सब समुद्र में नहीं मिल जातीं। वैसे ही किसी भी मिस से चित्त यदि मुझमें प्रवेश कर ले, तो उतने से ही वह अपने आप मद्रूप हो जाता है। अजी पारस फोड़ने के लिये भी, यदि लोहे का पारस से स्पर्श कराया जाय, तो स्पर्श करते ही वह सोना हो जायगा। देखो, पति के मिस से व्रज-पत्नियों के अन्तःकरण मुझसे मिलते ही क्या मत्स्वरूप नहीं हो गये? अथवा भय के बहाने क्या कंस ने, अथवा निरन्तर वैर के मिस से क्या शिशुपाल इत्यादिकों ने मुझे प्राप्त नहीं कर लिया? अजी हे पाण्डव! सगोत्र होने के कारण ही यादवों को और ममता के कारण वसुदेव इत्यादिकों को मेरा सायुज्य प्राप्त हुआ है। नारद, ध्रुव, अक्रूर, शुक और सनत्कुमारों को जैसे मैं भक्ति से प्राप्त हूँ, वैसे ही गोपिकाओं को विषय-बुद्धि से, कंस को भय से और शिशुपाल इत्यादि घातकों को उनके अलग-अलग मनोधर्मों से प्राप्त हूँ। अजी, मैं एक निदान का स्थान हूँ। मेरी प्राप्ति चाहे जिस मार्ग से हो सकती है; भक्ति से, अथवा विषयों की

मत्, मना:, भव, मत्-भक्तः	मेरे में मनवाला हो, मेरा भक्त हो	मां, एव, एष्यसि=मुझको ही तू प्राप्त होगा
मत्-याजी, मां, नमस्कुरु	मेरा यजन करने-वाला हो, मुझे नमस्कार कर	युक्त्वा, एवं, आत्मानं — इस प्रकार अपने आपको युक्त करके
		मत्-परायणः=मेरे परायण हुआ

अन्वयार्थ—मेरे में मन लगा, मेरा भक्त हो, मेरा यजन करनेवाला हो, मुझको नमस्कार कर, इस प्रकार अपने आपको युक्त करके मेरे परायण हुआ तू मुझे ही प्राप्त होगा ॥ ३४ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! ऊपर जो कहा कि "मेरा ही भजन कर", उसका तात्पर्य या उस भजन की विधि यह है कि—(१) तू मुझ परमात्मदेव के ध्यान में निरन्तर मन लगा, अर्थात् मेरे ध्यान में तू अपने मन को लवलीन कर और उसे किसी अन्य ओर न जाने दे, अथवा तू अपना मन मेरे पूर्ण अर्पण ऐसा कर दे कि वह मेरा मन हो जाय अर्थात् केवल मेरी ही इच्छा वा मर्जी पर वह चलनेवाला हो जाय। (२) मेरा ही तू भक्त हो, अर्थात् मुझ परमात्मदेव की प्रीति में ही नित्य-युक्त हो, और पुत्र-धनादि में जो प्रीति वा अनुराग है, उसे तू भगवद्भक्ति में ही बदल दे। अथवा दूसरे शब्दों में यों कि प्रीति वा प्रेम हृदय का अङ्ग है और जिस सीमा तक अपना हृदय कोई दूसरे के लिये अर्पण करता है,

---

विरक्तता से, अथवा वैर से। अतएव, हे पार्थ ! मुझमें प्रवेश करने के लिये संसार में साधनों की न्यूनता नहीं है। और चाहे जिस जाति में जन्म हो, और भक्ति हो अथवा विरोध हो, परन्तु भक्त अथवा वैरी मेरा ही हो। अजी, किसी भी प्रकार से यदि मेरी भक्ति हो, तो वास्तव में मद्रूपता का ही लाभ होता है। इसलिये, हे अर्जुन ! पाप-योनि अथवा वैश्य, शूद्र या स्त्री मेरा भजन करने से सब मेरे ही घर पहुँचते हैं।"

उसी सीमा तक वह उसका भक्त होता है। इसलिये जो जिसके आगे अपना हृदय पूर्ण-रूप से अर्पण करता है, वह उसका अनन्य भक्त हो जाता है। इस प्रकार तू अपना हृदय ऐसे जोर से मेरे अर्पण कर दे कि वह सम्पूर्ण-रूप से मेरा हृदय ही हो जाय, जिससे पूर्ण-रूप से मैं ही उसकी प्रीति का अङ्ग वा लक्ष्य हो जाऊँ, और मेरे से इतर न वह किसी अन्य में फँस सके और न किसी अन्य से प्रीति ही कर सके, बल्कि पूर्ण-रूप से वह मेरा अनन्य भक्त हो जाय। (३) तू मेरा यजन (पूजन) करनेवाला हो, अर्थात् सब रूपों वा पदार्थों में तू मेरा ही पूजन कर अथवा सर्वत्र और सदा मेरी ही पूजा में तत्पर रह। (४) मुझे नमस्कार कर, अर्थात् शरीर, मन और वाणी से तू नितान्त मुझ परमेश्वर के ही परायण हो। इस प्रकार जब तू अपने आपको अर्थात् अपने मन वा अन्तःकरण को मुझमें पूर्ण-रूप से युक्त कर लेगा, और पूर्ण-रूप से अर्थात् तन, मन, धन से मेरे ही परायण (अथवा शरणागत) रहेगा, तब तू, हे अर्जुन! अवश्यमेव मेरे परम स्वरूप ही को प्राप्त होगा, अर्थात् अवश्य मद्रूप हो जायगा अथवा परम गति को पावेगा ॥ ३४ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतानुवादे राजविद्याराजगुह्ययोगो नाम
नवमोऽध्यायः।

नवें अध्याय का संक्षेप

(१) आठवें अध्याय में भगवान् ने अर्जुन को भगवत्-स्मरण वा भगवद्भजन का उपदेश तो दिया था, पर उस भजन की सरल विधि और भजनीय वा स्मरणीय के स्वरूप के ज्ञान का स्पष्ट वर्णन नहीं किया था, अब भगवान् उसका स्पष्ट वर्णन करने लगे हैं। पर पहले उस ज्ञान की स्तुति ऐसे करते हैं—

(क) अब मैं, हे अर्जुन! तुझे वह अत्यन्त गुह्य ज्ञान विज्ञान के सहित कहूँगा कि जिसको जानकर तू इस अशुभ संसार से अवश्य छूट जायगा।

(ख) यह ज्ञान राजविद्या, राजगुह्य, परम पवित्र, प्रत्यक्ष अनुभव होनेवाला, धर्म-युक्त, अनुष्ठान में सरल और अविनाशी है।

(ग) श्रद्धा-हीन पुरुष इसको न पाकर पुनः-पुनः इस मृत्युलोक में आकर मरते-जन्मते हैं।

(२) इस प्रकार स्तुति करने के बाद अब भगवान् उस गुह्यतम-रूप ज्ञान को ऐसे स्पष्ट करते हैं—

(क) मुझ अव्यक्त मूर्ति से यह सब जगत् व्याप्त है। पर सब भूत मुझमें स्थित हैं, मैं उनमें स्थित नहीं।

(ख) वास्तव में पूछो तो ये भूत भी मुझमें स्थित नहीं। मेरी इस माया को देखो कि सब भूतों का भर्ता, धर्ता होता हुआ भी मैं भूतों में स्थित नहीं हूँ, बल्कि इनसे नित्य असङ्ग, निर्लिप्त और साक्षी रहता हूँ।

(ग) और जो मैंने पहले कहा कि "सारे भूत मुझमें स्थित हैं", उससे अभिप्राय मेरा यह था कि जैसे चारों ओर विचरनेवाली वायु

आकाश में स्थित है और आकाश उस वायु के गमनागमन से किञ्चित् लिप्त नहीं होता, बल्कि वैसा-का-वैसा ही वह असङ्ग रहता है, वैसे ही सब भूत मुझमें स्थित हैं और मैं उनसे नितांत असंग हूँ।

(घ) और "मैं इनका कर्ता-धर्ता हूँ," ऐसा जो कहा, वह इसलिये कि प्रलय-काल में सारा जगत् मेरी प्रकृति में लीन हो जाता है और सृष्टि-रचना के समय, अर्थात् कल्प के आदि में मुझसे उत्पन्न हो आता है।

(ङ) अपनी प्रकृति के सहारे मैं इन अविद्या-रूपी बेड़ियों से जकड़े हुए (वा अपने-अपने स्वभाव से विवश हुए) प्राणियों को पुनः-पुनः उत्पन्न करता हूँ।

(च) पर इन सब कर्मों में मैं उदासीनवत् और असङ्ग स्थित रहता हूँ, इसलिये ये कर्म मुझे बंधायमान नहीं करते।

(छ) मेरी केवल अध्यक्षता में प्रकृति सब चराचर को उत्पन्न करती है। इसी कारण से सृष्टि बारम्बार बनती-बिगड़ती है।

(ज) मूर्ख लोग मेरे प्रभाव को न जानकर और मुझे मनुष्य-शरीर समझकर मुझे ठीक-ठीक नहीं पहचानते हैं।

(झ) ये मूर्ख लोग धोखा देनेवाली राक्षसी और आसुरी प्रकृति के अधीन हुए होते हैं; इनकी आशाएँ, कर्म, आचार, विचार सब भ्रष्ट और निषिद्ध होते हैं।

(ञ) पर जो दैवी प्रकृति रखनेवाले महात्मा लोग हैं, वे मुझे भूतों का अविनाशी कारण जानकर अनन्य चित्त से मेरा भजन करते हैं, और नित्य मेरा कीर्तन करते हुए मुझे ध्याते वा उपासते हैं।

(३) अपना इतना गुह्य-ज्ञान कहने के बाद अब भगवान् उन-उन

उपायों वा साधनों का वर्णन करते हैं, जिन-जिनको उक्त महात्मा लोग भगवद्भजन में वर्तते हैं।

(क) हे अर्जुन ! ज्ञान-यज्ञ से मेरी पूजा करते हुए कोई महात्मा एकत्व-रूप से मेरी उपासना करते हैं और कोई पृथक्त्व-रूप से।

(ख) मेरी एकत्व-रूप से उपासना में महात्मा लोग मेरा ऐसे ध्यान करते हैं कि

(१) यज्ञ-याग, स्वधा, औषध, मन्त्र, घी, अग्नि और हवन-कर्म सब मैं हूँ।

(२) इस जगत् का पिता, माता, धाता और पितामह मैं हूँ। जानने-योग्य पवित्र ओंकार, और ऋक्, साम, यजु सब मैं ही हूँ।

(३) सबकी गति, सबका भर्ता, प्रभु, साक्षी, निवास-स्थान, शरण-स्थान, सुहृद्, उत्पत्ति, प्रलय और स्थिति का आधार, निधान और अविनाशी कारण (बीज) सब मैं हूँ।

(४) मैं संसार को तपाता हूँ, मैं ही वर्षा को थामता और वर्षाता हूँ, और अमृत, मृत्यु, सत्, असत् सब मैं ही हूँ।

(ग) मेरी पृथक्त्व-रूप से उपासना में तीनों वेदों के जाननेवाले (वा तीनों के अनुयायी) और शुद्ध महात्मा लोग यज्ञों से मुझे पूजते हैं और स्वर्ग-गति की प्रार्थना करते हैं।

(४) उपासना के साधनों वा उपायों का पारस्परिक भेद दर्शाकर अब भगवान् इनके फल का भेद निरूपण करते हैं—

(क) पृथक्त्व-रूप से उपासना करनेवाले महात्मा लोग जो स्वर्ग-गति की प्रार्थना करते हैं, उस प्रार्थना के अनुसार वे पुण्य-रूप देवेन्द्र-

लोक को पाते हैं और वहाँ देवताओं के दिव्य भोगों को भोगते हैं।

(ख) उस विशाल स्वर्गलोक को भोगकर पुण्यों के क्षीण होने पर वे मृत्युलोक में पुनः-पुनः आते हैं।

(ग) पर जो अनन्यनिष्ठ लोग मुझे अनन्य चित्त से चिन्तते हुए उपासते हैं, उन स्थिर (नित्य-युक्त) उपासकों का योग-क्षेम मैं अपने ज़िम्मे लेता हूँ।

(घ) पर जो श्रद्धा-भक्ति से अन्य देवताओं को भजते हैं, वे भी एक प्रकार से मेरी ही उपासना करते हैं, परन्तु टेढ़ी विधि से, क्योंकि मैं ही सब यज्ञों का भोक्ता और प्रभु हूँ।

(ङ) किन्तु मुझे तत्त्व से वे जानते नहीं, इसलिये वे गिर जाते हैं अर्थात् जन्म-मरण को प्राप्त होते हैं।

(च) इस प्रकार देवताओं के उपासक देवताओं को, पितरों के उपासक पितरों को, भूतों के पूजक भूतों को और मेरे पूजक मुझको ही प्राप्त होते हैं।

(५) इस प्रकार उपासना के भेद फल के सहित दर्शाकर अब भगवान् अपनी भक्ति (वा उपासना) की सुगमता वा अनायासता प्रकट करते हैं—

(क) पत्र, पुष्प, जल और फल को जो सच्चे मन से मेरे अर्पण करता है, उसे मैं प्रसन्नता से स्वीकार करता हूँ।

(ख) बल्कि हे अर्जुन ! इससे अधिक सुगम विधि यह है कि जो कुछ तू करता, खाता, होम-हवन करता, तपता और दान देता है, वह सब मेरे अर्पण कर।

(ग) ऐसा करने से तू कर्मों के शुभाशुभ-रूप फलों से छूट जायगा और फिर मुझे ही प्राप्त होगा।

(६) इस प्रकार भगवत्-भक्ति का मार्ग सुलभ और सुखकारक निरूपण करके अब भगवान् उसके समत्व-रूपी अन्य विशेष गुणों का वर्णन करते हैं, जिससे इस मार्ग में जो यह विषमता-दोष कि "भगवान् केवल अपने भक्त को प्राप्त होते हैं, अन्य को नहीं," प्रतीत होता है, उसका निवारण हो जाय—

(क) हे अर्जुन! यद्यपि मैं सबको एक आँख से देखता हूँ, न मेरा कोई शत्रु है न मित्र, तथापि जो सच्ची भक्ति से मुझे भजते हैं, वे मेरे हैं और मैं उनका हूँ।

(ख) और तो क्या, यदि कोई महा-दुराचारी भी मेरा अनन्य भक्त होकर भजन करे, तो वह साधु ही (या साधुवत्) माना जाना उचित है; क्योंकि अब उसका निश्चय वा चित्त ठीक हुआ होता है।

(ग) महा-दुराचारी भी जब शुद्ध-चित्त से मेरा भजन करता है, तो वह शीघ्र धर्मात्मा हो जाता है और नित्य-शान्ति को प्राप्त होता है। हे अर्जुन! यह निश्चय रख कि मेरे भक्त का कभी नाश वा अधःपतन नहीं होता।

(घ) हे पार्थ! जो मेरी शरण लेते हैं, वे कैसे ही नीच-कुल में उत्पन्न क्यों न हुए हों, चाहे वे स्त्री-जाति के हों, चाहे वैश्य-जाति के और चाहे शूद्र, वे भी अति उच्च गति को प्राप्त होते हैं।

(ङ) जब नीच-कुलोत्पन्न को मेरी भक्ति से यह उत्तम फल मिलता है, तो फिर उत्तम-कुलोत्पन्न पुण्यात्मा ब्राह्मणों और भक्त राज-ऋषियों के विषय में कहना ही क्या है, वे तो निस्सन्देह मेरी भक्ति से उत्तम गति को शीघ्र प्राप्त हो जाते हैं।

(७) इस प्रकार अपनी भक्ति का उत्तम फल विशेष गुणों के सहित दर्शाकर भगवान् अब अर्जुन को अन्त में यह उपदेश देते हैं—

(क) इसलिये, हे अर्जुन! तू जो उत्तम-कुलोत्पन्न हुआ इस अनित्य और सुख-रहित संसार को प्राप्त हुआ है, तू अब मेरा ही भजन कर, जिससे तुझे भी उत्तम गति शीघ्र प्राप्त हो।

(ख) और वह मेरा भजन यह है कि तू अपने मन को मेरे ध्यान में लगा (वा अपना मन पूर्ण-रूप से मेरे अर्पण कर) मेरा भक्त हो, अर्थात् अपना हृदय वा चित्त मेरे पूरा अर्पण कर, जिससे तू मेरा अनन्य भक्त हो। मेरा ही सर्वत्र वा सब पदार्थों में पूजन कर। इस प्रकार ध्यान वा भगवद्भजन में नित्य-युक्त होकर और पूर्ण-रूप से मेरे परायण हुआ तू मुझे ही प्राप्त होगा।

इस प्रकार श्रीभगवान् से गाये हुए अर्थात् कहे हुए उपनिषद् में, ब्रह्मविद्यान्तर्गत योगशास्त्र-विषयक, श्रीकृष्ण और अर्जुन के सम्वाद में, राजविद्या-राजगुह्य-योग-नामक नवाँ अध्याय समाप्त हुआ।

---

* ॐ *

दशमोऽध्यायः

सम्बन्ध—पूर्वले अध्याय ९ में भगवान् ने जो अपने व्यक्त स्वरूप की उपासना का राज-मार्ग वर्णन किया, उसे अब वह अधिक विस्तार से पुनः स्वयं स्पष्ट करने लगे हैं जिस पर दसवाँ अध्याय आरम्भ होता है। और पहले सातवें, आठवें तथा नवें अध्याय में भगवान् ने जो कहीं-कहीं अपनी विभूतियां का संक्षेप से वर्णन किया है; जैसे सातवें में "रसोऽहमप्सु कौन्तेय"=जलों में, हे अर्जुन ! मैं रस हूँ (७. ८), आठवें में "अधियज्ञोऽहमेवात्र"=इस देह में मैं ही अधियज्ञ हूँ (८. ४), और नवें में "अहं क्रतुरहं यज्ञः"=मैं ही श्रौत और मैं ही स्मार्त यज्ञ हूँ (९. १६), इत्यादि; इन्हीं विभूतियों का विस्तारपूर्वक वर्णन भी अर्जुन के प्रश्न पर वे अब करने लगे हैं ताकि अर्जुन को इस उपासना के मार्ग में सुगमता हो जाय और वह पूर्व अध्याय में वर्णित भगवद्भजन के माहात्म्य वा फल को शीघ्र प्राप्त कर ले। अर्जुन क्योंकि भगवान् को अति प्यारा है, और भगवान् भी अर्जुन की भक्ति वा श्रद्धा से प्रेरित हुए उसके कल्याण करने पर तत्पर हुए हैं, इसलिये विना पूछे भी कृपालु भगवान् उक्त व्यक्त स्वरूप की उपासना को अर्जुन के कल्याणार्थ विस्तारपूर्वक कहने लगे हैं। *

---

* सातवें और नवें अध्याय में भगवान् के तत्त्व और विभूतियों का वर्णन किया गया। अब जिन-जिन भावों में भगवान् चिंतन किये जाने-योग्य हैं,

श्रीभगवानुवाच—

भूय एव महाबाहो शृणु मे परमं वचः ।
यत्तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया ॥ १ ॥

भूयः, एव, महाबाहो, शृणु, मे, परमं, वचः	हे अर्जुन ! फिर भी मेरे परम वचन को तू सुन	यत्, ते, अहं, प्रीयमाणाय,*, वक्ष्यामि, हितकाम्यया	जो मैं तुझ प्रीयमाण के लिये भलाई की इच्छा से कहूँगा

अन्वयार्थ—श्रीभगवान् बोले—हे अर्जुन ! फिर भी मेरे परम वचन को तू सुन, जो तुझ प्रीयमाण के लिये मैं भलाई की इच्छा से कहूँगा ॥ १ ॥

व्याख्या—श्रीभगवान् ने कहा कि हे बड़ी भुजावाले अर्जुन ! यद्यपि मैंने संक्षेपपूर्वक यह गूढ़ रहस्य पहले तुझे वर्णन किया है, तथापि तू जो मेरे वचनों को सुन-सुनकर प्रसन्न-चित्त हो रहा है, वा मेरे वचन-रूप अमृत का पान करने से मेरी प्रीति का अनुभव कर रहा है, अथवा मेरे वचनों से प्रीति को प्राप्त हो रहा है, तुझ ऐसे प्यारे के लिये मैं पुनः तेरे कल्याण के विचार (वा इच्छा) से अब कुछ कहता हूँ, तू मेरे इस परम वचन (उपदेश) को ध्यान देकर सुन ॥ १ ॥

उन-उन भावों का वर्णन किया जाना उचित है। यद्यपि भगवान् का तत्त्व पहले कहा जा चुका है परन्तु दुर्विज्ञेय होने से फिर भी उसका वर्णन होना उचित है, अतएव कृपालु भगवान् स्वतः उसे यों वर्णन करने लगे हैं। (श्रीशंकराचार्य)

* प्रीयमाणाय=प्रीतिमान के लिये, अथवा प्यार किये जाते हुए के लिये, वा मेरे वचन को सुनकर प्रीति वा हर्ष को प्राप्त होते हुए के लिये, वा मेरे भाषण से सन्तुष्ट होनेवाले के लिये, या मेरे वचन में पूर्ण प्रीति वा श्रद्धा रखनेवाले के लिये।

सम्बन्ध—इस परम वचन को पुनः सुनाने में भगवान् अब बारहवें श्लोक तक इसका हेतु वर्णन करते हैं—

न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः ।
अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः ॥ २ ॥

न[1], मे[5], विदुः[7], सुरगणाः[2], प्रभवं[6]※, न[3], महर्षयः[4]	न[1] देवतागण[2] और न[3] महर्षि[4] लोग मेरी[5] उत्पत्ति[6] (प्रभाव) को जानते[7] हैं	अहं[2], आदिः[7], हि[1], देवानां[4], महर्षीणां[6], च[5], सर्वशः[3]	क्योंकि[1] मैं[2] सर्व प्रकार[3] से देवताओं[4] और[5] महर्षियों[6] का आदि[7]-कारण हूँ

अन्वयार्थ—न देवतागण मेरी उत्पत्ति (प्रभाव) को जानते हैं और न महर्षिलोग, क्योंकि मैं सर्व प्रकार से देवताओं और महर्षियों का आदि-कारण हूँ ॥ २ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! क्योंकि मैं सर्व प्रकार से, अर्थात् जन्मदाता होने से और बुद्धि आदि का प्रेरक होने से, अथवा सबका उत्पादक, प्रवर्तक, और उपादान होने से इन इन्द्रादिक देवताओं और भृगु आदिक महान् ऋषियों का आदि-कारण हूँ, इसलिये ये सब देवतागण और महर्षि लोग मेरे प्रभाव वा उत्पत्ति को, अर्थात् आकाशादि सर्व प्रपञ्च की उत्पत्ति, स्थिति, संहार, प्रवेश, नियमन, निग्रह, अनुग्रह इत्यादि के करने का जो सामर्थ्य-रूप प्रभाव है, उस मेरे प्रभाव को, या अनेक शक्तियों तथा विभूतियों द्वारा आविर्भाव-रूप जो मेरा प्रभाव है उसको, अथवा नाना

※ प्रभवः=उत्पत्ति, जन्म-रहित का भी नाना विभूतियों में प्रकट होना (श्रीश्रीधर)। भगवान् की शक्ति का उत्कर्ष (श्रीशंकराचार्य)।

विभूतियों में प्रकट होना-रूप जो मेरी उत्पत्ति वा प्रकाश है, उसको नहीं जानते हैं ॥ २ ॥ ❀

सम्बन्ध—उक्त प्रभाव को जाननेवाले का फल भगवान् संक्षेपपूर्वक निरूपण करते हैं—

यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम् ।
असंमूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥३॥

❀ अपने विचित्र ढङ्ग से श्रीज्ञानदेवजी ने इस श्लोक पर ऐसे व्याख्या की है—
"मुझे जानने के विषय में वेद गूँगे हो गये हैं, मन और प्राण पंगु हो गये हैं और सूर्य-चन्द्र विना ही रात के अस्त हो गये हैं। अजी, पेट का गर्भ जैसे अपनी माता की अवस्था नहीं जानता, वैसे ही समस्त देव भी मुझे सर्वथा नहीं जानते। और जलचरों को जैसे समुद्र का प्रमाण दिखाई नहीं देता, मशक जैसे आकाश का उल्लङ्घन नहीं कर सकते, वैसे ही महर्षियों का ज्ञान भी मुझे नहीं जान सकता। मैं कौन हूँ, कितना बड़ा हूँ, किससे कब उत्पन्न हुआ हूँ, इन बातों का निर्णय करते हुए कल्प बीत गये हैं। क्योंकि महर्षियों का, इन देवों का और सब प्राणि-मात्र का आदि कारण मैं ही हूँ। इसलिये, हे पाण्डव ! मुझे जानना अघटित है। पर्वत से उतरा हुआ जल यदि फिर पर्वत पर चढ़े, वृक्ष बढ़ते-बढ़ते यदि जड़ को पहुँच जाय, तभी मुझसे उत्पन्न हुआ जगत् मुझे जान सकेगा ; अथवा यदि बड़ के अंकुर में सम्पूर्ण वट-वृक्ष हाथ लगे, यदि तरङ्ग में समुद्र भरा जा सके, यदि परमाणु में यह भूगोल समा जाय, तभी मुझसे उत्पन्न हुए प्राणियों को, महर्षि अथवा देवों को, मुझे जानने के लिये अवकाश हो सकता है (अर्थात् तभी वे मुझे जान सकते हैं)। तथापि यदि कदाचित् कोई बाह्य-प्रवृत्ति छोड़कर सब इन्द्रियों की ओर पीठ फेर दे, अथवा प्रवृत्त भी हो तो तुरन्त ही पलट आवे, तो वह देह को पीछे छोड़ महाभूतों के शिखर पर चढ़ सकता है।"

यः, मां, अजं, अनादिं, च, वेत्ति, लोक-महा-ईश्वरं	जो मुझ अजन्मा, अनादि और लोकों के महेश्वर को जानता है	असंमूढः, सः, मर्त्येषु, सर्व-पापैः, प्रमुच्यते	वह मनुष्यों में मोह से रहित हुआ सब पापों से छूट जाता है

* पहला अन्वयार्थ—जो मुझ अजन्मा, अनादि और लोकों के महेश्वर को (यथार्थ) जानता है, मनुष्यों में वह मोह से रहित हुआ सब पापों से छूट जाता है ॥ ३ ॥

दूसरा अन्वयार्थ—जो मुझे अजन्मा, अनादि और लोकों का महान् ईश्वर जानता है, वह मनुष्यों में मोह से रहित हुआ सब पापों से मुक्त होता है ॥ ३ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! जब मैं ही सब देवों और महर्षियों का आदि-कारण हूँ और मेरा वास्तव में कोई उत्पत्तिकारक है ही नहीं, जिससे मैं अजन्मा, अनादि और सूर्यादि सारे लोकों का महान् ईश्वर अर्थात् परमात्मा हूँ। ऐसे मुझ अजन्मा इत्यादि को जो ठीक-ठीक जान जाता है, वह मनुष्यों में अज्ञान वा धोखे से रहित हो जाता है, अर्थात् आत्मा के अज्ञान की निवृत्ति द्वारा अनात्मा के तादात्म्य-अध्यास-रूप सम्मोह से रहित हो जाता है और सर्व पापों से, अर्थात् बुद्धिपूर्वक वा अबुद्धिपूर्वक किये हुए भूत, भविष्यत्, वर्तमान के सब पापों से वह मुक्त हो जाता है; अथवा मनुष्यों में जो मोह-रहित हुआ मुझे इस प्रकार अजन्मा, अनादि इत्यादि जान लेता है, वह सब पापों से छूट जाता अर्थात् निष्पाप हुआ मुक्त होता है ॥ ३ ॥ †

---

* कई टीकाकारों ने पहले अर्थ दिये हैं और कुछ ने दूसरे। पर व्याकरण वा पूर्वापर के सम्बन्ध से दोनों ठीक बैठ सकते हैं, इसलिये दोनों ही यहाँ दे दिये गये हैं।

† उक्त श्लोक १, २, ३ से भगवान् का अभिप्राय यह है कि जो पारमार्थिक अवस्था पुरुषोत्तम की है, वह किसी के ज्ञानगोचर अर्थात् बुद्धि-गम्य

सम्बन्ध—(१) अब अपने आपको भगवान् सब लोकों का महेश्वर होना सविस्तर स्पष्ट करते हैं—

अथवा (२) किन कारणों से सब लोकों का मैं महेश्वर हूँ, उन्हें भगवान् अब अपने आप निरूपण करते हैं—

अथवा (३) अपने से उत्पन्न हुए उन भावों को भगवान् अब वर्णन करते हैं कि जो अलग-अलग भूतों में उनकी प्रकृति के समान होकर समस्त जगत् में बिखरे हुए हैं—

अथवा (४) अब भगवान् अगले दो श्लोकों में यह दर्शाने लगे हैं कि वे कौन-सी विभूतियाँ हैं जो मुझसे उत्पन्न होती हैं और जिन्हें जानने से प्राणी असंमूढ़ कहलाता है—

नहीं हो सकती। ब्रह्माण्ड के सब प्रकाश और बुद्धि, मन इत्यादि की सब शक्तियों का प्रकाश पुरुषोत्तम ही से है। इस प्रकार जैसे पिता की उत्पत्ति और जीवन-दशा उसके पुत्र को नहीं मालूम हो सकती, वैसे ही ईश्वर की आदि-अवस्था वा उसकी परम दशा का ज्ञान इन उत्पन्न भये (दृष्टिगोचर) देवताओं, ऋषियों और मुनियों को नहीं हो सकता। इन्द्रियों से उसका प्रत्यक्ष होना असम्भव है, केवल शब्द वा प्रमाण द्वारा ही उसका ज्ञान निश्चित होता है।

इस तीसरे श्लोक की व्याख्या विचित्ररूप से श्रीज्ञानदेवजी ऐसे करते हैं—

"और वहाँ स्थिर रहकर निर्मल आत्म-प्रकाश में अपने नेत्रों से मेरा अजत्व देख सकता है। जो पुरुष मुझे ऐसा जान लेता है कि मैं आरम्भ से भी परे हूँ और सब लोकों का महेश्वर हूँ, वह पत्थरों में पारस है। रसों में जैसा अमृत है, वैसा ही मनुष्यों में वह है। उसे मेरा ही अंश जानो। वह चलता हुआ ज्ञान का प्रतिबिम्ब है। उसके अवयव सुख के अंकुर हैं और लौकिक

बुद्धिर्ज्ञानमसंमोहः क्षमा सत्यं दमः शमः ।
सुखं दुःखं भवोऽभावो भयं चाभयमेव च ॥ ४ ॥
अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः ।
भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः ॥ ५ ॥

बुद्धिः, ज्ञानं, असंमोहः	बुद्धि, ज्ञान, असंमोह,	अहिंसा, समता, तुष्टिः	अहिंसा, समता, सन्तोष
क्षमा, सत्यं, दमः, शमः	क्षमा, सत्य, दम, शम,	तपः, दानं, यशः, अयशः	तप, दान, यश और अयश
सुखं, दुःखं, भवः, अभावः	सुख, दुःख, उत्पत्ति, नाश,	भवन्ति, भावाः, भूतानां, मत्तः, एव, पृथक्-विधाः	भूतों के नाना प्रकार के भाव मुझसे ही होते हैं
भयं, च, अभयं, एव, च	भय और ऐसे ही अभय		

अन्वयार्थ—बुद्धि, ज्ञान, असंमोह, क्षमा, सत्य, दम, शम, सुख, दुःख,

दृष्टि से जो उसका मनुष्यत्व दिखाई देता है, वह केवल भ्रम है। अजी अकस्मात् कपूर में हीरा जा पड़े और ऊपर से पानी हो, तो जैसे वह पहचाना नहीं जाता, वैसे ही यद्यपि मनुष्य-लोक में वह मनुष्य लौकिक दिखाई देता हो तथापि वह प्रकृति के दोष की वार्ता भी नहीं जानता। उससे डरकर पाप स्वयं भाग जाते हैं। मुझे जाननेहारे को सङ्कल्प वैसे ही छोड़ देते हैं, जैसे जलते हुए चन्दन को सर्प। ऐसा मेरा ज्ञान कैसे हो जाता है, यह कल्पना यदि तुम्हारे चित्त में हो, तो सुनो कि मैं कैसा हूँ और मेरे धर्म कैसे हैं। वे मेरे धर्म अलग-अलग भूतों में प्रकृति के समान होकर सम्पूर्ण जगत् में बिखरे हुए हैं।"

उत्पत्ति, नाश, भय और अभय, अहिंसा, समता; संतोष, तप, दान, यश और अयश, भूतों के ये नाना प्रकार के भाव मुझसे ही होते हैं ॥ ४, ५ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! बुद्धि=जानने का सामर्थ्य, अर्थात् अन्तःकरण में सूक्ष्म अर्थ के समझने वा विचारने की शक्ति। ज्ञान=आत्मा-अनात्मा-रूप सब पदार्थों का बोध, अथवा बुद्धि-रूपी उक्त शक्ति (वा सामर्थ्य) से आत्मा आदि सब पदार्थों का ठीक-ठीक जानना, अथवा आत्मा और अनात्मा आदि सकल पदार्थों का विचारपूर्वक अनुभव, या आत्मा को निश्चय करनेवाली आत्माकार अन्तःकरण की वृत्ति। असंमोह=जानने-योग्य वा करने-योग्य प्राप्त भये पदार्थों में व्याकुलता, मोह वा धोखे से रहित होकर विवेकपूर्वक प्रवृत्ति वा उक्त पदार्थों में निर्मोहिता। क्षमा=अपने को दुःख देनेवाले, मारनेवाले वा कठोर बोलनेवाले को दण्ड देने की शक्ति रखते हुए भी उसको दण्ड न देना, उसका बुरा चिन्तन न करना, बल्कि उसके इस (दुःख देने के) कर्म पर अप्रसन्न न होकर उसे चित्त से क्षमा करके भुला देना; अथवा पृथिवीवत् सहनशील होना, अर्थात् आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक इन तीनों प्रकार के उपद्रवों के सहन करने का स्वभाव। सत्य=प्रत्यक्षादि प्रमाणों से जिस पदार्थ के विषय जैसा ज्ञान हो, उसे वैसा ही बोलना, अर्थात् यथार्थ, सन्देह-रहित कथन। दम=श्रोत्रादि बाह्य इन्द्रियों की शब्दादि विषयों से निवृत्ति, अथवा श्रोत्रादि बाह्य इन्द्रियों का वश में करना, अर्थात् बाह्य इन्द्रियों का निरोध। शम=अन्तःकरण की शब्दादि विषयों से निवृत्ति, अथवा भीतर के इन्द्रिय मनादि का वश में करना, अर्थात् अन्तःकरण का निरोध। सुख=अनुकूल पदार्थों में अन्तःकरण की वृत्ति, अथवा चित्त के अनुकूल वृत्ति का प्रादुर्भाव अर्थात् आह्लाद वा खुशी। दुःख=प्रतिकूल पदार्थों में अन्तःकरण की वृत्ति, अथवा चित्त के प्रतिकूल वृत्ति का प्रादुर्भाव, अर्थात् सन्ताप वा रंज। भव=होना,

अर्थात् उत्पत्ति वा जन्म। अभाव=न होना, अर्थात् नाश, लय वा मरण। भय=त्रास वा डर, अथवा मन में किसी प्रकार का उद्वेग होना। अभय=त्रास-रहित वा निडर, अथवा चित्त का सावधान रहना। अहिंसा=मन, वाणी और कर्म से किसी को पीड़ा वा दुःख न देना; अथवा लोभ, मोह और क्रोध के वशीभूत होकर किसी प्राणी को पीड़ा वा दुःख न देना। समता=राग-द्वेष से रहित होकर वर्तना, अथवा समचित्तता अर्थात् दुःख-सुख, भय-अभय, हानि-लाभ, इष्ट-अनिष्ट, राग-द्वेष इत्यादि द्वन्द्वों की प्राप्ति पर चित्त का एकरस समान स्थिर रहना, घबराहट वा व्याकुलता को प्राप्त न होना। तुष्टि=सन्तोष, अर्थात् दैवयोग से जो कुछ स्वतः प्राप्त हो, उसी पर प्रसन्न रहना। तप=तपस्या अर्थात् शास्त्र-उपदिष्ट मार्ग से अथवा कृच्छ्रचान्द्रायणादि व्रतों से शरीर इन्द्रियों का शोषण (शिथिल) और निग्रह करना। दान=देश, काल, पात्र देखकर श्रद्धा से यथाशक्ति अपने (न्यायपूर्वक कमाये हुए) द्रव्यादि का देना। यश=कीर्ति, प्रशंसा अर्थात् संसार में धर्मानुकूल प्रसिद्धि वा कीर्ति। अपयश=निन्दा वा अपकीर्ति अर्थात् संसार में अधर्म के कारण अपकीर्ति वा बदनामी। ये सब-के-सब (बुद्धि-ज्ञानादि) नाना प्रकार के भाव* (अवस्था, स्थिति, वृत्ति, कार्य) जो सर्वत्र दिखाई देते हैं, सो प्राणियों में, हे अर्जुन! मुझसे ही उनके अपने-अपने कर्मानुसार उत्पन्न होते हैं, किसी अन्य आधार से ये प्रकट होने नहीं पाते। जैसे प्राणी भिन्न-भिन्न हैं, वैसे ही ये भाव भी भिन्न-भिन्न हैं। इस प्रकार यह सम्पूर्ण जीव-सृष्टि मुझसे उत्पन्न भये भावों से बँधी हुई है, जिससे मैं इस समस्त जगत् का वस्तुतः महेश्वर हूँ॥ ४, ५॥

---

* 'भाव' शब्द का अर्थ है 'अवस्था', 'स्थिति' या 'वृत्ति', और सांख्य-शास्त्र में 'बुद्धि के भाव' एवं 'शारीरिक भाव' ऐसा भेद किया गया है। सांख्य-शास्त्री पुरुष को अकर्ता और बुद्धि को प्रकृति का एक विकार मानते

सम्बन्ध—(१) केवल बुद्धि आदि कारणों से ही मैं सारे लोकों का महेश्वर नहीं हूँ, बल्कि इससे इतर और भी हेतु ये हैं—

अथवा (२) अब भगवान् अपनी लोक-महेश्वरता को और भी अधिक उत्तमता से अगले श्लोकों में स्पष्ट करते हैं—

अथवा (३) अब इस सृष्टि के जो ग्यारह पालक हैं, जिनके अधीन हो सारे लोक व्यवहार करते हैं, उन ग्यारह पालकों का भगवान् अब वर्णन करते हैं—

महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा ।
मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः ॥६॥

महा-ऋषयः, सप्तः	सात महा-ऋषि (महर्षि)	मद्-भावाः, मानसाः, जाताः	मेरे मन से उत्पन्न हुए-हुए भाव हैं
पूर्वे, चत्वारः, मनवः, तथा	और पहले के चार मनु	येषां, लोके, इमाः, प्रजाः	जिनकी लोक में ये प्रजाएँ हैं

हैं, इसलिये वे कहते हैं कि लिङ्ग-शरीर को पशु-पक्षी आदि के भिन्न-भिन्न जन्म मिलने का कारण लिङ्ग-शरीर में रहनेवाली बुद्धि की विभिन्न अवस्थाएँ अथवा भाव ही हैं, और ऊपर के दो श्लोकों में इन्हीं भावों का वर्णन है। परन्तु वेदान्तियों का सिद्धान्त है कि प्रकृति और पुरुष से भी परे परमात्मा-रूपी एक नित्य तत्त्व है और (नासदीय सूक्त के वर्णनानुसार) उसी के मन में सृष्टि निर्माण करने की इच्छा उत्पन्न होने पर सारा दृश्य जगत् उत्पन्न होता है ; इस कारण वेदान्त-शास्त्र में भी कहा है कि सृष्टि के मायात्मक सभी पदार्थ परब्रह्म के मानस भाव हैं (अगला श्लोक देखो)। तप, दान और यज्ञादि शब्दों से तन्निष्ठक बुद्धि के भाव ही उद्दिष्ट हैं। (श्रीतिलक महाराज)

अन्वयार्थ—सात ※ महर्षि और पहले के चार † मनु, जिनकी लोक में ये प्रजाएँ हैं, मेरे मन से उत्पन्न हुए-हुए भाव हैं ॥ ६ ॥

※ पुराणों में सप्त महर्षियों के सम्बन्ध में यह श्लोक है—"भृगुं मरीचिमत्रिं च पुलस्त्यं पुलहं क्रतुम् । वसिष्ठं च महातेजाः सो सृजन्मनसा सुतान् ।"= भृगु, मरीचि, अत्रि, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु और वसिष्ठ, इन सप्त महर्षि-रूप पुत्रों को उस महातेजस्वी ब्रह्मा ने सृष्टि के आदि-काल में अपने मन से उत्पन्न किया। पर कुछ स्थानों पर ऐसा वर्णन भी है कि "कश्यप, अत्रि, भरद्वाज, विश्वामित्र, गौतम, जमदग्नि और वसिष्ठ" वर्तमान युग के सप्तर्षि हैं (विष्णु० ३. १. ३२ और ३३ ; मत्स्य० ६. २७ और २८ ; म० भा० अनु० ६३. २१)।

† "पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा"=और पहले के चार मनु, इसका तात्पर्य क्या है। पुराणों में तो साधारण चौदह मनुओं का वर्णन है, पर भगवान् ने यहाँ पहले के चार मनु क्यों कहे हैं ? इस पद के समझने में बहुत-से टीकाकारों को अति कठिनता प्रतीत हुई है, जिससे उन्होंने इस श्लोक का ऐसे अर्थ किया है कि (भृगु आदि) सात महर्षि और इनसे भी पहले के (सनक, सनन्दन, सनातन और सनत्कुमार) चार महर्षि, और (स्वायम्भुव, स्वारोचिष, औत्तमिः, तामस, रैवत, चाक्षुष, वैवस्वत, सावर्णि, दक्षसावर्णि, ब्रह्मसावर्णि, धर्मसावर्णि, रुद्रसावर्णि, रौच्य देवसावर्णि और इन्द्रसावर्णि ये चौदह) मनु, इत्यादि। अर्थात् 'चार' को मनुओं के साथ नहीं लगाया बल्कि अन्य महर्षियों के साथ लगाकर, मनुओं को अलग चौदह करके अर्थ किया है। पर पूर्वापर के सम्बन्ध से यह अर्थ ठीक नहीं है, क्योंकि इसी श्लोक में आगे यह कहा है कि "जिनकी इस लोक में ये प्रजाएँ हैं।" और सनकादि जो ब्रह्मा के मानस पुत्र हुए हैं, उन्होंने प्रजा उत्पन्न करने से इन्कार कर दिया था, वे चारों जन्म से ही संन्यासी हो गये थे, जिसलिये उनको कोई प्रजा नहीं है। और श्रीस्वामी शङ्कराचार्य ने भी अपने भाष्य में 'चत्वारः' शब्द का सम्बन्ध 'मनवः' शब्द के साथ ही किया है, उक्त चार महर्षियों के साथ नहीं। इसलिये 'चत्वारः' शब्द

व्याख्या—हे अर्जुन ! इस सृष्टि के आदि-काल में उत्पन्न हुए जो भृगु, मरीचि, अत्रि, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु और वसिष्ठ सात महर्षि हैं, जो वेदों के पाठ तथा अर्थ को भली प्रकार से जाननेवाले और वेद-विद्या के प्रवर्तक हैं, जिन्होंने सृष्टि को उत्पन्न किया, वा जो इस सृष्टि के पालक

से अभिप्राय पहले के चार मनु ही हो सकता है, और नहीं। तात्पर्य यह है कि उक्त जो चौदह मनु पुराणों में आये हैं, इनमें सात-सात के दो वर्ग हैं, पहले सातों को स्वायम्भुव आदि मनु कहते हैं और दूसरे सातों को सावर्णि आदि मनु कहते हैं। पूर्व वर्ग के सात मनुओं में से छ मनु हो चुके हैं और आजकल सातवाँ अर्थात् वैवस्वत मनु चल रहा है। इसके समाप्त होने पर दूसरे वर्ग के सात मनु अर्थात् सावर्णि मनु आवेंगे। मन्वन्तर के कई अर्थ समझे जाते हैं। पहले और तीसरे, तीसरे और पाँचवें, पाँचवें और सातवें, इत्यादि। मनुओं के बीच के समय को भी मन्वन्तर कहते हैं। और पहले व दूसरे, दूसरे व तीसरे और तीसरे व चौथे इत्यादि मनुओं के बीच के समय को भी मन्वन्तर कहते हैं। जब पहले व दूसरे मनुओं के बीच के समय को मन्वन्तर कहते हैं, तो दूसरे व तीसरे मनु के बीच के समय को प्रलय कहते हैं। इस प्रकार चौथा मन्वन्तर अब चल रहा है।

मानवी सृष्टि सात होती हैं, और एक-एक सृष्टि के लिये एक-एक द्वीप अलग होता है। इस पृथिवी के भी जम्बुद्वीप आदि सात द्वीप हैं। भारतखंड जम्बुद्वीप में है। यह चौथा द्वीप है। जो मनुष्य-जाति इस द्वीप पर रहती है, वह इससे पहले तीन द्वीपों पर रह चुकी है, अब चौथी सृष्टि उसी मनुष्य-जाति की इस जम्बुद्वीप में हुई है। इसके बाद तीन और द्वीपों पर यथासमय यह होगी। इस प्रकार ये सात सृष्टियाँ होंगी। अब इस समय चौथी सृष्टि बीत रही है। पहली सृष्टि स्वायम्भुव मनु की थी। जब उस सृष्टि का अन्त-समय आया, तो वह सृष्टि प्रलयावस्था में गई। यह प्रलयावस्था दूसरे मनु स्वारोचिष की रही। इस प्रलयावस्था में मनुष्य-जाति का साधारण

हैं, और जो ब्रह्मा के मानस पुत्र कहलाते हैं, ये वास्तव में मेरे ही सङ्कल्प-मात्र से उत्पन्न हुए-हुए मानस पुत्र हैं। और इससे भी पहले के वा इन ऋषियों से भी पहले के जो चार (स्वायम्भुव इत्यादि) श्रेष्ठ मनु हैं, जिनकी इस लोक में ये सारी प्रजाएँ हैं, वे भी वास्तव में मेरे ही मानस

प्रकाश नहीं रहता, परन्तु शिष्ट मनुष्य-जाति दूसरे प्रकाश के लिये तैयार होती रहती है। केवल सृष्टावस्था मनुष्य-जाति की गिनी जाय, तो यह चौथी मानवी सृष्टि प्रकाश कर रही है।

भगवद्गीता के हिसाब से वैवस्वत मनु चौथा है और अब उसकी चौथी सृष्टि बीत रही है, इसलिये भगवान् ने पूर्व के चार मनु कहे हैं।

श्रीतिलक महाराज इस 'चत्वारः' शब्द के अर्थ (चार सनक-सनन्दन आदि महर्षि और १४ मनु) का पूर्ण रीति से खण्डन करके अपना अभिप्राय यह दर्शाते हैं—"पहले के चार' ये हैं कौन ? हमारे मत में इस प्रश्न का उत्तर नारायणीय अथवा भागवत-धर्म की पौराणिक कथा से ही दिया जाना चाहिए, क्योंकि यह निर्विवाद है कि गीता में भागवत-धर्म ही का प्रतिपादन किया गया है। अब यदि यह देखें कि भागवत-धर्म में सृष्टि की उत्पत्ति की कल्पना किस प्रकार की थी, तो पता लगेगा कि मरीचि आदि सात ऋषियों के पहले वासुदेव (आत्मा), सङ्कर्षण (जीव), प्रद्युम्न (मन), और अनिरुद्ध (अहङ्कार) ये चार मूर्तियाँ उत्पन्न हो गई थीं। और कहा है कि इनमें से पिछले अनिरुद्ध से अर्थात् अहङ्कार से या ब्रह्मदेव से मरीचि आदि पुत्र उत्पन्न हुए (म० भा० शां० ३३९. ३४–४० और ६०–७२ ; ३४०. २७–३१)। वासुदेव, सङ्कर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध इन्हीं चार मूर्तियों को 'चतुर्व्यूह' कहते हैं ; और भागवत-धर्म के एक पंथ का मत है कि ये चारों मूर्तियाँ स्वतन्त्र थीं, तथा दूसरे कुछ लोग इनमें से तीन अथवा दो को ही प्रधान मानते हैं। किन्तु भगवद्गीता को ये कल्पनाएँ मान्य नहीं हैं। हमने गीतारहस्य (पृ० १९५ और ५३७–५३८) में दिखलाया है कि गीता एक

पुत्र अर्थात् मेरे सङ्कल्प-मात्र से उत्पन्न हुए-हुए हैं। और मेरी ही शक्ति उन रूपों में प्रकट हुई काम कर रही है, जिससे वे सब-के-सब मेरे ही अपने भाव हैं, और यह समस्त सृष्टि मेरा ही सङ्कल्प-मात्र है। इसलिये भी मैं ही इन सबका महेश्वर हूँ॥ ६॥

सम्बन्ध—इस प्रकार अपने महेश्वरत्व के हेतु वा नाना प्रकार के भावों को स्पष्ट करने के बाद अब भगवान् इन भावों के ज्ञान वा उपासना का फल वर्णन करते हैं—

एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः।
सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः॥ ७॥

व्यूह-पन्थ की है, अर्थात् एक ही परमेश्वर से चतुर्व्यूह आदि सब कुछ की उत्पत्ति मानती है। अतः व्यूहात्मक वासुदेव आदि मूर्तियों को स्वतन्त्र न मानकर इस श्लोक में दर्शाया है कि वे चारों व्यूह एक ही परमेश्वर अर्थात् सर्वव्यापी वासुदेव के (गीता ७. १९) 'भाव' हैं। इस दृष्टि से देखने पर विदित होगा कि भागवत-धर्म के अनुसार 'पहले के चार' इन शब्दों का उपयोग वासुदेव आदि चतुर्व्यूह के लिये किया गया है कि जो सप्तर्षियों के पूर्व उत्पन्न हुए थे। भारत में ही लिखा है कि भागवत-धर्म के चतुर्व्यूह आदि भेद पहले से ही प्रचलित थे (म० भा० शां० ३४८. ५७); यह कल्पना कुछ हमारी ही नई नहीं है। सारांश, भारतान्तर्गत नारायणीयाख्यान के अनुसार हमने इस श्लोक का अर्थ यों लगाया है—'सात महर्षि' अर्थात् मरीचि आदि, 'पहले के चार' अर्थात् वासुदेव आदि चतुर्व्यूह, और 'मनु' अर्थात् जो उस समय से पहले हो चुके थे और वर्तमान, सब मिलाकर स्वायम्भुव आदि सात मनु। अनिरुद्ध अर्थात् अहङ्कार आदि चार मूर्तियों को परमेश्वर के पुत्र मानने की कल्पना भारत में और अन्य स्थानों में भी पाई जाती है (देखो म० भा० शां० ३११. ७-८)।"

एतां, विभूतिं, योगं, च, मम, यः, वेत्ति, तत्त्वतः	मेरी इस विभूति और योग को जो तत्त्व से जानता है	सः, अविकम्पेन, योगेन, युज्यते	वह अचल योग से युक्त होता है
		न, अत्र, संशयः	इसमें कोई संशय नहीं

अन्वयार्थ—जो मेरी इस विभूति*-और योग को तत्त्व से जानता है, वह अचल योग से युक्त होता है, इसमें संशय नहीं ॥ ७ ॥

---

* 'विभूति' शब्द के अर्थ प्रकाश, सिद्धि या प्रभाव, अर्थात् शक्ति का किसी में प्रधानता से प्रादुर्भाव और सामर्थ्य प्रायः लिए जाते हैं, पर विशेष करके शक्ति के ऐसे प्रकाश को विभूति या सिद्धि कहते हैं जो और प्रकाशों से अधिक हो, जैसे उत्तम विद्या का प्रकाश साधारण मनुष्यों के मुक़ाबले में एक विभूति है। विभूति शब्द में 'वि' उपसर्ग के अर्थ विशेष (अधिक) के हैं और 'भूति' के अर्थ प्रकाश अथवा केवल होने के हैं। इस प्रकार 'विभूति' शब्द के अर्थ अधिक प्रकाश के हुए। इसी रीति से 'सिद्धि' शब्द के अर्थ प्राप्ति के हैं, अर्थात् किसी को ऐसी शक्ति प्राप्त हो जाय जो किसी दूसरे को न मिली हो, तो वह अधिक शक्ति वा सामर्थ्य सिद्धि कहलाती है। अथवा जो शक्ति वा सामर्थ्य अपने आधार (शक्तिमान्, प्रकाशमान वा सामर्थ्यवान्) के स्वरूप को अधिक स्पष्ट कर दर्शावे, वह शक्ति वा प्रकाश अपने वास्तविक आधार की विभूति कहलाता है। उदाहरण-रूप से जैसे नीला, पीला, श्वेत, लाल इत्यादि नाना प्रकार के रङ्ग सूर्य के ही हैं, पर नीला-पीला रङ्ग सूर्य के प्रकाश-स्वरूप को इतना नहीं दर्शाते जितना कि श्वेत रङ्ग। इसलिये श्वेत रङ्ग वा श्वेत स्फटिक रूप तो सूर्य को विभूति कहलाता है, अन्य काला-पीला रङ्ग नहीं। इसी प्रकार यह नाना-रूप जगत् यद्यपि उसी एक शुद्ध सच्चिदानन्द-स्वरूप की भिन्न-भिन्न व्यक्तियों या मूर्तियों का पुञ्ज वा समूह है, परन्तु जिस व्यक्ति वा रूप द्वारा उस सच्चिदानन्द-स्वरूप की शक्ति

व्याख्या—हे अर्जुन ! जो मनुष्य उक्त बुद्धि, ज्ञान इत्यादि से लेकर चार मनु इत्यादि नाना प्रकार की मेरी विभूति को वा मेरे विस्तार को तत्त्व से (अर्थात् यथार्थ, ठीक-ठीक) जानता है, और जो मेरी इन विभूतियों पर विस्तार के साथ-साथ मेरे योग को अर्थात् मेरी मायिक घटना को अथवा मेरे ऐश्वर्य-रूप योग को (अथवा उस युक्ति वा सामर्थ्य को जिससे मैं एक ही नाना रूप वा भावों में प्रकट हो आता हूँ और फिर उन भावों के साथ-साथ मैं निरन्तर जुड़ा रहता वा मिला रहता हूँ, ऐसे योग को) यथार्थ-रूप से जान जाता है, वह फिर न डगमगानेवाले अर्थात् अचल समाधि-रूप योग से (अथवा कभी न दूर होनेवाले सम्यक् दर्शन-रूप ज्ञान की स्थिरता-रूप योग से) युक्त हो जाता है ; अर्थात् तब "यतो यतो मनो याति तत्र तत्र समाधयः ।"=जहाँ-जहाँ उसका मन जाता है, वहाँ-वहाँ उसे तत्त्वज्ञान की स्थिरता-रूप समाधि स्वतः प्राप्त हो जाती है । इसमें किञ्चित् भी सन्देह नहीं ॥ ७ ॥

सम्बन्ध—(१) मेरी विभूति तथा योग को जाननेवाला किस प्रकार के न डगमगानेवाले योग से युक्त होता है, उसे भगवान् अब वर्णन करते हैं—

अधिक स्पष्ट होती है, अथवा जो व्यक्ति वा रूप अपने आधार को अन्य की अपेक्षा अधिक स्पष्ट दर्शाता वा उसके अधिक सादृश्य होता है, वह उस आधार की विभूति कहलाता है । इसलिये इस दसवें अध्याय में भगवान् ने संसार की भिन्न-भिन्न व्यक्तियों वा जातियों को लेकर उनकी परस्पर अधिकता (श्रेष्ठता) और न्यूनता को तथा उनकी छोटी या बड़ी शक्तियों के उत्तम प्रकाश को दर्शाया है, और इससे यह स्पष्ट किया है कि सब व्यक्तियों वा जातियों का उत्तम प्रकाश मैं ही हूँ, जिसके स्पष्ट अर्थ यह हैं कि जैसे समष्टि-रूप संसार के लिये पुरुषोत्तम सबमें उत्तम है, इसी प्रकार व्यष्टि-रूप भिन्न-भिन्न जातियों के लिये उनकी उत्तम शक्ति का प्रकाश अथवा उनमें उत्तम शक्ति को प्रकट करनेवाली व्यक्ति अन्य की अपेक्षा से पुरुषोत्तम ही है । और वही उसकी विभूति कहलाती है ।

अथवा (२) जिस विभूति तथा योग के ज्ञान से पुरुष को अचल समाधि प्राप्त होती है, उस ज्ञान का स्वरूप चार श्लोकों में भगवान् अब वर्णन करते हैं—

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्त्तते ।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः ॥ ८ ॥

अहं, सर्वस्य, प्रभवः	मैं सबका उत्पत्ति-स्थान हूँ	इति, मत्वा, भजन्ते, माम्, बुधाः, भाव-समन्विताः	ऐसा जानकर बुद्धिमान् लोग भावना से युक्त हुए मुझे भजते हैं
मत्तः, सर्वं, प्रवर्त्तते	मुझसे सब प्रवृत्त होता है		

अन्वयार्थ—"मैं सबका उत्पत्ति-स्थान हूँ, मुझसे (यह) सब प्रवृत्त होता है", ऐसा जानकर बुद्धिमान् लोग भावना से युक्त हुए मुझे भजते हैं ॥ ८ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! मैं परब्रह्म ही इस समस्त जगत् की उत्पत्ति का कारण हूँ, अर्थात् इस जगत् का उपादान कारण तथा निमित्त कारण सब मैं परमेश्वर ही हूँ। और मुझ परमात्मा से ही जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और नाश आदि सारे व्यवहार प्रवृत्त होते हैं; अर्थात् भूतों का प्रकट वा उत्पन्न होना, चलना-फिरना और फिर नाश होना इत्यादि सर्व-प्रकार की चेष्टा मुझ परमेश्वर के आश्रय से ही होती है; अथवा मुझ परमेश्वर से सत्ता और स्फूर्ति पाकर ही बुद्धि, इन्द्रियाँ इत्यादि नाना प्रकार की चेष्टाएँ करती हैं। इस प्रकार जानकर विचारवान् लोग उक्त परमार्थ-तत्त्व के ग्रहण-रूप भाव तथा उसके प्रेम और श्रद्धा-रूप भाव से युक्त हुए मुझ परमेश्वर को निरन्तर भजते हैं ॥ ८ ॥

सम्बन्ध—इस प्रेमपूर्वक भजन के स्वरूप का भगवान् अब वर्णन करते हैं—

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम् ।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ॥ ६ ॥

मत्-चित्ताः, मत्-गत-प्राणाः	मुझमें चित्तवाले, मुझ में प्राप्त हुए प्राणोंवाले	कथयन्तः, च, मां, नित्यं	और नित्य मेरा कथन करते हुए
बोधयन्तः, परस्परं	परस्पर बोधन करते हुए	तुष्यन्ति, च, रमन्ति, च	सन्तुष्ट होते और आनन्द मनाते हैं

अन्वयार्थ—मुझमें चित्तवाले, मुझमें प्राप्त हुए प्राणोंवाले, परस्पर बोधन करते हुए, और नित्य मेरा कथन करते हुए वे (विचारवान्) सन्तुष्ट होते और आनन्द मनाते हैं ॥ ६ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! उक्त विचारवान् लोग इस प्रकार मेरा भजन करते हैं कि वे पहले मुझमें पूर्ण-रूप से चित्त दे देते हैं, अर्थात् उनका चित्त अन्य सकल चिन्ता और आसक्ति को त्यागकर सर्व प्रकार से मेरे ही अर्पित होता है; अथवा उनका चित्त मेरे स्वरूप, नाम, गुण और कर्मों की मधुरता के स्वाद में ही लुब्ध होता है ; अथवा पूर्ण-रूप से उनका चित्त मुझ सच्चिदानन्द-स्वरूप के चिन्तन वा ध्यान में ही युक्त होता है ; अथवा वे अपने चित्त को पूर्ण-रूप से मेरे अर्पण करके मेरा ही चित्त हुए होते अर्थात् मेरी इच्छा पर ही चलनेवाले होते हैं। और फिर वे मुझमें पूर्ण-रूप से प्राणों का आवेश कर देते हैं ; अर्थात् अपना जीवन भी पूर्ण-रूप से वे मेरी ही इच्छा पर छोड़ देते हैं ; अथवा मेरे भजन में ही श्वासों के निकलते रहने से, अपना जीवन सफल जानते हैं, और विना भजन के जीने में ऐसा असमर्थ समझते हैं जैसे विना जल के मछली ; अथवा चक्षु आदि इन्द्रियों और प्राणों का व्यापार मुझ परमात्मा के निमित्त ही वे अर्पण करते हैं। ऐसे मच्चित्त और मद्गतप्राण होकर वे फिर आपस में बड़े प्रेम से श्रुति-वचनों तथा युक्तियों द्वारा मेरा ही बोध करते-कराते

हैं, अर्थात् एक-दूसरे को मेरे स्वरूप का ज्ञान ही श्रुति-स्मृति द्वारा समझाते वा जतलाते हैं। इस प्रकार मेरा परस्पर बोध करते-कराते हुए वे नित्य मेरे स्वरूप की ही कथा वा चर्चा करते हैं; अर्थात् अन्य सब बातों की चर्चा असार समझकर मेरे स्वरूप, गुण, नाम और ऐश्वर्य की चर्चा ही वे करते रहते हैं। और इस परस्पर बोधन और कथन से वे प्रसन्न (सन्तुष्ट) रहते और सुख अनुभव करते हैं; अर्थात् वे मेरे स्वरूप का ज्ञान श्रोताओं को उनके प्रश्नों पर बार-बार समझाने और कथन करने से प्रसन्न वा सन्तुष्ट होते हैं, और इस प्रसन्नता वा सन्तोष के पाने पर वे वक्ता लोग तो उत्तम सुख को भान करके आनन्द में मग्न होते हैं और श्रोता लोग अपने संशयों की निवृत्ति से सन्तुष्ट होते आनन्द मनाते हैं। संक्षेप से तात्पर्य यह कि वे पूर्ण-रूप से अपना मन, बुद्धि, चित्त, अहङ्कार तथा प्राण वा इन्द्रियों के व्यापार मेरे अर्पण करके सन्तोष को प्राप्त होते हैं और इस सन्तोष से वे उत्तम सुख को लाभ करते हैं, जैसे कि पातंजल सूत्र में आया है कि "सन्तोषादनुत्तमः सुखलाभः इति।" साधक वा उपासक पुरुष को सन्तोष से उत्तम सुख प्राप्त होता है ॥ ९ ॥

सम्बन्ध—ऐसे भजन करनेवाले विचारवानों को जो पुरस्कार वा फल मिलता है, उसे भगवान् अब वर्णन करते हैं—

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥१०॥

तेषां, सतत-युक्तानां, भजतां, प्रीति-पूर्वकम्	उन निरन्तर युक्त और प्रीति-पूर्वक भजनेवालों को	ददामि, बुद्धि-योगं, तं	उस बुद्धि-योग को मैं देता हूँ
		येन, मां, उप-यान्ति, ते	जिससे वे मुझे पहुँच जाते हैं

अन्वयार्थ—उन निरन्तर-युक्त और प्रीतिपूर्वक भजन करनेवाले (भक्तों) को मैं वह बुद्धि-योग* देता हूँ कि जिससे वे मुझको पहुँच जाते हैं ॥ १० ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! पूर्व श्लोक में जैसा वर्णन हुआ, उस प्रकार जो

---

* बुद्धि-योग=मेरे तत्त्व के सम्यक् दर्शन-रूप ज्ञान का नाम बुद्धि और उसमें युक्त होने का नाम योग (श्रीशङ्कराचार्य)। तत्त्व-ज्ञान (श्रीआनन्द-गिरि)। ईश्वर के तत्त्व को ठीक-ठीक जानने का नाम बुद्धि और उस ज्ञान से युक्त होने को बुद्धि-योग कहते हैं (श्रीरामप्रसाद)। पूर्व श्लोक ७ में वर्णित न डगमगानेवाला सम्यक् दर्शन-रूप ज्ञान-योग (श्रीचिद्घनानन्द)। यहाँ बुद्धि-योग के अर्थ ज्ञान-योग के हैं जो (गी० ४. ३८ में) "न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते" से वर्णन किया गया है (पं० आर्यमुनि)। बुद्धि का सम्बन्ध वा बुद्धि-रूप उपाय। इसी बुद्धि-योग की प्रार्थना गायत्री मन्त्र (ऋग० ३. ६२.१०) में है, और इसी का अनुभव नारद ने प्रकट किया है (भा० १.६. १६) (पं० राजाराम)। समत्व बुद्धि का योग (श्रीतिलक महाराज)। बुद्धि-योग से यहाँ अभिप्राय भगवान् का उस बुद्धि-योग से नहीं है जिसका वर्णन दूसरे अध्याय के श्लोक ३९ में "बुद्धियोगे त्विमां शृणु।" कहकर किया है। क्योंकि यहाँ जिस बुद्धि का वर्णन किया है, वह कर्मयोग के विषय में किया है, अर्थात् कर्मयोग में किस प्रकार की बुद्धि होनी चाहिए ? और कैसे-कैसे उन कर्मों का सम्पादन करना चाहिए ? इसी कारण भगवान् ने इस श्लोक में स्वच्छंद-रूप से कह दिया कि जो मेरे में नित्ययुक्त हैं और सदा मुझको ही भजते हैं, उन्हीं को मैं ऐसी बुद्धि प्रदान करता हूँ। इसी बुद्धि के विषय में महर्षि शांडिल्य भी कहते हैं कि "अनन्य भक्त्या तद्बुद्धि-र्बुद्धिलयादत्यन्तम्।" (शांडि० अ० ३. आ० २. सूत्र ९६)=अनन्य बुद्धि के अत्यन्त लय होने से तन्मयि बुद्धि का उदय होता है, इसी 'तन्मयी बुद्धि' की प्राप्ति के विषय में भगवान् इस श्लोक में कह रहे हैं कि 'ददामि बुद्धियोगं तं।' (श्रीस्वामी हंसस्वरूप)

भक्त मुझ सच्चिदानन्द के ध्यान वा भजन में निरन्तर युक्त (जुटे हुए) रहते हैं और प्रीतिपूर्वक (अर्थात् प्रेम-भरे हृदय से) मेरी भक्ति वा उपासना करते हैं, ऐसे नित्य-युक्त और भक्तजनों को मैं वह बुद्धि-योग (समत्व बुद्धि-योग वा ज्ञान-योग अर्थात् मेरे तत्त्व का यथार्थ ज्ञान-रूप बुद्धि और उससे युक्त होना-रूप योग ऐसा बुद्धि-योग अथवा परमात्मा का सम्यक् दर्शन-रूप ज्ञान-योग) देता हूँ कि जिसकी सहायता से वे झट मुझे प्राप्त हो जाते, अर्थात् मेरे ही स्वरूप में लीन हो जाते हैं, अथवा मेरा ही आत्मा होते मुझसे अभेदता अनुभव करते हैं ॥ १० ॥

सम्बन्ध—(१) उक्त भक्तों को जो और फल मिलता है, उसे भगवान् अब वर्णन करते हैं—

अथवा (२) "उस बुद्धि-योग को मैं देता हूँ कि जिससे वे (भक्त) मुझे प्राप्त हो जाते हैं।" इस कथन के अभिप्राय वा हेतु को भगवान् अब स्पष्ट करते हैं—

अथवा (३) उक्त भक्तों को बुद्धि-योग देकर उन्हें आत्म-साक्षात्कार कराता हूँ, इस आशय को भगवान् अब स्फुट करते हैं—

अथवा (४) उक्त बुद्धि-योग जिस अज्ञान की निवृत्ति-रूप व्यापार द्वारा आत्म-साक्षात्कार का फल देता है, उस मध्यवर्ती व्यापार को भगवान् अब निरूपण करते हैं—

अथवा (५) इस बुद्धि-योग को देते समय यदि कोई प्रतिबन्धक भी मेरे भक्त के मार्ग में हो, तो मैं उसे भी नाश कर देता हूँ, ऐसा भगवान् अब दर्शाने लगे हैं—

तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः ।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता ॥ ११ ॥

तेषां, एव, अनु-कम्पा-अर्थं	उनके ही अनुग्रह के लिये	नाशयामि, आत्म-भाव-स्थः, ज्ञान-दीपेन, भास्वता	आत्म-भाव में स्थित हुआ मैं प्रज्वलित ज्ञान के दीपक से नाश करता हूँ
अहं, अज्ञान-जं, तमः	मैं अज्ञान से उत्पन्न अन्धकार को		

अन्वयार्थ—केवल उनके अनुग्रह के लिये मैं आत्मभाव* में स्थित होकर (उनके) अज्ञान-जन्य अंधकार को प्रज्वलित ज्ञान-दीपक से नाश करता हूँ ॥ ११ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! केवल उक्त भक्तों के अनुकम्पार्थ, अर्थात् इन नित्य मेरे ध्यान में युक्त रहनेवाले भक्तों का किसी भी प्रकार से कल्याण हो, ऐसी दया से युक्त होकर, मैं उनके आत्मभाव में स्थित हुआ, (उनके अन्तःकरण में बैठा हुआ, अथवा अन्तःकरण की आत्माकार-वृत्ति में स्थित हुआ, या उनका ही ठीक-ठीक आत्मा-रूप हुआ) प्रकाशमान जो ज्ञान-रूपी दीपक है, उस प्रज्वलित ज्ञान-रूपी दीपक के प्रकाश से उनके उस अन्धकार को नाश कर देता हूँ कि जो अपने स्वरूप को यथार्थ न जानने के कारण, अर्थात् अज्ञान से उत्पन्न हुआ होता है ॥ ११ ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार अपने परम वचन पुनः सुनाने में हेतु और सामान्य-रूप से उनकी विभूति और योग को भगवान् से सुनकर अर्जुन के भीतर उन्हें विस्तारपूर्वक सुनने वा जानने की उत्कण्ठा उत्पन्न हो आई, जिससे प्रेरित होकर वह (अर्जुन) स्तुतिपूर्वक १८ श्लोक तक भगवान् से ऐसे प्रार्थना करते हैं—

---

* आत्मभावस्थः=अन्तःकरण के भीतर स्थित होकर (श्रीशङ्कराचार्य)। अन्तःकरण की आत्माकार-वृत्ति में स्थित होकर (श्रीचिद्घनानन्द)। आत्म-भाव अथवा आत्मपदार्थ=चित्त की भावना वा चित्त की वृत्तियाँ, उनमें रहता हुआ (पं० राजाराम)। बुद्धि की वृत्ति में स्थिर होकर (श्रीआनन्दगिरि वा श्रीस्वामी दयानन्द)। परमात्मा के भाव में स्थिर होकर (पं० आर्यमुनि)। ब्रह्माकार-वृत्ति-सहित अंतःकरण के अंतर्गत स्थित हुआ (श्रीस्वामी हंसस्वरूप)।

अर्जुन उवाच—

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान् ।
पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम् ॥१२॥
आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा ।
असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि मे ॥१३॥

परं, ब्रह्म, परं, धाम, पवित्रं, परमं, भवान्	आप परम-ब्रह्म, परम-धाम, परम-पवित्र हो	आहुः, त्वां, ऋषयः, सर्वे, देव-ऋषिः, नारदः, तथा, असितः, देवलः, व्यासः	असित, देवल, व्यास, देव-ऋषि नारद तथा सब ऋषि आपको कहते हैं
पुरुषं, शाश्वतं, दिव्यं, आदि-देवं, अजं, विभुम्	दिव्य, शाश्वत, पुरुष, आदि-देव, अज, विभु	स्वयं, च, एव, ब्रवीषि, मे	और (आप) स्वयं भी मुझे ऐसा कहते हो

अन्वयार्थ—अर्जुन बोला—आप परम-ब्रह्म, परम-धाम और परम-पवित्र हो। देवर्षि नारद तथा असित, देवल, व्यास (इत्यादि) सब ऋषि आपको दिव्य, शाश्वत पुरुष, आदि-देव, अज और विभु कहते हैं। और आप स्वयं भी मुझे ऐसा ही कहते हो ॥ १२, १३ ॥

व्याख्या—अर्जुन बोला, हे भगवन्! आप परम-ब्रह्म हो, अर्थात् आप तत्त्व-वेत्ताओं को प्राप्त होने-योग्य सब उपाधियों से रहित निर्विशेष ब्रह्म हो। आप परम धाम हो, अर्थात् आप सर्वाश्रय (स्थूल सृष्टि से लेकर अव्याकृत पर्यन्त सर्व प्रपञ्च का आश्रय-रूप), सर्व-प्रकाशक और स्वप्रकाश-रूप परम वस्तु हो। आप परम पवित्र हो, अर्थात् लोक-शास्त्र में

प्रसिद्ध जितने भी पवित्र करनेवाले तीर्थादि हैं, उन सबसे आप उत्तम पवित्र करनेवाले हो, अथवा आप परम शुद्ध-स्वरूप हो। और मेरा ही आपकी ऐसी स्तुति करना तो क्या, देवर्षि नारद, असित ऋषि, देवल ऋषि और साक्षात् विष्णु का अवतार व्यास ऋषि, ये सब-के-सब आपके विषय में ऐसा कहते हैं कि आप सबके हृदय में अन्तर्यामि-रूप से शयन करनेवाले दिव्य-स्वरूप हो; अथवा "परमे व्योमन् सर्वा भूतानि" इस श्रुति में 'परम व्योम' शब्द से कहा हुआ जो स्व-स्वरूप है, उसका नाम 'दिव' है और उसमें जो विराजमान हो वह 'दिव्य' कहलाता है, ऐसे दिव्य-रूप आप हो; या आप तेजपुञ्ज से परिवेष्टित दिव्य धाम में स्वप्रकाश-रूप से स्थित हो। आप शाश्वत हो, अर्थात् आप भूत, भविष्यत्, वर्तमान, सर्वकाल में एकरस रहनेवाले हो। आप पुरुष हो, अर्थात् "पुरुषान्न परं किञ्चित्सा काष्ठा सा परा गतिः"—पुरुष से परे वा श्रेष्ठ कोई नहीं है, वह ही हद है, वह ही परम गति है, ऐसे श्रुति में कथित निर्विशेष परब्रह्म वा परमगति-रूप पुरुष आप हो। आप आदि-देव हो, अर्थात् सर्व-प्रपञ्च के कारण-रूप परम देव आप हो। आप अजन्मा अर्थात् उत्पत्ति-नाश से रहित हो। और आप विभु अर्थात् सर्वव्यापक हो। और फिर आप स्वयं भी मुझे ऐसा ही अपने श्रीमुख से कहते हो॥ १२, १३॥

और—

सर्वमेतदृतं मन्ये यन्मां वदसि केशव।
न हि ते भगवन् व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवाः॥ १४॥

सर्वं, एतत्, ऋतं, मन्ये, यत्, मां, वदसि, केशव	हे केशव! जो मुझ को आप कहते हैं, यह सब मैं सत्य मानता हूँ	न, हि, ते, भगवन्, व्यक्तिं, विदुः, देवाः, न, दानवाः	क्योंकि तेरी व्यक्ति को हे भगवन्! न देवता न दानव जानते हैं

अन्वयार्थ—हे केशव ! जो कुछ आप मुझे कहते हैं, यह सब मैं सत्य मानता हूँ, क्योंकि आपकी व्यक्ति को, हे भगवन् ! न देवता जानते हैं और न दानव ॥ १४ ॥

व्याख्या—हे भगवान् कृष्णजी ! जो कुछ आपने अपने विषय अपने श्रीमुख से मुझे कहा है (वा जो कुछ त्रिकालदर्शी ऋषियों ने भी आपके विषय कहा है), उस सबको मैं सत्य मानता हूँ, उसमें मेरा किञ्चित् भी सन्देह नहीं, क्योंकि हे भगवन् ! आपने पूर्व कहा है कि "न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः", जब आपकी व्यक्ति (स्वरूप, प्रभाव, विभूति, प्रताप, प्रकाश वा प्रकट होने) को बहुत बुद्धिमान् इन्द्रादि देवता और शुक्र के शिष्य तथा दनु की सन्तान (मधु आदि) दानव भी नहीं जानते हैं, तो औरों का भला कहना ही क्या है ॥ १४ ॥

और—

स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम ।
भूतभावन भूतेश देवदेव जगत्पते ॥१५॥

स्वयं, एव, आत्मना, आत्मानं, वेत्थ, त्वं, पुरुष-उत्तम	हे पुरुषों में उत्तम ! तुम आप ही अपने आपसे अपने आप को जानते हो	भूत-भावन, भूत-ईश	हे भूतों के उत्पन्न करनेवाले ! हे भूतों के स्वामी
		देव-देव, जगत्-पते	हे देवों के देव ! हे जगत् के पति !

अन्वयार्थ—हे पुरुषोत्तम ! हे भूतभावन ! हे भूतेश ! हे देवदेव ! हे जगत्पते ! आप स्वयमेव अपने आपसे अपने आपको जानते हो ॥ १५ ॥

व्याख्या—हे भगवान् कृष्णजी ! जैसे सूर्य स्वयं प्रकाश-स्वरूप है, उसे अपने आपको प्रकाशने (वा देखने) के लिये अन्य किसी प्रकाश की जरूरत नहीं पड़ती ; ऐसे ही आप जो सारे भूतों (पदार्थों) के

उत्पन्न करनेवाले (पिता), सब भूतों के ईश्वर (नियन्ता, स्वामी), सब इन्द्रादि देवताओं के भी आराधन करने-योग्य, अर्थात् देवों के देव, सर्व प्रपञ्च के स्वामी और सारे पुरुषों में उत्तम (परम श्रेष्ठ) हो, आप भी स्वयं ही विना किसी अन्य के उपदेश के (अथवा विना किसी इन्द्रियादि की सहायता के) अपने आपको अपने आपसे, अर्थात् अपने आत्मिक बल से यथार्थ जानते हो, और दूसरा कोई देवतादि आपको ठीक नहीं जानता ॥ १५ ॥

सम्बन्ध—क्योंकि अपने आपको आप ही जानते हो, इसलिये—

वक्तुमर्हस्यशेषेण दिव्या ह्यात्मविभूतयः ।
याभिर्विभूतिभिर्लोकानिमांस्त्वं व्याप्य तिष्ठसि ॥ १६ ॥

वक्तुं[6], अर्हसि[7], अशेषेण[4], दिव्याः[2], हि[5], आत्म-विभूतयः[3]	अपनी[1] दिव्य[2] विभू-तियों[3] को सम्पूर्णता[4] से आपही[5] कहने-योग्य[6] हो[7]	याभिः[2], विभू-तिभिः[2], लोकान्[4], इमान्[3], त्वं[5], व्याप्य[6], तिष्ठसि[7]	जिन[1] विभूतियों[2] से इन[3] लोकों[4] को आप[5] व्यापकर[6] स्थित[7] हो

अन्वयार्थ—जिन विभूतियों से इन लोकों को व्यापकर आप स्थित हो, उन अपनी दिव्य विभूतियों को पूर्णता से आप ही कहने के योग्य हो ॥ १६ ॥

व्याख्या—हे भगवन् ! क्योंकि देवता और दानव भी आपकी व्यक्ति (विभूति वा प्रभाव) को नहीं जान सकते, बल्कि आपही अपने आप (वा अपनी व्यक्ति) को पूर्ण-रूप से जानते हैं, इसलिये, हे प्रभु ! जिन-जिन दिव्य विभूतियों से आप इन लोकों में व्याप्त हुए विराजमान हैं, उन अपनी समस्त अलौकिक विभूतियों को पूर्ण-रूप से केवल आप कह सकते हैं, अन्य किसी की शक्ति नहीं ॥ १६ ॥

सम्बन्ध—उक्त कथन का प्रयोजन दर्शाते हुए अर्जुन अब भगवान् से दो श्लोकों द्वारा ऐसे प्रार्थना करता है—

कथं विद्यामहं योगिंस्त्वां सदा परिचिन्तयन्।
केषु केषु च भावेषु चिंत्योऽसि भगवन्मया ॥ १७॥

कथं, विद्यां, अहं, योगिन्, त्वां, सदा, परिचिन्तयन्	आपको सदा चिन्तन करते हुए, हे योगिन्! मैं कैसे जानूँ?	केषु, केषु, च, भावेषु	और किन-किन भावों में
		चिन्त्यः, असि, भगवन्, मया	हे भगवन्! आप मुझसे चिन्तन किये जाने-योग्य हो

अन्वयार्थ—हे योगिन्! सदा चिन्तन करते हुए मैं आपको कैसे जानूँ? और किन-किन भावों से, हे भगवन्! आप मुझसे चिन्तन किये जाने के योग्य हो? ॥ १७ ॥

व्याख्या—हे भगवन्! जब आपसे अतिरिक्त अन्य कोई भी आपकी अलौकिक विभूतियों को न जान सकता है और न कह सकता है, तो फिर आप ही, हे योगिन्! मुझे उपदेश कीजिए कि निरन्तर आपका ही ध्यान वा चिन्तन करते हुए मैं आपको किस रीति से जानूँ? और किन-किन भावों (विभूतियों वा पदार्थों) में मुझे, हे प्रभु! आपका चिन्तन करना उचित है? ॥ १७ ॥

सम्बन्ध—इसलिये—

विस्तरेणात्मनो योगं विभूतिं च जनार्दन।
भूयः कथय तृप्तिर्हि शृण्वतो नास्ति मेऽमृतम्॥ १८॥

विस्तरेण, आत्मनः, योगं, विभूतिं, च, जनार्दन	हे जनार्दन! अपने योग और विभूति को विस्तार से	भूयः, कथय	आप फिर कहिए
		तृप्तिः, हि, शृण्वतः, न, अस्ति, मे, अमृतं	क्योंकि वचन-रूप अमृत को सुनते हुए मेरी तृप्ति नहीं है

अन्वयार्थ—हे जनार्दन ! अपने योग और विभूति को विस्तार से आप पुनः कहिए, क्योंकि (आपके वचन-रूप) अमृत को सुनते हुए मेरी तृप्ति नहीं होती है ॥ १८ ॥

व्याख्या—हे भगवन् ! जो कुछ आपने अपनी विभूति के विषय में पहले संक्षेप से वर्णन किया है, उस वर्णन-रूप अमृत के सुनने अर्थात् पान करने से मेरी तृप्ति नहीं हुई, और न पुनः-पुनः सुनने में तृप्ति होती है, इसलिये, हे भक्तजनों को सुख देनेवाले और दुष्टों को दुःख वा दण्ड देनेवाले भगवान् कृष्णजी ! आप अपने योग और विभूति* को कृपया विस्तार से फिर कहिए ॥ १८ ॥

सम्बन्ध—अर्जुन की प्रार्थना के उत्तर में भगवान् अब अपने योग के महत्त्व को और अपनी प्रधान-प्रधान विभूतियों को विस्तारपूर्वक वर्णन करते हैं—

श्रीभगवानुवाच—

हन्त ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्मविभूतयः ।
प्राधान्यतः कुरुश्रेष्ठ नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे ॥ १९ ॥

हन्त, ते, कथयिष्यामि, दिव्याः, हि, आत्म-विभूतयः	अच्छा (अब) मैं तुझे अपनी दिव्य विभूतियाँ कहूँगा, क्योंकि	प्राधान्यतः, कुरु-श्रेष्ठ	हे कुरुओं में श्रेष्ठ ! प्रधानता से अर्थात् प्रधान-प्रधान
		न, अस्ति, अन्तः, विस्तरस्य, मे	मेरे विस्तार का अन्त नहीं है

---

* इन शब्दों की व्याख्या श्रीतिलक महाराज ऐसे करते हैं—"विभूति और योग, दोनों शब्द इसी अध्याय के सातवें श्लोक में आये हैं और यहाँ अर्जुन ने उन्हीं को दोहरा दिया है । 'योग' शब्द का अर्थ पहले (गी० ७. २५

अन्वयार्थ—श्रीभगवान् बोले—अच्छा, (अब) मैं तुझे अपनी प्रधान-प्रधान दिव्य विभूतियों को कहूँगा । क्योंकि हे कुरुश्रेष्ठ ! मेरे (विभूतियों के) विस्तार का अन्त नहीं है ॥ १९ ॥

व्याख्या—श्रीभगवान् बोले कि हे अर्जुन ! बहुत अच्छा, मैं अब तुझे अपनी उन अलौकिक विभूतियों को कहता हूँ कि जो प्रधान-प्रधान अर्थात् मुख्य-मुख्य हैं, क्योंकि मेरी प्रधान वा अप्रधान-रूप समस्त विभूतियों के विस्तार का तो कुछ अन्त ही नहीं है ॥ १९ ॥

सम्बन्ध—अब अपनी मुख्य-मुख्य विभूतियों का भगवान् अध्याय की समाप्ति तक वर्णन करते हैं—

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः ।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च ॥२०॥

अहं, आत्मा, गुडाकेश, सर्व-भूत-आशय-स्थितः	हे अर्जुन ! मैं सर्व भूतों के भीतर स्थित आत्मा हूँ	अहं, आदिः, च, मध्यं, च, भूतानां, अन्त, एव, च	मैं ही भूतों का आदि और मध्य और अन्त हूँ

में) ऐसे दिया जा चुका है कि अव्यक्त स्वरूप को छोड़कर व्यक्त स्वरूप धारण कर लेने की युक्ति को योग कहते हैं । भगवान् की विभूतियों को अर्जुन इस-लिये नहीं पूछता कि भिन्न-भिन्न विभूतियों का ध्यान देवता समझकर किया जाय ; किन्तु सत्रहवें श्लोक के इस कथन को स्मरण रखना चाहिए कि उक्त विभूतियों में सर्वव्यापी परमेश्वर की ही भावना रखने के लिये उन्हें पूछा है, क्योंकि भगवान् यह पहले ही बतला आये हैं (गी० ७.२०-२५ ; ९.२२-२८) कि एक ही परमेश्वर को सब स्थानों में विद्यमान जानना एक बात है, और परमेश्वर की अनेक विभूतियों को भिन्न-भिन्न देवता मानना दूसरी बात है ; इन दोनों में भक्ति-मार्ग की दृष्टि से महान् अन्तर है ।"

अन्वयार्थ—हे अर्जुन ! सब भूतों के भीतर स्थित आत्मा मैं हूँ, और मैं ही सारे भूतों का आदि, मध्य और अन्त हूँ ॥ २० ॥

व्याख्या—हे सघन बालोंवाले अथवा हे निद्रा के मालिक, अर्थात् निद्रा को अपने वश में करनेवाले, या निद्रा को जीतनेवाले अर्जुन ! प्रथम तू इतना सिद्धान्त पुनः सुन कि सब पदार्थों के भीतर (आन्तरिक हृदय-देश में स्थित) अन्तर्यामि-रूप से तथा प्रत्यगात्मा-रूप से रहनेवाला जो चैतन्य-स्वरूप आनन्दघन आत्मा* है, वह मैं हूँ। इस प्रकार अभेद-भाव से मेरा तू ध्यान कर। और यदि ऐसी उपासना तू नहीं कर सकता, तो ऐसे मेरा ध्यान कर कि जो सब पदार्थों का आदि-कारण तथा उनकी स्थिति और नाश का कारण है, वह मैं ही हूँ; अर्थात् मैं ही सारे पदार्थों की उत्पत्ति, स्थिति और विनाश-स्थान हूँ ॥ २० ॥

और—

आदित्यानामहं विष्णुर्ज्योतिषां रविरंशुमान् ।
मरीचिर्मरुतामस्मि नक्षत्राणामहं शशी ॥ २१ ॥

---

* आत्मा से तात्पर्य भगवान् का यहाँ अन्तर्यामि-रूप प्रत्यगात्मा है, जिसे भगवान् ने (१८. ६१ में) ऐसे वर्णन किया है—"ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति । भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥" और जिसका वर्णन बृहदारण्यक उपनिषद् (३. ७. १५) में ऐसे है कि—"यः सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन् सर्वेभ्यो भूतेभ्योऽन्तरः, यं सर्वाणि भूतानि न विदुर्यस्य सर्वाणि भूतानि शरीरम् । यः सर्वाणि भूतान्यन्तरो यमयति, एष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ।"=जो सारे भूतों में रहता हुआ सारे भूतों से अलग है, जिसको सारे भूत नहीं जानते, सारे भूत जिसका शरीर हैं, जो सारे भूतों को उनके भीतर रहकर नियम में रखता है, वह तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है।

आदित्यानां, अहं, विष्णुः	आदित्यों में मैं विष्णु	मरीचिः, मरुतां, अस्मि	मरुतों में मरीचि हूँ
ज्योतिषां, रविः, अंशुमान्	ज्योतियों में किरणों-वाला सूर्य	नक्षत्राणां, अहं, शशी	नक्षत्रों में मैं चन्द्रमा

अन्वयार्थ—आदित्यों में मैं विष्णु, ज्योतियों में किरणोंवाला सूर्य, मरुतों में मरीचि, और नक्षत्रों में चन्द्रमा मैं हूँ ॥ २१ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! यदि तू उक्त अभेद उपासना से मेरे शुद्ध स्वरूप का ध्यान नहीं कर सकता, तो मैं ध्यान का अन्य साधन-रूप अपनी विभूतियाँ वर्णन करता हूँ, तू फिर इन विभूतियों द्वारा मेरा ध्यान कर—और वे विभूतियाँ ये हैं कि आदित्यों में मैं विष्णु हूँ, अर्थात् "धाता मित्रोऽर्यमा रुद्रो वरुणः सूर्य एव च। भगो विवस्वान् पूषा च सविता दशमः स्मृतः ॥ एकादशस्तथा त्वष्टा विष्णुर्द्वादश उच्यते।" ये बारह आदित्य देवता जो अदिति के पुत्र कहलाते हैं और प्रलय-काल में ही प्रकाशनेवाले माने जाते हैं, इनमें से विष्णु नाम का आदित्य देवता, जो सबसे श्रेष्ठ प्रसिद्ध है वा जिसको वामन-अवतार भी कहते हैं, वह मैं हूँ। और अग्नि आदि से लेकर जितने भी प्रकाश करनेवाले पदार्थ हैं, उनमें अति तेजवान्, जगत् के सब प्रकाशों में व्यापक और अनन्त किरणोंवाला सूर्य मैं हूँ। ४९ मरुद्गणों (वायु के देवताओं) में से मरीचि नाम का मरुत्, जो इन सबका सरदार वा नेता है, वह मैं हूँ। और अश्विनी आदि २७ नक्षत्रों में से इनका अधिपति चन्द्रमा नक्षत्र मैं हूँ ॥ २१ ॥*

---

* परमात्मा का स्वरूप शुद्ध (अर्थात् सारे तत्त्वों वा नाम-रूप से निखरा हुआ, निराकार) और शबल (अर्थात् तत्त्वों वा नाम-रूप से युक्त, साकार) दो प्रकार से ध्याने-योग्य है। पहला (शुद्ध) स्वरूप अपने भीतर अन्तर्यामी आत्मा करके ध्याया जाता है, जो पूर्व श्लोक २० में वर्णन हुआ है। और

और—

वेदानां सामवेदोऽस्मि देवानामस्मि वासवः ।
इन्द्रियाणां मनश्चास्मि भूतानामस्मि चेतना ॥२२॥

वेदानां, साम-वेदः, अस्मि	वेदों में सामवेद हूँ	इन्द्रियाणां, मनः, च, अस्मि	और इन्द्रियों में मन हूँ
देवानां, अस्मि, वासवः	देवताओं में इन्द्र हूँ	भूतानां, अस्मि, चेतना	भूतों में चेतना हूँ

दूसरा (शबल-) रूप उन विभूतियों से ध्याया जाता है कि जिनसे भगवान् का ऐश्वर्य अधिक स्पष्ट दिखाई देता है और जिनका विस्तारपूर्वक वर्णन भगवान् अब कर रहे हैं। जो लोग निर्गुण वा निराकार स्वरूप का ध्यान किसी विभूति वा आकार के आश्रय विना नहीं कर सकते, उन्हें शबल-रूप अर्थात् भगवान् की विभूतियों द्वारा उसका ध्यान करना चाहिए। तात्पर्य यह है कि सामान्य-रूप से यद्यपि भगवान् सारे आदित्यों, ज्योतियों, मरुद्गणों और नक्षत्रों में व्यापक हैं, व्यापक ही नहीं बल्कि स्वयं वही हैं, तथापि जिन रूपों द्वारा भगवान् का ऐश्वर्य अधिक स्पष्ट होता है, या जो व्यक्तियाँ भगवान् के शुद्ध स्वरूप के सादृश्य-सी हैं, वे ऐश्वर्यवान् तथा सादृश्य होने के कारण भगवान् का स्वरूप ही मानी जाती हैं। इसलिये भगवान् ने विष्णु, सूर्य, मरीचि और चन्द्रमा को अपना स्वरूप करके कहा है। और जो शुद्ध स्वरूप को अपने आप नहीं ध्याय सकते, उन्हें इन विष्णु आदि विभूतियों के द्वारा उसको ध्याना चाहिए, अथवा इन विष्णु आदि व्यक्तियों को परमेश्वर-रूप समझकर ध्याना चाहिए। अर्थात् अगर शुद्ध ब्रह्म की उपासना करने में कोई असमर्थ है, तो उसे शबल ब्रह्म की उपासना करनी चाहिए।

अन्वयार्थ—वेदों में सामवेद* हूँ, देवताओं में इन्द्र हूँ, इन्द्रियों में मन हूँ, और भूतों में चेतना हूँ ॥ २२ ॥

---

* "वेदों में मैं सामवेद हूँ", इस पर श्रीतिलक महाराज यह टिप्पणी देते हैं कि—सामवेद मुख्य है ; ठीक ऐसा ही महाभारत के अनुशासन पर्व (१४. ३१७) में भी "सामवेदश्च वेदानां यजुषां शतरुद्रियम्" कहा है। पर अनुगीता में "ॐकारः सर्व वेदनाम्" (अश्व० ४४. ६) इस प्रकार, सब वेदों में ॐकार को ही श्रेष्ठता दी है ; तथा पहले गीता (७. ८) में भी "प्रणवः सर्ववेदेषु" कहा है। गीता (६. १७) के "ऋक्सामयजुरेव च" इस वाक्य में सामवेद की अपेक्षा ऋग्वेद को अग्र-स्थान दिया गया है, और साधारण लोगों की समझ भी ऐसी ही है। इन परस्पर-विरोधी वर्णनों पर कुछ लोगों ने अपनी कल्पना को खूब सरपट दौड़ाया है। छान्दोग्य उपनिषद् में ॐकार ही का नाम उद्गीथ है और लिखा है कि "यह उद्गीथ सामवेद का सार है और सामवेद ऋग्वेद का सार है" (छां० १.१.२)। सब वेदों में कौन वेद श्रेष्ठ है, इस विषय के भिन्न-भिन्न उक्त विधानों का मेल छांदोग्य के इस वाक्य से हो सकता है। क्योंकि सामवेद के मन्त्र भी मूल ऋग्वेद से ही लिए गये हैं। पर इतने ही से सन्तुष्ट न होकर कुछ लोग कहते हैं कि गीता में सामवेद को यहाँ पर जो प्रधानता दी गई है, इसका कुछ-न-कुछ गूढ़ कारण होना चाहिए। यद्यपि छान्दोग्य उपनिषद् में सामवेद को प्रधानता दी है, तथापि मनु ने कहा है कि "सामवेद की ध्वनि अशुचि है" (मनु० ४.१२४)। अतः एक ने अनुमान किया है कि सामवेद को प्रधानता देनेवाली गीता मनु से पहले की होगी ; और दूसरा कहता है कि गीता बनानेवाला सामवेदी होगा, इसी से उसने यहाँ पर सामवेद को प्रधानता दी होगी। परन्तु हमारी समझ में "मैं वेदों में सामवेद हूँ", इसकी उपपत्ति करने के लिये इतनी दूर जाने की आवश्यकता नहीं है। भक्ति-मार्ग में परमेश्वर की गान-युक्त स्तुति को सदैव प्रधानता दी जाती है। उदाहरणार्थ, नारायणीय धर्म में नारद ने

व्याख्या—हे अर्जुन ! ऋक्, साम, यजुष्, अथर्वण इन चार वेदों में सामवेद जो गायन की मधुरता से अत्यन्त रमणीक और चित्ताकर्षक है, और जो भक्ति-मार्ग में परमेश्वर की गान-युक्त श्रुतियों वा स्तुतियों से भरपूर होने के कारण प्रधानता रखता है, वह मैं हूँ। अग्नि आदि देवताओं में जो उनका अधिपति और अधिक बलिष्ठ इन्द्र है, वह मैं हूँ। चक्षु, श्रोत्र, त्वक्, रसन, घ्राण, वाक्, पाणि, पाद, उपस्थ, पायु, मन, इन ग्यारह इन्द्रियों में उन सबका प्रेरक वा प्रवर्तक जो मन है, वह मैं हूँ। और सर्वभूतों वा प्राणियों में जो चेतना (ज्ञान-शक्ति, बुद्धि की वृत्ति वा स्वभावतः जीवन-कला) है, जिसकी अधिकता से एक प्राणी दूसरे प्राणी से श्रेष्ठ माना जाता है और जो प्राणी को ईश्वर की ओर लगाती है, वह मैं हूँ ॥ २२ ॥

और—

रुद्राणां शंकरश्चास्मि वित्तेशो यक्षरक्षसाम् ।
वसूनां पावकश्चास्मि मेरुः शिखरिणामहम् ॥ २३ ॥

रुद्राणां, शंकरः, च, अस्मि	और रुद्रों में शंकर हूँ	वसूनां, पावकः, च, अस्मि	और वसुओं में पावक हूँ
वित्त-ईशः, यक्ष-राक्षसां	यक्ष-राक्षसों में धन का मालिक	मेरुः, शिखरिणाम्, अहं	मैं ऊँचे पर्वतों में मेरु हूँ

भगवान् का वर्णन किया है कि "वेदेषु सपुराणेषु साङ्गोपाङ्गेषु गीयते" (म० भा० शां० ३३४. २३); और वसु राजा "जप्यं जगौ"—जप्य गाता था (देखो शां० ३३७. २७ ; और ३४२.७० और ८१)—इस प्रकार 'गै' धातु का ही प्रयोग फिर किया गया है। अतएव भक्ति-प्रधान धर्म में, यज्ञ-याग आदि क्रियात्मक वेदों की अपेक्षा, गान-प्रधान वेद अर्थात् सामवेद को अधिक महत्त्व दिया गया हो, तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं ; और "मैं वेदों में सामवेद हूँ", इस कथन का हमारे मत में सीधा और सहज कारण यही है।

अन्वयार्थ—रुद्रों में शंकर और यक्ष-राक्षसों में वित्तेश हूँ। वसुओं में पावक और पर्वत के शिखरों में मेरु-शिखर मैं हूँ॥ २३॥

व्याख्या—हे अर्जुन! वीरभद्र, शङ्कर, गिरीश, अजैकपात, अहिर्बुध्न्यः, पिनाकी, अपराजित्, भुवनाधीश्वर, कपाली, स्थाणु, और भग, ये ग्यारह रुद्र देवता हैं, जो प्राणियों को रुदन कराते अर्थात् सब प्रकार का दुःख देते हैं, और इस दुःख से उनकी ज्ञान-शक्ति बढ़ाते, उनको अज्ञान की निद्रा से जगाते और उनका वस्तुतः कल्याण करते हैं। इन ग्यारह रुद्रों में शङ्कर नाम का रुद्र जो कल्याणकर्ता वा कल्याण-स्वरूप कहलाता है और मृत्यु से अपने भक्तजनों को मोक्ष-रूप आनन्द की प्राप्ति कराता है, वह मैं हूँ। यक्ष-राक्षसगण जो नाना प्रकार के द्रव्यों के रक्षक कहे जाते हैं, उनमें सम्पूर्ण धन का स्वामी कुबेर, जो शङ्कर का मित्र है, जिसके अधीन ये सब यक्ष-राक्षस हैं, वा जो इन यक्ष-राक्षसों का अधिपति है, वह मैं हूँ। "आपो ध्रुवश्च सोमश्च धरश्चैवानिलोऽनलः। प्रत्यूषश्च प्रभासश्च वसवोऽष्टौ प्रकीर्तिताः।"—आप, ध्रुव, सोम, धर, अनिल (वायु), अनल (अग्नि), प्रत्यूष और प्रभास (अथवा 'आपः' के स्थान पर बहुधा 'अह' भी लिया जाता है, जैसे "धरो ध्रुवश्च सोमश्च अहश्चैवानिलोऽनलः। प्रत्यूषश्च प्रभासश्च वसवोऽष्टावित स्मृता।") ये आठ वसु-देवता महाभारत में वर्णन हुए हैं, जिनका काम मल की शुद्धि करना है। इन आठ वसुवों में पावक अर्थात् अग्नि नाम का वसु, जो इन सबका सरदार है और जिससे बढ़कर शुद्ध करनेवाला संसार में कोई नहीं है, वह मैं हूँ। उदय, अस्त, कनक, शङ्ख, नारायण, हिम, ईशान और मेरु, ये आठ शिखर (गिरि) हैं, इनमें मेरु-शिखर, जो कई नक्षत्रों तथा द्वीपों का केन्द्र माना जाता है और जो सुवर्ण तथा रत्नों से भरपूर कहा जाता है, जिससे सारे शिखरों से श्रेष्ठ है, वह मेरु-शिखर मैं हूँ॥ २३॥

और—

पुरोधसां च मुख्यं मां विद्धि पार्थ बृहस्पतिम् ।
सेनानीनामहं स्कन्दः सरसामस्मि सागरः ॥२४॥

पुरोधसां, च, मुख्यं, माँ, विद्धि, पार्थ, बृहस्पतिं	और हे पार्थ ! पुरोहितों में मुख्य बृहस्पति तू मुझे जान	सेनानीनां, अहं, स्कन्दः	सेनापतियों में मैं स्कन्द हूँ
		सरसां, अस्मि, सागरः	सरोवरों में सागर हूँ

अन्वयार्थ—हे अर्जुन ! पुरोहितों में मुख्य बृहस्पति तू मुझे जान, सेनापतियों में स्कन्द और सरोवरों में सागर मैं हूँ ॥ २४ ॥

व्याख्या—हे पृथा-पुत्र अर्जुन ! संसार के सारे पुरोहितों में जो बृहस्पति पुरोहित है और जो विद्या में उत्तम, बुद्धि में अनुपम और देवराज इन्द्र का पुरोहित, सहायक और गुरु होने से सब पुरोहितों से मुख्य अर्थात् श्रेष्ठ है, वह मुख्य बृहस्पति पुरोहित तू मुझे ही जान। तीनों लोकों के सेनापतियों में जो देवताओं का सेनापति स्कन्द है, जिसे स्वामिकार्त्तिकेय भी कहते हैं, और जो शंकर के वीर्य और अग्नि के संग से कृत्तिका के पेट से उत्पन्न हुआ है, वह स्कन्द मैं हूँ। और सम्पूर्ण सरोवरों (जलाशयों) में सागर-सरोवर, जो सगर के पुत्र से खोदा हुआ है, सबसे भारी, विशाल और गम्भीर है, और अनेक रत्नों का उत्पत्ति-स्थान है, वह सागर-सरोवर अर्थात् समुद्र मैं हूँ ॥ २४ ॥

और—

महर्षीणां भृगुरहं गिरामस्म्येकमक्षरम् ।
यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि स्थावराणां हिमालयः ॥२५॥

महर्षीणां, भृगुः, अहं	महर्षियों में मैं भृगु हूँ	यज्ञानां, जप-यज्ञः, अस्मि	यज्ञों में जप-यज्ञ हूँ
गिरां, अस्मि, एकं, अक्षरं	वाणियों में एक अक्षर हूँ	स्थावराणां, हिम-आलयः	स्थावरों में हिमालय हूँ

अन्वयार्थ—महर्षियों में भृगु, वाणियों में एक अक्षर (ओंकार), यज्ञों में जप-यज्ञ और स्थावरों में हिमालय मैं हूँ ॥ २५ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! ब्रह्मा के पुत्र-रूप जितने भी महाऋषि हैं, उनमें भृगु* महर्षि जो अत्यन्त तेजस्वी और तपोराशि है, वह मैं हूँ। वाणियों में (अर्थात् अर्थवाचक शब्दों वा पदों या पद-रूप वाक्यों में) जिस सत्य का व्यवहार है, वह एक सत्य अक्षर मैं हूँ, अथवा समस्त पदों में जो एक अक्षर ओंकार है और ईश्वर का प्रतीक होने से वेद-शास्त्रों में सबकी उत्पत्ति, स्थिति और लय का स्थान माना जाता है, जिससे सर्व

---

* पुराणों में आया है कि एक समय महर्षियों में जब इस विषय में परस्पर सम्मति न हो सकी कि "ब्रह्मा, विष्णु, महेश" इन तीनों में से कौन-सा ध्येय है, तो सबने मिलकर भृगु महर्षि को इसके निर्णय के लिये भेज दिया। भृगुजी पहले ब्रह्मा के पास गये और वहाँ पहुँचकर ब्रह्मा को जान-बूझकर प्रणाम न किया। इस पर ब्रह्माजी अत्यन्त क्रुद्ध हुए, पर भृगुजी ने उनसे क्षमा माँगकर उनका चित्त शान्त कर दिया। फिर भृगुजी शिव (महेश) के पास गये और वहाँ भी पहुँचकर वैसे ही प्रणाम न किया। इस पर शिवजी भी क्रोध को प्राप्त होकर उसे नाश करने ही को थे कि झट भृगुजी ने अति कोमल शब्दों से क्षमा माँगकर और उनकी स्तुतियों से उन्हें प्रसन्न कर उनका क्रोध शान्त कर दिया। फिर भृगुजी विष्णु के पास गये। जब वहाँ पहुँचे, तो विष्णुजी को सोये हुए पाया। भृगुजी ने विष्णुजी की छाती पर ज़ोर से लात मारकर उन्हें निद्रा से जगा दिया। विष्णुजी उठकर उस चोट

पदों में श्रेष्ठ वा उत्तम है, वह सर्वोत्तम एक अक्षर-रूप ओंकार मैं हूँ। समस्त यज्ञों में जप-यज्ञ, जिसमें न कोई द्रव्य-सामग्री की आवश्यकता है, न हिंसा आदि की सम्भावना है, न बहुत पदार्थों के एकत्र करने की जरूरत है, जो द्रव्यमय यज्ञ के समान कठिन नहीं बल्कि जिसका करना अति सुगम है, जिसका फल भी शीघ्र मिलता है और जिसका प्रभाव भी सीधा अन्तःकरण पर पड़ता है, जो शुद्धि का परम साधन है, अतएव मुक्ति का द्वार है; ऐसा जप-यज्ञ मैं हूँ। और स्थिर रहनेवाले अचल पदार्थों में हिमालय, जो सबसे ऊँचा और पुण्यवान् वा पूज्य पर्वत है, वह हिमालय मैं हूँ ॥२५॥

और—

अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां देवर्षीणां च नारदः ।
गन्धर्वाणां चित्ररथः सिद्धानां कपिलो मुनिः ॥ २६ ॥

अश्वत्थः, सर्व, वृक्षाणां	सर्व वृक्षों में पीपल हूँ	गन्धर्वाणां, चित्ररथः	गन्धर्वों में चित्ररथ हूँ
देव-ऋषीणां, च, नारद	और देव-ऋषियों में नारद हूँ	सिद्धानां, कपिलः, मुनिः	सिद्धों में कपिल मुनि हूँ

अन्वयार्थ—सब वृक्षों में पीपल, देव-ऋषियों में नारद, गन्धर्वों में चित्ररथ और सिद्धों में कपिल मुनि मैं हूँ ॥ २६ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! वनस्पति-रूप जितने भी वृक्ष हैं, उनमें पीपल-

---

पर क्रुद्ध तो न हुए, उलटा भृगुजी को देखकर उनकी टाँग दबाने लग पड़े कि लात मारने में भृगुजी की टाँग को कहीं कष्ट वा दुःख प्राप्त न हुआ हो। ऐसा देखकर भृगुजी वापस आ गये और निर्णय किया कि केवल विष्णुजी ध्याने-योग्य हैं। इस निर्णय वा तेज के कारण भी भृगुजी अन्य महर्षियों से अधिक पूजनीय वा श्रेष्ठ माने जाते हैं।

वृक्ष ❀ जो अपनी छाया से बहुत प्राणियों को ठण्ढक देता है और अनेक पक्षियों का निवास-स्थान होता है, जिससे अन्य वृक्षों की अपेक्षा उत्तम वा श्रेष्ठ माना जाता है, वह पीपल-वृक्ष मैं हूँ। मंत्र-द्रष्टा और देवता होने से जो देव-ऋषि हैं, उनमें नारदजी जो सबसे बड़े भक्त होने के कारण श्रेष्ठ वा उत्तम हैं, वह देव-ऋषि नारद मैं हूँ। इन्द्रलोक में जो गाने का काम करनेवाले गन्धर्व देवता हैं, उनमें जो उनका राजा और गायन-विद्या में अति निपुण चित्ररथ गन्धर्व है, वह मैं हूँ। जो जन्म से ही धर्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्यता इत्यादि गुणों से युक्त होने के कारण सिद्ध हैं; अथवा जो विना प्रयत्न के ही पूर्व पुण्य-काल के कारण परमार्थ-तत्त्व के ज्ञान से युक्त होने से सिद्धपुरुष कहलाते हैं; उन सिद्धों में कपिल मुनिजी, जो परमार्थ-तत्त्व के दर्शनिवाले, सर्वोत्तम और श्रेष्ठ सिद्ध माने जाते हैं, मैं हूँ ॥ २६ ॥

और—

उच्चैःश्रवसमश्वानां विद्धि माममृतोद्भवम् ।
ऐरावतं गजेन्द्राणां नराणां च नराधिपम् ॥२७॥

❀ वृक्षों में एक शक्ति होती है जिससे वे अपनी जड़ों द्वारा पृथिवी में से इधर-उधर से जल खींच लेते हैं, और यह जल पत्तों में पहुँचकर वृक्ष के चारों ओर तरावट रखता है जिससे ग्रीष्म-ऋतु में भी वृक्षों के नीचे गरमी थोड़ी रहती है, और जहाँ ऐसे वृक्षों की अधिकता होती है वहाँ इसीलिये अनावृष्टि कम होती है। पीपल-वृक्ष में यह शक्ति सारे वृक्षों से बढ़कर है, और वह अपनी छाया से बहुत प्राणियों को ठण्ढक देता है, और पक्षियों का बड़ा वास-स्थान होता है। इसलिये यह सर्वोत्तम वृक्ष माना जाता है। इस वृक्ष के पास-पास अन्य वृक्ष भी यदि उग रहे हों, अथवा इसके अपने तने में ही कोई अन्य प्रकार का वृक्ष जम जाय, तो उन्हें भी यह रस पहुँचाता है, इसलिये यह पीपल सर्वोत्तम माना जाता है।

उच्चैःश्रवसं, अश्वानां, विद्धि, मां, अमृत-उद्भवं	घोड़ों में अमृत से उत्पन्न हुआ उच्चैःश्रवस तू मुझको जान	ऐरावतं, गजेंद्राणां	गजेंद्रों में ऐरावत
		नराणां, च, नर-अधिपं	और नरों में नरों का अधिपति (राजा)

अन्वयार्थ—घोड़ों में अमृत से उत्पन्न हुआ उच्चैःश्रवस, गजेन्द्रों में ऐरावत, और नरों में राजा तू मुझे जान ॥ २७ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! घोड़ों में उच्चैःश्रवस घोड़ा और गजेन्द्रों में ऐरावत हाथी जो अमृत की प्राप्ति-निमित्त देवताओं और दैत्यों से समुद्र के मथते समय उत्पन्न हुए थे, ऐसा श्रेष्ठ उच्चैःश्रवस घोड़ा और ऐरावत हाथी तू मुझे जान, और नरों में प्रजा को धर्म में प्रवृत्त करानेवाला और प्रजा-पालक वा प्रजा-रक्षक राजा भी मुझे ही समझ ॥ २७ ॥

और—

आयुधानामहं वज्रं धेनूनामस्मि कामधुक् ।
प्रजनश्चास्मि कंदर्पः सर्पाणामस्मि वासुकिः ॥ २८ ॥

आयुधानां, अहं, वज्रं	शस्त्रों में मैं वज्र हूँ	प्रजनः, च, अस्मि, कंदर्पः	और सन्तति उत्पन्न करनेवाला कन्दर्प हूँ
धेनूनां, अस्मि, कामधुक्	गायों में कामधेनु हूँ	सर्पाणां, अस्मि, वासुकिः	सर्पों में वासुकि हूँ

अन्वयार्थ—शस्त्रों में वज्र, गायों में कामधेनु, (सन्तति) उत्पन्न करनेवाला कन्दर्प और सर्पों में वासुकि मैं हूँ ॥ २८ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! सर्व प्रकार के शस्त्रों में वज्र-शस्त्र, जो दधीचि की हड्डी से बना हुआ देवराज इन्द्र का मुख्य शस्त्र है और जो बिजली के

समान गिरकर सबको नाश करने की शक्ति रखता है, वह मैं हूँ। गायों में कामधेनु-गाय जो मनवांछित कामनाओं को पूरा करनेवाली, समुद्र के मथन से प्रकट हुई, और जो महर्षि वसिष्ठजी के पास अत्यन्त दूध देनेवाली, तथा जिसके तिरस्कार करने पर वसिष्ठजी का विश्वामित्र के साथ घोर युद्ध हुआ, वह सर्वोपरि श्रेष्ठ कामधेनु मैं हूँ। हे प्यारे! वह कन्दर्प अर्थात् कामदेव जो सबके शरीर में रहता और सन्तान की उत्पत्ति का मूल हेतु होता है, वह सन्तान के उत्पन्न करनेवाला काम-रूप कन्दर्प मैं हूँ। और सर्पों में वासुकि, जो सब सर्पों का राजा है और जो सबसे अधिक विषैला है, वह मैं हूँ ॥ २८ ॥

और—

अनन्तश्चास्मि नागानां वरुणो यादसामहम् ।
पितॄणामर्यमा चास्मि यमः संयमतामहम् ॥२९॥

अनन्तः, च, अस्मि, नागानां	और नागों ❀ में अनन्त हूँ	पितॄणां, अर्यमा, च, अस्मि	और पितरों में अर्यमा हूँ
वरुणः, यादसां, अहं	जलचरों में वरुण मैं हूँ	यमः, संयमतां, अहं	संयम करनेवालों में यम मैं हूँ

❀ नाग-जाति का सर्प-जाति से इतना भेद कुछ टीकाकारों ने माना है कि नाग के अनेक फण होते हैं और सर्प का एक। नाग में प्रायः विष नहीं होता, किसी-किसी में होता है, और सर्प में प्रायः विष होता है। नागों के प्रायः नौ प्रकार माने जाते हैं—वासुकि, तक्षक, शंखपाल, पुलिक, कर्कोटक, पद्मक, अनन्त, शेष और काल।

इस भेद के विषय में श्रीतिलक महाराज ऐसे लिखते हैं—"वासुकि=सर्पों का राजा और अनन्त='शेष' ये अर्थ निश्चित हैं। और अमरकोष तथा

अन्वयार्थ—नागों में अनन्त, जलचरों में वरुण, पितरों में अर्यमा और संयम करनेवालों में यम मैं हूँ ॥ २९ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! नागों में जो उनका राजा और भगवान् विष्णु की शय्या-रूप अनन्त अर्थात् शेष नाग है, वह मैं हूँ। जलचरों अथवा जल के देवताओं में जो उनका राजा वरुण देवता है, वह मैं हूँ। सम्पूर्ण पितृगणों में जो उनका राजा वा देवता अर्यमा है, वह मैं हूँ। और संयम करनेवालों में, अर्थात् अपने आप को वश में करनेवालों में निग्रह-रूप यम या "अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह," यह पाँच प्रकार का यम, जिसके कारण पुरुष संयमी कहलाते हैं, वह यम मैं हूँ ; अथवा धर्म-अधर्म के सुख-दुःख-रूप फल की प्राप्ति द्वारा अनुग्रह-निग्रह-रूप संयम को करनेवाले जितने भी सामर्थ्यवान् पुरुष हैं, उन सब नियमन करनेवाले, शासन करनेवाले वा दण्ड देनेवाले लोगों में जो अति प्रबल यम (अर्थात् दण्ड वा यमराज) है, वह मैं हूँ ॥ २९ ॥

और—

प्रह्लादश्चास्मि दैत्यानां कालः कलयतामहम् ।
मृगाणां च मृगेन्द्रोऽहं वैनतेयश्च पक्षिणाम् ॥ ३० ॥

महाभारत में भी यही अर्थ दिये गये हैं (देखो म० भा० आदि० ३५–३९)। परन्तु निश्चयपूर्वक नहीं बतलाया जा सकता कि नाग और सर्प में भेद क्या है। महाभारत के आस्तीक-उपाख्यान में इन शब्दों का प्रयोग समानार्थक ही है। तथापि जान पड़ता है कि यहाँ पर सर्प और नाग शब्दों से सर्प के साधारण वर्ग की दो भिन्न-भिन्न जातियाँ विवक्षित हैं। श्रीधरी टीका में सर्प को विषैला और नाग को विष-हीन कहा है। रामानुज-भाष्य में सर्प को एक शिरवाला और नाग को अनेक शिरोंवाला कहा है। परन्तु ये दोनों भेद ठीक नहीं जँचते। क्योंकि कुछ स्थलों पर, नागों के ही प्रमुख कुल बतलाते हुए

प्रह्लादः, च, अस्मि, दैत्यानां	और दैत्यों में प्रह्लाद हूँ	मृगाणां, च मृग-इन्द्रः, अहं	और मृगों में मृगों का राजा मैं हूँ
कालः, कलयतां, अहं	गिनती करनेवालों में काल मैं हूँ	वैनतेयः, च, पक्षिणां	और पक्षियों में गरुड़ हूँ

अन्वयार्थ—दैत्यों में प्रह्लाद, गिनती करनेवालों में काल*, मृगों में मृगेन्द्र, और पक्षियों में गरुड़ मैं हूँ ॥ ३० ॥

व्याख्या—हे अर्जुन! कश्यप और दिति के वंशज जितने भी दैत्य हैं, उनमें प्रह्लाद, जो सात्त्विक स्वभाव तथा भगवत्-भक्ति के कारण सबसे मुख्य और श्रेष्ठ माना जाता है, मैं हूँ। गिनती करनेवालों (ज्योतिषी लोगों) में काल, जिस पर ज्योतिष-शास्त्र निर्भर है, मैं हूँ; अथवा ग्रसनेवालों वा हरण करनेवालों में काल अर्थात् महाकाल मैं हूँ। मृगों अर्थात् पशुओं में जो उनका राजा मृगेन्द्र अर्थात् सिंह है, वह मैं हूँ। और पक्षियों में जो उनका राजा विनता का पुत्र (गरुड़) है, वह मैं हूँ ॥ ३० ॥

और—

पवनः पवतामस्मि रामः शस्त्रभृतामहम् ।
झषाणां मकरश्चास्मि स्रोतसामस्मि जाह्नवी ॥ ३१ ॥

उनमें अनन्त और वासुकि को पहले गिनाया है और वर्णन किया है कि दोनों ही अनेक शिरोंवाले एवं विषधर हैं; किंतु अनन्त है अग्नि वर्ण का और वासुकि है पीला। भागवत का पाठ गीता के समान ही है।"

* वश में करनेवालों में काल हूँ, क्योंकि काल के सब वश में हैं (श्री-श्रीधर, बलदेव, विश्वनाथ, स्वामी हंसस्वरूप)। ग्रसनेवालों में काल हूँ, क्योंकि काल सबको ग्रस लेता है (श्रीतिलक महाराज)।

पवनः, पवतां, अस्मि	वेगवालों में पवन हूँ	झषाणां, मकरः च, अस्मि	और मछलियों में मगर मैं हूँ
रामः, शस्त्र-भृतां, अहं	शस्त्र-धारियों में राम मैं हूँ	स्रोतसां, अस्मि, जाह्नवी	नदियों में गङ्गा हूँ

अन्वयार्थ—वेगवालों में पवन, शस्त्र-धारियों में राम, मछलियों में मगर और नदियों में श्रीगङ्गा मैं हूँ ॥ ३१ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! जितने भी वेगवाले पदार्थ हैं अर्थात् जो पृथिवी पर एक घड़ी भी जमकर नहीं टिकते बल्कि एक ही उड़ान में सातों समुद्र की प्रदक्षिणा कर सकते हैं, अथवा जितने भी पावन करनेवाले पदार्थ हैं, उनमें वायु जो अपने वेग से सब प्राणियों की जीवनरक्षा करता है, क्योंकि विना वायु के चलते रहने के किसी के प्राण नहीं जीते रह सकते। जो घोर गरमी से क्लेश पाये हुए लोगों को जीवन के समान शीतलता देता है, जो सुगन्धित फूलों की महक ला-लाकर लोगों के हृदय और मन को आनन्द देता है, जिसकी शक्ति से एक स्थान का शब्द दूसरे स्थान पर पहुँच जाता है, और जो अपने प्रभाव से दुर्गन्ध और दूषित पदार्थों के विष को नितान्त दूर कर देता है, जिसलिये वह सब वेगवान वा पवित्र रखनेवाले पदार्थों में महान् और श्रेष्ठ है, वह सबसे श्रेष्ठ पवन मैं हूँ। शस्त्रधारियों में जो सर्व राक्षसों के नाश करनेवाले, परम शूरवीर राजा दशरथ के पुत्र और त्रेतावतार राम भगवान् हैं (अथवा जमदग्निकुमार राम अर्थात् परशुराम जिसने इक्कीस बार भूमि को दुष्ट क्षत्रियों का नाश करके क्षत्रिय-जाति से हीन-सा कर दिया था) वह मैं हूँ ; मछलियों वा मत्स्य आदि जलचरों में मकर (वा मगरमच्छ), जो सबसे बड़ा और सबको भक्षण कर जानेवाला बड़ा मत्स्य है, वह मकर मैं हूँ। और सम्पूर्ण प्रवाहों (अर्थात् नदी, स्रोत इत्यादियों) में प्रसिद्ध और श्रेष्ठ श्रीगङ्गाजी मैं हूँ ॥ ३१ ॥

और—

सर्गाणामादिरन्तश्च मध्यं चैवाहमर्जुन ।
अध्यात्मविद्या विद्यानां वादः प्रवदतामहम् ॥ ३२ ॥

सर्गाणां, आदिः, अन्तः, च, मध्यं, च, एव, अहं, अर्जुन	और हे अर्जुन ! सृष्टियों का आदि, अन्त और मध्य मैं ही हूँ	अध्यात्म-विद्या, विद्यानां	सब विद्याओं में अध्यात्म-विद्या हूँ
		वादः, प्रवदतां, अहं	विवाद करनेवालों का वाद मैं हूँ

अन्वयार्थ—और हे अर्जुन ! सकल सृष्टियों का आदि*, मध्य और अन्त मैं ही हूँ । विद्याओं में अध्यात्म-विद्या और विवाद करनेवालों का वाद मैं हूँ ॥ ३२ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! सर्गों, अर्थात् सकल रचनाओं वा सृष्टियों का आदि, मध्य और अन्त (उत्पत्ति, स्थिति और लय) मैं ही हूँ । सब विद्याओं में अध्यात्म-विद्या, अर्थात् ब्रह्मविद्या, जो मुक्ति की प्राप्ति का हेतु होने से सर्वोपरि श्रेष्ठ है, वह मैं हूँ । और विवाद अर्थात् शास्त्रार्थ करनेवालों का जो वाद † है, वह मैं हूँ ॥ ३२ ॥

---

* पूर्व श्लोक २० में जो आदि, मध्य और अन्त कहा गया है, वह केवल भूतों का कहा गया है और यहाँ भिन्न-भिन्न सृष्टियों (वा रचनाओं) अथवा सब चराचर सृष्टि का कहा गया है; इसलिये कोई पुनरुक्ति नहीं है। कुछ व्याख्याकार पूर्व श्लोक में केवल प्राणियों का आदि-अन्त मानते हैं और यहाँ उन्होंने जड़ (अचेतन-रूप) पदार्थों का आदि, मध्य और अन्त माना है ।

† शास्त्रार्थ (अथवा बातचीत) करनेवालों के तीन भेद (वाद, जल्प और वितण्डा) होते हैं । (१) राग-द्वेष से रहित होकर केवल तत्त्व के

और—

अक्षराणामकारोऽस्मि द्वन्द्वः सामासिकस्य च ।
अहमेवाक्षयः कालो धाताऽहं विश्वतोमुखः ॥ ३३ ॥

अक्षराणां, अकारः, अस्मि	अक्षरों में अकार हूँ	अहं, एव, अक्षयः, कालः	मैं ही अक्षय काल हूँ
द्वन्द्वः, सामासिकस्य, च	और समासों के मध्य में द्वन्द्व हूँ	धाता, अहं, विश्वतः-मुखः	मैं सब ओर मुखवाला धाता हूँ

अन्वयार्थ—मैं अक्षरों में अकार और समासों के समूह में द्वन्द्व समास हूँ । मैं ही अक्षय काल* हूँ । मैं सब ओर मुखवाला धाता हूँ ॥ ३३ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! सर्व वर्ण-रूप अक्षरों में अकार व्यापक है,

---

निर्णयार्थ अथवा सिद्धान्त के स्थापन करने के लिये धर्म-बुद्धि से जो बातचीत या शास्त्रार्थ हो, अथवा गुरु-शिष्य के संवाद में जो शास्त्र-विचार हो, उसे 'वाद' कहते हैं । (२) केवल अपना पक्ष सिद्ध करने के लिये और दूसरे को हरा देने के उद्देश्य से जो बातचीत या शास्त्रार्थ हो, वह 'जल्प' कहलाता है । (३) केवल दूसरे का पक्ष खण्डन करने के लिये और अपना कोई पक्ष स्थापन न करने के आशय से जो वार्ता या शास्त्रार्थ हो, वह 'वितण्डा' कहलाता है । इन तीनों में से वाद के द्वारा ही सत्य का ठीक निर्णय होता है, अन्य से नहीं ; इसलिये वाद सबसे श्रेष्ठ माना जाता है, और इसीलिये भगवान् ने इसे अपनी विभूति करके वर्णन किया है ।

* पूर्व श्लोक ३० में जो काल का वर्णन हुआ है, उससे अभिप्राय गिनती में आनेवाला नाशवान् काल, अर्थात् घड़ी, पल, दिन, रात्रि, मास और वर्ष इत्यादि है । पर यहाँ अभिप्राय उस अखण्ड काल से है, जो दूसरों का तो नाश करता है, पर स्वयं नाश नहीं होता । इसलिये यहाँ पुनरुक्ति नहीं ।

विना अकार (अ) की सहायता के व्यञ्जनों का उच्चारण नहीं हो सकता, और जितने शब्द वा वाक्य उच्चारण होते हैं, वे सब अकार ही से निकलते हैं (अकारो वै सर्ववाक्, इति श्रुति)। इसलिये अक्षरों में अकार सबसे श्रेष्ठ है। ऐसा जो श्रेष्ठ अकार है, वह मैं हूँ। समासों के समूह में जो उभयपद-प्रधान द्वन्द्व समास है, जैसे रामकृष्णौ, वह मैं हूँ। मैं ही औरों के नाश करनेवाला और स्वयं न नाश होनेवाला काल हूँ। और सब ओर देखकर सब जगत् के कर्म-फल का विधान करनेवाला; अथवा सबका धारण करनेवाला या चारों ओर से मुखवाला विधाता (ब्रह्मा) मैं हूँ ॥ ३३ ॥

और—

मृत्युः सर्वहरश्चाहमुद्भवश्च भविष्यताम् ।
कीर्तिःश्रीर्वाक्च नारीणां स्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमा ॥ ३४

मृत्युः, सर्वहरः, च, अहं	और सबके हरनेवाला मृत्यु मैं हूँ	कीर्तिः, श्री, वाक्, च, नारीणां, स्मृतिः, मेधा, धृतिः, क्षमा	नारियों में कीर्ति, श्री, वाणी, स्मृति, मेधा, धृति तथा क्षमा मैं हूँ
उद्भवः, च, भविष्यतां	और होनेवालों में उद्भव हूँ		

अन्वयार्थ—सबके हरनेवाला मृत्यु और होनेवालों में उद्भव मैं हूँ। नारियों में कीर्ति, श्री, वाणी, स्मृति, मेधा, धृति और क्षमा मैं हूँ ॥ ३४ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! कोई एक धन छीनता है, कोई अन्य एक-दो वस्तु को, पर मृत्यु-देवता (God of death) प्राणादि सब जगत् तक को छीन लेता अर्थात् नाश कर देता है। इन नाश करनेवालों वा छीन लेनेवालों में मृत्यु (God of death) जो सर्वहर, प्रलय का नियामक और अति प्रबल है, वह मैं हूँ। मनुष्यों के होनेवाले कल्याणों में ऐश्वर्य

का उत्कर्ष-रूप उद्भव मैं हूँ ; अथवा जिस अभ्युदय और उन्नति की अधिकता में मनुष्य दिन-रात यत्न करते हैं, उस निरन्तर परिश्रम द्वारा होनेवाली प्राणी की वास्तविक उन्नति मैं हूँ ; या प्रलय के अन्त में नयी सृष्टि के समय उत्पन्न होनेवालों का अभ्युदय मैं ही होता हूँ ; या होनेवाले पदार्थों का निकास अर्थात् उत्पत्ति-स्थान मैं हूँ ; अथवा सब प्राणी छ विकारों (जायते[1], अस्ति[2], वर्द्धते[3], विपरिणमते[4], अपक्षीयते[5], नश्यति[6]) के वश में हैं, इन होनेवाले विकारों में से जो प्रथम विकार उद्भव अर्थात् जन्म लेना है, वह मैं हूँ। सब नारियों में धर्म की पत्नियाँ*-रूप जो कीर्ति[1], श्री[2], वाक्[3], स्मृति[4], मेधा[5], धृति[6] और क्षमा[7] यह सप्त नारियाँ हैं, वह मैं हूँ। अथवा सब स्त्री-वाचक शब्दों में कीर्ति[1] (यश अर्थात् चारों दिशाओं में किसी के गुण वा धर्म की प्रख्याति), श्री[2] (शोभा, उज्ज्वल कान्ति, अथवा धर्म, अर्थ और काम का समुच्चय), वाक्[3] (अर्थ को प्रकाश करनेवाली वाणी-रूप सरस्वती), स्मृति[4] (चिरकाल की अनुभव की हुई वस्तु को स्मरण करने की शक्ति), मेधा[5] (अनेक ग्रन्थों के अर्थ धारण करनेवाली शक्ति), धृति[6] (अनेक प्रकार की पीड़ा आने पर भी शरीर और इन्द्रियों के संघात को थामनेवाली शक्ति), और क्षमा[7] (हर्ष और विषाद में चित्त की अविकारता) यह सातों मैं हूँ ॥ ३४ ॥

और—

---

* "कीर्ति, श्री, वाणी" इत्यादि शब्दों से वही-वही देवता विवक्षित हैं जिनका महाभारत (आदि० ६६.१३-१४) में वर्णन है, कि इनमें से वाणी और क्षमा को छोड़ शेष पाँच, और दूसरी पाँच (पुष्टि, श्रद्धा, क्रिया, लज्जा और मति) दोनों मिलकर कुल दशों दक्ष की कन्याएँ हैं। धर्म के साथ ब्याही जाने के कारण इन्हें धर्मपत्नी कहते हैं।" (गीतारहस्य) "कुल-लक्ष्मी धार्मिक सती स्त्रियों में कीर्ति, धृति आदि धर्म-विभूतियाँ हैं, इसलिये पौराणिक वर्णनों में इन्हें धर्मपत्नी...कहा गया है।" (स्वामी दयानंद)

बृहत्साम तथा साम्नां गायत्री छन्दसामहम्।
मासानां मार्गशीर्षोऽहमृतूनां कुसुमाकरः ॥३५॥

बृहत्साम, तथा, साम्नां	और सामों में बृहत्साम	मासानां, मार्गशीर्षः, अहं	मासों में मार्गशीर्ष मास मैं हूँ
गायत्री, छन्दसां, अहं	छन्दों में गायत्री मैं हूँ	ऋतूनां, कुसुम-आकरः	ऋतुओं में फूलों की खानि (वसन्त) हूँ

अन्वयार्थ—सामों में बृहत्साम, छन्दों में गायत्री, महीनों में मार्गशीर्ष और ऋतुओं में वसन्त ऋतु मैं हूँ ॥ ३५ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! पूर्व श्लोक २२ में "वेदों में सामवेद हूँ" जो कहा था, वह इसलिये कि सामवेद में ईश्वर-स्तुति के गीत अधिक हैं। अब इस सामवेद के गीतों में जो (त्वामिद्धि हवामहे) इस ऋचा में सबका ईश्वर-रूप करके इन्द्र की स्तुति-रूप गीत है, जिसको बृहत्साम कहते हैं, वह बृहत्साम (भारी गीत) मैं हूँ। छन्दों में गायत्री छन्द जो द्विजपने का सम्पादक है, जो ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य को शूद्र-दशा से निकालकर अपनी योग्य अवस्था पर लाता है, जो देह-दृष्टि से वृत्ति को उठाकर निज आत्मा में लगाता है, जो वेदों में परम उत्तम गुरुमन्त्र माना जाता है, और जो त्रिकाल सन्ध्या में अन्य मन्त्रों के बदलने पर भी नहीं बदलता है, ऐसा गायत्री-छन्द मैं हूँ। सारे मासों में मार्गशीर्ष* (मगसिर) मास जिसमें न अति शीत और न उष्णता होती है, जिसमें सुखदायक

---

* "महीनों में मार्गशीर्ष को प्रथम स्थान इसलिये दिया गया है कि उन दिनों बारह महीनों को मार्गशीर्ष से ही गिनने की रीति थी, जैसे आजकल चैत्र से है (देखो म० भा० अनु० १०६ और १०९, ऐसे ही वाल्मीकि रामायण ३. १६)।" (श्रीतिलक महाराज)

होता है, वह मार्गशीर्ष मास मैं हूँ। और षट्-ऋतुओं में वसन्त-ऋतु, जो पुष्पों की खानि और सर्वप्रकार से अति रमणीक होने से श्रेष्ठ है और जिसमें प्राण-शक्ति का प्रादुर्भाव होता है, ऐसी श्रेष्ठ वसन्त-ऋतु मैं हूँ ॥ ३५ ॥

और—

द्यूतं छलयतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ।
जयोऽस्मि व्यवसायोऽस्मि सत्त्वं सत्त्ववतामहम् ॥ ३६ ॥

द्यूतं[2], छलयतां[1], अस्मि	छलनेवालों में जुआ[2] हूँ[3]	जयः, अस्मि, व्यवसायः, अस्मि	(जीतनेवालों की) जीत[1] हूँ[2] (निश्चय-वालों का) निश्चय[1] हूँ[2]
तेजः[2], तेजस्विनां[1], अहं[3]	तेजस्वियों का तेज[2] मैं हूँ[3]	सत्त्वं[2], सत्त्ववतां[1], अहं[3]	सत्त्वशीलों का सत्त्व मैं[3] हूँ

अन्वयार्थ—छलनेवालों में जुआ*, तेजस्वियों का तेज, (जीतनेवालों की) जीत, (निश्चयवालों का) निश्चय और सत्त्वशीलों का सत्त्व मैं हूँ ॥ ३६ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन! छलनेवाले पुरुषों का जुआ-रूप जो छल है

---

* "छलनेवालों में जुआ हूँ", इसका यह आशय नहीं कि जुआ बड़ी उत्तम वस्तु है और इसे खेलना चाहिए। तात्पर्य यह है कि ईश्वर ने मनुष्यों के सुधारने और ज्ञान-वृद्धि के दो मार्ग बनाये हैं: एक उपदेश-मार्ग और दूसरा दण्ड-मार्ग। जो मनुष्य उपदेश द्वारा धर्म-शास्त्र के वाक्यों पर चलते अन्तःकरण शुद्ध करते हैं, उन्हें दुःख नहीं होता, वे विना दण्ड के ही धार्मिक हो जाते हैं; और जो न उपदेश सुनते, न धर्म-शास्त्र को मानते और न धर्म-शास्त्रानुसार चलते हैं, उनके कुकर्म दण्ड-रूपी होकर उनको दुःख देते हैं, जिस

जिससे पल भर में धनी कङ्गाल और कङ्गाल धनी हो जाता है, और जो घर-के-घर, वंश-के-वंश, तथा राजगद्दियों को भी नष्ट-भ्रष्ट कर देता है, ऐसा बलवान् जुआ-रूपी छल मैं हूँ। तेजवानों में वह उग्र तेज जिसके कारण वे तेजवान् कहलाते हैं, वह तेज मैं हूँ। और विजयी पुरुषों की वह विजय, निश्चयवानों का निश्चय, और बलवान् (या सात्त्विक) पुरुषों का बल (वा सत्त्व) जिसके कारण पुरुष विजयी, निश्चयवान् और सत्त्वशील या बलवान् कहलाता है, वह विजय, निश्चय और बल, हे अर्जुन ! सब मैं ही हूँ ॥ ३६ ॥

और—

वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि पाण्डवानां धनञ्जयः ।
मुनीनामप्यहं व्यासः कवीनामुशना कविः ॥ ३७ ॥

दुःख-अग्नि से अन्तःकरण तप्त होकर शुद्ध होने लग जाता है ; और बुद्धि स्वच्छ होती वा जाग पड़ती है। इन कुकर्मों में जुआ अति दुःख देनेवाला और दुष्ट कर्म है। इन पाण्डवों की दशा को देखकर कौन नहीं कहेगा कि जुआ अति बुरा, छली और सत्यानाशी है। पर इससे महाभारत का युद्ध होकर जब कुकर्मी पुरुषों को अति दुःख मिला और अन्त में धर्म की जय हुई, तो दुष्ट पुरुषों की आँखें खुलीं, और कई एक कुकर्मों को रोकनेवाले राज-पाट मिलने पर भी शुद्ध अन्तःकरण हुए वैराग्यवान् होकर जंगलों में पधारे, और ज्ञान को प्राप्त होकर मुक्त हुए। इसलिये भगवान् ने जुआ को भी अपनी विभूति कहा है। अनुग्रह के विचार से भी जुआ भगवान् की विभूति मानी जाती है, क्योंकि भगवान् ने स्वयं कहा है कि "यस्याहमनुगृह्णामि हरिष्यामि च तद्धनम् ।"=जिस पर मैं अनुग्रह करता हूँ उसका धन छीन लेता हूँ ; और जुआ से सर्वस्व हर लिया जाता है, जिससे भगवान् के अनुग्रह का साधन हुआ भी यह उनकी विभूति कहलाता है।

वृष्णीनां, वासुदेवः, अस्मि	यादवों में वासुदेव हूँ	मुनीनां, अपि, अहं, व्यासः	मुनियों में व्यास मैं ही हूँ
पांडवानां, धनञ्जयः	पांडवों में अर्जुन	कवीनां, उशना, कविः	कवियों में शुक्र कवि हूँ

अन्वयार्थ—यादवों में वासुदेव *, पाण्डवों में अर्जुन †, मुनियों में व्यास और कवियों में शुक्र कवि मैं ही हूँ ॥ ३७ ॥

---

* वासुदेव का अर्थ यहाँ शङ्कराचार्य व अन्य प्रसिद्ध भाष्यकारों ने तो श्रीकृष्ण ही किया है, पर एक-दो टीकाकारों ने वसुदेव के पुत्र सङ्कर्षण अर्थात् बलराम के किये हैं। श्रीविश्वनाथ ने तो यहाँ स्वार्थ में अण् प्रत्यय लाकर वसुदेव ही वासुदेव का अर्थ किया है।

† धनञ्जय=अर्जुन। पाण्डवों में युधिष्ठिर को, परम धार्मिक वा धर्मपुत्र होते हुए भी, विभूति क्यों नहीं कहा? अर्जुन को विभूति क्यों गिन लिया? इसका कारण यह है कि अर्जुन के बराबर शूरवीर कोई न था और जिस राज्य को युधिष्ठिरजी हरा चुके थे, उसे वापस लाने के लिये अर्जुन ने बड़ी-बड़ी कठिनाइयाँ झेलकर अद्वितीय तप किया था, और अन्य कठिन परीक्षाओं में भी वह युधिष्ठिर से बढ़कर निकला था। दृष्टान्त-रूप से यह कि अर्जुन ने यद्यपि दीर्घ काल तक ब्रह्मचर्य-व्रत का सेवन करते हुए वनवास के दुःखों को अनुभव किया हुआ था, तथापि ब्राह्मण की पुकार सुनकर वह उसकी गायों को चोरों से छुड़ाने के लिये द्रौपदी के साथ बैठे युधिष्ठिर की परवाह न करके शस्त्र लेने के लिये वहाँ चला गया। जब गायों को छुड़ाकर वापस आया, तो फिर नियत नियमानुसार सङ्केत के उल्लङ्घन करने पर वन जाने को वह उद्यत हो गया। यद्यपि युधिष्ठिर ने ममता के वश में आकर उसे युक्तियाँ देकर उस गमन से हटाना चाहा, पर उसने हाथ जोड़कर यही कहा "न व्याजेन चरेद्धर्ममिति मे भवतः श्रुतम्। न सत्याद् विचलिष्यामि सत्येनायुधमालभे।"=

व्याख्या—हे अर्जुन ! यादवों में वसुदेव का पुत्र, जो तेरा सखा और तुझे उपदेश कर रहा है, वह वासुदेव (कृष्ण) मैं हूँ। पाण्डवों में तुम जो मेरे प्यारे होने से श्रेष्ठ और धन के जीतनेवाले तथा प्रसिद्ध धनुर्धारी अर्जुन हो, वह अर्जुन मैं ही हूँ; मुनियों (अर्थात् मननशील अथवा सब पदार्थों के जाननेवाले पुरुषों) में श्रीवेदव्यासजी, जो वेद की रक्षा, धर्म और इतिहास का प्रचार करने से सबसे श्रेष्ठ वा सर्वोत्तम प्रसिद्ध हैं, वह मैं हूँ। और कवियों (अर्थात् त्रिकालदर्शियों या सूक्ष्म अर्थ के विवेक करनेवालों) में श्रीशुक्राचार्य, जो नीति में सर्वोपरि निपुण होने से श्रेष्ठ हैं, वह मैं हूँ ॥ ३७ ॥

और—

दण्डो दमयतामस्मि नीतिरस्मि जिगीषताम् ।
मौनं चैवास्मि गुह्यानां ज्ञानं ज्ञानवतामहम् ॥ ३८ ॥

दण्डः, दमयतां, अस्मि	दण्ड देनेवालों का दण्ड हूँ	मौनं, च, एव, अस्मि, गुह्यानां	और गुह्यों में मौन ही हूँ
नीतिः, अस्मि, जिगीषताम्	जीतनेकीइच्छाकरनेवालों की नीति हूँ	ज्ञानं, ज्ञानवतां, अहं	ज्ञानवालों का मैं ज्ञान हूँ

अन्वयार्थ—दण्ड देनेवालों का दण्ड, जय की इच्छावालों की नीति, गुह्यों में मौन और ज्ञानवालों का ज्ञान मैं ही हूँ ॥ ३८ ॥

धर्म में बहाना न ढूंढ़े, यह मैंने आपसे सुना हुआ है। मैं सत्य से नहीं फिसलूँगा, सत्य से शस्त्र को लाभ करता हूँ (म० भा० आदि० २१९. ३४)। इस प्रकार अर्जुन का महत्त्व स्पष्ट है। इसलिये व्यासजी ने गीता के अन्त में कहा है कि जहाँ श्रीयोगेश्वर कृष्ण और धनुर्धारी अर्जुन हैं, वहाँ विजय, श्री इत्यादि हैं।

व्याख्या—हे अर्जुन ! दण्ड के भय से पाप से निवृत्ति होती है, और दण्ड स्वयं धर्म-रूप है (मनु० ७. १४-१५, १८), क्योंकि दण्ड से ही मनुष्य और इन्द्रियाँ वा मन वश में आ सकते हैं। इसलिये, हे प्यारे ! जिस दमन-रूप दण्ड से दमन करनेवाले महात्मा अपनी इन्द्रियाँ वा मन को वश में करते हैं, अथवा जिस दण्ड से दुष्टों को सुधारनेवाले राजा लोग दुष्टों को अपने वश में करते वा सुधारते हैं, वह इन्द्रियों वा दुष्टों का शोधक-रूप दण्ड मैं हूँ। शत्रुओं को जीतने की इच्छावालों की राजनीति, जिसकी सहायता से विजय प्राप्त होती है, वह विजय-उपाय-रूप नीति मैं हूँ। समस्त गोप्य पदार्थों को गुप्त रखने का हेतुभूत जो वाक्-इन्द्रिय का निग्रह (मौन) है, वह मौन मैं हूँ। अथवा गुह्य पदार्थों में श्रवण मनन द्वारा जो आत्मा का निदिध्यासन-रूप मौन है, वह मैं हूँ। और ज्ञानी पुरुषों का जो सारभूत आत्मज्ञान है, वह मैं हूँ ॥ ३८ ॥

और—

यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन ।
न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम् ॥ ३९ ॥

यत्, च, अपि, सर्व-भूतानां, बीजं, तत्, अहं, अर्जुन	और हे अर्जुन ! जो भी सब भूतों का कारण है, वह मैं हूँ	न, तत्, अस्ति, विना, यत्, स्यात्, मया, भूतं, चर-अचरं	ऐसा चर अचर पदार्थ नहीं है जो विना मेरे हो

अन्वयार्थ—और हे अर्जुन ! जो भी सारे भूतों का बीज है, वह मैं हूँ। ऐसा कोई चराचर पदार्थ नहीं है, जो मेरे विना हो ॥ ३९ ॥

व्याख्या—अब, हे अर्जुन ! इस सारे का संक्षेप यह है कि स्थावर-जङ्गम-रूप जो भी कोई पदार्थ है, ऐसा कोई नहीं है, जो मेरे विना कदापि हो सके या हुआ हो। इसलिये इन सारे पदार्थों की उत्पत्ति का जो भी

कोई बीज (कारण) है, वह मैं ही हूँ ; अर्थात् सबका सारभूत तू मुझे ही जान ॥ ३९ ॥

सम्बन्ध—(१) अब इस विभूति-प्रकरण का उपसंहार करते हुए भगवान् उपलक्षणता-रूप से अपनी सारी विभूतियों को संक्षेपतः तीन श्लोकों में वर्णन करते हैं—

अथवा (२) इस प्रकार मुख्य-मुख्य विभूतियाँ बतलाकर अब भगवान् इस प्रकरण का उपसंहार करते हैं—

नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परन्तप ।
एष तूद्देशतः प्रोक्तो विभूतेर्विस्तरो मया ॥ ४० ॥

न, अन्तः, अस्ति, मम, दिव्यानां, विभूतीनां, परन्तप	हे अर्जुन ! मेरी दिव्य विभूतियों का अन्त नहीं है	एषः, तु, उद्देशतः, प्रोक्तः, विभूतेः, विस्तरः, मया	परन्तु मुझसे विभूतियों का यह विस्तार संक्षेप से कहा गया है

अन्वयार्थ—हे अर्जुन ! मेरी दिव्य विभूतियों का अन्त नहीं, परन्तु यह विभूतियों का विस्तार मुझसे संक्षेप से कहा गया है ॥ ४० ॥

व्याख्या—हे शत्रुओं को तपानेवाले अथवा जीतनेवाले अर्जुन ! सत्य तो यह है कि मेरी दिव्य (अलौकिक) विभूतियों के विस्तार का अन्त ही नहीं है, अर्थात् पूर्ण-रूप से ये सारी-की-सारी विभूतियाँ वर्णन ही नहीं हो सकतीं और न जानी ही जा सकती हैं। और यह जो कुछ विस्तार मुझसे वर्णन हुआ है, वह बहुत संक्षेप से (केवल दृष्टान्त-रूप से, वा नाम-मात्र, या एकदेश करके, अथवा नमूने के तौर पर या दिग्दर्शनार्थ) वर्णन हुआ है, पूर्ण-रूप से नहीं ॥ ४० ॥ ❀

❀ श्लोक ३९, ४०, ४१ पर श्रीज्ञानदेवजी ने विचित्र रूप से ऐसे व्याख्या की है—

और—

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा ।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम् ॥४१॥

यत्, यत्, विभूतिमत्, सत्त्वं, श्रीमत्, ऊर्जितं, एव, वा	जो-जो भी ऐश्वर्य वाली, लक्ष्मीवाली या शक्तिवाली वस्तु है	तत्, तत्, एव, अवगच्छ, त्वं, मम, तेजः-अंश, सम्भवम्	वह-वह ही तू मेरे तेज के अंश से उत्पन्न हुआ जान

अन्वयार्थ—जो-जो भी ऐश्वर्यवाली, लक्ष्मीवाली या शक्तिवाली वस्तु है, वह-वह तू मेरे ही तेज के अंश से उत्पन्न हुई जान ॥ ४१ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! इससे अधिक और क्या स्पष्ट कहा जाय कि इस ब्रह्माण्ड में जो भी कोई चेतन-अचेतन पदार्थ अन्य की अपेक्षा अधिक विभूतियुक्त अर्थात् ऐश्वर्यवाला या अधिक लक्ष्मी, सम्पदा,

---

"हे धनुर्धर ! चाहे वर्षा की धाराओं की गणना हो सके, अथवा पृथ्वी के तृण और अंकुरों की गणना कर ली जाय ; परन्तु जैसे महासमुद्र की तरङ्गों की गिनती नहीं हो सकती वैसे ही मेरे चिह्नों की भी थाह नहीं ; एवं जो ७५ मुख्य विभूतियों का वर्णन किया, वह उद्देश्य भी मुझे वृथा हुआ-सा मालूम होता है। क्योंकि अन्य विभूति-विस्तारों की सर्वथा गिनती नहीं हो सकती। इससे तुम कहाँ तक सुनोगे और हम कहाँ तक वर्णन करें। इसलिये हम एक ही बार तुम्हें अपना मर्म बताये देते हैं कि सब प्राणांकुरों से जो बीज-विस्तार दिखाई देता है, वह मैं हूँ। अतएव छोटा-बड़ा न कहना चाहिए, ऊँचा-नीचा भाव छोड़ देना चाहिए और सब वस्तु-मात्र को मद्रूप ही समझना चाहिए। तथापि मैं और एक साधारण चिह्न बतलाता हूँ, जिससे, हे अर्जुन ! तुम मेरी विभूतियाँ जान लो।"

शोभा और कान्तिवाला, अथवा अत्यन्त शक्तिवाला दिखाई दे; उसको तू मुझ सच्चिदानन्द की ही विभूति अर्थात् मेरे ही तेज के अंश से उत्पन्न हुआ-हुआ जान। (यह कथन भगवान् का पूर्व न कही हुई विभूतियों के संग्रह कराने निमित्त है) ॥ ४१ ॥

सम्बन्ध—अब सारे पूर्व-कथन का भण्डा फोड़कर अन्त में भगवान् इस प्रकरण का यों उपसंहार करे हैं—

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ॥४२॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे विभूतियोगो नाम

दशमोऽध्यायः।

अथवा, बहुना, एतेन, किं, ज्ञातेन, तव, अर्जुन	अथवा हे अर्जुन ! इस बहुत जानने से तुझे क्या ?	विष्टभ्य, अहं, इदं, कृत्स्नं एक - अंशेन, स्थितः, जगत्	इस समस्त जगत् को (अपने) एक अंश से धारण करके मैं स्थित हूँ

अन्वयार्थ—अथवा, हे अर्जुन! इस बहुत जानने से तुझे क्या ? इस समस्त जगत् को मैं (अपने) एक अंश* से धारण करके स्थित हूँ ॥ ४२ ॥

---

* इस श्लोक का अन्तिम भाग पुरुषसूक्त की इस ऋचा के आधार पर है—"पादोऽस्य विश्वाभूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि" (ऋ० १०. ६०. ३) और यह मन्त्र छान्दोग्य उपनिषद् में भी है, अर्थात् इस परमात्मदेव का यह समस्त विश्व एक पाद है और इसके तीन पाद तो अपने निर्गुण स्वयं ज्योतिःस्वरूप में स्थित हैं।

व्याख्या—या, हे अर्जुन ! तुझे मेरी इन विभूतियों को न्यारे-न्यारे अथवा विस्तारपूर्वक जानने से क्या लाभ वा प्रयोजन है ? अर्थात् कुछ भी फल नहीं, क्योंकि मेरी सारी विभूतियाँ न पूर्ण-रूप से कही जा सकती हैं और न चर्मचक्षु से देखी ही जा सकती हैं । इसलिये दृष्टान्त-रूप से इतनी विभूतियाँ वर्णन करने के पश्चात् अब मैं अत्यन्त संक्षेप से तुझे यह कह देता हूँ कि इस समस्त चराचर जगत् को मैं अपने एक अंश से, अर्थात् एकदेश वा अपने चतुर्थ अंश द्वारा, धारण करके (वा थाम करके) अचल स्थित हूँ ॥ ४२ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतानुवादे विभूतियोगो नाम दशमोऽध्यायः ।

दशवें अध्याय का संक्षेप

(१) नवें अध्याय में भगवान् ने अपने स्वरूप का वर्णन किया कि "मैं सब कुछ हूँ, और जो मुझमें ध्यान लगाते मेरी उपासना करते हैं, वे सीधे मुझे पहुँचते हैं।" पर सर्व-आत्मभाव से ध्यान सबके लिये कठिन है, इसलिये पूर्व-अध्यायों में कहीं-कहीं अस्पष्ट-रूप से "रसोऽहमप्सु", "अधियज्ञोऽहमेवात्र" इत्यादि विभूतियों द्वारा ध्यान करना कहा गया। अब उसी सरल विधि को भगवान् विस्तारपूर्वक कहना चाहते हुए अपने कृपालु स्वभाव से अर्जुन को ऐसा कहते हैं कि

(क) हे अर्जुन! तू मेरा अति प्यारा है, इसलिये, तेरे हित के लिये, मैं अपना संक्षिप्त-रूप से पूर्व कथित उपदेश पुनः विस्तार से कहता हूँ, तू उसे दत्तचित्त से सुन।

(ख) मेरे जन्म को वास्तव में न देवता जानते हैं और न ऋषि, क्योंकि उन सबकी मेरे से ही उत्पत्ति है।

(ग) पर हाँ, जो मुझ अजन्मा, अनादि और लोकों के महेश्वर को ठीक-ठीक जान लेता है, वह मोह-पाश से मुक्त हुआ सब पापों से छूट जाता है।

(घ) बुद्धि, ज्ञान, असम्मोह, क्षमा, सत्य, शम, दम, सुख, दुःख, जन्म, मृत्यु, भय, अभय, अहिंसा, समता, सन्तोष, तप, दान, यश, अयश इत्यादि नाना प्रकार के भाव जो जीते-जागते मनुष्यों के हैं, वे सब मुझसे ही होते हैं।

(ङ) सात महर्षि और पहले के चार मनु, जिनकी लोक में ये प्रजाएँ हैं, ये सब मेरे मन से उत्पन्न हुए-हुए भाव हैं।

(च) जो मेरी इस विभूति और योग को यथार्थ जानता है, वह अचल योग से युक्त होता है, इसमें संशय नहीं।

(२) इस प्रकार विभूति-ज्ञान और उस द्वारा परमात्म-ध्यान में युक्त होने के उपाय में, अर्जुन की रुचि उत्पन्न करके, भगवान् अब पहले अपनी समष्टि-रूप से विभूति को और फिर उस विभूति के ध्यान और भक्ति में युक्त होने के फल को कहते हैं—

(क) मैं सबका उत्पत्ति-स्थान हूँ, मुझसे ही सब कुछ फलता-फूलता है। यह जानकर बुद्धिमान् लोग पूर्ण भक्ति और निश्चय से मेरी उपासना वा भजन करते हैं।

(ख) उक्त निश्चय से मुझमें अपना मन, बुद्धि, चित्त, अहङ्कार तथा प्राणों वा इन्द्रियों के व्यापार पूर्ण-रूप से अर्पण करते हुए मेरे भक्त सन्तुष्ट होते उत्तम सुख को पाते हैं।

(ग) इस प्रकार मेरे ध्यान में निरन्तर युक्त और प्रीतिपूर्वक भजन करनेवाले जो हैं, उनको मैं वह बुद्धि दे देता हूँ कि जिसके उपयोग से वा जिसमें युक्त होने से वे मेरे पास पहुँच जाते हैं।

(घ) और उनके हृदय में बसते हुए मैं उनपर आच्छादित अज्ञान-रूपी अन्धकार को प्रज्वलित ज्ञान-रूपी दीपक से भगा देता हूँ।

(३) उक्त समष्टि-रूप से विभूति और उस द्वारा भगवद्भजन के फल को सुनकर अर्जुन को जिज्ञासा उठ पड़ी कि भगवद्भजन निमित्त भगवान् की व्यष्टि-रूप विभूतियों का विस्तार भी वह जाने, जिससे वह भगवान् से ऐसे प्रार्थना करता है—

(क) हे भगवन्! आप परमब्रह्म, परमधाम इत्यादि शाश्वत पुरुष हो, सब ऋषि इत्यादि भी आपको ऐसा ही कहते हैं और आप स्वयं भी ऐसा ही अपने को वर्णन करते हो।

(ख) इसलिये जो-जो कुछ आप कहते हो, मैं सब सत्य मानता हूँ, और यह भी सत्य है कि वास्तव में आपकी व्यक्ति को न देवता जानते हैं न दानव।

(ग) और हे भूतभावन, हे भूतेश, हे देवदेव, हे जगत्पते! वास्तव में आप स्वयं ही अपने आपको जानते हो।

(घ) इसलिये अपनी जिन दिव्य विभूतियों से आप इस सारे संसार में फैले हुए हो, उन्हें कृपया पूर्ण रीति से वर्णन करें।

(ङ) हे भगवन्! मैं आपका सदा चिन्तन करते हुए कैसे आपको तत्त्व से जानूँ, और किन-किन भावों से आपका चिन्तन करूँ?

(च) इसलिये आप अपनी विभूति और उस द्वारा आपके ध्यान वा भजन में युक्त होने की विधि को विस्तार से कहिए, क्योंकि आपके पूर्व संक्षिप्त और अमृत-भरे वचनों को (जो आपने अपनी समष्टि-रूप विभूति को वर्णन करते समय कहे हैं) सुनकर न मेरी तृप्ति हुई है, न सन्तोष।

(४) अर्जुन की इस प्रार्थना पर भगवान् उसे ऐसा उत्तर देते हैं कि

(क) अब मैं तेरे लिये अपनी मुख्य-मुख्य दिव्य विभूतियों का वर्णन करता हूँ, क्योंकि उनके विस्तार का कोई अन्त नहीं है।

(ख) मैं सब भूतों के भीतर स्थित आत्मा और मैं ही सबका आदि, मध्य और अन्त हूँ।

(ग) १२ आदित्यों में विष्णु, ज्योतियों में चमकता हुआ सूर्य, ४६ वायु के देवताओं में मरीचि और नक्षत्रों में चन्द्रमा मैं हूँ।

(घ) वेदों में सामवेद, देवताओं में इन्द्र, इन्द्रियों में मन, और भूतों में चेतना (चेतन-शक्ति) मैं हूँ।

(ङ) ११ रुद्रों में शङ्कर, यक्ष-राक्षसों में कुबेर, आठ वसुओं में पावक (अग्नि देवता) और पर्वत की शिखरों में मेरु शिखर मैं हूँ।

(च) पुरोहितों में मुख्य बृहस्पति तू मुझे जान। सेनापतियों में स्कन्द और सरोवरों में समुद्र मैं ही हूँ।

(छ) महर्षियों में भृगु, वाणियों में एक अक्षर ॐ, यज्ञों में जप-यज्ञ और स्थावरों में हिमालय मैं हूँ।

(ज) वृक्षों में पीपल, देवर्षियों में नारद, गन्धर्वों में चित्ररथ, और सिद्धों में कपिल-मुनि मैं हूँ।

(झ) घोड़ों में अमृत से उत्पन्न हुआ उच्चैःश्रवस्, गजेन्द्रों में ऐरावत, और नरों में राजा मैं हूँ।

(ञ) शस्त्रों में वज्र, गायों में कामधेनु, सन्तति उत्पन्न करनेवाला कामदेव, और सर्पों में वासुकि मैं हूँ।

(ट) नागों में अनन्त नाग, जलचरों वा जल के देवताओं में वरुण, पितरों में अर्यमा, और संयम करनेवालों में यम मैं हूँ।

(ठ) दैत्यों में प्रह्लाद, गणना करनेवालों (ज्योतिषियों) में काल, पशुओं में सिंह और पक्षियों में गरुड़ मैं हूँ।

(ड) वेगवालों (वा स्वच्छता फैलानेवालों) में पवन, शस्त्र-धारियों में राम, मछलियों में मगर और नदियों में श्रीगङ्गा मैं हूँ।

(ढ) सारी सृष्टियों (रचनाओं) का आदि, मध्य और अन्त मैं ही हूँ। विद्याओं में अध्यात्म-विद्या और वाद-विवाद करनेवालों का वाद मैं हूँ।

(ण) अक्षरों में अकार, समासों के समूह में द्वन्द्व समास मैं हूँ। और

मैं ही अनन्त (अविनाशी) काल और सर्व-ओर से मुखवाला विधाता हूँ।

(त) सबके हरनेवाला मृत्यु, होनेवालों में उत्कर्ष और नारियों में कीर्ति, श्री, वाणी, स्मृति, मेधा, धृति और क्षमा मैं हूँ।

(थ) सामों में बृहत्साम, छन्दों में गायत्री छन्द, मासों में मार्गशीर्ष और ऋतुओं में वसन्त ऋतु मैं हूँ।

(द) छलनेवालों में जुआ, तेजस्वियों में तेज, जीतनेवालों की जीत, निश्चयवानों का निश्चय और सत्त्वशीलों का भी सत्त्व मैं ही हूँ।

(ध) यादवों में वासुदेव, पाण्डवों में अर्जुन, मुनियों में श्रीवेदव्यास, और कवियों में शुक्राचार्य कवि मैं हूँ।

(न) दण्ड देनेवालों का दण्ड, विजय की इच्छावालों की नीति, गुह्यों में मौन और ज्ञानवालों का ज्ञान मैं हूँ।

(प) हे अर्जुन ! ऐसा कोई चर-अचर पदार्थ नहीं जो मेरे विना हो, बल्कि सारे पदार्थों का मैं ही बीज (कारण) हूँ।

(फ) हे परंतप ! मेरी दिव्य विभूतियों का वास्तव में अन्त नहीं, बल्कि जो कुछ विभूतियों का विस्तार मैंने कहा है, वह केवल संक्षेप से वा उदाहरण-रूप से कहा है।

(ब) बल्कि इस सबका तत्त्व तू यह समझ ले कि जो भी ऐश्वर्य, लक्ष्मी, वा बलयुक्त वस्तु हो, उसे तू मेरी ही विभूति जान।

(भ) या बहुत कहने और जानने से क्या ? इतना याद रख, वा इतना निश्चय कर ले, कि मैं अपने एक अंश-मात्र से संसार भर में फैला हूँ, वा मैं जगत् को अपने एक अंश में धारण करके स्थि

हूँ और इनमें से किसी भी विभूति द्वारा तू मुझे भज सकता वा चिन्तन कर सकता है।

इस प्रकार श्रीभगवान् से गाये हुए अर्थात् कहे हुए उपनिषद् में, ब्रह्मविद्यान्तर्गत योगशास्त्र-विषयक, श्रीकृष्ण और अर्जुन के संवाद में, विभूतियोग-नामक दसवाँ अध्याय समाप्त हुआ।

श्रीमद्भगवद्गीता (२५५) अध्याय १०

* ॐ *

एकादशोऽध्यायः

सम्बन्ध—पूर्वले अध्याय में भगवान् ने अपनी नाना विभूतियाँ दृष्टान्त-रूप से वर्णन करके अन्त में संक्षेप से यह कहा कि "विष्टभ्याहमिदं कृत्स्न-मेकांशेन स्थितो जगत्।"=इस सारे जगत् को मैं अपने एक अंश से धारण किये स्थित हूँ। इसको सुनकर अर्जुन को परम उत्कण्ठा हुई कि भगवान् के विश्वात्मक-रूप का साक्षात्कार किया जाय। इस उत्कण्ठा से प्रेरित होकर अर्जुन विनयपूर्वक भगवान् से प्रश्न करता है, जिस पर ग्यारहवाँ अध्याय आरम्भ होता है—

अर्जुन उवाच—

मदनुग्रहाय परमं गुह्यमध्यात्मसंज्ञितम्।
यत्त्वयोक्तं वचस्तेन मोहोऽयं विगतो मम ॥ १ ॥

मत् - अनुग्रहाय, परमं, गुह्यं, अध्यात्म-संज्ञितं	मेरे अनुग्रह के लिये परम गुह्य अध्यात्म नामवाला	यत्, त्वया, उक्तं, वचः	जो वचन तुमसे (आपसे) कहा गया है
		तेन, मोहः, अयं, विगतः, मम	उससे मेरा यह मोह दूर हो गया है

अन्वयार्थ—अर्जुन बोला—मेरे अनुग्रह के लिये अध्यात्म नामवाला

जो परम गुह्य वचन आपसे कहा गया है, उससे मेरा यह मोह दूर हो गया है ॥ १ ॥

व्याख्या—भगवान् के विश्वात्मक रूप को देखने की इच्छा करता हुआ अर्जुन ऐसे बोला कि हे भगवन्! आपने जो मेरे ऊपर परम कृपा करके मेरे उपकारार्थ यह परम गुह्य, अर्थात् अति उत्कृष्ट और बहुत गुप्त रखने योग्य 'अध्यात्म' नामवाला वचन ("अशोच्यानन्वशोचस्त्वम् ।" इस वचन से लेकर छठे अध्याय की समाप्ति तक 'त्वं' पदार्थ का निरूपक वचन, अथवा नवें अध्याय के आरंभ में "इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे ।" ऐसा आत्मा-अनात्मा के विवेक को करानेवाला ज्ञान-विज्ञान-रूप वचन) कहा है, उससे मेरा सारा मोह (भ्रान्ति, अविवेक, धर्म-विषय में विमूढ़ता वा अज्ञान) जाता रहा है ॥ १ ॥

सम्बन्ध—छठे ❀ अध्याय पर्यन्त 'त्वं' पदार्थ के निर्णय में जो प्रधान वचन सुना, उसके विषय में उक्त भाव कहकर अब अर्जुन 'तत्' पदार्थ का निर्णय-रूप प्रधान वचन, जो उसने सातवें अध्याय से लेकर दशम अध्याय तक सुना, उसके विषय में अपना भाव प्रकट करता है—

❀ "छठे अध्याय पर्यन्त 'त्वं' पदार्थ के निर्णय-रूप वचन से 'अध्यात्म' शब्द अभिप्रेत है और सातवें से दसवें अध्याय पर्यन्त 'तत्' पदार्थ के निर्णय-रूप वचन से भूतों की उत्पत्ति-लय इत्यादि अभिप्रेत है।" (श्रीचिद्घनानन्द)। "सातवें अध्याय में ज्ञान-विज्ञान का आरम्भ कर, सातवें और आठवें में परमेश्वर के अक्षर अथवा अव्यक्त-रूप का तथा नवें एवं दसवें में अनेक व्यक्त रूपों का जो ज्ञान बतलाया है, उसे ही अर्जुन ने पहले श्लोक में 'अध्यात्म' कहा है। एक अव्यक्त से अनेक व्यक्त पदार्थों के निर्मित होने का जो वर्णन सातवें (४–१५), आठवें (१६–२१) और नवें (४–८) अध्यायों में है, वही 'भूतों की उत्पत्ति और लय' इन शब्दों से दूसरे श्लोक में अभिप्रेत है।" (श्रीतिलक महाराज)

भवाप्ययौ हि भूतानां श्रुतौ विस्तरशो मया ।
त्वत्तः कमलपत्राक्ष माहात्म्यमपि चाव्ययम् ॥ २ ॥

भव-अप्ययौ, हि, भूतानां, श्रुतौ, विस्तरशः, मया	निस्सन्देह भूतों की उत्पत्ति-प्रलय मुझसे विस्तारपूर्वक सुने गये	त्वत्तः, कमल-पत्र-अक्ष, माहात्म्य, अपि, च, अव्ययं	और अक्षय माहात्म्य भी तुझसे (आपसे) हे कमल के पत्ते के सदृश नेत्रवाले !

अन्वयार्थ—हे कमलपत्राक्ष ! आपसे भूतों की उत्पत्ति-प्रलय और अक्षय माहात्म्य भी निस्सन्देह मुझसे विस्तारपूर्वक सुने गये ॥ २ ॥

व्याख्या—हे कमल के पत्ते के सदृश (विस्तीर्ण तथा किञ्चित् रक्तता-युक्त और अत्यन्त मनोरम) नेत्रवाले भगवान् कृष्णचन्द्रजी ! आपने जो "अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा ।" "प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य ।" "अहं सर्वस्य प्रभवः ।" इत्यादि वचनों से भूतों की उत्पत्ति, प्रलय और अपना अक्षय माहात्म्य अर्थात् आपने जो अपनी अगाध महिमा का विस्तारपूर्वक वर्णन किया, उसको मैंने निस्सन्देह दत्तचित्त से सुना ॥ २ ॥

और—

एवमेतद्यथात्थ त्वमात्मानं परमेश्वर ।
द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं पुरुषोत्तम ॥ ३ ॥

एवं, एतत्, यथा, आत्थ, त्वं, आत्मानं, परमेश्वर	हे परमेश्वर ! जैसा अपने आपको तू कहता है (अर्थात् आप कहते हो) यह ऐसा ही है	द्रष्टुं इच्छामि, ते, रूपं, ऐश्वरं, पुरुष-उत्तम	हे पुरुषों में उत्तम ! तेरे (आपके) ईश्वर रूप को मैं देखना चाहता हूँ,

अन्वयार्थ—हे परमेश्वर ! जैसा आप अपने आपको कहते हो, यह ऐसा ही है। (तथापि) हे पुरुषों में उत्तम ! मैं आपके ऐश्वर रूप को देखना चाहता हूँ ॥ ३ ॥*

व्याख्या—हे भगवन् ! जैसा आपने अपने आपको निरूपण किया है, यह यद्यपि यथार्थ है, इसमें किञ्चित् भी संशय नहीं, तथापि हे पुरुषों में उत्तम भगवान् कृष्णजी ! मैं आपके उस ईश्वरीय रूप को या ऐश्वर्यमय वैष्णव रूप को, जो आपने पूर्व अध्याय में ज्ञान, तेज इत्यादि नाना विभूतियों से वर्णन किया है, नेत्रों से प्रत्यक्ष देखना चाहता हूँ ॥ ३ ॥

सम्बन्ध—अपने आपको भगवान् का ईश्वरीय रूप देखने में अशक्य समझता हुआ अर्जुन अब भगवान् से ऐसे प्रार्थना करता है—

मन्यसे यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुमिति प्रभो।
योगेश्वर ततो मे त्वं दर्शयात्मानमव्ययम् ॥ ४ ॥

मन्यसे, यदि, तत्, शक्यं, मया, द्रष्टुं, इति, प्रभो	हे प्रभो ! यदि आप यह समझते हो कि मुझसे ऐसा देखना सम्भव है	योग-ईश्वर, ततः, मे, त्वं, दर्शय, आत्मानं, अव्ययं	तब हे योगियों के ईश्वर ! मुझे आप अपने अविनाशी रूप को दर्शाइए

* यह अर्थ प्रायः टीकाकार इस श्लोक के दोनों अर्धांशों को दो भिन्न-भिन्न वाक्य मानकर करते हैं और हमें यह पूर्वापर-सम्बन्ध से स्पष्ट और युक्त भी दीखता है ; परन्तु श्रीतिलक महाराज इस अर्थ को अयुक्त मानकर परमार्थ-प्रपा टीका के अनुसार इस श्लोक की दोनों पंक्तियों को मिलाकर इसे एक ही वाक्य समझते हुए इसका ऐसा अर्थ करते हैं—"(अब) हे परमेश्वर ! तुमने अपना जैसा वर्णन किया है, हे पुरुषोत्तम ! मैं तुम्हारे उस प्रकार के ईश्वरीय स्वरूप को (प्रत्यक्ष) देखना चाहता हूँ।"

अन्वयार्थ—हे प्रभो! यदि आप ऐसा समझते हैं कि मुझसे वह (विश्व-रूप) देखना सम्भव है, तब हे योगेश्वर! आप मुझे अपने अविनाशी-रूप को दिखलाइए ॥ ४ ॥

व्याख्या—हे भगवन्! यद्यपि मुझे ठीक-ठीक पता नहीं कि मैं आपका ईश्वरीय रूप प्रत्यक्ष देख सकता हूँ या नहीं, तथापि आप यदि ऐसा समझते हैं कि आपके उस विश्व-रूप, अर्थात् ईश्वरता के सूचक रूप को देखने के मैं समर्थ हूँ, तो हे योगेश्वर* (योगियों के ईश्वर, अथवा अद्भुतों के मालिक, वा ज्ञान, बल और तेज के निधि, या योगों के ईश्वर)! अब अपने अविनाशी स्वरूप को अर्थात् अपने निर्विकार रूप को मुझे कृपया दिखलाइए ॥ ४ ॥

सम्बन्ध—(१) इस प्रकार प्रार्थना किये हुए भगवान् अपना अद्भुत रूप दर्शाने के लिये अर्जुन को ऐसा कहते हुए सावधान करते हैं—

अथवा (२) अर्जुन की प्रार्थना से इस प्रकार प्रेरित हुए भगवान् कहते हैं—

श्रीभगवानुवाच—

पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः ।
नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च ॥५॥

---

* 'योगेश्वर'='योगिनो योगास्तेषामीश्वरो योगेश्वरः'=योगियों के योग का ईश्वर (श्रीशङ्कराचार्य)। अद्भुतों के मालिक जो किसी दूसरे से सम्भावित हो नहीं सकते, ऐसे ज्ञान, बल, वीर्य, शक्ति और तेज के निधि (श्रीरामानुज)। योगियों के ईश्वर अर्थात् मालिक या सरताज (पं० राजाराम)। योगों का (योगियों का नहीं) ईश्वर (१८. ७५)। योग का अर्थ पहले (गीता० ७. २५ और ९. ५) अव्यक्त रूप से व्यक्त सृष्टि निर्माण करने का सामर्थ्य

पश्य[1], मे[2], पार्थ, रूपाणि, शतशः, अथ, सहस्रशः	हे अर्जुन ! मेरे[2] सैकड़ों[3] और[4] हज़ारों[5] रूपों[6] को तू देख[1]	नाना-विधानि, दिव्यानि, नाना-वर्ण-आकृतीनि, च[6]	अनेक प्रकार के दिव्य[2] तथा अनेक वर्ण और[6] आकृति-वाले (रूपों) को

अन्वयार्थ—श्रीभगवान् बोले—हे अर्जुन ! तू मेरे अनेक प्रकार के दिव्य, नाना वर्ण और अकृतियोंवाले सैकड़ों तथा हज़ारों रूपों को देख ॥ ५ ॥ ❀

व्याख्या—अर्जुन की प्रार्थना के उत्तर में भगवान् ने ऐसे कहा कि हे पृथा-पुत्र अर्जुन ! तू मेरे इन सैकड़ों और हज़ारों रूपों को देख कि जो अनेक प्रकार से दिव्य अर्थात् अलौकिक वा अद्भुत हैं, जो नाना प्रकार के नील, पीत आदि रङ्गवाले और विलक्षण-विलक्षण आकृति-वाले हैं ॥ ५ ॥

सम्बन्ध—इस विश्व-रूप में अपने उक्त हज़ारों रूपों को स्पष्ट-रूप से वर्णन करते हुए भगवान् कहते हैं—

अथवा युक्ति किया जा चुका है ; अब उस सामर्थ्य से ही विश्व-रूप दिखलाना है, इस कारण यहाँ योगेश्वर (योगों के ईश्वर) संबोधन का प्रयोग सहेतुक है (श्रीतिलक महाराज)।

❀ श्रीभगवान् यहाँ अर्जुन को विराट् रूप का दर्शन करायेंगे। विराट् रूप का दर्शन यह है कि यह सारा विश्व उस विश्वपति का शरीर है, इसीसे सारे भूत निकलते रहते हैं और इसी में लीन होते रहते हैं, सारी घटनायें इसी शरीर में हो रही हैं। और जो कुछ भी जड़-चेतन है, इसी शरीर में है और शरीर-रूप है। जिस तरह हमारा शरीर जीवात्मा से जीवन्त-जाग्रत है, इसी तरह यह विश्व-रूपी शरीर उस परम आत्मा से जीवन्त-जाग्रत है : इसीलिये विराट् को पुरुष कहा है। विराट् पुरुष का वर्णन ऋग्वेद (१०.९०) और यजुर्वेद ३१ में है। तदनुसार ही यहाँ गीता में है। (पं० राजाराम)

पश्यादित्यान्वसून् रुद्रानश्विनौ मरुतस्तथा ।
बहून्यदृष्टपूर्वाणि पश्याश्चर्याणि भारत ॥ ६ ॥

पश्य, आदित्यान्, वसून्, रुद्रान्, अश्विनौ, मरुतः, तथा	आदित्यों, वसुओं, रुद्रों, अश्विनीकुमारों, तथा मरुतों को तू देख	बहूनि, अदृष्टपूर्वाणि, पश्य, आश्चर्याणि, भारत	बहुत-से पूर्व न देखे हुए आश्चर्य-रूपों को तू हे अर्जुन! देख

अन्वयार्थ—हे अर्जुन ! आदित्यों,※ वसुओं, रुद्रों, अश्विनीकुमारों और मरुतों को तू देख। और बहुत-से पूर्व न देखे हुए आश्चर्य-रूपों को तू देख ॥ ६ ॥

व्याख्या—हे भरत की सन्तान (अर्जुन)! १२ आदित्यों, ८ वसुओं, ११ रुद्रों, २ अश्विनीकुमारों, और ४६ मरुतों (मरुद्गणों) को तू देख, और मेरे इस विश्व-रूप में अन्य बहुत-से आश्चर्य (अद्भुत) रूपों को भी तू देख कि जो पहले इस मनुष्य-लोक में तूने कदापि नहीं देखे ॥ ६ ॥

※ "नारायणीय धर्म में नारद को जो विश्व-रूप दिखलाया गया है, उसमें यह विशेष वर्णन है कि बाईं ओर बारह आदित्य, सन्मुख आठ वसु, दाहिनी ओर ग्यारह रुद्र और पिछली ओर दो अश्विनीकुमार थे (शां० ३३६. ५०—५२)। परन्तु कोई आवश्यकता नहीं कि यही वर्णन सर्वत्र विवक्षित हो (देखो म० भा० उ० १३०)। आदित्य, वसु, रुद्र, अश्विनीकुमार और मरुद्गण, ये वैदिक देवता हैं और देवताओं के चातुर्वर्ण्य का भेद महाभारत (शां० २०८. २३—२४) में यों बतलाया है कि आदित्य क्षत्रिय हैं, मरुद्गण वैश्य हैं, और अश्विनीकुमार शूद्र हैं। (देखो शतपथ ब्राह्मण १४. ४. २. २३)।" (श्रीतिलक महाराज)

सम्बन्ध—केवल इतना ही नहीं, बल्कि स्थावर-जङ्गम-रूप समस्त जगत् को, भगवान् अपनी विश्व-रूपी देह में अब दर्शाते हैं—

इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम् ।
मम देहे गुडाकेश यच्चान्यद् द्रष्टुमिच्छसि ॥ ७ ॥

इह, एक-स्थं, जगत्, कृत्स्नं, पश्य, अद्य, स-चर-अचरं	यहाँ एक जगह स्थित सारे जगत् को तू आज सहित चर-अचर के देख	मम, देहे, गुडाकेश=हे अर्जुन !	मेरी देह में
		यत्, च, अन्यत्, द्रष्टु, इच्छसि	और जो अन्य देखने को तू चाहता है

अन्वयार्थ—हे अर्जुन ! तू आज यहाँ मेरी देह में एक जगह स्थित चराचर के सहित सारे जगत् को तथा अन्य* जो देखना चाहता है, देख ॥ ७ ॥

व्याख्या—हे निद्रा को वश में करनेवाले वा घने बालोंवाले अर्जुन ! केवल आदित्य इत्यादि ही क्या बल्कि इस स्थावर-जङ्गम-रूप समस्त जगत् को तथा इससे अतिरिक्त अन्य जो कुछ भी तू देखना चाहता है, उस सारे को तू आज मेरी इस देह में एक जगह स्थित (अथवा मेरी देह में किसी एक नख के अग्र-मात्र-रूप अवयव वा भाग में स्थित) देख ॥ ७ ॥ †

---

* अन्य=जगत् का आश्रय, जगत् की अवस्था विशेष आदिक और जय-पराजय आदिक । (पं० राजाराम)

† अपने विचित्र ढंग से श्रीज्ञानदेवजी इस श्लोक की व्याख्या ऐसे करते हैं—"हे किरीटी ! इन मूर्तियों के रोम-मूलों में सृष्टि भरी है, सो देखो, मानो जैसे कल्पवृक्ष की जड़ में तृणांकुर फूटे हों । गवाक्ष में से आये हुए किरणों में परमाणु जैसे उड़ते हुए दिखाई देते हैं, वैसे ही अवयवों की संधियों में ब्रह्माण्ड घूम रहा है । इन एक-एक अवयवों के भागों में सम्पूर्ण विश्व विस्तृत हुआ है देखो । और यदि विश्व के भी परे देखने की मन में इच्छा हो,

सम्बन्ध—"मन्यसे यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुमिति प्रभो।" ऐसा प्रश्न जो अर्जुन ने पूर्व श्लोक ४ में किया था, उसके उत्तर में भगवान् अब जिन नेत्रों से यह विश्व-रूप देखा जा सकता है, उसे स्पष्ट करते हैं—

न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा।
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम् ॥८॥

न, तु, मां, शक्यसे, द्रष्टुं, अनेन, एव, स्व-चक्षुषा	परन्तु अपने इस नेत्र से ही तू मुझे देखने को समर्थ नहीं	दिव्यं, ददामि, ते, चक्षुः	दिव्य नेत्र तुझे मैं देता हूँ
		पश्य, मे, योगं-ऐश्वरं	मेरे ईश्वरीय योग को तू देख

अन्वयार्थ—परन्तु अपने इस ही नेत्र से तू मुझे देखने के समर्थ नहीं। (इसलिये) मैं तुझे दिव्य नेत्र देता हूँ। मेरे ईश्वरीय योग को तू देख ॥ ८ ॥

व्याख्या—परन्तु हे अर्जुन! तू मेरे इस विश्व-रूप को अपने इसी प्राकृत नेत्र अर्थात् चर्म-चक्षु से कदापि नहीं देख सकता। इसलिये मैं तुझे अब दिव्य-चक्षु* (अलौकिक नेत्र वा ज्ञान के प्रकाश से दमकती हुई दिव्य-दर्शन-शक्ति वा दिव्य-दृष्टि अथवा ज्ञानमय लोचन) देता हूँ। इस

तो भी कुछ न्यूनता नहीं है। तुम जो चाहो सो मेरी देह में देख सकते हो। इस प्रकार विश्वावतार करुणा-पूर्ण श्रीकृष्ण ने कहा।"

* "नेत्र से ही सभी इस विश्व और इसकी घटनाओं को देखते हैं; पर इस विश्व में विश्वपति को और घटनाओं में उसके हाथ को वे देखते हैं, जिनको उस विश्वपति के अनुग्रह से दिव्य-नेत्र मिला है। यह दिव्य-नेत्र विश्व-पति की भक्ति से भरा हुआ, ज्ञान से चमकता हुआ, शुद्ध मन है "मनोऽस्य दैवं चक्षुः। स वा एष एतेन दैवेन चक्षुषा मनसैतान् कामान् पश्यन्

दिव्य-चक्षु की सहायता से तू अब मेरे ऐश्वर (ईश्वरता-सूचक) योग को देख, अर्थात् जिस योग (युक्ति वा ऐश्वर्य-रूप शक्ति अथवा योग-सामर्थ्य) द्वारा मैं समस्त जगत् अपने शरीर में तुझे दर्शाऊँगा, उस मेरे ऐश्वर-योग को तू देख ॥ ८ ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार कहते हुए भगवान् का अर्जुन को अपना विराट्-रूप दर्शाना और अर्जुन का उसे देखकर विस्मित हो जाना इत्यादि, सारे वृत्तान्त को सञ्जय अब धृतराष्ट्र से १४ श्लोक तक वर्णन करता है—

सञ्जय उवाच—

एवमुक्त्वा ततो राजन् महायोगेश्वरो हरिः ।
दर्शयामास पार्थाय परमं रूपमैश्वरम् ॥ ९ ॥

एवं, उक्त्वा, ततः, राजन्, महा-योग-ईश्वरः, हरिः	इस प्रकार कहकर हे राजन् ! फिर महायोगेश्वर हरि ने	दर्शयामास, पार्थाय, परमं, रूपं, ऐश्वरं	अर्जुन को परम ईश्वरीय रूप दर्शाया

अन्वयार्थ—सञ्जय ने कहा—हे राजा धृतराष्ट्र ! इतना कहकर महायोगेश्वर हरि ने तब अर्जुन को अपना परम ईश्वरीय रूप दर्शाया ॥ ९ ॥

व्याख्या—सञ्जय बोला—हे राजा धृतराष्ट्रजी ! समस्त अतिश्रेष्ठ योगियों के ईश्वर (वा समस्त महायोगों के ईश्वर) और अपने भक्तों के संकटों को हरण करनेवाले हरि-रूप भगवान् कृष्णचन्द्र जो हैं, उन्होंने

रमते ॥ य एते ब्रह्मलोके ।"=मन इसका दैवी नेत्र है, वह इस दैवी नेत्र मन से उन कामनाओं को देखता हुआ आनन्द मनाता है, जो यह ब्रह्मलोक में है । (छां० ८. १२. ५-६) । यह दिव्य-नेत्र अर्जुन की तरह उसी को मिलता है, जिसको भगवान् देते हैं । (र० राजाराम)

जब अर्जुन को ऐसा कहा कि "मैं तुझे अब दिव्य-चक्षु देता हूँ कि जिससे तू मेरे विश्व-रूप को ठीक देख सके," तब उन्होंने अपना परम ईश्वरीय-रूप अर्थात् सर्वोत्तम विश्व-रूप अर्जुन को दिखलाया ॥ ९ ॥

सम्बन्ध—जिन-जिन विशेषणों से वह विश्व-रूप युक्त था, उन-उनको सञ्जय अब निरूपण करता है—

अनेकवक्त्रनयनमनेकाद्भुतदर्शनम् ।
अनेकदिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम् ॥ १० ॥

अनेकं-वक्त्र-नयनं	=अनेक मुख-नेत्रोंवाला	अनेकं-दिव्यं-आभरणं	अनेक दिव्य भूषणोंवाला
अनेकं-अद्भुतं-दर्शनं	अनेक अद्भुत दर्शनोंवाला	दिव्यं-अनेक-उद्यंत-आयुधं	अनेक दिव्य शस्त्रों को उठाये हुए

अन्वयार्थ—अनेक मुख-नेत्रोंवाला, अनेक अद्भुत दर्शनोंवाला, अनेक दिव्य भूषणोंवाला और अनेक दिव्य शस्त्रों को उठाये हुए (वह रूप था) ॥ १० ॥

व्याख्या—हे राजन् ! भगवान् कृष्ण ने अपना ऐसा विश्व-रूप दर्शाया कि उसमें अनेक मुख और अनेक नेत्र थे, उसमें अगणित अद्भुत (विस्मय करानेवाले) दर्शन (दृश्य) दिखाई देते थे, वह रूप अगणित दिव्य (अलौकिक) भूषणों से शोभायमान था और असंख्यों दुष्टजनों के संहार करने के लिये अनेक तीक्ष्ण अस्त्र-शस्त्रों को वह धारण किये हुए था ॥ १० ॥

और—

दिव्यमाल्याम्बरधरं दिव्यगन्धानुलेपनम् ।
सर्वाश्चर्यमयं देवमनन्तं विश्वतोमुखम् ॥ ११ ॥

दिव्य-माल्य-अम्बर-धरं	दिव्य माला-वस्त्र धारण किये हुए	सर्व-आश्चर्य-मयं	सर्व प्रकार से आश्चर्यमय
दिव्य-गन्ध-अनुलेपनं	दिव्य गन्ध लगाये हुए	देवं, अनन्तं, विश्वतः-मुखं	प्रकाश-स्वरूप, अनन्त स्वरूप, और सर्व-ओर मुखवाले

अन्वयार्थ—दिव्य माला-वस्त्र धारण किये हुए, दिव्य गन्ध लेपन किये हुए, सर्व प्रकार से आश्चर्य-स्वरूप, प्रकाश-स्वरूप, अनन्त-स्वरूप और सर्व ओर मुखवाला (वह रूप था) ॥ ११ ॥

व्याख्या—और हे राजन्! वह रूप ऐसा था कि वह पुष्पमय तथा रत्नमय अलौकिक माला और पीताम्बर आदिक दिव्य वस्त्र पहने हुए था; अपने पर कपूर चन्दन आदिक दिव्य गन्ध (नाना अलौकिक सुगन्धियें) लेपन किये हुए था; बल, वीर्य, दृष्टि, शक्ति, रूप, गुण इत्यादि सर्व प्रकार से आश्चर्यमय था; प्रकाश-स्वरूप (वा देवता-स्वरूप) था, अनन्त-स्वरूप अर्थात् देश काल वस्तु से अपरिच्छिन्न था; और सर्व ओर मुखवाला था ॥ ११ ॥

सम्बन्ध—(१) अब उस विश्व-रूप के प्रकाश की उपमा सञ्जय वर्णन करता है—

अथवा (२) उक्त श्लोक में उसने जो उसे देव-रूप अर्थात् प्रकाश-स्वरूप इत्यादि विशेषण से वर्णन किया था, अब सञ्जय उस विशेषण की उपमा विस्तारपूर्वक वर्णन करता है—

दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता ।
यदि भाः सदृशी सा स्याद्भासस्तस्य महात्मनः ॥ १२ ॥

दिवि, सूर्य-सहस्रस्य, भवेत्, युगपत्, उत्थिता, यदि, भाः	आकाश में हज़ार सूर्यों की यदि एकदम (एक साथ) प्रभा उठी हुई हो	सदृशी, सा, स्यात् भासः, तस्य, महात्मनः	वह उस महात्मा की प्रभा के सदृश (शायद) हो

अन्वयार्थ—आकाश में यदि हज़ार सूर्यों की प्रभा एकसाथ उठी हुई हो, तो वह उस महात्मा की प्रभा के सदृश शायद हो ॥ १२ ॥

व्याख्या—हे राजा धृतराष्ट्र ! उस विश्व-रूप के प्रकाश की प्रभा वा कान्ति ऐसी थी कि यदि एक हज़ार सूर्यों की कान्ति आकाश में एकदम (एक साथ ही) उदय हुई हो, तो भी वह सब मिली हुई कान्ति भगवान् के उस विश्व-रूप की कान्ति के सदृश शायद ही हो, नहीं तो उस कान्ति की कोई उपमा बनती ही नहीं ॥ १२ ॥

सम्बन्ध—अपनी ओर से भगवान् के विश्व-रूप की उपमा वर्णन करने के बाद अब सञ्जय उस रूप को जैसा अर्जुन ने देखा, वैसा राजा के आगे कथन करता है—

तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा ।
अपश्यद्देवदेवस्य शरीरे पाण्डवस्तदा ॥ १३ ॥

तत्र, एक-स्थं, जगत्, कृत्स्नं	वहाँ एक जगह स्थित समस्त जगत् को	अपश्यत्, देव-देवस्य, शरीरे, पाण्डवः, तदा	तब अर्जुन ने देवों के देव के शरीर में देखा
प्रविभक्तं, अनेक-धा	अनेक प्रकार से विभक्त हुए		

अन्वयार्थ—तब अर्जुन ने वहाँ देवों के देव के (इस) शरीर में अनेक प्रकार से विभक्त हुए समस्त जगत् को एक जगह स्थित देखा ॥ १३ ॥

व्याख्या—हे राजा धृतराष्ट्र! जब भगवान् कृष्णचन्द्र ने अर्जुन को दिव्य-चक्षु देकर कहा कि अब तू मेरे विश्व-रूप को देख, तब अर्जुन ने इन्द्रादि सर्व देवताओं में पूज्य भगवान् के इस शरीर में अनेक प्रकार से बटे हुए जगत् को सारा-का-सारा (उस शरीर के) एक भाग में स्थित वा एक जगह स्थित हुए देखा ॥ १३ ॥*

सम्बन्ध—इस विश्व-रूप को देखकर जो अर्जुन की दशा हुई, उसे सञ्जय राजा के आगे वर्णन करता है—

ततः स विस्मयाविष्टो हृष्टरोमा धनञ्जयः ।
प्रणम्य शिरसा देवं कृताञ्जलिरभाषत ॥ १४ ॥

ततः, सः, विस्मय-आविष्टः, हृष्ट-रोमा, धनञ्जयः	तब वह आश्चर्य-युक्त हुए तथा खिले हुए रोमों-वाले अर्जुन	प्रणम्य, शिरसा, देवं	शिर से देव को प्रणाम करके
		कृत-अंञ्जलिः, अभाषत	हाथ जोड़ यह बोला

अन्वयार्थ—तब वह आश्चर्य-युक्त और खिले हुए रोमोंवाला अर्जुन शिर से देव को प्रणाम करके हाथ जोड़ (ऐसे) बोला ॥ १४ ॥

---

* १० से १३ तक श्लोकों में सञ्जय ने दिव्य-दृष्टि से जो विश्व-रूप देखा और राजा धृतराष्ट्र के आगे निरूपण किया, उसका वर्णन वेदों में भी भिन्न-भिन्न स्थान पर ऐसे है—"सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपाद इत्यादिः ।" =हज़ारों उसके शिर हैं, हज़ारों उस पुरुष के नेत्र हैं, हज़ारों उसके पाँव हैं, इत्यादि । "पादोऽस्य विश्वभूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि ।" (यजु० ३१. ३)। "विश्वतश्चक्षुरुतविश्वतोमुखः ।" (यजु० १०. १६) "तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः ।" (अथर्व० ७.३.६)।

व्याख्या—हे राजा धृतराष्ट्र ! अर्जुन ने जब भगवान् का वह विश्व-रूप देखा, तब वह व्याकुलता (हैरानी वा आश्चर्य) से भर गया, उसके रोमाञ्च (रोंगटे खड़े) हो गये । इस प्रकार आश्चर्य-युक्त और रोमाञ्च-युक्त होकर उसने इस विश्व-रूप के धारण करनेवाले भगवान् को शिर से प्रणाम किया और उनके आगे हाथ जोड़कर ऐसे प्रार्थना की ॥ १४ ॥

सम्बन्ध—विस्मित अर्जुन भगवान् से इस रूप के विषय में जो कुछ बोला, उसे सञ्जय अब धृतराष्ट्र को सुनाता है—

अर्जुन उवाच—

पश्यामि देवांस्तव देव देहे सर्वांस्तथा भूतविशेषसंघान् । ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थमृषींश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान् ॥१५॥

पश्यामि, देवान्, तव, देव, देहे, सर्वान्, तथा, भूत-विशेष-संघान्	हे देव ! तेरी (आपकी) देह में मैं सारे देवताओं को और भूत विशेष के समूहों को देखता हूँ	ब्रह्माणं, ईशं, कमल-आसन-स्थं	कमल के आसन पर स्थित नियन्ता ब्रह्मा को
		ऋषीन्, चं, सर्वान्, उरगान्, च, दिव्यान्	सारे ऋषियों और अलौकिक सर्पों को

अन्वयार्थ—अर्जुन बोला—हे देव ! आपकी देह में सारे देवताओं, भूत विशेष के समूहों, कमल के आसन पर स्थित नियन्ता ब्रह्मा, सारे ऋषियों और दिव्य सर्पों को मैं देखता हूँ ॥ १५ ॥

व्याख्या—हे राजन् ! जब विश्व-रूप को देखकर अर्जुन विस्मित

हो गया, तो भगवान् से हाथ जोड़कर यों बोला कि हे विश्व-रूप के धारण करनेवाले देव ! आपके इस विश्व-रूपी देह में आदित्य, वसु, रुद्र आदि सर्व देवताओं को, स्थावर-जङ्गम-रूप अनेक प्रकार के भूतों के समुदायों को, कमल-आसन पर स्थित और सबके नियन्ता (स्वामी) चतुर्मुख ब्रह्मा को, वसिष्ठ, नारद और सनक आदि सारे ऋषियों को, और पेट के बल चलनेवाले वासुकि आदि दिव्य सर्पों (नागों) को भी मैं देखता हूँ ॥ १५ ॥

और—

अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं पश्यामि त्वां सर्वतोऽनन्त-रूपम् । नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिं पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप ॥ १६ ॥

अनेक, बाहु, उदर, वक्त्र, नेत्रं, पश्यामि, त्वां, सर्वतः, अनन्त-रूपं	तुझको (आपको) अनेक बाहु, उदर, मुख, नेत्रवाला और सर्व ओर से अनन्त रूपवाला देखता हूँ	न, अन्तं, न, मध्यं, न, पुनः, तव, आदिं, पश्यामि, विश्वेश्वरं, विश्व-रूप	आपके न अन्त, न मध्य और न आदि हे विश्व के ईश्वर ! हे विश्व-रूप ! मैं देखता हूँ

अन्वयार्थ—आपको मैं अनेक बाहु, उदर, मुख, नेत्रवाला और सर्व ओर से अनन्त-रूपवाला देखता हूँ । हे विश्वेश्वर ! हे विश्व-रूप ! मैं न आपके अन्त को, न मध्य को, और न आदि को देखता हूँ ॥ १६ ॥

व्याख्या—हे विश्व के ईश्वर ! और हे विश्व-रूप भगवान् ! मैं आपके रूप को ऐसा देखता हूँ कि उसमें अनेक बाहु हैं, अनेक उदर हैं, अनेक मुख हैं, अनेक नेत्र हैं और उसमें सर्व ओर से अनन्त रूप हैं । और

उसके अन्त, मध्य और आदि का कोई पता नहीं लगता। अर्थात् मैं सर्व प्रकार से वह विश्व-रूप अनन्त और अनादि देख रहा हूँ ॥ १६ ॥

सम्बन्ध—और जिस प्रकार से वह विश्व-रूप अर्जुन को दीखता है, उसे वह स्वयं भगवान् के आगे वर्णन करता है—

किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च तेजोराशिं सर्वतो दीप्तिमन्तम् । पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं समन्ता-द्दीप्तानलार्कद्युतिमप्रमेयम् ॥ १७ ॥

किरीटिनं, गदिनं, चक्रिणं, च	किरीटि, गदा, और चक्रवाला	पश्यामि, त्वां, दुर्-निरीक्ष्यं, समन्तात्	आपको कठिनता से देखा जानेवाला मैं सब ओर से देखता हूँ
तेजः-राशिं, सर्वतः, दीप्ति-मन्तं	तेज का पुंज रूप और सर्व ओर से चमक-वाला	दीप्त-अनल-अर्क-द्युतिं, अप्रमेयं	प्रज्वलित अग्नि-रूप सूर्य की चमकवाले और अप्रमेय को

अन्वयार्थ—मैं आपको किरीटि, गदा और चक्रवाला, तेज का पुञ्ज-रूप, सर्व ओर से प्रकाशवाला, सर्व ओर से प्रज्वलित अग्नि-सूर्य की चमकवाला, कठिनता से देखा जानेवाला, और अप्रमेय देखता हूँ ॥ १७ ॥

व्याख्या—हे भगवन् ! आपके विश्व-रूप को मैं ऐसा देखता हूँ कि आप शिर पर मुकुट और हाथ में गदा और चक्र धारण किये हुए हैं, तेज का मानो आप एक पुञ्ज (भारी समूह) रूप हैं, सर्व ओर से प्रकाशमान, अर्थात् अपनी प्रभा चारों ओर फैलाये हुए हैं, चारों ओर से दमकती हुई अग्नि और सूर्य (वा प्रज्वलित अग्नि-रूप सूर्य) के समान आप दीप्तमान (प्रकाशमान वा उनकी कान्तिवाले) हैं, इसीलिये अति कठिनता से आप देखे जानेवाले हैं ; अर्थात् इसीलिये आपके इस भारी

प्रकाशमान विश्व-रूप का देखना विना दिव्य-चक्षु की सहायता के अत्यन्त कठिन वा असम्भव-सा है, और यह ठीक निश्चय नहीं किया जा सकता कि आपका रूप इसके समान है या उसके, क्योंकि आपके रूप के समान कोई प्रमाण दिखाई नहीं देता ॥ १७ ॥

सम्बन्ध—इस विश्व-रूप के दर्शन से अर्जुन का जो भगवान् के विषय में निश्चय हुआ है, उसे अब वह वर्णन करता है—

त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् । त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे ॥ १८ ॥

त्वं, अक्षरं, परमं, वेदितव्यं	आप परम अक्षर जानने-योग्य हो	त्वं, अव्ययः, शाश्वत - धर्म, गोप्ता	आप अव्यय, शाश्वत धर्म के रक्षक हो
त्वं, अस्य, विश्वस्य, परं, निधानं	आप इस विश्व के परम निधान हो	सनातनः, त्वं, पुरुषः, मतः, मे	आप सनातन पुरुष हो, ऐसा मेरा मत है

अन्वयार्थ—आप जानने-योग्य परम अक्षर हो, आप इस विश्व के परम निधान हो, आप अव्यय हो, शाश्वत धर्म के रक्षक हो, और सनातन पुरुष हो, ऐसा मेरा मत है ॥ १८ ॥

व्याख्या—हे भगवन् ! आपके इस विश्व-रूप को देखकर मेरा यह निश्चय हो गया है (या मैं अब ऐसा निश्चय करता हूँ) कि आप मुमुक्षुओं द्वारा जानने-योग्य परम अक्षर हो ; अथवा आप ही "एतद्वैतदक्षरं गार्गि" इस श्रुति के अनुसार अक्षर अर्थात् अविनाशी हो, और "अव्यक्तात्पुरुषः परः" इस श्रुति के अनुसार आप ही सबसे परे अर्थात्

परम स्वरूप हो, और इसी कारण से आप वेदान्त-शास्त्र के श्रवण मनन आदि द्वारा मुमुक्षु पुरुषों से जानने-योग्य हो ; आप इस विश्व के परम निधान (परम आश्रय वा भाण्डार) हो, अर्थात् आप इस कल्पित प्रपञ्च का अधिष्ठान-रूप वा अन्तिम आधार हो । इसी कारण आप अव्यय (नित्य वा निर्विकार) हो । वेद से प्रतिपादित होने से जो शाश्वत-रूप (नित्य वा अनादि-काल से) धर्म है, उसके भी आप रक्षक हो, और आप ही वास्तव में सनातन पुरुष हो ॥ १८ ॥

और—

अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्यमनन्तबाहुं शशिसूर्य-नेत्रम् । पश्यामि त्वां दीप्तहुताशवक्त्रं स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम् ॥ १९ ॥

अनादि-मध्य-अन्तं	आदि, मध्य और अन्त से रहित	पश्यामि, त्वां, दीप्त-हुताश-वक्त्रं	मैं तुझको (आपको) जलती हुई अग्नि के मुखवाला देखता हूँ
अनन्त-वीर्यं, अनन्त-बाहुं	अनन्त शक्ति और अनन्त भुजावाला	स्व-तेजसा, विश्वं, इदं, तपन्तं	अपने तेज से इस विश्व को तपाते हुए
शशि-सूर्य-नेत्रं	=चन्द्र और सूर्य-रूप नेत्रवाला		

अन्वयार्थ—मैं आपको आदि, मध्य और अन्त से रहित, अनन्त शक्ति और अनन्त भुजावाला, चन्द्र-सूर्य रूप नेत्रवाला, प्रज्वलित अग्नि के मुखवाला, और अपने तेज से इस विश्व को तपाते हुए देखता हूँ ॥ १९ ॥

व्याख्या—और हे भगवन् ! मैं आपको ऐसे देखता हूँ, अर्थात् मुझे आप अब ऐसे दिखाई देते हैं कि आप आदि, मध्य और अन्त से रहित

हैं, अर्थात् उत्पत्ति, स्थिति और विनाश इन तीनों से परे हैं। आपका वल और भुजायें अनन्त अर्थात् अपरिमित हैं। चन्द्र और सूर्य, दोनों आपके नेत्र हैं। प्रज्वलित अग्नि-रूप आपका मुख* है, अथवा आपके मुखों में जलती हुई अग्नि है। और निज तेज से आप इस सारे विश्व को तपा रहे हैं॥ १६॥

और—

द्यावापृथिव्योरिदमन्तरं हि व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्च सर्वाः। दृष्ट्वाद्भुतं रूपमुग्रं तवेदं लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन्॥ २०॥

द्यावा-पृथिव्योः, इदं, अन्तरं, हि	स्वर्ग (आकाश) और पृथिवीका निस्सन्देह यह मध्य भाग	दृष्ट्वा, अद्भुतं, रूपं, उग्रं, तव, इदं	तेरे (आपके) इस अद्भुत उग्र रूप को देखकर
व्याप्तं, त्वया, एकेन	तुझ (आप) एक से व्याप्त है	लोक-त्रयं, प्रव्यथितं, महात्मन्	हे महात्मन्! तीनों लोक काँप रहे हैं
दिशः, च, सर्वाः	=और सारी दिशायें भी		

अन्वयार्थ—हे महात्मन्! स्वर्ग (आकाश) और पृथिवी का यह मध्य भाग और सारी दिशाएँ आप एक से ही व्याप्त हैं। आपके इस अद्भुत, उग्र रूप को देखकर तीनों लोक काँप रहे हैं॥ २०॥

व्याख्या—हे महात्मन्! और कैसे मैं आपको देख रहा हूँ? सुनिए। स्वर्ग से लेकर पृथिवी तक, अथवा आकाश से पृथिवी तक जो अन्तरिक्ष

---

* "अग्निं यः वक्त्र अस्य"=अग्नि को जिसने मुख बनाया है। (अथर्व)

है, अथवा परलोक से लोक तक जो इन दोनों के बीच में अवकाश वा फ़ासला है, वह सब-का-सब और ये सारी दिशाएँ अकेले आपसे ही व्याप्त (भरपूर) हैं। और हे भगवन् ! आपके इस अद्भुत (आश्चर्य-जनक) और उग्र (भयंकर, क्रूर, घोर) विश्व-रूप को देखकर तीनों लोक काँप रहे हैं ॥ २० ॥

और—

अमी हि त्वां ❀ सुरसंघा विशन्ति केचिद्भीताः
प्राञ्जलयो गृणन्ति । स्वस्तीत्युक्त्वा महर्षिसिद्धसंघाः
स्तुवन्ति त्वां स्तुतिभिः पुष्कलाभिः ॥ २१ ॥

अमी, हि, त्वाँ, सुर-संघाः, विशन्ति	ये देवताओं के समूह निस्सन्देह तुझ (आप) में प्रवेश कर रहे हैं	स्वस्ति, इति, उक्त्वा	कल्याण हो, ऐसा कहकर
		महर्षि-सिद्ध-संघाः	=महर्षि और सिद्धों के समूह
केचित्, भीताः, प्राञ्जलयः, गृणन्ति	कई एक भयभीत हुए हाथ जोड़े स्तुति कर रहे हैं	स्तुवन्ति, त्वाँ, स्तुतिभिः, पुष्कलाभिः	बड़ी-बड़ी स्तुतियों से तेरी (आपकी) स्तुति कर रहे हैं

अन्वयार्थ—ये देवताओं के समूह आपमें ही प्रवेश कर रहे हैं। कई एक भयभीत हुए हाथ जोड़े (आपकी) स्तुति कर रहे हैं। कल्याण हो, ऐसा

❀ एक-दो प्रतियों में इस श्लोक के पूर्वार्द्ध में 'त्वां' के स्थान पर 'त्वा' शब्द दिया है और ऐसी दशा में "त्वा सुरसंघा" का पदच्छेद "त्वा असुर संघा" करके ऐसे अर्थ किये जा सकते हैं—"असुरों का अंश-रूप होने से असुर-रूप दुर्योधन आदि असुरगण दुष्ट अदृष्टों से प्रेरित हुए मरने के लिये आपके मुख में प्रवेश कर रहे हैं।"

कहकर महर्षियों और सिद्धों के समूह बड़ी-बड़ी स्तुतियों से आपकी स्तुति कर रहे हैं ॥ २१ ॥

व्याख्या—हे भगवन् ! और क्या मैं देख रहा हूँ कि ये देवताओं के समूह, अर्थात् पृथिवी का भार उतारने वा हलका करने के लिये, अथवा दुष्ट जनों के नाश करने के लिये ये जो मनुष्यों वा योधाओं के रूप को धारण किये हुए वसु आदित्यादि नाना देवता हैं, ये सब-के-सब ठीक आपमें ही प्रवेश कर रहे हैं। कई एक भयभीत हुए अर्थात् भागने में भी असमर्थ हुए अपने दोनों हाथ जोड़े दूर से ही आपके गुण गान कर रहे हैं। और नारद आदि महर्षि तथा कपिल आदि सिद्धों के समूह "जगत् का कल्याण हो" ऐसा कहकर बड़ी-बड़ी स्तुति-भरे स्तोत्रों से, अर्थात् परिपूर्ण अर्थ के बोधक तथा गुणों की उत्कृष्टता को प्रतिपादन करनेवाले वचनों से आपकी स्तुति कर रहे हैं ॥ २१ ॥

और—

रुद्रादित्या वसवो ये च साध्या विश्वेऽश्विनौ मरुतश्चोष्मपाश्च । गन्धर्वयक्षासुरसिद्धसंघा वीक्षन्ते त्वां विस्मिताश्चैव सर्वे ॥ २२ ॥

रुद्र[1]-आदित्याः[2], वसवः[3], ये[5], च[4], साध्याः[6]	रुद्र[1], आदित्य[2], वसु[3]-देवता और[4] जो[5] साध्य[6] हैं	गन्धर्व[1]-यक्ष[2]-असुर[3]-सिद्ध[4]-संघाः[5]	गन्धर्वों[1], यक्षों[2], असुरों[3] और सिद्धों[4] के समूह[5]
विश्वे[2], अश्विनौ[3], मरुतः[4], च[1], उष्मपाः[6], च[5]	और[1] विश्वदेव[2], दोनों अश्विनीकुमार[3], मरुत्[4] और[5] उष्मपा[6]	वीक्षन्ते[6], त्वां[2], विस्मिताः[5], च[1], एव[4], सर्वे[3]	और[1] तुझे[2] (आपको) सब[3] ही[4] विस्मित[5] हुए देख[6] रहे हैं

अन्वयार्थ—रुद्र*, आदित्य, वसु, साध्य, विश्वदेव, दोनों अश्विनीकुमार, मरुत्, उष्मपा†, गन्धर्व, यक्ष, असुर और सिद्धों के समूह ; ये सारे-के-सारे विस्मित हुए आपको देख रहे हैं ॥ २२ ॥

व्याख्या—हे भगवन् ! और मैं यह देख रहा हूँ कि ग्यारह रुद्र देवता, बारह आदित्य देवता, आठ वसु देवता, साध्य नाम के उपदेवता, दस विश्वदेव, दोनों अश्विनीकुमार, उंचास मरुद्गण (वायु देवता), गरम भोजन करनेवाले उष्मपा नाम के पितर, हाहा, हूहू आदि (गानेवाले) गन्धर्व, कुवेर आदि यक्ष, विरोचन आदि असुर, और कपिलदेव आदि सिद्ध, इन सबके समूह (जो पृथिवी के उद्धार के लिये अवतार धारण किये हुए हैं), सब-के-सब चकित हुए आपको देख रहे हैं ॥ २२ ॥

और—

रूपं महत्ते बहुवक्त्रनेत्रं महाबाहो बहुबाहूरुपादम् । बहूदरं बहुदंष्ट्राकरालं दृष्ट्वा लोकाः प्रव्यथितास्तथा-ऽहम् ॥ २३ ॥

---

* रुद्र आदि देवता वैदिक हैं । बृहदारण्यकोपनिषद् (३. ९. १–९) में इनकी संख्या और नाम ऐसे दिये हुए हैं—"वस्तुतः तैंतीस देवता हैं, शेष इनकी ही विभूतियाँ हैं । तैंतीस देवता में आठ वसु (अग्नि, पृथिवी, वायु, अन्तरिक्ष, आदित्य, द्यौ, चन्द्रमा और नक्षत्र) हैं ; ग्यारह रुद्र (पाँच कर्मेन्द्रिय, पाँच ज्ञानेन्द्रिय और ग्यारहवाँ मन) है ; बारह आदित्य (वर्ष के बारह मास) हैं, एक इन्द्र और एक प्रजापति हैं । 'वसुः सत्यः क्रतुर्दक्षः कालः कामो धृतिः कुरुः । पुरूरवामाद्रवश्च विश्वेदेवाः प्रकीर्त्तिताः,' ये दस विश्वदेव हैं ।"

† श्राद्ध में पितरों को जो अन्न अर्पण किया जाता है, उसे वे (पितर लोग)

रूपं, महत्, ते=तेरा (आपका) बड़ा रूप

बहु-वक्त्र-नेत्रं=बहुत मुख नेत्रवाला

महा-बाहो=हे विशाल भुजावाले (भगवान् कृष्ण)

बहु-बाहु-उरु-पादम् = बहुत भुजा, जंघा और पाँवोंवाला

बहु-उदरं, बहु-दंष्ट्रा-करालं = बहुत उदर, बहुत दाढ़ों से विकराल (बहुत भयानक दाढ़ोंवाला)

दृष्ट्वा, लोकाः, प्रव्यथिताः, तथा, अहं = सारे लोक और मैं देखकर काँप रहे हैं

अन्वयार्थ—हे भगवान् कृष्ण ! बहुत मुख-नेत्रोंवाला, बहुत भुजा, जाँघ और पाँवोंवाला, बहुत उदर और बहुत भयानक दाढ़ोंवाला आपका बड़ा रूप देखकर मैं और ये सारे लोक काँप रहे हैं ॥ २३ ॥

व्याख्या—हे बड़ी भुजाओंवाले (विशाल बाहु) भगवान् कृष्णजी ! आपके इस बहुत भारी (विश्व) रूप को, जिसके मुख, नेत्र, भुजा, जंघा (रानें), पाँवँ, पेट और भयङ्कर दाढ़ें अगणित हैं, देखकर सारे लोक काँप रहे हैं और मैं स्वयं भी घबरा रहा वा काँप रहा हूँ ॥ २३ ॥

और—

नभःस्पृशं दीप्तमनेकवर्णं व्यात्ताननं दीप्तविशाल-नेत्रम्। दृष्ट्वा हि त्वां प्रव्यथितान्तरात्मा धृतिं न विन्दामि शमं च विष्णो ॥ २४ ॥

तभी तक ग्रहण करते हैं जब तक कि वह अन्न गरमागरम रहता है। इसी से ये पितर उष्मपा कहे जाते हैं (मनु० ३. २३७)। मनुस्मृति (३. १९६–२००) में इन्हीं पितरों को सोमसद्, अग्निष्वात्त, बर्हिषद्, सोमपा, हविष्मान्, आज्यपा और सुकालिन् ये सात प्रकार के गण बतलाये हैं।

नभःस्पृशं, दीप्तं, अनेकवर्णं	आकाश से स्पर्श किये हुए, चमकते हुए (प्रकाशमान), अनेक रंगोंवाला	दृष्ट्वा, हि, त्वां	तुझे (आपको) देखकर निस्सन्देह
		प्रव्यथित-अन्तरात्मा	व्याकुल चित्त हुआ
व्यात्त-आननं, दीप्त-विशाल-नेत्रम्	खुले हुए मुखोंवाला, और चमकते हुए विशाल नेत्रोंवाला	धृतिं, न, विन्दामि, शमं च, विष्णो	हे विष्णु! मैं धैर्य और शान्ति को नहीं पाता हूँ

अन्वयार्थ—हे विष्णु*! आपको आकाश से स्पर्श करते हुए, प्रकाशमान, अनेक रंगोंवाला, खुले हुए मुखोंवाला और चमकते हुए विशाल नेत्रोंवाला देखकर मैं व्याकुल-चित्त हुआ निस्सन्देह धैर्य और शान्ति को नहीं पाता हूँ. ॥ २४ ॥

व्याख्या—हे भगवान् विष्णु! भय का कारण यह है कि आपके इस विश्व-रूप को आकाश से स्पर्श करते हुए, अर्थात् जहाँ तक दृष्टि जाती है वहाँ तक ऊँचा फैला हुआ, महान् अग्नि के समान प्रज्वलित, अनेक भयानक रङ्गों से युक्त, मुँह फाड़े हुए (खुले मुखवाला), और धधकते हुए विशाल नेत्रोंवाला देखकर मेरा मन निस्सन्देह काँपता है और इसी घबराहट के कारण मुझे धैर्य और शान्ति प्राप्त नहीं होती ॥ २४ ॥

और—

दंष्ट्राकरालानि च ते मुखानि दृष्ट्वैव कालानल-सन्निभानि। दिशो न जाने न लभे च शर्म प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥२५॥

* भगवान् कृष्ण को यहाँ विष्णु कहकर अर्जुन ने भगवान् की सर्वव्याप-

दंष्ट्रा-करालानि, च, ते, मुखानि	और तेरे (आपके) दाढ़ों से विकराल मुखों को	दिशः, न, जाने	दिशा को मैं नहीं जानता हूँ
दृष्ट्वा, एव, काल-अनल-सन्निभानि	काल अग्नि के ही तुल्य (मुखों) को देखकर	न, लभे, च, शर्म	और न विश्रांति (पनाह) पाता हूँ
		प्रसीद, देव-ईश, जगत्-निवास	हे देवताओं के स्वामी! हे जगत्के निवासस्थान! (आप) प्रसन्न हूजिए

अन्वयार्थ—और आपके ठीक काल-अग्नि के तुल्य विकराल दाढ़ोंवाले मुखों को देखकर न मुझे दिशाएँ सूझती हैं और न विश्रान्ति पाता हूँ। हे देवेश! हे जगन्निवास! आप प्रसन्न हूजिए ॥ २५ ॥

व्याख्या—हे भगवन्! आपके ऐसे मुखों को देखकर, जिनमें ठीक प्रलय-काल की अग्नि के समान सबको निगल जाने (हड़प करने) वाली अति विकराल (भयानक) दाढ़ें हैं, मैं पूर्व आदि सारी दिशाओं को नितान्त भूल गया हूँ; अर्थात् मैं ऐसा अचेत हो गया हूँ कि मुझे अब यह नहीं सूझ रहा कि पूर्व दिशा किधर है, पश्चिम किधर है, पृथिवी कहाँ है तथा आकाश कहाँ है। और न मुझे खड़े होने को कोई स्थान (आश्रय, पनाह) मिल रहा है, अर्थात् विश्रान्ति वा सुख को इसी से नहीं पाता हूँ। इसलिये हे देवताओं के ईश्वर (शासक वा स्वामी)! और हे जगत् के निवास-स्थान (आधार, आश्रय वा पनाह)! आप मुझ पर प्रसन्न हूजिए, अर्थात् इस भयानक रूप को कृपया अन्तर्धान कीजिए,

---

कता दर्शायी है और साथ यह अर्थ बोधन किया है कि विष्णु भगवान् सब का पालन करनेवाले हैं, न कि भय देनेवाले, डरानेवाले वा व्यथा देनेवाले हैं, और यह कि हमारे खड़े होने को जगह नहीं रही, सो आप इस भयानक रूप को अन्तर्धान कीजिए।

जिससे मैं भय-रहित होकर आपके दर्शन-जन्य सुख को प्राप्त हो सकूँ ॥ २५ ॥

और—

अमी च त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्राः सर्वे सहैवाव-निपालसंघैः । भीष्मो द्रोणः सूतपुत्रस्तथासौ सहा-स्मदीयैरपि योधमुख्यैः ॥ २६ ॥

वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति दंष्ट्राकरालानि भयानकानि । केचिद्विलग्ना दशनान्तरेषु संदृश्यन्ते चूर्णितैरुत्तमाङ्गैः ॥ २७ ॥

अमी[3], च[1], त्वां[2], धृतराष्ट्रस्य[4], पुत्राः[5]	और[1] तुझे[2] (आप को) ये[3] सारे धृत[4]-राष्ट्र के पुत्र[5]	वक्त्राणि[2], ते[1], त्वरमाणाः[3], विशन्ति[4]	तेरे[1] (आपके) मुखों[2] में जल्दी[3] करते हुए प्रवेश[4] कर रहे (घुसे जा रहे) हैं
सर्वे[2], सह[1], एव[3], अवनि[4]-पाल-संघैः[5]	सहित[1] सारे[2] ही[3] (पृथिवी - पालक) राजाओं[4] के समूह[5] के	दंष्ट्रा[3], करालानि[1], भयानिकानि[2]	विकराल[1], भयानक[2] दाढ़ोंवाला[3]
भीष्मः[1], द्रोणः[2], सूत[5]-पुत्रः[6], तथा[3], असौ[4]	भीष्म[1], द्रोण[2] और[3] वह[4] सूत[5] का पुत्र[6]	केचित्[1], विल[4]-ग्नाः, दशन[2]-अन्तरेषु[3]	कई[1] एक दाँतों[2] के बीच[3] (अन्तराल) में लटकते[4] हुए
सह[1], अस्मदीयैः[2], अपि[3], योध[5]-मुख्यैः[4]	सहित[1] हमारे[2] भी[3] मुख्य[4] योधाओं[5] के	संदृश्यन्ते[4], चूर्णितैः[3], उत्तम[1], अङ्गैः[2]	उत्तम[1] अङ्गों[2] (शिरों) से चूर्ण[3] हुए दीख[4] रहे हैं

अन्वयार्थ—और ये धृतराष्ट्र के सारे पुत्र सब ही राजाओं के समूहों के साथ, तथा भीष्म, द्रोण और वह सूत का पुत्र हमारे भी मुख्य योधाओं के साथ (सब-के-सब) जल्दी करते हुए आपके विकराल और भयानक दाढ़ोंवाले मुखों में घुसे जाते हैं। कई एक (योधा) तो दाँतों के अन्तरालों में (अपने) चूर्ण हुए शिरों के साथ लटकते हुए दिखाई देते हैं ॥ २६, २७ ॥

व्याख्या—हे भगवन् ! केवल मैं ही नहीं बल्कि धृतराष्ट्र के ये दुर्योधन आदि सब पुत्र अपने साथी सभी राजाओं के समूहों समेत, तथा भीष्मपितामह, द्रोणाचार्य और वह प्रसिद्ध सूत-पुत्र (कर्ण, जो हमारा पक्का द्वेषी वा शत्रु प्रसिद्ध है), हमारे (पाण्डवों के) भी सम्बन्धी-रूप धृष्टद्युम्न आदि मुख्य योधाओं समेत, सब-के-सब, आपके विश्व-रूप को देखकर दिशाओं को भूल गये हैं। और दिशाओं की सूझ न रहने से वे न केवल व्याकुल-चित्त हुए काँप रहे हैं, बल्कि मारे भय और घबराहट के आपके अति क्रूर और विकराल दाँतों वा दाढ़ोंवाले मुखों में जल्दी-जल्दी घुसे जाते हैं। और उनमें से कई एक योधा तो दाँतों के बीच के छेदों (अन्तरालों) में चकनाचूर हुए शिरों के साथ लटकते हुए दिखाई देते हैं ; अर्थात् जैसे भोजन करते समय अथवा कर चुकने के बाद कुछ अन्न दाँतों में अटका हुआ वा लगा हुआ दिखाई देता है, वैसे ही वे दाँतों में अटके वा लगे हुए दिखाई दे रहे हैं ॥ २६, २७ ॥

सम्बन्ध—उक्त कथन को अर्जुन अब दृष्टान्त द्वारा पुनः दो श्लोकों से स्पष्ट करता है—

यथा नदीनां बहवोऽम्बुवेगाः समुद्रमेवाभिमुखा द्रवन्ति । तथा तवामी नरलोकवीरा विशन्ति वक्त्राण्यभितोज्वलन्ति* ॥ २८ ॥

---

* इस श्लोक के अन्त में कुछ प्रतियों में "अभितोज्वलन्ति" के स्थान पर

यथा, नदीनां, बहवः, अम्बुवेगाः	जैसे नदियों के बहुत-से जल के वेग (प्रवाह)	तथा, तव, अमी, नरलोक-वीराः	वैसे ये नरलोक के वीर तेरे (आपके)
समुद्रं, एव, अभिमुखाः, द्रवन्ति	समुद्र के ही अभिमुख (समुद्रकी ही ओर मुख किये) दौड़े जाते हैं	विशन्ति, वक्त्राणि, अभितः, ज्वलन्ति	सर्व ओर से प्रज्वलित(धधकतेहुए) मुखों में प्रवेश करते हैं

अन्वयार्थ—जैसे नदियों के बहुत-से जल-प्रवाह समुद्र की ओर मुख किये हुए दौड़े जाते हैं, वैसे ये नरलोक के वीर आपके सर्व ओर से प्रज्वलित मुखों में प्रवेश करते हैं ॥ २८ ॥

व्याख्या—हे भगवन् ! किस प्रकार आपके मुखों में ये लोग प्रवेश कर रहे हैं ? जैसे सब ओर से बहती हुई गङ्गा-यमुना आदि नदियों के बहुत-से जल-प्रवाह (जलों के वेग) समुद्र की ओर मुख किये दौड़े वा बहे जाते हैं (अथवा समुद्र की ओर दौड़ते हुए उसमें प्रवेश करते हैं), वैसे ही मनुष्य-लोक के ये सब भीष्म, द्रोण आदि शूरवीर (अपने नाश के लिये) आपके सर्व ओर से प्रज्वलित (धधकते हुए वा प्रकाशमान) मुखों में दौड़-दौड़कर प्रवेश कर रहे हैं ॥ २८ ॥

और—

यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतङ्गा विशन्ति नाशाय समृद्धवेगाः । तथैव नाशाय विशन्ति लोकास्तवापि वक्त्राणि समृद्धवेगाः ॥ २९ ॥

"अभिविज्वलन्ति" पाठ दिया हुआ है, पर उस पाठ से भी यही अभिप्राय निकल आता है ; इसीलिये वहाँ भी पाठक इसी अर्थ को ग्रहण कर लें ।

यथा[1], प्रदीप्तं[2], ज्वलनं[3],पतङ्गाः[4]	जैसे[1] जलती हुई[2] ज्वाला[3] में पतङ्गे[4]	तथा[1], एव[2], नाशाय[3], विशन्ति[5], लोकाः[4]	वैसे[1] ही[2] नाशार्थ[3] ये लोग[4] प्रवेश[5] करते हैं
विशन्ति[4], नाशाय[3], समृद्ध-वेगाः[1]	पूरे[1] वेगवाले होकर नाश[3] के लिये प्रवेश[4] करते हैं	तव[1], अपि[2], वक्त्राणि[3],समृद्ध-वेगाः[4]	तेरे[1] (आपके) भी[2] मुखोंमें[3] पूरे[4] वेगवाले[5] हुए (प्रवेश करते हैं)

अन्वयार्थ—जैसे पतङ्गे (अपने) नाश के लिये पूरे वेग से प्रज्वलित ज्वाला में प्रवेश करते हैं, वैसे ही ये लोग भी पूरे वेग के साथ आपके मुखों में नाशार्थ प्रवेश कर रहे हैं ॥ २९ ॥

व्याख्या—हे भगवन् ! और किस प्रकार वे आपके मुखों में प्रवेश करते हैं ? जैसे * प्रज्वलित ज्वाला (लाट, दीपक वा अग्नि) में पतङ्गे अपने नाश-निमित्त ही अति वेग के साथ प्रवेश करते हैं, वैसे ही ये दुर्योधन आदि सब शूरवीर भी अपने नाश के लिये बड़ी तेज़ी के साथ आपके विकराल मुखों में घुस रहे हैं । अथवा जैसे छोटे-छोटे पतङ्गे, जो अति शीघ्रगामी हैं, अर्थात् जो बड़ी तेज़ी से दौड़ते वा उड़ते फिरते हैं, अपने नाश के लिये प्रज्वलित अग्नि (दीपक) में घुस जाते हैं, वैसे ये योधा भी, जो तीव्र-गामी और शस्त्र-विद्या में चतुर प्रसिद्ध हैं, अपने नाशार्थ आपके भयानक मुखों में घुस रहे हैं ॥ २९ ॥

सम्बन्ध—भगवान् का विश्व-रूप और क्या-क्या करता दिखाई देता है, उसे अर्जुन अब कहता है—

---

* श्लोक २८ में तो अबुद्धिपूर्वक प्रवेश के विषय में नदी का दृष्टान्त दिया है, और श्लोक २९ में जान-बूझकर प्रवेश के विषय में पतङ्गों का दृष्टान्त है । इस प्रकार दोनों रीतियों से लोगों का भगवान् के मुखों में प्रवेश दर्शाया है ।

लेलिह्यसे ग्रसमानः समन्ताल्लोकान्समग्रान्वदनैर्ज्वलद्भिः । तेजोभिरापूर्य जगत्समग्रं भासस्तवोग्राः प्रतपन्ति विष्णो ॥ ३० ॥

लेलिह्यसे, ग्रसमानः, समन्तात्, लोकान्, समग्रान्, वदनैः, ज्वलद्भिः	सर्व ओर से प्रज्वलित मुखों से आप सारे लोगों को ग्रास करते हुए चाट रहे (स्वाद ले रहे) हो	तेजोभिः, आपूर्य, जगत्, समग्रं, भासः, तव, उग्राः, प्रतपन्ति, विष्णो	हे विष्णु ! तेरी (आपकी) उग्र कान्ति (प्रभा) समस्त जगत् को (अपने) तेजों से परिपूर्ण करके तपा रही है

अन्वयार्थ—हे विष्णु ! आप (अपने) प्रज्वलित मुखों से चारों ओर से समस्त लोगों को ग्रास करते जीभ से चाट रहे हो, और आपकी उग्र कान्ति (प्रभा) अपने तेज से सम्पूर्ण जगत् को परिपूर्ण करके तपा रही है ॥ ३० ॥

व्याख्या—हे विष्णु-स्वरूप भगवान् कृष्णजी ! इस प्रकार जो दुर्योधन आदि सब राजे चारों ओर से आपके प्रज्वलित मुखों में तीव्र वेग से प्रवेश कर रहे हैं, आप उन सबको चारों ओर से अपने प्रज्वलित मुखों द्वारा निगलकर जीभ से चाट रहे अर्थात् स्वाद ले रहे हो, अर्थात् जैसे कोई स्वादु वस्तु खाने के बाद मनुष्य अपनी जिह्वा से तालू और ओष्ठ आदि चाटता है, वैसे आप भी इन सब राजाओं को ग्रास कर जाने के बाद जिह्वा से तालू और ओष्ठ चाट रहे हो । और हे भगवन् ! आपकी तीव्र प्रभा (कान्ति, किरणें वा प्रकाश) अपने तेजों (चमत्कारों) से समस्त जगत् को परिपूर्ण (वा व्याप्त) करके अग्नि के समान तपा रही है, अर्थात् सन्ताप को उत्पन्न कर रही है ॥ ३० ॥

सम्बन्ध—भगवान् की उग्र प्रभा और रूप से चकित हुआ अर्जुन अपने संशय-निवारणार्थ भगवान् से ऐसे प्रश्न करता है—

आख्याहि मे को भवानुग्ररूपो नमोऽस्तु ते देववर प्रसीद। विज्ञातुमिच्छामि भवन्तमाद्यं न हि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम् ॥ ३१ ॥

आख्याहि[1], मे[2], कः[6], भवान्[3], उग्रः[4], रूपः[5]	कहिए[1] मुझे[2] आप[3] उग्र[4]-रूप[5] कौन[6] हैं	विज्ञातुं[3], इच्छामि[4], भवन्तं[1], आद्यं[2]	मैं आप[1] आद्य[2] को जानना[3] चाहता[4] हूँ
नमः[2], अस्तु[3], ते[1], देववर[4], प्रसीद[5]	तुझे[1] (आपको) नमस्कार[2] हो[3], देववर[4]! प्रसन्न[5] हूजिए	न[4], हि[1], प्रजानामि[5], तव[2], प्रवृत्तिं[3]	क्योंकि[1] तेरी[2] (आपकी) प्रवृत्ति[3] को मैं नहीं[4] जानता[5] हूँ

अन्वयार्थ—मुझे कहिए कि आप यह उग्र-रूप कौन हैं? आपको नमस्कार हो, हे देववर! आप प्रसन्न हूजिए। आप आद्यको मैं जानना चाहता हूँ, क्योंकि आपकी प्रवृत्ति को मैं नहीं जानता हूँ ॥ ३१ ॥

व्याख्या—हे देवताओं में श्रेष्ठ! आपको नमस्कार हो। आप प्रसन्न होकर (अथवा कृपा करके) मुझे यह बताइए कि इस प्रकार के उग्र (भयङ्कर, क्रूर, रुद्र)-रूप आप कौन हैं? अथवा यह उग्र-रूप आपने किस निमित्त को लेकर धारण किया है? क्योंकि मैं आपकी प्रवृत्ति को ठीक-ठीक जानता नहीं हूँ, इसलिये आपके आदि-रूप को (सबसे पहले जगत् का कारण-रूप जो आप हो, आपके उस पहलेवाले वा कारण रूप को) मैं जानना चाहता हूँ ॥ ३१ ॥

सम्बन्ध—अर्जुन के प्रश्न के उत्तर में भगवान् अब अपना वास्तविक रूप और प्रवृत्ति वर्णन करते हैं—

श्रीभगवानुवाच—

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो लोकान्समाहर्तुमिह प्रवृत्तः। ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः ॥ ३२ ॥

कालः, अस्मि, लोक-क्षय-कृत्, प्रवृद्धः	लोकों का क्षय करनेवाला मैं बढ़ा हुआ काल हूँ	ऋते, अपि, त्वां, न, भविष्यन्ति, सर्वे	तेरे विना भी ये सारे (योधा) न रहेंगे
लोकान्, समाहर्तुं, इह, प्रवृत्तः	लोकों का संहार करने के लिये यहाँ प्रवृत्त हुआ हूँ	ये, अवस्थिताः, प्रत्यनीकेषु, योधाः	जो मुक़ाबिल सेनाओं में (सन्मुख) खड़े योधा हैं

अन्वयार्थ—श्रीभगवान् बोले—मैं लोकों का क्षय करनेवाला बढ़ा हुआ काल हूँ। लोकों के संहार करने निमित्त यहाँ प्रवृत्त हुआ हूँ। तेरे विना भी ये योधा, जो मुक़ाबिल सेनाओं में खड़े हैं, न रहेंगे ॥ ३२ ॥

व्याख्या—श्रीभगवान् बोले—हे अर्जुन! पृथिवी पर जो भार-रूप दुष्ट प्राणी हैं, उन प्राणियों के नाश करनेवाला, अथवा प्रलय-काल में सब प्राणियों के नाश करनेवाला और वृद्धि को पाया हुआ अर्थात् बड़ा भारी फैला हुआ (अत्यन्त उग्र-रूप) काल भगवान् मैं हूँ; यह तो मेरा वास्तव स्वरूप वा आद्य-रूप है। और प्रवृत्ति मेरी यह है कि इस समय पृथिवी पर भार-रूप जो दुर्योधन आदि लोग हैं, उन सबका नाश करने के लिये मैं आया हूँ। इसलिये जो भीष्म, द्रोण आदि योधा तेरे सन्मुख लड़ने को मुक़ाबिल सेना, अर्थात् तेरे शत्रु की सेना में खड़े हैं, वे सब-के-सब विना तेरे भी जीते न रहेंगे, अर्थात् तू किसी कारण से

इनको युद्ध में न भी मारेगा, तो भी ये सब मुझ काल भगवान् से बचने न पायेंगे बल्कि अवश्य भक्षण हो जायँगे ॥ ३२ ॥

सम्बन्ध—अपने उक्त उत्तर को हेतु में रखते हुए भगवान् अब अर्जुन को यह उपदेश देते हैं—

तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व जित्वा शत्रून्भुंक्ष्व राज्यं समृद्धम्। मयैवैते निहताः पूर्वमेव निमित्त-मात्रं भव सव्यसाचिन् ॥ ३३ ॥

तस्मात्, त्वं, उत्तिष्ठ=इसलिये तू उठ		मया, एव, एते निहताः, पूर्वं, एव	मुझसे ही ये सब पहले ही से मारे हुए हैं
यशः, लभस्व=यश लाभ कर			
जित्वा, शत्रून्, भुंक्ष्व, राज्यं, समृद्धम्	शत्रुओं को जीतकर समृद्ध राज्य को भोग	निमित्तमात्रं, भव, सव्य-साचिन्	हे बायें हाथ से तीर चलानेवाले (अर्जुन)! तू निमित्त-मात्र हो

अन्वयार्थ—इसलिये, हे अर्जुन ! तू उठ, यश को लाभ कर, शत्रुओं को जीतकर समृद्ध राज्य को भोग। मुझसे ही ये सब पहले ही से मारे हुए हैं, तू (अब) निमित्त-मात्र हो ॥ ३३ ॥

व्याख्या—क्योंकि ये सब योधा तेरे हाथ हिलाये विना भी अवश्य नहीं रहेंगे, इसलिये ऐसी अटल दशा में, हे अर्जुन ! तू चुपके मत बैठा रह, बल्कि उठ और लड़, और मुफ्त में इस यश को प्राप्त कर कि "जो भीष्म, द्रोण आदि योधा इन्द्र आदि देवताओं से भी दुर्जय थे, आज वे अतिरथि इस अर्जुन ने जीत लिए", क्योंकि ऐसा यश बड़े ही पुण्यवानों को प्राप्त होता है। और इन दुर्योधन आदि शत्रुओं को जीतकर फिर तू सर्व-ऐश्वर्य-सम्पन्न (वा शत्रु-रहित, निष्कंटक) राज्य को

भोग। हे बायें हाथ से भी तीर चला सकने के स्वभाववाले अर्जुन! यह ध्यान में रख कि ये सब योधा मैंने पहले ही से मार रक्खे हैं, तू तो अब केवल निमित्त-मात्र हो, अर्थात् काल तो इनका आया हुआ तू देखता ही है और भीतर से मैंने पहले ही से इन्हें मार रक्खा है, तू तो अब नाम-मात्र मारनेवाला हो जा, जिससे यह प्रसिद्ध हो जाय कि इन भीष्म आदि योधाओं को अर्जुन ने ही मारा और जीता है॥ ३३ ॥*

सम्बन्ध—अब अधिक उत्साह देते हुए भगवान् लड़ने के लिये अर्जुन को यों आज्ञा देते हैं—

द्रोणञ्च भीष्मञ्च जयद्रथञ्च कर्णं तथान्यानपि योधवीरान्। मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठा युद्धयस्व जेतासि रणे सपत्नान्॥ ३४ ॥

द्रोणं, च, भीष्मं, च, जयद्रथं, च, कर्णं	द्रोण और भीष्म और जयद्रथ और कर्ण को	मया, हतान्, त्वं, जहि	मुझसे मारे हुओं को तू मार
		मा, व्यथिष्ठाः	मत डर (काँप)
तथा, अन्यान्, अपि योधवीरान्	और अन्य शूरवीर योधाओं को भी	युद्धयस्व, जेतासि, रणे, सपत्नान्	युद्ध कर तो रण में तू शत्रुओं को जीतेगा

अन्वयार्थ—(हे अर्जुन!) द्रोण, भीष्म, जयद्रथ, कर्ण और अन्य भी

---

* पापियों का पाप उनके मारने में महाबली होता है, इसलिये जब उनके मरने के दिन निकट आते हैं, तो जिस किसी को भगवान् को यश दिलाना होता है, वह उनके मारने का निमित्त-मात्र बन जाता है, नहीं तो उस निमित्त के विना भी उनका मरना अवश्य और अटल है।

शूरवीर योधा (जो कि पहले ही मुझसे मार डाले गये हैं) उन मारे हुओं को तू मार, मत डर, युद्ध कर, रण में शत्रुओं को तू (अवश्य) जीतेगा ॥३४॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! तूने जो पूर्व यह कहा था कि "मैं यह नहीं जानता कि हम उनको जीतेंगे या वे हमको जीत लेंगे।" इस बात को तूने अब प्रत्यक्ष देख लिया है कि वे सब मुझसे पहले ही से मारे जा चुके हैं, और तुझे अब केवल उनके मारने का निमित्त-मात्र बनना है, इसलिये ये द्रोणाचार्य (जो दिव्य शस्त्रों से युक्त और धनुर्विद्या के गुरु हैं), भीष्मपितामह (जो दिव्य शस्त्रों से युक्त और अपनी इच्छा से ही मरनेवाले, और अपने गुरु परशुराम से द्वन्द्व-युद्ध के प्राप्त होने पर भी न पराजित होनेवाले हैं), जयद्रथ (जिसका पिता यह तप कर रहा है कि यदि मेरे पुत्र का शिर कोई योधा पृथिवी पर गिरा देगा, तो उसका शिर भी उसी समय भूमि पर गिर जायगा), कर्ण (जो सूर्य का पुत्र कुन्ती की कन्या-अवस्था में उत्पन्न हुआ है, जिसको इन्द्र ने अमोघ शक्ति दे रक्खी है और जो दुर्योधन की सेना में वास्तव में मुख्य योधा है), और इनसे अतिरिक्त अन्य शूरवीर भी (जिनकी शस्त्र-विद्या में प्रसिद्धि सुनकर अथवा जिनकी महान् शक्तियों को देखकर तुझे कभी-कभी भय आ जाता है), जो ये पहले ही से मुझसे मारे जा चुके हैं, इन मारे जा चुकों को तू, हे प्यारे ! अब मार। इनसे डर मत, निर्भय होकर तू युद्ध कर, इस रण (संग्राम) में तू अवश्य ही जीतेगा। अथवा इस भ्रम में मत डोल कि "हमारी जय होगी या उनकी", ये तो पहले ही से मारे जा चुके हैं, इसलिये तू युद्ध कर, जीत तुम्हारी ही निस्सन्देह होगी ॥ ३४ ॥ *

---

* सारांश, जब श्रीकृष्ण सन्धि के लिये कौरवों के यहाँ गये थे, तब दुर्योधन को सन्धि की कोई बात सुनते न देखकर भीष्म पितामह ने श्रीकृष्ण जी से केवल शब्दों में यह कहा था कि "कालपक्वमिदं मन्ये सर्वं क्षत्रं जनार्दन"

सम्बन्ध—भगवान् के ऐसे उत्तर पर अर्जुन की जो दशा हुई, उसका वृत्तान्त सञ्जय* अब राजा धृतराष्ट्र से कहता है—

सञ्जय उवाच—

एतच्छ्रुत्वा वचनं केशवस्य कृताञ्जलिर्वेपमानः किरीटी । नमस्कृत्वा भूय एवाह कृष्णं सगद्गदं भीतभीतः प्रणम्य ॥ ३५ ॥

एतत्, श्रुत्वा, वचनं, केशवस्य	केशव (कृष्ण भगवान्) के इस वचन को सुनकर	नमः, कृत्वा	नमस्कार करके (या झुककर)
कृत-अञ्जलिः, वेपमानः, किरीटी	मुकुटधारी (अर्जुन) हाथ जोड़े काँपता हुआ	भूयः, एव, आह, कृष्णं, स-गद्गदं, भीतभीतः, प्रणम्य	फिर भी गद्गद-वाणी से डरते-डरते कृष्ण को प्रणाम करके बोला

(म० भा० उ० १२७. ३२)=हे जनार्दन ! ये सब क्षत्रिय काल-पक्क हो गये हैं। उसी कथन का यह प्रत्यक्ष दृश्य श्रीकृष्ण भगवान् ने (ऊपर २६ से ३१ श्लोकों में) अपने विश्व-रूप से अर्जुन को दिखला दिया है। कर्मविपाक-प्रक्रिया का यह सिद्धान्त भी ३३वें श्लोक में आ गया है कि "दुष्ट मनुष्य अपने कर्मों से ही मरते हैं, उनको मारनेवाला तो सिर्फ़ निमित्त है, जिससे मारनेवाले को उसका दोष नहीं लगता।" (श्रीतिलक महाराज)

* इस अवसर पर सञ्जय का धृतराष्ट्र को समझाना उच्च उद्देश्य से ख़ाली नहीं। ऐसा मालूम होता है कि सञ्जय को विश्वास था कि धृतराष्ट्रजी पुत्र, द्रोण, भीष्म आदि के मरने से अपने को सहाय-रहित समझकर अपनी जय की आशा परित्याग कर देंगे और सन्धि करने लग जायँगे। इससे दोनों पक्षवालों को सुख

अन्वयार्थ—सञ्जय बोला—केशव के इस वचन को सुनकर अर्जुन काँपता हुआ, हाथ जोड़े, झुककर प्रणाम करके, डरते-डरते गद्गदवाणी ※ से फिर ऐसे बोला ॥ ३५ ॥

व्याख्या—सञ्जय ने धृतराष्ट्र से कहा कि हे राजन् ! मुकुटधारी अर्जुन ने भगवान् का विश्व-रूप देखने पर जब केशव (लम्बे बालोंवाले भगवान् कृष्ण) के उक्त वचन सुने, तो काँपते हुए और हाथ जोड़े उसने झुक-झुककर उनको प्रणाम किया और फिर भयभीत होते हुए गद्गद-वाणी से प्रार्थनापूर्वक यह कहा ॥ ३५ ॥

सम्बन्ध—अब प्रत्युत्तर में अर्जुन ग्यारह श्लोकों द्वारा भगवान् से अपना भाव प्रकट करता है—

अर्जुन उवाच—

स्थाने हृषीकेश† तव प्रकीर्त्या जगत्प्रहृष्यत्य-नुरज्यते च । रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसंघाः ॥ ३६ ॥

हो जायगा । पर प्रबल भावी के अधीन होने से धृतराष्ट्रजी ने इस पर ध्यान तक न दिया ।

※ गद्गद-वाणी=हर्ष और भय के मेल से काँपते हुए कण्ठ की वाणी 'गद्गद-वाणी' कहलाती है । अथवा कहना कुछ और हो, और मारे भय वा हर्ष के मुख से कुछ और ही रुक-रुककर मन्द शब्दों में निकले, ऐसी वाणी को भी गद्गद-वाणी कहते हैं । अथवा जब भय या हर्ष से अश्रुपात हो, और कण्ठ कफ से रुक जाय या भर जाय, उस समय जो मन्द-मन्द टूटती-टूटती वाणी रुके हुए कण्ठ से निकलती है, उसे भी गद्गद-वाणी कहते हैं ।

† "स्थाने हृषीकेश" यह मंत्र 'रक्षोघ्न' नाम मंत्र से मंत्र-शास्त्र में प्रसिद्ध

स्थाने, हृषीकेश	हे इन्द्रियों के शासक (श्रीकृष्ण) ! यह युक्त है	रक्षांसि, भीतानि, दिशः, द्रवन्ति	राक्षस लोग भयभीत हुए दिशाओं को भागते हैं
तव, प्रकीर्त्या, जगत्, प्रहृष्यति, अनुरज्यते, च	तेरी (आपकी) प्रकीर्ति से जगत् हर्ष को प्राप्त होता है और (आपमें) अनुराग को प्राप्त होता है	सर्वे, नमस्यन्ति, च, सिद्धसंघाः	और सारे सिद्धों के समूह (आपको) नमस्कार करते हैं

अन्वयार्थ—अर्जुन बोला—हे भगवान् कृष्ण ! यह सब युक्त है कि आपकी प्रकीर्ति से जगत् हर्ष और अनुराग को प्राप्त होता है, राक्षस लोग भयभीत हुए चारों दिशाओं को भागे फिरते हैं, और सारे सिद्धों के समूह आपको नमस्कार करते हैं ॥ ३६ ॥

व्याख्या—प्रत्युत्तर में अर्जुन ने कहा कि हे सर्व इन्द्रियों के शासक, प्रवर्तक वा स्वामी ! तथा हे भक्तवत्सल भगवान् कृष्णजी ! आपके विषय में यह सब युक्त अर्थात् ठीक ही है कि आपके नाम, गुण वा माहात्म्य के कीर्तन से संसार अति प्रसन्न होता और उसमें अनुरक्त रहता है, अथवा आपमें ज़ोर से प्रीति वा भक्ति करता है। और यह भी ठीक है कि राक्षस लोग आपके नाम के उच्चारण-मात्र से भयभीत हुए चारों दिशाओं को भागे फिरते हैं, मानों उनको कहीं ठहरने का स्थान तक नहीं सूझता। और यह भी उचित ही है कि कपिल आदि सब सिद्धों के समूह आपको

है। इस मन्त्र के अनुष्ठान से दुष्ट राक्षसों का हनन हो जाता है, इसलिये इसका नाम 'रक्षोघ्न मंत्र' है। ऐसा सुना जाता है कि इस मंत्र के सौ हज़ार अर्थात् एक लक्ष जप करने से तथा हवन व ब्राह्मण-भोजनादि से राक्षस आदिक विघ्न नहीं डाल सकते और शत्रुओं पर भी विजय प्राप्त होती है।

बड़ी नम्रता से नमस्कार करते हैं, अर्थात् मनसा, वाचा, कर्मणा सदा आपको ही यथायोग्य दण्डवत्-प्रणाम करके धारणा ध्यानादि करते हैं ॥ ३६ ॥

सम्बन्ध—(१) अपने उक्त कथन का अब अर्जुन हेतु कहता है—

अथवा (२) अपने उक्त कथन के सम्बन्ध में अर्जुन अब अपनी युक्ति वर्णन करता है—

कस्माच्च ते न नमेरन्महात्मन् गरीयसे ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे। अनन्त देवेश जगन्निवास त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत् ॥ ३७ ॥

कस्मात्, च, ते, न, नमेरन्, महात्मन्,	और हे महात्मन्! वे क्योंकर न नमस्कार करें	अनन्त, देव-ईश, जगत्-निवास	हे अनन्त! हे देवों के नियन्ता (ईश)! और हे जगत् के निवास-स्थान!
गरीयसे, ब्रह्मणः, अपि, आदि-कर्त्रे	ब्रह्मा के भी गुरु (श्रेष्ठ) और आदि कर्ता के लिये	त्वं, अक्षरं, सत्❀, असत्, तत्, परं, यत्	तुम (आप) अक्षर, व्यक्त, अव्यक्त, जो (उससे) परे है, वह हो

❀ सत् और असत् शब्दों के अर्थ यहाँ पर क्रमपूर्वक विद्यमान और अविद्यमान, व्यक्त और अव्यक्त, अथवा क्षर और अक्षर, वा मूर्त और अमूर्त इन शब्दों के अर्थों के समान हैं, और गीता में बहुधा इन्हीं अर्थों का स्पष्टीकरण इन शब्दों से किया गया है (देखो गीता ७.२४; ८.२०; ९.१९ और १५.१६)। सत् और असत् से परे जो तत्त्व है, वही अक्षर ब्रह्म है, इसी कारण गीता (१३. १२) में आगे स्पष्ट वर्णन है कि 'मैं न तो सत् हूँ और न असत्।'

अन्वयार्थ—हे महात्मन् ! आप ब्रह्मा के भी गुरु (श्रेष्ठ) और आदि-कर्ता को ये क्योंकर न नमस्कार करें ? हे अनंत ! हे देवेश ! हे जगन्निवास ! आप अक्षर, सत्, असत् और इससे भी जो परे है, वह हो ॥ ३७ ॥

व्याख्या—हे महात्मन् ! (हे परम उदार चित्त वा महान् चित्तवाले !), हे अनन्त ! (देश, काल, वस्तु से अपरिच्छिन्न !), हे देवेश ! (देवताओं के ईश्वर, नियन्ता, शासक वा स्वामी !), हे जगन्निवास ! (सारे जगत् के आश्रय-रूप आधार !), आप ब्रह्मा से भी बड़े, श्रेष्ठ (वा उसके गुरु) और उसके आदिकर्ता हो, अक्षर हो, सत्-असत् अर्थात् व्यक्त-अव्यक्त (मूर्त-अमूर्त) हो ; और उस सत्-असत् से भी परे या सबसे परे जो अति सूक्ष्म, और अविनाशी वा अकथनीय तत्त्व है, वह आप हो ; ऐसे जो आप हो उसके लिये ये सारे देवताओं और सिद्धों के समूह भला कैसे न नमस्कार करें ? अर्थात् इनका नमस्कार करना उचित और अवश्य है। संक्षेप से यह कि आपको नमस्कार करने के इतने हेतु हैं—(१) आप महान् वा महात्मा हैं, (२) अनन्त हैं, (३) देवताओं के भी ईश्वर हैं, (४) जगत् के निवास-स्थान हैं, (५) ब्रह्मा से भी बड़े और उनके कर्ता हैं, (६) अक्षर अविनाशी आत्मा हैं, (७) सत्-असत् अर्थात् व्यक्त-अव्यक्त सब आप हैं, और (८) इस व्यक्त-अव्यक्त से भी परे या सबसे परम सूक्ष्म जो परमब्रह्म तत्त्व है, वह भी आप हैं, अर्थात् आप शुद्ध सच्चिदानन्द-स्वरूप हैं। इन हेतुओं के कारण इन सब देवता आदिकों का आपको नमस्कार करना कोई आश्चर्य-जनक और अयुक्त नहीं है ॥ ३७ ॥

और—

त्वमादिदेवः पुरुषः पुराणस्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् । वेत्ताऽसि वेद्यञ्च परञ्च धामत्वया ततं विश्वमनन्तरूप ॥ ३८ ॥

त्वं, आदि-देवः, पुरुषः, पुराणः	तुम (आप) आदि देव और पुरातन पुरुष हो	वेत्ता, असि, वेद्यं, च, परं, च, धाम	(आप) जाननेवाले और जानने-योग्य, और परम धाम हो
त्वं, अस्य, विश्वस्य, परं, निधानम्	तुम (आप) इस विश्व के परम-निधान हो	त्वया, ततं, विश्वं, अनन्त-रूप	हे अनन्त-रूप ! तुम से (आपसे) विश्व व्याप्त है

अन्वयार्थ—हे अनन्त-रूप ! आप आदि-देव, पुरातन पुरुष इस विश्व के परम निधान, (सबके) जाननेवाले और जानने-योग्य तथा परम धाम हो ; और आपसे (यह सारा) विश्व व्याप्त है ॥ ३८ ॥

व्याख्या—हे अनन्त-रूप ! अर्थात् हे देश, काल, वस्तु परिच्छेद से रहित स्वरूप ! अथवा हे अनन्त रूपोंवाले भगवान् कृष्ण ! आप इस जगत् की उत्पत्ति का हेतु होने से आदिदेव हो ; देह-रूपी पुरी में शयन करनेवाला होने से, अथवा सर्वत्र अस्ति, भाति व प्रिय-रूप से पूर्ण होने के कारण, आप पुरुष हो ; सबसे पुराना वा अनादि होने से वा शरीर के नाश होने पर भी स्वयं नष्ट न होने से आप पुरातन हो ; महाप्रलय के समय यह समस्त जगत् आप ही में लय होता है, जिससे आप इस ब्रह्माण्ड का लय-स्थान वा परम निधान हो ; सर्वज्ञ होने से आप ही इस सारे जगत् के जाननेवाले हो ; जानने-योग्य तत्त्व-वस्तु भी आप हो, अथवा जितना यह दृश्य प्रपञ्च है वह भी आप हो ; और आप ही विष्णु का परम पद होने से, अथवा सच्चिदानन्द-स्वरूप होने से, परम धाम हो । हे भगवन् ! आप ही से यह सब जगत् व्याप्त हो रहा है । जब आप इतने कारणों करके सबके पूज्य हैं, तो फिर उन सब सिद्ध आदिकों का आपको विनयपूर्वक नमस्कार करना कोई आश्चर्यजनक बात नहीं है ॥ ३८ ॥

और—

वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशाङ्कः प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च। नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते ॥ ३९ ॥

वायुः, यमः, अग्निः, वरुणः, शशअङ्कः	वायु, यम, अग्नि, वरुण और चंद्रमा	नमः, नमः, ते, अस्तु, सहस्रकृत्वः	तेरे को (आपको) नमो-नमो हो (ऐसा) हज़ार वार करके
प्रजापतिः, त्वं, प्र-पितामहः, च	प्रजापति और प्रपितामह तुम (आप) हो	पुनः, च, भूयः, अपि, नमः, नमः, ते	और पुनः-पुनः भी तेरे को (आपको) नमो-नमो हो

अन्वयार्थ—आप वायु, यम, अग्नि, वरुण, चन्द्रमा, प्रजापति* और प्रपितामह हो। हज़ार वार करके आपको नमो-नमो हो, और पुनः-पुनः भी आपको नमो-नमो हो ॥ ३९ ॥

---

* "ब्रह्मा से मरीचि आदि सात मानस पुत्र उत्पन्न हुए और मरीचि से कश्यप तथा कश्यप से सारी प्रजा उत्पन्न हुई है (म० भा० आदि पर्व ६५.११), इसलिये इन मरीचि आदि को ही प्रजापति कहते हैं (शां० पर्व ३४०. ६५)। इसीलिये कोई-कोई प्रजापति शब्द का अर्थ कश्यप आदि प्रजापति करते हैं। परन्तु यहाँ प्रजापति शब्द एकवचनान्त है, इसलिये प्रजापति का अर्थ ब्रह्मदेव ही अधिक ग्राह्य देख पड़ता है। इसके अतिरिक्त ब्रह्माजी मरीचि आदि के पिता अर्थात् सबके पितामह (दादा) हैं, अतः आगे का प्रपितामह (परदादा)

व्याख्या—हे भगवन्! आप ही वायु देवता, यमराज, अग्नि देवता, वरुण देवता, चन्द्रमा तथा सूर्यादि देवता, प्रजापति अर्थात् सारे जगत् के पितामह ब्रह्मा वा विराट् और प्रपितामह अर्थात् प्रजापति वा ब्रह्मा के भी पिता हो। इस प्रकार सर्वदेवता-स्वरूप होने से आप सबसे नमस्कार किये जाने-योग्य हो। इसलिये हे अनन्त-रूप! मेरा आपको हज़ार-हज़ार वार नमस्कार हो, नमस्कार हो। ऐसे पुनः-पुनः भी हज़ारों वार आपको मेरा नमस्कार हो, नमस्कार हो; अर्थात् जैसे आप अनन्त-रूप हैं, वैसा आपको मेरा अनन्त वार नमस्कार भी हो ॥ ३९ ॥

और—

नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व। अनन्त वीर्यामितविक्रमस्त्वं सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः ॥ ४० ॥

नमः[२], पुरस्तात्[३], अथ[४], पृष्ठतः[५], ते[१]	तुझे[१] (आपको) नमस्कार[२] आगे[३] से और[४] पीछे[५] से हो	अनन्त[२]-वीर्य[३]-अमित[४]-विक्रमः[५], त्वं[१]	तुम[१] (आप) अनन्त[२] बल[३] और अनन्त[४] पराक्रम[५]वाले हो
नमः[५], अस्तु[६], ते[२], सर्वतः[३], एव[४], सर्व[१]	हे सर्व-रूप[१]! तुझे[२] (आपको) सब[३] ओर से ही[४] नमस्कार[५] हो[६]	सर्वं[१], समाप्नोषि[२]	सर्व[१]को (आप) व्याप्त[२] कर रहे हो
		ततः[१], असि[३], सर्वः[२]	इसलिये[१] (आप) सब[२] हो[३]

पद भी आप ही आप प्रकट होता है और उसकी सार्थकता व्यक्त हो जाती है।" (श्रीतिलक महाराज)

अन्वयार्थ—हे सर्व-रूप ! आपको आगे * से, पीछे से, तथा सब ही ओर से नमस्कार हो। आप अनन्त बल † और अपरिमित पराक्रमवाले हो। आप सबको व्याप्त कर रहे हो, अतः सर्व-रूप हो ॥ ४० ॥

व्याख्या—हे सर्व-रूप, अर्थात् सब रूपों वा दिशाओं में स्थित अथवा सर्वात्मक भगवान्! आपको सामने से अर्थात् इस विश्व-रूप के अग्र-भाग से, पीछे से अर्थात् इस विश्व-रूप के पृष्ठ-भाग से, तथा सब ही ओर से नमस्कार हो। आपका बल अनन्त और पराक्रम अपरिमित (विना परिमाण के वा बेअन्दाज़ा) है। हे अनन्त-रूप! आप सम्यक् प्रकार से सब जगत् को अपने स्वरूप से व्याप रहे हो, इसलिये सब कुछ, अर्थात् यह समस्त नाम-रूप प्रपञ्च, भी आप हो; आपसे इतर कुछ भी नहीं ॥ ४० ॥

सम्बन्ध—इतना कहकर अर्जुन अब भगवान् से अपनी भूलों की क्षमा माँगता है—

---

* "आगे से नमस्कार, पीछे से नमस्कार", ये शब्द यद्यपि उस विश्व-मूर्ति के अग्र-पृष्ठ भाग से अभिप्रेत दीखते हैं, तथापि भगवान् की सर्व-व्यापकता भी दर्शाते हैं। उपनिषदों में ब्रह्म का ऐसा वर्णन है कि "ब्रह्मैवेदं अमृतं पुरस्तात् ब्रह्म पश्चात् ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण। अधश्चोर्ध्वं च प्रसृतं ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम्।" (मुं० २. २. ११; छां० ७. २५)।=ब्रह्म ही यह अमृत-रूप सामने है, ब्रह्म ही पीछे है, ब्रह्म ही दायें और बायें है। वह नीचे और ऊपर फैला हुआ है, ब्रह्म ही यह सब कुछ है। यह सब से उत्तम है।

† सामर्थ्यवाला होकर भी कोई शस्त्रादि विद्या में पराक्रम नहीं दिखला सकता, या थोड़े ही पराक्रमवाला होता है; और कोई शस्त्र-विद्या में तो निपुण वा सकुशल होता है पर सामर्थ्य-हीन होता है; परंतु आप तो अनंत वीर्य और अमित पराक्रम से युक्त हो, इसलिये दोनों में निपुण और प्रबल हो।

सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं हे कृष्ण हे यादव हे सखेति। अजानता महिमानं तवेदं मया प्रमादात्प्रणयेन वापि ॥ ४१ ॥

यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि विहारशय्यासनभोजनेषु। एकोऽथवाप्यच्युत तत्समक्षं तत्क्षामये त्वामहमप्रमेयम् ॥ ४२ ॥

सखा, इति, मत्वा	सखा हो, ऐसा मानकर	यत्, च, अवहास-अर्थं	और जो हँसी के लिये
प्रसभं, यत्, उक्तं	जो बलात्कार (अविनय पूर्वक) कहागयाहै	असत्कृतः, असि	(आप) अनादर किये गये हो
हे कृष्ण, हे यादव, हे सखा, इति	हे कृष्ण ! हे यादव ! हे सखे ! ऐसा	विहार-शय्या-आसन-भोजनेषु	खेलते, सोते, बैठते, और खाते समय
अ-जानता, महिमानं, तव, इदं	तेरी (आपकी) इस महिमा को न जानते हुए	एकः, अथवा, अपि, अच्युत, तत्-समक्षं	हे अच्युत(कृष्ण)! अकेले अथवा उनके समक्ष भी
मया, प्रमादात्, प्रणयेन, वा, अपि	मुझसे भूल से अथवा स्नेह (प्रेम) से ही	तत्, क्षामये, त्वां, अहं, अप्रमेयं	वह तुझ (आप) अप्रमेय (अचिंत्य)से मैं क्षमा करवाता हूँ

अन्वयार्थ—"आप सखा हैं", ऐसा मानकर और आपकी इस महिमा को न जानते हुए "हे यादव ! हे कृष्ण ! हे सखे !" ऐसा अविनयपूर्वक जो कुछ

मैंने भूल से वा स्नेह से कह डाला है। और हे अच्युत! हँसी के लिये अकेले या उन (अन्य मित्रों) के सामने खेलते, सोते, बैठते और खाते समय मुझसे आपका जो-जो निरादर किया गया है, उस (सब) की मैं आप अप्रमेय-रूप से क्षमा माँगता हूँ॥ ४१, ४२॥

व्याख्या—हे भगवन्! आपको मैं अपना सखा समझता था, और आपके इस माहात्म्य (विश्व-रूप की महिमा) को न जानता था, जिससे कई बार आपको मैंने "ओ कृष्ण! ओ यादव! ओ सखा वा मित्र!" ऐसे रूखे (अवज्ञा करनेवाले), कठोर, अनुचित, अविनय-युक्त वा गुस्ताखी-भरे शब्दों से पुकारा था। और ऐसे ही खेलते, सोते, बैठते और भोजन करते समय अकेले या अन्य सखाओं के समक्ष कई बार हँसी-दिल्लगी (ठट्ठा-मखौल) में आपका जो अपमान मैंने किया था। पर अब तो आपके विश्व-रूप के दर्शन से मैं आपकी महिमा जान गया हूँ, इसलिये हे अच्युत (हे सर्वदा निर्विकार-रूप भगवान् कृष्ण)! जो कुछ प्रमाद (भूल वा बेपरवाही) और स्नेह (प्रीति वा प्रेम) के कारण मुझसे आपका अपमान हुआ है, और जो कुछ रूखे वा असभ्य वचन मुझसे आपके प्रति निकले हैं, उस सबकी आप अप्रमेय-रूप (प्रमाणों से न जाने जा सकनेवाले, अर्थात् अचिन्त्य-रूप) से मैं विनयपूर्वक क्षमा माँगता हूँ, आप कृपया अवश्य क्षमा करें॥ ४१, ४२॥

और—

पितासि लोकस्य चराचरस्य त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान्। न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव॥ ४३॥

पिता, असि, लोकस्य, चर-अचरस्य	चर अचर लोक के (आप) पिता हो	न, त्वत्, समः, अस्ति	तेरे (आपके) समान नहीं है
		अभ्यधिकः, कुतः, अन्यः	(आपसे) बढ़कर अन्य कहाँ
त्वं, अस्य, पूज्यः, च, गुरुः, गरीयान्	इस (जगत्) के पूज्य, गुरु तथा गुरुतर तुम (आप) हो	लोक-त्रये, अपि, अप्रतिम-प्रभाव	हे अतुल्य प्रभाव-वाले (कृष्ण)! तीनों लोकों में भी

अन्वयार्थ—हे अप्रतिम-प्रभाव ! आप इस चर-अचर लोक के पिता हो, इसके पूज्य, गुरु तथा गुरुतर हो । तीनों लोकों में भी आपके समान दूसरा नहीं, (आपसे) बढ़कर तो कहाँ ? ॥ ४३ ॥

व्याख्या—हे भगवन् ! आप इस स्थावर-जङ्गम-रूप जगत् के पिता अर्थात् जनक हो ; केवल पिता ही नहीं, किन्तु सर्व-प्रपञ्च-रूप जगत् के नियन्ता, शासक वा ईश्वर होने से आप इसके पूज्य भी हो ; और सारे शास्त्रों का उपदेश करनेवाला (उपदेष्टा) होने से आप इसके गुरु हो ; और ब्रह्मा तथा प्रजापति का भी उपदेष्टा होने से आप इस जगत् के गुरु के भी गुरु हो, अथवा इसी कारण से आप सर्वोत्कृष्ट वा सर्वोपरि श्रेष्ठ हो । हे अप्रतिम-प्रभाव, अर्थात् जिसके प्रभाव वा प्रताप की तुलना, उपमा, प्रतिमा वा सादृश्यता नहीं हो सकती, ऐसे अनुपम प्रभाववाले कृष्ण ! तीनों लोकों में भी आपके समान कोई नहीं, तो फिर आपसे बढ़कर इस संसार में दूसरा कहाँ ? अर्थात् इस सारे ब्रह्माण्ड में कोई दूसरा न आपके समान है और न बढ़कर ही हो सकता है ॥ ४३ ॥

सम्बन्ध—क्योंकि आप ही सबसे बड़े, अद्वितीय और पूज्य हो, इसलिये—

तस्मात्प्रणम्य प्रणिधाय कायं प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम्। पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः प्रियः प्रियायार्हसि* देव सोढुम्॥ ४४॥

---

* कुछ लोग "प्रियः प्रियायार्हसि" इन शब्दों का "प्रिय पुरुष जिस प्रकार अपनी स्त्री के" ऐसा अर्थ करते हैं। परन्तु हमारे मत में यह ठीक नहीं, क्योंकि व्याकरण की रीति से 'प्रियायार्हसि' के प्रियायाः + अर्हसि, अथवा प्रियायैः + अर्हसि, ऐसे पद नहीं टूटते; और उपमा-द्योतक 'इव' शब्द भी इस श्लोक में दो बार ही आया है। अतः 'प्रियः प्रियायार्हसि' को तीसरी उपमा न समझकर उपमेय मानना ही अधिक प्रशस्त है। 'पुत्र के' (पुत्रस्य), 'सखा के' (सख्युः), इन दोनों उपमानात्मक षष्ठ्यन्त शब्दों के समान यदि उपमेय में भी 'प्रियस्य' (प्रिय के) यह षष्ठ्यन्त पद होता, तो बहुत अच्छा होता। परन्तु अब 'स्थितस्य गतिश्चिन्तनीया' इस न्याय के अनुसार यहाँ व्यवहार करना चाहिए। हमारी समझ में यह बात बिलकुल युक्ति-संगत नहीं देख पड़ती कि 'प्रियस्य' इस षष्ठ्यन्त पुल्लिङ्ग पद के अभाव में, व्याकरण के विरुद्ध 'प्रियायाः' यह षष्ठ्यन्त स्त्रीलिङ्ग का पद किया जावे; और जब वह पद अर्जुन के लिये लागू न हो सके, तब 'इव' शब्द को अध्याहार मानकर 'प्रियः प्रियायाः'—प्रेमी अपनी प्यारी स्त्री के—ऐसी तीसरी उपमा मानी जावे; और वह भी शृङ्गारिक अतएव अप्रासङ्गिक हो। इसके सिवा, एक और बात है कि पुत्रस्य, सख्युः, प्रियायाः, इन तीनों पदों के उपमान में चले जाने से उपमेय में षष्ठ्यन्त पद बिलकुल ही नहीं रह जाता, और 'मे अथवा मम' पद का फिर भी अध्याहार करना पड़ता है; एवं इतनी माथापच्ची करने पर उपमान और उपमेय में जैसे तैसे विभक्ति की समता हो गई, तो दोनों में लिङ्ग की विषमता का नया दोष बना ही रहता है। दूसरे पक्ष में अर्थात्

तस्मात्, प्रणम्य, प्रणिधाय, कायं	इसलिये शरीर को झुकाकर (दण्डवत्) प्रणाम करके	पिता, इव, पुत्रस्य = पिता जैसे पुत्र की सखा, इव, सख्युः = मित्र जैसे मित्र की प्रियः, प्रियाय (वा प्रियायाः) = प्यारा प्यारे के लिये (वा प्रिया स्त्री का)
प्रसादये, त्वां, अहं, ईशं, ईड्यम्	मैं तुझ (आप) स्तुति के योग्य ईश्वर को प्रसन्न करता हूँ	अर्हसि, देव, सोढुं = हे देव ! (आप) सहने-योग्य हो

पहला अन्वयार्थ—इसलिये मैं दण्डवत् प्रणाम करके तुझ स्तुत्य ईश्वर को प्रसन्न करता हूँ। जैसे पिता पुत्र की, मित्र मित्र की, प्रेमी प्रेमपात्र (प्रिया) की (भूल-चूक सह लेता है), वैसे, हे देव ! आप सहने के योग्य हो ॥ ४४ ॥

प्रियाय + अर्हसि ऐसे व्याकरण की रीति से शुद्ध और सरल पद किये जायँ, तो उपमेय में जहाँ षष्ठी होनी चाहिए, वहाँ 'प्रियाय' यह चतुर्थी आती है। बस इतना ही दोष रहता है और यह दोष कोई विशेष महत्त्व का नहीं है, क्योंकि षष्ठी का अर्थ यहाँ चतुर्थी का-सा है और अन्यत्र भी कई बार ऐसा होता है। इस श्लोक का अर्थ परमार्थप्रपा टीका (तथा श्रीरामानुजाचार्य-भाष्य) में वैसा ही है जैसा कि हमने किया है। (श्रीतिलक महाराज)

इस अर्थ में हम तिलक महाराज से पूर्ण सहमत हैं और हमने इसीलिये इस अर्थ को अपने दूसरे अन्वयार्थ में दिया भी है, परन्तु अन्य अर्थ भी, जो हमारे पहले अन्वयार्थ में दिये गये हैं, कठिनतापूर्वक व्याकरण की सहायता से खैंचातानी के साथ हो सकते हैं, और श्रीशङ्कराचार्य, आनन्दगिरि, मधुसूदन स्वामी भारत-धर्म-महामण्डल के दयानन्द स्वामी, हंसस्वरूप स्वामी तथा अन्य अनेक भाष्यकारों वा टीकाकारों ने यही अर्थ किये हैं और अधिक पण्डितों को यही (अन्य) अर्थ स्वीकृत हैं, अतएव हमने दूसरे अर्थ को भी अपने पहले अन्वयार्थ में दे दिया है। जिसको जो आकर्षक वा रुचिकर हो, ग्रहण कर ले। (टीकाकार)

दूसरा अन्वयार्थ—इसलिये मैं तुझ स्तुति-योग्य ईश्वर को दण्डवत्-प्रणाम करता हूँ कि "आप प्रसन्न हूजिए।" पिता जैसे पुत्र के, सखा जैसे सखा के (अपराधों को क्षमा करता है), वैसे हे देव! (आप) प्रेमी को (अपने) प्रेमपात्र के लिये (अर्थात् मेरे अपराधों को) क्षमा करना उचित है ॥ ४४ ॥

व्याख्या—हे भगवन्! क्योंकि आप ही इस समस्त लोक के पिता और सर्वोपरि पूज्य हैं, इसलिये शरीर को आपके चरणों पर डालकर अर्थात् साष्टाङ्ग दण्डवत्-प्रणाम करके आप जो स्तुति के योग्य और सबके ईश्वर (शासक, नियन्ता वा मालिक) हैं, आपको मैं मनाता हूँ, अर्थात् "आप मेरे ऊपर प्रसन्न हूजिए", ऐसी प्रार्थना करता हूँ। और हे देव! (वा हे स्वप्रकाश-स्वरूप!) पिता जैसे पुत्र के, मित्र जैसे मित्र के, प्रेमी प्रेमपात्र के (अथवा पति अपनी पत्नी के) अपराधों को क्षमा करता वा आनन्दपूर्वक सहता है, वैसे हे भगवन्! आप भी मेरे अपराधों को सह सकते वा क्षमा कर सकते हैं, अतएव कृपया मेरे सब अपराधों को क्षमा कीजिए। और जब "प्रियः प्रियायार्हसि" का पदच्छेद "प्रियः प्रियाय" करके किया जाय (जो व्याकरण की रीति से अधिक युक्त और स्पष्ट भी है), तो फिर दूसरे अन्वयार्थानुसार इस पद की यह व्याख्या होगी कि—जैसे पिता पुत्र का और मित्र मित्र का अपराध क्षमा करता वा सहन कर लेता है, वैसे ही मैं जो आपका प्यारा हूँ, मुझ प्यारे के लिये (अथवा आप जो मेरे प्यारे हैं, अपने ऐसे प्यारे के लिये) आप सब कुछ सहन कर सकते हैं; इसलिये कृपापूर्वक मेरे सब अपराधों को आप क्षमा कीजिए ॥ ४४ ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार अपने अपराधों की क्षमा माँगकर अर्जुन अब भगवान् के पूर्वले रूप के दर्शन की प्रार्थना करते हैं—

अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा भयेन च प्रव्यथितं मनो मे। तदेव मे दर्शय देव रूपं प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥ ४५ ॥

अदृष्ट-पूर्वं, हृषितः, अस्मि, दृष्ट्वा	पूर्व न देखे हुए को देखकर मैं हर्षित हुआ हूँ	तत्, एव, मे, दर्शय, देव, रूपं	हे देव! वह ही रूप मुझे दर्शाइए
भयेन, च, प्रव्यथितं, मनः, मे	और भय से मेरा मन व्याकुल हो रहा है	प्रसीद, देव-ईश, जगत्-निवास	हे देवों के ईश्वर! हे जगत् के निवास-स्थान! प्रसन्न हूजिए

अन्वयार्थ—पूर्व न देखे हुए (रूप) को देखकर मैं हर्षित हो रहा हूँ, और भय से मेरा मन व्याकुल हो रहा है। (इसलिये) हे देव ! (अपना) वही सौम्य रूप मुझे दर्शाइए। हे देवेश ! हे जगन्निवास ! प्रसन्न हूजिए ॥ ४५ ॥

व्याख्या—हे भगवन् ! आपके इस विश्व-रूप को, जो मैंने पहले कभी नहीं देखा था, अब देखकर मैं हर्षित हो रहा हूँ। पर मेरा मन इस विश्व-रूप के दर्शन से कि जिसमें अनेक विकराल नेत्र और भयानक मुख हैं, मेरा मन मारे भय के व्याकुल हो रहा वा जोर से काँप रहा है। इसलिये, हे देव (प्रकाश-स्वरूप भगवान्) ! हे देवेश (देवताओं के नियन्ता, स्वामी वा ईश्वर) ! और हे जगन्निवास (जगदाधार, जगत् के निवास-स्थान) ! आप मेरे ऊपर प्रसन्न हूजिए, और कृपा करके मुझे अपना वही पहला सौम्य-रूप ही दिखलाइए ॥ ४५ ॥

सम्बन्ध—अब जिस सौम्य रूप को अर्जुन देखना चाहता है, उसके विशेषण वह वर्णन करता है—

किरीटिनं गदिनं चक्रहस्तमिच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव । तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन सहस्रबाहो भव विश्वमूर्त्ते ॥ ४६ ॥

किरीटिनं, गदिनं, चक्रं, हस्तं	मुकुटवाला, गदावाला, चक्र हाथ में लिए	तेन, एव, रूपेण, चतुर्-भुजेन	उस ही चतुर्भुज रूप से
इच्छामि, त्वां, द्रष्टुं, अहं, तथा, एव	मैं वैसा ही तुझे (आपको) देखने को चाहता हूँ	सहस्र-बाहो, भव, विश्व-मूर्त्ते	हे हज़ार भुजोंवाले ! हे विश्व की मूर्तिवाले ! (वैसा) हो

अन्वयार्थ—मुकुट ❀ और गदाधारी तथा हाथ में चक्र लिए, वैसा ही

❀ विश्व-रूप-दर्शन में अर्जुन ने विराट्-रूप कृष्ण के दोनों रूपों को देखा है, एक सौम्य (प्यारा रूप) और दूसरा रुद्र (भयंकर, विकराल या क्रूर रूप)। सौम्य-रूप का वर्णन "ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थ" (१५) और "किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च" (१७) इत्यादि श्लोकों से किया गया है। और रुद्र-रूप का वर्णन "दंष्ट्रा करालानि च ते मुखानि" (२५) और "वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति" (२७) इत्यादि श्लोकों से किया गया है। परन्तु युद्ध में मरने-मारने को सन्मुख आये हुए योधाओं के बीच में समयोचित भावानुसार अर्जुन को भगवान् का रुद्र-रूप ही विशेषतः दिखाई दिया है, या अर्जुन के कल्याणार्थ और उसके भ्रम के निवारणार्थ भगवान् ने अर्जुन को अपना रुद्र-रूप ही विशेषतः दर्शाया है। और इस भयङ्कर रूप को विशेष देखने से उसका चित्त घबरा गया और भयभीत हुआ है जिससे वह पुनः उसी सौम्य-रूप को देखना चाहता है, जिसका अलङ्कार पूर्व श्लोकों में "किरीटिनं गदिनं" इत्यादि शब्दों करके वर्णित है।

आपको मैं देखना चाहता हूँ। हे सहस्रबाहु! हे विश्वमूर्ति! आप उसी चतुर्भुज* रूप से (प्रकट) हूजिए ॥ ४६ ॥

व्याख्या—हे भगवन्! शिर पर मुकुट धारण किये और हाथ में गदा और चक्र लिए हुए जो आपका सौम्य-रूप पूर्व मैंने देखा था, और जिसका वर्णन पूर्व १५, १७, १८ इत्यादि श्लोकों में हो चुका है, उसी सौम्य-रूप से मैं आपको देखना चाहता हूँ, क्योंकि आपके इस भयानक वा विकराल-रूप के दर्शन से मेरा मन व्यथा को प्राप्त हो रहा है और मारे घबराहट व भय के मुझे कोई दिशा तक नहीं सूझती। हे हजारों भुजावाले! हे विश्वमूर्ति धारण करनेवाले भगवान्! आप कृपया उसी पूर्वले सौम्य चतुर्भुज-रूप से प्रकट हूजिए, जिससे मेरे मन की घबराहट (व्याकुलता) दूर हो ॥ ४६ ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार प्रार्थना किये गये भगवान् अब अर्जुन को ऐसे धीरज देते हैं—

श्रीभगवानुवाच—

मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं रूपं परं दर्शितमात्मयोगात्। तेजोमयं विश्वमनन्तमाद्यं यन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम् ॥ ४७ ॥

मया, प्रसन्नेन	मुझ प्रसन्न हुए से	तेजोमयं, विश्वं, अनन्तं, आद्यं	तेजोमय, विश्वरूप, अनन्त और आद्य
तव, अर्जुन, इदं, रूपं, परं	हे अर्जुन! तेरे को यह परम रूप	यत्, मे, त्वत्-अन्येन, न, दृष्टं, पूर्वं	जो मेरा (रूप) तुझ से अतिरिक्त अन्य से पहले नहीं देखा गया
दर्शितं, आत्म-योगात्	अपने योगबल से दर्शाया गया है		

---

* 'सहस्रबाहु' के सामने 'चतुर्भुज' शब्द भी अलङ्कार से वर्णित है। चतुर्भुज से चारों दिशाओं की रक्षा करता हुआ अभिप्रेत है। (पं० राजाराम)

अन्वयार्थ—श्रीभगवान् बोले—हे अर्जुन ! मुझ प्रसन्न हुए से जो यह तेजोमय, अनन्त, आद्य और परम विश्व-रूप अपने योगबल से तुझे दर्शाया गया है, तेरे से अतिरिक्त किसी दूसरे से पहले नहीं देखा गया ॥ ४७ ॥

व्याख्या—अर्जुन को भयभीत देखकर श्रीभगवान् इस प्रकार प्रिय वचनों से बोले—हे अर्जुन ! मैंने तेरी प्रार्थना पर प्रसन्न होकर जो यह तेजोमय (तेज का पुञ्ज-रूप, अति प्रकाशवान्), अनन्त (अन्त-रहित), आद्य (सबका आदि कारण वा सबसे पहले का) और परम उत्कृष्ट विश्व-रूप अपने योगबल से तुझे दर्शाया है, उसे तेरे से अतिरिक्त किसी दूसरे ने कभी पहले नहीं देखा ॥ ४७ ॥

और—

न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानैर्न च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः। एवं रूपः शक्य अहं नृलोके द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर ॥ ४८ ॥

न, वेद-यज्ञ-अध्ययनैः, न, दानैः	न वेद-यज्ञों के अध्ययन से, न दानों से	एवं, रूपः, शक्यः, अहं, नृ-लोके, द्रष्टुं, त्वत्-अन्येन, कुरु-प्रवीर	हे कुरुओं में श्रेष्ठ ! ऐसे रूपवाला मैं इस नर-लोक में तुझसे विना अन्य से देखा जाने के समर्थ हूँ
न, च, क्रियाः-भिः, न, तपोभिः, उग्रैः	न क्रियाओं से और न उग्र तपों से		

अन्वयार्थ—हे कुरुप्रवीर ! न वेद-यज्ञों के अध्ययन से, न दानों से, न (नाना) क्रियाओं से और न उग्र तपों से मैं ऐसे रूपवाला इस मनुष्य-लोक में तेरे विना दूसरे से देखा जा सकता हूँ ॥ ४८ ॥

व्याख्या—हे कुरु-वंश में श्रेष्ठ वा अति शूरवीर अर्जुन ! जो विश्व-रूप मेरा तूने इस नरलोक में देखा है, ऐसा रूप (अथवा ऐसे रूप से मैं) इस मनुष्य-लोक में तेरे से विना किसी दूसरे से न चारों वेदों के अध्ययन से देखा जा सकता है, न वेदों में वर्णित यज्ञों के विधिपूर्वक ज्ञान से, न तुला आदि दानों से, न अग्निहोत्रादि कर्म अथवा योग की नाना क्रियाओं से, और न कृच्छ्रचान्द्रायणादि घोर तपों से ही देखा जा सकता है। तात्पर्य यह है कि भगवान् की जिस पर कृपा होती है, उसे ही ऐसे दर्शन होते हैं, अन्य को नहीं। उपनिषदों में आया है—"नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन। यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैव आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम् ॥" (मुं० ३. २. ३)=यह आत्मा न वेद से पाया जा सकता है, न मेधा से, और न बहुत सुनने (सीखने) से ; हाँ, जिसको यह (आत्मा) आप चुन लेता है, वही उसे पा सकता है, उसके शरीर को यह आत्मा अपना (देह) चुनता है। और भगवत्-निमित्त अनन्य भक्ति ही मनुष्य को इस कृपा का पात्र बनाती है ॥ ४८ ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार धीरज देते हुए भगवान् अब अर्जुन को अपना सौम्य-रूप दर्शाते हैं—

मा ते व्यथा मा च विमूढभावो दृष्ट्वा रूपं घोरमीदृङ् ममेदम् । व्यपेतभीः प्रीतमनाः पुनस्त्वं तदेव मे रूपमिदं प्रपश्य ॥ ४९ ॥

मा, ते, व्यथा=	तुझे व्यथा मत हो	व्यपेत-भीः, प्रीत-मनाः, पुनः, त्वं	दूर हुए भयवाला प्रसन्न चित्तवाला होकर तू फिर
मा, च, विमूढभावः	और विमूढ़-भाव मत हो		
दृष्ट्वा, रूपं, घोरं ईदृक्, मम, इदं	मेरे इस ऐसे घोर रूप को देखकर	तत्, एव, मे, रूपं, इदं, प्रपश्य	वह ही मेरा यह रूप देख

अन्वयार्थ—(हे अर्जुन !) मेरे इस ऐसे घोर-रूप को देखकर तुझे व्यथा और मूढ़-भाव मत हो। भय को परे फेंककर, और प्रसन्न-चित्त होकर तू पुनः मेरे उसी (पहलेवाले सौम्य) रूप को देख ॥ ४९ ॥

व्याख्या—हे प्रिय अर्जुन ! तू मेरे इस अतिघोर (भयानक, विकराल, क्रूर, उग्र) रूप को देखकर भय मत कर (अथवा पीड़ा, दुःख को प्राप्त मत हो), और न विमूढ़-भाव को प्राप्त हो ; अर्थात् मत घबरा अथवा व्याकुल वा विमूढ़-चित्त मत हो। भय को परे फेंक, और निर्भय हुआ प्रसन्न-चित्त हो। इस प्रकार निर्भय और प्रसन्न-चित्त होकर तू फिर मेरे उसी पहलेवाले "मुकुट, गदा, चक्रधारी, चतुर्भुज" सौम्य-रूप को देख ॥ ४९ ॥

सम्बन्ध—उक्त सारे वृत्तान्त को सञ्जय अब राजा धृतराष्ट्र के प्रति कहता है—

सञ्जय उवाच—

इत्यर्जुनं वासुदेवस्तथोक्त्वा स्वकं रूपं दर्शयामास भूयः। आश्वासयामास च भीतमेनं भूत्वा पुनः सौम्यवपुर्महात्मा ॥ ५० ॥

इति, अर्जुनं, वासुदेवः, तथा, उक्त्वा	इस प्रकार अर्जुन को कहकर वासुदेव भगवान् ने वैसे ही	आश्वासयामास, च, भीतं, एनं	और इस भयभीत को धीरज दिया
स्वकं, रूपं, दर्शयामास, भूयः	अपने रूप को फिर दर्शाया	भूत्वा, पुनः, सौम्य-वपुः, महात्मा	फिर महात्मा सौम्य शरीरवाला होकर

अन्वयार्थ—सञ्जय बोला—इस प्रकार अर्जुन को कहकर फिर वासुदेव भगवान् ने अपना वैसा (पूवला) रूप दर्शाया और फिर महात्मा (कृष्ण) ने सौम्य शरीरवाला होकर इस भयभीत अर्जुन को धीरज दिया ॥ ५० ॥

व्याख्या—पूर्व वृत्तान्त के सम्बन्ध में सञ्जय ने धृतराष्ट्र से कहा कि हे राजन् ! इस प्रकार पूर्वोक्त कथन को अर्जुन के प्रति कहकर वासुदेव भगवान् (श्रीकृष्ण) ने फिर अपना वही पहलेवाला सौम्य-रूप दर्शाया जो किरीट, गदा और चक्रवाला था। और विश्व-रूप धारण करने से पहले जो सुन्दर, शान्त, प्यारा और मनोहर शरीर भगवान् का था, उसी को धारण करके महात्मा कृष्ण ने उस भयभीत अर्जुन को आश्वासन (धीरज, तसल्ली) दिया ॥ ५० ॥

सम्बन्ध—इस सौम्य-रूप को देखने से निर्भय हुआ अर्जुन अब भगवान् के आगे अपने चित्त का हुलास प्रकट करता है—

अर्जुन उवाच—

दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन ।
इदानीमस्मि संवृत्तः सचेताः प्रकृतिं गतः ॥५१॥

दृष्ट्वा, इदं, मानुषं, रूपं, तव, सौम्यं, जन-अर्दन	हे लोगों को दण्ड देनेवाले (भगवान् कृष्ण)! तेरे (आप के) इस सौम्य मनुष्य-रूप को देखकर	इदानीं, अस्मि, संवृत्तः, सचेताः, प्रकृतिं, गतः	अब मैं सचेत हुआ हूँ और अपनी प्रकृति को प्राप्त हुआ हूँ

अन्वयार्थ—अर्जुन बोला—हे जनार्दन! आपके इस सौम्य मनुष्य-रूप को देखकर अब मैं सचेत हो गया हूँ और अपनी प्रकृति को प्राप्त हुआ हूँ॥ ५१॥

व्याख्या—भगवान् के सौम्य-रूप को देखकर अर्जुन बोला—हे जनार्दन! अर्थात् हे दैत्यजनों व दुष्टों के नाशक वा दण्ड-दाता और भक्त-जनों के रक्षक भगवान् कृष्णजो! आपके इस सौम्य (प्यारे, भोलेभाले, शान्त, सुन्दर और सुख-दायक), और मनुष्य-देहधारी रूप को देखकर अब मैं सचेत (प्रसन्नचित्त, स्वस्थचित्त, निर्व्याकुल वा शान्तचित्त) हो गया हूँ, और अपनी प्रकृति को भी प्राप्त हुआ हूँ, अर्थात् अब मेरा मन ठिकाने आ गया है (वा मेरा होश ठिकाने लग गया है) और मैं पहले की भाँति सावधान हो गया हूँ (वा अब मेरे जी में जी आ गया है)॥ ५१॥

सम्बन्ध—अर्जुन के उक्त कथन पर अब भगवान् कहते हैं—

श्रीभगवानुवाच—

सुदुर्दर्शमिदं रूपं दृष्टवानसि यन्मम।
देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकाङ्क्षिणः॥ ५२॥

सु-दुर्-दर्शं, इदं, रूपं, दृष्ट-वान्, असि, यत्, मम	जो मेरे इस अति कठिनता से देखे जानेवाले रूप को तू ने देखा है	देवाः, अपि, अस्य, रूपस्य, नित्यं, दर्शन-काङ्क्षिणः	देवता भी इस रूप के नित्य दर्शन के आकांक्षी हैं

अन्वयार्थ—श्रीभगवान् बोले—(हे अर्जुन!) जो मेरे इस अति कठिनता से देखे जानेवाले रूप को तू ने देखा है, देवता भी इस रूप के नित्य दर्शन के आकांक्षी हैं॥ ५२॥

व्याख्या—अर्जुन के उक्त कथन पर भगवान् बोले—हे अर्जुन! जिस मेरे विश्व-रूप को तू ने देखा है और जिसका देखना औरों के लिये अत्यन्त कठिन बल्कि असम्भव-सा है, मेरे इस सुदुर्दर्शन-रूप को देखने की आकांक्षा (अभिलाषा) नित्य देवता भी करते रहते हैं, पर वे अभी तक इस रूप को तेरे समान नहीं देख सके ॥ ५२ ॥

और—

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया ।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा ॥५३॥

न, अहं, वेदैः, न, तपसा, न, दानेन, न, च, इज्यया	मैं न वेदों से, न तप से, न दान से, और न यज्ञ से	शक्यः, एवं, विधः, द्रष्टुं, दृष्टवान्, असि, मां, यथा	जैसा मुझे तूने देखा है, उसी प्रकार देखा जाने के समर्थ हूँ

अन्वयार्थ—(हे अर्जुन !) जैसा मुझे तू ने देखा है, उस प्रकार मैं न वेदों से, न तप से, न दान से और न यज्ञ से देखा जा सकता हूँ ॥ ५३ ॥

व्याख्या—और हे अर्जुन ! जिस प्रकार तू ने अपनी भक्ति के प्रभाव से मुझे अर्थात् मेरे इस विश्व-रूप को सुगमतापूर्वक देखा है, इस प्रकार कोई पुरुष मेरे इस महान्-रूप का दर्शन न वेदों के अध्ययन से, न उग्र तप से, न तुलादि दान से और न अग्निहोत्रादि श्रौत-स्मार्त कर्मों से कर सकता है ॥ ५३ ॥

सम्बन्ध—फिर जिस उपाय से यह रूप देखा जा सकता है, उसे भगवान् अब वर्णन करते हैं—

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवं विधोऽर्जुन ।
ज्ञातुं द्रष्टुञ्च तत्त्वेन प्रवेष्टुञ्च परंतप ॥५४॥

भक्त्या, तु, अनन्यया, शक्यं, अहं, एवं, विधः, अर्जुन	किन्तु हे अर्जुन ! अनन्य भक्ति से मैं इस प्रकार (देखा जा) सकता हूँ	ज्ञातुं, द्रष्टुं, च, तत्त्वेन, प्रवेष्टुं, च, परंतप	और हे शत्रु-तापन (अर्जुन) ! तत्त्व से जानने, देखने और प्रवेश किये जाने के (समर्थ हूँ)

अन्वयार्थ—किन्तु हे अर्जुन ! हे परन्तप ! अनन्य भक्ति ❀ से मैं इस प्रकार तत्त्व से जाना, देखा और प्रवेश किया जा सकता हूँ ॥ ५४ ॥

व्याख्या—परन्तु हे अज्ञान-रूपी शत्रु को नाश करनेवाले अथवा सर्व प्रकार के शत्रुओं को तपाने वा सतानेवाले अर्जुन ! जैसा तूने मुझे विश्व-रूप से देखा है, यद्यपि वेदों, तपों, दानों वा यज्ञों से वैसा नहीं देखा जा सकता; तथापि यदि कोई मुझे वैसा देखना, जानना और प्रवेश करना चाहे, तो वह केवल मुझमें अनन्य भक्ति से कर सकता है; अर्थात् उस निरतिशय प्रीति से कि जो मुझ भगवान् से इतर अन्य किसी के साथ न हो, और सम्पूर्ण रूप से मैं ही उसका प्रेम-पात्र होऊँ, ऐसा प्रत्येक अनन्य भक्त (सर्वोपरि प्यारा) मुझे तत्त्व से जान सकता, देख सकता और मुझमें पूर्ण प्रवेश कर सकता है ॥ ५४ ॥

सम्बन्ध—अब भगवान् इस अनन्य भक्ति का स्वरूप फल के सहित अर्जुन के प्रति वर्णन करते हैं—

❀ भक्ति करने से पहले परमेश्वर का ज्ञान होता है, और अन्त में फिर परमेश्वर के साथ उसका तादात्म्य हो जाता है। यही सिद्धान्त पहले ४.२६ में और आगे १८.५५ में फिर आया है। (श्रीतिलक महाराज)

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः ।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव ॥५५॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे विश्वरूपदर्शनं नाम
एकादशोऽध्यायः ।

पद	अर्थ	पद	अर्थ
मत्,कर्म-कृत=	मेरे लिये कर्म करनेवाला	निर्-वैरः, सर्व, भूतेषु	सब भूतों में वैर-रहित
मत्-परमः=	मुझे परम माननेवाला		
मत्-भक्तः, संग-वर्जितः	संग से रहित मेरा भक्त	यः, सः, माम्, एति, पाण्डव	हे अर्जुन ! जो (है) वह मुझको प्राप्त होता है

अन्वयार्थ—हे पाण्डव ! मत्कर्म-कृत, मत्परम, संग-रहित, मद्भक्त और सब भूतों में निर्वैर जो है, वह मुझे प्राप्त होता है ॥ ५५ ॥

व्याख्या—हे पाण्डु-पुत्र अर्जुन ! जो मेरे लिये ही कर्म करता है, अर्थात् जो सब कर्म भगवदर्पण-दृष्टि से ही करता है; जो मुझे ही परम मानता है, अर्थात् मैं ही जिसका परम लक्ष्य वा उद्देश्य हूँ, और मुझे ही प्राप्त करना जो अपना मुख्य कर्तव्य समझता है; जो मेरा ही संग-रहित भक्त है, अर्थात् जो किसी पुत्रादि से आसक्ति न रखता हुआ मेरा ही अनन्य भक्त है; और जिसको किसी भी प्राणी से वैर-भाव नहीं है; ऐसा मनुष्य अवश्य मुझे ही प्राप्त होता है, अर्थात् मुझसे अभेद

होता मुझ परम-स्वरूप में लीन होता है, किसी दूसरी ओर नहीं जाता* ॥ ५५ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतानुवादे विश्वरूपदर्शनं नाम एकादशोऽध्यायः ।

---

* उक्त श्लोक का आशय यह है कि जगत् के सब व्यवहार भगवद्भक्त को परमेश्वरार्पण-बुद्धि से करना चाहिए (ऊपर ३३वाँ श्लोक देखो), अर्थात् उसे सारे व्यवहार इस निरभिमान-बुद्धि से करना चाहिए कि जगत् के सभी कर्म परमेश्वर के हैं, सच्चा कर्ता और करानेवाला वही है ; किन्तु हमें निमित्त बनाकर वह ये कर्म हमसे करवा रहा है ; ऐसा करने से वे कर्म शांति अथवा मोक्ष-प्राप्ति में बाधक नहीं होते । शङ्कर-भाष्य में भी यही कहा है कि इस श्लोक में पूरे गीता-शास्त्र का तात्पर्य आ गया है । इससे प्रकट है कि गीता का भक्ति-मार्ग यह नहीं कहता कि आराम से 'राम-राम' जपा करो ; प्रत्युत उसका कथन है कि उत्कट भक्ति के साथ ही साथ उत्साह से सब निष्काम कर्म करते रहो । संन्यास-मार्गवाले कहते हैं कि 'निर्वैर' का अर्थ निष्क्रिय है ; परन्तु यह अर्थ यहाँ विवक्षित नहीं है, इसी बात को प्रकट करने के लिये उसके साथ 'मत्कर्मकृत' अर्थात् 'सब कर्मों को परमेश्वर के (अपने नहीं) समझकर परमेश्वरार्पण-बुद्धि से करनेवाला' विशेषण लगाया गया है । (श्रीतिलक महाराज)

ग्यारहवें अध्याय का संक्षेप

(१) पूर्वले अध्याय में भगवान् ने अपनी नाना विभूतियों का वर्णन करने के बाद जो अन्त में संक्षेप से ऐसे कहा कि "इस सारे जगत् को मैं अपने एक अङ्ग में धारण करके स्थित हूँ।" इसको सुनकर अर्जुन को परम उत्कंठा हुई कि भगवान् के इस एक अंश में धारण हुए विश्व-रूप का मैं दर्शन करूँ, इसलिये अर्जुन विनयपूर्वक भगवान् से ऐसे प्रार्थना करता है—

(क) मेरे अनुग्रह के लिये जो अध्यात्म नामवाला परम गुह्य वचन आपने कहा है, उससे मेरा मोह जाता रहा है।

(ख) हे कमल-पत्र के सदृश नेत्रवाले भगवान् कृष्ण! आपसे मैंने भूतों की उत्पत्ति, प्रलय और आपका अगाध माहात्म्य भी विस्तारपूर्वक सुना।

(ग) आप जैसा अपने आपको निरूपण करते हैं, वह ठीक वैसा ही है। पर हे पुरुषोत्तम! मैं आपके उसी ईश्वरीय रूप को, जो आपने पूर्वले अध्याय में नाना विभूतियों से वर्णन किया है, देखना चाहता हूँ।

(घ) हे प्रभो! यदि आप समझते हैं कि मैं आपके इस ईश्वरीय रूप (विश्व-रूप) को देख सकता हूँ, तो आप मुझे कृपया अवश्य दिखलाइए।

(२) अर्जुन की इस प्रार्थना पर भगवान् उसे अपना अद्भुत रूप दर्शाने-निमित्त ऐसा कहते हैं—

(क) हे अर्जुन! तू मेरे अनेक प्रकार के दिव्य, नाना वर्ण और आकृतियोंवाले सैकड़ों तथा हज़ारों रूपों को देख।

(ख) हे भारत! आदित्यों, वसुओं, रुद्रों, अश्विनीकुमारों तथा मरुद्गणों और बहुत-से न देखे हुए रूपों को तू देख।

(ग) हे गुडाकेश ! तू आज मेरे इस देह में एक ही जगह स्थित सारे चराचर जगत् को तथा अन्य जो कुछ तू देखना चाहता है, देख ।

(घ) परन्तु अपने इसी चमड़े के नेत्र (चर्मचक्षु) से तू मुझे देख नहीं सकता, इसलिये मैं तुझे दिव्य नेत्र (ज्ञान-चक्षु) देता हूँ। उस नेत्र से तू मेरे ऐश्वर्य-युक्त योग (अथवा योग और ऐश्वर्य) को देख ।

(३) श्रीकृष्णार्जुन के उक्त संवाद को उसके परिणाम के सहित सञ्जय अपने राजा धृतराष्ट्र को यों सुनाता है—

(क) हे राजा धृतराष्ट्र ! अर्जुन को दिव्य नेत्र देकर जब भगवान् ने अपना अद्भुत रूप देखने को कहा, तब महायोगेश्वर हरि ने अर्जुन को अपना परम ऐश्वर्य-भरा रूप दर्शाया ।

(ख) उस रूप में अनेक मुख-नेत्र, अनेक अद्भुत दर्शन, अनेक दिव्य भूषण और अनेक दिव्य शस्त्र धारण हुए-हुए थे ।

(ग) दिव्य माला-वस्त्र धारण किये हुए, दिव्य गंध धारण किये हुए, सर्व प्रकार से आश्चर्य-रूप, प्रकाश-स्वरूप, अनन्त-स्वरूप और सर्व ओर मुखवाला वह रूप था ।

(घ) आकाश में यदि हजार सूर्यों की प्रभा एकसाथ उठी हो, तो वह भी उस महात्मा की प्रभा के सदृश शायद ही हो ।

(४) भगवान् के विश्व-रूप को जैसा सञ्जय ने स्वयं देखा, उसे वर्णन करने के बाद अब जिस प्रकार उस विश्व-रूप को अर्जुन देखता है, उसे राजा धृतराष्ट्र के आगे वह (संजय) वर्णन करता है—

(क) वहाँ देवों के भी देव के शरीर में अनेक प्रकार से विभक्त जगत् को अर्जुन ने सारा-का-सारा एक ही जगह में स्थित देखा ।

(ख) इस प्रकार भगवान् के शरीर में समस्त जगत् को एक ही जगह में स्थित देखकर अर्जुन को बड़ा आश्चर्य हुआ, उसके रोमाञ्च खड़े हो गये। और मस्तक नवाकर प्रणाम करके एवं हाथ जोड़-कर भगवान् से वह यों कहने लगा—

(ग) हे देव! मैं आपकी देह में सारे देवताओं, नाना प्रकार के प्राणियों के समुदायों, कमल-आसन पर स्थित ब्रह्मा, समस्त ऋषियों और दिव्य सर्पों को देखता हूँ।

(घ) अनेक बाहु, अनेक उदर, अनेक मुख और अनेक नेत्रधारी तथा सर्व ओर से आपको अनन्त-रूपी मैं देखता हूँ। और हे विश्वेश्वर! हे विश्व-रूप! न तो आपका आदि, न मध्य और न अन्त ही मुझे कहीं देख पड़ता है।

(ङ) मुकुट, गदा और चक्रधारी, तेज का पुञ्ज-रूप, सर्व ओर से प्रकाशमान और प्रज्वलित अग्नि तथा सूर्य के समान दीप्तमान, आँखों से देखने में भी अशक्य, और अप्रमेय (अपरम्पार) आपको मैं देखता हूँ।

(च) आप ही परम ज्ञेय अक्षर (ब्रह्म), आप ही इस विश्व के परम आधार, आप ही अव्यय, आप ही शाश्वत धर्म के रक्षक और सनातन पुरुष मुझे जान पड़ते हो।

(छ) मैं आपको आदि, मध्य और अन्त से रहित, अनन्त शक्ति और भुजावाला, चन्द्र-सूर्य-रूप नेत्रवाला, प्रज्वलित अग्नि के मुखवाला और निज तेज से इस समस्त जगत् को तपाते हुए देखता हूँ।

(ज) हे महात्मन्! आकाश और पृथिवी के बीच का अंतर (पोल) और सारी दिशाएँ आप अकेले ही से व्याप्त हैं। आपके इस अद्भुत और उग्र रूप को देखकर (भय से) तीनों लोक काँप रहे हैं।

(झ) यह देखो, देवताओं के समूह आपमें प्रवेश कर रहे हैं, कुछ एक भय से हाथ जोड़े स्तुति कर रहे हैं, और 'स्वस्ति, स्वस्ति' कहकर महर्षि और सिद्धों के समूह अनेक प्रकार के स्तोत्रों से आपकी स्तुति कर रहे हैं।

(ञ) रुद्र, आदित्य, वसु, साध्य, विश्वदेवता, अश्विनीकुमार, मरुत्, उष्मपा, गन्धर्व, यक्ष, असुर और सिद्धों के झुण्ड-के-झुण्ड सभी विस्मित हुए आपको देख रहे हैं।

(ट) हे भगवन्! अनेक मुख, नेत्र, बाहु, जङ्घा, पाँव, हाथ, उदर और भयानक दाढ़ोंवाले आपके इस महान् रूप को देखकर सब लोगों को और मुझे भी भय हो रहा है।

(ठ) हे भगवन्! आकाश से स्पर्श करते हुए, प्रकाशमान, अनेक रङ्गों से युक्त, जबड़े फैलाये हुए और चमकीले विशाल नेत्रों से युक्त आपको देखकर मेरा अन्तरात्मा घबरा गया है, इससे मैं धीरज और शान्ति खो बैठा हूँ।

(ड) हे देवेश! कालाग्नि के समान दाढ़ों से विकराल मुखों को देखकर न मुझे दिशाएँ ही सूझती हैं और न विश्रान्ति मिलती है। हे जगन्निवास! आप प्रसन्न हूजिए, अर्थात् मुझ पर कृपा कीजिए।

(ढ) और यह देखो! राजाओं के झुण्डों-समेत धृतराष्ट्र के सब पुत्र, भीष्म, द्रोण और वह सूतपुत्र (कर्ण), तथा हमारी भी ओर के मुख्य-मुख्य योधा आपके विकराल और भयानक दाढ़ोंवाले मुखों में धड़ाधड़ घुस रहे हैं, और कुछ लोग दाँतों में लगे ऐसे दिखाई देते हैं कि उनकी खोपड़िया चूर हैं।

(ण) जैसे नदियों के प्रवाह समुद्र की ओर दौड़े जाते हैं, वैसे ही नर-लोक के ये वीर आपके प्रज्वलित मुखों में घुस रहे हैं।

(त) प्रज्वलित अग्नि में नाशार्थ बड़े वेग से जिस प्रकार पतङ्ग जा पड़ते हैं, वैसे ही आपके मुखों में ये घुस रहे हैं।

(थ) हे विष्णु ! चारों ओर से सब लोगों को अपने प्रज्वलित मुखों से निगलकर आप जीभ चाट रहे हैं और आपकी उग्र कान्ति अपने तेज से समस्त जगत् को परिपूर्ण करके तपा रही है।

(द) मुझे बतलाइए कि आप यह उग्र-रूप कौन हैं ? मैं जानना चाहता हूँ कि आप आदि-पुरुष कौन हैं ?

(५) अर्जुन के इस प्रश्न पर भगवान् अपने रूप और प्रवृत्ति को सविस्तर वर्णन करते हैं—

(क) मैं लोकों का नाश करनेवाला काल हूँ और उनके संहार करने को आया हूँ। तेरे न हाथ हिलाने पर भी ये योधा जीवित न रहेंगे।

(ख) इसलिये हे अर्जुन ! तू उठ और मुफ्त में यश को प्राप्त कर। इन शत्रुओं को जीतकर निष्कण्टक राज्य को भोग। ये सब तो मेरे से पहले ही से मारे जा चुके हैं, तू केवल निमित्त-मात्र बन और इन मारे हुओं को अपने हाथ से मार डाल।

(ग) हे अर्जुन ! ये सब मुझसे पहले ही से मारे जा चुके इन द्रोण-भीष्मादि योधाओं को तू मार, मत डर, युद्ध कर, तू ही जीतेगा।

(६) भगवान् के इस उत्तर को सुनकर अर्जुन की जो दशा हुई, उसे अब सञ्जय राजा धृतराष्ट्र को सुनाता है—

(क) केशव के इस वचन को सुनकर अर्जुन भयभीत हुआ, काँपते हुए, हाथ जोड़े और प्रणाम करते हुए गद्गदवाणी से यों बोला—

(ख) हे भगवन् ! यह सब ठीक है कि आपकी प्रकीर्ति से जगत् हर्ष और अनुराग को प्राप्त होता है, राक्षस लोग भयभीत हुए चारों ओर भागे फिरते हैं, और सिद्धों के झुण्ड-के-झुण्ड आप ही को नमस्कार करते हैं।

(ग) और हे महात्मन् ! जब आप ब्रह्मा के श्रीगुरु, आदि कर्ता, अक्षर, सत्-असत् और इससे भी जो परे है, वह सब हैं, तब ऐसा क्योंकर हो सकता है कि ये सिद्धों इत्यादि के झुण्ड आपको नमस्कार न करें ?

(घ) हे अनन्त-रूप ! आप आदि-देव, पुरातन पुरुष, विश्व के परम आधार, सब के ज्ञाता, ज्ञेय और परम धाम हैं, और आप ही से यह सारा विश्व व्याप्त हो रहा है।

(ङ) आप वायु, यम, अग्नि, वरुण, चन्द्रमा, प्रजापति (ब्रह्मा), और प्रपितामह हो। आपको पुनः-पुनः हज़ार-हज़ार बार नमस्कार हो।

(च) आपको आगे, पीछे, ऊपर-नीचे, सर्व ओर से नमस्कार हो। आप अनन्त बल और पराक्रम से सबमें व्याप रहे हो, अतः सर्व-रूप हो।

(छ) 'आप सखा हैं' ऐसा समझकर और आपकी महिमा को न जानकर 'हे कृष्ण ! हे यादव ! हे सखे !' ऐसा रूखा वचन मारे प्यार वा प्रमाद के जो कुछ मैंने कह डाला और अकेले या लोगों के सामने, खाते-पीते, उठते-बैठते और सोते समय जो कुछ हँसी-दिल्लगी में आपका अपमान किया, उसको मैं अन्तः हृदय से क्षमा माँगता हूँ।

(ज) आप इस चराचर जगत् के पिता, पूज्य, गुरु तथा गुरुतर हो। तीनों लोकों में आपके समान कोई नहीं है, बढ़कर तो फिर कहाँ ?

(झ) इसलिये मैं आपको ही प्रणाम करके मनाता हूँ, और जैसे पिता पुत्र के और सखा सखा के अपराधों को क्षमा करता है, वैसे मैं जो आपका अति प्यारा हूँ, ऐसे मुझ अपने प्रेमपात्र के अपराध भी आपको क्षमा करने होंगे।

(ञ) हे भगवन् ! पहले न देखे हुए रूप को देखकर मैं हर्षित और व्याकुल हूँ, इसलिये अपने पहले सौम्य-रूप को ही आप दर्शाइए।

(ट) मुकुट, गदा और चक्रधारी वही आपका पहला रूप मैं देखना चाहता हूँ, कृपया वैसे ही रूप से प्रकट हूजिए।

(७) इस प्रकार प्रार्थना किये जाने पर भगवान् अब अर्जुन को ऐसे धीरज देते हैं—

(क) हे अर्जुन ! मैंने प्रसन्न होकर जो तुझे यह तेजोमय विश्व-रूप दर्शाया है, तेरे विना और किसी ने ऐसा पहले नहीं देखा।

(ख) वेद-यज्ञों के अध्ययन, दानों, नाना क्रियाओं और उग्र तपों से भी कोई मेरे इस विश्व-रूप को इस मृत्यु-लोक में सिवा तेरे नहीं देख सका।

(ग) इसलिये मेरे इस घोर रूप को देखकर तू घबरा मत और न भय कर, बल्कि भय को परे फेंककर प्रसन्न-चित्त हुआ तू मेरे पहलेवाले सौम्य-रूप को अब देख।

(८) श्रीकृष्णार्जुन के इस समस्त वृत्तान्त को सञ्जय अब राजा धृतराष्ट्र के प्रति यों कहता है—

(क) 'तू मेरे सौम्य-रूप को अब देख' ऐसा भगवान् ने अपना सौम्य-रूप दर्शाया और फिर भयभीत अर्जुन को, हे राजन् ! वासुदेव भगवान् ने आश्वासन दिया।

(ख) तब अर्जुन बोला कि हे जनार्दन ! आपके इस सौम्य और मनुष्य-देहधारी रूप को देखकर अब मैं सचेत हो गया हूँ और मेरे जी में जी आ गया है ।

(६) अर्जुन के उक्त कथन पर भगवान् अब अपना यह विचार स्पष्ट करते हैं—

(क) हे अर्जुन ! जो मेरे इस सुदुर्दर्शन रूप को तूने देखा है, देवता भी इसके देखने की नित्य आकांक्षा रखते हैं ।

(ख) जैसा तूने मुझे देखा है, वैसा मैं वेदों, तपों, दानों और यज्ञों से भी नहीं देखा जा सकता हूँ ।

(ग) किन्तु एक अनन्य भक्ति ही से मैं तत्त्व से देखा, जाना और प्रवेश किया जा सकता हूँ ।

(१०) ऐसा कहकर भगवान् अन्त में अर्जुन को अब अनन्य भक्ति का स्वरूप फल के सहित वर्णन करते हैं—

हे अर्जुन ! क्योंकि अनन्य भक्ति ही से मेरे विश्व-रूप को कोई जान सकता वा देख सकता है । इसलिये जो भी कोई इस बुद्धि से कर्म करता है कि सब कर्म मेरे अर्थात् भगवान् के हैं, जो सम्पूर्ण मेरे परायण है, जो सङ्ग-रहित हुआ मेरा अनन्य भक्त है, और जो सब प्राणियों के विषय में निर्वैर है, ऐसा भक्त अवश्य मुझमें आ मिलता है, अर्थात् मुझ से अभेद हुआ मेरे परम-स्वरूप में लीन होता है ।

इस प्रकार श्रीभगवान् से गाये हुए अर्थात् कहे हुए उपनिषद् में, ब्रह्मविद्यान्तर्गत योगशास्त्र-विषयक, श्रीकृष्ण और अर्जुन के संवाद में, विश्वरूप-दर्शन-नामक ग्यारहवाँ अध्याय समाप्त हुआ ।

---

* ॐ *

द्वादशोऽध्यायः

सम्बन्ध—दूसरे अध्याय से लेकर ग्यारहवें तक भगवान् ने ब्रह्म (अर्थात् अपने परम-स्वरूप) के दो रूप वर्णन किये। एक अव्यक्त वा शुद्ध, दूसरा व्यक्त वा शबल। शुद्ध वा अव्यक्त रूप का वर्णन तो उन्होंने दशवें अध्याय तक बहुत स्थानों में किया है। जैसे "कविं पुराणमनुशासितारमणोरणीयां समनुस्मरेद्यः।" (८. ९) "यदक्षरं वेदविदो वदन्ति।" (८. ११) "परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात् सनातनः।" (८. २०) "अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम्। यं प्राप्य न निवर्त्तन्ते तद्धाम परमं मम।" (८. २१) इत्यादि। और शबल वा व्यक्त रूप का वर्णन व्यष्टि-रूप से तो दशवें अध्याय में और समष्टि-रूप से ग्यारहवें अध्याय में किया है। ग्यारहवें अध्याय में तो भगवान् ने विश्व-रूप का साक्षात् दर्शन कराकर अर्जुन को अनन्य भक्ति की ओर प्रेरा है, और अन्त में उस भक्ति का स्वरूप फल के सहित ऐसे निरूपण किया है कि "मेरे अर्थ कर्म करनेवाला, मुझे ही परम गति माननेवाला (वा मत्परायण) और किसी भी प्राणी से वैर न रखनेवाला सब आसक्तियों से रहित मेरा अनन्य भक्त मुझे प्राप्त होता है।" अब अर्जुन को यह सहज स्वभाव संशय उठ रहा है कि सातवें-आठवें अध्याय में तो क्षर-अक्षर-विचारपूर्वक ब्रह्म (परमात्मा) के अव्यक्त रूप को ही श्रेष्ठ सिद्ध करके अव्यक्त वा अक्षर की उपासना बताई है (देखो ७. १९-२४ ; ८.९ ;

११.२०-२१), और फिर नवें अध्याय में अपने को सर्व संसार का कर्ता, भोक्ता और क्रतु दर्शाकर अपने परम स्वरूप की उपासना मदर्पण-बुद्धि इत्यादि से बताई है (देखो ९.२४, २५, २६, २७, ३४) । अब ग्यारहवें अध्याय में भगवान् ने अपना विश्व-रूप दर्शाकर उसी व्यक्त रूप की उपासना पर ही क्यों ज़ोर दिया है, अव्यक्त पर क्यों नहीं ? इस प्रकार 'मत्' शब्द के अर्थ में और उसकी दोनों प्रकार (व्यक्त और अव्यक्त-रूप) की उपासनाओं के फल वा परिणाम में संशय रखता हुआ अर्जुन अपने भ्रम के निवारणार्थ भगवान् से प्रश्न करता है, जिस पर बारहवाँ अध्याय आरम्भ होता है—

अर्जुन उवाच—

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते ।
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः ॥ १ ॥

एवं, सतत-युक्ताः, ये, भक्ताः, त्वां, परि-उपासते	इस प्रकार सदा युक्त हुए जो भक्त तुझे (आपको) उपासते हैं	ये, च, अपि, अक्षरं, अव्यक्तं, तेषां, के, योग-वित्तमाः	और जो अव्यक्त अक्षर को ही (उपासते हैं), उनमें कौन बढ़कर योग के जाननेवाले हैं

पहला अन्वयार्थ—अर्जुन बोला—(हे भगवन् !) इस प्रकार सदा युक्त हुए जो आपको उपासते हैं, और जो अव्यक्त अक्षर को उपासते हैं, उनमें से कौन बढ़कर योग के जाननेवाले हैं ? ॥ १ ॥

दूसरा अन्वयार्थ—अर्जुन बोला—(हे भगवन् !) जो आपको सदा इस प्रकार युक्त होकर उपासते हैं, और जो आपको अक्षर अव्यक्त-रूप से उपासते हैं, उनमें से कौन बढ़कर योग के जाननेवाले हैं ? ॥ १ ॥

व्याख्या—अर्जुन बोला—हे भगवन् ! जैसी आपने एकादश अध्याय

के अन्त में अनन्य भक्ति की विधि निरूपण की, उस विधि के अनुसार नित्य युक्त होकर जो आपको उपासते हैं, अर्थात् उक्त रीति से युक्त हो, जो आपको सदा विश्व-रूप वा सगुण-रूप से उपासते हैं, वे योग के उत्तम जाननेवाले हैं, या वे उत्तम जाननेवाले हैं, कि जो अक्षर और अव्यक्त की उपासना करते हैं अर्थात् जो आपको नित्य अव्यक्त और अक्षर-रूप से (अथवा अविनाशी अव्यक्त-रूप से) उपासते हैं ? ॥ १ ॥*

---

* श्रीज्ञानदेवजी अपने विचित्र ढंग से इसकी ऐसे व्याख्या करते हैं—"अर्जुन कहने लगा कि हे कृष्ण ! सुनिए, आपने मुझे विश्व-रूप दिखाया, उस अद्भुत स्वरूप को देखकर मेरा चित्त डर गया, और मुझे इस कृष्ण-मूर्ति का परिचय था, इसलिये मेरा अन्तःकरण इसकी ओर लग रहा, परन्तु देव ने मुझे हटककर मना किया। परन्तु व्यक्त और अव्यक्त दोनों निश्चय से आप ही एक हैं, भक्ति से आपके व्यक्त स्वरूप की प्राप्ति होती है और योग से अव्यक्त की। हे वैकुण्ठ ! ये दोनों मार्ग आपकी ही प्राप्ति के हैं। इसमें व्यक्त और अव्यक्त इन दो द्वारों में से जाना पड़ता है। परन्तु जो कस सब सोने का होता है, वही उससे अलगाये हुए एक रत्ती भर का होता है एवं व्यापक (समग्र) और एकदेशी (अंश) वस्तु की योग्यता समान है। अमृत के समुद्र से सामर्थ्य की जो महिमा मिलती है, वही महिमा अमृत-तरङ्गों से भरी हुई चुल्लू में भी रहती है। यह बात निश्चय से मेरे अन्तःकरण में सत्य प्रतीत हो गई है। परन्तु हे योगपति ! आपसे पूछने का हेतु यह है कि मैं यह जानना चाहता हूँ कि हे देव ! आपने क्षण भर जो विराट् रूप स्वीकारा था वही आपका सत्य स्वरूप है, अथवा उसे आपने कुतूहल से स्वीकार किया था ? इसलिये जो भक्त आप ही को कर्म समर्पण करते हैं, आप ही जिनके परम श्रेष्ठ हैं और जिन्होंने अपना मनोधर्म आपकी भक्ति के बदले मोल दे दिया है, ऐसे सब प्रकार से, हे श्रीहरि, जो आपको अन्तः-करण से बाँधे हुए आपकी उपासना करते हैं,- तथा जो ओंकार से परे है,

सम्बन्ध—अर्जुन के इस प्रश्न पर भगवान् यों उत्तर देते हैं—

श्रीभगवानुवाच—

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते ।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः ॥ २ ॥

मयि, आवेश्य, मनः, ये, माँ, नित्य-युक्ताः, उपासते	मुझमें मन लगाकर जो नित्ययुक्त हुए मुझे उपासते हैं	श्रद्धया, परया, उपेताः	परम श्रद्धा से युक्त
		ते, मे, युक्ततमाः, मताः	वे मेरे युक्ततम माने गये हैं

अन्वयार्थ—श्रीभगवान् बोले—मुझमें मन लगाकर जो नित्य युक्त हुए, परम श्रद्धा के साथ मुझे उपासते हैं, वे मेरे युक्ततम* माने गये हैं ॥ २ ॥

वैखरी वाणी के लिये दुर्घट है, और जो किसी के भी समान नहीं है उस अक्षर, अव्यक्त, निर्मल और व्यापक स्वरूप की जो ज्ञानी सोऽहं-भाव से उपासना करते हैं, उन ज्ञानियों और उक्त भक्तों में, हे अनन्त ! एक-दूसरे की अपेक्षा योग यथार्थ में किसे अवगत हुआ समझना चाहिए ?"

* "यह व्यक्त के उपासकों के विषय में कहा है। अर्जुन का अभिप्राय यह था कि अव्यक्त अक्षर ही परम-गति है, इसलिये दोनों में से अव्यक्त के उपासक को श्रेष्ठ कहकर उसकी उपासना बतलायेंगे। भगवान् उसको यह बतलाते हैं कि जब दोनों ही भगवान् के स्वरूप हैं, तो श्रद्धा भक्ति से जो व्यक्त के उपासक हैं, वह भी पूरे ही योगी हैं। त्रुटि उनमें भी कोई नहीं। युक्ततम का यह आशय नहीं कि अक्षर के उपासकों से वह श्रेष्ठ है, क्योंकि अक्षर के उपासक न्यून कैसे हो सकते हैं, जो अगली मंज़िल पर हैं, यही आगे स्पष्ट करेंगे।" (पं० राजाराम)। इस विषय को हिन्दी आनन्दगिरि-कृत टीका में ऐसे दिया है—"अर्जुन का प्रश्न और उसका यह उत्तर ऐसे

व्याख्या—उत्तर में भगवान् बोले—हे अर्जुन ! जो मुझ विश्व-रूप भगवान् अर्थात् मेरे सगुण-रूप के ध्यान में मन को नित्य लगाकर और पूर्व अध्याय के अन्त में जो अनन्य भक्ति-रूप साधन कहा, उससे नित्य युक्त होकर, परम श्रद्धा के साथ मुझ योगेश्वर (सगुण ब्रह्म वा मेरे शबल-रूप) को उपासते वा ध्याते हैं, उन्हें मैं अधिक युक्त अर्थात् सबसे श्रेष्ठ योगी मानता हूँ ॥ २ ॥*

समझो कि जैसी ये दो कथा पुरानी हम लिखते हैं—राजा ने सूरदासजी से पूछा कि कविता आपकी अच्छी है या तुलसीदासजी की ? उत्तर दिया कि मेरी। राजा ने फिर पूछा कि तुलसीदासजी की कविता कैसी है ? उत्तर दिया कि तुलसीदासजी की कविता नहीं मन्त्र हैं, आपका प्रश्न कविता के विषय है। विचारो, इस बोली में बड़ाई किसकी हुई ? एक भक्त ने देवी से पूछा कि कवि कालिदासजी श्रेष्ठ हैं या दण्डी स्वामी ? उत्तर दिया कि दण्डी स्वामी, और इस वाक्य को सरस्वतीजी ने तीन बार उच्चारण किया 'कविर्दण्डो कविर्दण्डी कविर्दण्डी न संशयः।' कालिदासजी ने पूछा कि हे देवी ! क्या मैं कवि नहीं ? देवीजी ने कहा कि आप तो मेरा स्वरूप ही हो, प्रश्न कवि के विषय है। इसी प्रकार अर्जुन ने उपासना के अनुष्ठान-क्रिया के विषय में प्रश्न किया है, ज्ञानी महात्मा क्रियावान् उपासक नहीं होते, 'ब्रह्मवित् ब्रह्मैव भवति'=ब्रह्म का जाननेवाला ब्रह्म ही होता है। इसलिये अर्जुन से भगवान् ने कहा कि जो मुझ सगुण ब्रह्म की परम श्रद्धा इत्यादि से उपासना करते हैं, वे मुझे युक्ततम (योगियों में श्रेष्ठ) सम्मत हैं। और जो कोई यह प्रश्न करे कि निर्गुण ब्रह्म के उपासक युक्ततम हैं या नहीं, उसका उत्तर पहले ही दो कथाओं के प्रसङ्ग में हो चुका कि वे युक्तयोगी नहीं किन्तु ब्रह्मरूप हैं।"

* श्रीज्ञानदेवजी अपने विचित्र ढङ्ग से इस श्लोक की ऐसे व्याख्या करते हैं—"हे किरीटी ! रवि अस्ताचल के समीप जाने पर उसके बिम्ब के पीछे जैसे किरण भी जाते हैं, अथवा हे पंडु-सुत ! वर्षा-काल आने पर जैसे नदी

सम्बन्ध—(१) अब अक्षर ब्रह्म (या शुद्ध-रूप) के उपासकों के विषय अपना निश्चय भगवान् कहते हैं—

अथवा (२) तो क्या फिर अक्षर ब्रह्म के उपासक युक्ततम नहीं हैं ? इस आकांक्षा का भगवान् यह उत्तर देते हैं—

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते ।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम् ॥ ३ ॥
सन्नियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः ।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ॥ ४ ॥

ये, तु, अक्षरं, अनिर्देश्यं, अव्यक्तं, पर्युपासते	परन्तु जो अक्षर, अकथनीय, अव्यक्त को उपासते हैं	संनियम्य, इन्द्रिय-ग्रामं	इन्द्रियों के समूह को रोककर
		सर्वत्र, सम-बुद्धयः	सर्वत्र सम बुद्धि हुए
सर्वत्र-गं, अचिन्त्यं, च, कूटस्थं, अचलं, ध्रुवं	सर्वत्र पहुँचेहुए(सर्व-व्यापक), अचिन्तनीय, कूटस्थ, अचल और अटल को	ते, प्राप्नुवन्ति, मां, एव	वे मुझको ही प्राप्त होते हैं
		सर्व-भूत-हिते-रताः	सब प्राणियों के हित में लगे हुए

बढ़ने लगती है, वैसी ही जिनकी भजन की श्रद्धा नित्य नई बढ़ती हुई दिखाई देती है ; अथवा समुद्र प्राप्त होने पर भी जिसका प्रवाह निरन्तर पीछे से आता ही रहता है, उस गंगा के समान जिनके प्रेम-भाव की अधिकता है ; तथा जो सब इन्द्रियों-सहित अन्तःकरण को मुझमें रख रात-दिन मेरी उपासना करते हैं ; ऐसे जो भक्त निज को मुझे समर्पित कर देते हैं, उन्हीं को मैं परम योग-युक्त समझता हूँ ।"

अन्वयार्थ—परन्तु जो सब भूतों के हित में लगे हुए, इन्द्रियों के समूह को रोककर सर्वत्र सम-बुद्धि हुए अक्षर, अकथनीय, अव्यक्त, सर्वव्यापक, अचिन्तनीय, कूटस्थ, अचल और अटल (ब्रह्म) को उपासते हैं, वे मुझे ही प्राप्त होते हैं ॥ ३, ४ ॥

व्याख्या—परन्तु हे अर्जुन ! जो विवेकी पुरुष सगुण उपासना अर्थात् आपके सगुण-रूप का ध्यान छोड़कर, सर्वत्र समबुद्धि रखते हुए, अर्थात् सबको निजात्म-स्वरूप भाव से एक-समान समझते हुए, सबकी भलाई में लगे हुए, अर्थात् सबकी भलाई करने पर तुले हुए वा सबकी भलाई के ख़्याल में रँगे हुए ; और अपनी इन्द्रियों के समुदाय को भले प्रकार रोककर अर्थात् उन्हें अपने वश करके केवल उस निर्गुण ब्रह्म की उपासना अथवा आपके उस निर्गुण स्वरूप की उपासना करते हैं कि जो अक्षर (अविनाशी) है, अकथनीय है, अर्थात् जो वाणी वा शब्द करके कहने में नहीं आ सकता, जो अव्यक्त है अर्थात् जो अप्रकट वा अमूर्तिमान् है, जो सर्वव्यापी है, अचिन्तनीय है, अर्थात् जो किसी प्रकार से ख़्याल या ध्यान में पूरा नहीं आ सकता, अथवा जो वाणी का विषय न होने के समान मन का भी विषय नहीं है, जो कूटस्थ* है, अर्थात्

---

* कूटस्थ—जो वस्तु ऊपर गुण-युक्त प्रतीत होती हो, पर भीतर दोषों से भरी हो, उसका नाम कूट है। संसार में भी 'कूट रूप', 'कूट साक्ष्य' इत्यादि प्रयोगों में 'कूट' शब्द इसी अर्थ में प्रसिद्ध है। वैसे ही जो अविद्या अनेक संसारों की बीज-भूत "मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरं"=अंतर्दोषों से युक्तप्रकृति 'माया-अव्याकृत' आदि शब्दों द्वारा कही जाती है, एवं प्रकृति को माया और महेश्वर को मायापति समझना चाहिए, (श्वे० उ० ४. १०) तथा "मम माया दुरत्यया"=मेरी माया दुस्तर है (गीता ७. १४), इत्यादि श्रुति-स्मृति के वचनों में जो माया नाम से प्रसिद्ध है, उसका नाम

जो सदा एक स्थान में कूट के समान स्थित रहनेवाला, अथवा माया का जो अध्यक्ष है, जो इस प्रकार कूटस्थ होने के कारण अचल है, अर्थात् एक स्थान से दूसरे स्थान को चलायमान नहीं होता अथवा निर्विकार है; और जो अचल होने के कारण ध्रुव है, अर्थात् जो एक ही स्थान पर नित्य स्थिर और अपरिणामी है। ऐसे उपासक निस्सन्देह मुझे ही प्राप्त होते हैं, अर्थात् मेरा स्वरूप ही हो जाते हैं ॥ ३, ४ ॥ॐ

कूट है। उस कूट (नामक माया) में जो उसका अधिष्ठाता रूप से स्थित हो, उसका नाम कूटस्थ है। अथवा रासि—ढेर की भाँति जो (कुछ भी किया न करता हुआ) स्थित हो, उसका नाम कूटस्थ है। (श्रीशंकराचार्य)

ॐ उक्त तीन श्लोकों के तात्पर्य में बहुत मतभेद है—भगवान् शङ्कराचार्य, मधुसूदन स्वामी, आनन्दगिरि और श्रीधर स्वामी का मत है कि भगवान् का अभिप्राय इन श्लोकों से यह नहीं कि सगुण ब्रह्म के उपासक योगवित्तम हैं और निर्गुण ब्रह्म के उपासक नहीं, बल्कि वास्तव में तात्पर्य यह है कि जो सगुण ब्रह्म अर्थात् भगवान् के सगुण वा विश्व-रूप की अनन्य भक्ति से उपासना करते हैं, भगवान् उनको अपना प्यारा भक्त और उस सगुण स्वरूप में अच्छी तरह शीघ्र युक्त होने के कारण उत्तम योगी मानते हैं। और जो केवल निर्गुण और अविनाशी ब्रह्म अर्थात् भगवान् के निर्गुण स्वरूप की एकाग्रचित्त से उपासना करते हैं, वे भगवान् के भक्तों की श्रेणी में नहीं आते; बल्कि वे सीधा भगवान् का वास्तव स्वरूप हो जाते हैं, जिससे उनको योग-युक्त वा युक्ततम कहना तो दूर रहा, बल्कि जैसा भगवान् का निज स्वरूप वास्तव में मन, वाणी से परे है, जिससे अनिर्देश्य है, वैसे वे (निर्गुण ब्रह्म के उपासक) भी किसी प्रकार की न्यून-अधिक उपमा में नहीं आ सकते, बल्कि अनिर्देश्य होते हैं, क्योंकि वे साक्षात् भगवान् का परम स्वरूप हुए होते हैं। और इसी भाव को भगवान् ने स्वयं पहले (७. १८) में ऐसे कहा है "ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्"=ज्ञानी को तो मैं अपना आत्मा ही समझता हूँ।

सम्बन्ध—(१) जब निर्गुण ब्रह्म के उपासक ही ब्रह्म-स्वरूप होते हैं, और सगुण ब्रह्म के उपासक केवल उत्तम योगी या प्यारे भक्त ; तो फिर सगुण-उपासना की क्या आवश्यकता है ; क्यों न प्रत्येक को निर्गुण-उपासना ही करनी चाहिए ? इस विषय में भगवान् अपना मत प्रकट करते हैं—

अथवा (२) मुझे प्राप्त होने के अंश में तो दोनों तुल्य हैं, परन्तु निर्गुण-उपासना का मार्ग कठिन है, ऐसा दर्शाते हैं—

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् ।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ॥ ५ ॥

श्रीरामानुज, श्रीज्ञानदेव तथा श्रीतिलक महाराज आदि का मत है कि भगवान् इन श्लोकों से अपना यह भाव दर्शाते हैं कि जो भक्त मेरे सगुण-रूप के उपासक हैं, वे युक्ततम हैं। और मेरे अति प्यारे होने से मुझे शीघ्र मिल जाते हैं, परन्तु जो मेरे निर्गुण स्वरूप के उपासक हैं, वे भी मुझे प्राप्त हो जाते हैं, पर इस उपासना से उनमें कोई अधिक योग-बल नहीं आ जाता, और न कुछ अधिक मिलता ही है, बल्कि सर्वसाधारण के लिये यह मार्ग उलटा कठिन और कष्टसाध्य है, अतएव सगुण-रूप के उपासक मेरे ख़्याल में श्रेष्ठतर होते हैं। हमारे ख़्याल में यद्यपि निर्गुण ब्रह्म के उपासकों की ही श्रेष्ठता उपनिषदों में वर्णित है, और भगवान् ने स्वयं भी अध्याय ८ के आरंभ में उनकी ही श्रेष्ठता दर्शायी है, और सातवें अध्याय के श्लोक १८ में तो स्पष्ट कहा भी है कि ज्ञानी तो मेरा आत्मा ही है ; परन्तु इस समय भक्तियोग की उपमा में वह अपने भक्त की ही श्रेष्ठता प्रसङ्ग-रूप से दर्शा रहे हैं, और ग्यारहवें अध्याय के अन्त (श्लोक ५५) में जो उपदेश कर आये हैं, उसी को यहाँ दृढ़ कर रहे हैं, इसलिये सिद्धान्त-रूप से तो पहला मत ही ठीक है, परन्तु पूर्वापर के सम्बन्ध से तथा प्रासङ्गिक-रूप से यहाँ दूसरा मत भी (केवल सगुण रूप के उपासक के विषय में.) टेढ़ी रीति से युक्त हो सकता है।

क्लेशः, अधिकतरः, तेषां, अव्यक्त-आसक्त-चेतसां	उन अव्यक्त में आसक्त चित्तवालों को क्लेश अधिकतर होता है	अव्यक्ता, हि, गतिः	क्योंकि अव्यक्त-गति
		दुःखं, देहवद्भिः, अवाप्यते	देहधारियों से कठिनता से पाई जाती है

अन्वयार्थ—उन अव्यक्त में आसक्त चित्तवालों को क्लेश अधिकतर होता है, क्योंकि देहधारियों से अव्यक्त-गति दुःखपूर्वक पाई जाती है ॥ ५ ॥

पहली व्याख्या—हे अर्जुन ! यद्यपि मुझे प्राप्त होने के लक्ष्य में ये दोनों उपासक बराबर हैं, परन्तु अव्यक्त में आसक्त चित्तवालों को, अर्थात् मेरे निर्गुण स्वरूप की उपासना में चित्त लगानेवालों को मेरे व्यक्त स्वरूप के भक्तों की अपेक्षा अर्थात् मेरे सगुण-रूप के उपासकों की अपेक्षा कष्ट अधिक होता है, क्योंकि अव्यक्त-गति यद्यपि अधिकारी पुरुषों के लिये तो सुगम व सुखपूर्वक प्राप्त होती है, जैसा कि भगवान् ने स्वयं पूर्व नवें अध्याय में "सुसुखं कर्त्तुमव्ययम्" (९.२)=सुख-साध्य इसे कहा है तथापि अनधिकारी के लिये अधिक कष्ट से प्राप्त होती है ; अर्थात् देहाभिमानी वा देहधारी लोगों से अव्यक्त की गति का मार्ग अत्यन्त कष्ट से सिद्ध होता है और व्यक्त गति का मार्ग सुलभ होता है । इसलिये सगुण-रूप के उपासकों को मैं (अपने विश्व-रूप के ध्यान में सुगमता से युक्त होने के कारण) युक्ततम मानता हूँ ॥ ५ ॥

दूसरी व्याख्या—हे अर्जुन ! यद्यपि सगुण ब्रह्म के उपासक, अर्थात् मेरे शबल, व्यक्त वा विश्व-रूप के उपासक सीधा ब्रह्म को नहीं (अथवा सीधा मेरे शुद्ध, अव्यक्त वा परम स्वरूप को नहीं) पहुँचते, बल्कि मेरे शबल (सगुण) रूप द्वारा ही प्राप्त होते हैं, जिससे मेरे अनन्य भक्त कहलाते हैं ; तथापि उन (अनन्य भक्तों) को इस मार्ग में प्रथम तो दुःख होता ही नहीं और यदि होता भी है, तो बहुत ही थोड़ा-सा होता है । परन्तु जो निर्गुण ब्रह्म के उपासक हैं, अर्थात् जो मेरे शुद्ध वा

अव्यक्त स्वरूप के ध्यान में चित्त से निरन्तर जुटे हुए वा तत्पर हैं, उनमें यद्यपि अधिकारी लोगों को किंचित् कष्ट नहीं तथापि अनधिकारी लोगों को इस मार्ग में सगुण रूप के उपासकों अर्थात् मेरे अनन्य भक्तों की अपेक्षा क्लेश बहुत अधिक होता है, क्योंकि ऐसे पुरुषों को निर्गुण की उपासना का मार्ग अत्यन्त कष्ट के साथ सिद्ध होता है। इससे मैं अपने (इस विश्व-रूप के ध्यान में सुगमता से युक्त होने के कारण) अनन्य भक्तों को युक्ततम मानता हूँ ॥ ५ ॥

तीसरी व्याख्या—हे अर्जुन! जो "मत्कर्मकृत, मत्परम और मद्भक्त" हैं, उनको भी निस्संदेह कष्ट अवश्य होता है, परन्तु जो अक्षर अव्यक्त की उपासना में तत्पर हैं और इस मार्ग के अनधिकारी हैं, उनको और भी भारी कष्ट होता है, क्योंकि उनको प्रथम अपनी देह की ममता ही त्यागनी पड़ती है, जो देहधारियों के लिये अत्यंत कठिन, बल्कि सर्व-साधारण-बुद्धि पुरुष के लिये तो असम्भव-सा है, और इसीलिये उनको अव्यक्त की उपासना का मार्ग अत्यन्त कष्टसाध्य है। अतएव मेरी सगुण-रूप की भक्ति का मार्ग अधिक सरल व सुगम होने से मैं अपने (विश्व-रूप के) अनन्य भक्त को अव्यक्त के उपासक से युक्ततम मानता हूँ ॥ ५ ॥ *

सम्बन्ध—(१) क्योंकि अव्यक्त-गति दुःखपूर्वक प्राप्त होती है और सर्व-साधारण से अगम्य है, इसलिये भगवान् अब व्यक्त-गति (सगुण उपासना के मार्ग) को अध्याय पर्यन्त सविस्तर वर्णन करते हैं—

---

* इस विषय में श्रुति ऐसे कहती है—"क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति।"=ज्ञानी विद्वान् कहते हैं कि यह मार्ग छुरे की धार के समान अत्यंत तीक्ष्ण और दुर्गम है और भगवान् ने स्वयं (७. ३ में) कहा है कि "मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये"=हज़ारों में कोई एक मेरे लिये यत्न करता है। और उन हज़ारों यत्न करनेवालों में भी कोई विरला ही मुझको तत्त्व से जानता है।

अथवा (२) पर मेरे भक्तों (व्यक्त के उपासकों) को मेरी कृपा से अनायास ही सिद्धि प्राप्त होती है, इसे भगवान् अब कहते हैं—

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः ।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥ ६ ॥
तेषामहं समुद्धर्त्ता मृत्युसंसारसागरात् ।
भवामि न चिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ॥ ७ ॥

ये, तु, सर्वाणि, कर्माणि, मयि, संन्यस्य, मत्, पराः	पर जो सारे कर्मों को मुझमें (मेरे) अर्पण करके मेरे परायण हुए	तेषां, अहं, समुद्धर्त्ता	उनका मैं उद्धार करनेवाला
		मृत्यु, संसार-सागरात्	मृत्यु - रूप संसार-सागर से
अनन्येन, एव, योगेन, मां, ध्यायन्तः, उपासते	अनन्य योग से ही मुझको ध्याते हुए उपासते हैं	भवामि, न, चिरात्, पार्थ	हे अर्जुन ! चिर से नहीं (शीघ्र) होता हूँ
		मयि, आवे-शित-चेतसां	मुझमें लगाये हुए चित्तवालों का

अन्वयार्थ—पर जो सारे कर्मों को मेरे अर्पण करके, मेरे परायण हुए, अनन्य योग से मुझे ही ध्याते हुए उपासते हैं, उन मुझमें लगाये हुए चित्तवालों का मैं शीघ्र ही मृत्यु-रूप संसार-सागर से उद्धार करनेवाला होता हूँ ॥ ६, ७ ॥

व्याख्या—परन्तु हे अर्जुन ! जो मेरे विश्व-रूप के उपासक अर्थात् अनन्य भक्त सारे कर्मों को मेरे अर्पण करते रहते हैं, मेरे ही परायण होते हैं, अर्थात् मुझे ही परम गति मानते हैं, और अनन्य योग से, अर्थात् मुझ विश्व-रूप के ध्यान से अतिरिक्त किसी अन्य के ध्यान में न युक्त

होने से, अथवा मेरे विना किसी अन्य के साथ प्रीति वा भक्ति न करने से केवल मुझे ध्याते हुए उपासते हैं, उन अनन्य भक्तों का, जिनका चित्त मुझमें अर्थात् मेरे ध्यान में ऐसे निरन्तर लगा रहता है, मैं चिर से नहीं, बल्कि शीघ्र ही (तत्काल) इस मृत्यु-रूप संसार-सागर से उद्धार करनेवाला होता हूँ, अर्थात् उनको इस जन्म-मरण के समुद्र से मैं शीघ्र ही निकाल देता वा पार करा देता हूँ ॥ ६, ७ ॥ ❀

सम्बन्ध—(१) इस प्रकार अपने सगुण उपासकों (अनन्य भक्तों) की उपासना का परिणाम दर्शाकर भगवान् अब अर्जुन को ऐसे उपदेश करते हैं—

अथवा (२) क्योंकि अपने भक्त का उद्धार करना भगवान् की अपनी प्रतिज्ञा है, इसलिये अर्जुन को अब वह ऐसे उपदेश करते हैं—

अथवा (३) अब भगवान् अगले श्लोकों में अपने सगुण स्वरूप की उपासना करने का उपाय अर्जुन को बताते हैं—

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय ।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः ॥ ८ ॥

मयि, एव, मनः, आधत्स्व	मुझमें ही मन स्थापन कर	निवसिष्यसि, मयि, एव	मुझमें ही तू निवास करेगा
मयि, बुद्धिं, निवेशय	मुझमें बुद्धि को लगा	अतः, ऊर्ध्वं, न, संशयः	इसके अनन्तर, इसमें संशय नहीं

❀ "अकथनीय, अचिन्त्य, अव्यक्त-रूप में मन निरालम्बन (बिना सहारे के) होने से ठहरता नहीं, व्यक्त-रूप में सालम्बन हुआ मन आसानी से ठहर जाता है । फल उसमें भी, जब उस निरालम्बन-मार्ग में मन चल सके,

अन्वयार्थ—मुझमें ही तू मन स्थिर कर, मुझमें बुद्धि को लगा। इसके अनन्तर ❀ तू मुझमें निवास करेगा, इसमें संशय नहीं ॥ ८ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन! क्योंकि मैंने (अपने सगुण-स्वरूप के) अनन्य भक्त के उद्धार करने की प्रतिज्ञा कर ली है, इसलिये तू जो देहाभिमानी होने से शोक-मोह में आसक्त है, जिससे तू मेरे अव्यक्त स्वरूप की उपासना का अधिकारी नहीं है, अतएव अब मुझ (सगुण-ब्रह्म) में ही अपना सङ्कल्प-विकल्प-रूप मन जमा, अर्थात् मन की सब वृत्तियों को तू मेरे विश्व-रूप वा सगुण-स्वरूप के ही ध्यान में नियुक्त कर। और मुझ (व्यक्त-रूप) में ही अपनी निश्चयात्मक बुद्धि प्रवेश कर, अर्थात् सब विषयों की चिन्तना को त्यागकर तू केवल मेरे व्यक्त-रूप के ही चिन्तन में बुद्धि को लगा। इस बुद्धिपूर्वक मन लगाने के अनन्तर (अथवा ऐसा करने से शरीर त्यागने के अनन्तर) तू मुझमें ही वास करेगा, इसमें कुछ भी संशय नहीं ॥ ८ ॥ †

तब, ब्रह्म के शुद्ध स्वरूप की प्राप्ति है, और इसमें भी वही है; इसमें भगवान् स्वयं अपने भक्त का उद्धार कर लेते हैं, अपने शुद्ध स्वरूप का साक्षात् कराते हैं।" (आर्य-समाज के पं० राजाराम)

❀ बुद्धिपूर्वक मन लगाने के अनन्तर (श्रीरामानुज)। मरने के अनन्तर (श्रीशङ्कराचार्य)।

† श्लोक २ से श्लोक ८ तक की व्याख्या श्रीतिलक महाराज ऐसे करते हैं—"इसमें भक्ति-मार्ग की श्रेष्ठता का प्रतिपादन है। दूसरे श्लोक में पहले यह सिद्धान्त किया है कि भगवद्भक्त उत्तम योगी है; फिर तीसरे श्लोक में पक्षान्तर-बोधक 'तु' अव्यय का प्रयोग कर, इसमें और चौथे श्लोक में कहा है कि अव्यक्त की उपासना करनेवाले भी मुझे ही पाते हैं। परन्तु इसके सत्य होने पर भी पाँचवें श्लोक में यह बतलाया है कि अव्यक्त-उपासकों का मार्ग अधिक क्लेशदायक होता है; छठे और सातवें श्लोक में वर्णन किया है कि

सम्बन्ध—जैसे पूर्व श्लोक में निर्गुण ब्रह्म की उपासना करने में असमर्थ वा अनधिकारी पुरुषों को भगवान् ने सगुण ब्रह्म की उपासना का उपदेश दिया, ऐसे ही जो इस सगुण उपासना को उक्त रीति से करने में असमर्थ हैं, उनके लिये भगवान् अब और सुगम उपाय कथन करते हैं—

अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम् ।
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनञ्जय ॥ ६ ॥

अथ[1], चित्तं[2], समाधातुं[5], न[7], शक्नोषि[6], मयि[3], स्थिरं[4]	यदि[1] चित्त[2] को मुझमें[3] स्थिर[4] स्थापन[5] करने के तू समर्थ[6] नहीं[7] है	अभ्यास[2]-योगेन[3], ततः[1], मां[4], इच्छ[6], आप्तुं[5], ध[illegible]	तब[1] अभ्यास[2]-योग[3] से मुझको[4] प्राप्त[5] होने की तू इच्छा[6] कर, हे अर्जुन[7] !

अव्यक्त की अपेक्षा व्यक्त की उपासना सुलभ होती है ; और आठवें श्लोक में इसके अनुसार व्यवहार करने का अर्जुन को उपदेश किया है। सारांश ग्यारहवें अध्याय के अन्त (गी० ११.५५) में जो उपदेश कर आये हैं, यहाँ अर्जुन के प्रश्न करने पर उसी को दृढ़ कर दिया है। इसका विस्तारपूर्वक विचार कि भक्ति-मार्ग में सुलभता क्या है, गीतारहस्य के तेरहवें प्रकरण में कर चुके हैं ; इस कारण यहाँ हम उसकी पुनरुक्ति नहीं करते। इतना ही कहे देते हैं कि अव्यक्त की उपासना कष्टमय होने पर भी मोक्षदायक ही है ; और भक्ति-मार्गवालों को स्मरण रखना चाहिए कि भक्ति-मार्ग में भी कर्म न छोड़कर ईश्वरार्पणपूर्वक अवश्य करना पड़ता है। इसी हेतु से छठे श्लोक में 'मुझमें ही सब कर्मों का संन्यास करके' ये शब्द रक्खे गये हैं। इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि भक्ति-मार्ग में भी कर्मों को स्वरूपतः न छोड़े, किन्तु परमेश्वर में उन्हें अर्थात् उनके फलों को अर्पण कर दे। इससे प्रकट होता है कि भगवान् ने इस अध्याय के अन्त में जिस भक्तिमान् पुरुष को अपना प्यारा बतलाया है,

अन्वयार्थ—यदि तू चित्त को मुझमें स्थिर स्थापन करने के समर्थ नहीं, तब हे अर्जुन ! अभ्यास-योग से तू मुझे प्राप्त होने की इच्छा कर ॥ ९ ॥

व्याख्या—और हे अर्जुन ! यदि तू उक्त रीति से (जो पूर्व श्लोक में कही गई है) चित्त को मुझमें निश्चल जमा नहीं सकता, अथवा सहज स्वभाव से यदि तेरा चित्त निश्चल होकर मुझमें ठहर नहीं सकता, तो कोई चिन्ता नहीं। ऐसी दशा में तू अभ्यास-योग से, अर्थात् जब-जब चित्त चलायमान हो, अथवा जब-जब वह इधर-उधर भटके, तब-तब उसे रोककर तू फिर मुझमें लगाने का यत्न कर, इस प्रकार के यत्न-रूपी अभ्यास से मुझे प्राप्त होने की इच्छा कर। यदि इस प्रकार भी तू निरन्तर यत्न करेगा, तो एक दिन अवश्य तेरा चित्त ठहर जायगा, और फिर तू मुझे प्राप्त हो जायगा ॥ ९ ॥ ❀

उसे भी इसी अर्थात् निष्काम-कर्मयोग-मार्ग का ही समझना चाहिए, वह स्वरूपतः कर्म-संन्यासी नहीं है। इस प्रकार भक्ति-मार्ग की श्रेष्ठता और सुलभता बतलाकर अब परमेश्वर में ऐसी भक्ति करने के उपाय अथवा साधन बतलाते हुए, उनके तारतम्य का भी खुलासा करते हैं।"

❀ इसपर श्रीज्ञानदेवजी अपने विचित्र ढङ्ग से ऐसे व्याख्या करते हैं—"अथवा यदि तुम मन और बुद्धि-सहित अपना सम्पूर्ण चित्त मेरे हाथ नहीं दे सकते, तो ऐसा करो कि आठ पहरों में से कभी क्षण-भर तो चित्त दो। इससे जिस-जिस क्षण में मेरे सुख का अनुभव होगा, वह क्षण विषयों में अरुचि पावेगा। जैसे शरत्काल निकल जाने पर नदियाँ सूखने लगती हैं, वैसे ही वह सुख शीघ्र ही चित्त को प्रपञ्च से निकाल लेगा। तब पौर्णमासी के पश्चात् जैसे चन्द्रबिम्ब दिन-दिन क्षीण होते-होते अमावस्या के दिन विलीन हो जाता है, वैसे ही भोगों में से निकलकर चित्त मुझमें प्रवेश करे, तो हे पांडु-सुत ! धीरे-धीरे तुम मद्रूप हो जाओगे। अजी ! जिसे अभ्यास-योग कहते हैं;

सम्बन्ध—जैसे अव्यक्त की उपासना में असमर्थ के लिये व्यक्त की उपासना भगवान् से बताई गई, फिर व्यक्त उपासना की एक विधि में असमर्थ के लिये उसे दूसरी विधि अभ्यास-योग की बताई गई, अब जो अभ्यास-योग के भी असमर्थ हो, उसके लिये और सुगम उपाय भगवान् कथन करते हैं—

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव ।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन् सिद्धिमवाप्स्यसि ॥ १० ॥

अभ्यासे, अपि, असमर्थः, असि	अभ्यास में भी (यदि) असमर्थ तू है	मत्-अर्थं, अपि, कर्माणि, कुर्वन्	मेरे अर्थ कर्म करता हुआ भी
मत्-कर्म-परमः, भव	मेरे अर्थ कर्मों में लव-लीन (परायण) हो	सिद्धिं, अवाप्स्यसि	तू सिद्धि को प्राप्त होगा

अन्वयार्थ—(और यदि) तू अभ्यास में भी असमर्थ है, तो मेरे अर्थ कर्म-परायण हो। मेरे अर्थ कर्म करते हुए भी तू सिद्धि को प्राप्त होगा ॥१०॥

व्याख्या—और हे अर्जुन! यदि तू अभ्यास-योग भी नहीं कर सकता, अर्थात् इधर-उधर भटकते हुए चित्त को तू बार-बार वहाँ से हटाकर मुझमें जमा नहीं सकता, तो मेरे निमित्त कर्मों में लग अर्थात् मदर्थ कर्म-परायण हो, अथवा मेरी प्राप्ति-निमित्त श्रवण मनन और निदिध्यासन-रूप कर्म अथवा शास्त्रों में बताये हुए ज्ञान-ध्यान-भजन-पूजा-

---

वह यही है। ऐसी कोई वस्तु नहीं है, जो इससे नहीं प्राप्त हो सकती। कोई अभ्यास के बल से आकाश में गति प्राप्त कर लेते हैं, कोई व्याघ्र और साँपों को अधीन कर लेते हैं, कोई विष को आहार बना लेते हैं, कोई समुद्र में से रास्ता निकाल लेते हैं तथा कोई अभ्यास से शब्दब्रह्म को मात कर देते हैं। अतः अभ्यास से कुछ भी सर्वथा दुष्प्राप्य नहीं है। इसलिये तुम अभ्यास के द्वारा मुझमें आ मिलो।"

पाठ आदि कर्म तू करता जा, वा भगवान् को प्रसन्न करनेवाले नव प्रकार के कर्म—"श्रवणं, कीर्तनं, विष्णोः स्मरणं, पादसेवनं। अर्चनं, वन्दनं, दास्यं, सख्यमात्म-निवेदनम्।"—जो शास्त्र में कहे हैं, उन कर्मों के तू परायण हो। इस प्रकार मेरे निमित्त कर्म करता हुआ (या मेरे प्रसन्न करनेवाले भजन, कीर्तन आदि कर्मों में लवलीन होता हुआ) भी तू अन्तःकरण की शुद्धि द्वारा अवश्य सिद्धि को पा लेगा, अर्थात् मुझे अवश्य प्राप्त हो जायगा॥ १०॥ ॐ

सम्बन्ध—(१) और जो भगवत्कर्म-परायण भी नहीं हो सकता, उसके लिये अन्य सुगम उपाय भगवान् अब वर्णन करते हैं—

ॐ श्रीज्ञानदेवजी इस पर लिखते हैं—"परन्तु अभ्यास के लिये भी यदि तुम्हारे शरीर में बल न हो, तो तुम जहाँ हो वहीं रहो, इन्द्रियों का अवरोध न करो, भोगों का त्याग न करो, अपनी जाति का अभिमान न छोड़ो, अपने कुल-धर्म करते जाओ, विधि और निषेधों का पालन करो, इस प्रकार हम तुम्हें सुख से कर्म करने की छूट देते हैं। परन्तु मन से वाचा से, और शरीर से जो कुछ व्यापार उत्पन्न हो, उसे मैं करता हूँ, यह मत समझो। करना या न करना सब वही परमात्मा जानता है, जो इस विश्व का चालक है। कर्म की न्यूनता वा पूर्णता का भाव अपने चित्त में न रहने दो। अपना जीवन परमात्मा का सजातीय कर रक्खो। माली जिस ओर ले जाय, उसी ओर जो चुपचाप चला जाता है, उस जल के समान तुम्हारा कर्म होना चाहिए। एवं प्रवृत्ति और निवृत्ति के बोझ के नीचे अपनी बुद्धि न डालो। चित्त-वृत्ति मुझमें अखण्डित रक्खो। यों भी, हे सुभट! रथ क्या इस बात की खटपट करता है कि रास्ता सीधा है या आड़ा-टेढ़ा है? एवं जो कुछ कर्म किया जाय, उसे थोड़ा या बहुत न समझकर चुपचाप मुझे समर्पित करना चाहिए। हे अर्जुन! इस प्रकार की मेरी भावना रखने से तुम शरीर-त्याग के अनन्तर मेरे सायुज्य-रूपी घर में आ पहुँचोगे।"

अथवा (२) इन सबमें असमर्थ के लिये भगवान् अब स्वतः सिद्ध अन्य सुगमतम उपाय बतलाते हैं—

अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः ।
सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान् ॥११॥

अथ[1], एतत्[2], अपि[3], अशक्तः[5], असि[6], कर्तुं[4]	यदि[1] यह[2] भी[3] करने[4] को तू असमर्थ[5] है[6]	सर्व[1]-कर्म[2]-फल[3]-त्यागं[4], ततः[5], कुरु[6]	सारे[1] कर्मों[2] के फल[3] का त्याग[4] तब[5] कर[6]
मत्-योगं[2], आश्रितः[3]	मेरे[1] योग[2] का आश्रय[3] लिए हुए	यत-आत्म[2]-वान्[1]	वश[1] में किये हुए आत्मा[2](चित्त)वाला

अन्वयार्थ—यदि यह भी करने के तू असमर्थ है, तो मेरे योग का आश्रय लिए हुए और यतात्मवान् हुए तू सारे कर्मों के फल का त्याग कर ॥ ११ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! यदि तू मदर्थ कर्म भी नहीं कर सकता (अथवा भगवत्-परायण कर्म में लवलीन नहीं हो सकता), तो फिर मेरे पूर्व निष्काम कर्मयोग का आश्रय ले, अर्थात् लौकिक वा वैदिक कर्म जो भी तू करे, उसे केवल कर्म के लिये कर, किसी फल की इच्छा रखते हुए मत कर, अथवा मेरे ध्यान में युक्त हुआ वा मेरे प्रेम में निमग्न हुआ तू सर्व कर्मों को कर, और उनके फल का भार मेरे ऊपर फेंक, स्वयं फलासक्ति मत कर, वा मुझे परम मानकर मेरा आश्रय सर्व प्रकार से ले। और अपने मन को जीत (अथवा अपने आपको वश में कर)। इस प्रकार योग का आश्रय लिए हुए और अपने आपको वश में करके सावधान चित्त से समस्त किये हुए कर्म के फल का

तू त्याग कर। ऐसे करते हुए भी मेरी कृपा से तू कृतार्थ हो जायगा ॥ ११ ॥ ॐ

ॐ श्रीज्ञानदेवजी विचित्र ढंग से इसकी ऐसे व्याख्या करते हैं—"अथवा यदि तुमसे कर्म भी मुझे समर्पित नहीं किया जाता, तो हे पांडु-कुँवर ! तुम कर्मों का सेवन कर सकते हो; यदि बुद्धि के आगे-पीछे तथा कर्म के आदि या अन्त में, मेरा सम्बन्ध जोड़ना तुम्हें कठिन मालूम होता हो, तो वह भी रहने दो। मेरा महत्त्व जाने दो। परन्तु बुद्धि को इन्द्रिय-निग्रह में लगा दो, तथा जिस समय जो-जो कर्म किये जायँ, उनके फलों का त्याग कर दो। फल हाथ आते ही लोग जैसे वृक्ष या वेल को छोड़ जाते हैं, वैसे ही कर्म सिद्ध होते ही उनका त्याग कर दो, तथा कर्म करते समय मेरा स्मरण रखने की अथवा उसे मेरे प्रीत्यर्थ करने की भी कुछ आवश्यकता नहीं है। सब शून्य में समर्पित होने दो। जैसा पत्थर पर बरसा हुआ जल, अथवा अग्नि में बोया हुआ बीज होता है, वैसा ही हरएक कर्म समझो; मानो जैसे कोई स्वप्न देखा हो। अजी, कन्या के विषय में पिता जैसा निष्काम होता है, वैसे ही सम्पूर्ण कर्मों के विषय में निरभिलाष हो जाओ। अग्नि की ज्वाला जैसी आकाश में वृथा जाती है, वैसी ही अपनी सब क्रियाएँ शून्य में विलीन होने दो। हे अर्जुन ! यह फल-त्याग मालूम तो सुलभ होता है, परन्तु है यह योग सब योगों में श्रेष्ठ। बाँस के झाड़ जैसे एक ही बार फलकर वन्ध्या हो जाते हैं, वैसे ही इस फल-त्याग के द्वारा जिस-जिस कर्म का त्याग किया जाता है, उससे फिर कर्म उत्पन्न नहीं होता; तथा इसी शरीर के बाद फिर शरीर लेना भी बन्द हो जाता है। किंबहुना, जन्म और मृत्यु का रास्ता ही बन्द हो जाता है। इस प्रकार, हे किरीटी ! अभ्यास के मार्ग से ज्ञान प्राप्त करना चाहिए, तथा ज्ञान से ध्यान की भेंट लेनी चाहिए। फिर जब ध्यान को सब भाव आलिङ्गन देते हैं, तब सम्पूर्ण कर्म दूर हो जाते हैं। जहाँ कर्म दूर हुआ, तहाँ फल-त्याग भी हो जाता है और त्याग के कारण सम्पूर्ण शान्ति अधीन हो जाती है। इसलिये

सम्बन्ध—(१) अब भगवान् उक्त कर्मफल-त्याग की उपमा वा स्तुति करते हैं—

अथवा (२) उक्त अन्तिम उपदेश का भगवान् अब हेतु कहते हैं—

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते ।
ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् ॥ १२ ॥

श्रेयः, हि, ज्ञा-नं, अभ्यासात्	अभ्यास से क्योंकि ज्ञान श्रेष्ठ है	ध्यानात्, कर्म-फल-त्यागः	ध्यान से कर्म के फल का त्याग
ज्ञानात्, ध्यानं, विशिष्यते	ज्ञान से ध्यान विशेष है	त्यागात्, शा-न्तिः, अनन्तरं	त्याग के अनन्तर शान्ति होती है

अन्वयार्थ—क्योंकि अभ्यास से ज्ञान श्रेष्ठ है, ज्ञान से ध्यान विशेष है, ध्यान से कर्म-फल का त्याग, और त्याग के अनन्तर शान्ति होती है ॥ १२ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! मेरे इस अन्तिम उपदेश में हेतु यह है कि अभ्यास, जो समझकर या विना सोचे-समझे किसी काम को नित्य करते रहने से, अथवा किसी वार्ता को नित्य बोलते वा सुनते रहने से मनुष्य में उत्पन्न हो आता है, जिसे स्वभाव वा घासी भी कहते हैं, उस अभ्यास से ; अथवा विवेक-रहित किसी काम वा साधन का करते रहना जो अभ्यास है उस विवेक-रहित अभ्यास अर्थात् ख़ाली अभ्यास से तो वेद-शास्त्र का समझना वा जानना-रूपी ज्ञान श्रेष्ठ है। अथवा विना विवेक (या आत्मज्ञान) के किसी कर्म का अनुष्ठान-रूप जो अभ्यास है, उस थोथे अभ्यास से उस (कर्म) का तत्त्व-ज्ञान (या आत्मा का परोक्ष ज्ञान) बहुत अच्छा है। अथवा श्लोक ९ में जो अभ्यास-योग

हे सुभद्रा-पति ! शान्ति प्राप्त करने के लिये यही क्रम है । इसलिये साम्प्रत में अभ्यास ही करना चाहिए ।"

का उपाय कहा गया है, उस अभ्यास से पहले अपने वा भगवान् के स्वरूप का परोक्ष ज्ञान का होना उत्तम और आवश्यक है, क्योंकि कोई पुरुष कितना ही अभ्यासी क्यों न हो, जब तक वह विवेक-रहित या अज्ञानी है, तब तक वह निकृष्ट दशा में ही है, केवल ज्ञान है जो अभ्यासी पुरुष को निकृष्ट दशा से निकालकर उत्तम दशा में ले आता है, इसलिये उस ख़ाली अभ्यास से ज्ञान श्रेष्ठ होता है । फिर केवल शास्त्र द्वारा जानना अर्थात् केवल परोक्ष ज्ञान की अपेक्षा से ध्यान बढ़कर है। तात्पर्य यह कि ख़ाली जानना अर्थात् परोक्ष ज्ञान तब फल लाता है, जब उसका साक्षात्कार किया जाय, बिना साक्षात्कार के वह वास्तव में ठीक फल देता नहीं, बल्कि उलटा वह शिर पर एक भार-सा बना रहता है। और यह साक्षात्कार केवल ध्यान द्वारा, अर्थात् उस ज्ञान पर विचार तथा चिन्तन वा मनन करते रहने से प्राप्त होता है, इसलिये ज्ञान से ध्यान श्रेष्ठ कहा है। फिर ऐसा श्रेष्ठ ध्यान भी किसी-न-किसी कर्म द्वारा होता है अर्थात् या तो एकान्त में बैठकर किसी पुस्तक आदि के अध्ययन से, अथवा मुख-नेत्र बन्द करके किसी मन्त्र के अर्थ, वा किसी रूप पर लगातार चिन्तन-रूपी कर्म करते रहने से, अथवा किसी अन्य शारीरिक कर्म में अधिक प्रवृत्त वा लवलीन होने से चित्त ध्यानावस्थित होता है। और यह पूर्व अध्यायों में दर्शाया जा चुका है कि कर्म में भी निष्काम कर्म ही चित्त को स्थिर, एकाग्र या ध्यानावस्थित कर सकता है, सकाम कर्म नहीं, क्योंकि कर्म के फल की कामना पुरुष के मन को कर्म करते समय भी अशान्त, चञ्चल और मलिन बनाये रखती है। और मन कामनाओं में आसक्त और इस कारण चञ्चल होने से ध्यान में निरन्तर स्थित नहीं होता, बल्कि उलटा विक्षेप डालता रहता है। इसलिये निष्काम कर्म, अर्थात् फल-कामना से रहित कर्म से ही चित्त की वृत्ति ध्यान में स्थिर होती है, जिससे आत्म-साक्षात्कार वा शान्ति प्राप्त होती है।

इसलिये उक्त श्रेष्ठ ध्यान से कर्म-फल का त्याग श्रेष्ठतर है, और इसी से अन्त में परम शान्ति प्राप्त होती है।

वैसे भी देखा जाय तो अशान्ति वा हलचल का मूल कारण कर्म-फल की कामना ही है, और कामन का त्याग ही कर्म-फल का त्याग है। जब यह कामना बन्द होती है, तो चित्त की अशान्ति वा हलचल स्वतः बन्द पड़ जाती है, और चित्त की अशांति के दूर होने पर वृत्ति ब्रह्म के ध्यान में युक्त होने लग जाती है, जिस ध्यान की तीव्रता वा दृढ़ता पर सहज ही ब्रह्मानन्द अनुभव होने लग पड़ता है, जो समस्त दुःखों की निवृत्ति कर देता है। इस विषय में श्रुति भी यों कहती है—"यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदिश्रिताः। अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते ॥" (कठ० ६. १४)=जब सारी कामनाएँ, जो मनुष्य के हृदय में रहती हैं, छूट जाती हैं, तब वह मर्त्य (अर्थात् मरनेवाला मनुष्य) अमृत (अमर) हो जाता है, और यहाँ ही वह ब्रह्मानन्द को भोगता है, अर्थात् वह इस दशा में ब्रह्म-साक्षात्कार करता है। इसीलिये भगवान् अपना अन्तिम निश्चय सिद्धान्त-रूप से ऐसे दर्शाते हैं कि क्योंकि अभ्यास से ज्ञान, ज्ञान से ध्यान और ध्यान से कर्म-फल का त्याग उत्तम वा श्रेष्ठ है, और त्याग के पीछे ही शान्ति प्राप्त होती है, इसलिये यदि और कुछ न हो सके, तो कर्म-फल का त्याग ही तू कर।

अन्य रीति से इस श्लोक की ऐसे व्याख्या भी हो सकती है कि अभ्यास अर्थात् योगाभ्यासादि से ज्ञान का मार्ग सुगम तथा शीघ्र कल्याणकारी है। और ज्ञान से तो ईश्वर का स्मरण व मनन-रूप ध्यान अति सुगम और लाभदायक है। और इस ध्यान की अपेक्षा से कर्म-फल का त्याग और भी अति सुगम मार्ग है, और इस अति सुगम मार्ग पर चलने से अवश्य शान्ति मिलती है।

जब उक्त सारे श्लोकों को क्रम से विचारपूर्वक पढ़ा जाय, तो स्पष्ट

प्रतीत होता है कि "क्लेशोऽधिकतरस्तेषाम्" श्लोक चौथे में जो भगवान् ने निर्गुण ब्रह्म वा (अपने निर्गुण रूप) के अनधिकारी उपासक की एक प्रकार से निन्दा की थी, वह सगुण ब्रह्म (वा अपने शबल रूप) के अधिकारी उपासक की स्तुति के वास्ते की थी न कि निर्गुण-उपासना के निषेध के लिये; और "मय्येव मन आधत्स्व" आठवें श्लोक से लेकर "सर्वकर्मफलं त्यागं ततः कुरु यतात्मवान्" ग्यारहवें श्लोक तक भगवान् ने जो अपनी प्राप्ति के विषय में उपाय क्रमशः निरूपण किये हैं, वे केवल असमर्थता की अपेक्षा से उतर-उतरकर सुगम साधन बताये गये हैं, उत्तमता वा निकृष्टता के आशय से नहीं, क्योंकि प्रत्येक उपाय (साधन) अपने-अपने स्थान पर अति उत्तम और श्रेष्ठ है, और प्रत्येक के साधन से फल अन्त में एक ही प्राप्त होता है, यद्यपि निकृष्ट वा उत्तम अधिकारियों के लिये साधन में भेद अवश्य रहता है। इसलिये भगवान् के इस सारे कथन का अभिप्राय यह है कि हे अर्जुन ! सबसे उत्तम तो अव्यक्त ब्रह्म का उपासक है, जो अनन्य भक्ति द्वारा मेरा परम-स्वरूप ही होता है, मेरे से इतर किंचित् मात्र नहीं रहता। इसलिये यदि तू इस मार्ग को पकड़ सकता है, तो इसे ग्रहण कर ले। यदि तू अपने को इस अव्यक्त स्वरूप की उपासना में असमर्थ पाता है, तो मेरे सगुण रूप की उपासना में ध्यानपूर्वक लग। और यदि तू मेरे सगुण रूप के ध्यान में भी विचार-पूर्वक, अर्थात् मनन वा निदिध्यासन द्वारा अपने मन को नहीं लगा सकता, तो उससे सुगम फिर तू अभ्यास-योग कर। और यदि अभ्यास-योग भी तू नहीं कर सकता, तो फिर उससे भी सुगम तू भगवत्-कर्म-परायण हो। और यदि इस सुगम उपाय को भी तू नहीं कर सकता, तो सर्व कर्मों को मेरे अर्पण करता हुआ अर्थात् निष्काम कर्मयोग का आश्रय लेकर तू कर्म कर, और अपने मन को अपने वश में रखता हुआ तू कर्म-फलों को त्याग, क्योंकि कर्म-फल के त्याग के अनन्तर शान्ति अन्त में अवश्य मिलती है।

संक्षेप से सिद्धान्त इस सारे कथन से यह निकला कि कर्म-फल का त्याग-रूप मार्ग सबसे सुगम और सर्व-साधारण के लिये उपयोगी है, और चित्त को ध्यानावस्थित कराने का भी प्रथम वा मूल कारण है। जब निष्काम कर्म द्वारा चित्त की अपने ध्यान में दृढ़ स्थिरता वा निश्चल अवस्था प्राप्त हो जाती है, तब पुरुष बाह्य-कर्मों को स्वतः त्यागकर एकान्त में अपने स्वरूप के ध्यान में निरन्तर और आसानी से युक्त होने के योग्य हो जाता है। फिर उसे पूर्ववत् कर्म वा यत्नपूर्वक अभ्यास की आवश्यकता नहीं रहती, बल्कि सहज स्वभाव से ही उसकी चित्त-वृत्ति अपने परम स्वरूप के ध्यान में एकतार स्थित वा युक्त रहती है और जब तक चित्त की यह अवस्था प्राप्त न हो ले, तब तक न निष्काम-कर्म छोड़ना चाहिए, और न एकान्त-स्थित ध्यानी (वा योगाभ्यासी) पुरुषों के समान विना बाह्य-कर्म अर्थात् शारीरिक कर्म के चित्त को ध्यान में युक्त करने का व्यर्थ यत्न करना चाहिए, क्योंकि आरम्भ में निष्काम-कर्म से ही चित्त-वृत्ति स्थिर वा ध्यानावस्थित होती है। और जब इस उपाय से एकाग्रता दृढ़ और स्थायी हो जाती है, तो ध्यानयोग द्वारा आत्म-साक्षात्कार और परमानन्द की प्राप्ति होती है, इसीसे भगवान् ने ऐसा कहा कि कर्म-फल के त्याग के अनन्तर शान्ति मिल जाती है और इसीलिये भगवान् ने पूर्व अध्याय (६.३) में ध्यानयोग में अरूढ़ होने की इच्छावाले के लिये कर्म साधन कहा है और योगारूढ़ के लिये शम (ध्यानयोग) साधन कहा है॥ १२॥※

※ श्रीज्ञानदेवजी ने और ही भाव से इस श्लोक का अर्थ किया है—

"हे पार्थ! अभ्यास से फिर ज्ञान कठिन है, ज्ञान से ध्यान विशेष कहा गया है, तथा कर्मफल की इच्छा का त्याग ध्यान से भी उत्तम कहा है, और त्याग से शान्ति-सुख का भोग प्राप्त होता है। हे सुभट! ऐसे मार्ग से

और इन-इन मुक़ामों से जाकर जिसने शान्ति का मध्यगृह प्राप्त कर लिया है, वह आगे वर्णित गुणों से युक्त हो जाता है।"

श्रीशंकराचार्यजी इस श्लोक का अर्थ और व्याख्या इस प्रकार करते हैं—"निस्संदेह ज्ञान श्रेष्ठतर है। किससे ? अविवेकपूर्वक किये हुए अभ्यास से; उस ज्ञान से भी ज्ञानपूर्वक ध्यान श्रेष्ठ है, और (इसी प्रकार) ज्ञानयुक्त ध्यान से भी कर्म-फल का त्याग अधिक श्रेष्ठ है। पूर्व बतलाये हुए विशेषणों से युक्त इस कर्म-फल-त्याग से तुरंत ही शांति हो जाती है। अर्थात् हेतु-सहित समस्त संसार की निवृत्ति तत्काल ही हो जाती है। कालांतर की अपेक्षा नहीं करती। कर्मों में लगे हुए अज्ञानी के लिये पूर्वोक्त उपायों का अनुष्ठान करने में असमर्थ होने पर ही सब कर्मों के फलत्याग-रूप कल्याण-साधन का उपदेश किया गया है, सबसे पहले नहीं। इसलिये 'श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासात्' इत्यादि से भगवान् उत्तरोत्तर श्रेष्ठता बतलाकर सब कर्मों के फल-त्याग की स्तुति करते हैं, क्योंकि उत्तम साधनों का अनुष्ठान करने में असमर्थ होने पर यह (अंतिम) साधन भी अनुष्ठान करने-योग्य माना गया है।"

श्रीस्वामी आनन्दगिरिजी इस श्लोक पर ऐसे व्याख्या करते हैं—"बिना भले प्रकार वेदों का तात्पर्य जाने हुए जो किसी कर्म के अनुष्ठान में अभ्यास करना, उससे प्रथम वेदों का तात्पर्य समझना वा जानना-रूप ज्ञान श्रेष्ठ है, क्योंकि जिसको परोक्ष ज्ञान यथार्थ हो गया, वह अवश्य ही कभी-न-कभी उसका अनुष्ठान करेगा। अविद्यावान् के अनुष्ठान करने से विद्यावान् बिना अनुष्ठान किये भी श्रेष्ठ है, क्योंकि वह एक मार्ग पर है। अविद्यावान् मूर्ख को कहाँ विचार है कि मुझको किस कर्म का अधिकार है। जो उसको प्रिय लगता है, वही करने लगता है, इसी हेतु से कर्मों का फल उसे प्रत्यक्ष नहीं होता। और पंडित ज्ञानियों से अर्थात् परोक्ष ज्ञानियों से विद्यावान् रामचंद्र आदि का ध्यान करनेवाले श्रेष्ठ हैं। मूर्तिमान परमेश्वर के ध्यान करनेवालों से भी

करके भगवान् अब उन उपायों पर चलनेवाले भक्तों के गुण वा धर्म अगले सात श्लोकों में वर्णन करते हैं—

जो विद्यावान् कर्मों का निष्काम अनुष्ठान करते हैं, अर्थात् श्रौत-स्मार्त कर्म और भगवत्-आराधन और हिरण्यगर्भ सूर्यादि की उपासना और भगवत्-संबंधी कर्मों के फल का त्याग करते हैं वे श्रेष्ठ हैं, क्योंकि शांति कर्मों का फल त्यागने से होती है, बिना त्याग संसार से चित्त उपराम नहीं होता। लौकिक वैदिक दोनों कर्मों के फल से जब चित्त उपराम होता है, दोनों कर्मों के फल से जब वैराग्य होता है, तब शांति उपरति होती है। वैराग्य व उपरति ये दोनों ज्ञान-निष्ठा के अंतरंग मुख्य साधन हैं। फिर ज्ञाननिष्ठ होकर कृतार्थ हो जाता है, अर्थात् परमानंद को प्राप्त हो जाता है।"

इस श्लोक पर आर्यसमाज के पं० राजाराम की टिप्पणी इस प्रकार है—"यह आशय है कि यद्यपि कर्म-फल-त्याग आसान होने के हेतु सबसे पीछे कहा है, पर यह पहले उपायों से निकृष्ट नहीं, बड़ा भारी उपाय है। बिना सोचे-समझे ख़ाली अभ्यास की अपेक्षा शास्त्र द्वारा जानना अच्छा है। पर ख़ाली शास्त्र द्वारा जान लेने की अपेक्षा उसके प्रत्यक्ष करने के लिये ध्यान बढ़कर है। पर कर्म-फल का त्याग ध्यान से भी बढ़कर है। क्योंकि त्याग के अर्थ हैं कामना का न होना। कामना ही चित्त में हलचल है। जब यह बंद हुई, अपने आप शांति आ जाती है, और सहज ही ब्रह्मानुभव होने लगता है।"

मेरठ के थियोसोफिस्ट बा० रामप्रसाद इस श्लोक की ऐसी व्याख्या करते हैं—"इस श्लोक के पढ़ने से यह विदित होता है कि अभ्यास भी अच्छा है, ज्ञान भी अच्छा है, ध्यान भी अच्छा है और कर्म-फल का त्याग भी अच्छा है। केवल एक से दूसरा बढ़ के है। किन्तु अच्छी वस्तु सब ग्रहण करने के योग्य होती है। इसलिये इसका तात्पर्य यह होता है कि अभ्यास करना चाहिए, और अभ्यास के साथ ज्ञान, और अभ्यास तथा ज्ञान के साथ ध्यान, और इन तीनों के साथ कर्म-फल का त्याग करना चाहिए।"

अथवा (२) निष्काम-कर्मी भक्त के लिये उसे बहुत ही शीघ्र भगवत्कृपा का पात्र बनानेवाले धर्मों को भगवान् अब कहते हैं—

परन्तु प्रत्येक अध्याय के प्रत्येक श्लोक में अपने केवल कर्मयोग-शास्त्र के सिद्धान्त को सिद्ध करने पर तुले हुए श्रीतिलक महाराज इस श्लोक पर पूर्व श्लोकों को साथ लिए ऐसे टिप्पणी देते हैं—"कर्मयोग की दृष्टि से ये श्लोक अत्यंत महत्त्व के हैं। इन श्लोकों में भक्तियुक्त कर्मयोग के सिद्ध होने के लिये अभ्यास, ज्ञान-भजनादि साधन बतलाकर, इसके और अन्य साधनों के तारतम्य का विचार करके अंत में अर्थात् १२ वें श्लोक में, कर्म-फल के त्याग की अर्थात् निष्काम कर्मयोग की श्रेष्ठता वर्णित है। निष्काम कर्मयोग की श्रेष्ठता का वर्णन कुछ यही नहीं है; किंतु तीसरे (३.८), पाँचवें (५.२) और छठे (६.४६) अध्यायों में भी यह अर्थ स्पष्ट रीति से वर्णित है; और उसके अनुसार फल-त्याग-रूप कर्मयोग का आचरण करने के लिये स्थान-स्थान पर अर्जुन को उपदेश भी किया है। परन्तु गीता-धर्म से जिनका संप्रदाय जुदा है, उनके लिये यह बात प्रतिकूल है; इसलिये उन्होंने ऊपर के श्लोकों का और विशेषतया १२ वें श्लोक के पदों का अर्थ बदलने का प्रयत्न किया है। निरे ज्ञान-मार्गी अर्थात् सांख्य-टीकाकारों को यह पसन्द नहीं है कि ज्ञान की अपेक्षा कर्मफल का त्याग श्रेष्ठ बतलाया जाय। इसलिये उन्होंने कहा है कि या तो ज्ञान शब्द से 'पुस्तकों का ज्ञान' लेना चाहिए, अथवा कर्मफल-त्याग की इस प्रशंसा को अर्थवादात्मक यानी कोरी प्रशंसा समझनी चाहिए। इसी प्रकार पातंजल योग-मर्गवालों को अभ्यास की अपेक्षा कर्मफल-त्याग का बड़प्पन नहीं सुहाता और कोरे भक्ति-मार्गवालों को—अर्थात् जो कहते हैं कि भक्ति को छोड़, दूसरे कोई भी कर्म न करो उनको—ध्यान की अपेक्षा अर्थात् भक्ति की अपेक्षा कर्मफल-त्याग की श्रेष्ठता मान्य नहीं है। वर्तमान समय में गीता का भक्तियुक्त कर्मयोग-संप्रदाय लुप्त-सा हो गया है कि जो पातंजल योग, ज्ञान और भक्ति इन तीनों संप्रदायों से भिन्न है, और इसी से इस संप्रदाय का

अथवा (३) उन्नति लाभ के अनेक उपाय बताकर अब उन्नत भक्तों के साथ अपनी परम आत्मीयता भगवान् प्रकट करने लगे हैं—

कोई टीकाकार भी नहीं पाया जाता है। अतएव आजकल गीता पर जितनी टीकाएँ पाई जाती हैं, उनमें कर्मफल-त्याग की श्रेष्ठता अर्थवादात्मक समझी गई है। परन्तु हमारी राय में यह भूल है। गीता में निष्काम कर्मयोग को ही प्रतिपाद्य मान लेने से इस श्लोक के अर्थ के विषय में कोई भी अड़चन नहीं रहती। यदि मान लिया जाय कि कर्म छोड़ने से निर्वाह नहीं होता, निष्काम कर्म करना ही चाहिए, तो स्वरूपतः कर्मों को त्यागनेवाला ज्ञान-मार्ग कर्म-योग से कनिष्ठ निश्चित होता है, कोरी इंद्रियों की ही कसरत करनेवाला पातंजल योग कर्मयोग से हलका जँचने लगता है और सभी कर्मों को छोड़ देनेवाला भक्ति-मार्ग भी कर्मयोग की अपेक्षा कम योग्यता का सिद्ध हो जाता है। इस प्रकार निष्काम कर्मयोग की श्रेष्ठता प्रमाणित हो जाने पर यही प्रश्न रह जाता है कि कर्मयोग में आवश्यक भक्तियुक्त साम्य-बुद्धि को प्राप्त करने के लिये उपाय क्या है। ये उपाय तीन हैं—अभ्यास, ज्ञान और ध्यान। इनमें, यदि किसी से अभ्यास न सधे, तो वह ज्ञान अथवा ध्यान में से किसी भी उपाय को स्वीकार कर ले। गीता का कथन है कि इन उपायों का आचरण करना यथोक्त क्रम से सुलभ है। १२ वें श्लोक में कहा है कि यदि इनमें से एक भी उपाय न सधे, तो मनुष्य को चाहिए कि वह कर्मयोग के आचरण करने का ही एकदम आरंभ कर दे। अब यहाँ एक शंका यह होती है कि जिससे अभ्यास नहीं सधता और जिससे ज्ञान-ध्यान भी नहीं होता, वह कर्मयोग करेगा ही कैसे? कई एकों ने निश्चय किया है कि फिर कर्मयोग को सबकी अपेक्षा सुलभ कहना ही निरर्थक है। परन्तु विचार करने से देख पड़ेगा कि इस आक्षेप में कुछ भी जान नहीं है। १२ वें श्लोक में यह नहीं कहा है कि सब कर्मों के फलों का 'एकदम' त्याग कर दे, बरन् यह कहा है कि पहले, भगवान् के बतलाये हुए कर्मयोग का आश्रय करके, (ततः) तदनन्तर धीरे-धीरे इस बात

अथवा (४) पूर्व जो भगवान् कह आये हैं कि "प्रियो हि ज्ञानिनोत्यर्थमहं स च मम प्रियः। उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम् ॥" (गी० ७, १७-१८)=क्योंकि मैं ज्ञानी का अत्यंत प्यारा हूँ और वह मेरा प्यारा है। अन्य प्रकार के भक्त भी सभी अच्छे हैं, परन्तु ज्ञानी को तो मैं अपना आत्मा ही मानता हूँ। इस ऐसे अक्षरोपासक यथार्थ ज्ञान-निष्ठ के साक्षात् मोक्ष का

को अन्त में सिद्ध कर ले। और ऐसा अर्थ करने में कुछ भी विसंगति नहीं रह जाती। पिछले अध्यायों में कह आये हैं कि कर्मफल के स्वल्प आचरण से ही नहीं (गी० २. ४०), किन्तु जिज्ञासा हो जाने से भी मनुष्य आप ही आप अंतिम सिद्धि की ओर खिंचा चला जाता है। अतएव इस मार्ग की सिद्धि पाने का पहला साधन या सीढ़ी यही है कि कर्मयोग का आश्रय करना चाहिए, अर्थात् इस मार्ग से जाने की मन में इच्छा होनी चाहिए। कौन कह सकता है कि यह साधन अभ्यास, ज्ञान और ध्यान की अपेक्षा सुलभ नहीं है? और १२ वें श्लोक का भावार्थ है भी यही। न केवल भगवद्गीता में किन्तु सूर्यगीता में भी कहा है—'ज्ञानादुपासितरुत्कृष्टा कर्मोत्कृष्टमुपासनात्। इति यो वेद वेदान्तैः स एव पुरुषोत्तमः'=जो इस वेदांत-तत्त्व को जानता है कि ज्ञान की अपेक्षा उपासना अर्थात् ध्यान या भक्ति उत्कृष्ट है, एवं उपासना की अपेक्षा कर्म अर्थात् निष्काम कर्म श्रेष्ठ है, वही पुरुषोत्तम है। (सूर्य गी० ४.७७)। सारांश, भगवद्गीता का निश्चित मत यह है कि कर्मफल-त्याग-रूपी योग अर्थात् ज्ञान-भक्ति-युक्त निष्काम कर्मयोग ही सब मार्गों में श्रेष्ठ है; और इसके अनुकूल ही नहीं प्रत्युत पोषक युक्तिवाद १२ वें श्लोक में है। यदि किसी दूसरे संप्रदाय को वह न रुचे, तो वह उसे छोड़ दे; परंतु अर्थ की व्यर्थ खींचातानी न करे। इस प्रकार कर्मफल-त्याग को श्रेष्ठ सिद्ध करके उस मार्ग से जानेवाले को (स्वरूपतः कर्म छोड़नेवाले को नहीं) जो सम और शांत स्थिति अंत में प्राप्त होती है, उसी का वर्णन करके अब भगवान् बतलाते हैं कि ऐसा भक्त ही मुझे अत्यंत प्रिय है।"

कारण-रूप जो 'अद्वेष्टा सर्वभूतानां' इत्यादि धर्म-समूह है और जो कर्म-फल त्याग द्वारा निज स्वरूप के ध्यान व अभ्यास में युक्त होनेवाले उपासक को प्राप्त होते हैं, उसे भगवान् अब सात श्लोकों में वर्णन करते हैं—

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च ।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी ॥ १३ ॥

सन्तुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥ १४ ॥

अद्वेष्टा, सर्व-भूतानां, मैत्रः, करुणः, एव, च	सर्व प्राणियों से द्वेष न करनेवाला, मित्रता से वर्तनेवाला और ऐसे ही दयालु	सन्तुष्टः, सततं, योगी	नित्य सन्तुष्ट योगी
		यत्-आत्मा, दृढ-निश्चयः	अपने आपको वश में रखनेवाला (संयमी) दृढ निश्चयवान्
निर् - मम, निर्-अहङ्कारः, सम-दुःख-सुखः, क्षमी	ममता-रहित, अहंकार-रहित, दुःख-सुख में समान और क्षमावान्	मयि, अर्पित-मनो-बुद्धिः	मुझमें अर्पण की हुई मन बुद्धिवाला
		यः, मत्-भक्तः, सः, मे, प्रियः	जो मेरा भक्त है वह मुझे प्यारा है,

अन्वयार्थ—सब प्राणियों के साथ द्वेष न करनेवाला, ऐसे ही मित्रता और दया भाववाला, ममता और अहंकार से रहित, सुख-दुःख में समान, क्षमावान्, नित्य सन्तुष्ट, योगी, अपने आपको वश में रखनेवाला, दृढ निश्चयवान् और मुझमें अर्पण की हुई बुद्धि और मनवाला जो मेरा भक्त है, वह मुझे प्यारा है ॥ १३, १४ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! वह जो उक्त कर्मफल-त्याग-रूप मार्ग के अनुष्ठान से ऐसी दशा को प्राप्त हो जाता है कि वह फिर किसी भी प्राणी के साथ द्वेष नहीं करता, बल्कि सबके साथ मित्रता और करुणा-भाव से वर्तता है, अर्थात् वह सबका मित्र वा हितैषी हो जाता है और ऐसे ही सब पर दयालु अथवा सब जीवों को अभय दान देनेवाला होता है। वह विना ममता और अहङ्कार के होता है, अर्थात् वह किसी भी पदार्थ में ऐसा मोह वा ममत्व नहीं रखता कि यह मेरा ही है, अथवा अपनी देह में उसे ममत्व-बुद्धि नहीं रहती। वह दुःख-सुख में समान रहता है, अर्थात् सुख में तो उसे राग और दुःख में द्वेष नहीं होता, बल्कि वह दोनों को समान कर मानता है, अथवा दोनों में सम-बुद्धि रहता है। वह क्षमावान् हो जाता है, अर्थात् तिरस्कार होने पर भी वह क्रोधादि विकार को प्राप्त नहीं होता है ; और वह सर्वदा सन्तुष्ट रहता है, अर्थात् देह के निर्वाह-मात्र जो कुछ भी अन्नादि की प्राप्ति हो, अथवा जो कुछ भी और जब कभी भी ईश्वरेच्छा से प्राप्त हो, उसी में सन्तोष रखता है। वह योगी हो जाता है, अर्थात् वह समाहित चित्तवाला होता है, अथवा वह नित्य निष्काम-कर्म में युक्त रहने से कर्मयोगी होता है, वा वह अपने इष्टदेव के ध्यान में नित्ययुक्त रहता है। वह अपने आपको अर्थात् अपने मन, चित्त, बुद्धि वा स्वभाव को अपने वश में किये हुए होता है, अर्थात् वह पूर्ण संयमी होता है। वह पक्के निश्चयवाला हो जाता है, अर्थात् वह जो पूर्ण निश्चयात्मक है अथवा जिसका निश्चय मेरे स्वरूप में इतना दृढ़ है कि कभी डोलता नहीं। और उसने संकल्प-विकल्पात्मक मन और निश्चयात्मक बुद्धि दोनों मेरे अर्पण कर रक्खी होती हैं, अर्थात् उसका मन और बुद्धि मुझको छोड़कर किसी और विषयादि में नहीं जाता ; बल्कि नित्य मुझमें ही लगा रहता है। ऐसा जो मेरा अनन्य भक्त है, अथवा ऐसी अवस्था पर जब मेरे सगुण रूप

का उपासक पहुँच जाता है, तो वह मुझे अति प्यारा होता है ॥ १३, १४ ॥

और—

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः ।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः ॥ १५ ॥

यस्मात्[1], न[4], उद्विजते[3], लोकः[2]	जिससे[1] लोक[2] उद्वेग[3] नहीं[4] करता	हर्ष[1]-अमर्ष[2]-भय[3]-उद्वेगैः[4], मुक्तः[5]	हर्ष[1] क्रोध[2] भय[3] और उद्वेग[4] से मुक्त[5] है
लोकात्[3], न[5], उद्विजते[4], च[1], यः[2]	और[1] जो[2] लोक[3] से उद्वेग[4] नहीं[5] करता	यः[2], सः[3], च[1], मे[4], प्रियः[5]	और[1] जो[2] ऐसा है वह[3] मेरा[4] प्यारा[5] है

अन्वयार्थ—जिससे संसार उद्वेग नहीं करता, और संसार से जो उद्वेग नहीं करता, और जो हर्ष, क्रोध, भय और उद्वेग से मुक्त है, वह मेरा (भक्त) प्यारा है ॥ १५ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! उक्त अभ्यास अर्थात् कर्मफल-त्याग-रूपी मार्ग के अनुष्ठान से जिस मनुष्य की ऐसी दशा हो जाती है कि उससे संसार अर्थात् कोई भी प्राणी उद्वेग नहीं करता, अर्थात् क्लेश, दुःख, सन्ताप वा त्रास को नहीं पाता और वह संसार से उद्वेग नहीं करता, अर्थात् संसार से उसको दुःख, क्लेश, संताप वा त्रास नहीं मिलता, और हर्ष (प्रिय वस्तु की प्राप्ति पर प्रसन्नता वा रोमादि का खड़े होना), अमर्ष (अप्रिय की प्राप्ति पर वा प्रिय वस्तु के न प्राप्त होने पर क्रोध का वेग, अथवा दूसरे को उत्कृष्ट वा अपने से श्रेष्ठ देखकर दुःखी होना या सहन न कर सकना), भय और उद्वेग (चित्त का एक जगह पर स्थिर न

रहना, अथवा व्याकुलता), इन चारों से वह रहित होता है, ऐसा भक्त मुझे अति प्यारा होता है ॥ १५ ॥ *

और—

अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः ।
सर्वारंभपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥ १६ ॥

अनपेक्षः, शुचिः, दक्षः, उदासीनः, गत-व्यथः	निरपेक्ष, पवित्र, चतुर, उदासीन, दूर हुई व्यथा-वाला	सर्व-आरम्भ-परित्यागी	सारे आरम्भों का त्यागी
		यः, मे, भक्तः, सः, मे, प्रियः	जो मेरा भक्त है, वह मुझे प्यारा है

अन्वयार्थ—निरपेक्ष, पवित्र, चतुर, उदासीन, दूर हुई व्यथावाला, सारे आरम्भों† का त्यागी जो मेरा भक्त है, वह मेरा प्यारा है ॥ १६ ॥

---

* श्रीज्ञानदेवजी ने विचित्र-रूप से इसकी व्याख्या यों की है—

"समुद्र की गर्जना से जैसे जलचरों को भय नहीं उपजता और जलचरों से जैसे समुद्र नहीं ऊबता, वैसे ही इस उन्मत्त जगत् से जिसे खेद नहीं होता और जिसके सहवास से जगत् दुखी नहीं होता, बहुत क्या वर्णन करूँ, हे पाण्डव ! शरीर जैसे अवयवों से, वैसे ही जो स्वयं जीव होने के कारण जीवों से नहीं ऊबता, जगत् ही निज-देह होने के कारण जिसके प्रिय और अप्रिय भाव चले गये हैं; और अद्वैत के कारण जिसमें से हर्ष और क्रोध का भेद निकल गया है, इस प्रकार जो सुख और दुःख के द्वन्द्व से मुक्त है, जिसे भय का आवेश नहीं होता, और तिस पर भी जो मुझ पर भक्ति करता है, उस भक्त का मुझे मोह होता । क्या कहूँ, वह मेरा प्रेमी है, अथवा वह मेरे प्राणों का प्राण है ।"

† आरम्भ=प्रवृत्ति अर्थात् राग-द्वेष के अधीन जो कार्य किये जायँ, उनका

व्याख्या—हे अर्जुन! जो उक्त अभ्यास की बदौलत निरपेक्ष हो जाता है, अर्थात् जो किसी भी वस्तु की अपेक्षा, आवश्यकता वा परवाह नहीं रखता बल्कि यदृच्छा प्राप्त हुए भोगों के साधनों में भी नितान्त निस्पृह वा बेपरवाह होता है। जो पवित्र हो जाता है, अर्थात् जो वाह्य अन्तर वा देह और अन्तःकरण दोनों करके शुद्ध हो जाता है। जो चतुर होता है, अर्थात् जो कार्य के प्राप्त होने पर उचित-अनुचित तत्काल जान लेता है, और आलस्य-रहित होकर कार्य करता है। जो उदासीन होता है, अर्थात् जो किसी प्रकार का भय, खेद या दुःख नहीं मानता। और जो फिर सारे आरम्भों का त्यागी हो जाता है अर्थात् जो लोक-परलोक के फल-भोगों के निमित्त जितने भी कर्म किये जाते हैं, उन सब सकाम कर्मों का त्यागी होता है, अथवा जो राग-द्वेष के अधीन आरम्भ किये हुए कार्यों का त्यागी, वा सर्व प्रकार की प्रवृत्तियों, फल और ममत्व से प्रेरित

त्यागी (पं० राजाराम)। लोक चाहे परलोक के फल-भोगों की प्राप्ति करानेवाले जो कर्म हैं, उनका परित्यागी (श्रीशंकराचार्य)। शास्त्रीय कर्मों से अतिरिक्त समस्त कर्मों का परित्यागी (श्रीरामानुज)। यहाँ सर्व प्रकार के कर्मों का त्यागी कहा है, केवल शास्त्र-निषेध या रागद्वेष-युक्त कर्मों का ही नहीं। तात्पर्य इससे यह है कि जब कोई परोक्ष ज्ञानी योगाभ्यास वा सीधा ध्यान में युक्त होने की समर्थता न रखने पर निष्काम कर्मयोग को फल-त्याग वृत्ति से करते-करते इस अवस्था पर पहुँच जाता है कि फल-त्याग के साथ-साथ सब कर्म भी उससे छूट जाते हैं अर्थात् सब शारीरिक कर्म भी स्वतः बन्द पड़ जाते हैं और चित्त पूर्ण निष्काम हुआ निज स्वरूप के ध्यान में स्थित हो जाता है जिससे उसे फिर न किसी वस्तु की अपेक्षा रहती है और न व्यथा सताती है, बल्कि सर्व प्रकार से दक्ष और सांसारिक भोगों से उपराम वा उदासीन हुआ स्थित होता है, तो ऐसा ध्याननिष्ठ वा ब्रह्मनिष्ठ (ज्ञानवान्) मेरे वास्तव स्वरूप का अनन्य भक्त होने से मुझे प्यारा है। (टीकाकार)

कर्मों का त्यागी हो जाता है, ऐसा मेरा भक्त मुझको अति प्रिय होता है ॥ १६ ॥ *

---

* इस पर श्रीज्ञानदेवजी अपने विचित्र ढंग से यों लिखते हैं—

"जो आत्मानन्द से तृप्त हुआ है, पूर्ण ब्रह्म ही मानो जिसका जन्म ले आया है, जो पूर्णता-रूपी स्त्री का वल्लभ हो गया है, उसमें, हे पाण्डव ! इच्छा प्रवेश नहीं कर सकती। उसके अस्तित्व से सुख में बाढ़ आती है। मान लिया कि काशी मोक्ष देने में उदार है, परन्तु मोक्ष के लिये वहाँ शरीर का त्याग करना पड़ता है। हिमालय पापों का नाश करता है, परन्तु वहाँ भी जीवन की हानि होती है; किन्तु भक्तों की शुचिता वैसी नहीं है। शुचिता में गङ्गा भी शुचि है, और यह पाप और सन्ताप का भी नाश करती है, पर उसमें डूबने का डर रहता है। परन्तु भक्ति को गहराई का पार नहीं है, तथापि उसमें डूबने का डर नहीं, और मृत्यु के विना ही उससे मोक्ष का लाभ होता है। सन्तों के समागम से गङ्गा पापों को जीतती है, तो फिर सन्त-सङ्ग की पवित्रता कितनी होनी चाहिए ? और जो इस प्रकार पवित्रता से तीर्थों को आश्रय देनेहारा है, जिसने मन के मल को दिशाओं के पार भगा दिया है, जो अन्तर्बाह्य शुद्ध है, सूर्य-जैसा निर्मल है, और किसी 'पायल' जैसा तत्त्व-रूप धन का देखनेहारा है, जैसे आकाश व्यापक और उदासीन रहता है वैसे ही जिसका मन सर्वत्र है, जो संसार के दुःखों से छूट गया है, जो निराशा से अलंकृत है, और जो व्याधों के हाथ से छूटे हुए पक्षी के समान, सर्वदा सुख से भरे रहने के कारण, कोई दुःख नहीं जानता, जैसे कि मृत मनुष्य कोई लज्जा नहीं जानता, और कर्मारम्भ करते हुए जो अहङ्कार नहीं रखता, इंधन के विना जैसे आग बुझ जाती है, वैसे मोक्ष की अङ्गभूत कही हुई शान्ति जिसके भाग में आई है, हे अर्जुन ! यहाँ तक जो सोऽहं-भाव से भरा हुआ है, वह मनुष्य द्वैत के उस पार निकल गया है। परन्तु भक्ति-सुख के लिये वह निज को ही दो भागों में बाँटकर एक से स्वयं सेवकाई करता है,

और—

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न कांक्षति ।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः॥ १७॥

यः, न, हृष्यति, न, द्वेष्टि, न, शोचति, न, कांक्षति	जो न हर्ष करता है, न द्वेष करता है, न शोक करता है, न इच्छा करता है
शुभ-अशुभ-परित्यागी	शुभ-अशुभ का परित्यागी
भक्तिमान्, यः, सः, मे, प्रियः	जो भक्तिवाला है, वह मुझे प्यारा है

अन्वयार्थ—जो न हर्ष करता है, न द्वेष, न शोक करता है, न इच्छा। शुभ-अशुभ दोनों का त्यागनेवाला जो भक्तिमान् है, वह मुझे प्यारा है ॥१७॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! जो मेरे सगुण-रूप की अनन्य भक्तिवाला पुरुष उक्त निष्काम कर्म-योग को फल-त्याग-रूपी वृत्ति से करते-करते जब इस अवस्था पर पहुँच जाता है कि वह प्रिय वस्तु की प्राप्ति पर प्रसन्न नहीं होता, और अप्रिय की प्राप्ति पर द्वेष नहीं करता है ; और किसी प्यारे के वियोग में अथवा अभीष्ट वस्तु के नाश में शोक नहीं करता और मित्र के समागम की अथवा किसी अप्राप्त वस्तु की इच्छा नहीं करता है। और जब वह शुभ-अशुभ दोनों का त्यागी हो जाता है अर्थात् वह पुण्य और पाप दोनों प्रकार के कर्मों वा भावों की सीमा से

और दूसरे भाग को मेरा नाम देता है, और भक्ति न करनेहारों को उत्तम भक्ति-मार्ग का आचरण कर दिखाता है। ऐसा जो योगी हो, उससे हमें प्रीति है। वह हमारा आत्म-स्वरूप है। बहुत क्या कहें, उसकी भेंट हो, तो हमें समाधान होता है। उसके हेतु हम रूप धारण करते हैं। उसी के कारण हम यहाँ आते हैं। वह हमें इतना प्यारा है कि उस पर हम जी-जान निछावर कर देते हैं।"

पार टपे हुए होता है, अथवा उसे कर्मों के शुभ-अशुभ दोनों फल त्यागे हुए होते हैं, अथवा शुभ और अशुभ दोनों प्रकार के कर्मों के फल को उसने त्यागा हुआ होता है, और जो कर्म यदृच्छा से प्राप्त हो उसके फल की भावना से रहित हुआ, उसे स्वतः करता रहता है। ऐसा मेरा अनन्य भक्त मुझको अति प्रिय होता है॥ १७॥ *

और—

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः संगविवर्जितः॥ १८॥

तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी सन्तुष्टो येन केनचित्।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः॥ १६॥

---

* श्रीज्ञानदेवजी इस पर ऐसे लिखते हैं—

"जो आत्मलाभ के समान और कुछ भी उत्तम नहीं समझता, इसलिये जिसे किसी भोग विशेष से सन्तोष नहीं होता; आप ही विश्वमय हो गया है और भेद-भाव सहज ही नष्ट हो गया है, इसलिये जिस पुरुष का द्वेष चला गया है; जो वस्तु वास्तव में अपनी है वह कल्पान्त में भी नहीं जाती, यह जानकर जो गत वस्तु का शोच नहीं करता, और जिसके परे कुछ नहीं है वह वस्तु आप ही स्वयं हो गया है, इसलिये जो किसी वस्तु की आकांक्षा नहीं करता; सूर्य को जैसे रात्रि और दिवस प्रकट नहीं होते, वैसे जिसे भला या बुरा कुछ भी प्रतीत नहीं होता, इस प्रकार जो केवल शुद्ध ज्ञानमय है और तिस पर भी जो मेरा भजन करता है, तुम्हारी शपथ खाकर कहता हूँ कि उसके समान मेरा दूसरा कोई प्रेमी और सगा नहीं है।"

समः[5], शत्रौ[1], च[6], मित्रे[2], च[6], तथा[3], मान-अपमानयोः[4]	शत्रु[1] में तथा[3] मित्र[2] में और[6] मान[4] अपमान में एक-समान[5]	तुल्य[3], निन्दा-स्तुतिः[2]	निन्दा स्तुति है तुल्य जिसको
		मौनी, सन्तुष्टः[4], येन[2], केनचित्[3]	मौनी[1] और जिसे[2] किसी[3] से सन्तुष्ट[4]
शीत[1]-उष्णे[2], सुख[3]-दुःखेषु[4], समः[5], सङ्ग[6]-विवर्जितः[7]	सर्दी[1] गरमी[2] सुख[3] दुःख[4] में सम[5] और सङ्ग[6] (आसक्ति से) रहित[7]	अनिकेतः[1], स्थिर[2]-मतिः[3]	अनिकेत[1] और स्थिर[2] मति[3]
		भक्तिमान्[1], मे[3], प्रियः[4], नरः[2]	भक्तिवाला[1] पुरुष[2] मेरा[3] प्यारा[4] है

अन्वयार्थ—शत्रु, मित्र और मान-अपमान में एकसमान, सर्दी-गरमी तथा सुख-दुःख में एकसमान, सङ्ग (आसक्ति) से रहित, निन्दा-स्तुति है तुल्य जिसको, मौनी, जिस किसी से भी सन्तुष्ट, अनिकेत * और स्थिर मतिवाला भक्तिमान् जो है, वह नर मुझे अति प्यारा है ॥ १८, १९ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! जब मेरे स्वरूप की उक्त अनन्य भक्ति से भरा

---

* 'अनिकेत'=घरबार-रहित अर्थात् जिसका कोई नियत निवास-स्थान नहीं है (श्रीशङ्कराचार्य)। घरबार आदि में निरासक्त (श्रीरामानुज)। 'अनिकेत' शब्द उन यतियों के वर्णनों में भी अनेक बार आया करता है जो गृहस्थाश्रम छोड़, संन्यास धारण करके भिक्षा माँगते हुए घूमते रहते हैं (देखो मनु० ६. २५) और इसका धात्वर्थ 'विना घरवाला' है। अतः इस अध्याय के 'निर्मम', 'सर्वारम्भ-परित्यागी' और 'अनिकेत' शब्दों से, तथा अन्यत्र गीता में 'त्यक्तसर्वपरिग्रहः' (४. २१), अथवा 'विविक्तसेवी' (१८. ५२) इत्यादि जो शब्द हैं, उनसे तात्पर्य किसी ममत्व, आसक्ति, आश्रय, स्थान व घर में न फँसनेवाला, सर्वप्रकार की आसक्तियों वा एक नियत स्थान व घरबार से रहित, केवल निरासक्त, त्यागी और एकान्त-वासी हो सकते हैं, अन्य नहीं। (टीकाकार)

हुआ मनुष्य उक्त कर्मफल-त्याग के निरन्तर अनुष्ठान से ऐसी अवस्था को प्राप्त हो जाता है कि उसे शत्रु, मित्र, मान-अपमान और ऐसे ही सर्दी-गरमी, सुख-दुःख ये सब एकसमान प्रतीत होने लग पड़ते हैं, और उसे सर्वत्र लगाव वा प्रीति नहीं रहती है, अर्थात् वह कहीं भी आसक्त होने नहीं पाता, अथवा वह किसी का भी सङ्ग नहीं करता, बल्कि नित्य एकान्त रहता है, और उसको निन्दा-स्तुति एकसमान हो जाती है, और वह मौनी हो जाता है, अर्थात् वह चुपचाप रहता है, अथवा उसने अपनी वाक-इन्द्रिय का निरोध किया हुआ होता है, अथवा वह मितभाषी वा मौनधारी हो जाता है। और जो कुछ दैवयोग से अनायास (विना यत्न के) ही शरीर के निर्वाह-निमित्त मिले, उसी में वह सन्तुष्ट रहता है, अर्थात् उससे अधिक की इच्छा वा आवश्यकता से वह रहित होता है। और स्वयं अनिकेत रहता है, अर्थात् उसका कोई स्थान नियत नहीं रहता अथवा वह न अपना कोई घर रखता है, न आश्रय और न किसी अन्य के स्थान में आसक्त हुआ होता है, और वह स्थिर बुद्धिवाला अर्थात् दृढ़ निश्चयवान् हो जाता है। ऐसा भक्त पुरुष मुझे अति प्यारा होता है॥ १८, १९॥

सम्बन्ध—अपने सगुण-रूप के अनन्य भक्तों के उक्त धर्म-समूह का फल के सहित उपसंहार करके भगवान् अब इस प्रकरण की समाप्ति करते हैं—

ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः॥२०॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे भक्तियोगो नाम
द्वादशोऽध्यायः।

ये, तु, धर्म्यामृतं ॐ, इदं, यथा - उक्तं, पर्युपासते	पर जो इस धर्मयुक्त अमृत को जैसा कहा गया है, अनुष्ठान करते हैं	श्रद्दधानाः, मत्परमाः, भक्ताः, ते, अतीव, मे, प्रियाः	श्रद्धा से भरे हुए, मत्परायण हुए, वे भक्त मुझे अतीव प्यारे हैं

अन्वयार्थ—पर जो श्रद्धा से भरे हुए और मेरे परायण हुए भक्त इस धर्मयुक्त अमृत का यथोक्त अनुष्ठान करते हैं, वे मेरे अत्यन्त प्यारे हैं ॥ २० ॥

व्याख्या—पर, हे अर्जुन ! जो मेरे भक्त † मेरे वाक्यों पर पूर्ण श्रद्धा रखते हुए और दत्तचित्त से मेरे परायण हुए-हुए, अर्थात् मुझको अपना परम आश्रय, गति वा उद्देश्य मानते हुए इस पूर्वोक्त धर्मयुक्त अमृत (वा धर्म-अमृत) का यथोक्त रीति से पान करते हैं अर्थात् "अद्वेष्टा सर्वभूतानां" यहाँ से लेकर सात श्लोकों में अपने भक्तों के जो धर्म भगवान् ने वर्णन

ॐ किसी पुस्तक में "धर्मामृतमिदं" पाठ है, वहाँ उसका अर्थ धर्म-रूप अमृत वा अमृत-रूप धर्म किया जा सकता है, पर भाव दोनों का एक ही है।

† इस श्लोक तथा पूर्वले सात श्लोकों की व्याख्या में कई एक भाष्यकारों वा टीकाकारों ने इन श्लोकों को केवल निर्गुण ब्रह्म के उपासकों अथवा संन्यासी तत्त्व-वेत्ताओं की उपमा में घटाने का यत्न किया है, जो यद्यपि तब युक्त बैठता है जब इन सात श्लोकों का सम्बन्ध इसी अध्याय के आरम्भ के श्लोक ३, ४ के साथ श्रृंखलाबद्ध न जोड़ा जाय ; पर जब इन सात श्लोकों को अध्याय के पूर्वले श्लोकों से संबंधित किया जाय, तो वह प्रयत्न ऐसी अवस्था में अयुक्त वा असङ्गत दिखाई देता है, क्योंकि भगवान् ने स्वयं इसी अध्याय के श्लोक २–३ में स्पष्ट वर्णन किया है कि "जो सगुण ब्रह्म के उपासक हैं, वे उत्तम योगी और मेरे प्यारे भक्त हैं ; और जो निर्गुण ब्रह्म के उपासक हैं, वे उत्तम योगी वा प्यारे भक्त नहीं, किन्तु मेरा वास्तव स्वरूप ही होते हैं।" पर इन सात श्लोकों में वर्णित गुणोंवाले पुरुष को प्रत्येक श्लोक में भगवान् ने अपना प्यारा भक्त करके माना है, और किसी में भी उसे अपना स्वरूप करके

किये हैं, उन अमृत-तुल्य धर्मों का जो अनुष्ठान करते हैं, अर्थात् उन अमृत-तुल्य धर्म से युक्त हुए होते हैं। अथवा १२ वें श्लोक में जो निष्काम-कर्म का फल शान्ति वर्णन हुआ है, और उस शान्ति की प्राप्ति-निमित्त जो नाना उपाय कथन किये गये हैं, उन उपायों का जो भगवान् के कथनानुसार सेवन करते हैं, अथवा निष्काम कर्म द्वारा सगुण उपासना का जो धर्म शान्ति देना है, वह शान्ति-धर्म अमृत-रूप है, ऐसे धर्म-रूपी अमृत को जो भगवान् के उपदेशानुसार सेवते अर्थात् पीते हैं, वे भक्त, हे अर्जुन ! मुझे अत्यन्त ही प्यारे होते हैं ॥ २० ॥ ❀

इति श्रीमद्भगवद्गीतानुवादे भक्तियोगो नाम द्वादशोऽध्यायः ।

वर्णन नहीं किया, और इसीलिये अन्त में भी "अतीव मे प्रियाः।" (वे मेरे अत्यन्त प्यारे हैं) ऐसा कहा है। इससे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि आठों श्लोक निर्गुण वा अक्षर ब्रह्म के उपासकों के विषय में नहीं, किन्तु केवल सगुण ब्रह्म के उपासक वा भगवान् के निष्काम कर्मयोगी अनन्य भक्तों के विषय में ही कहे गये हैं। यद्यपि स्वतंत्र रीति से दूसरी तरह से भी माने जा सकते हैं। (टीकाकार)

❀ श्रीज्ञानदेवजी इस अन्तिम श्लोक की ऐसी अनोखी व्याख्या करते हैं—

"सो यह रम्य कथा, धर्मानुकूल अमृत-धारा, सुनकर जो उसका अनुभव लेते हैं, और श्रद्धा के आदर से जिनमें यह योग विस्तार पाता है, अथवा जिनके हृदय में यह स्थिर हो रहता है, अथवा जो इसका अनुष्ठान करते हैं, अर्थात् हमने जैसा निरूपण किया उसी प्रकार जिनके मन की स्थिति रहती है, जैसे मानो उत्तम खेत में बोनी की गई हो, और जो मुझे अत्यन्त श्रेष्ठ मानकर, मेरी भक्ति में प्रेम रखकर, उसी को सर्वस्व मान, उसका स्वीकार करते हैं, वही, हे पार्थ ! इस संसार में भक्त हैं, वही योगी हैं और मुझे उन्हीं की उत्कण्ठा नित्य लगी रहती है। जिन पुरुषों को भक्ति-कथा से ही प्रेम है, वे

तीर्थ हैं, वे क्षेत्र हैं और जगत् में वही पवित्र हैं। हम उनका ध्यान करते हैं। वही हमारा देवतार्चन है। उनके सिवा हम और कुछ भला नहीं समझते। हमें उन्हीं का व्यसन है, वही हमारे द्रव्य-निधान हैं; किंबहुना, वे मिलते हैं तब उनकी भेंट से ही हमें समाधान होता है। हे पाण्डु-सुत! हमारे प्रेमियों की कथा का जो वर्णन करते हैं, उन्हें हम अपना परम देवता मानते हैं। सञ्जय कहते हैं कि इस प्रकार वे भक्तों के आनन्द और जगत् के आदिकर्ता श्रीमुकुन्द बोले—हे राजा! जो निर्मल हैं, जो निष्कलङ्क हैं, जो जगत् पर कृपा करनेहारे, शरणागतों पर प्रेम करनेहारे हैं, जो शरण जाने-योग्य हैं, देवों की सहायता करना जिनका स्वभाव है, विश्व का लालन करना जिनकी लीला है, शरणागतों की रक्षा करना जिनका खेल है, जो धर्म और कीर्ति से धवल हैं, अगाध दानशील होने के कारण जो सरल दिखाई देते हैं, और अनुपम बल के कारण जो प्रबल दिखाई देते हैं, तथापि जो बलि के प्रेम से बँधे हुए हैं, जो भक्तजनों पर प्रेम करनेहारे, भक्तों को अनायास प्राप्त होनेहारे सत्य के तारक, सकल कलाओं के भाण्डार हैं, वे भक्तों के राजा, वैकुण्ठ के श्रीकृष्ण कह रहे हैं और भाग्यवान् अर्जुन सुन रहा है। सञ्जय ने धृतराष्ट्र से कहा कि इसके उपरान्त और भी निरूपण करने की रीति सुनिए। वह सुरस कथा भाषा-पथ में लाई जायगी। उसे सुनिए। ज्ञानदेव कहते हैं कि स्वामी निवृत्तिदेव ने यही सिखाया है कि हमें आप-सरीखे सन्तों की शरण में जाकर आपकी सेवा करनी चाहिए।"

बारहवें अध्याय का संक्षेप

(१) ग्यारहवें अध्याय में भगवान् ने अपने विश्व-रूप का दर्शन कराकर अर्जुन को अपने व्यक्त रूप की अनन्य भक्ति की ओर जो प्रेरा, और पूर्व अध्याय ७ और ८ में जो उन्होंने अपने अव्यक्त निर्गुण रूप की उपासना को ही परम गति वा सर्वोपरि श्रेष्ठ दर्शाया, इन दोनों उपदेशों में परस्पर भेद देखते हुए अर्जुन ऐसे प्रश्न करता है—

(क) इस प्रकार नित्य युक्त हुए जो आपके विश्व वा व्यक्त (सगुण) रूप को उपासते हैं और जो आपके अक्षर वा अव्यक्त (निर्गुण) रूप को उपासते हैं, उन दोनों में से कौन श्रेष्ठ वा अधिक योग-वेत्ता है ?

(२) इस पर भगवान् ऐसे उत्तर देते हैं—

(क) मुझ (सगुण रूप) में मन लगाकर जो परम श्रद्धा के साथ मुझे नित्य उपासते हैं, वे मेरे विचार में युक्ततम वा श्रेष्ठ योगी हैं।

(ख) परन्तु जो सबके हित में रत हुए (डूबे हुए), इंद्रियों को नियम में लाकर, सर्वत्र सम बुद्धि के साथ अक्षर, अव्यक्त (निर्गुण रूप) को उपासते हैं, वे मुझे ही प्राप्त होते, अर्थात मेरा ही स्वरूप होते हैं।

(ग) हे अर्जुन ! यद्यपि ये लोग मुझे ही प्राप्त होते हैं, परन्तु जो इस मार्ग के अधिकारी न होकर दूसरों के देखा-देखी इस अव्यक्त स्वरूप के चिंतन में फँस जाते हैं, उन ऐसे अव्यक्त में आसक्त चित्तवालों को क्लेश अधिकतर होता है, क्योंकि सर्व-साधारण देहधारी इस अव्यक्त गति को अति कष्ट से पा सकते हैं।

(घ) पर जो सारे कर्मों को मेरे अर्पण करके, मेरे परायण हुए, अनन्य योग से मुझे ही उपासते हैं, उनका मैं शीघ्र ही इस मृत्यु-रूप संसार-सागर से उद्धार कर देता हूँ।

(ङ) इसीलिये, हे अर्जुन ! तू मुझमें ही मन लगा, मुझमें ही बुद्धि स्थिर कर। इसके बाद तू मुझ में ही निवास करेगा, इसमें संदेह नहीं।

(३) इस प्रकार उपदेश देने के बाद अब भगवान् जो उक्त रीति से सगुण-उपासना नहीं कर सकते, उनके लिये क्रमशः सुगम रीति वर्णन करते हैं—

(क) हे अर्जुन ! यदि उक्त रीति से तू चित्त को मुझमें नहीं लगा सकता, तो अभ्यास-योग से मुझे प्राप्त होने की इच्छा कर।

(ख) यदि तू अभ्यास-योग करने के भी असमर्थ है, तो मेरे निमित्त कर्मों में लग। मदर्थ कर्म करते हुए भी तू सिद्धि को पा लेगा।

(ग) यदि तू यह भी करने के असमर्थ है, तो मेरे (कर्म-) योग का आश्रय लेकर और अपने आपको जीतकर तू समस्त कर्मों के फल का त्याग कर।

(घ) क्योंकि अभ्यास से ज्ञान श्रेष्ठ है, ज्ञान से ध्यान विशेष है, ध्यान से कर्म-फल का त्याग, और त्याग के अनंतर शांति अवश्य मिलती है।

(४) इस प्रकार सुगम से अति सुगम तथा श्रेष्ठ से अति श्रेष्ठ उपाय फल के सहित वर्णन करके भगवान् अब उन उपायों पर चलनेवाले भक्तों के गुण वा धर्म अथवा उन उपायों पर चलने से जो गुण व धर्म उन्हें प्राप्त होते हैं, उनका सविस्तर वर्णन करते हैं—

(क) जो उक्त कर्म-फल-त्याग के अनुष्ठान के प्रताप से किसी से द्वेष नहीं करता है, सबके साथ मित्रता से बर्तता है, ममत्व-बुद्धि और अहङ्कार से रहित होता है, सुख-दुःख में एकसमान एवं क्षमावान् होता है, सदा सन्तुष्ट रहता है, (कर्म-) योगी, संयमी (यतात्मा) और दृढ़ निश्चयवान् होता है, और जिसने अपने मन-बुद्धि को मुझमें अर्पण कर दिया होता है; ऐसा जो मेरा भक्त है, वह मुझे प्यारा होता है।

(ख) उक्त अभ्यास के कारण जिससे न तो लोगों को क्लेश वा सन्ताप होता है, और जो न लोगों से क्लेश, सन्ताप वा दुःख पाता है। ऐसे ही जो हर्ष, शोक, भय, क्रोध और विषाद से रहित वा अलिप्त हो जाता है, वह भक्त मुझे प्यारा होता है।

(ग) जो उक्त अनुष्ठान से निरपेक्ष, पवित्र, दक्ष और उदासीन हो जाता है, जिसकी व्यथा सब दूर हुई होती है, अथवा जिसे कोई भी विकार डिगा नहीं सकता, और जिससे सब आरम्भ छूट गये होते हैं वा जिसने सब आरम्भ त्याग दिये होते हैं, ऐसा मेरा भक्त मुझे प्यारा होता है।

(घ) जो उक्त अभ्यास के कारण न हर्ष करता है, न शोक, और न द्वेष करता है, न इच्छा, जिसने शुभ-अशुभ (फल) दोनों को त्याग रक्खा है, ऐसा जो मेरा भक्तिमान् सज्जन होता है, वह मुझे प्यारा होता है।

(ङ) जिसे उक्त अनुष्ठान के परिपक्व होने पर सब शत्रु-मित्र, मान-अपमान, सर्दी-गरमी और सुख-दुःख एकसमान हैं, जिसे किसी में भी आसक्ति नहीं है, जिसे निन्दा-स्तुति दोनों एक-सी हैं, जो मौनी हो जाता है, जो कुछ मिल जाय उसी में जो सन्तुष्ट होता है, जो अनिकेत (विना ठिकाने के) होता है, जो स्थिर-मति और भक्ति-भरा पुरुष हो जाता है, ऐसा नर मुझे अति प्यारा है।

(५) भक्तों के उक्त धर्म-समूह वा गुणों का उपसंहार फल के सहित वर्णन करते हुए भगवान् अब इस प्रकरण की समाप्ति करते हैं—

पस, हे अर्जुन ! जैसा ऊपर कहा है, वैसे जो भक्त श्रद्धा से भरकर और मेरे परायण होकर इस अमृत-तुल्य धर्म का अनुष्ठान करते हैं, वा इस धर्ममय अमृत का सेवन करते हैं, वे मेरे अतीव अर्थात् अत्यन्त ही प्यारे होते हैं।

इस प्रकार श्रीभगवान् से गाये हुए अर्थात् कहे हुए उपनिषद् में, ब्रह्मविद्यान्तर्गत योगशास्त्रविषयक, श्रीकृष्ण और अर्जुन के संवाद में, भक्तियोग-नामक बारहवाँ अध्याय समाप्त हुआ।

ॐ

अथ श्रीमद्भगवद्गीता

तृतीय षट्क

अध्याय १३ से १८ पर्यन्त



त्रयोदशोऽध्यायः

सम्बन्ध—(१) यहाँ से तीसरा षट्क आरम्भ होता है, इस तृतीय षट्क का सम्बन्ध पूर्व दो षट्कों के साथ इस प्रकार है—

इस गीता-शास्त्र के १८ अध्याय हैं, जो तीन षट्कों में विभक्त प्रतीत होते हैं। प्रथम षट्क अर्थात् पहले के छः अध्यायों में भगवान् ने 'त्वं' पद का अर्थ निरूपण किया, अर्थात् 'आत्मा वास्तव में क्या है और देह क्या है' इस प्रकार के तत्त्व-ज्ञान से अर्जुन की जो देहादि अनित्य पदार्थों में नित्य-बुद्धि हो गई थी, उसकी निवृत्ति की। फिर जिस प्रकार के कर्मयोगादि उपायों से उस तत्त्व (त्वं पद) का साक्षात्कार हो सकता है, उसका विस्तारपूर्वक निरूपण किया। इसके अनन्तर द्वितीय षट्क में, अर्थात् सातवें अध्याय से बारहवें अध्याय तक, 'तत्' पद का अर्थ निरूपण किया; अर्थात् सर्वव्यापकता और सर्वज्ञता इत्यादि उपाधियों से युक्त जो चैतन्य-रूप परमेश्वर है, उसका उसकी विभूतियों के सहित विस्तारपूर्वक वर्णन किया। फिर जिस प्रकार की उपासना से उस परमेश्वर की प्राप्ति वा उसका प्रसाद प्राप्त होता है, उसका विस्तारपूर्वक वर्णन कया। अब इस तृतीय षट्क में, अर्थात् तेरहवें अध्याय से लेकर अठारहवें अध्याय तक, भगवान् उसी महावाक्य 'तत्त्वमसि' में जो 'असि' पद जीव-ईश्वर ('त्वं' और 'तत्' पद) का अभेद-सूचक है, उसका विस्तारपूर्वक नरूपण करने लगे हैं; अर्थात् यहाँ से लेकर अन्त पर्यन्त

तत्त्व-ज्ञान, तत्त्व-ज्ञानियों की निष्ठा या स्थिति और उनके गुण-कर्म-स्वभाव का निरूपण फल के सहित विस्तारपूर्वक करने लगे हैं। या दूसरे शब्दों में संक्षेप से यह कि प्रथम षट्क कर्म-प्रधान कहा, द्वितीय षट्क उपासना-प्रधान कहा, अब तृतीय षट्क ज्ञान-प्रधान का भगवान् आरम्भ करने लगे हैं। इस प्रकार गीता-शास्त्र के तीनों षट्कों का प्रकरण-रूप से सम्बन्ध है।

अथवा (२) क्रम-रूप से तेरहवें अध्याय का पूर्व अध्याय से सम्बन्ध इस प्रकार है कि पूर्वले अध्याय (१२) में यह निरूपण हुआ है कि सगुण-ब्रह्म अर्थात् भगवान् के सगुण-रूप के उपासक भगवान् के अति प्यारे भक्त हैं, और अविनाशी अव्यक्त अर्थात् भगवान् के निर्गुण-रूप के उपासक तो सीधा भगवान् के शुद्ध स्वरूप को प्राप्त हुए स्वयं भगवत्-स्वरूप हो जाते हैं। और फिर यह कहा गया कि इस निर्गुण-उपासना का मार्ग सगुण-उपासना के मार्ग से अति कठिन, दुस्तर और दुःखदायी है, जिससे सर्व-साधारण के लिये या उसके अनधिकारी के लिये उपयोगी और लाभदायक नहीं, और इसीलिये अध्याय पर्यन्त सगुण-उपासना के मार्ग को भिन्न-भिन्न रूप से फल के सहित विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया। अब निर्गुण-उपासना के मार्ग को सविस्तर निरूपण करने के लिये भगवान् उस अव्यक्त अक्षर को व्यक्त शरीर आदि से पृथक् करके दर्शाने लगे हैं, जिससे अव्यक्त का ज्ञान, उसकी उपासना की विधि और फल अर्जुन को स्पष्ट हो जाय।

अथवा (३) अन्य रीति से यह सम्बन्ध भी हो सकता है कि द्वितीय षट्क के आरम्भ अर्थात् सातवें अध्याय में भगवान् ने अपना विश्व-रूप दर्शाने से पहले संक्षेपपूर्वक अपनी दो प्रकार की प्रकृति परा और अपरा रूप से कही। अब उसी विषय को क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ नामों से विस्तारपूर्वक वर्णन करने लगे हैं, जिससे अर्जुन को अक्षर (अव्यक्त) का क्षर से भेद और उसकी उपासना का ठीक-ठीक ज्ञान स्पष्ट हो जाय।

अथवा (४) बारहवें अध्याय के श्लोक ७ में भगवान् यह प्रतिज्ञा कर

चुके हैं कि "जो मेरे अनन्य भक्त हैं, उनका मैं स्वयं इस मृत्यु-रूप संसार-सागर से उद्धार करता हूँ।" पर यह उद्धार विना तत्त्व-ज्ञान के हो नहीं सकता, और श्रुति भी यह सिद्धान्त बार-बार निरूपण करती है कि "ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः"=विना ज्ञान के मुक्ति नहीं होती। "तरति शोकमात्मवित्"=आत्मवेत्ता ही शोक-सागर से पार होता है। इसलिये वह तत्त्व-ज्ञान जो भगवान् अपने भक्तों को उनके उद्धार के लिये दिया करते हैं, उसे अब क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के नामों से वे अपने भक्त अर्जुन को विना माँगे देने लगे हैं—*

---

* श्रीशंकराचार्यजी इस अध्याय का सम्बन्ध यों निरूपण करते हैं—

"सातवें अध्याय में ईश्वर की दो प्रकृतियाँ बतलाई गई हैं—पहली, आठ प्रकार से विभक्त त्रिगुणात्मिका प्रकृति जो संसार का कारण होने से अपरा है; और दूसरी परा प्रकृति जो कि जीवभूत, क्षेत्रज्ञ-रूप और ईश्वरात्मिका है। जिन दोनों प्रकृतियों से युक्त हुआ ईश्वर जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय का कारण होता है, उन क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ-रूप दोनों प्रकृतियों के निरूपण द्वारा उन प्रकृतियोंवाले ईश्वर का तत्त्व निश्चित करने के लिये यह 'क्षेत्र-विषयक' अध्याय आरम्भ किया जाता है।

इसके पहले बारहवें अध्याय में 'अद्वेष्टा सर्वभूतानां' से लेकर अध्याय की समाप्ति पर्यन्त तत्त्वज्ञानी संन्यासियों की निष्ठा, अर्थात् वे जिस प्रकार वर्ताव करते हैं, सो कहा गया। उपर्युक्त धर्म का आचरण करने से वे कौन-से तत्त्व-ज्ञान से युक्त होकर भगवान् के प्यारे हो जाते हैं, इस आशय को समझाने के लिये भी यह तेरहवाँ अध्याय आरम्भ किया जाता है।"

श्रीतिलक महाराज अपने विचित्र ढंग से इस श्लोक का सम्बन्ध इस प्रकार करते हैं—

"पिछले अध्याय में यह बात सिद्ध की गई है कि अनिर्देश्य और अव्यक्त परमेश्वर का (बुद्धि से) चिंतन करने पर अन्त में मोक्ष तो मिलता है; परन्तु उसकी अपेक्षा, श्रद्धा से परमेश्वर के प्रत्यक्ष और व्यक्त स्वरूप की भक्ति

श्रीभगवानुवाच—

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते ।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः ॥ १ ॥*

करके परमेश्वरार्पण-बुद्धि से सब कर्मों को करते रहने पर, यही मोक्ष सुलभ रीति से मिल जाता है। परन्तु इतने ही से ज्ञान-विज्ञान का वह निरूपण समाप्त नहीं हो जाता कि जिसका आरम्भ सातवें अध्याय में किया गया है। परमेश्वर का पूर्ण ज्ञान होने के लिये बाहरी सृष्टि के क्षर-अक्षर-विचार के साथ ही साथ मनुष्य के शरीर और आत्मा का अथवा क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का भी विचार करना पड़ता है। ऐसे ही यदि सामान्य रीति से जान लिया कि सब व्यक्त पदार्थ जड़ प्रकृति से उत्पन्न होते हैं, तो भी यह बतलाए विना ज्ञान-विज्ञान का निरूपण पूरा नहीं होता कि प्रकृति के किस गुण से यह विस्तार होता है और उसका क्रम कौन-सा है। अतएव तेरहवें अध्याय में पहले क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ का विचार, और फिर आगे चार अध्यायों में गुणत्रय का विभाग, बतलाकर अठारहवें अध्याय में समग्र विषय का उपसंहार किया गया है। सारांश, तीसरी षडध्यायी स्वतंत्र नहीं है; कर्मयोग की सिद्धि के लिये जिस ज्ञान-विज्ञान के निरूपण का सातवें अध्याय में आरंभ हो चुका है, उसी की पूर्ति इस षडध्यायी में की गई है।"

* भगवान् का अपने आप यह तत्त्व-ज्ञान वर्णन करना वास्तव में अर्जुन के उस प्रश्न के उत्तर के क्रम में है कि जो उसने बारहवें अध्याय के आरम्भ में किया था; अथवा भगवान् की अपनी प्रतिज्ञा के कारण से है। परन्तु इस क्रम तथा प्रतिज्ञा को न विचारकर किसी पण्डित ने यह अनुमान कर लिया कि विना जिज्ञासा (प्रश्न) के ऐसे तत्त्व का उपदेश किया जाना, यह तो यहाँ त्रुटि है, इसलिये इस त्रुटि को पूरा करने के आशय से उसने यह पाठ

इदं, शरीरं, कौन्तेय, क्षेत्रं, इति, अभिधीयते	हे कुन्तीपुत्र ! यह शरीर क्षेत्र है, ऐसा कहा जाता है	एतत्, यः, वेत्ति—जो इसको जानता है	
		तं, प्राहुः, क्षेत्रज्ञः, इति, तत्-विदः	उसको क्षेत्रज्ञ है, ऐसा उसके वेत्ता कहते हैं

अन्वयार्थ—श्रीभगवान् बोले—हे अर्जुन ! यह शरीर क्षेत्र* है, ऐसा कहा जाता है। जो इस क्षेत्र को जानता है, वह क्षेत्रज्ञ है, ऐसा इस (विषय) के जाननेवाले उसको कहते हैं ॥ १ ॥

व्याख्या—अपनी उक्त प्रतिज्ञा के अनुसार; (पूर्व अध्याय ७ के श्लोक में जो प्रतिज्ञा की थी कि "अब मैं ज्ञान को विज्ञान के सहित

बढ़ा दिया है—"अर्जुन उवाच—प्रकृतिं पुरुषं चैव क्षेत्रं क्षेत्रज्ञमेव च। एतद्वेदितुमिच्छामि ज्ञानं ज्ञेयं च केशव ॥ १ ॥"=अर्जुन बोला—हे केशव ! मैं प्रकृति, पुरुष और क्षेत्र, क्षेत्रज्ञ और ऐसे ही ज्ञान तथा ज्ञेय को जानना चाहता हूँ। पर इस श्लोक का प्रक्षिप्त होना बहुत स्पष्ट यों है कि प्रथम तो गीता-शास्त्र के ७०० श्लोक माने जाते हैं, इसको साथ मिलानें से ७०१ हो जाते हैं, द्वितीय श्रीशङ्कराचार्य, रामानुज, नीलकण्ठ, श्रीधर, ज्ञान-देव इत्यादि की व्याख्या में इसका नाम तक नहीं, और अध्याय के आदि में सङ्गति का सम्बन्ध वहाँ सीधा श्रीभगवानुवाच के साथ लगा हुआ है, अतएव यह श्लोक व्यास-कृत नहीं, पीछे बढ़ाया गया स्पष्ट मालूम देता है।

* शरीर कर्म-रूपी बीजों के फल की उत्पत्ति का स्थान है, संसार के अङ्कुर की भूमि है, इसलिये इसको क्षेत्र कहा है। और यह क्षेत्र (खेत) की तरह ही जड़ है। इसमें जो चेतनात्मा है, उसको क्षेत्रज्ञ कहते हैं, क्योंकि वह इस क्षेत्र का जाननेवाला है। जीवात्मा जिस तरह बाहर के पदार्थों को जानता है, उस तरह अपने शरीर को सङ्घात-रूप से और अलग-अलग अवयव-रूप से जानता है। (आर्यसमाज के पं० राजाराम)

सारा-का-सारा सुनाऊँगा," उसके अनुसार; अथवा पूर्व अध्याय १२ के श्लोक ७ में जो प्रतिज्ञा की थी कि "मुझमें अनन्य भक्ति से अपना चित्त जोड़नेवाले का मैं मृत्यु-रूप संसार-सागर से उद्धार करता हूँ", उसके अनुसार) ज्ञान को विज्ञान के सहित पूरा-पूरा बताने के लिये कृपालु भगवान् अपने आप बोले कि हे कुन्तीपुत्र अर्जुन ! यह पाञ्चभौतिक शरीर, जो कर्म-रूपी बीजों के बोने और फल देने का स्थान है, संसारांकुर की भूमि है, सब देवताओं का निवास-स्थान है, जो ताड़न और रक्षण किया जाता है, और जो स्वयं क्षय और नाश को प्राप्त होता है; अर्थात् जो ताड़न, रक्षण, क्षय, नाश, बोये जाने और निवास किये जाने इत्यादि छ धर्मों से युक्त है; ऐसा शरीर क्षेत्र कहलाता है। और जो इस क्षेत्र को सङ्घात-रूप से अथवा अलग-अलग अङ्गों से जानता है (या जो इस खेत के समान जड़ शरीर का साक्षी आत्मा है), वह क्षेत्रज्ञ है, इस प्रकार इस क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ रूप विषय के जाननेवाले (तत्त्व-वेत्ता) कहते हैं ॥ १ ॥ ※

※ भारत-धर्म-महामण्डल के श्रीस्वामी दयानन्द इस श्लोक की व्याख्या ऐसे करते हैं—"सप्तम अध्याय में जिसको अपरा प्रकृति कहा गया था, उसी को यहाँ पर क्षेत्र कहा गया है। और उस अध्याय-कथित 'जीवभूता परा प्रकृति' यहाँ पर 'क्षेत्रज्ञ' शब्द से अभिहित की गई है। समस्त शरीरों में परमात्मा की जो चेतन सत्ता है, उसी को जीव या क्षेत्रज्ञ कहते हैं। यह चेतन सत्ता स्वरूपतः ब्रह्मसत्ता होने पर भी बंधन-दशा में इस पर भ्रम से कर्तृत्व भोक्तृत्व आरोपण किया जाता है। इस प्रकार आरोपण ही जीव का बन्धन है। विवेक की सहायता से जब यह पता लग जाता है कि वह चेतन सत्ता या पुरुष या क्षेत्रज्ञ वास्तव में बद्ध नहीं है, वह नित्य-शुद्ध बुद्ध-मुक्त-स्वभाव है, प्रकृति के तीन गुणों के साथ उसका कोई भी सम्बन्ध नहीं है, तभी जीव की मुक्ति होती है। यही सांख्यदर्शन का सिद्धान्त है। अतः यह प्रमाणित हुआ कि

सम्बन्ध—(१) उक्त क्षेत्रज्ञ को भगवान् अब अपने आत्म-भाव से निरूपण करते हैं—

अथवा (२) क्षेत्रज्ञ का व्यावहारिक रूप दर्शाकर अब भगवान् उसका पारमार्थिक रूप कहते हैं—

अथवा (३) अलग-अलग शरीरों में पृथक्-पृथक् क्षेत्रज्ञ बतलाने के स्थान पर अब भगवान् सब शरीरों में एक ही क्षेत्रज्ञ दर्शाते हैं—

अथवा (४) देह इन्द्रियादिक से पृथक् उसके ज्ञाता को क्षेत्रज्ञ बताकर भगवान् अब इस क्षेत्रज्ञ (जीव) की सच्चिदानन्द-स्वरूप परमात्मा से एकता दर्शाते हैं—

अथवा (५) इस प्रकार कहे हुए क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ क्या इतने ज्ञान से ही जाने जा सकते हैं ? इसपर भगवान् अपना मत प्रकट करते हैं—

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत ।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम ॥२॥

समष्टि-रूप से सर्वत्र व्याप्त ईश्वर सत्ता ही प्रति देह में क्षेत्रज्ञ या पुरुष-रूप से विराजमान है। बन्धन-दशा में अर्थात् जीव-दशा में क्षेत्र के साथ उसका औपचारिक कर्तृत्व-भोक्तृत्व-सम्बन्ध माना जाता है। विवेक द्वारा उस उपचार के नाश होते ही पुरुष अपने ज्ञानमय निर्लिप्त स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है। जिस प्रकार खेत में शस्य की उत्पत्ति तथा वृद्धि होती है, ऐसे ही शरीर भी सृष्टि-विस्तार का कारण है, इसलिये उसे 'क्षेत्र' कहा गया है। इसी क्षेत्र को जानकर ही जीव की मुक्ति होती है, इस कारण जाननेवाला पुरुष 'क्षेत्रज्ञ' है। क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ का अभेद-ज्ञान बन्धन का और भेद-ज्ञान मुक्ति का हेतु है। अतः भेद-ज्ञान ही सच्चा ज्ञान है, जैसा कि श्रीभगवान् ने बताया है।"

क्षेत्रज्ञं, च, अपि, मां, विद्धि, सर्व-क्षेत्रेषु, भारत	और हे अर्जुन ! सब क्षेत्रों में तू मुझको ही (वा भी) क्षेत्रज्ञ जान	क्षेत्र-क्षेत्रज्ञयोः, ज्ञानं, यत्	क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का जो ज्ञान
		तत्-ज्ञानं, मतं, मम	वह ज्ञान मेरा मत है

पहला अन्वयार्थ—और हे अर्जुन ! सब क्षेत्रों में क्षेत्रज्ञ तू मुझे ही जान। क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ का जो ज्ञान है, वह ज्ञान मेरा मत है ॥ २ ॥

दूसरा अन्वयार्थ—और हे अर्जुन ! सब क्षेत्रों में क्षेत्रज्ञ भी तू मुझको जान। क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ का जो ज्ञान है, वह ज्ञान मेरा मत है ॥ २ ॥

पहले अन्वयार्थ की व्याख्या—और हे राजा भरत की सन्तान (अर्जुन) ! यह जो ऊपर क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का अलग-अलग स्वरूप वर्णन हुआ है, तू इतने ही ज्ञान पर बस मत कर बल्कि इससे आगे या इसके साथ-साथ तू ऐसा समझ कि पूर्व श्लोक में जो देह इंद्रियादि सङ्घात रूप को क्षेत्र कहा है, उन सब क्षेत्रों में जो क्षेत्रज्ञ है, अर्थात् उन देहों में जो उनका अधिष्ठाता, साक्षी, नियामक वा ज्ञाता-रूप से स्थित क्षेत्रज्ञ है, और जो अनेक क्षेत्र-रूप उपाधियों के कारण पृथक्-पृथक् प्रतीत होता है, वह सबका आधार-रूप क्षेत्रज्ञ मैं ही वास्तव में हूँ, और मेरे से इतर कोई नहीं है। और ऐसा जो यह उक्त क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ का ज्ञान है, वही मेरी मति में वास्तव में ज्ञान है। अर्थात् सब क्षेत्रों में क्षेत्रज्ञ वास्तव में मैं हूँ, यद्यपि उपाधि-भेद से पृथक्-पृथक् प्रतीत होता हूँ, ऐसा जो ज्ञान है, वही ज्ञान वास्तव में परमेश्वर का ज्ञान है, अथवा वही ज्ञान अविद्या का नाशक और मोक्ष का साधन है, ऐसा मैं मानता हूँ ॥ २ ॥

दूसरे अन्वयार्थ की व्याख्या—और हे भरत-पुत्र अर्जुन ! पूर्व अध्यायों में जो मैंने (७.४ ; ८.४ ; ९.८ द्वारा) अपनी दो प्रकार की (जड़-चेतन-रूप से अथवा देह और जीवात्मा-रूप से) प्रकृति वर्णन की है, उसके

अनुसार तू यहाँ भी ऐसा समझ कि मैं केवल क्षेत्र (अर्थात् जड़-रूप प्रकृति) ही नहीं हूँ वल्कि क्षेत्रज्ञ (चेतन-रूप प्रकृति) भी हूँ। इस प्रकार जो मुझे क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-रूप से जानता है, ऐसा जानना वास्तव में मेरा ठीक-ठीक जानना है, यह मेरा मत है, अथवा ऐसा ही शास्त्रों में माना गया है ॥ २ ॥ ❀

सम्बन्ध—(१) उक्त विषय का विस्तारपूर्वक वर्णन जिस क्रम से इस अध्याय में आगे किया जाना है, उसे अब भगवान् स्पष्ट करते हैं—

अथवा (२) उक्त दो श्लोकों में संक्षेप से वर्णन किये हुए विषय को अब भगवान् विस्तारपूर्वक वर्णन करने लगे हैं—

अथवा (३) उक्त क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ विषय का विचार कहाँ पर, किसने और कैसे किया है, इसे भगवान् विस्तारपूर्वक अब दर्शाने लगे हैं—

❀ इस श्लोक के पहले अर्थ श्रीशङ्कराचार्य, मधुसूदन स्वामी इत्यादि अनेक भाष्यकारों ने किये हैं, और दूसरे अर्थ महात्मा तिलक, और कुछ भेद से पं० राजाराम इत्यादि एक-दो और टीकाकारों ने किये हैं। अपने-अपने स्थान पर ये दोनों अर्थ युक्त बैठ सकते हैं, इसलिये हमने दोनों ही दे दिये हैं। पहले अर्थ में 'तत्त्वमसि', 'अयमात्माब्रह्म', 'अहं ब्रह्मास्मि', 'प्रज्ञानमानन्दं ब्रह्म' इन चार महावाक्यों का प्रमाण है। और दूसरे अर्थ में 'ब्रह्मैवेदंसर्वं', 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इत्यादि श्रुतियों का प्रमाण है। जो लोग अद्वैत वेदान्त को नहीं मानते, उन्होंने 'क्षेत्रज्ञ भी मैं हूँ' इस वाक्य की खैंचातानी करके इससे भेद-वाद सिद्ध करना चाहा है ; बल्कि पं० राजाराम-जैसे टीकाकार भी, जिन्होंने अपनी गीता की भूमिका में यह स्पष्ट स्वीकार किया है कि गीता में केवल एक आत्मा ही माना गया है और वहाँ द्वैत नहीं स्वीकृत है, और पण्डितजी ने गीता के इसी सिद्धांतानुसार गीता की व्याख्या करने की प्रतिज्ञा भी की है, तथापि यहाँ आकर पण्डितजी ने अपने पूर्वाभ्यासानुसार द्वैत दर्शाने का बड़ा यत्न किया है, जो इसी अध्याय के अगले श्लोकों से व्यर्थ सिद्ध हो जाता है। (टीकाकार)

अथवा (४) 'इदं शरीरं' इत्यादि से कहे अर्थ को भगवान् अब खोलकर कहने को प्रतिज्ञा करते हैं—

अथवा (५) अब भगवान् क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के स्वरूपों को पृथक्-पृथक् कर संक्षिप्त रीति से कहते हैं—

तत्क्षेत्रं यच्च यादृक् च यद्विकारि यतश्च यत् ।
स च यो यत्प्रभावश्च तत्समासेन मे शृणु ॥३॥

तत्, क्षेत्रं, यत्, च=और जो वह क्षेत्र है	सः, च, यः=और जो वह (क्षेत्रज्ञ)
यां, दृक्, च, यत्-विकारि-यतः, च, यत् — जिसके सदृश (जैसा) और जिस विकार-वाला और जिससे जो है	यत्-प्रभावः, च=और जिस प्रभाव-वाला है
	तत्, समासेन, मे, शृणु — वह संक्षेप से मुझसे सुन

अन्वयार्थ—और जो वह क्षेत्र है, जैसा है, जिस विकारवाला है, और जिससे जो है, तथा जो वह (क्षेत्रज्ञ) है, और जिस प्रभाववाला है, वह सब संक्षेप से तू मुझसे सुन ॥ ३ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! वह जो शरीर-रूपी क्षेत्र ऊपर कहा है, वह क्या वस्तु है, वह किसके सदृश है, अर्थात् वह किस स्वभाववाला या किन-किन धर्मों से युक्त है, उसमें क्या-क्या विकार होते हैं, और किससे किस प्रयोजन के लिये वह होता है, अथवा उस क्षेत्र-रूप कारण से क्या-क्या कार्य उत्पन्न होते हैं, और वह स्वयं किससे होता है; इतना तो शरीर-रूपी क्षेत्र के सम्बन्ध में; और वह (शरीर का साक्षी-रूप) क्षेत्रज्ञ वास्तव में क्या है, और उसका प्रभाव क्या है अर्थात् क्या-क्या उसमें शक्तियाँ हैं, इतना क्षेत्रज्ञ के विषय में तू इस सारे को संक्षेप से मुझसे सुन ॥ ३ ॥

सम्बन्ध—(१) उक्त विषय को किस-किसने और कहाँ-कहाँ स्पष्ट किया है, उसे भगवान् अब दर्शाते हैं—

अथवा (२) जिन-जिनसे और जहाँ-जहाँ यह उक्त विस्तार इस क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ के विषय का वर्णन हुआ है, उसे भगवान् पहले वर्णन करते हैं, जिससे अर्जुन की रुचि उसके सुनने में अधिक हो—

ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक् ।
ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः ॥ ४ ॥

ऋषिभिः, बहुधा, गीतं, छन्दोभिः, विविधैः, पृथक्	ऋषियों से बहुत प्रकार से और नाना प्रकार के छन्दों से पृथक्-पृथक् गाया गया	ब्रह्मसूत्र-पदैः, च, एव, हेतुमद्भिः, विनिश्चितैः	ऐसे ही युक्तिवाले तथा निश्चित अर्थवाले ब्रह्मसूत्र-पदों से

अन्वयार्थ—बहुत प्रकार से ऋषियों द्वारा, नाना प्रकार के छन्दों से पृथक्-पृथक्, और ऐसे ही युक्तियोंवाले तथा निश्चित अर्थवाले ब्रह्म-सूत्र के पदों से यह (विषय) गाया गया है ॥ ४ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! इस क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-रूपी विषय को वशिष्ठ, पराशर आदि ऋषियों ने बहुत प्रकार से निरूपण किया है, और ऋग्वेदादि नाना प्रकार के छन्दों अर्थात् श्रुति-वाक्यों द्वारा इस क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ का स्वरूप पृथक्-पृथक् करके विवेचनापूर्वक कहा गया है ; अथवा इस क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ के स्वरूप को विस्तार के साथ वशिष्ठ आदि अनेक ऋषियों ने ऋग्वेदादि में नाना छन्दों से पृथक्-पृथक् (भिन्न-भिन्न विधि से) गाया अर्थात् वर्णन किया है। और ब्रह्म के सूचक अर्थात् प्रतिपादन करनेवाले जो ब्रह्म-सूत्र (वेदान्त-सूत्र) हैं, तथा जो युक्तियों और निश्चित अर्थों (या निर्णयों) से भरपूर हैं, अथवा जो संशय-रहित निश्चित ज्ञान उत्पन्न

करनेवाले और युक्तियों से निर्णीत अर्थों के प्रतिपादक हैं, ऐसे ब्रह्मसूत्र-रूप पदों से भी यह विषय खूब खोलकर प्रतिपादन किया गया है ॥ ४ ॥

सम्बन्ध—यह बतला चुकने के बाद कि क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ का विस्तारपूर्वक वर्णन कहाँ और किनसे हुआ है, अब भगवान् अपने उक्त क्रमानुसार पहले क्षेत्र का स्वरूप आदि कथन करते हैं—

महाभूतान्यहङ्कारो बुद्धिरव्यक्तमेव च ।
इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः ॥ ५ ॥
इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः ।
एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम् ॥ ६ ॥

महाभूतानि, अहङ्कारः, बुद्धिः, अव्यक्तं, एव, च	महाभूत, अहङ्कार, बुद्धि और ऐसे ही अव्यक्त
इन्द्रियाणि, दश, एकं, च, पञ्च, च, इन्द्रिय-गोचराः	दस और एक इन्द्रियाँ और पाँच इन्द्रिय-गोचर
इच्छा, द्वेषः, सुखं, दुःखं	इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख
संघातः, चेतना, धृतिः	संघात (शरीर), चेतना और धैर्य
एतत्, क्षेत्रं, समासेन, सविकारं, उदाहृतं	यह क्षेत्र संक्षेप से विकार-सहित बतलाया गया है

अन्वयार्थ—महाभूत, अहङ्कार, बुद्धि, अव्यक्त, दस और एक (ग्यारह) इन्द्रिय, पाँच इन्द्रिय-गोचर, इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, संघात, चेतना और धृति यह विकार-समेत क्षेत्र संक्षेप से बतलाया गया है ॥ ५, ६ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! पहले क्षेत्र के स्वरूप को तू सुन—महाभूत अर्थात् पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश यह पञ्चमहाभूत। अहङ्कार अर्थात् अन्तःकरण की वह वृत्ति जिसमें अहंता अर्थात् "अहं करोमि"

का परिच्छिन्न भाव प्रकट होता है, अथवा इन पञ्चमहाभूतों का कारण-भूत अभिमान लक्षण-रूप अहङ्कार। बुद्धि अर्थात् अन्तःकरण की निश्चय करनेवाली वृत्ति, अथवा इस अहंकार का कारणभूत महत्तत्त्व-रूपी बुद्धि। अव्यक्त अर्थात् इस बुद्धि का भी कारणभूत सत्त्वरजतम-गुणात्मक अव्याकृत, अथवा जो सबका तो कारण-रूप है, पर स्वयं किसी का भी कार्य नहीं, ऐसा महान् अव्यक्त-रूप अव्याकृत, मूलाज्ञान, माया वा प्रकृति (इस प्रकार महाभूत से लेकर अव्यक्त अर्थात् अव्याकृत पर्यन्त यह सांख्य-मत के अनुसार आठ प्रकार की प्रकृति)। दस इंद्रियाँ अर्थात् पाँच कर्म-इन्द्रियाँ (हाथ, पाँव, गुदा, लिङ्ग और वाणी) और पाँच ज्ञान-इन्द्रियाँ (नेत्र, कान, नाक, जिह्वा और त्वचा); और सङ्कल्प-विकल्प-रूपी एक मन। पञ्च इन्द्रियगोचर अर्थात् पाँच ज्ञान-इन्द्रियों के शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध ये पाँच विषय (इस प्रकार पूर्वोक्त आठ प्रकार की प्रकृति, दस इन्द्रियाँ, एक मन और पाँच विषय, इन २४ को सांख्य-शास्त्रवाले चौवीस तत्त्व कहते हैं)। इच्छा* अर्थात् लोक वा परलोक की इच्छा, अथवा अन्तःकरण की वह वृत्ति जो सुख के अनुकूल साधनों की प्राप्ति में स्पृहा-रूप हो। द्वेष अर्थात् प्रतिकूल पदार्थों से घृणा, अथवा अन्तःकरण की वह वृत्ति जो दुःख या प्रतिकूल पदार्थों में अप्रिय-बुद्धि उत्पन्न करे। सुख अर्थात् अनुकूल शब्दादि विषयों की प्राप्ति पर सत्त्व-गुण

---

* इच्छा, द्वेष, सुख, दुःखादि गुण केवल क्षेत्र के दर्शाने से भगवान् ने सिद्ध कर दिया कि ये लक्षण उनके मत में आत्मा के नहीं, किन्तु इस क्षेत्र-रूपी शरीर के हैं। गीता का ऐसा सिद्धान्त होते हुए फिर वैशेषिक दर्शन के षट् लिङ्गवाले आत्मा को चित्त में रखकर गीता के अन्दर आत्मा, परमात्मा और प्रकृति तीनों को नितान्त भिन्न-भिन्न दर्शाकर द्वैत वा त्रिमूर्ति सिद्ध करने का प्रयत्न करना घोर पाप करना नहीं तो क्या है? अथवा अपनी बुद्धि, मन और चित्त को प्रत्यक्ष कलङ्क लगाना ही है, इसमें सन्देह नहीं।

के संयोग से अन्तःकरण की प्रसन्नताकार वृत्ति। दुःख अर्थात् प्रतिकूल विषयों की प्राप्ति पर अन्तःकरण की विक्षेप-रूप अथवा क्लेश-रूप वृत्ति। संघात अर्थात् पाँचों तत्त्वों का परिणाम-रूप, अथवा देह-इन्द्रियों का समुदाय-रूप शरीर। चेतना अर्थात् इस संघात के अन्दर प्राण आदि का व्यक्त व्यापार अथवा अन्तःकरण के भीतर वह चेतन-शक्ति जिसके प्रकट होने से प्रत्येक पदार्थ का ज्ञान और अनर्थों की निवृत्ति होती है, अथवा प्रमा-ज्ञान नाम की चित्त-वृत्ति, या विचार करने की शक्ति। और धृति अर्थात् व्याकुलता के प्राप्त होने पर चित्त को दृढ़ता और धीरज देनेवाली अन्तःकरण की वृत्ति, अथवा असावधान हुई दशा में देह-इन्द्रियादिक को सावधान करने का हेतु-रूप प्रयत्न। ऐसे उक्त विकारोंवाला जो है, वह क्षेत्र है। इस प्रकार, हे अर्जुन! पञ्चमहाभूत से लेकर धृति पर्यन्त अर्थात् ३१ तत्त्वों के समुदाय को सविकार क्षेत्र कहते हैं, ऐसा तू जान ॥ ५, ६ ॥ ❀

❀ श्रीज्ञानदेवजी ने इन दोनों श्लोकों की व्याख्या बड़े विस्तार से और अति विचित्र ढंग से की है, इसलिये उसे भी सम्पूर्ण यहाँ दे दिया जाता है—

"पाँच महाभूत और अहङ्कार, बुद्धि, अव्यक्त, दस इन्द्रियाँ और ग्यारहवाँ एक मन, दस विषय, द्वेष, सुख, दुःख, सङ्घात, इच्छा, चेतना और धृति इतने तत्त्व क्षेत्र व्यक्ति में रहते हैं, यह सब हम तुमसे कह चुके। अब महाभूत कौन हैं, इन्द्रियाँ कैसी होती हैं, सो अलग-अलग कहते हैं। पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और आकाश महाभूत हैं। जागृति की दशा में जैसे स्वप्न छिपा हुआ रहता है, अथवा अमावास्या में जैसे चन्द्र गुप्त रहता है, अथवा छोटे बालक में जैसे तारुण्य लीन रहता है, अथवा बिन फूली कली में जैसे सुगन्ध लुप्त रहती है, बहुत क्या कहें, हे किरीटी! काष्ठ में जैसे अग्नि गुप्त रहती है, वैसे ही जो प्रकृति के पेट में गुप्त था, और जैसे धातुगत ज्वर कुपथ्य का मिस ही देखता है और कुपथ्य होते ही अन्तर्बाह्य फैल जाता है वैसे ही पाँचों भूतों

सम्बन्ध—अब उक्त लक्षणवाले क्षेत्र से भिन्न ज्ञेय अर्थात् क्षेत्रज्ञ को

का मेल होते ही ज्योंही देहाकृति प्रकट होती है त्योंही जो उसे चहुँओर नचाने लगता है, उसे अहङ्कार कहते हैं। अहङ्कार की एक बात अनोखी है कि वह विशेषतः अज्ञानियों के पीछे नहीं लगता परन्तु ज्ञानियों के गले से झूमता है और उन्हें अनेक सङ्कटों में डालता है। फिर यदुराज ने कहा कि सुनो, जिसे बुद्धि कहते हैं, उसे इन लक्षणों से जानना चाहिए। काम के बल से और इन्द्रिय-वृत्ति के समागम से विषयों के समुदाय इकट्ठे होते हैं, और उनसे जब जीवन को सुख-दुःख की प्राप्ति का अनुभव होता है तब दोनों की जो उत्तम तुलना करती है ; यह सुख है, यह दुःख है, यह पुण्य है, यह पाप है, यह मलिन है, यह निर्मल है, इस प्रकार जो निर्णय करती है ; जो भला-बुरा जानती है, छोटा-बड़ा समझती है, जिस दृष्टि से जीव विषयों को पहचानता है, जो ज्ञानेन्द्रियों का मूल है, जो सत्त्वगुण की वृद्धि है, जो आत्मा और जीव दोनों को जोड़ती है, सो सब, हे अर्जुन ! तुम बुद्धि जानो। अब अव्यक्त का लक्षण सुनो। हे महामति ! सांख्य-वादियों के सिद्धान्त में जिसे प्रकृति कहते हैं उसी को सम्प्रति यहाँ अव्यक्त कहा गया है। तथा सांख्य-योग-मत के अनुसार हमने तुम्हें जो प्रकृति का वर्णन सुनाया था और उसमें जो दो प्रकार की प्रकृति बताई थी, उनमें से दूसरी जो जीव-दशा कही थी, उसी को, हे वीरेश ! यहाँ पर्याय से अव्यक्त नाम दिया है। रात्रि के उपरान्त प्रातः-काल होते ही जैसे आकाश में तारों का लोप हो जाता है, अथवा सूर्यास्त के पश्चात् जैसे प्राणिमात्र के व्यवहार बन्द हो जाते हैं, अथवा हे किरीटी ! देह छोड़ने पर जैसे देहादि उपाधि कृत-कर्मों के पेट में लीन हो जाती है, अथवा बीज के आकार में जैसे सम्पूर्ण वृक्ष छिपा हुआ रहता है, या वस्त्राकार जैसा तन्तु-दशा में लीन रहता है, वैसे ही स्थूल धर्म छोड़कर महाभूत और प्राण-समुदाय सूक्ष्म-रूप होकर जहाँ लीन हो जाते हैं, उसका नाम, हे अर्जुन ! अव्यक्त है। अब सम्पूर्ण इन्द्रियों के भेद सुनो। कान, आँख, त्वचा, नासिका,

विस्तारपूर्वक वर्णन करना चाहते हुए भगवान् पहले उसके ज्ञान के बीस साधन पाँच श्लोकों में निरूपण करते हैं—

जिह्वा; ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ कहलाती हैं। इन तत्त्वों के समुदाय में बुद्धि, इन पाँचों के द्वारा, सुख-दुःख का विचार करती है। फिर वाचा, हाथ, चरण, उपस्थ और गुदस्थान ये और पाँच प्रकार हैं। श्रीकृष्ण कहते हैं कि जिन्हें कर्मेन्द्रियाँ कहते हैं, वे यही हैं। प्राण की स्त्री जो शरीर में क्रिया-शक्ति है, सो इन पाँच द्वारों से आवागमन किया करती है। देव ने कहा कि इस प्रकार हमने दसों इन्द्रियों का वर्णन किया। अब सुनो, मन निश्चय से इस तरह का है। वह इन्द्रियों और बुद्धि के बीच की संधि में रजोगुण की शाखाओं पर खेलता रहता है। आकाश में जैसी नीलिमा, अथवा जैसी मृगजल की लहरें, वैसे ही वह वृथा वायु-रूप हो चमकता है, और शुक्र तथा शोणित मिलकर पञ्चतत्त्व का आकार बनते ही वह एक ही वायुतत्त्व दशधा हो जाता है। वे दशों भाग देह-धर्म के बल से अपने-अपने शरीर-भागों में बसते हैं। उसमें केवल एक निरी चञ्चलता रहती है, इसलिये वह रजोगुण का बल रखता है। वह बुद्धि के बाहर और अहङ्कार से मिला हुआ, बीच में बलवान् हुआ रहता है। उसको 'मन' कहना व्यर्थ है, वह मूर्त्तिमती कल्पना ही है जिसके सङ्ग से परब्रह्म जीव-दशा में दिखाई देता है। जो प्रकृति का मूल है; काम को जिसका बल है; जो निरन्तर अहङ्कार से स्पर्धा करता है; जो इच्छा को बढ़ाता है, आशा को चढ़ाता है, और डर की तरफ़दारी करता है, जिसके कारण द्वैत उत्पन्न होता है; जिससे अविद्या बलवती होती है; जो इन्द्रियों को विषयों में डालता है; जो सङ्कल्प के द्वारा सृष्टि की रचना करता है, और सहज ही विकल्प के द्वारा उसका नाश कर देता है; जो मनोरथों के मटके एक पर एक गिराता और उतारता है; जो भूल का भाण्डार है, वायुतत्त्व का सार है और बुद्धि का द्वार बन्द कर देता है, वह, हे किरीटी! मन है। यह बात मिथ्या नहीं है। अब जिसे विषय कहते हैं, उसके भेद सुनो। स्पर्श, शब्द, रूप, रस, गन्ध ये

अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम् ।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः ॥ ७ ॥

पाँच प्रकार के ज्ञानेन्द्रियों के विषय हैं। इन पाँच द्वारों से ज्ञान बाहर दौड़ता है, जैसे कि कोई पशु हरा चारा देख अधीरता से बाहर दौड़ जाय। फिर स्वर, व्यञ्जन, विसर्ग का उच्चारण, वस्तु का ग्रहण करना, या छोड़ना, चलना और मल-मूत्र का त्याग करना, ये पाँच कर्मेन्द्रियों के विषय हैं, जिनका रास्ता बनाकर क्रिया बाहर दौड़ती है। ऐसे दस विषय इस देह में हैं। अब इच्छा का भी निरूपण करते हैं। जिस वृत्ति से पिछली बात का स्मरण होता है, अथवा कान में शब्द पड़ते ही जिसे चेतना होती है; जो इन्द्रियों की और विषयों की भेंट होते ही काम का हाथ पकड़कर उठती है; जिसके उठते ही मन इधर-उधर दौड़ता है और इन्द्रियाँ जहाँ न चाहिए वहाँ मुँह डालती हैं; जिस वृत्ति के प्रेम से बुद्धि पागल हो जाती है, जिससे विषयों को अत्यन्त प्रेम है, वह इच्छा है। इच्छा करते ही इन्द्रियों को विषय-भोग न मिलने की जो घटना है, वही द्वेष है। अब इसके उपरान्त सुख इस तरह का जानो। जिस एक की प्राप्ति से जीव सम्पूर्ण बातें भूल जाता है; जो मन, वाचा और काया को अपनी शपथ दे देहस्मरण का ठाँव मिटा देता है; जिसकी उत्पत्ति होते ही प्राण पंगु हो जाता है, और सात्त्विक भावों को दुगुने से अधिक लाभ होता है, अथवा जो सब इन्द्रिय-वृत्तियों को हृदय के एकान्त-स्थान में थपकी देकर सुला देता है, किंबहुना जीव को आत्म-स्वरूप का लाभ होने के समय जो उत्पन्न होता है, उसे सुख कहते हैं। और, हे पार्थ ! ऐसी अवस्था का लाभ न होते हुए जो जीता रहता है, उसे सर्वथा दुःख जानो। सुख, वासना के सङ्ग के कारण नहीं होता; वासना-सङ्ग न हो, तो वह बना ही हुआ है। इस प्रकार सुख और दुःख के यही दो कारण हैं। अब हे पाण्डुसुत ! असङ्ग और साक्षि-भूत चैतन्य की जो इस देह में सत्ता है, उसे चेतना कहते हैं। जो नख से शिर

[1]अमानित्वं, [2]अदम्भित्वं, [3]अहिंसा, [4]क्षान्तिः, [5]आर्जवं	[1]मान-हीनता, [2]दम्भ-हीनता, [3]अहिंसा, [4]क्षमा, [5]सरलता	[1]आचार्य-[2]उपासनं, [3]शौचं, [4]स्थैर्यं, [5]आत्म-[6]विनिग्रहः	[1]गुरु की [2]सेवा, [3]पवित्रता, [4]स्थिरता, [5]अपने आपको [6]वश में रखना

के बालों तक शरीर में खड़ी जागती है ; जो तीनों अवस्थाओं में नहीं बदलती, एकरूप रहती है ; जिससे मन, बुद्धि, इत्यादि हरे-भरे रहते हैं ; जो सर्वदा प्रकृति-रूपी वन की वसन्त है ; जो स्थावर और जङ्गम के अंशों में समान ही सञ्चार करती है, वह चेतना है । यह मिथ्या मत मानो । अब जैसे राजा अथवा उसका परिवार कुछ नहीं करता ; परन्तु उसकी आज्ञा ही शत्रु को जीतती है, अथवा जैसे चन्द्र की पूर्णता से ही समुद्र में बाढ़ आती है, अथवा जैसे चुम्बक की समीपता ही लोहे को सचेत करती है, अथवा जैसे सूर्य के सङ्ग से ही लोग व्यवहार करते हैं, अजी, जैसे स्तनों का मुख से स्पर्श कराये विना ही—कूर्मी (कछुई) के निरीक्षण से ही—उसके बच्चों का पोषण होता है, वैसे ही इस शरीर में जो आत्मा की सङ्गति जड़ को सजीवता का लाभ करा देती है, उसी को हे अर्जुन ! चेतना कहते हैं । अब धृति के भेद का विचार सुनो । तत्त्वों में क्या परस्पर जाति-स्वभाव-जन्य वैर प्रकट नहीं है ? जल क्या पृथिवी का नाश नहीं करता ? इसी प्रकार जल को अग्नि जलाती है, अग्नि से वायु झगड़ती है और आकाश सहज में वायु को खा जाता है, और स्वयं कभी किसी से भी न मिलकर सर्वत्र भरा हुआ अलग रहता है । ऐसे ये पाँचों महाभूत एक-दूसरे को नहीं सहते, परन्तु तो भी शरीर में एक हो जाते हैं, और वैर या विवाद छोड़कर एक जगह बसते हैं और निज के गुण से एक-दूसरे का पोषण करते हैं । इस प्रकार जिनका मेल नहीं है, उनका मिलाप कर देना जिस धैर्य के कारण होता है, उसे मैं धृति कहता हूँ । और हे पाण्डव ! जीव के सङ्ग इन छत्तीस तत्त्वों का मेल ही संघात जानो । इस प्रकार ये छत्तीसों भेद हमने स्पष्ट कर बताये । इन सबको मिलाकर जो बनता

अन्वयार्थ—मान-हीनता, दम्भ-हीनता, अहिंसा, क्षमा, सरलता, गुरु-सेवा, पवित्रता, स्थिरता, अपने आपको वश में रखना (मनोनिग्रह) ॥ ७ ॥

है, उसे क्षेत्र कहते हैं। हे पाण्डव ! रथाङ्गों के समुदाय को जैसे रथ कहते हैं, अथवा नीचे-ऊपर के अवयवों के समुदाय का नाम जैसे देह है, अथवा चतुरङ्ग के समूह को सेना नाम दिया जाता है, अथवा अक्षरों के पुञ्जों को जैसे वाक्य कहते हैं, अथवा जलधरों का समुदाय जैसे अभ्र कहाता है, या सब लोकों का नाम जैसे जगत् है, अथवा तेल, सूत और अग्नि का एक स्थान में मेल किया जाय तो संसार में दीपक बन जाता है, वैसे ही ये छत्तीसों तत्त्व जब एक में मिलते हैं, तब इन सबके समुदाय को क्षेत्र कहते हैं; और इस भौतिक देह के व्यापार से इसमें पाप और पुण्य पकता है, इसलिये भी हम इसे कुतूहल से क्षेत्र कहते हैं। किसी के मत में इसे देह भी कहते हैं। परन्तु अस्तु, इसके नाम अनेक हैं। पर-तत्त्व के इस ओर स्थावर पर्यन्त, जो कुछ होता जाता है, वह क्षेत्र ही है। देव, मनुष्य, सर्प इत्यादि योनि-विभाग इसी के गुण और कर्म के सङ्ग के कारण होते हैं। हे अर्जुन ! इन गुणों का विचार आगे कहा जायगा। सम्प्रति हम ज्ञान का वर्णन करते हैं। क्षेत्र का वर्णन हम विस्तार से उसके विकारों-सहित कर चुके। अतएव अब उत्तम ज्ञान सुनो। जिस ज्ञान के लिये योगी स्वर्ग का आड़ा-टेढ़ा रास्ता बाँधकर आकाश को लील लेते हैं, ऋद्धि की मर्यादा नहीं रखते, सिद्धि की इच्छा नहीं करते, योग के समान कठिन मार्ग को भी तुच्छ समझते हैं, तप-रूपी क़िलों का उल्लङ्घन कर जाते हैं, कोटि यज्ञों की निछावर कर डालते हैं, और कर्म-रूपी बेल को उखाड़ फेंकते हैं, तथा कोई अनेक भजन-मार्गों में से खुले देह दौड़ते हुए सुषुम्ना की सुरङ्ग में घुस जाते हैं, इस प्रकार जिस ज्ञान की उत्कट इच्छा रख मुनीश्वर वेद-वृक्ष के पत्तों-पत्तों में घूम रहे हैं, और इस बुद्धि से कि गुरु-सेवा से वह प्राप्त होगा—सैकड़ों जन्मों की निछावर कर डालते हैं, जिस ज्ञान का प्रवेश होते ही अविद्या चली जाती है और

व्याख्या—हे अर्जुन! क्षेत्रज्ञ-ज्ञान के साधनभूत लक्षण वा गुण तू पहले सुन—(१) अमानित्वं=मान-हीनता, अर्थात् जो अपने में गुण

जीव और आत्मा का मिलाप हो जाता है, जो इन्द्रियों के द्वार बन्द करता है, और प्रवृत्ति के पाँव तोड़ डालता है, और मन को दीनता मिटा डालता है, जिस ज्ञान से ऐसा लाभ होता है कि द्वैत का अकाल पड़ जाता है तथा अद्वैत का सुकाल हो जाता है, जो मद का निशान मिटा देता है, महामोह को ग्रस लेता है, और अपना और पराया-रूपी भेद का नाम नहीं रहने देता, जो संसार का उन्मूलन करता है, सङ्कल्प-रूपी कीचड़ धो डालता है और सर्वव्यापक परब्रह्म की भेंट करा देता है, जिसके उत्पन्न होते ही प्राण पंगु हो जाता है और जिसके कौशल्य से जगत् का व्यापार चलता है, जिसके प्रकाश से बुद्धि की आँखें खुलती हैं, और जीव आनन्द की तोंद पर लोट-पोट करता है, ऐसा जो ज्ञान है, जो पवित्रता का एक ही आश्रय है, जिससे अपवित्र मन शुद्ध हो जाता है, आत्मा—जिसे जीव-बुद्धि-रूपी क्षय-रोग लगा है—जिस ज्ञान की समीपता से नीरोगी हो जाता है, उस ज्ञान का वर्णन करना अशक्य है। परन्तु हम उसका वर्णन करते हैं, सो सुनकर ही उस ज्ञान को बुद्धि में लाना चाहिए, अन्यथा वह ऐसी वस्तु नहीं है कि आँखों से दिखाई दे। परन्तु यही ज्ञान जब इस शरीर में अपना प्रभाव प्रकट करता है तब इन्द्रियों के व्यापारों में वह आँखों से भी दिखाई देता है। वृक्षों के हरे-भरे होने से जैसे वसन्त का आगमन जाना जाता है, वैसे ही इन्द्रियों के व्यापार से ज्ञान का बोध हो सकता है। अजी, वृक्षों की जड़ को भूमि के भीतर जो जल मिलता है, वह जैसा बाहर शाखाओं के विस्तार से प्रकट होता है, अथवा जैसे भूमि की मृदुता अंकुर की कोमलता से प्रकट होती है, अथवा जैसे उत्तम कुल में जन्मे हुए मनुष्य की श्रेष्ठता उसके आचार से जानी जाती है, अथवा आदरातिथ्य की तैयारी से जैसे स्नेह व्यक्त होता है, अथवा दर्शन के समाधान से जैसे पुण्य-पुरुष पहचाना जाता है, अथवा

हों उनकी स्तुति वा बड़ाई न आप करना और न दूसरों से चाहना। (२) अदम्भित्वं=दम्भ-हीनता, अर्थात् लाभ, पूजा, ख्याति के कारण अपने अवगुणों को सद्गुण-रूप दर्शाना जो दम्भ है, ऐसे कपट वा धोखे-रूप दम्भ से रहित रहना। (३) अहिंसा=शरीर, मन, वाणी से जो प्राणियों को पीड़ा पहुँचाना है, उसे हिंसा कहते हैं; इस हिंसा (प्राणियों को दुःख देने) से रहित रहना। (४) क्षान्ति=क्षमा, अर्थात् दुःख देनेवाले या अपराधी को देखकर भी चित्त में न घबराना, न क्रोध करना, बल्कि उसके दुःख या अपराध को शान्तिपूर्वक सहन करना। (५) आर्जवं अर्थात् सरलता (जैसा हृदय में हो, वैसा बाहर व्यवहार करना या दूसरे शब्दों में यह कि बाहर-भीतर से एकसमान रहना), अथवा कोमल स्वभाव वा अकुटिलपना। (६) आचार्योपासनं=गुरु-सेवा, अर्थात् जो ब्रह्मविद्या का उपदेश करनेवाले गुरु हैं, उनकी मन-वाणी और कर्म से श्रद्धा-भक्तिपूर्वक सेवा करना। (७) शौच=पवित्रता, अर्थात् बाहर-भीतर से शुद्ध पवित्र रहना। (८) स्थैर्यं=स्थिरता, अर्थात् धर्म या मोक्ष-मार्ग में नाना प्रकार के विघ्न-बाधाओं के आने पर भी उद्यम का त्याग न करना, बल्कि चित्त को दृढ़ स्थित रखते हुए प्रयत्न को पुनः-पुनः अधिक करना और उस सन्मार्ग से पीछे न हटना। (९) आत्मविनिग्रहः=मनोनिग्रह, अर्थात् अनादि काल से कुमार्ग में लगने का जो चित्त का स्वभाव है, उसे जीतकर चित्त को सन्मार्ग में लगाना, अथवा देह-इंद्रियों का संघात-रूप आत्मा की जो कुमार्ग में प्रवृत्ति है, उसको वहाँ से रोककर सन्मार्ग में लगाना, अर्थात् अपने आपको वश में रखना॥ ७॥

सुगन्ध से जैसे केले के वृक्ष में कपूर की उत्पत्ति जानी जाती है, अथवा काँच में रक्खे हुए दीपक से जैसे प्रकाश बाहर प्रकट होता है, वैसे ही शरीर में जो आन्तरिक ज्ञान के लक्षण दिखाई देते हैं, उनका अब हम वर्णन करते हैं, खूब ध्यान देकर सुनो।"

और—

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहङ्कार एव च ।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥ ८ ॥

इन्द्रिय[1]-अर्थेषु[2], वैराग्यं[3], अनहङ्कारः[6], एवं[5], च[4]	इन्द्रियों[1] के अर्थों[2] में वैराग्य[3] और[4] ऐसे[5] ही अहंकार-रहित[6] होना	जन्म[1]-मृत्यु[2]-जरा[3]-व्याधि[4]-दुःख[5]-दोष[6]-अनुदर्शनं[7]	जन्म[1], मृत्यु[2], जरा[3], व्याधि[4] और दुःखों[5] के दोष[6] का बार-बार देखना[7]

अन्वयार्थ—इन्द्रियों के अर्थों में वैराग्य, अहङ्कार-हीनता, जन्म-मृत्यु, जरा-व्याधि एवं दुःखों के दोष को पुनः-पुनः देखना ॥ ८ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! और लक्षण वा गुण ये हैं—(१०) इन्द्रियों के अर्थों में वैराग्य अर्थात् श्रोत्रादि इन्द्रियों के शब्दादि विषयों में वैराग्य करना, अथवा लोक-परलोक के विषय-भोगों में प्रीति न करना । (११) अहङ्कार-हीनता=अहङ्कार का अभाव, अर्थात् अपने देह में तथा देह-सम्बन्धी पदार्थों में अहं-बुद्धि न करना, अथवा मन में जो गर्व कि 'मैं ऐसा-वैसा हूँ' उस गर्व-रूप अहङ्कार से रहित होना । (१२) जन्म, मृत्यु, जरा, व्याधि एवं दुखों के दोष का अनुदर्शन अर्थात् जन्म के दोष (नव मास गर्भ में वास करके योनि द्वारा बाहर निकलना-रूपी दोष), मृत्यु के दोष (प्राणों के निकलते समय सब अङ्ग वा मर्म-स्थानों का छेदन-रूपी दोष), जरा के दोष (वृद्धावस्था में जठराग्नि, प्रज्ञा-शक्ति और तेज का घटना, तथा अङ्गों की शिथिलता और अनादर का होना-रूपी दोष), व्याधि के दोष (ज्वर, अतीसार, शिर-पीड़ा आदि रोग-रूप दोष), दुःख के दोष (इष्ट वस्तु के वियोग से और अनिष्ट वस्तु के संयोग से जो चित्त का सन्ताप-रूपी परिणाम है, अथवा आध्यात्मिक, आधिदैविक

और आधिभौतिक दुःख-रूपी दोष), इन सब दोषों पर विचार-दृष्टि से पुनः-पुनः अवलोकन करना। ये सब साधन भी क्षेत्रज्ञ-ज्ञान की प्राप्ति में सहायता देते हैं, क्योंकि इन दोषों को बार-बार चिन्तन करने से इन्द्रियों के विषयों में स्वतः वैराग्य उपजता रहता है, जो स्वयं इस ज्ञान के साधनों में से है ॥ ८ ॥

और—

असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु ।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु ॥ ९ ॥

असक्तिः[1], अनभिष्वङ्गः[6], पुत्र[2]-दार[3]-गृह[4]-आदिषु[5]	अनासक्ति[1] और पुत्र[2], स्त्री[3], घर[4] आदि[5] में लम्पट[6] न होना	नित्यं[5], च[1], सम[6]-चित्तत्वं[7], इष्ट[2]-अनिष्ट[3]-उपपत्तिषु[4]	और[1] इष्ट[2] अनिष्ट[3] की प्राप्तियों[4] में सदा[5] सम[6] चित्त[7] रहना

अन्वयार्थ—अनासक्ति, पुत्र दारा घर आदि में अलम्पट, और इष्ट-अनिष्ट की प्राप्तियों में सदा समचित्त रहना ॥ ९ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! और साधन-रूप लक्षण ये हैं कि (१३) अनासक्ति=पदार्थों में अप्रीति, अर्थात् यह वस्तु मेरी है, इस प्रकार के अभिमान वा ममत्व से किसी भी पदार्थ में प्रीति वा आसक्ति का न होना। (१४) पुत्र, स्त्री, घर इत्यादि में लम्पट-विहीनता अर्थात् स्त्री, पुत्र, घर इत्यादि में लगाव न रखना; अर्थात् बाल-बच्चे, स्त्री-पुत्र सब मैं ही हूँ, ऐसे अभेद भावना-रूपी लगाव से रहित रहना। अथवा इन दोनों साधनों को इकट्ठा मिलाकर यह अर्थ होगा कि पुत्र, स्त्री, घर-बार आदि सब पदार्थों में न आसक्ति रखना और न लगाव वा मोह रखना। (१५) और इष्ट-अनिष्ट पदार्थों की प्राप्ति पर समचित्त-भाव

अर्थात् अनुकूल तथा प्रतिकूल अथवा भले-बुरे पदार्थों की प्राप्ति पर चित्त को सदा एकसमान रखना; अर्थात् प्रिय वस्तु की प्राप्ति पर हर्षित वा प्रसन्न और अप्रिय वस्तु की प्राप्ति पर दुःखी वा अप्रसन्न न होना बल्कि दोनों दशाओं में सदा समचित्त रहना ॥ ९ ॥ ❀

और—

मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी ।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ॥ १० ॥

❀ श्रीज्ञानदेवजी अपने विचित्र ढंग से इस श्लोक की व्याख्या ऐसे करते हैं—

"जो इस देह से इस प्रकार उदासीन है कि जैसे कोई प्रवासी आ बसा हो, अथवा जो रास्ते में मिली हुई वृक्ष की छाया के समान घर में आस्था नहीं रखता, वृक्ष की छाया वृक्ष के साथ ही रहती है, परन्तु यह बात जैसे वृक्ष नहीं जानता, वैसे ही जिसे स्त्री की लोलुपता नहीं रहती, और जो सन्तान उत्पन्न होती है उसे जो प्रवासियों के समान अथवा वृक्ष के नीचे बैठे हुए पशुओं के समान समझता है, हे पाण्डु-सुत ! जो सम्पत्ति के बीच रहता हुआ भी ऐसा जान पड़ता है कि जैसे कोई रास्ता चलता साक्षी हो। बहुत क्या कहूँ, पिंजड़े में बन्द तोता जैसे अपने पालनेवाले की आज्ञा मानता है उसी तरह जो वेदाज्ञा का भय रखकर चलता है, परन्तु स्त्री, गृह और पुत्रों में जिसे आसक्ति नहीं है, उस पुरुष को ज्ञान का अधिष्ठान समझो। ग्रीष्म और वर्षा में जैसे महासमुद्र समान रहता है, वैसे ही जिसके लिये इष्ट और अनिष्ट दोनों समान हैं, अथवा तीनों कालों में सूर्य जैसे त्रिधा नहीं होता, वैसे ही जिसके चित्त में सुख और दुःख का भेद नहीं होता, आकाश के समान जिसमें समानता की कमी नहीं पड़ती, उस पुरुष में शुद्ध ज्ञान जानो।"

मयि, च, अन-न्य-योगेन, भक्तिः, अव्यभि-चारिणी	और मुझमें अन-न्य-योग से अव्यभिचारिणी भक्ति	विविक्त-देश-सेवित्वं, अरतिः, जन-संसदि	एकान्त स्थान का सेवन, लोगों के जमाव (भीड़भाड़) में अप्रीति

अन्वयार्थ—और मुझमें अनन्य योग से अव्यभिचारिणी भक्ति, एकान्त-स्थान का सेवन, और लोगों के जमाव में अप्रीति ॥ १० ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! इससे आगे और साधन ये हैं कि (१६) मुझमें अनन्य-योग से अव्यभिचारिणी भक्ति अर्थात् मुझमें अनन्य भावना से अटल भक्ति ; अर्थात् भगवान् वासुदेव मुझसे भिन्न नहीं, बल्कि वही मैं हूँ, इस प्रकार अभेद-भावना वा निश्चय से युक्त होकर, अथवा भगवान् वासुदेव ही मेरी परम गति हैं, उनसे इतर कोई मेरा प्रेम-पात्र, आश्रय और इष्टदेव नहीं है, ऐसे निश्चय वा ध्यान से युक्त होकर, मेरे साथ अटल वा अखण्ड प्रीति ; अथवा ऐसी प्रीति जो नाना प्रकार की बाधाओं वा संकटों के आने पर भी कभी न छूटे, बल्कि नित्य निरन्तर केवल मुझ एक वासुदेव के साथ ही बनी रहे। (१७) एकान्त-स्थान का सेवन अर्थात् एकान्त-सेवन का स्वभाव, अर्थात् जो देश स्वभाव से ही शुद्ध हो अथवा संस्कारों से शुद्ध किया हो, नासाफ़ प्राणियों से रहित हो, चित्त जहाँ स्वतः प्रसन्न होता हो, ऐसे नदी-तट वा वन में अकेले रहने का स्वभाव। (१८) लोगों के जमाव * में अप्रीति अर्थात् जन-समुदाय में अरुचि, अर्थात् साधारण वा बहिर्मुख पुरुषों के

* लोगों के जमघटे में अरुचि से अभिप्राय केवल अज्ञानी, बहिर्मुख, प्राकृत या सर्वसाधारण लोगों के समुदाय से अरुचि है, ज्ञानवान् पुरुषों के समुदाय से नहीं, क्योंकि ज्ञानियों वा तत्त्ववेताओं के समुदाय में रहना तो ज्ञान का साधक है।

समूह (जमघटे वा भीड़भाड़) में बैठने वा जाने में अरुचि वा अप्रीति ॥ १० ॥ ❀

और—

अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम् ।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा ॥ ११ ॥

❀ इस श्लोक की व्याख्या श्रीज्ञानदेवजी अपने अनोखे ढङ्ग से ऐसे करते हैं—

"जिसकी काया, वाचा और मन का ऐसा निश्चय हो गया कि संसार में मेरे अतिरिक्त और कुछ भी भला नहीं है, जिसके शरीर, वाचा और मन, ऐसा निश्चय करने की शपथ खाकर मेरे सिवा दूसरी ओर नहीं देखते, किंबहुना, जिसका अन्तःकरण मेरे समीप आ पहुँचा है, उस पुरुष ने अपने और हमारे लिये मानो एकत्व की शय्या तैयार की है। वल्लभ के सम्मुख जाने पर कान्ता जैसे शरीर तथा अन्तःकरण को नहीं छिपाती, उसी प्रकार जो मुझे भजता है, जैसे गङ्गाजल समुद्र में मिलकर और भी मिलता रहता है, वैसे ही जो मद्रूप होने पर भी सब भावों से मेरा भजन करता है, सूर्य के उदय के साथ ही उत्पन्न होने अथवा सूर्य के सङ्ग ही विलीन होने की अर्पण-क्रिया (एकता) जैसे प्रभा को ही शोभा देती है, अथवा जल की भूमिका पर जो जल हिलोरें लेता है, वह संसार में तरङ्ग कहलाता है अन्यथा वह जल ही है, इस प्रकार जो एकनिष्ठ मद्रूप होकर भी मुझे भजता है उसी को मूर्तिमान् ज्ञान समझो। जिसे तीर्थों, पवित्र स्थानों, निर्मल तपोवनों और गुफाओं में बसना भाता है, पर्वत-श्रेणियों की गुफाओं में और जलाशयों के समीपवर्ती स्थानों में जो प्रेम से रहता है और नगर में नहीं आता, जिसे एकान्त का बहुत प्रेम है, जिसे बस्ती से अकुलाहट होती है, उसे मनुष्य के आकार में ज्ञान की मूर्ति जानो। अब हे सुमति! हम ज्ञान का निश्चय होने के लिये और दूसरे चिह्नों का वर्णन करते हैं।"

अध्यात्म-ज्ञान-नित्यत्वं	अध्यात्म-ज्ञान में नित्यता	एतत्, ज्ञानं, इति, प्रोक्तं	यह (सब) ज्ञान है, ऐसा कहा है ;
तत्त्व-ज्ञान-अर्थ-दर्शनं	तत्त्व-ज्ञान के अर्थ का दर्शन	अज्ञानं, यत्, अतः, अन्यथा	इससे जो विपरीत है, वह अज्ञान है

अन्वयार्थ—अध्यात्म-ज्ञान में नित्यता, तत्त्व-ज्ञान के अर्थ का दर्शन, यह (सब) ज्ञान है, ऐसा कहा है। इससे विपरीत जो है, वह अज्ञान है ॥ ११ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! इससे आगे और साधन यह है कि (१९) अध्यात्म-ज्ञान में नित्यता अर्थात् आत्म-अनात्म-विवेक-ज्ञान में नित्यता ; अर्थात् आत्मा के ज्ञान में नित्य स्थिति या नित्य लगे रहना, अथवा श्रवण, मनन, निदिध्यासन-रूप उपायों से अपने स्वरूप के ध्यान में नित्य प्रवृत्त रहना या उसमें नित्य निष्ठा रखनी, अथवा आत्मज्ञान को नित्य समझना, अथवा आत्मज्ञान को नित्य वस्तु मानकर उसमें परम निष्ठा रखनी। (२०) तत्त्वज्ञानार्थ का दर्शन अर्थात् तत्त्व-ज्ञान के अर्थ वा प्रयोजन का दर्शन ; अर्थात् तत्त्व-ज्ञान का प्रयोजन जो 'अहं ब्रह्मास्मि, तत्त्वमसि' इत्यादि महावाक्य हैं, उस अर्थ की आलोचना करना, अथवा तत्त्व-ज्ञान के अर्थ का निरन्तर विचार द्वारा या शास्त्र द्वारा नित्य चिन्तन से साक्षात्कार करना, अथवा तत्त्व-ज्ञान के सिद्धान्तों का परिशीलन करना, अथवा तत्त्व-ज्ञान के तात्पर्य वा फल का नित्य चिंतन करते रहना, और उसे कभी भूलने न पाना। ये सब (अमानित्वं से लेकर तत्त्व-ज्ञानार्थ-दर्शन तक) क्षेत्रज्ञ-ज्ञान की प्राप्ति के साधन कहे हैं। ये बीस धर्म साधन-रूप होने से स्वयं ज्ञान नाम से कहलाते हैं, और इनसे इतर इनके विरोधी या विपरीत (मान, दम्भ इत्यादि) धर्म जो हैं, वे सब अज्ञान कहलाते हैं ॥ ११ ॥

सम्बन्ध—(१) उक्त बीस साधनों से जो जानने-योग्य क्षेत्रज्ञ है, उसका भगवान् अब निरूपण करते हैं—

अथवा (२) ज्ञान का उक्त लक्षण कहकर अब भगवान् ज्ञेय का स्वरूप बतलाते हैं—

ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते ।
अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते ॥ १२ ॥

ज्ञेयं, यत्, तत्, प्रवक्ष्यामि, यत्, ज्ञात्वा, अमृतं, अश्नुते	जो ज्ञेय है, उसे मैं कहूँगा, जिसको जानकर अमृत भोगता है	अनादिमत्, परं, ब्रह्म, न, सत्, तत्, न, असत्, उच्यते	अनादि परम ब्रह्म है, न वह सत् और न असत् कहा जाता है

अन्वयार्थ—जो ज्ञेय है, उसे मैं (अब) कहूँगा, जिसको जानकर (मनुष्य) अमृत भोगता है। वह अनादि परम ब्रह्म है, न वह सत् और न असत् कहलाता है ॥ १२ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! उक्त २० साधनों द्वारा जानने-योग्य जो वस्तु है और जिस ज्ञेय को जानकर मनुष्य अमृत को भोगता, अर्थात् अमर होता वा मोक्ष को प्राप्त होता है, उसे अब मैं तुझसे कहता हूँ, तू ध्यान से सुन। वह ज्ञेय-रूप वस्तु परम ब्रह्म है, जिसके आदि का पता तक नहीं, अतएव अनादि-स्वरूप है, और जो सत् या असत् दोनों प्रकार से नहीं कहा जाता। तात्पर्य यह कि ब्रह्म का शुद्ध वा वास्तविक स्वरूप मन-वाणी की पहुँच से परे है। "यतो वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सह"—जहाँ से वाणी वा वाक्य मन के सहित वापस लौट आते हैं और उनसे वह अप्राप्य है, ऐसा जिसे श्रुति कहती है। उसको वाणी और मन क्या कहे, ये दोनों उसके वर्णन करने में गुङ्ग या असमर्थ हैं। और 'सत्' तथा 'असत्' ये दोनों शब्द सापेक्षक हैं, परस्पर एक-दूसरे की अपेक्षा से स्थित हैं। यदि उनमें से एक का भी अत्यन्ताभाव कर दें, तो दूसरा

अपने आप नाश हो जाता है। ब्रह्म सापेक्षक वस्तु नहीं; बल्कि वह सर्वप्रकार की सीमा से परे है, जिससे अनादि और परम है, और इसी से निरपेक्षक है। निरपेक्षक वस्तु वास्तव में अकथनीय या अनिर्वचनीय होती है, और उसे सत् है या असत् है, ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि ये दोनों शब्द सापेक्षक हैं। अतएव वह ब्रह्म न सत (व्यक्त, या अस्ति-भाति-रूप से) कहा जा सकता है, और न असत (अव्यक्त, नास्ति वा मिथ्या शब्द से) कहा जा सकता है, बल्कि ये दोन रूप वह स्वयं होता हुआ भी इनसे परे अनिर्वचनीय है ॥ १२ ॥ ❀

❀ श्रीरामानुजाचार्य ने इस श्लोक को भी जीवात्मा-परक लगाया है उनके विचार में ब्रह्म शब्द यहाँ जीवात्मा के लिये कहा है, और इससे अगले श्लोक भी श्रीरामानुजानुसार जीव-परक हैं। श्रीशङ्कराचार्यानुसार ब्रह्म-परक हैं, क्योंकि ब्रह्म ही उनके विचार में यहाँ क्षेत्रज्ञ है और इसीलिये ब्रह्म का ही यहाँ वर्णन है।

श्रीज्ञानदेवजी की व्याख्या अपने विचित्र ढङ्ग से इस प्रकार है—

"परब्रह्म को ज्ञेय कहते हैं। उसका कारण यही है कि वह ज्ञान के सिवा और किसी उपाय से प्राप्त नहीं होता। और जिसे जानकर कुछ कर्तव्य बाक़ी नहीं रहता, जिसका ज्ञान ही तदाकारता प्राप्त करा देता है, जिसके ज्ञान से संसार को किनारे रख, जाननेहारा नित्यानन्द के पेट में डूब रहता है, वह ज्ञेय एक ऐसी वस्तु है कि जिसका आरम्भ नहीं होता, जो सहज है, जिसे परब्रह्म कहते हैं, जो—'नहीं है'—कहो तो विश्व के आकार से दिखाई देती है, और जो—'विश्व ही है'—कहो तो भी सत्य नहीं है, क्योंकि वास्तव में विश्व माया-रूप है। उस ज्ञेय के रूप, वर्ण, व्यक्ति नहीं हैं, वह दिखाई नहीं देता; देखनेहारा नहीं है, तो यह कैसे कहा जाय कि वह कौन है और कैसा है? और यदि यह सत्य माना जाय कि वह नहीं है, तो महत्तत्त्व इत्यादि किस आधार पर दिखाई देते हैं, तथा क्या उसके बिना कुछ भी दिखाई दे सकता

सम्बन्ध—जब वह (ज्ञेय) 'सत्' 'असत्' इन दोनों शब्दों से निरूपण नहीं किया जा सकता, तो जिन उपाधियों या वाक्यों से वह निरूपण वा प्रतिपादन किया जा सकता है, उसे भगवान् अब अठारहवें श्लोक तक निरूपण करते हैं—

सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥ १३ ॥

सर्वतः, पाणिपादं, तत्	वह सर्वओर हाथ पाँवोंवाला	सर्वतः, श्रुतिमत्=	सर्व ओर कानवाला
सर्वतः, अक्षिशिरःमुखं	सर्व ओर नेत्र, शिर और मुखवाला	लोके, सर्वं, आवृत्य, तिष्ठति	लोक में सबको घेरकर स्थित है

अन्वयार्थ—वह (ज्ञेय) सर्व ओर से हाथ-पाँववाला, सर्व ओर नेत्र, शिर, मुखवाला, सर्व ओर कानवाला हुआ, इस जगत् में सबको घेरकर स्थित है ॥ १३ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! वह ज्ञेय ब्रह्म (क्षेत्रज्ञ) जो ऊपर कहा है, उसका वर्णन ऐसे हो सकता है कि सर्वत्र उसके हाथ, पाँव, नेत्र, शिर, मुख और कान हैं। अर्थात् इस जगत् में जितने भी हाथ-पाँव आदि इन्द्रिय हैं, वे सब वास्तव में उसी के हैं और उसी ब्रह्म के आश्रित हैं, क्योंकि उसी से इन सब (नाम-रूपों) की प्रवृत्ति है। तात्पर्य यह कि जितने भी प्राणी वा शरीर इस संसार में हैं, उन सबके हाथ-पाँव इत्यादि

है ? अतएव जिसे देखकर 'है' या 'नहीं है' कहनेहारी वाचा हो गूँगी हो जाती है, जहाँ विचार का मार्ग ही बन्द हो जाता है, जैसे मटका, घड़ा या डहरी (अनाज भरने का मिट्टी का बड़ा बर्तन) में पृथिवी ही उस आकार से रहती है, वैसे ही जो सर्वत्र सर्वरूप से बस रहा है।"

इन्द्रिय इसी एक सत्ता के आश्रय चलते हैं, विना इस (क्षेत्रज्ञ वा ब्रह्म) की सत्ता के कोई प्राणी (क्षेत्र) किसी काम में प्रवृत्त हो नहीं सकता, इसलिये सारे देहों का अधिष्ठान वा प्रवर्तक-रूप होने से सर्वत्र हाथ-पाँव इसी के हैं। या दूसरे शब्दों में ऐसे भी कहा जा सकता है कि रक्षा का हाथ उसकी सब जगह है, सर्वत्र उसकी गति और सर्वत्र उसकी दृष्टि है, और ऐसे ही सर्वत्र उसका मुख (तेज) चमकता है और प्रत्येक प्राणी की वात वह सुनता है। इस प्रकार जगत् में सब देहों को व्याप्त करके अथवा सर्वत्र व्यापक होकर वह स्थित है ॥ १३ ॥

और—

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम् ।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च ॥१४॥

सर्व-इन्द्रिय-गुण-आभासं	सब इन्द्रियों के गुणों से भासमान	असक्तं-सर्व-भृत्, च, एव, निर्गुणं, गुण-भोक्तृ, च	असक्त और सब का भरण-कर्ता निर्गुण और ऐसे ही गुणों का भोक्ता है
सर्व-इन्द्रिय-विवर्जितम्	सब इन्द्रियों से रहित		

अन्वयार्थ—सब इन्द्रियों के गुणों से भासमान (पर) सब इन्द्रियों से रहित ; असक्त, (पर) सबका भरणकर्ता ; और ऐसे ही निर्गुण, (पर) गुणों का भोक्ता वह है ॥ १४ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! मेरे उक्त कथन से तुझे कहीं ऐसा भ्रम न हो जाय कि वह ज्ञेय ब्रह्म जब सब इन्द्रियों या उपाधियोंवाला है, तो इससे वह परिच्छिन्न और समस्त कर्म का कर्ता-भोक्ता होगा। इसलिये मैं अपने अभिप्राय को और स्पष्ट करता हूँ। वह यह कि यह क्षेत्रज्ञ (ब्रह्म)

यद्यपि सब इन्द्रियों के गुणोंवाला प्रतीत होता है "ध्यायति लेलायतीव" (बृ० उ० ४. ३. ७)=बुद्धि आदि उपाधियों के कारण वह आत्मा ध्याता तथा चेष्टा करता हुआ वा चलायमान होता-सा प्रतीत होता है, ऐसा श्रुति कहती है; पर है वह वास्तव में इन इन्द्रियों से रहित। अर्थात् सर्वव्यापी होने से ब्रह्म ही सब इन्द्रियों का अधिष्ठान हुआ सर्व-इन्द्रिय-रूप होता है, जिससे इन्द्रियों के व्यापार सब उसी ब्रह्म के व्यापार दिखाई देते हैं, पर वास्तव में वह इन समस्त व्यापारों से परे हुआ, इन्द्रियों से रहित होता है, इन्द्रियों से वह कोई परिमित वा परिच्छिन्न नहीं हो जाता; या दूसरे शब्दों में यों कि यद्यपि सब इन्द्रियाँ उसी ब्रह्म की सत्ता से ही काम करती हैं जिससे ब्रह्म ही उन कामों में कर्ता-भोक्ता भासता है, पर वास्तव में वह इन सब कामों वा व्यापारों से परे और इंद्रियों से रहित होता है, क्योंकि किसी भी इंद्रिय या उसके व्यापार से वह परिच्छिन्न नहीं हो जाता। ऐसे ही वह यद्यपि सबसे असङ्ग है ('असङ्गोऽयं पुरुषः, असङ्गो न हि सज्जते'=निस्सन्देह यह परमात्म-देव सर्वसङ्ग से रहित है और इसी से वह असङ्ग पुरुष किसी में भी आसक्त नहीं होता है, ऐसा श्रुति कहती है), तथापि सबका भरण-पोषण वास्तव में वही करता है। अर्थात् सब का आधार-भूत होने से यद्यपि सबका भरण-पोषण और धारण उसी ब्रह्म की सत्ता के आश्रित है, पर वह स्वयं इन सब (क्रियाओं और रूपों) से असङ्ग वा निरासक्त है। इसी प्रकार वह है तो निर्गुण, पर गुणों का भोक्ता भी वही है; अर्थात् सत्त्व, रज, तम इन तीन गुणों से यद्यपि वह रहित है, पर इन गुणों द्वारा सुख-दुःख-रूपी परिणाम को प्राप्त हुए सत्त्व-रज-तम-रूप गुण इनका उपभोग करनेवाला अर्थात् अनुभव करनेवाला वही स्वयं है ('साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च'=वह परमात्मा सबका साक्षी है, चेतन है, अद्वितीय और निर्गुण है, ऐसा श्रुति कहती है)। अथवा दूसरे

रूप से इसकी ऐसी व्याख्या भी हो सकती है कि इन्द्रियों के सम्बन्ध वा उपाधि से वह ब्रह्म यद्यपि सत्त्व, रजादि गुणों (या सुख-दुःख-रूपी गुणों) को भोगनेवाला प्रतीत होता है, पर है वह वास्तव में निर्गुण। संक्षेप से तात्पर्य यह कि व्यावहारिक दृष्टि से यद्यपि ब्रह्म सब उपाधियों, रूपों, आसक्तियों वा सम्बन्धों और गुणोंवाला प्रतीत होता है, जिससे वह नाना उपाधियों और गुणोंवाला कहलाता है, पर वास्तव में (पारमार्थिक दृष्टि से) वह सब नाम-रूप उपाधियों वा गुणों से रहित है, जिससे वह ठीक-ठीक वाणी में नहीं आ सकता, अतएव अनिर्वचनीय है ॥ १४ ॥

और—

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत् ॥ १५॥

बहिः, अन्तः, चं, भूतानां,	भूतों के अन्दर और बाहर है	सूक्ष्मत्वात्, तत्, अविज्ञेयं	सूक्ष्म होने से वह अविज्ञेय है
अचरं, चरं, एवं, च	और चर अचर भी है	दूरस्थं, च, अन्तिके, च, तत्	वह दूर स्थित और निकट है

अन्वयार्थ—भूतों के अन्दर-बाहर है, और सब चर-अचर भी वह है। सूक्ष्म होने से अविज्ञेय है और दूर तथा निकट स्थित है ॥ १५ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन! और वह कैसा है, इसे सुन। वह सब भूतों (प्राणियों वा पदार्थों) के भीतर-बाहर ओत-प्रोत है। और जितना भी स्थावर-जङ्गम (चर-अचर) जगत् प्रतीत होता है, सब-का-सब वास्तव में वही ज्ञेय (ब्रह्म) है। अथवा दोनों पदों को मिलाकर अन्य रीति से व्याख्या यह होगी कि सब चर-अचर भूतों के भीतर-बाहर वह ज्ञेय ब्रह्म

ओत-प्रोत है। अतिसूक्ष्म होने से वह अविज्ञेय है, अर्थात् सबके अन्दर सबका आत्मा-रूप करके ओत-प्रोत होने से वह ब्रह्म अतिसूक्ष्म है, जिससे वह किसी भी दृष्टान्त विशेष से न जाना ही जा सकता है और न ऐसे दर्शाया ही जा सकता है कि वह इस प्रकार का है। और इसीलिये वह ज्ञानियों के लिये तो अत्यन्त निकट और अज्ञानियों के लिये अति दूर वर्त रहा है, अर्थात् दूर और निकट सर्वत्र वही वर्त रहा है॥ १५॥ *

और—

अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव† च स्थितम्।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च ॥१६॥

अविभक्तं, च, भूतेषु, विभक्तं, इव, च, स्थितं	और सब भूतों में न बटा हुआ भी बँटे हुए के समान स्थित है	भूत-भर्तृ, च, तत्, ज्ञेयं, ग्रसिष्णु, प्रभविष्णु, च	और वह ज्ञेय भूतों का भर्ता, ग्रसनेवाला और उत्पन्न करनेवाला है

---

* इस श्लोक का सारा-का-सारा भाव भिन्न रूप से कई एक श्रुतियों में आया है, जैसे "तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः।"=वही सबके भीतर है और वह ही सबके बाहर व्यापक है। "सूक्ष्मात्सूक्ष्मतरं नित्यम्।"= सूक्ष्म से भी अतिसूक्ष्म और नित्य है। "दुरात्सुदूरे तदिहान्ति के च पश्यत्स्विहैव निहितं गुहायाम्।"=दूर से भी दूर और निकट से भी निकटतम वह है, और जो उसको ठीक-ठीक जानते हैं, उनको अपने हृदय-देश में ही उसका अत्यन्त समीप साक्षात्कार होता है।

† सोलहवें श्लोक के इस "विभक्तमिव" पद की व्याख्या श्रीतिलक महाराज ऐसे करते हैं—"विभक्तमिव" का अनुवाद है "मानो विभक्त हुआ-सा।

अन्वयार्थ—और सब भूतों में वह अविभक्त भी विभक्त के समान स्थित है। और वह ज्ञेय सब भूतों का भर्ता, ग्रसनेवाला और उत्पन्न करनेवाला है ॥ १६ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! और वह कैसा है ? कि यद्यपि सब प्राणियों में वह एक ही ओत-प्रोत है, पर भिन्न-भिन्न शरीरों में वह भिन्न-भिन्न रूप से बटा-सा दिखाई देता है, अर्थात् है तो वह आकाशवत् सर्वत्र एकरस व्यापक, पर बाह्य दृष्टि से ऐसा प्रतीत होता है कि वह सबमें अलग-अलग बटा हुआ। और वही ज्ञेय सृष्टि की स्थिति-काल में तो सब भूतों का भरण-पोषण वा धारण करनेवाला, प्रलय-काल में सबका ग्रसनेवाला (संहारकर्ता), और उत्पत्ति-काल में सबका उत्पन्न करनेवाला होता है, अर्थात् सृष्टि की उत्पत्ति के समय जिसे ब्रह्मा कहते हैं, स्थिति के समय जो विष्णु कहलाता है और प्रलय के समय जो रुद्र वा महेश कहलाता है, वह सब वास्तव में यही ज्ञेय (ब्रह्म) ही है ॥ १६ ॥

और—

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते ।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य धिष्ठितम्* ॥ १७ ॥

देख पड़ता है।" यह 'इव' शब्द उपनिषदों में अनेक बार इसी अर्थ में आया है कि जगत् का नानात्व भ्रान्तिकारक है और एकत्व ही सत्य है। उदाहरणार्थ "द्वैतमिव भवति", "य इह नानेव पश्यति", इत्यादि (बृह० २.४.१४, ४.४.१६, ४.३.७)। अतएव प्रकट है कि गीता में यह अद्वैत-सिद्धान्त ही प्रतिपाद्य है कि नाना नाम-रूपात्मक माया भ्रम है और उसमें अविभक्तत्व से रहनेवाला ब्रह्म ही सत्य है। गीता १८.२० में फिर बतलाया है कि "अविभक्तं विभक्तेषु", अर्थात् नानात्व में एकत्व देखना सात्त्विक ज्ञान का लक्षण है।

* कोई-कोई गीता में 'धिष्ठितं' के स्थान पर 'विष्ठितं' पाठ है, और

ज्योतिषां, अपि, तत्, ज्योतिः	वह ज्योतियों की भी ज्योति है	ज्ञानं, ज्ञेयं, ज्ञान - गम्यं	ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञान से पाने-योग्य
तमसः, परम्, उच्यते	अन्धकार से परे कहलाता है	हृदि, सर्वस्य, धिष्ठितम्	सबके हृदय में स्थित है

अन्वयार्थ—वह ज्योतियों की भी ज्योति और अन्धकार से परे कहा जाता है ; (वह) ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञानगम्य है और सबके हृदय में स्थित है ॥ १७ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! और सुन कि यद्यपि वह ब्रह्म (क्षेत्रज्ञ) अतिसूक्ष्म होने के कारण किसी दृष्टान्त इत्यादि से जाना नहीं जा सकता बल्कि अविद्यमान प्रतीत होता है, तथापि इससे वह अन्धकार-रूप नहीं हो जाता। वह तो सूर्य, चन्द्रमा, अग्नि, विद्युत् इत्यादि सब बाह्य ज्योतियों और मन बुद्धि आदि अन्तर् ज्योतियों की भी ज्योति है, अर्थात् स्वयं-प्रकाश-स्वरूप है, और पूर्ण तेजोमय है, और सब पदार्थ वा ज्योतियाँ उसी से वस्तुतः प्रकाशमान हो रही हैं। ('येन सूर्यस्तपति तेजसेद्धः । तस्य भासा सर्वमिदं विभाति'—जिस ज्योति-स्वरूप परमात्मा से यह तेज-युक्त सूर्य तपता है, और जिस प्रकाश-स्वरूप परमात्मा के प्रकाश से यह सूर्य-चन्द्रादि सर्व जगत् प्रकाशमान होते हैं। ऐसा श्रुति कहती है।) इसीलिये वह अज्ञान-रूपी तम (अन्धकार) से परे कहलाता है, अर्थात् अविद्या और उसके कार्य-रूप प्रपञ्च के सम्बन्ध वा स्पर्श से वह बिलकुल रहित है। बल्कि वह स्वयं ज्ञान-स्वरूप है, अर्थात् अमानित्व आदि जो ज्ञान के २० साधन पूर्व में वर्णन हुए हैं, उनका रूप

श्रीशंकराचार्य-भाष्य में भी 'विष्ठितं' पाठ पाया जाता है। पर 'धिष्ठितं' पाठ बहुत प्रतियों में है, और अर्थ में कोई भेद नहीं है, अतएव हमने भी 'धिष्ठितम्' पाठ ही रक्खा है। (टीकाकार)

भी वह स्वयं आप ही है। इन ज्ञान-रूप साधनों से जानने-योग्य भी वह आप ही है, जिससे वह ज्ञेय-ब्रह्म कहलाता है, और ऐसे ही इन ज्ञान-रूप साधनों से प्राप्तव्य जो है, वह भी यह ज्ञेय-रूप ब्रह्म आप ही है, और उससे इतर कोई वास्तव में ज्ञान-गम्य नहीं है। इस प्रकार 'ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञान-गम्य' इन तीनों विशेषणों से युक्त हुआ वह ब्रह्म सबके हृदय में स्थित (बैठा हुआ या अधिष्ठित वा विराजमान हो रहा) है ॥ १७ ॥

सम्बन्ध—उक्त विषय का भगवान् अब फल-सहित इस प्रकार उपसंहार करते हैं—

इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयं चोक्तं समासतः ।
मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते ॥ १८॥

इति, क्षेत्रं, तथा, ज्ञानं, ज्ञेयं, च, उक्तं, समासतः	इस प्रकार क्षेत्र तथा ज्ञान और ज्ञेय संक्षेप से कहा गया है	मद्-भक्तः, एतत्, विज्ञाय, मद्-भावाय, उपपद्यते	मेरा भक्त यह जानकर मेरे भाव के योग्य होता है

अन्वयार्थ—इस प्रकार क्षेत्र, ज्ञान और ज्ञेय संक्षेप से कहा गया है। मेरा भक्त इसको जानकर मेरे भाव (ब्रह्म-स्वरूप) के योग्य होता है ॥ १८ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! इस प्रकार अर्थात् "महाभूतान्यहंकारः" से लेकर "संघातश्चेतना धृतिः" तक तो क्षेत्र; तदनन्तर "अमानित्वं" आदि से लेकर "तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्" तक तो ज्ञान और फिर "अनादि-मत्परं ब्रह्म" से लेकर "हृदि सर्वस्य धिष्ठितं" तक क्षेत्रज्ञ संक्षेप से मैंने बतलाया है। जो मेरा अनन्य भक्त उक्त (क्षेत्र, ज्ञान और ज्ञेय के) विषय को पूर्ण रीति से जान लेता है, वह फिर मेरा भक्त ही नहीं, बल्कि मेरा भाव अर्थात् मेरे सच्चिदानन्द-स्वरूप होने के योग्य हो जाता है, अर्थात् वह

मेरा फिर भक्त नहीं रहता, वल्कि मेरा शुद्ध-स्वरूप हो जाता है, या दूसरे शब्दों में उक्त विषय का जाननेवाला सीधा मोक्ष को प्राप्त हो जाता है ॥ १८ ॥

सम्बन्ध—(१) पूर्व श्लोक ३ में भगवान् ने इस विषय को जिस क्रम से सुनाने की प्रतिज्ञा की थी, उसमें से "तत् क्षेत्रं यच्च यादृक् च" इतने भाग का विस्तारपूर्वक वर्णन उक्त श्लोक १८ तक किया। अब "यद्विकार यतश्च यत्। स च यो यत् प्रभावश्च" जो शेष भाग पूर्व-प्रतिज्ञा का रहता है, उसे भगवान् अब वर्णन करने लगे हैं। परन्तु इस शेष क्रम को प्रकृति-पुरुष के नामों से वर्णन करना चाहते हुए भगवान् पहले प्रकृति (क्षेत्र) के विकारों को निरूपण करते हैं—❀

❀ श्रीतिलक महाराज इसकी ऐसे सङ्गति करते हैं—"अध्यात्म या वेदान्त-शास्त्र के आधार से अब तक क्षेत्र, ज्ञान और ज्ञेय का विचार किया गया। इनमें ज्ञेय ही क्षेत्रज्ञ अथवा परब्रह्म है और 'ज्ञान' दूसरे श्लोक में बतलाया हुआ क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-ज्ञान है, इस कारण यही संक्षेप में परमेश्वर के सब ज्ञान का निरूपण है। १८ वें श्लोक में यह सिद्धान्त बतला दिया है कि जब क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-विचार ही परमेश्वर का ज्ञान है, तब आगे यह आप ही सिद्ध है कि उसका फल भी मोक्ष ही होना चाहिए। वेदान्त-शास्त्र का क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-विचार यहाँ समाप्त हो गया। परन्तु प्रकृति से ही पाञ्चभौतिक विकारवान् क्षेत्र उत्पन्न होता है, इसलिये, और सांख्य जिसे 'पुरुष' कहते हैं, उसे ही अध्यात्म-शास्त्र में 'आत्मा' कहते हैं, इसलिये, सांख्य की दृष्टि से क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-विचार ही प्रकृति-पुरुष का विवेक होता है। गीता-शास्त्र प्रकृति और पुरुष को सांख्य के समान दो स्वतंत्र तत्त्व नहीं मानता; सातवें अध्याय (७. ४,५) में कहा है कि ये एक ही परमेश्वर के, कनिष्ठ और श्रेष्ठ, दो रूप हैं। परन्तु सांख्यों के द्वैत के बदले गीता-शास्त्र के इस अद्वैत को एक बार स्वीकार कर लेने पर, फिर प्रकृति और पुरुष के परस्पर सम्बन्ध का सांख्यों का ज्ञान गीता को

अथवा (२) पूर्व अध्याय ७ में परा और अपरा नाम की दो प्रकृति अपना ही रूप करके भगवान् ने वर्णन की, और इस अध्याय के आरम्भ में भी भगवान् ने क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ को अपना ही रूप कहा है। इस प्रकार दोनों का एक भाव होने से केवल नाम-भेद को मिटाने के उद्देश्य से भगवान् इसी (क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ के) विषय को प्रकृति-पुरुष के नाम से अधिक स्पष्ट करने लगे हैं—

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि ।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसम्भवान् ॥ १६ ॥

प्रकृतिं, पुरुषं, च, एवं, विद्धि, अनादि, उभौ, अपि	प्रकृति और पुरुष इन दोनों को भी तू अनादि ही समझ
विकारान्, च, गुणान्, च, एवं, विद्धि, प्रकृति-सम्भवान्	और विकारों तथा गुणों को तू प्रकृति से ही उत्पन्न हुआ जान

अन्वयार्थ—प्रकृति और पुरुष इन दोनों को भी तू अनादि ही समझ। और सब विकारों तथा गुणों को तू प्रकृति से ही उत्पन्न हुआ जान ॥ १६ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन! यहाँ तक तो मैंने तुझे अपनी प्रतिज्ञानुसार "वह क्षेत्र स्वरूप से जो है, और जिसके सदृश है" इतने भाग का सविस्तर निरूपण किया, अब "जिस विकारवाला है और जिससे जो है" इत्यादि अवशिष्ट भाग का निरूपण तू प्रकृति-पुरुष के नामों तले सुन। माया,

---

अमान्य नहीं है। और यह भी कह सकते हैं कि क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ के ज्ञान का ही रूपान्तर प्रकृति-पुरुष का विवेक है। इसीलिये अब तक उपनिषदों के आधार से जो क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ का ज्ञान बतलाया गया, उसे ही अब सांख्यों की परिभाषा में किन्तु सांख्यों के द्वैत को अस्वीकार करके, प्रकृति-पुरुष-विवेक के रूप से बतलाते हैं।"

अज्ञान, अविद्या इन नामोंवाली जो परमेश्वर की त्रिगुणात्मिका-शक्ति-रूप प्रकृति है, और जो पूर्व सातवें अध्याय में मेरी अपरा प्रकृति के नाम से आठ प्रकार की वर्णन हुई है, वह प्रकृति, और पुरुष (जो उसी सप्तम अध्याय में मेरी परा प्रकृति के नाम से और इस अध्याय में क्षेत्रज्ञ के नाम से वर्णन हुआ है) इन दोनों को भी तू मेरी परा-अपरा प्रकृति के समान अनादि ही समझ। और पूर्व श्लोक ५ और ६ में जो सोलह विकार (पञ्च महाभूत, पञ्च ज्ञानेन्द्रिय, पञ्च कर्मेन्द्रिय, और एक मन) तथा सुख-दुःख मोह-रूपी सत्त्वादि गुण वर्णन हुए हैं इन सबको तू इस (माया-रूप या मेरी अपरा-रूप) प्रकृति से ही उत्पन्न हुआ समझ ॥१६॥

सम्बन्ध—(१) अब "यतः च यत्" (जिससे जो है) इतने क्रम का निरूपण हेतु के सहित भगवान् आगे दो श्लोकों में करते हैं—

अथवा (२) अब भगवान् प्रकृति और पुरुष के कार्य का भेद वर्णन करते हैं—

अथवा (३) प्रकृति से उत्पन्न हुए वे विकार और गुण कौन-से हैं, इसे भगवान् अब स्पष्ट करते हैं—

अथवा (४) इन दोनों प्रकृति और पुरुष में कर्तृत्व और भोक्तृत्व करने-कराने व भोगने-भुगाने की शक्ति किसमें है ? एक में है ? वा दोनों में है ? इसे भगवान् अब स्पष्ट करने लगे हैं—

कार्यकरण* कर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते ।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते ॥२०॥

---

* गीता की बहुत-सी प्रतियों में "कार्यकरण कर्तृत्वे" के स्थान पर "कार्य-कारण कर्तृत्वे" पाठ आया है। तब व्याख्या इस प्रकार होगी—कार्य

कार्य-करण-कर्त्तृत्वे, हेतुः, प्रकृतिः, उच्यते	कार्य, करण के कर्तृत्व में प्रकृति हेतु कहलाती है	पुरुषः, सुख-दुःखानां, भोक्तृत्वे, हेतुः, उच्यते	सुख दुःखों के भोक्तृत्व में पुरुष हेतु कहलाता है

अन्वयार्थ—कार्य-करण के कर्तृत्व में प्रकृति हेतु कहलाती है, और सुख-दुःखों के भोक्तृत्व में पुरुष हेतु कहलाता है ॥ २० ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! अब "यतः च यत्" (जिससे जो उत्पन्न हुआ है) के विषय में तू सुन। कार्य (यह स्थूल शरीर) और करण (दस इन्द्रियाँ और चारों अन्तःकरण जो शरीर में स्थित हैं) इन दोनों के कर्त्तृत्व में, अर्थात् कार्य-करण के आकार परिणाम में, महर्षियों ने इस माया-रूपी प्रकृति को कारण-रूप कहा है। और सुख-दुःखों के भोक्तृत्व में, अर्थात् सुख-दुःख मोह-रूप सर्व-भोग्य पदार्थों के वृत्ति-युक्त अनुभव में,

---

(यह स्थूल शरीर) और कारण (दस इन्द्रियाँ और चतुष्ट अन्तःकरणवाला लिङ्ग शरीर जो स्थूल शरीर का कारण है, अथवा पञ्चमहाभूत जो इस शरीर के कारण हैं, या सत्त्वादि गुण जो पञ्चमहाभूतों के भी कारण हैं) इन दोनों की उत्पत्ति का हेतु प्रकृति कही जाती है। इस पाठ से माया-रूपी प्रकृति में समस्त नाम-रूप का कारण (पञ्च महाभूत) और कार्य (जगत्) दोनों को दर्शाया है, अथवा सांख्यों के महत् आदि तेईस तत्त्व एक से दूसरा, दूसरे से तीसरा, इस कार्य-कारण-क्रम से उपजकर सारी सृष्टि प्रकृति से बनती दर्शायी है। यह अर्थ भी अयुक्त नहीं है। परन्तु क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ के विचार में क्षेत्र की उत्पत्ति दर्शाना प्रसङ्गानुसार नहीं है। प्रकृति से जगत् उत्पन्न होने का वर्णन तो पहले ही सातवें और नवें अध्याय में हो चुका है। अतएव कार्य-करण पाठ ही यहाँ अधिक उचित देख पड़ता है। शाङ्करभाष्य, श्रीस्वामी चिद्घनानन्द की टीका व गीतारहस्य में भी यही पाठ है।

महर्षियों ने क्षेत्रज्ञ-रूपी जीव नामवाले पुरुष को कारण-रूप कहा है। या संक्षेप से यों कि कार्य-करण-रूपी विकारों में कारण प्रकृति कही जाती है, क्योंकि प्रकृति ही उन्हें उत्पन्न करती है, और सुख-दुःख-रूपी गुणों में पुरुष हेतु कहलाता है, क्योंकि पुरुष इन गुणों का अकर्ता होता हुआ भी साक्षीवत् इन्हें भोगता है ॥ २० ॥

सम्बन्ध—(१) यह पूर्वोक्त सुख-दुःख का भोक्ता-पुरुष भोगों को कब और कैसे भोगता है, ऐसे ही उत्तम या निकृष्ट योनियों में वह किस कारण से जन्म लेता है, इसे भगवान् अब स्पष्ट करते हैं—

अथवा (२) पुरुष में यह भोक्तृत्व किस कारण से है, इसे भगवान् अब दर्शाते हैं—

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुंक्ते प्रकृतिजान्गुणान् ।
कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ॥ २१ ॥

पुरुषः प्रकृति-स्थः, हि, भुंक्ते, प्रकृति-जान्-गुणान्	पुरुष प्रकृति में स्थित हुआ ही प्रकृति से उत्पन्न हुए गुणों को भोगता है	कारणं, गुण-सङ्गः, अस्य, सत्-असत्-योनि, जन्मसु	उसका गुणों में लगाव अच्छी बुरी योनियों के जन्मों में कारण होता है

अन्वयार्थ—पुरुष प्रकृति में स्थित हुआ ही प्रकृति से उत्पन्न हुए गुणों को भोगता है। और उस (पुरुष) का गुणों में लगाव ही अच्छी-बुरी योनियों के जन्मों का कारण होता है ॥ २१ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! पुरुष जो वास्तव-स्वरूप से अकर्ता, अभोक्ता, साक्षी-आत्मा है, यह जब और जैसे भोक्ता होता है, उसे तू सुन। यह वास्तव में अकर्ता और अभोक्ता पुरुष अपनी त्रिगुणात्मक माया-रूपी प्रकृति में जब स्थित होता है, तो प्रकृति-जन्य सुख-दुःखादि गुणों को

भोगता है। और यह इन गुणों का संग-दोष ही है कि जिसमें फँसने वा आसक्त होने से पुरुष अच्छी-बुरी वा उच्च-नीच योनियों में जन्म लेता है; वास्तव में तो वह जन्म-मरण, सुख-दुःख से रहित है ॥ २१ ॥

सम्बन्ध—(१) पूर्वोक्त क्रम में से "स च यः" (और वह जो वास्तव में है) का निरूपण भगवान् अब करते हैं—

अथवा (२) पुरुष का वास्तव स्वरूप अब भगवान् निरूपण करते हैं—

अथवा (३) जो पुरुष है वह ही परमात्मा वा परमेश्वर है, इस प्रकार जीव-ब्रह्म की अभेदता को भगवान् अब स्पष्ट करते हैं—

अथवा (४) पुरुष की विवेचना करके अब उसी से भगवान् परम पुरुष परमात्मा की विवेचना करते हैं—

उपद्रष्टाऽनुमन्ता च भर्त्ता भोक्ता महेश्वरः ।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः ॥२२॥

उपद्रष्टा, अनुमन्ता, च, भर्त्ता, भोक्ता, महेश्वरः	उपद्रष्टा, अनुमंता, भर्त्ता, भोक्ता और महा ईश्वर वह है	परमात्मा, इति, च, अपि, उक्तः, देहे, अस्मिन्, पुरुषः, परः	और इस देह में वह पर पुरुष परमात्मा है, ऐसा भी कहा गया है

अन्वयार्थ—इस देह में (वह) पर पुरुष उपद्रष्टा, अनुमन्ता, भर्ता, भोक्ता, महेश्वर और परमात्मा है, ऐसा भी कहा गया है ॥ २२ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! इस देह में यद्यपि वह पुरुष प्रकृति के संयोग से दुःख-सुख का भोक्ता होता है और इन्हीं गुणों के सङ्ग-दोष से भिन्न-भिन्न प्रकार की योनियों को प्राप्त होता है, तथापि वास्तव में अपने स्वरूप से तो वह पर पुरुष, अर्थात् प्रकृति-जन्य गुणों से नितान्त निस्सम्बन्ध तथा सर्वोपरि वा असंसारी पुरुष, है; उपद्रष्टा है (समीप बैठकर

देखनेवाला है अर्थात् जैसे यज्ञ के करनेवाले ऋत्विक्, होता, यजमान आदि जब उस यज्ञ-कर्म में प्रवृत्त हुए होते हैं, तो उनके समीपवर्ती कोई तटस्थ पुरुष उनके व्यापारों को अलग बैठा देखता है, वैसे ही इस देह में वह पुरुष समीप-से-समीप स्थित हुआ देह-इन्द्रियों के व्यापारों को स्वयं उनसे न्यारा हुआ साक्षीवत् देखता है; अथवा इस देह में आत्मा, बुद्धि, मन, नेत्र और देह ये पाँचों देखनेवाले हैं, इनमें सब से बाहर का देखनेवाला यह देह है, देह को देखनेवाला नेत्र, इन दोनों (देह और नेत्र) को देखनेवाला मन, और इन तीनों (देह, नेत्र, मन) को देखने-वाली बुद्धि, और इन सबको देखनेवाला सबके भीतर और सब से न्यारा वह आत्मा है। अनुमन्ता है (अनुमोदन करनेवाला, अर्थात् शरीर के प्रत्येक शुभ कार्य में कार्यकर्ता को जो परितोष-रूप आनन्द भान होता है, उस आनन्द का देनेवाला, अथवा देह-इन्द्रियों की प्रवृत्ति, जो इसकी प्रेरणा से ही होती है, उसमें आप न प्रवृत्त होते हुए भी प्रवृत्त हुए के तुल्य प्रतीत होनेवाला है); भर्ता है (अपनी सत्ता से देह का पालन-पोषण करनेवाला है, अथवा चैतन्य के आभास से युक्त जो ये देह, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि हैं, उनको अपनी सत्ता से धारण करनेवाला है); भोक्ता है (उपभोग करनेवाला अर्थात् सुख-दुःख-रूप जो बुद्धि की वृत्तियाँ हैं, उनको प्रकाशता हुआ और स्वयं निर्विकार होता हुआ भी अन्तःकरण द्वारा उन्हें भोगनेवाला है); महेश्वर है, अर्थात् सबका आत्मा होने से अथवा ब्रह्मादिकों का भी अधिपति वा स्वामी होने से और पूर्ण स्वतन्त्र होने से महान् ईश्वर है, और वही परमात्मा है, अर्थात् वही परम उत्कृष्ट होने से, वा सबमें व्यापक और सबका परम स्वरूप होने से परमात्मा है। ऐसा उसे पूर्व ऋषियों ने कहा है। संक्षेप से तात्पर्य इस सारे का यह है कि इस देह में वह पुरुष यद्यपि प्रकृति के गुणों में आसक्त होने से अच्छी-बुरी योनियों में जन्म लेता है, तथापि

वास्तव में वह परम पुरुष, अजन्मा, साक्षी, प्रेरक, भर्ता, भोक्ता, महेश्वर और परमात्मा है, ऐसा श्रुतियों-स्मृतियों में कहा गया है। यह क्षेत्रज्ञ का वास्तव स्वरूप है ॥ २२ ॥

सम्बन्ध—(१) पूर्वोक्त क्रम में से भगवान् अब "यत्प्रभावश्च" (जो प्रभाववाला वह है) की व्याख्या करते हैं—

अथवा (२) यहाँ तक "स च यो यत्प्रभावश्च" इस वचन की व्याख्या अर्थात् क्षेत्रज्ञ का स्वरूप और उसका प्रभाव वर्णन हुए, अब "यज्ज्ञात्वाऽमृत-मश्नुते" ऐसा जो कथन पहले किया जा चुका है, उसका भगवान् उपसंहार करते हैं—

अथवा (३) प्रकृति-पुरुष के उक्त यथार्थ ज्ञान का भगवान् अब फल बतलाते हैं—

य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह ।
सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते ॥२३॥

यः, एवं, वेत्ति, पुरुषं, प्रकृतिं, च, गुणैः, सह	जो पुरुष और प्रकृति को गुणों के सहित इस प्रकार जानता है	सर्वथा, वर्त-मानः, अपि, न, सः, भूयः, अभिजायते	सर्व प्रकार से वर्तता हुआ भी वह फिर नहीं उत्पन्न होता है

अन्वयार्थ—इस प्रकार जो प्रकृति और पुरुष को गुणों के सहित जानता है, वह सर्व प्रकार से वर्तता हुआ भी पुनः उत्पन्न नहीं होता ॥ २३ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! जैसा श्लोक १६ से २२ तक प्रकृति-पुरुष का ज्ञान वर्णन हुआ है, वैसा इस प्रकृति और पुरुष को सहित (प्रकृति के) गुणों के जो मनुष्य जान लेता अर्थात् साक्षात् अनुभव कर लेता है, ऐसा तत्त्ववेत्ता महापुरुष अपने प्रारब्ध-भोगों के बल से सर्व प्रकार की अवस्था

में रहता हुआ या सर्व प्रकार के कर्मों में प्रवृत्त होता हुआ भी देह छोड़ते ही मुक्त हो जाता है, जिससे पुनः जन्म को प्राप्त नहीं होता ॥ २३ ॥

सम्बन्ध—(१) यहाँ तक भगवान् ने अपनी पूर्व प्रतिज्ञानुसार अव्यक्त (क्षेत्रज्ञ) का उसके ज्ञान, फल इत्यादि के सहित क्रमपूर्वक वर्णन किया, अब उस अव्यक्त अक्षर के उपासकों वा अधिकारी लोगों के भेद से उसकी प्राप्ति-निमित्त उपायों के भेद को फल के सहित भगवान् दो श्लोकों में सविस्तर वर्णन करते हैं—❀

अथवा (२) निर्लिप्त आत्मा का वर्णन करके अथवा उसके साक्षात्कार

❀ श्रीतिलक महाराज इसकी सङ्गति ऐसे लिखते हैं—"२२ वें श्लोक में जब यह निश्चय हो चुका कि पुरुष ही देह में परमात्मा है, तब सांख्य-शास्त्र के अनुसार पुरुष का जो उदासीनत्व और अकर्तृत्व है, वही आत्मा का अकर्तृत्व हो जाता है और इस प्रकार सांख्यों की उपपत्ति से वेदान्त की एक-वाक्यता हो जाती है। कुछ वेदान्तवाले ग्रन्थकारों की समझ है कि सांख्य-वादी वेदान्त के शत्रु हैं, अतः बहुतेरे वेदान्ती सांख्य-उपपत्ति को सर्वथा त्याज्य मानते हैं। किन्तु गीता ने ऐसा नहीं किया; एक ही विषय, क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-विचार का एक बार वेदान्त की दृष्टि से, और दूसरी बार (वेदान्त के अद्वैत मत को विना छोड़े ही) सांख्य-दृष्टि से, प्रतिपादन किया है। इससे गीता-शास्त्र की समबुद्धि प्रकट हो जाती है। यह भी कह सकते हैं कि उपनिषदों के और गीता के विवेचन में यह एक महत्त्व का भेद है। इससे प्रकट होता है कि यद्यपि सांख्यों का द्वैत-वाद गीता को मान्य नहीं है, तथापि उनके प्रतिपादन में जो कुछ युक्तिसङ्गत जान पड़ता है, वह गीता को अमान्य नहीं है। दूसरे ही श्लोक में कह दिया है कि क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ का ज्ञान ही परमेश्वर का ज्ञान है। अब प्रसङ्ग के अनुसार संक्षेप से पिण्ड का ज्ञान और देह के परमेश्वर का ज्ञान सम्पादन कर मोक्ष प्राप्त करने का मार्ग बतलाते हैं।"

के विषय में विविध उपाय वा ध्यान आदि भिन्न-भिन्न साधन भगवान् बतलाते हैं—

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना ।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे ॥२४॥

ध्यानेन, आत्मनि, पश्यन्ति, केचित्, आत्मानं, आत्मना	कई एक आत्मा को आत्मा से आत्मा में ध्यान द्वारा देखते हैं	अन्ये, सांख्येन, योगेन	दूसरे सांख्य-योग से
		कर्म-योगेन, च, अपरे	और दूसरे कर्म-योग से

अन्वयार्थ—कई एक मनुष्य आत्मा को आत्मा से आत्मा में ध्यान द्वारा देखते हैं, कई सांख्य-योग द्वारा और कई एक कर्मयोग द्वारा ॥ २४ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! यहाँ तक इस क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-अध्याय में "ज्ञेयं यत् तत्प्रवक्ष्यामि" इत्यादि श्लोकों से मैंने तत्पदार्थ निरूपण किया, फिर "उपद्रष्टानुमन्ता च" इत्यादि श्लोकों से शुद्ध 'त्वं' पदार्थ का निरूपण किया। और "क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि" इत्यादि श्लोकों द्वारा दोनों (तत्, त्वं) की अभेदता वर्णन की। अब इस आत्मज्ञान के अनुभव कराने में जो ध्यानादि अनेक उपाय हैं उनके भेद मैं वर्णन करता हूँ, तू ध्यान से सुन। कई लोग तो इस क्षेत्रज्ञ-रूप आत्मा को आत्मा से आत्मा में ध्यानपूर्वक देखते हैं, अर्थात् उक्त श्लोक में जो पर-पुरुष-रूप वा क्षेत्रज्ञ-रूप आत्मा फल के सहित वर्णन हुआ, उस शुद्ध सच्चिदानन्द-स्वरूप आत्मा को कई एक योगीजन अपने आत्मिक बल से अपने भीतर ध्यान (ध्यान-योग) द्वारा अनुभव करते हैं, अर्थात् पूर्वोक्त छठे अध्याय में वर्णित

ध्यान-योग के अनुसार शब्दादि विषयों से श्रोत्रादि इन्द्रियों को खींचकर मन में स्थिर करके, फिर मन को एकाग्रतापूर्वक प्रत्यक् चैतन्यात्मा में स्थिर करके निरन्तर चिंतन-रूप जो ध्यान है; अथवा देहादिक अनात्म-पदार्थाकार विजातीय वृत्तियों के व्यवधान से रहित आत्माकार सजातीय वृत्तियों का प्रवाह-रूप जो आत्मचिन्तन है, जिसको शास्त्र में निदिध्यासन कहा है, और जो श्रवण-मनन का फल-रूप है, और जिस चिंतन से देहादि में आत्मत्व-बुद्धि-रूप विपरीत भावना नहीं रहती, ऐसा निदिध्यासन-रूप आत्म-चिन्तनवाला जो ध्यान है; अथवा "अहं ब्रह्मास्मि" वृत्ति का गङ्गावत् प्रवाह-रूपी जो ध्यान है; अथवा आत्माकाराकारित ज्ञान-रूप धारावाहिक अन्तःकरण की वृत्ति-रूप जो ध्यान है; ऐसे ध्यान द्वारा कई एक उत्तम अधिकारी लोग अपने भीतर (अपनी बुद्धि वा अन्तःकरण में) अपने आत्मिक बल से प्रत्यक् चैतन्य-रूप आत्मा को साक्षात्कार करते हैं, अर्थात् निर्विकल्पक असम्प्रज्ञात समाधि में स्थित हुए आत्मसाक्षात्कार का आनंद लेते हैं। कई एक लोग सांख्य-योग से, अर्थात् प्रकृति-पुरुष, क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ, माया-ईश्वर और जड़-चेतन के परस्पर विवेक वा भेद-अवलोकन से, अथवा निरन्तर तत्त्व-चिन्तन वा सदसत् के चिन्तन द्वारा; और कई एक लोग कर्म-योग से, अर्थात् ईश्वरार्पण-बुद्धि से निष्काम कर्म द्वारा अपने भीतर अपने बल से आत्मा का साक्षात्कार करते हैं। संक्षेप से यों कि उत्तम अधिकारी पुरुष तो गीता में वर्णित ध्यान-योग से, मध्यम अधिकारी लोग दूसरे अध्याय में निरूपित सांख्य-योग (केवल तत्त्व-चिन्तन) से, और मन्द अधिकारीजन पूर्वोक्त कर्म-योग से अपने भीतर आत्मसाक्षात्कार करते हैं। इस तरह यद्यपि आत्मसाक्षात्कार एक ही है, तथापि निष्ठा के भेद से मार्गों में भिन्नता है। और अपनी-अपनी योग्यता के अनुसार मनुष्य एक मार्ग पर चलता हुआ ही परम गति को पा जाता है।। २४।।

और—

अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः ॥२५॥

अन्ये, तु, एवं, अजानन्तः	और दूसरे ऐसा न जानते हुए	ते, अपि, च, अतितरन्ति, एव, मृत्युं, श्रुति-परायणाः	और वे भी श्रुति-परायण हुए मृत्यु को अवश्य तर जाते हैं
श्रुत्वा, अन्येभ्यः, उपासते	औरों से सुनकर उपासते हैं		

अन्वयार्थ—और अन्य पुरुष ऐसा न जानते हुए (केवल) औरों से सुनकर (उसे) उपासते हैं। वे भी श्रुति-परायण हुए मृत्यु को अवश्य तर जाते हैं ॥२५॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! पूर्व श्लोक में जो उत्तम, मध्यम और मन्द ऐसे तीन अधिकारियों के भेद से तीन उपाय (ध्यानयोग, सांख्ययोग और कर्मयोग) मैंने कहे हैं, उनमें से एक को भी न जानते हुए जो अनेक सज्जन केवल आचार्यों से सुन-सुनाकर उस अव्यक्त अक्षर की उपासना करते हैं, अर्थात् जो-जो रीति ध्यान की वे आचार्य लोग उनको उपदेश करते हैं, और वे उस सुने हुए उपदेश पर पूर्ण श्रद्धा से चलते हुए परमात्मा की उपासना करते हैं, ऐसे श्रुति-परायण मंदतम अधिकारी भी निस्सन्देह मृत्यु-रूप संसार को तर जाते हैं। अर्थात् पूर्वोक्त तीनों उपायों पर चलनेवाले तो अवश्य ज्ञान पाकर मुक्त होते ही हैं, इसमें और कहना ही क्या है, परन्तु ये श्रद्धालु लोग भी, जो विचार में तो असमर्थ हैं पर सुने हुए उपदेशानुसार पूर्ण निश्चय से दत्तचित्त हुए परमात्मा का चिन्तन करते हैं वे भी, जन्म-मरण से रहित अवश्यमेव हो जाते हैं ॥ २५ ॥ *

---

* इन दो (२४, २५) श्लोकों पर श्रीतिलक महाराज ऐसे व्याख्या करते हैं—"इन दो श्लोकों में पातञ्जल योग के अनुसार ध्यान, सांख्य-मार्ग

सम्बन्ध—(१) इस प्रकार साधन बतलाकर भगवान् अब सामान्य रूप से समग्र विषय का अध्याय पर्यन्त उपसंहार करते हैं—

अथवा (२) पूर्व अध्यायों (तीसरे, चौथे और पाँचवें) में कर्मयोग और (छठे और आठवें में) ध्यानयोग विस्तारपूर्वक वर्णन हो चुके। अब भगवान् सांख्ययोग का विस्तार यहाँ से अध्याय पर्यन्त निरूपण करते हैं—

अथवा (३) इस चराचर जगत् के उत्पत्ति के कारण क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-संयोग को भगवान् अध्याय पर्यन्त वर्णन करते हैं—

अथवा (४) अविद्या से संसार की उत्पत्ति और विद्या से उसकी निवृत्ति, इस आशय का विस्तारपूर्वक निरूपण भगवान् अब अध्याय पर्यन्त करते हैं—

अथवा (५) अव्यक्त की उपासना के नाना भेद दर्शाकर अब भगवान् तत्त्व-चिन्तन की नाना विधि फल के सहित अध्याय पर्यन्त वर्णन करते हैं—

यावत्सञ्जायते किञ्चित्सत्त्वं स्थावरजङ्गमम् ।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ ॥ २६ ॥

के अनुसार ज्ञानोत्तर कर्म-संन्यास, कर्मयोग-मार्ग के अनुसार निष्काम-बुद्धि से परमेश्वरार्पणपूर्वक कर्म करना और ज्ञान न हो तो भी श्रद्धा से आप्तों के वचनों पर विश्वास रखकर परमेश्वर की भक्ति करना (गी० ४. ३९) ये आत्मज्ञान के भिन्न-भिन्न मार्ग बतलाये गये हैं। कोई किसी भी मार्ग से जावे, अन्त में उसे भगवान् का ज्ञान होकर मोक्ष मिल ही जाता है। तथापि पहले जो यह सिद्धान्त किया गया है कि लोक-संग्रह की दृष्टि से कर्मयोग श्रेष्ठ है, वह इससे खण्डित नहीं होता। इस प्रकार साधन बतलाकर सामान्य रीति से समग्र विषय का अगले श्लोक में उपसंहार किया है और उसमें भी वेदान्त से कापिल सांख्य का मेल मिला दिया है।"

यावत्, सञ्जायते, किञ्चित्, सत्त्वं स्थावर, जङ्गमं	जितना कुछ स्थावर, जङ्गम पदार्थ उपजता है	क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-संयोगात्, तत्, विद्धि, भरतर्षभ	हे भरत-कुल में श्रेष्ठ (अर्जुन)! क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के संयोग से तू उसे जान

अन्वयार्थ—हे अर्जुन ! जितना कुछ स्थावर-जङ्गम पदार्थ उपजता है, उसे तू क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ के संयोग से (उत्पन्न हुआ) जान ॥ २६ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! उत्तम अधिकारियों के उपयोगी ध्यानयोग और मन्द तथा अतिमन्द अधिकारियों के उपयोगी कर्मयोग वा भक्तियोग का पूर्वले अध्यायों में मुझसे विस्तारपूर्वक निरूपण हो चुका। परन्तु मध्यम अधिकारियों के उपयोगी सांख्ययोग का वर्णन केवल संक्षेपपूर्वक पहले हुआ है, विस्तारपूर्वक नहीं। अतएव सांख्ययोगी लोग आत्म-साक्षात्कारार्थ जिस-जिस विधि से तत्त्व-चिन्तन करते हैं, उस सबको मैं विस्तारपूर्वक फल के सहित (अध्याय पर्यन्त) वर्णन करता हूँ, तू ध्यान देकर सुन। तीन लोकों में अर्थात् समस्त संसार में जितना भी कुछ स्थावर-जङ्गम, अर्थात् जड़-चेतन (अथवा चर-अचर) पदार्थ है, हे भरत-वंश में श्रेष्ठ अर्जुन ! उस सबको क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ, पुरुष-प्रकृति या माया-ईश्वर, इन दोनों के संयोग से उत्पन्न हुआ निश्चय कर, और इस निश्चय से युक्त होकर तू तत्त्वचिन्तन कर अर्थात् मनन और निदिध्यासन में युक्त हो ॥ २६ ॥

सम्बन्ध—(१) प्रकृति-पुरुष योग से समस्त प्रपञ्च की उत्पत्ति दर्शाकर अब भगवान् उसमें शुद्ध-स्वरूप परमेश्वर के देखने की चिंतन-विधि वर्णन करते हैं—

अथवा (२) अविवेक से संसार की उत्पत्ति और विवेक से संसार की निवृत्ति दर्शाते हैं—

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम् ।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति ॥२७॥

समं, सर्वेषु, भूतेषु, तिष्ठन्तं, परमेश्वरं	सब भूतों में सम स्थित परमेश्वर को	विनश्यत्सु, अविनश्यन्तं, यः, पश्यति, सः, पश्यति	नाशवानों में अविनाशी को जो देखता है, वह देखता है

अन्वयार्थ—सब भूतों में सम स्थित और नाशवानों * में अविनाशी परमेश्वर को जो देखता है, वह (ठीक) देखता है ॥ २७ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! जितने भी उत्पत्ति-धर्मवाले स्थावर-जङ्गम-रूप पदार्थ हैं, वे सब एकसमान न रहनेवाले, बल्कि विकारवान् और विनाशी हैं । और इन पदार्थों में जो परमेश्वर है, वही केवल अविनाशी और एकसमान रहनेवाला निर्विकार-स्वरूप है । इस प्रकार सब भूतों में एकसमान रहनेवाले और सब भूतों के नाश होने पर भी आप नाश न होनेवाले परमेश्वर को जो देखता (ध्याता, चिंतन करता वा निश्चय करता) है, वही (सच्चे तत्त्व को) पहचानता वा अनुभव करता है । अर्थात् विकारवानों वा नाशवानों में अविनाशी या निर्विकार का चिन्तन करना वा पहचानना भी आत्म-साक्षात्कार है ॥ २७ ॥

सम्बन्ध—(१) उक्त दृष्टि वा चिंतन-विधि में रुचि बढ़ाने-निमित्त भगवान् अब इसकी स्तुति और फल वर्णन करते हैं—

अथवा—(२) उक्त चिंतन-विधि वा दृष्टि (यः पश्यति स पश्यति) को भगवान् अब परम गति का हेतु दर्शाते हैं—

---

* यह भाव पूर्व अध्याय ८ के श्लोक २०वें में भी आया है ।

समं पश्यन् हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम् ।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम् ॥ २८

समं, पश्यन्, हि, सर्वत्र, समवस्थितं, ईश्वरं	क्योंकि सर्वत्र सम-स्थित ईश्वर को एकसमान देखता हुआ	न, हिनस्ति, आत्मना-आत्मानं	आत्मा से आत्मा को नहीं हनन करता है
		ततः, याति, परां, गतिं	इसलिये परम गति को प्राप्त होता है

अन्वयार्थ—क्योंकि सर्वत्र सम-स्थित ईश्वर को एकसमान देखता हुआ पुरुष आत्मा को आत्मा से हनन नहीं करता, इसलिये परम गति को वह प्राप्त होता है ॥ २८ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! उक्त चिंतन द्वारा समदर्शी अथवा नाशवान् पदार्थों में अविनाशी को देखनेवाला भला क्यों यथार्थ-द्रष्टा है और उससे अतिरिक्त पुरुष क्यों अन्धा है ? इसका कारण यह है कि ईश्वर को सर्वत्र सम देखनेवाला पुरुष अपनी सम-दृष्टि के कारण किसी का भी बुरा नहीं चाहता और न किसी में भेद-बुद्धि अथवा शत्रु-दृष्टि रखता है। उसे तो सब पदार्थ अपना आत्मा या परमात्म-स्वरूप ही दिखाई देते हैं, इसलिये वह सबको अपना आत्मा जानता हुआ अपने आप से अपने आप का नाश नहीं करता, बल्कि सबके साथ चित्त से एकसमान प्यार करता है ("यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्नेवानुपश्यति। सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते ।"=जो निजात्मा वा परमात्मा में सब प्राणियों को और निजात्मा वा परमात्मा को सब प्राणियों में देखता है, वह किसी से घृणा नहीं करता, बल्कि सबको अपना आत्मा समझता हुआ प्यार करता है, ऐसा श्रुति कहती है। ईश० ६)। और अज्ञानी अथवा भेद-वादी सबमें भेद और अपने आपको परिच्छिन्न-रूप देखने से किसी में राग और किसी में द्वेष

करता है, किसी को अपना किसी को पराया समझता है, किसी को शत्रु और किसी को मित्र देखता है, जिससे वह वास्तव में अपने आत्मा को न जानता हुआ अपने आपका अपने हाथों से हनन करता रहता है, इसलिये वह अन्धा है और प्रतिदिन अपने को अन्ध-कूप में गिराये जाता है। क्योंकि अपने आपको परिच्छिन्न देखना, अर्थात् अपने आत्मा का अयथार्थ ज्ञान ही आत्महत्या कहलाता है, और सर्वत्र सम और अपने को सबसे अभेद देखना ही अपने स्वरूप का यथार्थ ज्ञान है, जिससे मुक्ति प्राप्त होती है, इसलिये यह समदर्शी महापुरुष तो आत्महत्यारा न होने से मृत्यु-रूप संसार को तर जाता है, अर्थात् परम गति को पाता है। और यह अज्ञानी (भेद-वादी) अपनी भेद-दृष्टि के कारण राग-द्वेष की अग्नि में जलता हुआ इसी मृत्यु-रूप संसार-सागर में ग़ोते खाता है ("असूर्य्या नाम ते लोका अन्धेन तमसाऽऽवृता। तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः"=जो आत्महत्यारे जन हैं, वे मरकर उन लोकों को प्राप्त होते हैं, जो गाढ़े अँधेरे से घिरे हुए असुरों के लोक हैं। ऐसा श्रुति कहती है। ईश० ३)। संक्षेप से तात्पर्य यह है कि जो ईश्वर या अपने आत्मा को विकारवान् या नाशवान् समझता है, वह अपना नाश आप करता है। जो निज-आत्मा को सर्वत्र व्यापक, अविनाशी और निर्विकार ईश्वर करके देखता है, अर्थात् ईश्वर और आत्मा में किञ्चित् भेद नहीं समझता, वह आत्मा की रक्षा करता है और इसी से परम गति को प्राप्त होता है॥ २८॥

सम्बन्ध—(१) जब शुभ-अशुभ कर्मों के कर्तृत्व हेतु से विषमता देख पड़ती है, तो फिर आत्मा का समत्व कैसे ? इस आशंका का भगवान् अब उत्तर देते हैं—

अथवा (२) पूर्वोक्त सम-दृष्टि को भगवान् अब अन्य रीति से निरूपण करते हैं—

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः ।
यः पश्यति तथात्मानमकर्त्तारं स पश्यति ॥२६॥

प्रकृति, एव, च, कर्माणि, क्रियमाणानि, सर्वशः	और सर्व प्रकार से कर्म प्रकृति से ही किये हुए	यः, पश्यति, तथा, आत्मानं, अकर्त्तारं, सः, पश्यति	और आत्मा को अकर्ता जो देखता है, वह देखता है

अन्वयार्थ—और जो कर्मों को सर्व प्रकार से प्रकृति से ही किया हुआ और आत्मा को अकर्ता देखता है, वह (ठीक) देखता है ॥ २६ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! जिसका निश्चय वा चिन्तन यह है कि मन, वाणी, शरीर से जितने भी कर्म किये जाते हैं, वे सब-के-सब शारीरिक और मानसिक प्रकृति से ही होते हैं, अथवा इन सब विकारों का कारण जो भगवान् की माया है, उससे ही सब होते हैं। और इन सब विकारों से रहित सबका साक्षी जो क्षेत्रज्ञ-रूप आत्मा (प्रकृति का स्वामी) है, वह नित्य अकर्ता, असङ्ग, सर्वत्र सम और एक है। ऐसा निश्चयवान् मनुष्य वास्तव में तत्त्वद्रष्टा और अव्यक्त का उपासक है और अवश्य परम गति को प्राप्त होता है ॥ २६ ॥

सम्बन्ध—(१) अब उक्त दृष्टि के अन्तिम फल को भगवान् वर्णन करते हैं—

अथवा (२) भगवान् अब उक्त तत्त्व-दर्शन और उसके परिणाम की दूसरे शब्दों से व्याख्या करते हैं—

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति ।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म संपद्यते तदा ॥ ३० ॥

यदा, भूत-पृथक्-भावं, एक-स्थं, अनुपश्यति	जब भूतों के पृथक्-भाव को एक में स्थित देखता है	तत्, एव, च, विस्तारं	और उससे ही (उनके) विस्तार को
		ब्रह्म, संपद्यते, तदा	तब वह ब्रह्म-रूप होता है

अन्वयार्थ—जब मनुष्य भूतों के पृथक् भाव को एक में स्थित और उस (एक) से ही (भूतों के) विस्तार को देखता है, तब वह ब्रह्म-रूप ही होता है ॥ ३० ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! उक्त दृष्टि का अन्तिम फल यह है कि जिस काल में उक्त कथनानुसार अनेक प्रकार के स्थावर-जङ्गम-रूप पदार्थों को अथवा इन पदार्थों के परस्पर भिन्न-भिन्न रूप वा भाव को एक ब्रह्म (परमात्मा वा शुद्ध आत्मा) में स्थित देखता है, और उस एक अधिष्ठान-रूप आत्मा वा ब्रह्म से ही उन समस्त पदार्थों का विस्तार देखता है; अर्थात् जिधर भी उसकी दृष्टि जाती है उसे सर्व ओर एक अपना आत्मा ही दिखाई देता है और सारे पदार्थ उस अपने एक आत्मा से ही विस्तृत हुए दिखाई देते हैं, उस काल में वह पुरुष ब्रह्म-भाव को ही प्राप्त हुआ होता है। तात्पर्य यह कि भेद-दृष्टि ही अज्ञान और परिच्छिन्न जीव-भाव है, और अभेद वा सम-दृष्टि ही यथार्थ ज्ञान और ब्रह्म-भाव है। जब मनुष्य अपने आत्मा को सबमें और सब पदार्थों को अपने आत्मा में (अभेद-रूप से) स्थित देखता अर्थात् अनुभव करता है, उस समय वह ब्रह्म-रूप हुआ होता है ("यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः। तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः"=जिस काल में या जिस अवस्था में सारे पदार्थ विद्वान् के लिये अपना आत्मा ही हो गये, उस काल या अवस्था में इस आत्मा के एकत्व अनुभव करनेवाले को शोक और मोह कदाचित् भी नहीं होता, क्योंकि वह एकता में स्थित हुआ होता है, ऐसा श्रुति कहती है। ईश० ७)। और जब मनुष्य भेद-दृष्टि रखता है, तो

परिच्छिन्न-भाव को प्राप्त हुआ वह ब्रह्म से विमुख या तुच्छ वा अज्ञानी जीव-रूप बना रहता है ॥ ३० ॥

सम्बन्ध—(१) यदि आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप वा स्वभाव से अकर्ता है, तो क्या शरीर और इन्द्रियों के सम्बन्ध से भी अकर्ता है ? इस सन्देह के निवारणार्थ भगवान् अपने उक्त आशय को अब और स्पष्ट करते हैं—

अथवा (२) यदि एक ही आत्मा का सब देहों से सम्बन्ध है, तो देहों के दोषों से भी उसका सम्बन्ध अवश्य होगा, इस संशय की निवृत्ति-निमित्त भगवान् अपने उक्त आशय को और स्पष्ट करते हैं—

अथवा (३) अब भगवान् यह दर्शाने लगे हैं कि आत्मा निर्गुण, अलिप्त और अक्रिय कैसे है—

अथवा (४) अब भगवान् इस एक आत्मा की और विलक्षणता दर्शाते हैं—

अनादित्वान्निर्गुणत्वात् परमात्मायमव्ययः ।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते ॥ ३१ ॥

अनादित्वात्, निर्गुणत्वात्, परमात्मा, अयं, अव्ययः	अनादि और निर्गुण होने से यह अव्यय परमात्मा	शरीर-स्थः, अपि, कौन्तेय, न, करोति, न, लिप्यते	हे अर्जुन ! शरीर में स्थित हुआ भी न करता है, न लिप्त होता है

अन्वयार्थ—हे अर्जुन ! अनादि और निर्गुण होने से यह अव्यय परमात्मा * शरीर में स्थित हुआ भी न कुछ करता है और न लिप्त होता है ॥ ३१ ॥

---

* कुछ भेद-वादी टीकाकारों ने इस परमात्मा शब्द को आत्मा से भिन्न करके द्वैत दर्शाने में बहुत यत्न किया है, पर भगवान् का आशय सारी गीता

व्याख्या—हे अर्जुन ! परमेश्वर से अभिन्न होने से परमात्मा-रूप जो यह अपरोऽक्ष्य प्रत्यक् आत्मा है, जो ऊपर पर पुरुष, पुरुष, क्षेत्रज्ञ और महेश्वर के नामों से निरूपित हुआ है, यह अनादि है, अर्थात् अपना कोई कारण नहीं रखता ("न तस्य कश्चिज्जनिता न चाधिप: ।"—इस आत्मदेव का कोई भी न उत्पन्न करनेवाला और न अधिपति है। ऐसा श्रुति कहती है। श्वेत० ६.९)। अनादि होने के कारण यह आत्मा अव्यय है, अर्थात् जन्म-मरणादि विकार-रूप जो व्यय हैं, उनको प्राप्त नहीं होता, जिससे यह निर्विकार और अविनाशी है। और यह आत्मा निर्गुण-स्वरूप है, अर्थात् किसी प्रकार के गुण वा धर्मों से परिच्छिन्न नहीं बल्कि गुणातीत है ("अविनाशी वा अरेऽयमात्माऽनुच्छित्तिधर्मा ।"—हे मैत्रेयी ! यह आत्मा नाशादि विकारों से रहित है और धर्मों के नाशादि विकारों से भी नाशादि विकारों को प्राप्त नहीं होता, जिससे गुणातीत और अविनाशी है, ऐसा श्रुति भी कहती है। बृह० ४.५-१४)। इन सब गुणों वा धर्मों से अतीत होने के कारण भी वह आत्मा अव्यय है। ऐसा अव्यय रूप (निर्विकार, अविनाशी) आत्मा यद्यपि आध्यात्मिक सम्बन्ध से इस पाञ्चभौतिक शरीर में स्थित है, तथापि हे कुन्ती-पुत्र अर्जुन ! यह अनादि और निर्गुण होने के कारण शरीर में रहते हुए भी न कुछ करता है और न किसी सङ्ग-दोष से लिपायमान होता है, बल्कि नित्य एक रस, अकर्ता, अभोक्ता, निर्विकार और निर्लिप्त रहता है। इस प्रकार शरीर का कोई कर्म न उसे कर्ता बना सकता है और न अपने फल इत्यादि से उसे लिप्त ही कर सकता है ॥ ३१ ॥

में परमात्मा को आत्मा से भिन्न दर्शाने का नहीं, बल्कि दोनों शब्दों को एक ही तात्पर्य से वर्तने का है। अगले श्लोक से यह आशय और स्पष्ट हो जाता है, वहाँ इसी परमात्मा के स्थान पर आत्मा शब्द वर्ता है।

सम्बन्ध—उक्त आशय को भगवान् अब दृष्टान्त से समझाते वा स्पष्ट करते हैं—

यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते ।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते ॥ ३२ ॥

यथा, सर्व-गतं, सौक्ष्म्यात्, आकाशं, न, उपलिप्यते	जैसे सर्व-व्यापी आकाश सूक्ष्म होने से नहीं लिप्त होता है	सर्वत्र-अवस्थितः, देहे, तथा, आत्मा, न, उपलिप्यते	वैसे देह में सर्वत्र स्थित आत्मा नहीं लिप्त होता है

अन्वयार्थ—जैसे सर्वव्यापी आकाश सूक्ष्म होने से लिप्त नहीं होता, वैसे देह में सर्वत्र स्थित आत्मा भी लिप्त नहीं होता है ॥ ३२ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! अपने उक्त कथन को मैं अब तुझे दृष्टान्त से समझाता हूँ, तू ध्यान से सुन। जैसे घट-पटादि से लेकर जितने भी दृष्ट अथवा अदृष्ट द्रव्य हैं, उन सबमें उपस्थित अर्थात् व्यापा हुआ आकाश अति सूक्ष्म होने के कारण उन द्रव्यों के सुगन्ध, दुर्गन्ध, वर्षा, आतप, अग्नि, धूम्र, रज, पङ्क इत्यादि दोषों से किञ्चित् लिपायमान नहीं होता ; वैसे देव, मनुष्य, पशु इत्यादि नीच-उच्च देहों में अन्तर-बाहर से सर्वत्र व्यापक होकर जो स्थित आत्मा है, वह सूक्ष्म से भी अति सूक्ष्म होने के कारण देहों के किसी भी गुण, कर्म, स्वभाव से किञ्चित् मात्र भी लिपायमान नहीं होता। और "असङ्गो न हि सज्जते"=वह आत्मा असङ्ग होने से किसी भी वस्तु के साथ सम्बन्ध को प्राप्त नहीं होता, ऐसा श्रुति भी कहती है ॥ ३२ ॥

सम्बन्ध—अब भगवान् सूर्य के दृष्टान्त से आत्मा की अन्य विलक्षणता वा प्रभाव को दर्शाते हैं—

यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः ।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत ॥३३॥

यथा[1], प्रकाश[7]-यति, एकः[2], कृत्स्नं[5], लोकं[6]; इमं[4], रविः[3]	जैसे[1] एक[2] सूर्य[3] इस[4] समस्त[5] लोक[6] को प्रकाशता[7] है	क्षेत्रं[5], क्षेत्री[3], तथा[1], कृत्स्नं[4], प्रकाशयति[6], भारत[2]	वैसे[1] हे अर्जुन[2]! क्षेत्रज्ञ[3] (इस) सारे[4] क्षेत्र[5] को प्रकाशता[6] है

अन्वयार्थ—हे अर्जुन ! जैसे अकेला सूर्य इस सारे लोक को प्रकाशता है, वैसे (इस) सारे क्षेत्र को क्षेत्रज्ञ प्रकाशता है ॥ ३३ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! मेरे उक्त सिद्धान्त के विषय तू अब और दृष्टान्त सुन, जिससे आत्मा का प्रभाव सम्पूर्ण रूप से तुझ पर स्पष्ट हो जाय। जैसे एक ही सूर्य इस सारे जगत् को प्रकाशता है, वैसे एक ही क्षेत्रज्ञ (आत्मा) इस सारे क्षेत्र (शरीर वा देह) को प्रकाशित करता है। अर्थात् इस दृष्टांत से चार तात्पर्य निकलते हैं—(१) जैसे सूर्य एक है, वैसे क्षेत्रज्ञ भी एक है; (२) जैसे सूर्य सारे संसार को प्रकाशने से वस्तुओं के दोषों से लिप्त नहीं होता, वैसे क्षेत्रज्ञ भी सारे देह को प्रकाशने से देह के सङ्ग दोषों से लिप्त नहीं होता ; (३) जैसे सर्व पदार्थों की उत्पत्ति, स्थिति और नाश इस सूर्य के आश्रय ही होते हैं, विना सूर्य के किसी प्राणी वा पदार्थ का जीना या स्थिर रहना असम्भव है, वैसे सर्व देहों वा नाम-रूप प्रपञ्च की स्थिति, उत्पत्ति और नाश इस सर्वाधार आत्मा के ही आश्रय से है ; विना इस अधिष्ठान के जगत् का प्रादुर्भाव होना नितान्त असम्भव है ; और (४) जैसे सूर्य इस सारे संसार का रक्षक, प्रकाशक और उसमें व्यापक हुआ भी संसार से अलग, असङ्ग और निर्लिप्त रहता है, वैसे वह प्रकाश-स्वरूप आत्मा भी देह का

रक्षक, प्रकाशक और उसमें व्यापक होता हुआ देह से अलग, असङ्ग और साक्षी रहता है। इस प्रकार, हे भरतकुलोत्पन्न अर्जुन! यह प्रकाश-स्वरूप आत्मा अकर्ता, अभोक्ता (निर्लिप्त), असङ्ग और साक्षी है। इस दृष्टान्त के अनुसार श्रुतियाँ भी ऐसा सिद्धान्त ही निरूपण करती हैं, जैसे "सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुर्न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्यदोषैः। एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः।"—जैसे सारे लोक का चक्षु-रूप सूर्य चक्षुओं के बाह्य दोषों से लिप्त नहीं होता, वैसे समस्त पदार्थों का प्रकाशक और देहादि संघात से भिन्न जो सब भूतों का अन्तरात्मा है, वह एक अद्वितीय आत्मा भी लोगों के बाह्य दुःखों से लिप्त नहीं होता (कठ० २.५.११) ॥ ३३ ॥

सम्बन्ध—अब भगवान् इस सारे अध्याय के अर्थ का फल-सहित उपसंहार करते हैं—

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा।
भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम् ॥३४॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोगो नाम त्रयोदशोऽध्यायः।

क्षेत्र-क्षेत्रज्ञयोः, एवं, अन्तरं, ज्ञान-चक्षुषा	क्षेत्र क्षेत्रज्ञ के अन्तर को इस प्रकार ज्ञान-चक्षु से	भूत-प्रकृति-मोक्षं, च	और भूतों की प्रकृति के मोक्ष को
		ये, विदुः, या-न्ति, ते, परं	जो जानते हैं, वे परम गति को प्राप्त होते हैं

अन्वयार्थ—इस प्रकार क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ के अन्तर को और भूतों की प्रकृति ※ के मोक्ष को जो ज्ञान-चक्षु से जानते हैं, वे परम गति को प्राप्त होते हैं ॥३४॥

※ "भूत-प्रकृति-मोक्षं च"=आकाशादि सर्वभूतों का कारण-रूप जो माया, प्रकृति, अविद्या, अज्ञान इत्यादि नामोंवाली परमेश्वर की शक्ति है, और जिस माया-शक्ति को (मायां तु प्रकृतिं विद्यात् इत्यादि) श्रुतियाँ कहती हैं कि उसको ही भूत-प्रकृति-स्वरूप जानो। उस भूत-प्रकृति की "मैं ब्रह्म हूँ" इस प्रकार की परमार्थ-विद्या से जो आत्यन्तिक निवृत्ति (अत्यन्ताभाव) है, उसका नाम 'भूत-प्रकृति-मोक्ष' है (श्रीशङ्कराचार्य, स्वामी चिद्घनानन्द)। यह पूरे प्रकरण का उपसंहार है। "भूत-प्रकृति-मोक्ष" शब्द का अर्थ हमने सांख्य-शास्त्र के सिद्धान्तानुसार किया है। सांख्यों का सिद्धान्त है कि मोक्ष का मिलना या न मिलना आत्मा की अवस्थाएँ नहीं हैं, क्योंकि वह तो सदैव अकर्ता और असङ्ग है; परन्तु प्रकृति के गुणों के सङ्ग से वह अपने में कर्तृत्व का आरोप किया करता है, इसलिये जब उसका यह अज्ञान नष्ट हो जाता है, तब उसके साथ लगी हुई प्रकृति छूट जाती है, अर्थात् उसी का मोक्ष हो जाता है, और इसके पश्चात् उसका पुरुष के आगे नाचना बन्द हो जाता है। अतएव सांख्य-मतवाले प्रतिपादन किया करते हैं कि तात्त्विक दृष्टि से बन्ध और मोक्ष दोनों अवस्थायें प्रकृति की ही हैं (देखो सांख्यकारिका ६२)। हमें जान पड़ता है कि सांख्य के ऊपर लिखे हुए सिद्धांत के अनुसार ही इस श्लोक में 'प्रकृति का मोक्ष' ये शब्द आये हैं। परंतु कुछ लोग इन शब्दों का यह अर्थ भी लगाते हैं कि "भूतेभ्यः प्रकृतेश्च मोक्षः"=पञ्चमहाभूत और प्रकृति से अर्थात् मायात्मक कर्मों से आत्मा का मोक्ष होता है। यह क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-विवेक ज्ञानचक्षुषा से विदित होनेवाला है (गीता १३.३४); नवें अध्याय की राजविद्या प्रत्यक्ष अर्थात् चर्मचक्षु से ज्ञात होनेवाली है (गीता ९.२); और विश्वरूप-दर्शन परम भगवद्भक्त को भी केवल दिव्य चक्षु से ज्ञात होनेवाला है (गी० ११.८)। नवें, ग्यारहवें और तेरहवें अध्याय के ज्ञान-विज्ञान-निरूपण का उक्त भेद ध्यान देने योग्य है। (श्रीतिलक महाराज)

व्याख्या—हे अर्जुन! अब इस उक्त विषय के ज्ञान का फल तू सुन कि पूर्व जो क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का विवेक कराया गया (कि क्षेत्र तो जड़, कर्ता, विकारी, परिच्छिन्न और नाशवान् शरीर है, और क्षेत्रज्ञ चेतन आत्मा, पर पुरुष, अकर्ता, अविकारी वा अविनाशी और अपरिच्छिन्न परमेश्वर है), इस विवेकानुसार जो लोग इन दोनों के भेद को जानते हैं, और ऐसे ही प्राणियों की प्रकृति (ईश्वर की माया) के मोक्ष ('अहं ब्रह्मास्मि' की वृत्ति द्वारा उस प्रकृति का अत्यन्ताभाव) को जानते हैं, अथवा सांख्य-शास्त्र में जो बन्ध-मोक्ष प्रकृति के आश्रय कहा गया है कि जब पुरुष प्रकृति के गुणों के सङ्ग से अपने में कर्ता का भाव आरोप लेता है, तो वह बन्ध-रूप दीखता है, और जब उसका यह मानना या आरोपना-रूप अज्ञान नष्ट हो जाता है, तो उसके साथ लगी हुई प्रकृति स्वतः छूट जाती है, अर्थात् प्रकृति का मोक्ष हो जाता है, और इसके बाद उसका पुरुष के आगे नाचना बन्द हो जाता है; इस प्रकार भूतों की कारण-रूप प्रकृति के मोक्ष को जो लोग ज्ञान के नेत्रों से जान लेते हैं, अर्थात् इस समस्त (१३ वें) अध्याय के अर्थ को जो पूरी रीति से जान जाते हैं, वे परम गति (मोक्ष) को सीधा प्राप्त होते हैं ॥ ३४ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतानुवादे क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-विभागयोगो नाम त्रयोदशोऽध्यायः ।

तेरहवें अध्याय का संक्षेप

(१) पहले के छ अध्यायों में 'त्वं' पद का अर्थ निरूपण हुआ, दूसरे छ अध्यायों में (अर्थात् सातवें से बारहवें तक) 'तत्' पद का अर्थ निरूपण हुआ, और इन आख़िरी छ अध्यायों में (अर्थात् तेरहवें से अठारहवें तक) जो महावाक्य 'तत्त्वमसि' का 'असि' पद जीव-ईश्वर (तत्, त्वं पद) की अभेदता का सूचक है, उसका विस्तारपूर्वक वर्णन होने लगा है, अर्थात् यहाँ से लेकर अन्त पर्यन्त भगवान् 'तत्त्वज्ञान', 'तत्त्वज्ञानियों की निष्ठा' और उनके गुण, कर्म, स्वभाव का निरूपण फल के सहित विस्तारपूर्वक करने लगे हैं। दूसरे शब्दों में संक्षेप से ऐसे कि पहले छ अध्यायों में निष्काम कर्म, यज्ञ और ध्यान का वर्णन, और दूसरे छ अध्यायों में उपासना और भक्ति का वर्णन हुआ। अब तीसरे छ अध्यायों में मोक्ष के साधनभूत ज्ञान का वर्णन होने लगा है। क्रम-रूप से तेरहवें अध्याय का पूर्व अध्याय से सम्बन्ध इस प्रकार है कि बारहवें अध्याय में भगवान् ने अपने सगुण और निर्गुण स्वरूप के उपासकों के उपायों में सुगमता और कठिनता का भेद दर्शाकर सगुण-उपासना के मार्ग को विस्तारपूर्वक वर्णन किया। अब अपने निर्गुण स्वरूप की उपासना को विस्तारपूर्वक वर्णन करने के उद्देश्य से कृपालु भगवान् स्वयं अर्जुन को क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ के नाम से अपना उपदेश इस प्रकार आरम्भ करते हैं—

(क) हे अर्जुन ! यह शरीर क्षेत्र है और इसका ज्ञाता क्षेत्रज्ञ है, ऐसा इस विषय के विद्वान् कहते हैं।

(ख) पर सब शरीर-रूपी क्षेत्रों में क्षेत्रज्ञ तू मुझे ही जान, और इस प्रकार से क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ का ज्ञान तू मेरा ही ज्ञान समझ।

(२) इस प्रकार क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के स्वरूप को संक्षेपपूर्वक कहकर अब भगवान् इनका विस्तारपूर्वक वर्णन क्रमानुसार करने लगे हैं। पहले इस क्रम से वर्णन करते हैं—

(क) हे अर्जुन! वह क्षेत्र 'जो वस्तु है', 'जिसके सदृश है', 'जिस विकारवाला है' और 'जिससे जो उत्पन्न हुआ है,' ऐसे ही जो 'वह क्षेत्रज्ञ है', और 'जो-जो उसका प्रभाव है', वह सब संक्षेप से तू मुझसे सुन।

(ख) इस विषय को मैं ही अब नहीं कहने लगा बल्कि इससे पहले ऋषियों ने छन्दों (वेदों) में और पूर्ण युक्तियों और निर्णीत सिद्धान्तों से पूर्ण ब्रह्मसूत्रों में इसका नाना प्रकार से वर्णन किया है।

(ग) पञ्च महाभूत, अहङ्कार, बुद्धि, अव्यक्त (अव्याकृत), दस इन्द्रियाँ, ग्यारहवाँ मन, पाँच इन्द्रियों के विषय, इच्छा-द्वेष, सुख-दुःख, संघात, चेतना और धृति इस (३१ तत्त्वों के) समुदाय को सविकार क्षेत्र कहते हैं।

(३) अब इस क्षेत्र से भिन्न क्षेत्रज्ञ को विस्तारपूर्वक वर्णन करने के उद्देश्य से भगवान् पहले उसके ज्ञान के २० लक्षण इस प्रकार निरूपण करते हैं—

मान[१]-हीनता, दम्भ[२]-हीनता, अहिंसा[३], क्षमा[४], सरलता[५], गुरु[६]-सेवा, पवित्रता[७], स्थिरता[८], मनोनिग्रह[९], इन्द्रियों[१०] के अर्थों में वैराग्य, अहङ्कार[११]-हीनता, जन्म-मृत्यु-जरा[१२]-व्याधि एवं दुःखों के दोषों को बार-बार देखना, (विषयों में) अनासक्ति[१३], पुत्र-दारा-घर[१४] आदि में लम्पट न होना, इष्ट-अनिष्ट[१५] की प्राप्ति में नित्य समचित्त रहना, मुझमें अनन्य भाव[१६] से अटल भक्ति, एकान्त[१७]-सेवन, (साधारण) लोगों[१८] के जमाव में अप्रीति, अध्यात्म[१९]-ज्ञान में नित्यता, तत्त्व-ज्ञान[२०] के अर्थ का दर्शन वा तत्त्व-ज्ञान के सिद्धान्तों का परिशीलन, इन २० लक्षणों वा धर्मोंवाले साधनों को 'ज्ञान' कहते हैं, इसके अतिरिक्त जो कुछ है, वह सब 'अज्ञान' है।

(४) इस प्रकार ज्ञान के २० लक्षण वा साधन वर्णन करके अब भगवान् क्षेत्रज्ञ का निरूपण करते हैं—

(क) वह अनादि परब्रह्म है, न वह सत् कहलाता है और न असत्; सब ओर उसके हाथ-पाँव, नेत्र, शिर, मुख और कान हैं, और वही इस लोक में सबको व्याप रहा है; उसमें यद्यपि सब इन्द्रियों के गुणों का आभास है, पर उसके कोई भी इन्द्रिय नहीं है; सबसे निरासक्त (अलग) होकर भी वह सबका पालन-पोषण करता है; ऐसे ही निर्गुण होता हुआ भी वह गुणों का उपभोग करता है; सब भूतों के भीतर और बाहर भी है; अचर है और चर भी है; सूक्ष्म होने से अविज्ञेय है और दूर होकर भी निकट (समीपस्थ) है; सब भूतों में अविभक्त हुआ भी वह विभक्त के समान स्थित है; वह ज्ञेय (क्षेत्रज्ञ) सब भूतों का पालन करनेवाला, ग्रसनेवाला और उत्पन्न करनेवाला भी है; वह ज्योतियों की भी ज्योति और अन्धकार से परे कहलाता है; ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञान-गम्य भी वही है; और सबके हृदय में वही स्थित है।

(ख) इस प्रकार क्षेत्र, ज्ञान और ज्ञेय (क्षेत्रज्ञ) को जैसा मैंने संक्षेप से कहा, मेरा भक्त पूर्ण-रूप से जानकर मेरा वास्तविक स्वरूप होने के योग्य हो जाता है।

(५) अब उक्त विषय को भगवान् प्रकृति-पुरुष के नाम से सांख्यों की परिभाषा में (किन्तु सांख्यों के द्वैत को अस्वीकार करके) अधिक स्पष्ट ऐसे करते हैं—

(क) प्रकृति और पुरुष इन दोनों को तू अनादि समझ। विकार और गुणों को तू प्रकृति से ही उपजा हुआ जान।

(ख) कार्य (देह) और कारण (इन्द्रिय) के कर्तृत्व में प्रकृति कारण कहलाती है, और सुख-दुःख के भोक्तृत्व में, पुरुष कारण कहलाता है।

(ग) पुरुष प्रकृति में स्थित होकर प्रकृति के सारे गुणों को भोगता है, और प्रकृति के उन गुणों में पुरुष का लगाव ही उसे अच्छी-बुरी योनियाँ दिलाता है।

(घ) हे अर्जुन ! यद्यपि प्रकृति के सङ्ग-दोष से ही पुरुष सुख-दुःख को भोगता और अच्छी-बुरी योनियों को प्राप्त होता है, पर वास्तव में वह (पुरुष) उपद्रष्टा, अनुमन्ता, भर्ता, भोक्ता, महेश्वर और परमात्मा कहलाता है।

(ङ) जो इस प्रकार प्रकृति और पुरुष को गुणों के सहित जानता है, वह सब प्रकार से वर्तता हुआ भी पुनर्जन्म को प्राप्त नहीं होता।

(६) अब भगवान् उक्त तत्त्व-ज्ञान के साक्षात्कार करने के निमित्त भिन्न-भिन्न उपाय अधिकारी-भेद से इस प्रकार वर्णन करते हैं—

कुछ लोग तो अपने में ध्यानयोग से, कुछ सांख्ययोग से और कुछ कर्मयोग से उस आत्मा को देखते (अनुभव करते) हैं। और कुछ लोग ठीक न जानने के कारण दूसरों से सुनकर श्रद्धा से उसकी उपासना करते हैं, ऐसे लोग भी अवश्य तर जाते हैं।

(७) अब भगवान् आत्म-साक्षात्कारार्थ केवल तत्त्व-चिन्तन की विधि सविस्तर निरूपण करते हैं—

(क) हे अर्जुन ! जो कुछ स्थावर-जङ्गम पदार्थ उपजता है, उसे तू क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ के संयोग से उत्पन्न हुआ जान। पर जो उन नाशवान् पदार्थों में समस्थित और अविनाशी परमेश्वर को देखता

(निश्चय करता, ध्याता वा चिंतन करता) है, वही वास्तव में देखता (अनुभव करता) है।

(ख) क्योंकि ऐसी दृष्टिवाला पुरुष अपना नाश नहीं करता, बल्कि सीधा परम गति को पाता है।

(ग) पस, जो समस्त कर्मों को प्रकृति से किया हुआ और आत्मा को अकर्ता देखता है, वही ठीक देखता है।

(घ) जिस समय मनुष्य पदार्थों के पृथक् भाव को एक में स्थित और उस एक ही से उनका विस्तार देखता है, तब वह ब्रह्म-रूप होता है।

(८) अब इस तत्त्व-चिन्तनार्थ परमात्मा के अकर्ता आदि स्वरूप को भगवान् दृष्टान्त से समझाते हैं—

(क) हे अर्जुन ! यह निर्विकार वा अविनाशी परमात्मा अनादि और निर्गुण होने से शरीर में रहते हुए भी न कुछ करता-धरता है और न उसे किसी भी कर्म का लेप अथवा बन्धन ही लगता है। और इसका दृष्टान्त इस प्रकार है कि

(ख) जिस प्रकार सर्वव्यापी आकाश अति सूक्ष्म होने से किसी से भी लिप्त नहीं होता, इसी प्रकार देह में सर्वत्र स्थित आत्मा, जो अति सूक्ष्म से भी सूक्ष्म है, देह के किसी भी गुण, कर्म, स्वभाव से किञ्चित् लिपायमान नहीं होता।

(ग) जैसे अकेला सूर्य इस सारे लोक को प्रकाशता है, पर जिन पदार्थों को प्रकाशता है, उनसे वह किञ्चित् भी लिप्त होने नहीं पाता, वैसे ही सारे क्षेत्र को यह क्षेत्रज्ञ-रूप आत्मा प्रकाशता है, पर इस क्षेत्र से वह किञ्चित् भी लिपायमान होने नहीं पाता।

(६) इस प्रकार क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ के ज्ञान, उसके साधन और तत्त्व-चिन्तन की रीति को दर्शाने के बाद भगवान् अब इस सारे विषय के ज्ञान का फल संक्षेप से ऐसा कहते हैं—

इस प्रकार (जैसा कि ऊपर सारे अध्याय में वर्णन हुआ है) क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के अन्तर को और भूतों की प्रकृति के मोक्ष को उक्त ज्ञान-चक्षु से जो भी जानते हैं, वे सीधे परम गति को प्राप्त होते हैं।

इस प्रकार श्रीभगवान् से गाये हुए, अर्थात् कहे हुए उपनिषद् में, ब्रह्मविद्यान्तर्गत योगशास्त्र-विषयक, श्रीकृष्ण और अर्जुन के संवाद में, क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-विभागयोग-नामक तेरहवाँ अध्याय समाप्त हुआ।

✽ ॐ ✽

चतुर्दशोऽध्यायः

सम्बन्ध—पूर्व तेरहवें अध्याय में क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ का विचार एक बार वेदान्त की दृष्टि से और दूसरी बार सांख्य की दृष्टि से बतलाया। दूसरी दृष्टि से इस विषय को बतलाते हुए भगवान् ने श्लोक २० में "सब कर्तृत्व प्रकृति का और सब भोक्तृत्व पुरुष का" वर्णन किया, और फिर श्लोक २१ में यह प्रतिपादन किया कि "पुरुष प्रकृति में स्थित होकर ही प्रकृति से उत्पन्न हुए गुणों को भोगता है, और पुरुष की इन गुणों में आसक्ति ही अच्छी-बुरी योनियों में जन्म दिलाने का कारण होती है।" इससे केवल इतना ही स्पष्ट हुआ कि पुरुष का प्रकृति के गुणों में फँसना ही उसे अच्छा-बुरा जन्म दिलाता है और उनमें न फँसना ही उसे जन्म-मरण से रहित कर देता है। पर सब कर्तृत्व प्रकृति का क्यों और कैसे है? प्रकृति के गुण क्या और कितने हैं? उनमें पुरुष का लगाव क्या और कैसे है? अर्थात् उस असङ्ग को किस प्रकार सङ्ग लग जाता है? प्रकृति-पुरुष का यह संयोग क्या है? उस संयोग से क्या-क्या फल मिलता है, गुण-युक्त पुरुष का क्या-क्या लक्षण होता है? पुनः इन गुणों से छुटकारा कैसे वा किसको मिलता है? और गुणों से मुक्त अर्थात् गुणातीत पुरुष के क्या-क्या लक्षण हैं? और उन लक्षणों का क्या-क्या फल होता है? इस प्रकार विस्तारपूर्वक यह विषय वहाँ नहीं वर्णन हो सका। अब कृपालु भगवान् इस विस्तार से उक्त विषय को वर्णन करने लगे हैं जिस पर चौदहवाँ

अध्याय आरम्भ होता है। इस सविस्तर विचार के सुनने में अर्जुन की रुचि बढ़ाने के लिये पहले भगवान् इसकी स्तुति दो श्लोकों में करते हैं—

श्रीभगवानुवाच—

परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम् ।
यज्ज्ञात्वा मुनयः सर्वे परां सिद्धिमितो गताः ॥ १ ॥

परं, भूयः, प्रवक्ष्यामि, ज्ञानानां, ज्ञानं, उत्तमं	फिर सारे ज्ञानों में से परम और उत्तम ज्ञान को मैं कहता हूँ	यत्, ज्ञात्वा, मुनयः, सर्वे, परां, सिद्धिं, इतः, गताः	जिसको जानकर सारे मुनि यहाँ से परम सिद्धि को प्राप्त हुए हैं

अन्वयार्थ—श्रीभगवान् बोले—फिर मैं सारे ज्ञानों में से परम और उत्तम ज्ञान को कहता हूँ, जिसको जानकर सब मुनि यहाँ से परम सिद्धि को प्राप्त हुए हैं ॥ १ ॥

व्याख्या—श्रीभगवान् बोले कि हे अर्जुन! अति उत्कृष्ट वस्तु को प्रतिपादन करनेवाला होने से परम-रूप और अति उत्तम फल को प्रतिपादन करनेवाला होने से उत्तम-रूप जो ज्ञान है, जिसको जानकर सारे मुनि लोग इस मृत्युलोक से परम सिद्धि (मोक्ष) को प्राप्त हुए हैं, उस सब ज्ञानों में से परम उत्कृष्ट और श्रेष्ठ ज्ञान को मैं अब पुनः तुझसे कहता हूँ, अर्थात् पहले यद्यपि मैंने उसी ज्ञान को अनेक प्रकार से संक्षिप्त या सविस्तर वर्णन किया है, पर अब मैं तेरे कल्याणार्थ उसको विलक्षण रीति से पुनः वर्णन करने लगा हूँ, तू उसको ध्यान देकर सुन ॥ १ ॥

और—

इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः ।
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च ॥ २ ॥

इदं, ज्ञानं, उपाश्रित्य	इस ज्ञान का आश्रय लेकर	सर्गे, अपि, न, उपजायन्ते	सृष्टिकाल में भी न उत्पन्न होते हैं
मम, साधर्म्यं, आगताः	मेरे साधर्म्य को प्राप्त हुए	प्रलये, न, व्यथन्ति, च	और न प्रलय में पीड़ित होते हैं

अन्वयार्थ—इस ज्ञान का आश्रय करके मेरे साधर्म्य * को प्राप्त हुए (मुनिजन) सृष्टि-काल में भी उत्पन्न नहीं होते और न प्रलय-काल में पीड़ित † होते हैं ॥ २ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! इस परम उत्कृष्ट व सर्वोत्तम ज्ञान का सहारा लेकर, अर्थात् इसका अनुष्ठान करके मुनीश्वर लोग मेरे साधर्म्य अर्थात् मेरे स्वभाव, धर्म या स्वरूप को प्राप्त होते हैं, जिससे फिर वे न सृष्टि की उत्पत्ति-समय प्रकृति के वश होकर उत्पन्न होते हैं और न सृष्टि के प्रलय

---

* साधर्म्य का अर्थ एक-दो टीकाकारों ने मेरे समान स्वभाव या धर्मवाले किया है। ये अर्थ तब युक्त हो सकते थे यदि भगवान् मुक्त पुरुष को अपना स्वरूप न मानते होते, उसे केवल अपने समान अन्य व्यक्ति समझते। पर भगवान् मुक्त पुरुष में और अपने में अथवा जीव-ईश्वर में वास्तव में न कोई भेद मानते हैं और न भेद प्रतिपादन करते हैं, अतएव साधर्म्य के अर्थ मेरा ही स्वरूप, मेरा ही धर्म वा स्वभाव अथवा मुझ परमेश्वर के निर्गुण स्वरूप के साथ अत्यन्त अभेदता ही ठीक बैठते हैं, इतर नहीं।

† नाश नहीं होते हैं (श्रीमधुसूदन स्वामी)। व्यथा को प्राप्त नहीं होते हैं अर्थात् अपने स्वरूप से च्युत नहीं होते हैं। (श्रीशङ्कराचार्य)

(नाश) के समय किञ्चित् पीड़ा को प्राप्त होते हैं, अर्थात् न स्वरूप से च्युत होते हैं और न नाश या लय को ही प्राप्त होते हैं। तात्पर्य यह है कि जैसे यज्ञादि कर्मों के द्वारा जो कल्प पर्यन्त मुक्ति होती है जिसको पाकर मुक्त पुरुष सृष्टि के आदि (उत्पत्ति-काल अर्थात् दूसरे कल्प के आरम्भ) में पुनः उत्पन्न होता है, वैसी मुक्ति को इस उत्कृष्ट ज्ञान का अनुष्ठान करनेवाले मुनिजन प्राप्त नहीं होते, बल्कि वे तो कैवल्य मुक्ति-रूप परम सिद्धि को प्राप्त होते हैं जिससे सृष्टि-काल में भी अर्थात् हिरण्यगर्भादि के उत्पन्न हुए भी वे कल्प पर्यन्त मुक्तिवालों के समान उत्पन्न नहीं होते और न प्रलय-काल में विनष्ट होते हैं, बल्कि शुद्ध सच्चिदानन्द परमात्म-स्वरूप हुए अमर हो जाते हैं, और सृष्टि का सर्ग तथा प्रलय दोनों उनको स्पर्श तक नहीं करते ॥ २ ॥

सम्बन्ध—(१) इस प्रकार ज्ञान की प्रशंसा से अर्जुन की उसके सुनने में रुचि उत्पन्न करके भगवान् अब उक्त क्रमानुसार 'प्रकृति स्वयं क्या है' और 'इस जगत् को कैसे उत्पन्न करती है' इसे निरूपण करते हैं—

अथवा (२) अर्जुन की सुनने में रुचि उत्पन्न करने के बाद अब भगवान् यह दर्शाने लगे हैं कि इस सृष्टि को किस प्रकार मैं उत्पन्न करता हूँ—

अथवा (३) सुनने में अर्जुन की रुचि उत्पन्न कर लेने के बाद भगवान् अब यह स्पष्ट करते हैं कि एक होते हुए भी त्रिगुणात्मिका प्रकृति मुझे अनेक देह-रूपी पाशों में कैसे बाँध लेती है और क्षेत्र के संयोग से मैं इस जगत् को कैसे उत्पन्न करता हूँ—*

---

* श्रीतिलक महाराज इसका सम्बन्ध यों लिखते हैं—"यह (दो श्लोकों में) तो हुई प्रस्तावना। अब पहले बतलाते हैं कि प्रकृति मेरा ही स्वरूप है, फिर सांख्यों के द्वैत को अलग कर, वेदांत-शास्त्र के अनुकूल यह निरूपण करते हैं कि प्रकृति के सत्त्व, रज और तम इन तीन गुणों से सृष्टि के नाना प्रकार के व्यक्त पदार्थ किस प्रकार निर्मित होते हैं—

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम् ।
सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ॥ ३ ॥

मम, योनिः, महद्, ब्रह्म	मेरी योनि महद्-ब्रह्म है	सम्भवः, सर्व-भूतानां, ततः, भवति, भारत	हे अर्जुन ! उससे सारे भूतों की उत्पत्ति होती है
तस्मिन्, गर्भं, दधामि, अहं	उसमें मैं गर्भ धारण करता हूँ		

अन्वयार्थ—हे अर्जुन ! मेरी योनि महद्ब्रह्म है, उसमें मैं गर्भ धारण करता हूँ, उससे सारे भूतों की उत्पत्ति होती है ॥ ३ ॥

व्याख्या—हे भरतवंशोत्पन्न अर्जुन ! यह जो आकाश से भी अधिक व्यापक होने के कारण तथा समस्त कार्यों की उत्पत्ति और वृद्धि का हेतु होने से अथवा ब्रह्म का उपाधि-रूप होने से महद्ब्रह्म कहलाता है, और जो अविद्या, अज्ञान, अव्याकृत, प्रकृति और त्रिगुणात्मिका माया आदि नामों से भी कहा जाता है, यह महद्ब्रह्म मेरी योनि है, अर्थात् गर्भाधान का स्थान, सब भूतों का उत्पत्ति-स्थान, अथवा सबका कारण-रूप बीज डालने वा धारण करने का स्थान है। और उस योनि में मैं गर्भ धारण करता हूँ, अर्थात् सब भूतों की उत्पत्ति का प्रथम बीज जो (एकोऽहं बहुस्यां प्रजायेय, इस प्रकार का) ईश्वर का सङ्कल्प है, उस सङ्कल्प-रूपी बीज को मैं इस प्रकृति-रूपी योनि में डालता हूँ। फिर इससे ही हिरण्यगर्भादि सर्वभूतों की उत्पत्ति होती है, विना मेरे बीज डाले ये उत्पन्न नहीं होते ॥ ३ ॥

सम्बन्ध—(१) उक्त कथन के आशय को भगवान् अब और स्पष्ट करते हैं—

अथवा (२) जब भिन्न-भिन्न मूर्तियों की भिन्न-भिन्न योनियाँ देखने में

आती हैं, तो अकेली महद्ब्रह्म-रूपी योनि ही सबका कारण कैसे हो सकती है ? इस संशय की भगवान् अब निवृत्ति करते हैं—

अथवा (२) न केवल एक सृष्टि के आरम्भ में ही मेरे इस प्रकृति-रूपी योनि में बीज डालने से भूतों की उत्पत्ति होती है, बल्कि जब कभी भी कल्प के आरम्भ में सृष्टि उत्पन्न होती है, तब-तब इसी प्रकार से होती है, इसे भगवान् अब स्पष्ट करते हैं—

सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः सम्भवन्ति याः ।
तासां ब्रह्ममहद्योनिरहं बीजप्रदः पिता ॥ ४ ॥

सर्व-योनिषु, कौन्तेय, मूर्तयः, सम्भवन्ति, याः	हे अर्जुन ! सब योनियों में जो मूर्तियाँ उत्पन्न होती हैं	तासां, ब्रह्म, महद्, योनिः	उन सबकी योनि महद् ब्रह्म है
		अहं, बीज-प्रदः, पिता	मैं बीज-दाता पिता हूँ

अन्वयार्थ—हे अर्जुन ! सब योनियों में जो मूर्तियाँ उत्पन्न होती हैं, उन सबकी योनि महद्ब्रह्म है, और (उसमें) बीजदाता पिता मैं हूँ ॥ ४ ॥

व्याख्या—हे कुन्ती-पुत्र अर्जुन ! देव, पितर, मनुष्य, पशु और मृग इत्यादि सर्व प्रकार की योनियों में जितनी भी मूर्तियाँ उत्पन्न होती हैं, अथवा जो-जो जरायुज, अण्डज, स्वेदज, उद्भिज्ज, इन भेदों से नाना प्रकार के आकारवाले शरीर उत्पन्न होते हैं, उन सब योनियों का मूल वा उपादान कारण यह माया वा प्रकृति-रूपी महद्ब्रह्म ही है, इसलिये यह (प्रकृति वा माया) सबकी माता है। और इस माता-रूपी योनि में सर्व नाम-रूप की उत्पत्ति का बीज डालनेवाला (गर्भाधान करनेवाला) सबका पिता मैं हूँ ॥ ४ ॥

सम्बन्ध—(१) अब इस महद्ब्रह्म-रूपी प्रकृति के गुण और उनके स्वभाव भगवान् वर्णन करते हैं—

अथवा (२) प्रकृति-पुरुष वा क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ के संयोग का रहस्य बताकर अब भगवान् बंधन का रहस्य बताने लगे हैं—

अथवा (३) ईश्वर को न अङ्गीकार करनेवाले निरीश्वरवादी सांख्य का खण्डन करके क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ (प्रकृति-पुरुष) के संयोग को भगवान् ने अपने परमात्म-स्वरूप के अधीन निरूपण किया, अब 'गुण कितने हैं', 'किस गुण में किस प्रकार से सङ्ग होता है', और 'वे गुण किस प्रकार से इस पुरुष को बन्धायमान करते हैं', इस सारे अर्थ को भगवान् आगे चौदहवें श्लोक तक निरूपण करते हैं—

सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसम्भवाः ।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम् ॥ ५ ॥

सत्त्वं, रजः, तमः, इति, गुणाः, प्रकृति-सम्भवाः	सत्त्व, रज, तम, प्रकृति से उत्पन्न हुए ये गुण	निबध्नन्ति, महाबाहो, देहे, देहिनं, अव्ययम्	हे अर्जुन ! देह में (इस) निर्विकार देही को बाँधते हैं

अन्वयार्थ—हे अर्जुन ! प्रकृति से उत्पन्न हुए ये सत्त्व, रज, तम गुण देह में निर्विकार देही को बाँधते हैं ॥ ५ ॥

व्याख्या—हे बड़ी भुजाओंवाले अर्जुन ! सत्त्व, रज, तम, ये तीन गुण प्रकृति के हैं, पर चैतन्य पुरुष के अधीन होने से परतन्त्र हैं, स्वतन्त्र नहीं। अर्थात् इन तीनों गुणों की साम्यावस्था का नाम प्रकृति है, जब इनमें विषमता उत्पन्न होती है, तो ये प्रकृति से प्रकट होते हैं, अतएव ये प्रकृति से उत्पन्न हुए कहलाते हैं। प्रकृति के ये तीन गुण इस देह में जो निर्विकार और अविनाशी देहधारी जीव है, उसे बाँधते हैं। तात्पर्य यह है कि अपने स्वामी (ईश्वर) का आश्रय लेकर यह प्रकृति सत्त्व,

रज, तम-रूपी तीन गुणों से प्रकट होकर इस देह में निर्विकार देही (जीवात्मा) को बाँधती है, अर्थात् उसे अपने स्वरूप से च्युत करके अपने मोहिनी गुणों में आसक्त कर लेती है ॥ ५ ॥ ❀

सम्बन्ध—(१) अब क्रमशः तीनों गुणों का लक्षण और उनसे बँध जाने का प्रकार भगवान् आगे आठ श्लोकों में वर्णन करते हैं, पहले सत्त्वगुण को कहते हैं—

अथवा (२) सत्त्व, रज, तम, इन तीन गुणों से देहधारी का बंधायमान होना कहकर अब भगवान् यह दर्शाने लगे हैं कि कौन-सा गुण किसके संग से इसे बाँधता है—

तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात् प्रकाशकमनामयम् ।
सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघ ॥ ६ ॥

तत्र, सत्त्वं, निर्मलत्वात्, प्रकाशकं, अनामयम्	उनमें सत्त्व निर्मल होने से प्रकाशक और रोग-रहित वा निर्दोष है	सुख - सङ्गेन, बध्नाति, ज्ञान - सङ्गेन, च, अनघ	हे अर्जुन ! सुख और ज्ञान के सङ्ग से वह (सत्त्व इसे) बाँधता है

अन्वयार्थ—उनमें सत्त्वगुण निर्मल होने से प्रकाशक और रोग-रहित है। हे अर्जुन ! सुख और ज्ञान के सङ्ग से (वह इस देही को) बाँधता है ॥ ६ ॥

❀ बाँधने या आसक्त करने से आशय यह नहीं है कि प्रकृति या उसके गुण उसके स्वरूप में कोई विकार उत्पन्न कर देते हैं। अपने स्वरूप से तो यह जीव इन गुणों में आया हुआ भी निर्विकार और अविनाशी ही रहता है, परन्तु इनमें मोहित वा आसक्त होने के कारण वह अपने आपको नाशवान् या विकारी मानता हुआ प्रतीत होता है। इस प्रकार ये गुण जीव को अपना स्वरूप भुलाते हुए उसे नाशवान् और विकारी दिखलाते हैं।

व्याख्या—हे निष्पाप वा सर्व व्यसनों से रहित अर्जुन ! उक्त तीन गुणों में से जो सत्त्वगुण है, वह स्वच्छ-स्वभाव होने से प्रकाशक है, अर्थात् चैतन्यात्मा पर तमोगुण-कृत आवरण का नाश करनेवाला है, अथवा प्रकाश डालनेवाला है, या अपने अधिष्ठान-स्वरूप आत्मानुभव में हेतु होता है, और रोग-रहित वा निर्दोष है, अर्थात् सर्व उपद्रवों से रहित, शान्त-स्वरूप वा सुख का देनेवाला है। अपने प्रकाश-रूपी ज्ञान तथा आरोग्य-रूपी सुख के सङ्ग से यह सत्त्वगुण इस देहधारी (जीवात्मा) को इस देह में बन्धायमान करता है। तात्पर्य यह कि सत्त्वगुण की प्रधानता से बना हुआ जो यह अन्तःकरण है, उसकी जो सुख और ज्ञान-रूपी वृत्तियाँ हैं, उन वृत्तियों में आसक्त होने से जीव अपने आनन्द-स्वरूप और ज्ञान-स्वरूप को भूल जाता है, और उन वृत्तियों के सम्बन्ध से "मैं सुखी हूँ", "मैं जानता हूँ", इस प्रकार के अध्यास से युक्त होता है, जिससे विकारी और नाशवान् प्रतीत होता है ॥ ६ ॥

सम्बन्ध—अब भगवान् रजोगुण के लक्षण इत्यादि निरूपण करते हैं—

रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासङ्गसमुद्भवम् ।
तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसङ्गेन देहिनम् ॥ ७ ॥

रजः, राग-आत्मकं, विद्धि, तृष्णा-सङ्ग-समुद्भवम्	रज को राग के स्वभाववाला और तृष्णा-सङ्ग का उत्पत्ति-स्थान जान	तत्, निबध्नाति, कौन्तेय, कर्म-संगेन, देहिनं	हे अर्जुन ! वह कर्म के सङ्ग से इस देहधारी को बाँधता है

अन्वयार्थ—हे अर्जुन ! रजोगुण को तू रागात्मक और तृष्णा-सङ्ग का उत्पत्ति-स्थान समझ। वह इस देही को कर्म के सङ्ग से बाँधता है ॥ ७ ॥

व्याख्या—हे कुन्ती-पुत्र अर्जुन ! तू यह समझ कि उक्त तीन गुणों

में से जो रजोगुण है, वह रागात्मक अर्थात् राग के स्वभाववाला वा राग-रूप है, अर्थात् जिस समय स्त्री, मित्र आदि पदार्थों का श्रवण, स्मरण और दर्शन आदि के कारण अन्तःकरण की वृत्ति में स्नेह उत्पन्न होता है और मनोरञ्जन होने लगता है, उसी अवस्था को रागात्मक कहते हैं, और रजोगुण का यही स्वरूप है ; और ऐसे ही रजोगुण तृष्णा-सङ्ग का उत्पत्ति-स्थान है, अर्थात् वह इच्छा वा तृष्णा और आसक्ति का पुतला है, अर्थात् जब रजोगुण का दौरदौरा होता है, तो जो-जो पदार्थ देखने-सुनने में आते हैं, उन सबके पाने की अभिलाषा होने लगती है, मन में ऐसे सङ्कल्प-विकल्प उत्पन्न होने लगते हैं कि अमुक पदार्थ के मिलने से मुझे यह सुख होगा, इत्यादि। और जब वह पदार्थ मिल जाता है, तब उसमें आसक्ति वा लगन उत्पन्न हो जाती है, फिर उसी पदार्थ के वियोग से दुःख उत्पन्न हो आता है, इस प्रकार यह रजोगुण तृष्णा और सङ्ग अर्थात् आसक्ति की उत्पत्ति का स्थान, मूल वा कारण है। और इसी तृष्णा, प्रीति, आसक्ति और अनुराग के कारण यह रजोगुण इस देहधारी जीव को (जो अपने स्वरूप से चाहे अकर्ता है) लोक-परलोक के फल दर्शाकर उन्हीं के निमित्त कर्मों में नियुक्त करता है, जिस कर्म के लगाव से जीव मानों बन्धायमान हो जाता है ॥ ७ ॥

सम्बन्ध—अब भगवान् तमोगुण के लक्षण इत्यादि निरूपण करते हैं—

तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम् ।
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत ॥ ८ ॥

तमः, तु, अज्ञान-जं, विद्धि, मोहनं, सर्व-देहिनां	किन्तु तमोगुण तू अज्ञान-जन्य और सब देहधारियों का मोहनेवाला जान	प्रमाद-आलस्य-निद्राभिः, तत्, निबध्नाति, भारत	हे अर्जुन ! प्रमाद, आलस्य, निद्रा से वह बाँधता है

अन्वयार्थ—किन्तु हे अर्जुन ! तमोगुण को तू अज्ञान-जन्य और सब देह-धारियों का मोहनेवाला जान। और प्रमाद, आलस्य तथा निद्रा से वह (इस देही) को बाँधता है ॥ ८ ॥

व्याख्या—परन्तु हे भरत-पुत्र अर्जुन ! तू यह समझ कि उक्त तीनों गुणों में से जो तमोगुण है, वह आवरण-शक्ति-रूप अज्ञान से उत्पन्न हुआ है, जिससे वह सब देहधारियों को मोह लेता अर्थात् भ्रान्ति में ला डालता है। और इसीलिये यह (तमोगुण) उस देही को प्रमाद (वस्तु के विवेक करने का असामर्थ्य), आलस्य (सुस्ती अथवा प्रवृत्ति करने का असामर्थ्य) और निद्रा (तमोगुण को अवलम्बन करनेवाली लय-रूपी वृत्ति) इन तीनों से बन्धायमान कर देता है ॥ ८ ॥

सम्बन्ध—अब जिस-जिस कार्य में जिस-जिस गुण की उत्कर्षता वा अधिक सामर्थ्य है, उसे भगवान् उक्त विषय का उपसंहार-रूप से वर्णन करते हैं—

सत्त्वं सुखे संजयति रजः कर्मणि भारत ।
ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे संजयत्युत ॥ ९ ॥

सत्त्वं, सुखे, सञ्जयति, रजः, कर्मणि, भारत	हे अर्जुन ! सतोगुण सुख में और रजोगुण कर्म में लगाता है	ज्ञानं, आवृत्य, तु, तमः, प्रमादे, सञ्जयति, उत	परन्तु तमोगुण ज्ञान को ढककर फिर प्रमाद में लगाता है

अन्वयार्थ—हे अर्जुन ! सतोगुण सुख में और रजोगुण कर्म में लगाता है, और तमोगुण ज्ञान को ढककर फिर प्रमाद में लगाता है ॥ ९ ॥

व्याख्या—हे भरत की सन्तान अर्जुन ! अब मैं पूर्व कहे हुए गुणों के व्यापार को संक्षेप से कहता हूँ, तू ध्यान से सुन। सत्त्वगुण का जब

आविर्भाव होता है, तो अन्तःकरण में सुख की वृत्ति प्रकट होती है, जिस वृत्ति के साथ देही का सम्बन्ध या दृढ़ सङ्ग (लगाव) होने से उसमें सुख का अध्यास होता है, अथवा प्राणी अपने निजानन्द को छोड़कर (या भूलकर) उसमें आसक्त हो जाता है ; इस प्रकार सत्त्वगुण मनुष्य को सुख में जोड़ता या आसक्ति-युक्त करता है। ऐसे ही रजोगुण कर्म अर्थात् प्रवृत्ति में जोड़ता वा लगाता है, और तमोगुण प्रकाश-रूपी ज्ञान को बादल के समान ढककर, अथवा महात्माओं के सत्सङ्ग से उत्पन्न हुए ज्ञान को अपने मोह वा अविद्या-रूप आवरण से ढककर फिर भूल या अविवेक-रूपी प्रमाद में लगाता वा फँसाता है। अथवा दूसरे शब्दों में ऐसे भी व्याख्या हो सकती है कि सुख में सत्त्वगुण की जीत वा प्रधानता होती है, कर्म में रजोगुण की जीत वा प्रधानता होती है, और प्रमाद वा भूल में अज्ञान को ढकनेवाले तमोगुण की जीत वा प्रधानता होती है ॥ ६ ॥ *

सम्बन्ध—(१) कौन गुण किस-किस समय अपना कार्य दिखलाता है, इसे भगवान् अब निरूपण करते हैं—

---

* "सत्त्व, रज और तम तीनों गुणों के ये पृथक् लक्षण बतलाये गये हैं, किन्तु ये गुण पृथक्-पृथक् कभी भी नहीं रहते, तीनों सदैव एकत्र रहा करते हैं। उदाहरणार्थ, कोई भी भला काम करना यद्यपि सत्त्व का लक्षण है, तथापि भले काम को करने की प्रवृत्ति होना रज का धर्म है ; इस कारण सात्त्विक स्वभाव में भी थोड़े-से रज का मिश्रण सदैव रहता ही है। इसी से अनुगीता में इन गुणों का इस प्रकार मिथुनात्मक वर्णन है कि तम का जोड़ा सत्त्व है, और सत्त्व का जोड़ा रज है (म० भा० अश्व० ३६); और कहा है कि इनके अन्योन्य अर्थात् पारस्परिक आश्रय से अथवा झगड़े से सृष्टि के सब पदार्थ बनते हैं। अब पहले इसी तत्त्व को बतलाकर फिर सात्त्विक, राजस और तामस स्वभाव के लक्षण बतलाते हैं।" (श्रीतिलक महाराज)

अथवा (२) ये तीनों गुण उपर्युक्त कार्य कब करते हैं, इसे भगवान् अब दर्शाते हैं—

अथवा (३) उक्त कथन को भगवान् अन्य रूप से अब स्पष्ट करते हैं—

रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत।
रजः सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा॥१०॥

रजः, तमः, च, अभिभूय, सत्त्वं, भवति, भारत	हे अर्जुन! रज और तम को दबाकर सतोगुण होता है	रजः, सत्त्वं, तमः, च, एव	ऐसे ही रजोगुण सत्त्व और तम को (दबाकर)
		तमः, सत्त्वं, रजः, तथा	और तमोगुण सत्त्व और रज को (दबाकर)

अन्वयार्थ—हे अर्जुन! रज और तम को दबाकर सत्त्वगुण, सत्त्व और तम को दबाकर रजोगुण, और ऐसे ही सत्त्व और रज को दबाकर तमोगुण होता है॥ १०॥

व्याख्या—हे भरत-सन्तान अर्जुन! रजोगुण और सतोगुण के कम होने पर सत्त्वगुण प्रकट होकर अपना प्रभाव दर्शाता है; अथवा रजोगुण को तथा तमोगुण को जब सत्त्वगुण दबा लेता है, उस समय सत्त्वगुण आविर्भाव को प्राप्त होकर अन्तःकरण की सुख-रूप तथा ज्ञान-रूप वृत्तियों को उत्पन्न करने का कार्य करता है, जिसमें फिर देहधारी मोहित हुआ फँस जाता है। और जब सत्त्वगुण और तमोगुण के कम होने पर अथवा उनको दबा लेने से रजोगुण प्रकट होता है, तो वह तृष्णादि को उत्पन्न करने का अथवा मनुष्य को प्रवृत्ति में लगाने वा फँसाने का कार्य करता है। ऐसे ही तमोगुण जब सत्त्वगुण तथा रजोगुण के कम होने पर या दबाये जाने पर प्रकट होता है, तो उस समय वह ज्ञान को ढकने का या मनुष्य को प्रमाद में आसक्त करने का अपना कार्य करता है॥ १०॥

सम्बन्ध—अब जिस समय जो गुण बढ़ा हुआ होता है, उस समय जो उसके पहचानने के चिह्न वा लक्षण होते हैं, उसे भगवान् अलग-अलग तीन श्लोकों में निरूपण करते हैं—

सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन् प्रकाश उपजायते ।
ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्त्वमित्युत ।।११।।

सर्व-द्वारेषु, देहे, अस्मिन्, प्रकाशः, उपजायते, ज्ञानं, यदा	इस देह के सब द्वारों में जब ज्ञान-रूप प्रकाश उपजता है	तदा, विद्यात्, विवृद्धं, सत्त्वं, इति, उत	तब ऐसा जानो कि सत्त्वगुण बढ़ा हुआ है

अन्वयार्थ—जब इस देह के सारे द्वारों में ज्ञान-रूप प्रकाश उपजता है, तब ऐसा समझो कि सत्त्वगुण बढ़ा हुआ है ॥ ११ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! देहधारी के सुख-दुःख भोगने का स्थान-रूप जो यह देह है, और उसमें जो शब्दादि विषयों की उपलब्धि का साधन-रूप श्रोत्रादि इन्द्रिय-रूप द्वार हैं, इन सब द्वारों में जब ज्ञान-रूपी प्रकाश प्रकट होता है; अर्थात् जैसे दीपक घटादि पदार्थों पर पड़ता उनके अन्धकार-रूपी आवरण को दूर करता उन पदार्थों को प्रकाशता है, वैसे अन्तःकरण से वृत्ति निकलकर जब बाहर के पदार्थों पर पड़ती उनके अन्धकार-रूपी आवरण को दूर करती है, जिससे उनका ठीक-ठीक ज्ञान प्राप्त हो जाता है ; ऐसा ज्ञान-रूप प्रकाश इस देह के सब द्वारों अर्थात् ज्ञान-इन्द्रियों से जब प्रकट होता है, तब समझ लेना चाहिए कि सत्त्वगुण की अब प्रधानता है ॥ ११ ॥

और—

लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा ।
रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ ॥ १२ ॥

लोभः, प्रवृत्तिः, आरम्भः, कर्मणां, अशमः, स्पृहा	लोभ, प्रवृत्ति, कर्मों का आरंभ, अशान्ति, इच्छा	रजसि, एतानि, जायन्ते, वि द्धे, भरत-ऋषभ	हे भरतों में श्रेष्ठ (अर्जुन)! ये सब रजोगुण की वृद्धि में उत्पन्न होते हैं

अन्वयार्थ—हे अर्जुन ! लोभ, प्रवृत्ति, कर्मों का आरम्भ, अशान्ति और इच्छा, ये सब रजोगुण की वृद्धि में उत्पन्न होते हैं ॥ १२ ॥

व्याख्या—हे भरतों में श्रेष्ठ अर्जुन! जिस समय लोभ (धन की अधिक-से-अधिक अभिलाषा, अथवा विषय-प्राप्ति पर भी उसकी न निवृत्त हुई इच्छा), प्रवृत्ति (कामों में दिन-रात लगे रहना), नये-नये कर्मों का आरंभ करना, अशान्ति (अर्थात् नित्य बेचैनी वा भटकन अथवा चपलता), और देखी या सुनी वस्तुओं को प्राप्त करने की तीव्र इच्छा, इतने सब लिंग (चिह्न वा लक्षण) किसी प्राणी में प्रकट होते दिखाई दें, तो समझ लेना चाहिए कि उस काल उस प्राणी में रजोगुण की प्रधानता है ॥ १२ ॥

और—

अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च ।
तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन ॥ १३ ॥

अप्रकाशः, अप्रवृत्तिः, च	अप्रकाश और अप्रवृत्ति	तमसि, एतानि, जायन्ते, विवृद्धे, कुरुनन्दन	हे अर्जुन! ये सब तमोगुण की वृद्धि में उत्पन्न होते हैं
प्रमादः, मोहः, एव, च	ऐसे ही मोह और प्रमाद		

अन्वयार्थ--हे अर्जुन ! अप्रकाश, अप्रवृत्ति, प्रमाद और ऐसे ही मोह, ये सब तमोगुण की वृद्धि में उत्पन्न होते हैं ॥ १३ ॥

व्याख्या—हे कुरु-वंश की वृद्धि करनेवाले, अथवा हे कुरु-वंश को आनन्द देनेवाले, वा हे कुरु-कुल में उत्पन्न अर्जुन ! जिस काल में तमोगुण बढ़ा हुआ होता है, उस समय अप्रकाश (अज्ञान, अथवा गुरु और शास्त्र के उपस्थित रहते हुए भी समझने की नितान्त अयोग्यता), अप्रवृत्ति (किसी भी काम में प्रवृत्त होने की अरुचि, या यज्ञादि कर्मों में प्रवृत्त न होना), प्रमाद (भूल, अथवा निज कर्तव्य को छोड़कर जुआ आदि खेल खेलना) और मोह (मूढ़ता, उलटी समझ, बदतमीजी वा निद्रा इत्यादि), इतने चिह्न (लिङ्ग) मनुष्य में प्रकट हो आते हैं। पस, जब किसी में ये चिह्न दिखाई दें, तो समझ लेना चाहिए कि उसमें उस समय तमोगुण की प्रधानता है ॥ १३ ॥

सम्बन्ध—(१) अब मरण-काल में प्रत्येक गुण की अधिकता से जो-जो फल मिलता है, उसे भगवान् आगे दो श्लोकों में दर्शाते हैं—

अथवा (२) मनुष्य को जीवित-अवस्था में तीनों गुणों की अपनी-अपनी प्रधानतानुसार लक्षण दर्शाने के बाद अब भगवान् इन तीनों लक्षणों के प्रभाव से मनुष्य की मरने के बाद की गति का वर्णन आगे के दो श्लोकों में करते हैं—

अथवा (३) अब भगवान् उक्त तीन प्रकार के मनुष्यों की भिन्न-भिन्न गति बतलाते हैं—

अथवा (४) अब भगवान् मरण-काल में त्रिगुण के प्रभावानुसार मरणान्तर गति का रहस्य वर्णन करते हैं—

यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत् ।
तदोत्तमविदां लोकानमलान् प्रतिपद्यते ॥ १४ ॥

यदा, सत्त्वे, प्रवृद्धे, तु, प्रलयं, याति, देहभृत्	फिर जब सत्त्व की वृद्धि में देहधारी ! मृत्यु को प्राप्त होता है	तदा, उत्तम-विदां, लोकान्, अमलान्, प्रतिपद्यते	तब उत्तम जाननेवालों के निर्मल लोकों को वह प्राप्त होता है

अन्वयार्थ—फिर जब देहधारी सत्त्वगुण की वृद्धि में मृत्यु को प्राप्त होता है, तब हे अर्जुन ! वह उत्तम जाननेवालों के निर्मल लोकों को प्राप्त होता है ॥ १४ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! जब यह देहधारी अर्थात् देहाभिमानी जीव सत्त्वगुण की अधिकता में देह को त्यागता है, तो उत्तमवित् पुरुषों के निर्मल लोकों को प्राप्त होता है, अर्थात् हिरण्यगर्भादि उत्तम देवताओं के जाननेवाले वा उपासक लोग जो उत्तमवित् कहलाते हैं, उनके ब्रह्म-लोकादि निर्मल अर्थात् रज, तम-रूप मल से रहित लोकों को वह प्राप्त होता है ॥ १४ ॥

और—

रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसङ्गिषु जायते ।
तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते ॥१५॥

रजसि, प्रलयं, गत्वा, कर्म-सङ्गिषु, जायते	रजोगुण में मृत्यु को प्राप्त होकर कर्म-सङ्गियों में उत्पन्न होता है	तथा प्रलीनः, तमसि, मूढ-योनिषु, जायते	और तमोगुण में लीन हुआ मूढ़-योनियों में उत्पन्न होता है

अन्वयार्थ—रजोगुण में मृत्यु को प्राप्त होकर कर्म-सङ्गियों में उत्पन्न होता है, और तमोगुण में लीन हुआ मूढ़-योनियों में जन्म लेता है ॥ १५ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! वह देहधारी अथवा देहाभिमानी जीव जब रजोगुण की वृद्धि में देह त्यागता है, तो कर्म-सङ्गियों में उत्पन्न होता है, अर्थात् उन लोगों के घर में जन्म लेता है, जो काम्य-कर्म करनेवाले हैं, अथवा जो कर्म में वा कर्म-फलों में आसक्ति रखनेवाले हैं। और तमोगुण की वृद्धि में जो देह त्यागता है, वह पशु-पक्षी आदि मूढ़-योनियों में जाकर जन्म लेता है। इसलिये मनुष्य को चाहिए कि वह नित्य तमोगुण और रजोगुण के घटाने और सत्त्वगुण के बढ़ाने का यत्न करता रहे, जिससे बुरी योनियों में जाना न पड़े ॥ १५ ॥

सम्बन्ध—(१) अब उक्त गुणों से कृत-कर्मों का फल भगवान् निरूपण करते हैं—

अथवा (२) अब भगवान् उक्त श्लोकों के अर्थ का ही सार निरूपण करते हैं—

कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्त्विकं निर्मलं फलम् ।
रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम् ॥१६॥

कर्मणः, सुकृतस्य, आहुः, सात्त्विकं, निर्मलं, फलं	सात्त्विक कर्म का फल सतोगुणी और निर्मल कहते हैं	रजसः, तु, फलं, दुःखं	और रजोगुण का फल दुःख
		अज्ञानं, तमसः, फलं	तमोगुण का फल अज्ञान

अन्वयार्थ—ऐसा कहते हैं कि सात्त्विक कर्म का फल सतोगुणी और निर्मल है, राजोगुण का फल दुःख और तमोगुण का फल अज्ञान है ॥ १६ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! महर्षि लोग ऐसा कहते हैं कि पुण्य-रूप सात्त्विक कर्म का फल सत्त्वगुणी (सुख-रूप, अथवा रज और तम के मल से रहित) है। पाप-मिश्रित पुण्य-रूप अर्थात् रजोगुणी कर्म का फल

अपने कारण के अनुसार दुःख-रूप अर्थात् बहुत दुःखों से मिश्रित अल्प-सुख है। और तमोगुणी कर्म का फल, अर्थात् अधर्म-रूपी कर्म अथवा निद्रा, या आलस्य-रूपी कर्म का फल अज्ञान होता है ॥ १६ ॥

सम्बन्ध—(१) उक्त फल की विचित्रता में पूर्वोक्त हेतु को ही भगवान् अब कहते हैं—

अथवा (२) उक्त गुणों से क्या-क्या उत्पन्न होता है, इसे भगवान् पुनः स्पष्ट करते हैं—

अथवा (३) कर्मफल की अपेक्षा से तीनों गुणों का अपना-अपना कार्य भगवान् अब वर्णन करते हैं—

सत्त्वात्सञ्जायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च ।
प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च ॥ १७ ॥

सत्त्वात्, सञ्जायते, ज्ञानं, रजसः, लोभः, एव, च	सत्त्वगुण से ज्ञान और रजोगुण से लोभ ही उत्पन्न होता है	प्रमाद-मोहौ, तमसः, भवतः, अज्ञानं, एव, च	ऐसे ही तमोगुण से प्रमाद, मोह और अज्ञान होते हैं

अन्वयार्थ—सत्त्वगुण से ज्ञान उत्पन्न होता है, रजोगुण से लोभ, तमोगुण से प्रमाद, मोह और अज्ञान उत्पन्न होते हैं ॥ १७ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! श्रोत्रादि इन्द्रिय जिसके द्वार हैं, ऐसा शब्दादि विषयक ज्ञान अथवा सांसारिक वस्तुओं का यथार्थ ज्ञान केवल सतोगुण से उत्पन्न होता है, इसलिये इस प्रकाश-रूप ज्ञान के अनुसार सात्त्विक कर्म का फल सुख-रूप वा निर्मल होता है। रजोगुण से लोभ उत्पन्न होता है, जिस लोभ-रूपी तृष्णा की कभी तृप्ति न होने से दुःख-रूप फल ही मिलता है। इसलिये राजस कर्म का फल ऊपर दुःख-रूप वर्णन हुआ है।

और तमोगुण से प्रमाद, मोह और अज्ञान ही उत्पन्न होते हैं, इसलिये तामस कर्म का फल भी अज्ञान (अप्रकाश), कर्महीनता (अप्रवृत्ति), धोखा और भूल कहे गये हैं॥ १७॥

सम्बन्ध—(१) अब सत्त्वादि स्वभाववाले पुरुषों की गति स्थान-भेद से भगवान् वर्णन करते हैं—

अथवा (२) सत्त्वादि स्वभाववाले पुरुषों के पूर्वोक्त फल को अन्य रीति से भगवान् कथन करते हैं—

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः ।
जघन्यगुणवृत्तिस्था* अधो गच्छन्ति तामसाः॥ १८

ऊर्ध्वं, गच्छंति, सत्त्व-स्थाः, मध्ये, तिष्ठन्ति, राजसाः	सत्त्व में स्थित ऊपर को जाते हैं, रजोगुणी मध्य में ठहरते हैं	जघन्य-गुण-वृत्ति-स्थाः, अधः, गच्छन्ति, तामसाः	नीच गुणों की वृत्ति में स्थित तमोगुणी नीचे को जाते हैं

अन्वयार्थ—सत्त्वगुण में स्थित (पुरुष) ऊपर को जाते हैं, रजोगुणी मध्य में ठहरते हैं, और नीच गुणों की वृत्ति में स्थित तमोगुणी नीचे को जाते हैं॥ १८॥

व्याख्या—हे अर्जुन! जो लोग सत्त्वगुण की वृत्ति में स्थित हैं, अर्थात् जिनके विचार (ख़्याल), कर्म और ज्ञान सात्त्विक हैं, ऐसे सत्त्वगुणी पुरुष ऊपर को, अर्थात् ऊपर के ब्रह्मलोक पर्यंत देवादि लोकों को प्राप्त होते हैं। अर्थात् ज्ञान, कर्म की न्यूनाधिकता के कारण वे लोग ऊपर के लोकों में न्यूनाधिकतावाले देवताओं में उत्पन्न होते हैं। जो लोग रजोगुण की

* कुछ पुस्तकों में पाठ "जघन्यगुणवृत्तस्था" है, तब अर्थ होगा नीच गुणों के वृत्त में स्थित अथवा नीच गुणों के स्वभाव में प्रवृत्त।

वृत्ति में स्थित हैं, अर्थात् जिनका कर्म पुण्य-पाप से मिश्रित है, ऐसे लोभादि राजस कर्म में प्रवृत्त रजोगुणी पुरुष मध्य में ठहरते हैं, अर्थात् पितरलोक को जाते हैं, वा मृत्युलोक में मनुष्यों में ही उत्पन्न होते हैं। और जो नीच वृत्ति वा निकृष्ट गुणों के स्वभाववाले तमोगुणी पुरुष हैं, अर्थात् जो सत्त्व, रज, इन दोनों की अपेक्षा से निकृष्ट गुणों में प्रीति रखनेवाले तमोगुणी पुरुष हैं, वे अधोगति को प्राप्त होते हैं, अर्थात् पशु आदि नीच योनियों में जन्म लेते हैं। संक्षेप से यह कि सतोगुण के स्वभाववाले लोग ऊपर के लोकों को प्राप्त होते हैं, अर्थात् उत्तम गति पाते हैं; रजोगुण के स्वभाववाले लोग मृत्युलोक में मनुष्य-योनि को ही प्राप्त होते हैं; और तमोगुण के स्वभाववाले पशु-पक्षी, कीट-पतंग आदि निचली योनियों को प्राप्त होते हैं ॥ १८ ॥ ❀

❀ श्रीतिलक महाराज इस पर ऐसी व्याख्या करते हैं—"सांख्यकारिका में भी यह वर्णन है कि धार्मिक और पुण्यकर्म-कर्ता होने के कारण सत्त्वस्थ मनुष्य स्वर्ग पाता है और अधर्माचरण करके तामस पुरुष अधोगति पाता है (सां० का० ४४)। इसी प्रकार यह अठारहवाँ श्लोक अनुगोता के त्रिगुण-वर्णन में भी ज्यों-का-त्यों आया है (देखो म० भा० अश्व० ३९. १० ; और मनु० १२. ४०)। सात्त्विक कर्मों से स्वर्ग की प्राप्ति हो भले जावे, पर स्वर्ग-सुख है तो अनित्य ही ; इस कारण परम पुरुषार्थ की सिद्धि इससे नहीं होती है। सांख्यों का सिद्धान्त है कि इस परम पुरुषार्थ या मोक्ष की प्राप्ति के लिये उत्तम सात्त्विक स्थिति तो रहे ही ; इसके सिवा यह ज्ञान होना भी आवश्यक है कि प्रकृति अलग है और मैं (पुरुष) जुदा हूँ। सांख्य इसी को त्रिगुणातीत अवस्था कहते हैं। यद्यपि यह स्थिति सत्त्व, रज और तम तीनों गुणों से भी परे की है, तो भी यह सात्त्विक अवस्था की ही पराकाष्ठा है; इस कारण इसका समावेश सामान्यतः सात्त्विक वर्ग में ही किया जाता है, इसके लिये एक नया चौथा वर्ग बनाने की आवश्यकता नहीं है। परन्तु गीता को यह

सम्बन्ध—(१)"प्रकृति स्वयं क्या है, सब कर्तृत्व प्रकृति का क्यों और कैसे है, प्रकृति के गुण क्या और कितने हैं, उनमें पुरुष का लगाव क्या और कैसा है, उस संयोग से क्या-क्या फल मिलता है, गुणयुक्त पुरुष के क्या-क्या लक्षण हैं, और उन्हें उन लक्षणों के अनुसार क्या-क्या फल मिलता है ?" इतने क्रम का निरूपण तो भगवान् ने विस्तारपूर्वक कर दिया। अब इन गुणों से छुटकारा कैसे वा किसको मिलता है, और गुणातीत पुरुष के लक्षण क्या-क्या हैं इन दोनों के अर्थ का निरूपण भगवान् विस्तारपूर्वक इस अध्याय पर्यन्त करते हैं। पर इसके सुनने में रुचि बढ़ाने निमित्त पहले गुणातीत पुरुष की गति या फल का निरूपण करते हैं—

प्रकृति-पुरुषवाला सांख्यों का द्वैत मान्य नहीं, इसलिये सांख्यों के उक्त सिद्धान्त का गीता में इस प्रकार रूपान्तर हो जाता है कि प्रकृति और पुरुष से परे जो एक आत्म-स्वरूप परमेश्वर या परब्रह्म है, उस निर्गुण ब्रह्म को जो पहचान लेता है, उसे त्रिगुणातीत कहना चाहिए। यही अर्थ अगले श्लोकों में वर्णित है।"

श्रीज्ञानदेवजी अपने विचित्र ढङ्ग से इस श्लोक १८ की ऐसे व्याख्या करते हैं—"इस प्रकार जो सत्त्वाचरण करते रहते हैं, उन्हें देह छोड़ने पर स्वर्ग का लाभ होता है। वैसे ही जिनका जीवन और मृत्यु रजोगुण में ही होती है, वे मृत्युलोक में मनुष्य-जन्म पाते हैं। वहाँ एक ही देह-रूप थाली में सुख-दुःख-रूपी खिचड़ी खानी पड़ती है और मार्ग में बैठी हुई मृत्यु कभी नहीं टलती। उसी प्रकार तमोगुण में जो शरीर छोड़ते हैं, उन्हें नरक-भूमि की सनद मिलती है। सारांश, वस्तु की सत्ता से ये तीनों गुण सम्पूर्ण जगत् के कारण हैं। परन्तु वस्तु निज-स्वरूप से पूर्ण होती हुई निज को गुण-रूप समझकर गुणों के कार्यों का अनुकरण करती है। जैसे स्वप्न में बना हुआ राजा शत्रु की चढ़ाई देखता हुआ अपने में ही अपना जय या पराजय देखता है, वैसे ही स्वर्ग, मृत्यु और नरक गुणों की वृत्ति के भेद हैं। अन्यथा इस दृष्टि को छोड़ दो, तो सब केवल ब्रह्म ही है।"

अथवा (२) गुणों का स्वरूपादि बताकर अब उनसे उपराम होने का रहस्य भगवान् बताते हैं—

अथवा (३) किस प्रकार प्रकृति पुरुष को बाँधती है, इसे दर्शाकर अब भगवान् कैसे उससे छुटकारा होता है, इसे दर्शाने लगे हैं—

नान्यं गुणेभ्यः कर्त्तारं यदा द्रष्टाऽनुपश्यति ।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति ॥ १९॥

न, अन्यं, गुणेभ्यः, कर्त्तारं, यदा, द्रष्टा, अनुपश्यति	जब द्रष्टा गुणों से भिन्न कर्ता को नहीं देखता है	गुणेभ्यः, च, परं, वेत्ति	और गुणों से परे-वाले को जानता है
		मद्-भावं, सः, अधिगच्छति	वह मेरे भाव को प्राप्त होता है

अन्वयार्थ—जब द्रष्टा गुणों से भिन्न कर्ता को नहीं देखता है और गुणों से परेवाले को जानता है, (तब) वह मेरे भाव को प्राप्त होता है ॥ १९ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! जब द्रष्टा (विचारवान् पुरुष) ऐसे देखता है कि इन पूर्वोक्त तीनों गुणों से अतिरिक्त अन्य कोई भी कर्म का कर्ता नहीं है, बल्कि ये सत्त्वादि तीन गुण ही अन्तःकरण, शरीर, विषय इत्यादि भावों को प्राप्त हुए समस्त कर्मों के कर्ता होते हैं और देही को अपने से युक्त करके उसे कर्ता दर्शाते हैं, यद्यपि वास्तव में वह देही पूर्ण रूप से अकर्ता होता है। और इस प्रकार देखता हुआ जब वह इन गुणों से परे गुणातीत को, जो उनका साक्षी आत्मा है, जानता अर्थात् साक्षात्कार कर लेता है, तब वह विचारवान् (ज्ञानवान्) गुणों में आसक्त या बन्धायमान नहीं होता, बल्कि उनसे मुक्त हुआ, वह सीधा मेरे भाव, अर्थात् मेरे शुद्ध, सच्चिदानन्द स्वरूप को प्राप्त होता है। अर्थात् "ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति"—ब्रह्म का ज्ञाता ब्रह्म ही होता है, इस श्रुति के अनुसार वह

विचारवान् मेरे में लीन हुआ मैं (मेरा शुद्ध-स्वरूप अर्थात् ब्रह्म-स्वरूप) ही हो जाता है ॥ १९ ॥

सम्बन्ध—(१) अब भगवान् अपने भाव (मद्भाव) की प्राप्ति के अर्थ स्पष्ट करते हैं—

अथवा (२) तीनों गुणों से अतीत मनुष्य कैसे मोक्ष को प्राप्त है, उसे भगवान् अब दर्शाते हैं—

गुणानेतानतीत्य त्रीन्देही देहसमुद्भवान् ।
जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते ॥२०॥

गुणान्, एतान्, अतीत्य, त्रीन्, देही, देह-समुद्भवान्	देह के उत्पन्न करने-वाले इन तीनों गुणों को उलाँघकर देही	जन्म-मृत्यु-जरा-दुःखैः, विमुक्तः, अमृतं, अश्नुते	जन्म मृत्यु बुढ़ापा और दुःखों से विमुक्त हुआ अमृत को भोगता है

अन्वयार्थ—देह के उत्पन्न करनेवाले इन तीनों गुणों को उलाँघकर देही जन्म, मृत्यु, बुढ़ापा और दुःखों से विमुक्त हुआ अमृत भोगता है ॥ २० ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! जब यह देही (देहधारी जीव) प्रकृति के सत्त्व, रज और तम, इन तीन गुणों को, जो देह की उत्पत्ति के बीज-रूप हैं, उलाँघ जाता है, अर्थात् अतिक्रमण कर जाता वा पार टप जाता है, तो वह जन्म, मरण और बुढ़ापा के दुःखों से, अथवा जन्म, मरण, बुढ़ापा और समस्त आध्यात्मिक आदि दुःखों से छूटकर निजानंद-स्वरूप अमृत को भोगता है, और यह अमृत भोगना मेरे परम भाव ब्रह्मानन्द का पाना है ॥ २० ॥*

---

* वेदान्त में जिसे माया कहते हैं, उसी को सांख्य मतवाले त्रिगुणात्मक प्रकृति कहते हैं ; इसलिये त्रिगुणातीत होना ही माया से छूटकर परब्रह्म को

सम्बन्ध—"गुणों को उलाँघकर देही अमृत भोगता है।" ऐसा सुनकर, अर्जुन के चित्त में ऐसे गुणातीत पुरुष के लक्षण और आचारादि जानने की इच्छा हुई, जिससे वह इस प्रकार भगवान् से अब प्रश्न करता है—

अर्जुन उवाच—

कैर्लिङ्गैस्त्रीन्गुणानेतानतीतो भवति प्रभो।
किमाचारः कथं चैतांस्त्रीन् गुणानतिवर्त्तते ॥२१॥

कैः[1], लिङ्गैः[2], त्रीन्[4], गुणान्[5], एतान्[3], अतीतः[6], भवति	किन[1] लिङ्गों[2] से वह इन[3] तीनों[4] गुणों[5] को टपा[6] हुआ होता[7] है	प्रभो[1], किं[2], आचारः[3]	हे प्रभो[1]! किस[2] आचारवाला (वह होता है)
		कथं[2], च[1], एतान्[3], त्रीन्[4], गुणान्[5], अतिवर्त्तते[6]	और[1] कैसे[2] इन[3] तीन[4] गुणों[5] को टपता[6] है

अन्वयार्थ—अर्जुन बोला—हे प्रभो! किन लिङ्गों से वह इन तीन गुणों से पार टपा हुआ होता है, किस आचारवाला होता है, और कैसे वह इन तीनों गुणों को टपता है ॥ २१ ॥

व्याख्या—अर्जुन बोला—हे भगवन्! जो देहधारी जीव इन तीनों गुणों के पार टपा हुआ अर्थात् गुणातीत होता है, उसके क्या-क्या चिह्न हैं, अर्थात् किन-किन चिह्नों से पहचाना जाय कि वह गुणातीत है? और क्या उसका आचार होता है अर्थात् उसकी रहनी, सहनी अथवा चेष्टा कैसी होती है? और कैसे अर्थात् किन उपायों से वा किस प्रकार वह देहधारी इन तीनों गुणों के पार चला जाता है? ॥ २१ ॥

पहचान लेना है (गीता २. ४५), और इसी को ब्राह्मी अवस्था कहते हैं। (गीता २. ७२ । १८. ५३)। (श्रीतिलक महाराज)

सम्बन्ध—अर्जुन के प्रश्न का उत्तर भगवान् अब देते हैं—

श्रीभगवानुवाच—

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव ।
न द्वेष्टि सम्प्रवृत्तानि न निवृत्तानि कांक्षति ॥२२॥

प्रकाशं, च, प्रवृत्तिं, च, मोहं, एव, च, पाण्डव	हे अर्जुन! प्रकाश और प्रवृत्ति और ऐसे ही मोह	न, द्वेष्टि, सम्प्रवृत्तानि	(उनके) प्रवृत्त होने पर न द्वेष करता है
		न, निवृत्तानि, कांक्षति	न निवृत्त होने पर इच्छा करता है

अन्वयार्थ—श्रीभगवान् बोले—हे अर्जुन! प्रकाश, प्रवृत्ति और मोह के प्रवृत्त होने पर वह द्वेष नहीं करता है और (उनके) निवृत्त होने पर आकांक्षा नहीं करता है ॥ २२ ॥

व्याख्या—उत्तर में भगवान् बोले—हे पांडु-पुत्र अर्जुन! प्रकाश जो सत्त्वगुण का कार्य है, प्रवृत्ति जो रजोगुण का कार्य है और मोह जो तमोगुण का कार्य है, इन तीनों गुणों के कार्य-रूप प्रकाश, प्रवृत्ति और मोह जब भले प्रकार प्रवृत्त हो रहे हों, तो उनकी प्रवृत्ति से वह द्वेष नहीं करता, अर्थात् नफ़रत खाकर परे नहीं भागता, और जब ये न प्रवृत्त हों, तो उनकी निवृत्ति में ऐसी इच्छा नहीं करता कि यह निवृत्ति बनी रहे, बल्कि दोनों अवस्थाओं में वह समचित्त रहता है; ऐसा महापुरुष गुणातीत होता है। तात्पर्य यह है कि शरीर होते हुए उसमें गुणों के कार्य भी अवश्य होते रहते हैं। परन्तु जिसके राग-द्वेष निवृत्त हो गये हैं, अर्थात् जिसको प्रवृत्ति से द्वेष और निवृत्ति की आकांक्षा नहीं है, उसका चित्त ऐसा गम्भीर बन जाता है कि किसी भी गुण का कार्य चाहे अपने आप प्रवृत्त हो जाय, चाहे निवृत्त हो जाय, उसकी बला से,

उसे तो न किसी की चाह (इच्छा) होती है और न किसी से नफ़रत (द्वेष)। ऐसे चिह्नोंवाला पुरुष गुणातीत होता है ॥ २२ ॥

सम्बन्ध—अब गुणातीत का आचार भगवान् वर्णन करते हैं—

उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते ।
गुणा वर्त्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेङ्गते ॥२३॥

समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः ।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः॥२४॥

मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः ।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते ॥२५॥

उदासीन-वत्, आसीनः	उदासीन के समान स्थित	तुल्य-प्रिय-अप्रियः, धीरः	प्रिय अप्रिय में तुल्य, धैर्यवान्
गुणैः, यः, न, विचाल्यते	जो गुणों से नहीं चलायमान होता है	तुल्य-निन्दा-आत्म-संस्तुतिः	अपनी निन्दा और स्तुति में बराबर
गुणाः, वर्त्तन्ते, इति, एव	केवल गुण वर्त रहे हैं, ऐसा	मान-अपमानयोः, तुल्यः	मान और अपमान में तुल्य
यः, अवतिष्ठति, न, इङ्गते	जो स्थिर रहता है और डोलता नहीं	तुल्यः, मित्र-अरि-पक्षयोः	मित्र और शत्रु के पक्ष में तुल्य
सम-दुःख-सुखः, स्व-स्थः	सुख दुःख में सम, अपने में स्थित	सर्व-आरम्भ-परित्यागी	सारे धन्धों का त्यागी
सम-लोष्ट-अश्म-काञ्चनः	ढेला, पत्थर, सोना में तुल्य	गुण-अतीतः, सः, उच्यते	वह गुणातीत कहलाता है

अन्वयार्थ—उदासीन के समान स्थित हुआ जो गुणों से चलायमान नहीं होता है ; "केवल गुण वर्त रहे हैं", ऐसे (निश्चय से) जो स्थिर रहता है और डोलता नहीं है ; सुख-दुःख में जो सम है ; जो अपने आपमें स्थित है ; जिसे मिट्टी, पत्थर, सोना समान है, प्रिय-अप्रिय तुल्य है ; जो धीर है, जिसे अपनी निन्दा और स्तुति तुल्य है, मान-अपमान तुल्य है, मित्र और शत्रु का पक्ष तुल्य है ; जो सारे धन्धों का परित्यागी है ; वह (मनुष्य) गुणातीत कहलाता है ॥ २३, २४, २५ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! अब तू उस (गुणातीत) के आचार व व्यवहार सुन। जो देहधारी उदासीन के समान स्थित है ; अर्थात् जो न किसी से मित्रता रखता है न शत्रुता, और दो विवाद करनेवालों के मध्य में किसी के पक्ष को स्वीकार न करता हुआ जो निस्सम्बन्ध स्थित है। जो सत्त्वादि गुणों से चलायमान नहीं होता है, अर्थात् जिसको प्रकृति के सत्त्वादि तीन गुण उसके अपने स्वरूप के निश्चय वा स्थिति से चलायमान नहीं कर सकते। बल्कि जो ऐसा निश्चय करके कि "ये सब गुण ही चारों ओर समस्त कामों में वर्त रहे हैं अथवा गुण ही अपने कार्यों में सब ओर से वर्त रहे हैं" अपने स्वरूप में स्थित रहता है, और इधर-उधर अपने निश्चय से डोलता नहीं है। जिसको दुःख में द्वेष और सुख में राग नहीं है बल्कि ये दोनों जिसे समान हैं, क्योंकि इन दोनों (सुख-दुःख) को वह केवल अन्तःकरण की वृत्ति का कार्य वा अन्तःकरण के धर्म समझकर इनसे निरासक्त हुआ अपने स्वरूप में स्थित रहता है, अर्थात् वह समस्त दशा में अपने आनन्द-स्वरूप आत्मा में स्थित है या सदैव प्रसन्न रहता है। जिसकी दृष्टि में मिट्टी का ढेला (ठीकरी या कंकर), पत्थर और सोना एकसमान हैं। जिसको सुख का साधन-रूप प्रिय वस्तु और दुःख का साधन-रूप अप्रिय वस्तु दोनों एकबराबर हैं, अर्थात् जो प्रिय-अप्रिय में अथवा मित्र-शत्रु में

कुछ भेद नहीं देखता, बल्कि दोनों को एकसमान ही समझता है। जो इसी कारण से धीर अर्थात् धैर्यवान् और बुद्धिमान् है। जिसको अपनी निन्दा-स्तुति अर्थात् यश, अपयश, कीर्ति, अपकीर्ति एकसमान भान होते हैं। जो मान-अपमान अर्थात् सत्कार-तिरस्कार में सम रहता है, और उनके कारण किसी विकार को प्राप्त नहीं होता है। जो मित्र और शत्रु के पक्ष में सर्वदा एकसमान रहता है, अर्थात् किसी की तरफ़दारी नहीं करता। जो सारे धन्धों का त्यागी है, अर्थात् जो शरीर, मन या वाणी द्वारा जितने भी लौकिक और वैदिक कर्म परलोक की प्राप्ति के निमित अथवा दृष्ट-अदृष्ट फल की प्राप्ति के निमित्त किये जाते हैं, उन सबको त्यागनेवाला और केवल शरीर की यात्रा-मात्रार्थ या प्राप्त हुए स्वत: कर्मों को करनेवाला है। ऐसे आचारोंवाला देहधारी (महापुरुष वा ज्ञानवान्) गुणातीत अर्थात् गुणों को पार टपा हुआ कहलाता है ॥ २३, २४, २५ ॥ *

---

* श्रीतिलक महाराज अपने विचित्र वा अनोखे ढंग से इन श्लोकों पर ऐसे टिप्पणी करते हैं—"यह इन दो प्रश्नों का उत्तर हुआ कि त्रिगुणातीत पुरुष के लक्षण क्या हैं, और आचार कैसा होता है। ये लक्षण और दूसरे अध्याय में बतलाए हुए स्थितप्रज्ञ के लक्षण (२. ५५-७२), एवं बारहवें अध्याय (१२. १३-२०) में बतलाये हुए भक्तिमान् पुरुष के लक्षण सब एक-से ही हैं। अधिक क्या कहें 'सर्वारम्भपरित्यागी', 'तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः' और 'उदासीनः' प्रभृति कुछ विशेषण भी दोनों या तीनों स्थानों में एक ही हैं। इससे प्रकट होता है कि पिछले अध्याय में बतलाये हुए (१३. २४, २५) चार मार्गों में से किसी भी मार्ग के स्वीकार कर लेने पर सिद्धि-प्राप्त पुरुष का आचार, और उसके लक्षण सब मार्गों में एकही-से रहते हैं। तथापि तीसरे, चौथे और पाँचवें अध्यायों में जब यह दृढ़ और अटल सिद्धान्त किया है कि निष्काम कर्म किसी के भी नहीं छूट सकते, तब स्मरण रखना चाहिए कि ये स्थितप्रज्ञ, भगवद्भक्त या त्रिगुणातीत, सभी कर्मयोग-मार्ग के हैं।"

सम्बन्ध—अब भगवान् अर्जुन के तीसरे प्रश्न के उत्तर में गुणातीत होने का उपाय वर्णन करते हैं—

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते ।
स गुणान्समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ २६ ॥

मां, च, यः, अव्यभिचारेण, भक्तियोगेन, सेवते	और जो अव्यभिचारी भक्तियोग से मुझको सेवता है	सः, गुणान्, समतीत्य, एतान्	वह इन गुणों को उलाँघकर
		ब्रह्म - भूयाय, कल्पते	ब्रह्म - भाव के योग्य होता है

अन्वयार्थ—और जो अव्यभिचारी भक्तियोग से मुझको सेवता है, वह इन गुणों को उलाँघकर ब्रह्म-भाव के योग्य होता है ॥ २६ ॥

पहली व्याख्या—और हे अर्जुन! जो तूने तीसरा प्रश्न किया था कि "गुणातीत पुरुष कैसे इन गुणों को उलाँघ जाता है" उसके उत्तर में मैं तुम्हें उपाय भी बतलाता हूँ, और वह यह है कि मुझ सर्व प्राणियों के हृदय में स्थित नारायण भगवान् को जो अव्यभिचारी भक्तियोग (कभी न छूटनेवाली प्रीति) से उपासता वा सेवता है। अर्थात् व्यभिचारिणी स्त्री की प्रीति के समान नहीं कि जो आज एक से प्रीति करती है, कल दूसरे से, बल्कि जो अनन्य भक्त की प्रीति के समान निरंतर तैल-धारावत् केवल एक के साथ लगी हुई होती है, ऐसी अव्यभिचारिणी प्रीति के साथ मुझ सच्चिदानन्द-स्वरूप को अत्यन्त प्रेम-भरे प्रवाह से जो भजता वा सेवता है, वह अनन्य भक्त इन गुणों को टप जाता है और फिर ब्रह्म-भाव अर्थात् ब्रह्म-स्वरूप होने के योग्य हो जाता है, अर्थात् शरीर छोड़ते ही वह ब्रह्म-स्वरूप हो जाता है ॥ २६ ॥ *

---

* पहली व्याख्या श्रीशङ्कराचार्य इत्यादि व्याख्याताओं के भावों के

दूसरी व्याख्या—हे अर्जुन! जो तूने तीसरा प्रश्न किया था कि मनुष्य गुणातीत कैसे हो जाता है, तो उसका उत्तर फल के सहित यद्यपि पहले (श्लोक १६ में) दिया जा चुका है कि "जब कोई द्रष्टा (भीतरी दृष्टि रखनेवाला वा विचारवान् मनुष्य) अपने को वास्तव में अकर्ता और प्रकृति के गुणों को कर्ता (विचार-दृष्टि से) देखता है, और इस प्रकार देखते-देखते जब वह प्रकृति के गुणों से पर वाले (अपने शुद्ध-स्वरूप वा अकर्तात्मा) को जान लेता अर्थात् अनुभव करता है, तो वह मेरे भाव को प्राप्त होता अर्थात् मेरा ही शुद्ध-स्वरूप (निजात्मा वा निर्गुण ब्रह्म) हो जाता है। अर्थात् जीवन-दशा में भी वह मुझमें लीन हुआ मेरा वास्तविक स्वरूप हुआ होता है, जिससे उसके प्राण अंत समय में देह से निकलते ही तत्काल विलीन हो जाते हैं और कोई दूसरा जन्म किसी प्रकार का भी धारण नहीं करने पाते।" पर जो ऐसा द्रष्टा नहीं, केवल मेरे सगुण रूप का उपासक व भक्त है, तो ऐसा भक्त भी यदि अनन्य भक्ति से मुझको भजता और सेवता है, तो इस प्रकार की अनन्य भक्ति से वह प्रकृति के गुणों को तर जाता है और इसके पश्चात् वह मेरा शुद्ध-स्वरूप तो नहीं होता पर मेरे शुद्ध-स्वरूप अर्थात् ब्रह्म-भाव को प्राप्त होने के योग्य हो जाता है। अर्थात् इस रीति से वह देह त्यागने के बाद ब्रह्मलोक को प्राप्त होता है और वहाँ ब्रह्मा से आत्मज्ञान लाभ करके मेरे शुद्ध स्वरूप (निजात्मा) में विलीन होने अर्थात् उससे तद्रूप होने के समर्थ हो जाता है॥ २६॥

सम्बन्ध—उक्त फल में भगवान् अब हेतु वर्णन करते हैं—

अनुकूल है, पर इस श्लोक में जो यह दिया है कि वह ब्रह्म-भाव के योग्य हो जाता है स्वयं ब्रह्म-भाव नहीं हो जाता, इस (लक्ष्य) को दृष्टि में रखते हुए हमने दूसरी व्याख्या की है जो 'ब्रह्मभूयाय कल्पते' के कारण अधिक युक्त बैठती और अंतिम श्लोक २७ के साथ अधिक मेल खाती है। (टीकाकार)

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याऽव्ययस्य च ।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च ॥२७॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे गुणत्रयविभागयोगो नाम
चतुर्दशोऽध्यायः ।

ब्रह्मणः[६],* हि[१], प्रतिष्ठा[८], अहं[२], अमृतस्य[५], अव्ययस्य[३], च[४]	क्योंकि[१] मैं[२] निर्विकार[३] और[४] अमृत[५]-रूप ब्रह्म[६] की प्रतिष्ठा[८] हूँ	शाश्वतस्य[२], च[१], धर्मस्य[३]	और[१] सदा[२] रहनेवाले धर्म[३] की
		सुखस्य[३], एक-अन्तिकस्य[२], च[१]	और[१] एकान्तिक[२] सुख[३] की

अन्वयार्थ—क्योंकि अमृत और अव्यय ब्रह्म की, और शाश्वत धर्म की तथा एकान्तिक † सुख की मैं प्रतिष्ठा हूँ ॥ २७ ॥

पहली व्याख्या—हे अर्जुन ! क्योंकि विकार-रहित, मृत्यु-धर्म से रहित, और सब जगत् की उत्पत्ति-लय का कारण-रूप जो मायाविशिष्ट सोपाधिक ब्रह्म (अर्थात् शबल ब्रह्म) है, उसकी मैं (निरुपाधिक रूप ब्रह्म)

---

* ब्रह्मणः=शबल वा सोपाधिक ब्रह्म (श्रीशङ्कराचार्य)। ब्रह्म-रूप वासुदेव (श्रीश्रीधर)। ब्रह्माण्ड (आर्यसमाज के पं० राजाराम)। वेद (आर्य-समाज के पं० आर्यमुनि)।

† एकान्तिक सुख=वह सुख जो विषय-जन्य सुख की तरह व्यभिचारी नहीं किन्तु जो सब देश तथा सब काल में विद्यमान है। इसी व्यापक सुख को "यो वै भूमा तत्सुखम्"=जो भूमा है, वही सुख है। ऐसा श्रुति कहती है (श्रीमधुसूदन)। अखण्ड सुख (पं० राजाराम)।

ही प्रतिष्ठा (आधार, आश्रय, अन्तिम स्थान वा वास्तव स्वरूप) हूँ। और ऐसे ही सनातन (सदा रहनेवाले) धर्म की अथवा सनातन स्वरूप व धर्म स्वरूप की तथा अखण्ड सुख की भी मैं (प्रत्यगात्मा) ही प्रतिष्ठा हूँ। इसलिये जो मेरे इस वास्तव स्वरूप को अनन्य भक्ति से उपासता है, वह ब्रह्म-स्वरूप (जो मेरा शुद्ध भाव है) होने के योग्य (अर्थात् कैवल्य मुक्ति पाने के योग्य) हो जाता है॥ २७॥ ❀

दूसरी व्याख्या—हे अर्जुन ! यह जो निर्विकार-रूप, अमृत-रूप, शाश्वत-रूप, धर्म-रूप और अखण्ड सुख-रूप सोपाधिक ब्रह्म है, इसकी मैं (निरुपाधिक रूप ब्रह्म) क्योंकि प्रतिष्ठा (अन्तिम स्थान) हूँ, इसलिये जो भी मेरे इस शबल (माया-विशिष्ट) रूप की अनन्य भक्ति से उपासना करता है, वह भक्त सगुण भक्ति के फल-रूप ब्रह्मलोक को प्राप्त होता है

❀ इस श्लोक का भावार्थ श्रीतिलक महाराज अपने अनोखे ढंग से ऐसा करते हैं—"इसका भावार्थ यह है कि सांख्यों के द्वैत को छोड़ देने पर सर्वत्र एक ही परमेश्वर रह जाता है, इस कारण उसी की भक्ति से त्रिगुणातीत अवस्था भी प्राप्त होती है। और, एक ही ईश्वर मान लेने से साधनों के सम्बन्ध में गीता का कोई भी आग्रह नहीं है। (देखो गीता १३. २४ और २५)। गीता में भक्ति-मार्ग को सुलभ अतएव सब लोगों के लिये ग्राह्य कहा सही है; पर यह कहीं भी नहीं कहा है कि अन्यान्य मार्ग त्याज्य हैं। गीता में केवल भक्ति, केवल ज्ञान अथवा केवल योग ही प्रतिपाद्य है—ये मत भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों के अभिमानियों ने पीछे से गीता पर लाद दिये हैं। गीता का सच्चा प्रतिपाद्य विषय तो निराला ही है। मार्ग कोई भी हो, गीता में मुख्य प्रश्न यही है कि परमेश्वर का ज्ञान हो चुकने पर संसार के कर्म लोक-संग्रहार्थ किये जायँ या छोड़ दिये जायँ; और इसका साफ़-साफ़ उत्तर पहले ही दिया जा चुका है कि 'कर्मयोग' श्रेष्ठ है।"

और वहाँ साक्षात् ब्रह्मा से ब्रह्मविद्या का उपदेश पाकर इस निरुपाधिक रूप ब्रह्म को पाने अर्थात् सच्चिदानन्द-स्वरूप होने के समर्थ हो जाता है ॥ २७ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतानुवादे गुणत्रयविभागयोगो नाम चतुर्दशोऽध्यायः ।

चौदहवें अध्याय का संक्षेप

(१) तेरहवें अध्याय में भगवान् ने सब कर्तृत्व तो 'प्रकृति' का और सब भोक्तृत्व 'पुरुष' का बतलाया। पर 'प्रकृति का कर्तृत्व क्यों और कैसे है', 'पुरुष का उससे सङ्ग क्या और कैसे है', 'प्रकृति के गुण और उनके प्रभाव क्या हैं', इत्यादि विषय वहाँ विस्तार से वर्णन नहीं हो सका। अब कृपालु भगवान् बहुत विस्तार से उसी विषय को वर्णन करने लगे हैं। पर इसमें अर्जुन की रुचि बढ़ाने-निमित्त पहले इसी ज्ञान की भगवान् इस प्रकार स्तुति करते हैं—

(क) फिर मैं तुझे, हे अर्जुन ! सब ज्ञानों में परम उत्तम तथा परम श्रेष्ठ ज्ञान कहता हूँ, जिसको जानकर सब मुनि परम सिद्धि को प्राप्त हुए हैं।

(ख) इसी ज्ञान के आश्रय से मेरे ही भाव (स्वरूप) को प्राप्त हुए मुनि लोग सृष्टि-काल में न पुनः जन्म लेते हैं और न प्रलय-काल में नाश होते हैं।

(२) इस प्रकार उक्त प्रशंसा से अर्जुन को उसके सुनने में रुचि बढ़ाकर अब भगवान् 'प्रकृति स्वयं क्या है और कैसे जगत् को उत्पन्न करती है' इसे निरूपण करते हैं—

(क) प्रकृति-रूप महद्ब्रह्म मेरी योनि है, उसमें मैं गर्भ धारण करता हूँ, फिर सारे जगत् की उत्पत्ति होती है।

(ख) अर्थात् सब योनियों में जो मूर्तियाँ उत्पन्न होती हैं, उन सबकी मूल कारण-रूप योनि यह महद्ब्रह्म है, और मैं उसमें बीज डालनेवाला हूँ।

(३) अब भगवान् इस महद्ब्रह्म-रूपी प्रकृति के गुणों को उनके स्वभावों के सहित विस्तारपूर्वक वर्णन करते हैं—

(क) सत्त्व, रज, तम ये प्रकृति के गुण हैं, जो देह में इस निर्विकार देही को बाँध लेते हैं।

(ख) उनमें सत्त्वगुण निर्मलता के कारण प्रकाशक और रोग-रहित (सुखदाता) है, और सुख तथा ज्ञान के सम्बन्ध से इस देही को देह में बाँधता है।

(ग) रजोगुण तो रागात्मक और तृष्णा सङ्ग की उत्पत्ति-स्थान है। यह कर्म के सङ्ग से इस देही को बाँधता है।

(घ) परन्तु तमोगुण तो अज्ञान-जन्य और सब देहधारियों का मोहने-वाला है, अतएव प्रमाद, आलस्य और निद्रा से यह इस देही को बाँधता है।

(ङ) इस प्रकार, हे अर्जुन ! तू समझ रख कि इस देही को सतोगुण सुख में, रजोगुण कर्म में और तमोगुण ज्ञान को ढककर प्रमाद में लगा देता वा जोड़ देता है।

(४) इतना दर्शाने के बाद अब "कौन गुण किस समय या कैसे अपना प्रभाव दिखाता है," इसे भगवान् वर्णन करते हैं—

(क) रज और तम को दबाकर सत्त्वगुण, सत्त्व और तम को दबाकर रजोगुण, ऐसे ही सत्त्व और रज को दबाकर तमोगुण प्रकट होता है।

(ख) जब इस देह के सारे द्वारों (इन्द्रियों) में से ज्ञान-रूप प्रकाश उपजता है, तब समझो कि सत्त्वगुण बढ़ा हुआ अर्थात् सत्त्व-गुण की प्रधानता है।

(ग) लोभ, प्रवृत्ति, कर्मों का आरम्भ, अशान्ति और इच्छा जब ये उत्पन्न हुए हों, तो समझो कि रजोगुण की वृद्धि वा प्रधानता है।

(घ) अप्रकाश, अप्रवृत्ति, प्रमाद और मोह जब ये उत्पन्न हों, तो समझ लो कि तमोगुण की प्रधानता है।

(५) इतना दर्शाने के बाद अब "मरण-काल में प्रत्येक गुण की प्रधानता से जो फल मिलता है" उसे भगवान् वर्णन करते हैं—

(क) जब सत्त्वगुण की वृद्धि में मृत्यु होती है, तो उत्तमवेत्ताओं के निर्मल लोकों में जन्म होता है।

(ख) रजोगुण की प्रधानता में मरने पर कर्म-संगियों में जन्म होता है, और तमोगुण की अधिकता में मरने पर मूढ़ योनियों में जन्म लेना होता है।

(६) अब गुणों की अपेक्षा से किये हुए कर्मों का फल भगवान् निरूपण करते हैं—

(क) सात्विक का फल सतोगुणी और निर्मल, रजोगुणी कर्म का फल दुःख और तमोगुणी कर्म का फल अज्ञान होता है।

(ख) कारण यह कि सत्त्वगुण से ज्ञान उत्पन्न होता है, रजोगुण से लोभ, और तमोगुण से प्रमाद, मोह और अज्ञान उत्पन्न होते हैं।

(७) अब गुण-भेद से देहधारियों की गति और उनसे छुटकारे की विधि को भगवान् निरूपण करते हैं—

(क) सत्त्वगुणी मनुष्य ऊपर (देवलोक) को जाते है, रजोगुणी मध्य (इस मृत्युलोक वा मनुष्ययोनि) में ठहरे रहते हैं। और तमोगुणी नीचे (पशु-पक्षियों की योनियों) को जाते हैं।

(ख) पर जब कोई भीतरी दृष्टिवाला (विचारवान्) इन गुणों से भिन्न कर्ता नहीं देखता, अर्थात् इन गुणों को ही कर्म का कर्ता मानता वा निश्चय करता है और गुणों से परेवाले (गुणातीत)

को जानता है, तब वह किसी लोक को नहीं किन्तु मेरे स्वरूप को ही प्राप्त होता है।

(ग) देह के उत्पन्न करनेवाले उक्त तीनों गुणों को उलाँघकर ही देही जन्म, मृत्यु, बुढ़ापा और नाना प्रकार के दुःखों से छूटकर अमृत भोगता है।

(८) "गुणों को उलाँघनेवाला देही अमृत भोगता है", ऐसा परिणाम सुनकर अर्जुन को गुणातीत पुरुष के लक्षण और आचारादि जानने की इच्छा हुई, जिससे वह भगवान् से ऐसे प्रश्न करता है—

हे भगवन् ! किन चिह्नों से जाना जाय कि अमुक पुरुष गुणातीत है ? उसके आचार क्या होते हैं ? और वह कैसे इन गुणों को टप जाता अर्थात् गुणातीत होता है ?

(९) इस पर भगवान् उत्तर देते हैं, पर पहले गुणातीत के चिह्न निरूपण करते हैं—

हे अर्जुन ! प्रकाश, प्रवृत्ति और मोह के प्रवृत्त होने पर, अर्थात् तीनों गुणों के कार्यों के आगमन पर, वह गुणातीत पुरुष द्वेष नहीं करता और उनके निवृत्त हो जाने पर, अर्थात् उनकी अनुपस्थिति में वह उनकी आकांक्षा नहीं करता है, अर्थात् न वह किसी की चाह रखता है और न नफ़रत। ये गुणातीत के चिह्न होते हैं।

(१०) अब भगवान् गुणातीत के आचार का निरूपण करते हैं—

(क) हे अर्जुन ! वह उदासीन के समान स्थित होकर गुणों से चलायमान नहीं होता।

(ख) "केवल गुण अपने-अपने कार्यों में वर्त रहे हैं", ऐसा निश्चय करके अपने स्वरूप में स्थिर रहता है और किञ्चित् डोलता नहीं।

(ग) सुख-दुःख उसे एकसमान होते हैं, जिससे अपने स्वरूप के ध्यान में नित्य स्थित रहता है।

(घ) मिट्टी, पत्थर और सोना उसे एकसमान होते हैं।

(ङ) प्रिय-अप्रिय में, स्तुति-निन्दा में और मान-अपमान में एकसमान होता है।

(च) धीर अर्थात् धैर्यवान् वा बुद्धिमान् होता है।

(छ) मित्र और शत्रु के पक्ष में एकसमान रहता है, अर्थात् किसी की तरफ़दारी नहीं करता।

(ज) सारे धंधों अर्थात् लोक-परलोक की प्राप्ति-निमित्त अथवा दृष्ट-अदृष्ट फल की प्राप्ति-निमित्त सब प्रकार के काम्य कर्मों का वह परित्यागी होता है। इस प्रकार के आचरणवाला गुणातीत होता है।

(११) अब गुणातीत होने के उपाय को भगवान् वर्णन करते हैं—

(क) जो अव्यभिचारी भक्तियोग से, प्रेम की तैलधारावत् प्रवाह से मुझे भजता वा सेवता है, अर्थात् मेरे सगुण-रूप की अनन्य भक्ति से उपासना करता है, वह गुणों को उलाँघकर ब्रह्म-स्वरूप होने के योग्य (समर्थ) होता है।

(ख) क्योंकि मैं ही अमृत-रूप, अव्यय-रूप, शाश्वत-धर्म-रूप तथा एकान्तिक सुख-रूप ब्रह्म (सोपाधिक ब्रह्म) की प्रतिष्ठा (आधार वा आश्रय) हूँ, इसलिये जो अनन्य भक्ति से मुझे भजता है, अर्थात् मेरे सगुण-रूप की उपासना करता है, वह मरकर अंत में मेरे शुद्ध सच्चिदानन्द-स्वरूप को ही प्राप्त होता है। अर्थात् उस उपासना से ब्रह्मलोक को प्राप्त होकर वहाँ ही ब्रह्मा से ज्ञान-

उपदेश द्वारा वह ब्रह्म में लीन होने अर्थात् ब्रह्म-स्वरूप होने के समर्थ हो जाता है।

इस प्रकार श्रीभगवान् से गाये हुए अर्थात् कहे हुए उपनिषद् में, ब्रह्मविद्यान्तर्गत योगशास्त्र-विषयक, श्रीकृष्ण और अर्जुन के संवाद में, गुणत्रय-विभागयोग-नामक चौदहवाँ अध्याय समाप्त हुआ।

❀ ॐ ❀

पञ्चदशोऽध्यायः

सम्बन्ध—चौदहवें अध्याय के अन्त में भगवान् ने जो सूत्र-रूप से कहा कि "जो अनन्य भक्तियोग से मुझे सेवता वा भजता है, वह गुणातीत होकर अंत में (ज्ञान-प्राप्ति के क्रम से) मेरे शुद्ध स्वरूप को प्राप्त होने के योग्य होता है, क्योंकि मैं ही अविनाशी, निर्विकार, शाश्वत-धर्म वा शाश्वत-स्वरूप व धर्म-स्वरूप और एकान्तिक सुख-रूप ब्रह्म की प्रतिष्ठा हूँ।" परन्तु वहाँ विस्तारपूर्वक यह नहीं दर्शाया जा सका कि उस अनन्य भक्ति वा ज्ञान की प्राप्ति किस प्रकार के साधन वा उपाय से होती है। अब कृपालु भगवान् अपने उसी सूत्र-रूप से वर्णित विषय को सरल रीति से विस्तारपूर्वक समझाने लगे हैं और उस ज्ञान वा भक्ति का अधिकारी तथा वैराग्य-रूप साधन निरूपण करने के लिये स्वयं उद्यत हुए हैं, जिस पर पन्द्रहवाँ अध्याय आरम्भ होता है। पहले चार श्लोकों में ब्रह्माण्ड को वृक्ष-रूप से वह स्पष्ट करते हैं— ❀

श्रीभगवानुवाच—

ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम् ।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित् ॥ १ ॥

❀ श्रीशंकराचार्यजी इस अध्याय का सम्बन्ध ऐसे वर्णन करते हैं—
"क्योंकि कर्म करनेवालों का कर्मफल और ज्ञानियों का ज्ञानफल मेरे

ऊर्ध्व[2]-मूलं[3], अधः[4]-शाखं[5], अश्वत्थं, प्राहुः[1], अव्ययं[6]	कहते[1] हैं ऊपर[2] जड़[3]-वाला, नीचे[4] शाखाओं[5]-वाला अविनाशी[6] अश्वत्थ है	छन्दांसि[1], यस्य[2], पर्णानि[3]	छन्द[1] जिसके[2] पत्ते[3] हैं
		यः[1] तं[2], वेद[3], सः[4], वेद[5]-वित्[6]	जो[1] उसको[2] जानता[3] है, वह[4] वेद[5]-वेत्ता[6] है

अधीन है, इसलिये जो भक्तियोग से मुझे भजते हैं, वे भी मेरी कृपा से गुणातीत होकर ज्ञान-प्राप्ति के क्रम से मोक्ष लाभ करते हैं, तो फिर आत्मतत्त्व को यथार्थ जाननेवालों के लिये तो कहना ही क्या है। सुतरां अर्जुन के न पूछने पर भी, अपना तत्त्व कहने की इच्छा से, भगवान् 'ऊर्ध्वमूलं' इत्यादि वचन बोले।

यहाँ पहले वैराग्य के लिये वृक्ष-स्वरूप की कल्पना करके संसार के स्वरूप का वर्णन करते हैं, क्योंकि संसार से विरक्त हुए पुरुष को ही भगवान् का तत्त्व जानने में अधिकार है, अन्य को नहीं। अतः श्रीभगवान् बोले—"

इसी सम्बन्ध पर आर्यसमाज के पं० राजारामजी यों लिखते हैं—

"पूर्व अध्याय के अंत में कहा है, 'मैं अखंड सुख का आश्रय हूँ,' सो उस सुख का लक्षण क्या है, किससे वह ढपा हुआ है, किस तरह उसका ढकना खुलता है और कौन अधिकारी उसको पा सकता है, इत्यादि वर्णन करने के लिये पंद्रहवाँ अध्याय आरंभ करते हैं। सो पहले संसार को वृक्ष-रूप से वर्णन करते हैं—"

पर श्रीतिलक महाराज अपने अनोखे ढंग से इस अध्याय का सम्बन्ध ऐसे लिखते हैं—"क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ के विचार के सिलसिले में, तेरहवें अध्याय में, उसी क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-विचार के सदृश सांख्यों के प्रकृति-पुरुष का विवेक बतलाया है। चौदहवें अध्याय में यह कहा है कि प्रकृति के तीन गुणों से मनुष्य-मनुष्य में स्वभाव-भेद कैसे उत्पन्न होता है, और उससे सात्त्विक आदि गति-भेद क्योंकर होते हैं; फिर यह विवेचन किया है कि त्रिगुणातीत अवस्था अथवा अध्यात्म-दृष्टि से ब्राह्मी स्थिति किसे कहते हैं और वह कैसे प्राप्त की जाती है। यह सब

पहला अन्वयार्थ—श्रीभगवान् बोले—कहते हैं कि ऊपर जड़वाला और नीचे शाखाओंवाला अविनाशी अश्वत्थ है, छन्द जिसके पत्ते हैं। जो उसको जानता है, वह वेदवेत्ता है ॥ १ ॥

दूसरा अन्वयार्थ—श्रीभगवान् बोले—ऊपर जड़वाले और नीचे शाखाओं-वाले अश्वत्थ को कि जिसके पत्ते छन्द हैं, अव्यय कहते हैं। जो उसे जानता है, वह वेदवेत्ता है ॥ १ ॥

व्याख्या—अपने पूर्वोक्त आशय को अधिक स्पष्ट करने के लिये भगवान् ऐसे बोले कि हे अर्जुन ! श्रुति-स्मृति तथा महर्षि लोग ऐसा कहते हैं कि यह संसार (अथवा यह मनुष्य) वट-वृक्षवत् है, जो अपने वास्तविक-रूप से अथवा प्रवाह-रूप से अविनाशी है (अथवा यह एक ऐसा वृक्ष है कि जिसका वट के समान पूरा-पूरा विश्वास नहीं किया जा सकता कि कल तक रहेगा या नहीं, यद्यपि प्रवाह-रूप से यह अव्यय कहलाता है, या जो इसलिये अव्यय कहलाता है कि अनादि-अनन्त-रूप देहों अर्थात् भूतों के प्रवाह का यह आश्रय है, और विना आत्मज्ञान के किसी अन्य उपाय से इसका उच्छेद नहीं हो सकता है)। इस वृक्ष की जड़ ऊपर

निरूपण सांख्यों की परिभाषा में है अवश्य, परन्तु सांख्यों के द्वैत को स्वीकार न करते हुए, जिस एक ही परमेश्वर की विभूति प्रकृति और पुरुष दोनों हैं, उस परमेश्वर का ज्ञान-विज्ञान-दृष्टि से निरूपण किया गया है। परमेश्वर के स्वरूप के इस वर्णन के अतिरिक्त आठवें अध्याय में अधियज्ञ, अध्यात्म और आधिदैवत आदि भेद दिखलाया जा चुका है। और, यह पहले ही कह आये हैं कि सब स्थानों में एक ही परमात्मा व्याप्त है, एवं क्षेत्र में क्षेत्रज्ञ भी वही है। अब इस अध्याय में पहले यह बतलाते हैं कि परमेश्वर की ही रची हुई सृष्टि के विस्तार का, अथवा परमेश्वर के नाम-रूपात्मक विस्तार का ही कभी-कभी वृक्ष-रूप से या वन-रूप से जो वर्णन पाया जाता है, उसका बीज क्या है। फिर परमेश्वर के सभी रूपों में श्रेष्ठ पुरुषोत्तम-स्वरूप का वर्णन किया है—"

को है ; अर्थात् क्षर-अक्षर से भी ऊपर वा उत्कृष्ट जो स्वप्रकाश-रूप पुरुषोत्तम परमेश्वर है, वह इस संसार का मूल कारण है, इसलिये वह ऊर्ध्वमूल है ; अथवा अति सूक्ष्म, कल्प से भी पहले, सबका आदि कारण, नित्य और महत्तत्त्वादि से भी ऊपर जो अपनी माया-शक्ति से युक्त सोपाधिक ब्रह्म वा शबल ब्रह्म है, वह इस संसार-वृक्ष का मूल कारण है, अतएव यह ऊर्ध्वमूल कहलाता है । अथवा यह शिर जो मनुष्य के शरीर-रूपी वृक्ष की जड़ है और शरीर के ऊपर स्थित है, इस देह का कारण कहलाता है, इसलिये भी यह वृक्ष ऊर्ध्वमूल है । इस संसार-रूपी वृक्ष की शाखाएँ नीचे को हैं ; अर्थात् कार्य उपाधि-रूप हिरण्यगर्भादिक, अथवा महत्तत्त्व अहङ्कार और शब्दादि तन्मात्रा जो कार्य-रूप होने से शाखाओं के समान सब ओर फैले हुए हैं, वे सब इस वृक्ष की शाखाएँ हैं ; अथवा शिर से अतिरिक्त देह के जितने भी अङ्ग हाथ-पाँव आदि हैं, वे इस मनुष्य-रूपी वृक्ष की शाखाएँ नीचे को फैली हुई हैं, अतएव वह वृक्ष अधःशाखावाला कहलाता है । और छन्द (वेद अथवा वाणी) इस वृक्ष के पत्ते हैं ; अर्थात् जैसे पत्ते वृक्ष को सब ओर से ढके रखते हैं, उसकी रक्षा करते हैं, और दूसरों को भी अपनी छाया से ठंढक वा शान्ति देते हैं, वैसे ही वेदविहित कर्मकाण्ड, अथवा कर्मकाण्ड-रूप ऋक्, साम, यजुष्, अथर्वण इन चार वेद-रूपी पत्तों से यह संसार ढका रहता है और धर्माधर्म जनानेवाले वैदिक मन्त्रों से इसकी रक्षा होती है, जिनकी छाया में आने से अर्थात् जिनके अनुसार वर्तने से मनुष्य को विश्राम, ठंढक वा शान्ति प्राप्त होती है; ऐसे ही वाणी से मनुष्य-रूपी वृक्ष सुरक्षित है, वाणी से ही मनुष्य दूसरों को नाना उपदेशों से आराम और शान्ति देता है, और वाणी के सदुपयोग से अपनी प्रतिष्ठा वा रक्षा तथा वाणी के दुरुपयोग से अपनी अप्रतिष्ठा वा हानि कर डालता है, अतएव वेद वा वाणी इस वृक्ष के पत्ते हैं । ऐसे

वृक्ष को जो यथार्थ रूप से जानता है, वह वास्तव में वेद का जाननेवाला होता है। अर्थात् यह संसार एक वृक्ष है; इसका मूल शुद्ध ब्रह्म वा शबल ब्रह्म है; हिरण्यगर्भ अथवा महत्तत्त्वादि इसकी शाखाएँ हैं; अपने वाह्य-रूप से तो यह नाशवान् वा विकारी है, अर्थात् जिसका यह विश्वास नहीं कि कल तक भी रहेगा या नहीं, परन्तु प्रवाह-रूप से अथवा वास्तविक-रूप (आधार की दृष्टि) से अविनाशी और अनन्त है; वेदोक्त कर्म-रूप जल से यह सींचा जाता है; और ब्रह्मज्ञान-रूप खड्ग से छेदा जाता है; इतना ही सारे वेदों का संक्षिप्त अर्थ है। इस प्रकार इस संक्षिप्तार्थवाले संसार-रूपी वृक्ष को जो जानता है, वह यथार्थ में वेदों का जाननेवाला होता है ॥ १ ॥ ❀

❀ श्रुति-स्मृति में इस अश्वत्थ का ऐसे वर्णन है—"ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः। तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते। तस्मिँल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन। एतद्वैतत् ॥"=यह एक सनातन वृक्ष है, जिसकी जड़ ऊपर को है और शाखाएँ नीचे को हैं, वही चमकीला (प्रकाशमान्), वही ब्रह्म और वही अमृत कहलाता है। सारे लोक उसमें आश्रय लिए हुए हैं। उसको कोई नहीं उलाँघता है। यह है वह। (कठ उप० अध्याय २, वल्ली ६. १)। स्मृति पुराण में ऐसे वर्णित है कि "अव्यक्तमूलप्रभवस्तस्यैवानुग्रहोत्थितः। बुद्धिस्कन्धमयश्चैव इन्द्रियान्तरकोटरः ॥ १ ॥ महाभूतविशाखश्च विषयैः पत्रवांस्तथा। धर्माधर्मसुपुष्पश्च सुखदुःखफलोदयः ॥ २ ॥ आजीव्यः सर्वभूतानां ब्रह्मवृक्षः सनातनः। एतद्ब्रह्मवनं चैव ब्रह्मा चरति साक्षिवत् ॥ ३ ॥ एतच्छित्त्वा च भित्त्वा च ज्ञानेन परमासिना। ततश्चात्मगतिं प्राप्य तस्मान्नावर्त्तते पुनः ॥ ४ ॥"=वह वृक्ष ऐसा है कि उसकी जड़ अव्यक्त (अव्याकृत, मायाविशिष्ट ब्रह्म अथवा प्रकृति) है। इसी से वह उत्पन्न होता है, और इसी के अनुग्रह से वह वृद्धि को प्राप्त हुआ है। बुद्धि उस वृक्ष का स्कन्ध (तना) है, इन्द्रियों के छिद्र इसके कोटर (खोल वा

सम्बन्ध—अब भगवान् इस वृक्ष के अवांतर अवयवों अथवा अन्य अंगों की दूसरी कल्पना कथन करते हैं—

सूराख़) हैं ॥ १ ॥ आकाशादि पञ्चमहाभूत उसकी शाखाएँ हैं, शब्द स्पर्शादि विषय उसके पत्ते हैं, धर्म-अधर्म उसके पुष्प हैं, और सुख-दुःख उन पुष्पों से उत्पन्न हुए फल हैं ॥ २ ॥ इस प्रकार का वह सनातन ब्रह्म-वृक्ष प्राणियों की आजीविका का स्थान है, अर्थात् सारे प्राणी उसी से जीते हैं। वह वृक्ष जीवात्मा-रूप ब्रह्म का भोग्य है जिससे ब्रह्म-वन कहलाता है, और साक्षी के समान शुद्ध ब्रह्म ही उसमें विराजमान (वा विचरता) है ॥ ३ ॥ उस वृक्ष को आत्मज्ञान-रूपी बड़े खड्ग से छिन्न-भिन्न करके, अथवा मूल-सहित नाश करके तत्त्वज्ञानी पुरुष आत्मगति को प्राप्त होता है, वह पुनः वहाँ से नहीं लौटता है, अर्थात् आत्मज्ञान से परम गति को प्राप्त होकर ज्ञानवान् पुनरावृत्ति को प्राप्त नहीं होता है ॥ ४ ॥

श्रीतिलक महाराज इस प्रथम श्लोक पर ऐसे टिप्पणी देते हैं—"उक्त वर्णन ब्रह्म-वृक्ष का अर्थात् संसार-वृक्ष का है। इस संसार को ही सांख्यमतवादी 'प्रकृति का विस्तार' और वेदान्ती 'भगवान् की माया का पसारा' कहते हैं ; एवं अनुगीता में इसे ही 'ब्रह्म-वृक्ष या ब्रह्म-वन' (ब्रह्मारण्य) कहा है। (देखो म० भा० अश्व० ३५ और ४७)। एक बिलकुल छोटे-से बीज से जिस प्रकार बड़ा भारी गगनचुम्बी वृक्ष निर्माण हो जाता है, उसी प्रकार एक अव्यक्त परमेश्वर से दृश्य सृष्टि-रूप भव्य वृक्ष उत्पन्न हुआ है ; यह कल्पना अथवा रूपक न केवल वैदिक धर्म में ही है, प्रत्युत अन्य प्राचीन धर्मों में भी पाया जाता है। योरप की पुरानी भाषाओं में इसके नाम 'विश्व-वृक्ष' या 'जगत्-वृक्ष' हैं। ऋग्वेद (१. २४. ७ में वर्णन है कि वरुणलोक में एक ऐसा वृक्ष है कि जिसकी किरणों की जड़ ऊपर (ऊर्ध्व) है और उसकी किरणें ऊपर से नीचे (निचीनाः) फैलती हैं। विष्णुसहस्रनाम में 'वारुणो वृक्षः' (वरुण के वृक्ष) को परमेश्वर के हज़ार नामों में से ही एक नाम

अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः। अधश्च मूलान्यनुसन्ततानि कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके ॥ २ ॥

कहा है। यम और पितर जिस 'सुपलाश वृक्ष' के नीचे बैठकर सहपान करते हैं। (ऋ० १०. १३५. १) अथवा जिसके 'अग्रभाग में स्वादिष्ठ पीपल है और जिस पर दो सुपर्ण अर्थात् पक्षी रहते हैं' (ऋ० १. १६४. २२) या 'जिस पिप्पल (पीपल) को वायुदेवता (मरुद्गण) हिलाते हैं' (ऋ० ५.५४.१२), वह वृक्ष भी यही है। अथर्ववेद में जो यह वर्णन है कि 'देवसदन अश्वत्थवृक्ष तीसरे स्वर्गलोक में (वरुणलोक में) है' (अथर्व० ५.४.३; और १९. ३९. ६), वह भी इसी वृक्ष के सम्बन्ध में जान पड़ता है। तैत्तिरीय ब्राह्मण (३. ८. १२. २) में 'अश्वत्थ' शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार है—पितृयाण-काल में अग्नि अथवा यज्ञ प्रजापति देवलोक से नष्ट होकर इस वृक्ष में अश्व (घोड़े) का रूप धरकर एक वर्ष तक छिपा रहा था, इसी से इस वृक्ष का अश्वत्थ नाम हो गया (देखो म० भा० अनु० ८५)। कई एक नैरुक्तिकों का यह भी मत है कि पितृयाण की लम्बी रात्रि में सूर्य के घोड़े यमलोक में इस वृक्ष के नीचे विश्राम किया करते हैं, इसलिये इसको अश्वत्थ (अर्थात् घोड़े का थान) नाम प्राप्त हुआ होगा। 'अ'=नहीं, 'श्व'=कल, और 'त्थ'=स्थिर—यह आध्यात्मिक निरुक्ति पीछे की कल्पना है। नामरूपात्मक माया का स्वरूप जब कि विनाशवान् अथवा हर घड़ी में पलटनेवाला है, तब उसको 'कल तक न रहनेवाला' तो कह सकेंगे; परंतु 'अव्यय'—अर्थात् 'जिसका कभी भी व्यय नहीं होता'—विशेषण स्पष्ट कर देता है कि यह अर्थ यहाँ अभिमत नहीं है। पहले पीपल के वृक्ष को ही अश्वत्थ कहते थे, कठोपनिषद् (६. १) में जो यह ब्रह्ममय अमृत अश्वत्थ वृक्ष कहा गया है—

अधः[1], च[2], ऊर्ध्वं[3], प्रसृताः[6], तस्य[4], शाखाः[5] = नीचे[1] और[2] ऊपर[3] उसकी[4] शाखाएँ[5] फैली[6] हुई हैं

गुण-प्रवृद्धाः = गुणों से पुष्टि (या वृद्धि) पाई हुई हैं

विषय-प्रवालाः = विषय-रूपी कोपलें (अंकुर) हैं

अधः[2], च[1], मूलानि[4], अनुसन्ततानि[3] = और[1] नीचे[2] फैली[3] हुई जड़ें[4] हैं

कर्म-अनुबन्धीनि[3], मनुष्य-लोके[2] = मनुष्य-लोक में[2] कर्म के[3] बन्धनवाली (कर्म से लगाव रखनेवाली) हैं

ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः ।
तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते ॥

यह भी यही है; और 'ऊर्ध्वमूलमधःशाखं' इस पद-सादृश्य से ही व्यक्त होता है कि भगवद्गीता का वर्णन कठोपनिषद् के वर्णन से ही लिया गया है। परमेश्वर स्वर्ग में है और उससे उपजा हुआ जगद्वृक्ष नीचे अर्थात् मनुष्यलोक में है, अतः वर्णन किया गया है कि इस वृक्ष का मूल अर्थात् परमेश्वर ऊपर है और इसकी अनेक शाखाएँ अर्थात् जगत् का फैलाव नीचे विस्तृत है। परन्तु प्राचीन धर्मग्रन्थों में एक और कल्पना पाई जाती है कि यह संसार-वृक्ष वट-वृक्ष होगा, न कि पीपल; क्योंकि बड़ के झाड़ के पाये ऊपर से नीचे को लटक आते हैं। उदाहरण के लिये यह वर्णन है कि अश्वत्थ-वृक्ष आदित्य का वृक्ष है, और 'न्यग्रोधो वारुणो वृक्षः'=न्यग्रोध अर्थात् नीचे (न्यक्) बढ़नेवाला (रोध) बड़ का पेड़ वरुण का वृक्ष है (गोभिल गृह्य० ४.७.२४)। महाभारत में लिखा है कि मार्कण्डेय ऋषि ने प्रलय-काल में बाल-रूपी परमेश्वर को एक (उस प्रलय-काल में भी नष्ट न होनेवाले, अतएव) अव्यय न्यग्रोध अर्थात् बड़ के पेड़ की टहनी पर देखा था (म० भा० वन० १८८. ९१)। इसी प्रकार छान्दोग्य उपनिषद् में यह दिखलाने के लिये कि अव्यक्त परमेश्वर से अपार दृश्य जगत् कैसे निर्मित होता है, जो दृष्टान्त दिया है वह भी न्यग्रोध

अन्वयार्थ—नीचे और ऊपर उस (वृक्ष) की शाखाएँ फैली हुई हैं, जो गुणों से पुष्टि (वृद्धि) को पाई हुई हैं, विषय (जिनकी) कोपलें (अंकुर) हैं, और नीचे मनुष्य-लोक में कर्म के बन्धनवाली (उसकी) जड़ें फैली हुई हैं ॥ २ ॥

के ही बीज का है (छां० ६. १२. १)। श्वेताश्वतर उपनिषद् में भी विश्व-वृक्ष का वर्णन है (श्वे० ६. ६); परन्तु वहाँ खुलासा नहीं बतलाया कि यह कौन-सा वृक्ष है। मुण्डक उपनिषद् (३. १) में ऋग्वेद का ही यह वर्णन ले लिया है कि इसी वृक्ष पर दो पक्षी (जीवात्मा और परमात्मा) बैठे हुए हैं, जिनमें एक पिप्पल अर्थात् पीपल के फलों को खाता है। पीपल और बड़ को छोड़ इस संसार-वृक्ष के स्वरूप की तीसरी कल्पना औदुम्बर की है; एवं पुराणों में यह दत्तात्रेय का वृक्ष माना गया है। सारांश, प्राचीन ग्रन्थों में ये तीनों कल्पनाएँ हैं कि परमेश्वर की माया से उत्पन्न हुआ जगत् एक बड़ा पीपल, बड़ या गूलर है; और इसी कारण से विष्णुसहस्रनाम में विष्णु के ये तीन वृक्षात्मक नाम दिये हैं—'न्यग्रोधोदुम्बरोऽश्वत्थः' (म० भा० अनु० १४६. १०१), एवं समाज में भी ये तीनों वृक्ष देवात्मक और पूजने-योग्य माने जाते हैं। इसके अतिरिक्त विष्णुसहस्रनाम और गीता, दोनों ही महाभारत के भाग हैं; जब कि विष्णुसहस्रनाम में गूलर, बरगद (न्यग्रोध) और अश्वत्थ ये तीन पृथक् नाम दिये गये हैं, तब गीता में 'अश्वत्थ' शब्द का पीपल ही (गूलर या बरगद नहीं) अर्थ लेना चाहिए, और मूल का अर्थ भी वही है। 'छन्दांसि' अर्थात् 'वेद जिसके पत्ते हैं,' इस वाक्य के 'छन्दांसि' शब्द में छद्=ढँकना धातु मानकर (देखो छां० १. ४. २) वृक्ष को ढँकनेवाले पत्तों से वेदों की समता वर्णित है; और अन्त में कहा है कि जब यह सम्पूर्ण वर्णन वैदिक परम्परा के अनुसार है, तब इसे जिसने जान लिया, उसे वेदवेत्ता कहना चाहिए। इस प्रकार वैदिक वर्णन हो चुका; अब इसी वृक्ष का दूसरे प्रकार से, अर्थात् सांख्यशास्त्र के अनुसार, वर्णन करते हैं।"

व्याख्या—हे अर्जुन ! अब तू उस वृक्ष के अन्य अवयवों वा अङ्गों की विलक्षणता सुन—उस वृक्ष की शाखाएँ जो सत्त्वादि गुणों के जल से पुष्टि वा वृद्धि पाती हैं, और जिनकी कोपलें (अंकुर) शब्द स्पर्शादि विषय हैं, वे ऊपर-नीचे फैली हुई हैं, अर्थात् वे शाखाएँ ऊपर देव, पितर, गन्धर्वादि लोकों में और नीचे मनुष्यलोक में फैली हुई हैं। और उस वृक्ष की मुख्य मूल (ब्रह्म) से नीचे को निकली हुई अथवा उतरी हुई जो अवान्तर राग-द्वेषादि वासना-रूप छोटी-छोटी जड़ें मनुष्यलोक में फैली हुई हैं, वे सब कर्म के साथ लगाव रखनेवाली हैं (या वे सब कर्म की फाँस से बँधी हुई हैं); अर्थात् वासनाएँ जो स्वयं छोटी-छोटी (नीचे की) जड़ें हैं, पहले आप उत्पन्न होती हैं, फिर धर्म-अधर्म-रूप कर्म की नवीन वासनाएँ उत्पन्न करती हैं, जिससे ये कर्मानुबन्धी कहलाती हैं ; और फिर इस धर्म-अधर्म-रूप कर्म से अन्य नवीन वासनाएँ उत्पन्न हो आती हैं, जिन वासनाओं और कर्मों के अनुसार पुनः-पुनः नीच-उत्तम योनियों में मनुष्य यहाँ जन्म लेता है। इस प्रकार ये छोटी-छोटी जड़ें इस मनुष्यलोक में फैली हुई हैं ॥ २ ॥ ※

※ इसपर श्रीतिलक महाराज अपने विलक्षण ढंग से ऐसे टिप्पणी देते हैं—"गीतारहस्य के आठवें प्रकरण में विस्तार-सहित निरूपण कर दिया है कि सांख्यशास्त्र के अनुसार प्रकृति और पुरुष येही दो मूल तत्त्व हैं ; और जब पुरुष के आगे त्रिगुणात्मक प्रकृति अपना ताना-बाना फैलाने लगती है, तब महत् आदि तेईस तत्त्व उत्पन्न होते हैं, और उनसे यह ब्रह्माण्ड-वृक्ष बन जाता है। परन्तु वेदान्तशास्त्र की दृष्टि से प्रकृति स्वतन्त्र नहीं है, वह परमेश्वर का ही एक अंश है, अतः त्रिगुणात्मक प्रकृति के इस फैलाव को स्वतन्त्र वृक्ष न मानकर यह सिद्धान्त किया है कि ये शाखाएँ 'ऊर्ध्वमूल' पीपल की ही हैं। अब इस सिद्धान्त के अनुसार कुछ निराले स्वरूप का वर्णन इस प्रकार किया है कि पहले श्लोक में वर्णित वैदिक 'अधःशाख' वृक्ष

सम्बन्ध—अब भगवान् इस वृक्ष के यथार्थ रूपादि को अनिर्वचनीय कहकर इसके छेदन का उपाय कथन करते हैं—

न रूपमस्येह तथोपलभ्यते नान्तो न चादिर्न च सम्प्रतिष्ठा । अश्वत्थमेनं सुविरूढमूलमसङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा ॥ ३ ॥

ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं यस्मिन्गता न निवर्त्तन्ति भूयः । तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी ॥ ४ ॥

की त्रिगुणों से पली हुई शाखाएँ न केवल 'नीचे' ही प्रत्युत 'ऊपर' भी फैली हुई हैं; और इसमें कर्म-विपाक-प्रक्रिया का धागा भी अन्त में पिरो दिया है। अनुगीतावाले ब्रह्म-वृक्ष के वर्णन में केवल सांख्यशास्त्र के चौबीस तत्त्वों का ही ब्रह्म-वृक्ष बतलाया गया है; उसमें इस वृक्ष के वैदिक और सांख्य-वर्णनों का मेल नहीं मिलाया गया है (देखो म० भा० अश्व० ३५. २२, २३; और गीतार० पृष्ठ १७६)। परन्तु गीता में ऐसा नहीं किया; दृश्य सृष्टि-रूप वृक्ष के नाते से वेदों में पाये जानेवाले परमेश्वर के वर्णन का, और सांख्यशास्त्रोक्त प्रकृति के विस्तार या ब्रह्माण्ड-वृक्ष के वर्णन का, इन दो श्लोकों में मेल कर दिया है। मोक्ष-प्राप्ति के लिये त्रिगुणात्मक और ऊर्ध्वमूल वृक्ष के इस फैलाव से मुक्त हो जाना चाहिए। परन्तु यह वृक्ष इतना बड़ा है कि इसके ओर-छोर का पता ही नहीं चलता। अतएव अब बतलाते हैं कि इस अपार वृक्ष का नाश करके, इसके मूल में वर्तमान अमृत-तत्त्व को पहचानने का कौन-सा मार्ग है।"

न, रूपं, अस्य, इह, तथा, उपलभ्यते, न, अन्तः, न, च, आदिः, न, च, सम्प्रतिष्ठा	इस लोक में इसका न वैसा रूप पाया जाता है, न अन्त, और न आदि और न, स्थिति (मध्य)	ततः, पदं, तत्, परिमार्गितव्यं	फिर वह पद ढूँढ़ना चाहिए
अश्वत्थं, एनं, सुविरूढ-मूलं	इस जमी हुई जड़-वाले वृक्ष को	यस्मिन्, गताः, न, निवर्तन्ति, भूयः	जहाँ पहुँचकर फिर वापस नहीं लौटते हैं
असङ्ग-शस्त्रेण, दृढेन, छित्त्वा	दृढ़ असङ्ग शस्त्र से काटकर	तं, एव, च, आद्यं, पुरुषं, प्रपद्ये	और उसी आद्य पुरुष की शरण लेता हूँ
		यतः, प्रवृत्तिः, प्रसृता, पुराणी	जिससे पुरानी प्रवृत्ति फैली हुई है

अन्वयार्थ—इस लोक में इस (वृक्ष) का न वैसा रूप पाया जाता है, न अन्त, न आदि और न सम्प्रतिष्ठा। इस (दृढ़) जमी हुई जड़वाले (वृक्ष) को दृढ़ असङ्ग-शस्त्र से काटकर फिर वह पद ढूँढ़ना चाहिए, जहाँ पहुँचकर फिर वापस नहीं लौटते हैं। और उसी आद्य पुरुष की मैं शरण लेता हूँ कि जिससे (यह) पुरानी प्रवृत्ति फैली हुई है ॥ ३,४ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन! जैसा संसार-वृक्ष वा ब्रह्म-वृक्ष ऊपर वर्णन हुआ है, उस जैसा रूप उस वृक्ष का यहाँ मनुष्यलोक में दिखाई नहीं देता (या प्रतीत नहीं होता) है, और न उसके अन्त, आदि और सम्प्रतिष्ठा (आधार-स्थान, स्थिति वा मध्य) का ही कुछ पता लगता है; अर्थात् जैसे स्वप्न के पदार्थ वा मृगतृष्णा का जल देखते-देखते नष्ट हो जाते हैं, न उनके रूप का, न आदि और अन्त का और न उनके आधार वा स्थिति का ठीक-ठीक पता लगता है, इसी प्रकार इस वृक्ष के रूपादि, अन्त और स्थिति का ठीक-ठीक पता नहीं लगता। विशेषतः अज्ञानी पुरुष तो इसमें आसक्त और मोहित हुए भ्रमते ही रहते हैं। और यद्यपि यह ऐसा वृक्ष नहीं कि जिसकी स्थिति का पल भर भी विश्वास किया

जाय, तथापि अनादि अज्ञान और मोह से इसकी वासना-रूपी जड़ें यहाँ (इस मनुष्यलोक में) ऐसी गहरी मजबूती से जमी हुई हैं कि इस कारण से यह दुश्छेद्य और दुर्विज्ञेय हो रहा है। इस प्रकार दृढ़ता से जमी हुई जड़ोंवाले इस वृक्ष को धन पुत्रादि में निरासक्ति-रूप दृढ़ असङ्ग-शस्त्र से (अथवा अति तीव्र वैराग्य-रूप शस्त्र से) काटना चाहिए और तब वह विष्णु-पद कि जहाँ पहुँचकर फिर लौटना वा जन्म लेना नहीं होता, उसे श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरु की सहायता से ढूँढ़ने का यत्न करना चाहिए। और जो विष्णु-पद शब्द से कहा गया है, वही वास्तव में आद्य पुरुष है, इसलिये उसकी खोज में यह संकल्प करना चाहिए कि "मैं उसी आद्य पुरुष की शरण लेता हूँ जिससे यह पुरानी संसार की प्रवृत्ति फैली हुई है" अर्थात् मैं उसी आद्य पुरुष की ओर जाता हूँ, अथवा उसी की खोज में लगता हूँ जिससे पुरातन प्रवृत्ति उत्पन्न होकर फैली हुई है। इस प्रकार के उपाय, सङ्कल्प वा दृढ़ निश्चय-युक्त अनन्य भक्ति से उस पद को ढूँढ़ना चाहिए। अर्थात् जिससे यह प्राचीन प्रवृत्ति (गुणमय भोग-रूप संसार का प्रवाह) विस्तरित है, उसी आद्य पुरुष (ब्रह्म) के शरणागत होने से अर्थात् उसी की खोज के परायण होने से उस पद को ढूँढ़ना चाहिए जहाँ पहुँचकर फिर इस संसार में लौटना नहीं होता, अर्थात् जहाँ पहुँचने से कैवल्य मुक्ति प्राप्त होती है और सदैव के लिये जन्म-मरण से छुटकारा हो जाता है ॥ ३, ४ ॥ *

---

* कुछ टीकाकारों ने इस श्लोक के अन्तिम भाग के ऐसे अर्थ किये हैं— "उस वृक्ष को वैराग्य-रूपी दृढ़ शस्त्र से काटकर तब वह पद ढूँढ़ना चाहिए कि जहाँ से पुनः लौटना नहीं होता और फिर उसी आद्य पुरुष को प्राप्त होना चाहिए कि जिससे यह पुरानी प्रवृत्ति फैली हुई है।"

श्रीतिलक महाराज इस पर ऐसी विचित्र व्याख्या करते हैं—"गीतारहस्य

सम्बन्ध—(१) उस परम पद को कैसे पुरुष प्राप्त होते हैं, इसे भगवान् कहते हैं—

अथवा (२) उसी पद की प्राप्ति में भगवान् अब और साधन वर्णन करते हैं—

अथवा (३) उस पद को प्राप्त होनेवाले पुरुषों के लक्षण भगवान् अब वर्णन करते हैं—

के दसवें प्रकरण में विवेचन किया है कि सृष्टि का फैलाव ही नाम-रूपात्मक कर्म है, और यह कर्म अनादि है ; आसक्त-बुद्धि छोड़ देने से इसका क्षय हो जाता है, और किसी भी उपाय से इसका क्षय नहीं होता, क्योंकि यह स्वरूपतः अनादि और अव्यय है (देखो २८५—२८६)। तीसरे श्लोक के 'उसका स्वरूप या आदि-अन्त नहीं मिलता' इन शब्दों से यही सिद्धान्त व्यक्त किया गया है कि कर्म अनादि है ; और आगे चलकर इस कर्म-वृक्ष का क्षय करने के लिये एक अनासक्ति को ही साधन बतलाया है। ऐसे ही उपासना करते समय जो भावना मन में रहती है, उसी के अनुसार आगे फल मिलता है (गी० ८. ६)। अतएव चौथे श्लोक में स्पष्ट कर दिया है कि वृक्ष-छेदन की यह क्रिया होते समय मन में कौन-सी भावना रहनी चाहिए। शाङ्कर भाष्य में 'तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये' पाठ है, इसमें वर्तमान काल प्रथम पुरुष के एकवचन का 'प्रपद्ये' क्रियापद है, जिससे यह अर्थ करना पड़ता है ; और इसमें 'इति' सरीखे किसी-न-किसी पद्य का अध्याहार भी करना पड़ता है। इस कठिनाई को टालने के लिये रामानुज-भाष्य में लिखित 'तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्येद्यतः प्रवृत्तिः' पाठान्तर को स्वीकार कर लें, तो ऐसा अर्थ किया जा सकेगा कि 'जहाँ जाने पर फिर पीछे नहीं लौटना पड़ता, उस स्थान को खोजना चाहिए, (और) जिससे सब सृष्टि की उत्पत्ति हुई है, उसी में मिल जाना चाहिए।' किन्तु 'प्रपद' धातु है नित्य आत्मनेपदी, इससे उसका विध्यर्थक अन्य पुरुष का रूप 'प्रपद्येत्' हो नहीं सकता।

निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः। द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञैर्गच्छन्त्य-मूढाः पदमव्ययं तत् ॥ ५ ॥

निर्[3] - मान[1]-मोहाः[2], जित[5], सङ्ग-दोषाः[4]	मान[1] और मोह[2] से रहित[3], सङ्ग-दोष[4] को जीते[5] हुए	द्वन्द्वैः[4], विमुक्ताः[5], सुख-दुःख-संज्ञैः[3]	सुख[1] दुःख नाम[2]-वाले द्वन्द्वों से छूटे हुए
अध्यात्म-नित्याः[1]=अध्यात्म-चिन्तन में नित्य[1] तत्पर और		गच्छन्ति[5], अमूढाः[4], पदं[2], अव्ययं[1], तत्[1]	उस[1] अविनाशी पद[2] को मोह[4] से रहित (ज्ञानी) पुरुष प्राप्त[5] होते हैं
विनिवृत्त[1]-कामाः=दूर[1] हुई कामनाओं-वाले			

अन्वयार्थ—मान-मोह से रहित, सङ्ग-दोष को जीते हुए, अध्यात्म में नित्य तत्पर, दूर हुई कामनाओंवाले और सुख-दुःख नामवाले द्वन्द्वों से छूटे हुए, अमूढ़ (ज्ञानी) पुरुष उस अविनाशी पद को प्राप्त होते हैं ॥ ५ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन! इस प्रकार उस आद्य पुरुष की शरण में आये हुए अथवा उस आद्य पुरुष की खोज-परायण हुए भक्तजन जिन अन्य साधनों वा लक्षणों से युक्त होकर उस पद को प्राप्त होते हैं, उसे तू अब

'प्रपद्येत्' परस्मैपद का रूप है और वह व्याकरण की दृष्टि से अशुद्ध है! प्राय इसी कारण से शाङ्कर भाष्य में यह पाठ स्वीकार नहीं किया गया है, और यही युक्तिसङ्गत है। छान्दोग्य उपनिषद् के कुछ मन्त्रों में 'प्रपद्ये' पद का वि 'इति' के इसी प्रकार प्रयोग किया गया है (छां० ८. १४. १)। 'प्रपद्ये' क्रियापद प्रथम पुरुषान्त हो, तो कहना न होगा कि वक्ता से अर्थात् उपदेश कर्ता श्रीकृष्ण से उसका सम्बन्ध नहीं जोड़ा जा सकता। अब यह बतला हैं कि इस प्रकार बर्तने से क्या फल मिलता है—"

सुन। जो सज्जन मान और मोह से रहित हैं, अर्थात् जो गर्व या अहङ्कार और मूढ़ता वा अविवेक से रहित हैं; जिन्होंने आसक्ति-रूप दोष जीत लिया है, अर्थात् प्रिय-अप्रिय वस्तु के समीप होने पर जो राग-द्वेष से रहित हैं; अथवा पुत्र-धन में जो ममत्व-रूपी सङ्ग (आसक्ति) या कर्म के साथ कर्तृत्व-अभिमान-रूप जो सङ्ग है, उससे और उसके दोषों से जो नितान्त रहित हैं; जो अध्यात्म में नित्य तत्पर हैं, अर्थात् जो अपने परम स्वरूप के विचार, चिन्तन वा ध्यान में नित्य लगे रहते हैं, वा जो अपने चित्त से स्वरूप के निश्चय वा ध्यान में नित्य स्थिर रहते हैं, और इसी से जिनकी समस्त विषय-वासना अथवा लोक-परलोक की कामनाएँ नितान्त निवृत्त हो गई हैं। और सुख-दुःख का हेतु होने से सुख-दुःख नामवाले जो शीत-उष्ण आदि द्वन्द्व हैं, उन द्वन्द्वों से जो छूटे हुए अर्थात् मुक्त पुरुष हैं। ऐसे अमूढ़ (विचारवान्, ज्ञानी, बुद्धिमान्, तत्त्ववेत्ता) पुरुष ही उस निर्विकार वा अविनाशी पद (स्थान) को प्राप्त होते हैं ॥५॥

सम्बन्ध—(१) अब भगवान् उक्त अविनाशी प्राप्तव्य पद के स्वरूप को और स्पष्ट करते हैं—

अथवा (२) अब भगवान् अपने उक्त विष्णु पद के अन्य विशेषण स्पष्ट करते हैं—

न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः ।
यद्गत्वा न निवर्त्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥ ६ ॥

न, तत्, भासयते, सूर्यः	न उस (पद) को सूर्य चमकाता है	यत्, गत्वा, न, निवर्तन्ते	जिसे प्राप्त होकर वापस नहीं लौटते
न, शशाङ्कः, न, पावकः	न चन्द्रमा, न अग्नि	तत्, धाम, परमं, मम	वह मेरा परम धाम है

अन्वयार्थ—उस (पद) को न सूर्य प्रकाशता है, न चन्द्रमा और न अग्नि। जिसको प्राप्त होकर फिर नहीं लौटते हैं, वह मेरा परम धाम ※ है ॥ ६ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन! उक्त साधनों से युक्त होकर विचारवान् मनुष्य जिस प्रकाश-स्वरूप पद को प्राप्त होकर, पुनः संसार में वापस नहीं लौटते हैं, अर्थात् कभी भी पुनर्जन्म को प्राप्त नहीं होते हैं, उस पद को न सूर्य प्रकाशता है, न चन्द्रमा और न अग्नि, अर्थात् ये जड़ ज्योतियाँ जो स्वयं उससे तेज उधार लेकर तेजोमय होती हैं और वाह्य पदार्थों को प्रकाशती हैं, उस (अपने कारण-रूप) परम ज्योतिः-स्वरूप को प्रकाशित करने में नितान्त असमर्थ हैं। और वही मेरा परमधाम अर्थात् वास्तव स्वरूप है ॥ ६ ॥ †

※ इसी परमधाम को भगवान् ने पूर्व आठवें अध्याय के श्लोक २१ में भी वर्णन किया है। इस परमधाम से आशय भगवान् का ब्रह्मलोक व वैकुण्ठलोक, अथवा कोई व्यक्त स्थान या घर नहीं, बल्कि वह अव्यक्त सर्वोपरि अवस्था है कि जो अव्याकृत आदि तथा ब्रह्मलोक से भी परे है, और जो अक्षर, अविनाशी और शुद्ध ब्रह्मस्वरूप के नाम से प्रसिद्ध है, जिसे कैवल्यमुक्ति की अवस्था भी कहते हैं।

† ऐसा ही श्लोक श्रुतियों में बार-बार आया है "न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः। तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति" ॥ १५ ॥ (कठ० ५. १५)=न वहाँ (उस परमधाम में) सूर्य चमकता है, न चन्द्र, न तारे; न ये बिजलियाँ ही चमकती हैं, अग्नि तो भला कहाँ? किन्तु उसके ही प्रकाशमान हुए यह सब प्रकाशता है, और उसके प्रकाश से ही यह सब प्रकाशित होता है। यही श्लोक श्वेताश्वतर (६. १४) और मुण्डक (२. २. १०) उपनिषदों में

सम्बन्ध—(१) "जहाँ पहुँचकर वापस नहीं लौटते, वह मेरा परमधाम है", यह कथन साधारण बुद्धि पुरुष को संशय में डाल देता है, क्योंकि आना-जाना, मरना-जन्मना, संयोग-वियोग ये सब सापेक्षक शब्द हैं। जब जाना है, तो आना भी है, और जहाँ मरना है, वहाँ जन्मना भी है। जाना विना आने के और आना विना जाने के हो ही नहीं सकता। इस प्रकार भ्रमजनक संशय को निवृत्त करने के लिये भगवान् अपने उक्त कथन को और रीति से समझाते हैं, जिससे उनका आशय और स्पष्ट हो जाय—

अथवा (२) वृक्ष का रूपक लेकर अध्यात्म-शास्त्र में परब्रह्म का जो ज्ञान वर्णन है, उसका विवेचन समाप्त करके अब भगवान् अपने पुरुषोत्तम स्वरूप का वर्णन करते हैं; परन्तु अन्त में जो यह कहा है कि "जहाँ जाकर वापस लौटना नहीं होता", इससे सूचित होनेवाली जीव की उत्क्रान्ति और उसके साथ ही जीव के स्वरूप तथा पुनरागमन का पहले वर्णन करते हैं—

अथवा (३) "जहाँ जाकर वापस लौटना नहीं होता", इस प्रकार देहधारी जीव की उत्क्रान्ति दर्शाकर अब भगवान् आगे पाँच श्लोकों में यह स्पष्ट करते हैं कि "वह जीव कौन है जिसकी इस प्रकार उत्क्रान्ति होती है", "मेरे परमधाम को पहुँचकर वापस न लौटने का आशय क्या है", और वह "जीव पुनरावृत्ति को क्यों प्राप्त नहीं होता है", और "कैसे इस संसार से उसका सम्बन्ध वा जन्म-मरण होता है" इत्यादि—

अथवा (४) अपने को ज्योतियों की ज्योतिस्व-रूप परमधाम दर्शाकर अब भगवान् जीव का स्वरूप, उसकी उत्क्रान्ति और पुनरावृत्ति इत्यादि का वर्णन स्पष्ट करते हैं—

मिलता है। इससे अभिप्राय यह है कि सूर्य, चन्द्र या तारे ये सभी नाम-रूप की श्रेणी में आ जाते हैं। और परब्रह्म इन सब नाम-रूपों से परे है; इस कारण सूर्य-चन्द्र आदि को परब्रह्म के ही तेज से प्रकाश मिलता है।

अथवा (४) अपने परमधाम व उसकी प्राप्ति का उपाय बताकर भगवान् अब उससे पहले की दशा का निरूपण करते हैं—

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः ।
मनः षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ॥ ७॥

मम, एव, अंशः, जीव-लोके, जीव-भूतः, सनातनः	मेरा ही अंश जीव-लोक में सनातन जीव हुआ	मनः, षष्ठानि, इन्द्रियाणि, प्रकृति-स्थानि, कर्षति	प्रकृति-स्थित मन सहित छः इन्द्रियों को खींचता है

अन्वयार्थ—मेरा ही अंश जीवलोक में सनातन जीव हुआ प्रकृति में स्थित मन समेत छः इन्द्रियों को खींचता है ॥ ७ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! पूर्व श्लोक ६ में जो मैंने कहा कि "जहाँ पहुँचकर विचारवान् सज्जन वापस नहीं लौटते ; और वही मेरा परम धाम है" मेरे इस कथन से यह भ्रम अवश्य उठ आता है कि आना-जाना तो नित्य परिच्छिन्न पदार्थों में हुआ करता है, अपरिच्छिन्न में नहीं। यदि जीव और धाम दोनों परिच्छिन्न हैं, तो परिच्छिन्न जीव जब भी उस परिच्छिन्न धाम को पहुँचेगा, उसकी पुनरावृत्ति अवश्य और अटल है ; और वह परिच्छिन्न धाम भी अन्य लोकों की तरह नाशवान् और पुनरावृत्ति दिलानेवाला अवश्य होगा, क्योंकि ब्रह्मलोक समेत सारे लोक वास्तव में पुनरावृत्तिवाले हैं, ऐसा मैंने पूर्व आठवें अध्याय में वर्णन किया है। और यदि ये दोनों परिच्छिन्न नहीं, तो फिर आना-जाना कैसे ? इस भ्रम का निवारण अपने धाम के सम्बन्ध में तो मैं आगे श्लोक १२ से आरम्भ करूँगा, पर जीव के विषय में अब करता हूँ, तू ध्यान से सुन। इस जीवलोक (संसार) में जो सनातन (अनादि

जीव कहलाता है, वह मेरा ही अंश है ; अर्थात् मेरा टूटा हुआ या विभक्त टुकड़ा, या मेरे से भिन्न काटा हुआ कोई पदार्थ नहीं (क्योंकि ऐसी दशा में तो मैं अव्यय, अनन्त और अविनाशी अक्षर न हो सकता हूँ, और न रह सकता हूँ), बल्कि जैसे सूर्य जल में प्रतिबिम्बित हुआ अपने समान रूपवाले प्रतिबिम्ब से भिन्न प्रतीत होता है, और वह प्रतिबिम्ब भी सूर्य का अंश सूर्य से अलग दिखाई देता है, या जैसे घटाकाश घट की उपाधि के कारण अपने आधार स्वरूप महाकाश से भिन्न एक अंश के समान प्रतीत होता है, इसी प्रकार जीव भी अविद्या या अन्तःकरण की उपाधि से मेरा प्रतिबिम्बित रूप अंश है, और मेरे से पृथक् प्रतीत होता है, वास्तव में तो वह मेरा स्वरूप ही है। इसलिये जब यह अविद्या-रूपी प्रकृति के गुणों की उपाधि दूर हो जाती है, अर्थात् जब जीव प्रकृति के गुणों को उलाँघ जाता वा अतिक्रमण कर जाता है, तो यह प्रतिबिम्बित रूप मेरा अंश जीव इन गुणों वा गुणों के कार्य-रूप अन्तःकरण से निरासक्त हुआ अपने वास्तव स्वरूप में, जो मैं स्वयं हूँ, या जो मेरा परमधाम वा स्वरूप है, लीन हो जाता है। इस प्रकार मुक्त अनन्त अविनाशी और निर्विकार-स्वरूप में लीन होने से उसकी पुनरावृत्ति नहीं होती। परन्तु इस जीव को पुनरावृत्ति अर्थात् बार-बार जन्म-मरण तब प्राप्त होता है, जब यह इस प्रकृति-रूपी उपाधि में आसक्त हुआ प्रकृति में रहनेवाली वा प्रकृति के कार्य-रूप पाँच ज्ञानेन्द्रिय और छठे मन इन छहों को आकर्षण करता है। अर्थात् जब यह मेरा अंश-रूप जीव इस प्रकृति (अविद्या) और इसके कार्यों में इतना आसक्त हो जाता है कि अपने साथ-साथ इन पाँच ज्ञानेन्द्रियों को और छठे मन को अर्थात् अन्तःकरण को (जो इस प्रकृति के कार्य हैं) लिए फिरता है, और उन्हीं इन्द्रियों द्वारा संसार के भोग भोगता, और उनमें लिप्त होता है, तो यह बार-बार पुनरावृत्ति को प्राप्त होता है, अर्थात् बार-बार जन्मता-

मरता है, और इसी दृढ़ आसक्ति (सङ्ग-दोष) के कारण वह अपने वास्तविक परम स्वरूप अर्थात् अनावृत्ति-रूप परम धाम को प्राप्त होने नहीं पाता ॥ ७ ॥ ❀

❀ इस पर श्रीज्ञानदेवजी अपने विचित्र ढंग से ऐसे व्याख्या करते हैं—

"इस प्रकार आत्मा जब शरीर-परिमित ही प्रतीत होता है, तब उसकी अल्पता के कारण वह मेरा अंश जान पड़ता है। वायु के कारण समुद्र का जल जब तरङ्गाकार हो उछलता है, तो जैसे वह समुद्र का थोड़ा-सा अंश ही दिखाई देता है, वैसे ही हे पाण्डु-सुत ! इस जीवलोक में मैं जड़ को चेतना देनेहारा, देह में अहंता उपजानेहारा जीव जान पड़ता हूँ। जीवों की बुद्धि द्वारा गोचर जो यह सब व्यापार है, यही 'जीवलोक' शब्द का अभिप्राय है। जन्म और मृत्यु को सत्य मानने के लिये ही मैं जीवलोक या संसार समझता हूँ। इस प्रकार के जीवलोक में मुझे ऐसा समझो जैसे जल के परे रहनेहारा चन्द्र जल में दिखाई देता है। हे पाण्डव ! स्फटिक का टुकड़ा कुंकुम पर रक्खा हो, तो लोगों को आरक्त दिखाई देगा, पर वास्तव में वह आरक्त नहीं रहता। वैसे ही मेरे अनादित्व का भङ्ग नहीं होता, मेरा अक्रियत्व भी खंडित नहीं होता ; तथा मेरा कर्ता-भोक्ता दिखाई देना भ्रान्ति समझो। बहुत क्या कहूँ, शुद्ध आत्मा ही प्रकृति से एक जीव हो, निज पर ही प्रकृति-धर्म के कर्मों का आरोपण करता है तथा श्रोतृ इत्यादि मन-समेत छहों इन्द्रियाँ जो प्रकृति से उत्पन्न हुई हैं, उन्हें अपनी समझकर व्यापार में प्रवृत्त होता है। स्वप्न में जैसे संन्यासी आप ही अपना कुटुम्ब बनता है और फिर उसके मोह से इधर-उधर दौड़ता है, वैसे ही आत्मा अपनी विस्मृति के कारण आप ही प्रकृति-रूप होकर उसी में अनुरक्त होता है। वह मन-रूपी रथ पर चढ़ता है, श्रवण-द्वार से निकलता है और शब्द-रूपी वन में प्रवेश करता है, तथा प्रकृति की बागडोर त्वचा-रूपी दिशा की ओर खींचकर स्पर्श-रूपी घोर वन में घुसता है। किसी समय वह नेत्रद्वार से निकलकर

सम्बन्ध—(१) यह जीव इन इन्द्रियों और मन को कब और कैसे खींचता है, इसे भगवान् अब वर्णन करते हैं—

अथवा (२) यह जीव इन इन्द्रियादि को खींचकर फिर क्या करता है, इसे भगवान् अब स्पष्ट करते हैं—

शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः ।
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात् ॥ ८ ॥

शरीरं, यत्, अवाप्नोति	जब शरीर को प्राप्त होता है	गृहीत्वा, एतानि, संयाति	इनको पकड़कर वैसे ले जाता है
यत् च, अपि, उत्क्रामति, ईश्वरः	और जब फिर ईश्वर निकलता है	वायुः, गन्धान्, इव, आशयात्	जैसे वायु (गन्धों के) स्थानों से गन्धों को

अन्वयार्थ—जब ईश्वर ❀ (यह जीव) शरीर को प्राप्त होता है, या जब फिर निकलता है, तब इन (इन्द्रियों) को पकड़कर ऐसे ले जाता है जैसे वायु (गन्ध के) स्थानों से गन्धों को (ले जाता है) ॥ ८ ॥

रूप-रूपी पर्वत पर इधर-उधर घूमता है, अथवा हे सुभट ! रसना के मार्ग से रस-रूपी गुहा में प्रवेश करता है। अथवा कभी यह मेरा अंश घ्राण-मार्ग से निकलकर सुगन्ध-रूपी दारुण वन के पार चला जाता है। इस प्रकार देह और इन्द्रियों का नायक यह जीव मन को छाती से लगा शब्द इत्यादि विषयों के साधनों का भोग लेता है।"

❀ ईश्वर शब्द के अर्थ स्वामी वा मालिक के होते हैं, पर यहाँ जीव के स्थान पर बर्तने से भगवान् का अभिप्राय जो जीव-ईश्वर की अभेदता वा एकता है, वह अधिक स्पष्ट हो जाता है, इसलिये भगवान् ने अनेक स्थलों पर जीव को ईश्वर की जगह (वा ईश्वर के नाम तले) और ईश्वर को जीव की जगह बर्ता है।

व्याख्या—हे अर्जुन ! देह-इन्द्रिय-रूप सङ्घात का स्वामी (मालिक) होने से ईश्वर-रूप जो यह जीव है, जब यह किसी नवीन शरीर में आता है, अर्थात् जन्म लेने लगता है और जब यह वर्तमान शरीर से उठने लगता, अर्थात् बाहर निकलने लगता अथवा देह त्यागने लगता है, तो उस समय यह जीव इन श्रोत्रादि पाँच ज्ञानेन्द्रियों को सहित मन के अपने साथ ऐसे उड़ा ले जाता है, जैसे वायु गन्धों के स्थानों (कस्तूरी, केसर, पुष्पादि) से गन्धों को उड़ा ले जाता है, और अन्य स्थानों को उनसे सुगन्धित कर देता है ॥ ८ ॥ ❀

सम्बन्ध—(१) इन्द्रियों के नाम और उनके ले जाये जाने का प्रयोजन भगवान् अब कहते हैं—

अथवा (२) इसके उपरांत जीव जो करता है उसे भगवान् अब दर्शाते हैं—

श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च ।
अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते ॥ ९ ॥

श्रोत्रं[1], चक्षुः[2], स्पर्शनं[3], च[5], रसनं[4], घ्राणं, एवं[6], च[5]	कान[1], नेत्र[2], त्वचा[3], रसना[4] और[5] ऐसे[6] ही घ्राण	अधिष्ठाय[3], मनः[2], च[1], अयं[4], विषयान्[5], उपसेवते[6]	और[1] मन[2] का आश्रय[3] करके यह[4] विषयों[5] को भोगता[6] है

❀ इसकी व्याख्या भी श्रीज्ञानदेवजी ने अति विचित्र रूप से ऐसे की है—

"परन्तु जीव का यह कर्तृत्व या भोक्तृत्व तभी दिखाई देता है जब वह किसी शरीर में प्रवेश करे। जैसे हे धनञ्जय ! सम्पत्तिमान् और विलासी मनुष्य तभी जाना जाता है, जब वह किसी राजा के रहने-योग्य स्थान में बसे। वैसे ही, देखनेहारों को अहङ्कार की वृद्धि या विषयेन्द्रियों की धींगाधींगी तभी

अन्वयार्थ—कान, नेत्र, त्वचा, रसना, घ्राण और ऐसे ही मन का आश्रय करके यह (जीव) विषयों को भोगता है ॥ ९ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! कान, नेत्र, त्वचा, रसना और घ्राण, इन पाँच ज्ञान-इन्द्रियों का और छठे मन का अधिष्ठाता होकर, अर्थात् इन छहों को बर्ताव में लाकर, अथवा इन छहों में स्थित होकर, वा इनको आश्रय करके यह देह का मालिक ईश्वर-रूप जीव उक्त इन्द्रियों के शब्द-स्पर्शादि विषयों को भोगता है। विना इन इन्द्रियों के आश्रय के, अथवा विना इन इन्द्रियों में स्वयं आकर स्थित होने के यह जीव विषयों को भोगता नहीं है। अतएव श्रुति में भी आया है कि "आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः।"=देह, श्रोत्रादि इन्द्रियों से तथा मन से युक्त हुआ ही आत्मा भोक्ता होता है। क्योंकि यह जीव श्रोत्रादि इन्द्रियों द्वारा ही संसार के भोगों को भोगता है, इसलिये गमनागमन में, अर्थात् शरीर धारण करते समय वा शरीर त्यागते समय वह इन इन्द्रियों को अपने साथ ही ले जाता है ॥ ९ ॥

सम्बन्ध—(१) इस प्रकार गमनागमन करनेवाले जीव को ज्ञानी ही देखते हैं मूर्ख नहीं, इसे भगवान् अब दर्शाते हैं—

दिखाई देती है जब जीव किसी देह का आश्रय करे, तथा जब वह शरीर का त्याग करता है तब भी इस इन्द्रिय-समुदाय-रूपी सम्पत्ति को अपने सङ्ग ले जाता है। जैसे अतिथि का अपमान करने से वह अपने सङ्ग अपमान करनेहारे का पुण्य भी खींच ले जाता है, अथवा डोरी जैसे कठपुतलियों को इधर-उधर खींच ले जाती है, अथवा अस्त हुआ सूर्य जैसे लोगों के नेत्रों के प्रकाश को भी सङ्ग ले जाता है, और रहने दो, पवन जैसे सुगन्ध हर ले जाता है, वैसे ही, हे धनञ्जय ! यह देहराज जब देह का त्याग करता है, तो इन इन्द्रियों को, जिनमें छठा एक मन है, अपने साथ ले जाता है।"

अथवा (२) उक्त रीति से शरीर को धारण करने, छोड़ने वा उपभोग करने पर जीव को कौन जान सकता और कौन नहीं जान सकता है, इसे भगवान् अब स्पष्ट करते हैं—

उत्क्रामन्तं स्थितं वापि भुञ्जानं वा गुणान्वितम् ।
विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः ॥ १० ॥

उत्क्रामन्तं, स्थितं, वा, अपि, भुञ्जानं, वा, गुण-अन्वितं	निकलते हुए वा स्थित वा भोगते हुए या गुणों से युक्त हुए को भी	विमूढाः, न, अनुपश्यन्ति, पश्यन्ति, ज्ञान-चक्षुषः	मूढ़ नहीं देखते हैं (केवल) ज्ञान के नेत्रवाले देखते हैं

अन्वयार्थ—(देह से) निकलते हुए, (देह में) स्थित, वा (विषयों को) भोगते हुए, अथवा गुणों के साथ युक्त हुए-हुए (जीव) को मूढ़ पुरुष नहीं देखते हैं, (केवल) ज्ञान के नेत्रवाले देखते हैं ॥ १० ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! जैसा ऊपर कहा गया है, इस प्रकार इस जीव को एक शरीर वा देह से निकलकर दूसरे में जाते हुए, या एक में स्थिर होकर विषयों को भोगते हुए, अथवा सुख-दुःख मोहादि गुणों करके तथा सत्त्वादि गुणों से युक्त होते भी अर्थात् इन सब अवस्थाओं में या ऐसे गमनागमनवाले जीव को केवल ज्ञान के नेत्रवाले पहचानते हैं, अज्ञानी जन नहीं। अर्थात् इस जीव को गमनागमन करते समय, अथवा अन्य सब दशाओं में भी इस शरीर से पृथक् (न्यारा) केवल ज्ञान के नेत्रवाले देखते हैं, फूटे नेत्रोंवाले मूढ़ पुरुष नहीं ॥ १० ॥*

* इस विषय की श्रीतिलक महाराज ऐसे व्याख्या करते हैं—"इन तीन (८, ९, १०) श्लोकों में से, पहले में यह बतलाया है कि सूक्ष्म या लिंग-

सम्बन्ध—(१) अपने इस उक्त कथन को भगवान् अब और स्पष्ट करके कहते हैं—

अथवा (२) विना प्रयत्न या मन की पवित्रता के उक्त जीव अपने में स्थित नहीं देखा जा सकता, इसे भगवान् अब स्पष्ट करते हैं—

यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम् ।
यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः॥ ११॥

शरीर क्या है ; फिर इन तीन अवस्थाओं का वर्णन किया है कि लिङ्ग-शरीर स्थूल देह में कैसे प्रवेश करता है, वह उससे बाहर कैसे निकलता है, और उसमें रहकर विषयों का उपभोग कैसे करता है। सांख्यमत के अनुसार यह सूक्ष्म-शरीर महान् तत्त्व से लेकर सूक्ष्म पञ्चतन्मात्राओं तक के अठारह तत्त्वों से बनता है, और वेदान्तसूत्रों (३. १. १) में कहा है कि पञ्च सूक्ष्म भूतों का और प्राण का भी उसमें समावेश होता है। मैत्र्युपनिषद् (६. १०) में वर्णन है कि सूक्ष्म शरीर अठारह तत्वों का बनता है। इससे कहना पड़ता है कि "मन और पाँच इन्द्रियाँ" इन शब्दों से सूक्ष्म शरीर में वर्तमान दूसरे तत्वों का संग्रह भी यहाँ अभिप्रेत है। वेदान्त-सूत्रों (३. १७ और ४३) में भी 'नित्य' और 'अंश' दो पदों का उपयोग करके ही यह सिद्धान्त बतलाया है कि जीवात्मा परमेश्वर से वारंवार नये सिरे से उत्पन्न नहीं हुआ करता, वह परमेश्वर का 'सनातन अंश' है (देखो गी० २. २४)। गीता के तेरहवें अध्याय (१३. ४) में जो यह कहा है कि क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-विचार ब्रह्मसूत्रों से लिया गया है, उसका इससे दृढीकरण हो जाता है। गीतारहस्य के नवें प्रकरण (पृ० २४६) में दिखलाया है कि 'अंश' शब्द का अर्थ 'घटाकाशादि'वत् अंश समझना चाहिए, न कि खण्डित 'अंश'।"

यतन्तो, योगिनः, च, एनं, पश्यन्ति, आत्मनि, अवस्थितं	और यत्न करते हुए योगी लोग इसको अपने में स्थित देखते हैं	यतन्तः, अपि, अकृत-आत्मनः, न, एनं, पश्यन्ति, अचेतसः	यत्न करते हुए भी न शोधे हुए आत्मा (अन्तःकरण) वाले अविवेकी इसको नहीं देखते हैं

अन्वयार्थ—और यत्न करते हुए योगी लोग इसको अपने में स्थित देखते हैं। पर अशुद्ध चित्त अविवेकी पुरुष यत्न करते हुए भी इस (जीव) को देखते नहीं हैं ॥ ११ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! ऊपर जो मैंने कहा कि ज्ञान के नेत्रवाले ही उस जीव को सब दशाओं में पहचान लेते हैं, अन्य नहीं। सच पूछो तो ये ज्ञान के नेत्रवाले ज्ञानी लोग भी शुद्ध अंतःकरण द्वारा ध्यानादि उपायों से यत्न करते हुए इस जीव-आत्मा को अपने भीतर अर्थात् अपने हृदय में देखते हैं, अथवा शरीर वा गुणों से पृथक् इसको अपने शुद्ध सच्चिदानन्द-स्वरूप में अनुभव करते हैं। पर जिन्होंने अपना आचरण और अन्तःकरण निष्काम कर्मों अथवा तप द्वारा शुद्ध नहीं किया है, जिससे अविवेकी वा मूढ़ हैं, अर्थात् जो मलिन वा अशुद्धचित्त अविवेकी जन हैं, वे अत्यन्त यत्न करते हुए भी इस जीव को अपने भीतर पहचानने वा देखने नहीं पाते ; अर्थात् अन्तःकरण की शुद्धि के न होने से इनको अनेक यत्न करने पर भी उस जीव का अपने भीतर साक्षात्कार नहीं होता ॥ ११ ॥

सम्बन्ध—(१) इस प्रकार जीव का विषय वर्णन करके अब भगवान् अपने परमधाम-रूपी पद को सर्व-आत्मभाव से विस्तारपूर्वक आगे चार श्लोकों में निरूपण करते हैं—

अथवा (२) आत्मा की सर्वव्यापकता का थोड़ा-सा वर्णन प्रस्तावना के ढङ्ग पर चार श्लोकों में करके फिर सोलहवें श्लोक से भगवान् अपने पुरुषोत्तम स्वरूप का सविस्तर वर्णन करते हैं—

अथवा (३) शरीर में जीव की ज्योति दर्शाकर अब उसी की सारे विश्व में व्यापक-रूपता से ज्योति को भगवान् अपना स्वरूप करके वर्णन करते हैं—

अथवा (४) जिस परब्रह्म-रूप पद को सारी जड़ ज्योतियाँ अर्थात् सूर्य, चन्द्रादि प्रकाश करने में असमर्थ हैं, जहाँ पहुँचकर पुनरावृत्ति नहीं होती, जीव (उपाधि के कारण) जिस पद के अंश-मात्र और पृथक् दिखाई देते हैं (जैसे घड़े में आकाश घड़े की उपाधि से महाकाश का अंश और उससे अलग दीखता है, असल में वही एक महाकाश है, और इसलिये घड़े के फूटते ही वह अंश-मात्र आकाश उसी महाकाश में लीन होता दिखाई देता है, इसी प्रकार अविद्या आदि उपाधियों से निवृत्त होने पर जीव परब्रह्म में लीन हुआ परब्रह्म-स्वरूप हो जाता है, दोनों में कुछ भेद नहीं रहता), उस अभिन्न पद को भगवान् अब सबका आत्मा और सबमें व्यापक और सब व्यवहारों का साधक-रूप आगे चार श्लोकों में वर्णन करते हैं—

यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम् ।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम्॥ १२॥

यत्, आदित्य-गतं, तेजः, जगत्-भासयते, अखिलं	जो सूर्य-गत तेज सारे जगत् को प्रकाशता है	यत्, चन्द्रमसि, यत्, च, अग्नौ	जो चन्द्रमा में और जो अग्नि में है
		तत्, तेजः, विद्धि, मामकं	वह तेज तू मेरा समझ

अन्वयार्थ—जो सूर्य-गत तेज सारे जगत् को प्रकाशता है, और जो (तेज) चन्द्रमा वा अग्नि में है, वह तेज तू मेरा ही समझ ॥ १२ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! जो सूर्य में स्थित चैतन्यात्मक ज्योति-स्वरूप तेज है, ऐसे ही जो चन्द्रमा तथा अग्नि में स्थित चैतन्यात्मक ज्योति-स्वरूप

तेज है, जिस तेज से वास्तव में यह सारा जगत् प्रकाश रहा है, उस तेज को तू वास्तव में मेरा ही जान, अर्थात् यह सब प्रकाश देनेवाले पदार्थ वास्तव में मेरे स्वप्रकाश-स्वरूप के तेज से प्रकाशमान होते हैं, इनमें जो तेज है, वह इनका अपना नहीं, बल्कि मेरा ही है, ऐसा तू समझ ॥ १२ ॥ ❀

और—

गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा ।
पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः ॥ १३ ॥

गां, आविश्य, च, भूतानि, धारयामि, अहं, ओजसा	और पृथिवी में प्रवेश करके सारे भूतों को मैं अपने तेज से धारण करता हूँ	पुष्णामि, च, ओषधीः, सर्वाः, सोमः, भूत्वा, रस-आत्मकः	और रस-रूप सोम होकर सारी ओषधियों को मैं पुष्ट करता (पालता) हूँ

अन्वयार्थ—और पृथिवी में प्रवेश करके सारे भूतों को (अपने) तेज से मैं धारण करता हूँ। और रसमय सोम † होकर सारी ओषधियों को पुष्ट करता हूँ ॥ १३ ॥

❀ पूर्व जो श्लोक ६ की टिप्पणी में कठ उपनिषद् का श्लोक वर्णन हुआ—"न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः। तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति।" इसका पूर्वार्द्ध तो "न तद्भासयते सूर्यो" श्लोक ६ द्वारा स्पष्ट हुआ, और इसके उत्तरार्द्ध का भाव इस बारहवें श्लोक द्वारा भगवान् ने स्पष्ट किया है।

† 'सोम' शब्द के 'सोमवल्ली' और 'चन्द्र' अर्थ हैं, तथा वेदों में वर्णन है कि चन्द्र जिस प्रकार जलात्मक, अंशुमान् और शुभ्र है, उसी प्रकार सोमवल्ली

व्याख्या—हे अर्जुन ! मैं ही पृथिवी-देवता-रूप हुआ पृथिवी में प्रविष्ट होकर अपने ओजस (अचिन्त्य बल वा तेज) से स्थावर-जङ्गम-रूप समस्त भूतों को धारण करता हूँ, अर्थात् यह मेरा ही बल वा तेज है, जो इस पृथिवी को थांमे हुए है, अन्यथा यह सृष्टि स्वयं टुकड़े-टुकड़े होकर नष्ट हो जाय। और श्रुति भी इस विषय में ऐसा कहती है—"येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढा। सदाधार पृथिवीम्।"=जिस परमात्मदेव ने स्वर्गलोक और यह महान् पृथिवी अत्यन्त दृढ़ किये हैं, जिससे गुरुत्व धर्मवाले होकर भी ये स्वर्गादि नीचे पतन होते नहीं, और यह पृथिवी सत्य परमात्मदेव के ही आधार पर है। और रस-रूप जो चन्द्रमा है, वह रसमय सोम (चन्द्रमा) मैं ही होकर पृथिवी से उत्पन्न होनेवाली सारी ओषधियों (वनस्पतियों) को पुष्ट करता, रस-युक्त करता वा स्वादु बनाता हूँ। अर्थात् सबकी उत्पत्ति, स्थिति और वृद्धि मेरे ही बल के आश्रय से है, और वास्तव में सबकी जान वा सार मैं ही हूँ; ऐसा तू निश्चय कर ॥ १३ ॥

और—

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ॥ १४॥

भी है, दोनों ही को 'वनस्पतियों का राज।' कहा है। तथापि पूर्वापर सन्दर्भ से यहाँ चन्द्र ही विवक्षित है। इस श्लोक में यह कहकर कि चन्द्र का तेज मैं ही हूँ; फिर इसी श्लोक में बतलाया है कि वनस्पतियों को पोषण करने का जो चन्द्र का गुण है, वह भी मैं ही हूँ। अन्य स्थानों में भी ऐसे वर्णन हैं कि जलमय होने से चन्द्र में यह गुण है, इसी कारण वनस्पतियों की बाढ़ होती है। (श्रीतिलक महाराज)

अहं, वैश्वानरः, भूत्वा	मैं वैश्वानर होकर	प्राण-अपान-समा-युक्तः	प्राण अपान, के साथ युक्त हुआ
प्राणिनां, देहं, आश्रितः	प्राणियों के देह में रहता हुआ	पचामि, अन्नं, चतुर्-विधं	चार प्रकार के अन्न मैं पचाता हूँ

अन्वयार्थ—मैं वैश्वानर होकर प्राणियों के देह में रहता हुआ और प्राण-अपान के साथ युक्त होकर चार प्रकार के अन्न पचाता हूँ ॥ १४ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! प्राणियों के देह में जो जठराग्नि है, और सब प्रकार के भोजनों को पचाती है, और जो वैश्वानर कहलाती है, वह वैश्वानर अग्नि सबके भीतर स्थित वास्तव में मैं हूँ और भक्ष्य, भोज्य, लेह्य, चोष्य यह चार प्रकार का जो अन्न है ; अर्थात् (१) जो चबाकर खाया जाता है, जैसे रोटी इत्यादि ; (२) जो विना चबाये निगला जाता है, जैसे दूध इत्यादि ; (३) जो केवल जिह्वा से चाटा जाता है, जैसे चटनी इत्यादि ; और (४) जो गन्ने के समान चूसा जाता है ; इस प्रकार के चारों अन्नों को मैं ही जठराग्नि-रूप वैश्वानर होकर सबके भीतर रहते हुए और प्राणापान के साथ मिलकर पचाता हूँ ॥ १४ ॥

और—

सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञान-मपोहनञ्च । वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृद्वेद-विदेव चाहम् ॥१५॥

सर्वस्य[3], च[1], अहं[2], हृदि[4], सन्निविष्टः[5]	और[1] मैं[2] सबके[3] हृदय[4] में प्रविष्ट[5] हूँ	वेदैः[3], च[1], सर्वैः[2], अहं[4], एव[5], वेद्यः[6]	और[1] सब[2] वेदों[3] से मैं[4] ही[5] जानने[6] योग्य हूँ
मत्तः[1], स्मृतिः[2], ज्ञानं[3], अपोहनं[5], च[4]	मुझसे[1] स्मृति[2], ज्ञान[3] और[4] (उनका) अभाव[5] है	वेदान्त[3]-कृत्[4], वेद[6]-वित्[7], एव[2], च[5], अहं[1]	मैं[1] ही[2] वेदान्त[3] का कर्ता[4] और[5] वेद[6]-वेत्ता[7] हूँ

अन्वयार्थ—और मैं सबके हृदय में प्रविष्ट हूँ, मुझसे स्मृति, ज्ञान और (उनका) अभाव है, सब * वेदों से मैं ही जानने-योग्य हूँ, और मैं ही वेदान्त का कर्ता और वेद-वेत्ता हूँ ॥ १५ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! ब्रह्मा से लेकर स्थावर पर्यन्त सब प्राणियों के हृदय में सबका आत्मा-रूप हुआ मैं ही प्रविष्ट (स्थित वा अधिष्ठित) हूँ । "स एव इह प्रविष्टः । अनेन जीवेनात्मानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि ।"=वह परमात्मदेव ही जीवात्मा-रूप से यहाँ (इस शरीर में) प्रविष्ट हुआ है । और इसी जीवात्मा-रूप से इस संघात (शरीर) में प्रविष्ट होकर मैं परमात्मदेव ही नाम-रूपों को स्पष्ट करता वा रचता हूँ । ऐसा श्रुति भी कहती है । क्योंकि मैं ही सबके हृदय में स्थित आत्मा

---

* इस श्लोक का दूसरा चरण कैवल्य उपनिषद् (२. ३) में है, उसमें "वेदैश्च सर्वैः" के स्थान में "वेदैरनेकैः" इतना ही पाठ-भेद है । तब जिन्होंने गीता-काल में 'वेदान्त' शब्द का प्रचलित होना न मानकर ऐसी दलीलें की हैं कि या तो यह श्लोक ही प्रक्षिप्त होगा, या इसके 'वेदान्त' शब्द का कुछ और ही अर्थ लेना चाहिए, वे सब दलीलें बे जड़-बुनियाद की हो जाती हैं । 'वेदान्त' शब्द मुण्डक (३. २. ६) और श्वेताश्वतर (६. २२) उपनिषदों में आया है, तथा श्वेताश्वतर के तो कुछ मन्त्र ही गीता में हूबहू आ गये हैं । (श्रीतिलक महाराज)

और सबके भीतर का बल वा तेज हूँ, इसलिये मुझसे ही सब प्राणियों के भीतर स्मृति और ज्ञान का प्रकाश और क्रोधादि के आगमन पर उनका अभाव वा नाश अर्थात् उन दोनों की उत्पत्ति और नाश होता है, ऐसा तू समझ। जिस परम तत्त्व (परमात्मदेव) के जानने वा वर्णन करने के लिये ये चारों वेद रचे गए हैं, उन चारों वेदों द्वारा जानने योग्य परम तत्त्व मैं ही हूँ। वेदान्त का कर्ता वा प्रवर्तक मैं हूँ, अर्थात् वेदों के सिद्धान्त को ब्रह्मा द्वारा प्रकट करनेवाला और आचार्य-रूप से अधिकारी पुरुषों को समझानेवाला तथा उपनिषदों द्वारा उसे प्रवर्तन करनेवाला सब मैं हूँ। और मैं ही वेद-वेत्ता अर्थात् वेदों के अर्थ का यथार्थ-रूप से जाननेवाला हूँ ॥ १५ ॥

सम्बन्ध—(१) इस प्रकार अपने परमधाम-रूपी पद को सोपाधिक-रूप से वर्णन करके अब भगवान् अपने उसी पद को क्षर-अक्षर नाम की अथवा कार्य-कारण रूप की दोनों उपाधियों से रहित, शुद्ध निरुपाधिक रूप से, तीन श्लोकों में निरूपण करते हैं—

अथवा (२) अब भगवान् निरुक्तिपूर्वक अपने पुरुषोत्तम स्वरूप का लक्षण वर्णन करते हैं—

अथवा (३) पूर्व श्लोकों में भगवान् ने क्षर और अक्षर-रूप उपाधि-भेद से अपनी उत्तम-उत्तम विभूतियों का वर्णन किया, अब इन उपाधियों को अलग करके अपने कैवल्य स्वरूप को भगवान् वर्णन करने लगे हैं—

अथवा (४) "वेदान्तकृद् वेदविदेव चाहं" कहकर अब भगवान् वेद के रहस्य-पूर्ण अर्थ का संग्रह करते हैं—

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च ।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥ १६ ॥

द्वौ, इमौ, पुरुषौ, लोके, क्षरः, च, अक्षरः, एव, च	और लोक में ये दो पुरुष क्षर और ऐसे ही अक्षर हैं	क्षरः, सर्वाणि, भूतानि	क्षर सब भूत हैं
		कूट-स्थः, अक्षरः, उच्यते	अक्षर कूटस्थ कहलाता है

अन्वयार्थ—(इस) लोक में ये दो पुरुष हैं, क्षर और अक्षर। क्षर तो सारे भूत हैं, और अक्षर कूटस्थ कहलाता है ॥ १६ ॥ *

---

* इस श्लोक पर श्रीज्ञानदेवजी ने अपने विचित्र ढङ्ग से अनोखी व्याख्या ऐसे दी है—

"फिर श्रीकृष्ण ने कहा—हे सव्यसाची ! इस संसार-रूपी नगर की बस्ती छोटी-सी अर्थात् केवल दो पुरुषों की है। सम्पूर्ण आकाश में जैसे रात और दिन येही दोनों वस्तुएँ रहती हैं, वैसे ही इस संसार-रूपी राजधानी में येही दो पुरुष हैं। तीसरा पुरुष एक और है, परन्तु उसे इन दोनों का नाम भी नहीं भाता। अपना उदय होते ही वह इन दोनों का इस नगर-समेत नाश कर डालता है। परन्तु इस समय उसकी वार्ता रहने दो। पहले इन दोनों की कथा सुनो जो इस संसार-नगर में बसने के उद्देश्य से आये हैं। इनमें से एक अन्धा है, भ्रमयुक्त है और पंगु है। दूसरा पूर्णाङ्ग और भला-चङ्गा है। इन दोनों का समागम ग्राम-गुण के कारण हुआ है। एक का नाम क्षर है और दूसरे को अक्षर कहते हैं। इन दोनों से ही सब संसार भरा है। अब हम इस अभिप्राय का पूर्ण विवेचन करते हैं कि यह क्षर कौन है और अक्षर के क्या लक्षण हैं। हे धनुर्धर ! महदहङ्कार से लेकर तृणाग्र तक जो कुछ छोटी या बड़ी, जङ्गम या स्थावर वस्तु है, अधिक क्या कहें जो कुछ भी मन या बुद्धि से गोचर है, जिसकी घटना पञ्चमहाभूतों से होती है, जो नाम और रूप के हाथ लगी है, जो तीन गुणों की टकसाल में ढाली जाती है, जिस सुवर्ण से भूताकृति-रूप सिक्के बनाये जाते हैं, जिन कौड़ियों से काल जुआ

व्याख्या—हे अर्जुन ! चेतन शक्ति उपाधि-रूप होने से जो 'पुरुष' शब्द से कहलाती है, वह पुरुष दो भेद से इस संसार में प्रसिद्ध है।

खेलता है, जो वस्तु विपरीत ज्ञान से ही जानी जाती है, जो प्रतिक्षण उत्पन्न होती और विलीन होती जाती है, जिस भ्रान्ति-रूपी वन की लकड़ी से सृष्टि के स्वरूप की रचना होती है, बहुत क्या कहें, जिस वस्तु का नाम जगत् है, जो हमने प्रकृति नाम से आठ प्रकार की अलग वर्णन की थी, तथा जिसे क्षेत्र नाम दे उसके छत्तीस भाग किये थे, पिछली बात कहाँ तक कहें, अभी इसी अध्याय में हमने रूपक के द्वारा जिसका वृक्षाकार रूप किया था, उस सम्पूर्ण साकार वस्तु को अपने रहने का स्थान समझकर चैतन्य तदनुसार ही हो गया है। जैसे सिंह कुएँ में प्रतिबिम्बित हो और अपना प्रतिबिम्ब देखकर क्षोभयुक्त हो और उस क्षोभ के आवेश में कुएँ में कूद पड़े, अथवा आकाश जैसे जल में भी बना है तथापि उसमें ऊपरी आकाश प्रतिबिम्बित होता है, वैसे ही अद्वैत रहते हुए भी चैतन्य द्वैत का आश्रय करता है। इस प्रकार, हे अर्जुन ! आत्मा साकार-नगर की कल्पना कर उसमें विस्मृति-रूपी निद्रा लेता है। परन्तु इस नगर में आत्मा का शयन ऐसा समझो जैसे कोई स्वप्न में शय्या देखे और उस पर निद्रा ले। उस निद्रा के वेग में आत्मा मानों मैं सुखी या दुःखी कहता हुआ ख़र्राटे ले रहा है, तथा अहंता या ममताद्योतक शब्दों से बर्रा रहा है। यह मेरा पिता है, यह मेरी माता है, यह मैं गोरा, अङ्गहीन या अव्यङ्ग हूँ, यह पुत्र, धन या कान्ता मेरी ही है न ? इत्यादि स्वप्न का आश्रय कर जो संसार और स्वर्ग-रूपी वन में इधर-उधर दौड़ रहा है, उस चैतन्य का नाम, हे अर्जुन ! क्षर पुरुष है। और सुनो। जो क्षेत्रज्ञ नाम से पुकारा जाता है, अथवा जो दशा जगत् में जीव कहाती है, जो अपनी विस्मृति के कारण सबमें अनुगत हुआ है, उस आत्मा का निर्देश क्षर पुरुष नाम से किया जाता है। वह वस्तुतः पूर्ण है, इसीलिये उसे पुरुष कहते हैं तथा वह देह-रूपी पुर में सोया हुआ है, इसलिये भी उसका नाम पुरुष पड़ा है। और

एक तो 'क्षर' नाम से और दूसरा 'अक्षर' नाम से ; अर्थात् उत्पत्ति-विनाशवाला जितना भी कार्य-समूह अथवा प्राणी-मात्र है, वह क्षर-

---

उसको क्षरता का मिथ्या जाल इस कारण लगाया गया है कि वह उपाधि-रूप ही बन गया है। जैसे हिलोरते हुए नाले के जल के सङ्ग उसमें प्रतिबिम्बित हुई चन्द्रिका भी आन्दोलित हुई दिखाई देती है, वैसे ही आत्मा भी उपाधि के विकारों-जैसा दिखाई देता है ; तथा नाला जैसे सूख जाता है और साथ ही चन्द्रिका का भी लोप हो जाता है वैसे ही उपाधि का नाश होते ही औपाधिक आत्मा भी नहीं दिखाई देता। इस प्रकार उपाधि के कारण उसे क्षणिकता प्राप्त होती है और उस विनाशित्व के कारण उसे क्षर नाम प्राप्त हुआ है। अतः इस सब जीव-चैतन्य को क्षर पुरुष समझो। अब हम अक्षर का निरूपण करते हैं। हे धनुर्धर ! अक्षर नामक जो दूसरा पुरुष है, वह पर्वतों में मेरु के समान मध्यस्थ है, क्योंकि जैसे मेरु पृथिवी, पाताल या स्वर्ग इन तीनों लोकों से त्रिधा भिन्न नहीं होता, वैसे ही वह पुरुष ज्ञान या अज्ञान से भिन्न नहीं होता। अथवा, न यथार्थ ज्ञान से एक-रूप होना और न अनेकता के द्वारा द्वैतरूप होना, ऐसा जो नितान्त अज्ञान है, वही अक्षर का रूप है। जिसका रजःकणत्व सम्पूर्ण नष्ट हो गया है, परन्तु जिसके घट आदि बासन नहीं बनाये गये हैं, उस मिट्टी के पिण्ड के समान जो मध्यस्थ है, जैसे सरोवर सूख जाने पर उसमें न तरङ्गें रहती हैं न पानी, वैसे ही जिसकी आकार-रहित स्थिति रहती है, हे पार्थ ! जैसे जागृति का नाश हो चुके और स्वप्न की कुछ भी घटना न हो, ऐसी निद्रा के समान जिसका स्वरूप है, सम्पूर्ण विश्व विलीन हो जाय और आत्मबोध प्रतीत न हो ऐसी जो स्थिति है, उस केवल अज्ञान-दशा का नाम अक्षर है। अमावास्या के दिन जैसे सब कलाओं से परित्यक्त चन्द्रमा का केवल चन्द्रत्व ही रह जाता है, वैसा ही स्वरूप अक्षर का समझो। सब उपाधियों का नाश होने पर यह जीव-दशा जहाँ प्रवेश करती है, फल-रूप से परिणत होने पर वृक्ष जैसे बीज में ही स्थित हो रहता है वैसे ही उपाधिगत

पुरुष कहलाता है, और आत्म-ज्ञान के विना जिसका नाश न हो, ऐसी जो विनाश से रहित, और क्षर-पुरुष की उत्पत्ति का वीज-रूप माया वा प्रकृति है, वह 'अक्षर-पुरुष' कहलाता है; अर्थात् असत्-रूप अथवा नाश

चैतन्य उपाधि-सहित जहाँ थम रहता है, उसे अव्यक्त कहते हैं। घोर अज्ञान-रूप जो सुबुद्धि है सो बीज-भाव कहाता है, और स्वप्न या जागृति फल-भाव कहलाता है। एवं वेदान्त में जो वीज-भाव नामक रूप कहा है, वह इस अक्षर पुरुष का स्थान है। जहाँ से विपरीत ज्ञान का विकास हो जागृति, स्वप्न तथा बुद्धि का अपार वन प्रकट होता है, हे किरीटी! जहाँ से जीवत्व संसार को उत्पन्न करता हुआ स्वयं उत्पन्न होता है, वही उन दोनों के भेद का लयस्थान अक्षर पुरुष है। दूसरा जो संसार में 'क्षर' पुरुष प्रसिद्ध है, जो जागृति में या स्वप्न में शरीर में क्रीड़ा करता है, वह अवस्था जहाँ से उत्पन्न होती है, जो अज्ञान, घोर सुषुप्ति इत्यादि नामों से विख्यात है, तथा इसी एक बात के अतिरिक्त जो केवल ब्रह्म-प्राप्ति ही है, जिसके अनन्तर, हे वीर! स्वप्न या जागृति न आती, तो जिसे सचमुच में ब्रह्म-भाव ही कह सकते थे, जिस आकाश-स्थिति से प्रकृति और पुरुष दोनों उत्पन्न होते हैं, जिस अवस्था में क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ-रूपी स्वप्न दिखाई देता है, और सब रहने दो, जो इस अधःशाखी संसार-रूपी वृक्ष का मूल है, वही अक्षर पुरुष का स्वरूप है। इसे पुरुष क्यों कहते हैं? यह पूरा सोया हुआ रहता है इसलिये, तथा यह माया-रूपी पुर में सोया हुआ रहता है इस कारण भी। और विकारों का आवागमन जो अन्यथा ज्ञान का स्वरूप है उसका जिसमें भान नहीं होता, वह सुषुप्ति इसी पुरुष का रूप है। अतः इसका विनाश आप ही आप नहीं हो सकता; तथा ज्ञान के अतिरिक्त किसी अन्य वस्तु से भी इसका अन्त नहीं होता। अतएव, संसार में वेदान्त का यह सिद्धान्त कि यह पुरुष अक्षर है, प्रसिद्ध है। तात्पर्य यह कि जो जीव-रूपी कार्य का कारण है और माया-सङ्ग ही जिसका लक्षण है, उस चैतन्य को अक्षर पुरुष ही जानो।"

होनेवाली व्यक्त सृष्टि क्षर-पुरुष कहलाती है और सत्-रूप अथवा ज्ञान के विना न नाश होनेवाली अव्यक्त माया अक्षर-पुरुष कहलाती है। अथवा अविद्या-उपाधि-युक्त चेतन क्षर-पुरुष और माया-उपाधि-युक्त चेतन अक्षर-पुरुष कहलाता है। दूसरे शब्दों में यह कि समस्त भूत अर्थात् प्रकृति का सारा विकार तो क्षर-पुरुष है और जो उसमें निर्विकार स्थित है वह अक्षर-पुरुष है। इसीलिये जितने भी उत्पत्ति और नाशवाले प्राणी हैं, वे सब क्षर-पुरुष हैं। और जो कूटस्थ है अर्थात् जो यथार्थ वस्तु को ढककर अयथार्थ दर्शावे, ऐसा जो भ्रम, धोखा वा वञ्चन अथवा माया-रूपी कूट है, उस माया-रूपी कूट में जो स्थित पुरुष है, वह (कूटस्थ) अक्षर-पुरुष है। अथवा दूसरे शब्दों में ऐसे कि जितने भी उत्पत्ति-नाशवाले पदार्थ हैं, वे सब क्षर-पुरुष हैं, और जो अहिरन के समान उनमें स्थित, मायोपहित, निर्विकारी और अचल पदार्थ है, वह अक्षर-पुरुष है; अथवा माया* के कार्य-रूप पदार्थ तो क्षर-पुरुष और मायोपहित चेतन यह अक्षर-पुरुष है। अथवा अन्य रीति से ऐसे भी कहा जा सकता

---

* बहुत टीकाकारों ने कूटस्थ का अर्थ अव्यक्त माया ही लिया है। पर एक दो आर्यसमाजी भाइयों ने क्षेत्रज्ञ नामवाला अविनाशी जीवात्मा लिया है। पहले अर्थ यहाँ ठीक बैठते हैं; क्योंकि व्यक्त और अव्यक्त दोनों से परेवाले को भगवान् आगे १७वें व १८वें श्लोक में परमात्मा वा पुरुषोत्तम नाम से दर्शाते हैं, इसलिये यदि क्षर का अर्थ अविद्या-उपाधि-युक्त जीव और अक्षर अर्थात् कूटस्थ का अर्थ माया-उपाधि-युक्त ईश्वर भी ले लिया जाय और समस्त उपाधियों से रहित शुद्ध आत्मा न लिया जाय, तो भी अयुक्त नहीं दीखता, पर कूटस्थ का अर्थ शुद्ध आत्मा लेकर और उससे नितान्त अलग एक परमात्मा दर्शाना यह महा भूल है, क्योंकि गीता का ऐसा मत नहीं है; गीता में तो आत्मा वा परमात्मा दो भिन्न स्वरूप नहीं हैं किंतु एक ही निरुपाधि

है कि व्यष्टि-उपाधि-युक्त चेतन (जीव) क्षर-पुरुष है और समष्टि-उपाधि-युक्त चेतन (ईश्वर) अक्षर-पुरुष है ॥ १६ ॥

सम्बन्ध—अब इन क्षर-अक्षर अथवा अविद्योपहित व मायोपहित दोनों पुरुषों से अतिरिक्त निरुपाधिक स्वरूप पुरुष को भगवान् कहते हैं—

अवस्था के ये दो नाम हैं, इसलिये केवल एक ही आत्मा या परमात्मा दोनों व्यक्त-अव्यक्त रूप हुआ उनमें व्याप्त माना है।

श्रीतिलक महाराज इस पर ऐसी अनोखी टिप्पणी देते हैं—"सोलहवें श्लोक के 'क्षर' और 'अक्षर' शब्द सांख्य-शास्त्र के 'व्यक्त' और 'अव्यक्त'—अथवा 'व्यक्त सृष्टि' और 'अव्यक्त प्रकृति'—इन दोनों शब्दों के समानार्थक हैं। प्रकट है कि इनमें क्षर ही नाशवान् पञ्च-भूतात्मक व्यक्त पदार्थ है। स्मरण रहे कि 'अक्षर' विशेषण पहले कई बार जब परब्रह्म को भी लगाया गया है (देखो गी० ८. ३; ८. २१; ११. ३७; १२. ३), तब पुरुषोत्तम के उल्लिखित लक्षण में 'अक्षर' शब्द का अर्थ अक्षर-ब्रह्म नहीं है, किन्तु उसका अर्थ सांख्यों की अक्षर-प्रकृति है; और इस गड़बड़ से बचाने के लिये ही सोलहवें श्लोक में 'अक्षर अर्थात् कूटस्थ (प्रकृति)' यह विशेष व्याख्या की है। सारांश, व्यक्त सृष्टि और अव्यक्त प्रकृति के परे का 'अक्षर ब्रह्म' और 'क्षर' (व्यक्त सृष्टि) एवं 'अक्षर' (प्रकृति) से परे का 'पुरुषोत्तम', वास्तव में ये दोनों एक ही हैं। १३वें अध्याय (१३. ३१) में कहा गया है कि इसे ही परमात्मा कहते हैं और यही 'परमात्मा' शरीर में क्षेत्रज्ञ-रूप से रहता है। इससे सिद्ध होता है कि क्षर-अक्षर-विचार में जो मूल-तत्त्व अक्षर-ब्रह्म अन्त में निष्पन्न होता है, वही क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-विचार का भी पर्यवसान है, अथवा 'पिण्ड में' और 'ब्रह्माण्ड में' एक ही पुरुषोत्तम है। इसी प्रकार यह भी बतलाया गया है कि अधिभूत और अधियज्ञ प्रभृति का अथवा प्राचीन अश्वत्थ-वृक्ष का तत्त्व भी यही है।"

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥ १७॥

उत्तमः, पुरुषः, तु, अन्यः	परन्तु उत्तम पुरुष और है	यः, लोक-त्रयं, आविश्य,	जो अविनाशी ईश्वर तीनों लोकों
परमात्मा, इति, उदाहृतः	परमात्मा है. ऐसा कहा गया है	बिभर्ति, अव्यय, ईश्वरः	में प्रवेश करके उन्हें धारण करता है

अन्वयार्थ—परन्तु उत्तम पुरुष और है, जो परमात्मा कहलाता है, और जो अविनाशी ईश्वर तीनों लोकों में प्रवेश करके उन्हें धारण करता है ॥ १७ ॥

व्याख्या—पर हे अर्जुन ! अत्यन्त उत्कृष्ट वा शुद्ध चेतन-आत्मा-रूप पुरुष और है ; अर्थात् व्यक्त सृष्टि-रूप क्षर-पुरुष और अव्यक्त माया-रूप अक्षर-पुरुष इन दोनों से इतर परब्रह्म-रूप चैतन्यात्मा नामवाला उत्तम पुरुष दूसरा है, अथवा माया का कार्य-रूप (व्यक्त पदार्थ) क्षर-पुरुष और मायोपहित (अज्ञान, अव्यक्त पदार्थ वा अव्याकृत) अक्षर-पुरुष अथवा अविद्या-उपाधि-युक्त चेतन (जीव) और माया-उपाधि-युक्त चेतन (ईश्वर), जो पूर्व श्लोक में कहा गया है, इन दोनों सोपाधिक पुरुषों से अतिरिक्त निरुपाधिक तथा सर्वोपरि उत्तम पुरुष दूसरा है, जो इसी गीता-शास्त्र में अथवा वेदों में बार-बार परमात्मा नाम से कहा गया है। और वही नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त स्वभाव पुरुष है, जो सब अन्नमयादि कोषों से ऊपर होने के कारण परम उत्कृष्ट और जन्म-मरण आदि सब विकारों से रहित होने के कारण अव्यय, और सबका नियन्ता होने के कारण ईश्वर कहलाता है और वही परमात्मा ईश्वर-रूप हुआ इन (भूः, भुवः, स्वः नाम के) तीनों लोकों में प्रविष्ट होकर अर्थात् तीनों

लोकों को अपनी माया-शक्ति (मायोपाधि) से स्वाश्रित करके उन्हें अपनी सत्ता स्फूर्ति से धारण करता तथा पालन-पोषण करता है ॥ १७ ॥

सम्बन्ध—अब अपनी पुरुषोत्तम संज्ञा का हेतु भगवान् वर्णन करते हैं—

यस्मात् क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः॥१८॥

यस्मात्, क्षरं, अतीतः, अहं, अक्षरात्, अपि, च, उत्तमः	जिस लिये मैं क्षर से अतीत और अक्षर से भी उत्तम हूँ	अतः, अस्मि, लोके, वेदे, च, प्रथितः, पुरुषोत्तमः	इसलिये लोक और वेद में मैं पुरुषोत्तम प्रसिद्ध हूँ

अन्वयार्थ—जिसलिये मैं क्षर से अतीत और अक्षर से भी उत्तम (पुरुष) हूँ, इसलिये लोक और वेद में मैं पुरुषोत्तम प्रसिद्ध हूँ ॥ १८ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! क्योंकि मैं क्षर से अतीत हूँ, अर्थात् कार्य-रूप होने से नाशवान् और स्वप्नवत् होने से मायामय जो यह संसार-रूप क्षर है, अथवा सब नाशवान् पदार्थ-रूप जो क्षर है, अथवा अविद्या-उपाधि-युक्त चेतन (जीव) जो क्षर कहलाता है, इसके परे टपा हुआ हूँ; और ऐसे ही अक्षर से भी उत्तम वा उत्कृष्ट पुरुष हूँ, अर्थात् माया, अविद्या, अज्ञान, भगवत्-शक्ति, इत्यादि नामों से प्रसिद्ध अव्याकृत जो इस संसार का बीज-रूप कारण होने से अक्षर है, अथवा माया के कार्य से अतिरिक्त जो माया में प्रतिबिम्ब-रूप से मायोपहित चेतन माया की उपाधिवाला ईश्वर है, और ज्ञान के विना उपाधि के कदापि न नष्ट होने के कारण अक्षर कहलाता है, इसके भी मैं परे टपा हुआ हूँ, अर्थात् इससे भी मैं परम श्रेष्ठ वा उत्तम पुरुष हूँ । इसलिये संसार में

(अथवा लोक-व्यवहार में) और वेदों में मेरा नाम पुरुषोत्तम प्रसिद्ध है ॥ १८ ॥ ❀

❀ श्लोक १७ और १८ पर श्रीज्ञानदेवजी अपनी विचित्र व्याख्या ऐसे करते हैं—

"अब संसार में जाग्रत और स्वप्न जो दो अवस्थाएँ हैं, वे अन्यथा ज्ञान के द्वारा जिस घोर अज्ञान-तत्त्व में विलीन हो जाती हैं, उस अज्ञान का जब ज्ञान में लय होता है, और ज्ञान ही सम्मुख रहता है, तब जैसे अग्नि काष्ठ को जलाकर स्वयं भी जलती है, वैसे ही ज्ञान अज्ञान का नाश कर आप भी ब्रह्म-स्वरूप का परिचय दे चला जाता है और तदनन्तर ज्ञातृत्व से विहीन जो जाननेहारा बच रहता है वह उत्तम पुरुष है, जो मानों तीसरा या अन्तिम पुरुष है तथा जो पूर्वोक्त दोनों पुरुषों से अलग है। हे अर्जुन! जैसे सुषुप्ति और स्वप्न से जाग्रत अवस्था नितान्त भिन्न बोध का परिचय देनेवाली रहती है, अथवा जैसे सूर्य-किरण और मृगजल से सूर्यमण्डल अत्यन्त भिन्न होता है, वैसे ही यह उत्तम पुरुष भिन्न है। अथवा काष्ठ में रहनेहारी अग्नि जैसे काष्ठ से भिन्न रहती है, वैसे ही यह उत्तम पुरुष क्षर और अक्षर से भिन्न है। कल्पान्त के समय जैसे सर्वत्र एक ही समुद्र पूर्ण हो अपनी सीमा का उल्लङ्घन कर नद-नदियों का एकाकार कर चलता है, प्रलय के तेज से जैसे दिन और रात का अन्त हो जाता है, वैसे ही उस उत्तम पुरुष के समीप न स्वप्न की, न सुषुप्ति की और न जागृति की वार्ता रहती है। तथा जहाँ न एकत्व है, न द्वैत है, अथवा जहाँ यह भी जान नहीं पड़ता कि कुछ है या नहीं, ऐसी जो कोई एक स्थिति है, उस स्थिति को उत्तम पुरुष जानो। वह परमात्मा नाम से विख्यात है। हे पाण्डु-सुत! यह वर्णन भी उस पद से एक न होने के कारण जीवत्व का अभिमान धरने से ही किया जाता है। जैसे डूबते हुए मनुष्य का वर्णन कोई तटस्थ करे, वैसे ही, हे किरीटी! वेद भी विवेक के किनारे खड़े हो परतीरस्थ परमात्मा का वर्णन करते हैं। क्षर और अक्षर दोनों पुरुष इसी पार

सम्बन्ध—अब भगवान् उक्त अर्थ वाले पुरुषोत्तम नाम के ज्ञान का फल वर्णन करते हैं—

हैं, ऐसा देखकर ही उत्तम पुरुष को परतीरस्थ आत्मा कहते हैं। हे अर्जुन! इस प्रकार परमात्मा शब्द से पुरुषोत्तम की सूचना होती है। अन्यथा मौन ही जिसका शब्द है, सम्पूर्ण वस्तु-मात्र का ज्ञान न होना जिसका ज्ञान है, किसी वस्तु के स्वरूप का न होना जिसका अस्तित्व है, ऐसी जो वस्तु है, सोऽहंभाव का भी जहाँ अस्त हो जाता है, वक्ता ही जहाँ वक्तव्य-रूप हो जाता है, जहाँ दृश्य—द्रष्टा-सहित—विलीन हो जाता है, परन्तु जैसे बिम्ब और प्रतिबिम्ब के बीच रहनेहारी प्रभा हाथ नहीं लगती तथापि ऐसा नहीं कहा जा सकता कि वह नहीं है, अथवा नाक और फूल के बीच रहनेवाली सुगन्ध दिखाई नहीं देती तथापि ऐसा नहीं कहा जा सकता कि उसका अस्तित्व नहीं है, वैसे ही द्रष्टा और दृश्य दोनों के विलीन हो जाने पर क्या रह जाता है, सो कौन कह सकता है? परन्तु ऐसी जो स्थिति है, उसकी प्रतीति ही उस पुरुषोत्तम का रूप है। जो प्रकाश्य वस्तु के विना ही प्रकाशता है, जो शासितव्य वस्तु के विना ही शासन करता है, जो निज से ही सब आकाश को बसाता है, जो स्वयं नाद के सुनने-योग्य नाद है, स्वाद के चखने-योग्य स्वाद है तथा आनन्द के ही भोगने-योग्य आनन्द है, जो पूर्णता का परिणाम है, जो सब पुरुषों में श्रेष्ठ है, जहाँ विश्रान्ति का विश्राम समाया हुआ है, जो सुख को प्राप्त हुआ सुख है, जो तेज को उपलब्ध हुआ तेज है, जिस महाशून्य में शून्य भी विलीन हो गया है, जो स्वयं विकसित होने पर भी शेष रहता है, जो संहार का भी संहार कर बच रहता है, जो बड़ी-से-बड़ी वस्तु से भी अनेकशः बड़ा है, जैसे सीप चाँदी न होकर भी अज्ञानी को चाँदी-रूप से प्रतीत होती है, अथवा सुवर्ण जैसे स्वयं गुप्त न रहकर अनेक अलङ्कार-रूपों में छिपा हुआ रहता है, वैसे ही जो वास्तव में विश्व न होता हुआ विश्व को धारण किये है, यह रहने दो, जल और तरङ्ग में जैसे भिन्नता नहीं है, वैसे ही जो आप ही जगत् की सत्ता

यो मामेवमसम्मूढो जानाति पुरुषोत्तमम् ।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत ॥ १९ ॥

यः, माँ, एवं, असम्मूढः, जानाति, पुरुषोत्तमं	जो मोह-रहित पुरुष इस प्रकार मुझ पुरुषोत्तम को जानता है	सः, सर्व-वित्, भजति, माँ, सर्व-भावेन, भारत	वह सर्व का जाननेवाला है अर्जुन! मुझको सब भावों से भजता है

पहला अन्वयार्थ—हे अर्जुन ! जो मोह-रहित पुरुष इस प्रकार मुझ पुरुषोत्तम को जानता है, वह सबका जाननेवाला मुझे सब भाव से भजता है ॥ १९ ॥

दूसरा अन्वयार्थ—हे अर्जुन ! जो इस प्रकार मुझको पुरुषोत्तम जानता है, वह मोह से रहित हुआ सबका जाननेवाला होता है और सब भाव से मुझको भजता है ॥ १९ ॥

व्याख्या—हे भरत की सन्तान अर्जुन ! जो परमात्मा के अज्ञान वा मूढ़ता से रहित हुआ पुरुष है, अर्थात् जो सम्यक् ज्ञानी, चतुर, विद्वान् वा विचारवान् पुरुष है, जब इस प्रकार (जैसा कि पूर्व श्लोकों में ऊपर वर्णन हुआ है) मुझ पुरुषोत्तम को वह जानता है (या जो जानता है कि मैं ही सर्वोपरि उत्तम नाम का पुरुषोत्तम पुरुष हूँ), वह इस ज्ञान

और प्रकाश-रूप है, हे वीरेश ! जल में दिखाई देनेहारे चन्द्र का कारण जैसे यह पूर्ण चन्द्र है, वैसे ही जो आप ही अपने उदय और अस्त का कारण होता है, तथा जो विश्व के प्रकट होने से न कुछ होता या उसके लय से न कहीं जाता, जैसे रात और दिन भिन्न होने से सूर्य द्विधा नहीं होता, वैसे ही जिसका कभी भी या किसी कारण से भी कुछ भी क्षय नहीं होता, जिसकी तुलना स्वयं उसी से हो सकती है ।"

से सबका जाननेवाला अर्थात् सर्वज्ञ और पूर्ण विद्वान् हो जाता है, और इसीसे मुझे फिर सब भावों से वह भजता है ; अर्थात् "सब भूतों में स्थित मैं ही हूँ", "सब भूत भी वास्तव में मैं ही हूँ", "माता, पिता, सुहृद् इत्यादि सब मैं ही हूँ" इत्यादि सब भावों से मुझे भजता है, अथवा सम्पूर्ण भावना वा निश्चय से युक्त होकर वह मुझे भजता (सेवता वा चिन्तता) है। अर्थात् वह मेरा अनन्य भक्त हो जाता है ॥ १९ ॥ *

सम्बन्ध—(१) अध्याय के अर्थ की स्तुति करते हुए भगवान् अब उक्त विषय का उपसंहार करते हैं—

अथवा (२) इस अध्याय में अपने पुरुषोत्तम स्वरूप के गुह्यतम ज्ञान को कहकर भगवान् अब अंत में उस ज्ञान की स्तुति करते हैं—

---

* इस श्लोक की विचित्र ढंग से व्याख्या श्रीज्ञानदेवजी ने ऐसे की है—

"परन्तु यह रहने दो। हे धनञ्जय ! ज्ञान-रूपी सूर्य के प्रकाश से जो मुझ पुरुषोत्तम को पहचान लेता है, उसके लिये यह दिखाई देता हुआ त्रिभुवन उसी प्रकार वृथा हो जाता है जिस प्रकार जाग्रत होने पर निज का ज्ञान होता है और स्वप्न मिट जाता है; अथवा, हार हाथ में लेते ही जैसे सर्पाभास का भय मिट जाता है, वैसे ही मेरा ज्ञान होने पर वह व्यक्त मिथ्या ज्ञान के वश नहीं होता। जो जानता है कि अलङ्कार सुवर्ण ही है, वह अलङ्कारता को मिथ्या समझता है। वैसे ही जिसने मुझे जानकर भेद का त्याग कर दिया है, और जो समझता है कि सर्वत्र सच्चिदानन्द-स्वरूप से एक मैं ही स्वयं सिद्ध हूँ, तथा जो मुझे निज से अभिन्न जानता है, उसी ने सब कुछ जाना है—यह बात कहना भी उसके विषय में न्यून ही है क्योंकि उसके लिये तो द्वैत का नाम-निशान भी नहीं बच रहता। अतः हे अर्जुन ! मेरे भजन के लिये वही योग्य है। जैसे गगन के आलिङ्गन के लिये गगन ही योग्य है, जैसे क्षीरसागर की पहुनई क्षीरसमुद्र बनकर ही हो सकती है, अथवा जैसे अमृत-रूप होकर ही अमृत में मिलना हो सकता है, जैसे उत्तम सोने में मिलाने के लिये उत्तम

इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ ।
एतद् बुद्ध्वा बुद्धिमान्स्यात् कृतकृत्यश्च भारत ॥ २० ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे पुरुषोत्तमयोगो नाम पञ्चदशोऽध्यायः ।

इति, गुह्यतमं, शास्त्रं, इदं, उक्तं, मया, अनघ	हे निष्पाप (अर्जुन)! यह ऐसा गुह्यतम शास्त्र मुझसे कहा गया है	एतत्, बुद्ध्वा, बुद्धिमान्, स्यात्, कृतकृत्यः, च, भारत	हे अर्जुन ! इसे जानकर पुरुष बुद्धिमान् और कृतकृत्य होता है

अन्वयार्थ—हे निष्पाप ! इस प्रकार यह गुह्यतम शास्त्र मुझसे कहा गया है। इसे जानकर पुरुष, हे अर्जुन ! बुद्धिमान् और कृतकृत्य होता है ॥ २० ॥

व्याख्या—हे निष्पाप अर्जुन ! (अथवा हे सर्व व्यसनों से रहित अर्जुन !) और हे भरतकुलोत्पन्न भारत ! इस प्रकार अतिगुह्य से भी गुह्यतम रहस्य-रूप शास्त्र मैंने आज तुझसे कहा है। अर्थात् यद्यपि यह

सोना ही चाहिए, वैसे ही मेरी भक्ति की सम्भावना मद्रूप होकर ही हो सकती है। अजी ! गङ्गा समुद्र से भिन्न होती, तो समुद्र में कैसे मिल जाती ? वैसे ही मद्रूप न होते हुए मेरी भक्ति करना केवल एक सम्बन्ध जोड़ना है। सारांश, तरङ्ग जैसे सब प्रकार से समुद्र से अनन्य रहता है, वैसे जो मुझे भजता है उसका भजन मैं—सूर्य और प्रभा की जिस प्रेम के कारण एकता है—उसी योग्यता का समझता हूँ।"

सम्पूर्ण गीता-शास्त्र ही अति रहस्य-रूप है, तथापि इस अध्याय में तो सम्पूर्ण गीता-शास्त्र का तथा सब वेदों का समग्र अर्थ संक्षेप से मैंने कह दिया है। और जैसे मैंने पहले कहा था कि इस अश्वत्थ का जाननेवाला वेद-वेत्ता होता है, ऐसे ही, हे अर्जुन! अब मैं पुनः तुझसे कहता हूँ कि जो इस पुरुषोत्तम नामवाले उक्त रहस्य को पूरी तरह से जान लेता, अर्थात् साक्षात्कार कर लेता है, वह बुद्धिमान् होता है, अर्थात् "मैं ब्रह्म हूँ" इस प्रकार के आत्मज्ञान से युक्त होता है; और कृतकृत्य होता है, अर्थात् फिर उसे कुछ कर्तव्य-रूप से करना बाक़ी नहीं रहता, बल्कि जो कुछ उसे करना था, वह सब कर चुका होता है। दूसरे शब्दों में संक्षेप से यह कि उक्त रहस्य का जाननेवाला तत्त्ववेत्ता और कृतार्थ हो जाता है ॥ २० ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतानुवादे पुरुषोत्तमयोगो नाम पञ्चदशोऽध्यायः।

पन्द्रहवें अध्याय का संक्षेप

(१) चौदहवें अध्याय के अन्त में जो भगवान् ने सूत्र-रूप से कहा था कि "जो अनन्य भक्ति से मुझे भजता है, वह गुणातीत होकर मेरे शुद्ध भाव को प्राप्त होने के योग्य होता है," पर वहाँ यह नहीं दर्शाया जा सका कि उस अनन्य भक्ति वा ज्ञान की प्राप्ति किस प्रकार के साधन वा उपाय से ठीक हो सकती है। अब कृपालु भगवान् अपने आप उक्त विषय को अन्य रूप से विस्तारपूर्वक वर्णन करने लगे हैं—

(क) ऐसा कहा जाता है कि एक अविनाशी अश्वत्थ है, जिसकी जड़ें ऊपर और शाखायें नीचे को हैं, और जिसके पत्ते छन्द (वेद) हैं। इसको जो जानता है, वह वेद-वेत्ता होता है।

(ख) उस अश्वत्थ की ऊपर और नीचे फैली हुई शाखायें (प्रकृति के गुणों से) पुष्टि पाती हैं। शब्द, स्पर्श आदि विषय उसकी कोपलें (अंकुर) हैं। और उसकी जड़ें नीचे मनुष्यलोक में कर्म से बँधी हुई हैं।

(ग) इस लोक में इस (अश्वत्थ) का-सा न रूप-रङ्ग, न आदि-अन्त और न सम्प्रतिष्ठा (स्थिति वा आधार) पाई जाती है, जिससे यह दुर्विज्ञेय है। पर इसकी जड़ें मज़बूती से इस लोक में जमी हुई हैं। इस ऐसे सुदृढ़ जमे हुए (अश्वत्थ) को दृढ़ असङ्ग (निरासक्ति के) शस्त्र से काटना चाहिए, और फिर उस आद्य पुरुष की शरणागत होने से अथवा तत्पुरुष-परायण होने से उस परम पद को ढूँढना चाहिए कि जहाँ पहुँचकर फिर वापस आना नहीं होता।

(घ) और हे अर्जुन ! यह याद रख कि मान-मोह से रहित, सङ्ग-दोष को जीते हुए, अध्यात्म-चिन्तन वा अध्यात्म-ज्ञान में नित्य तत्पर, दूर हुई कामनावाले, अर्थात् कामनातीत हुए, सुख-दुःख नामवाले द्वन्द्वों से मुक्त हुए ज्ञानवान् ही उस अविनाशी पद को प्राप्त होते हैं, अन्य नहीं।

(२) इस प्रकार अश्वत्थ और अविनाशी पद का वर्णन करके अब भगवान् उस पद के स्वरूप को ऐसे निरूपण करते हैं—

उस पद को न सूर्य प्रकाशता है, न चन्द्रमा और न अग्नि, और उसको प्राप्त होनेवाले फिर जन्म-मरण-रूप संसार में नहीं आते। यह पद मेरा परम धाम है।

(३) "उस पद को पानेवाले वापस नहीं लौटते" इस प्रकार की उत्क्रान्ति और पुनरागमन को जीव के स्वरूप के सहित भगवान् अब वर्णन करने लगे हैं। पहले जीव का स्वरूप और पुनरागमन का प्रकार कथन करते हैं—

(क) मेरा ही अंश इस मनुष्य-लोक में सनातन जीव है, जो अपने साथ पाँचों ज्ञान-इन्द्रियों और छठे मन को खींचे फिरता है, जिससे पुनः-पुनः जन्म-मरण को प्राप्त होता है।

(ख) जैसे वायु पुष्पादि से गंधों को उड़ा ले जाता है, वैसे यह जीव देह त्यागते वा धारण करते समय इन इंद्रियों को साथ उड़ा ले जाता है।

(ग) कान, नेत्र, त्वचा, रसना और घ्राण ये पाँच ज्ञान-इन्द्रियाँ हैं और छठा मन, इनके आश्रय से ही जीव विषयों को भोगता है।

(घ) इस प्रकार एक देह से निकलकर दूसरी देह में जाते हुए, या देह में स्थित और गुणों को भोगते हुए देहधारी जीव को केवल ज्ञान के नेत्रवाले देखते हैं, मूढ़ पुरुष नहीं।

(ङ) योगी (ज्ञानवान्) लोग भी बहुत यत्न करने से इस जीव को अपने भीतर स्थित देखते हैं, पर अशुद्ध-चित्त अज्ञानी तो नाना यत्न करने पर भी उसे देखने नहीं पाते।

(४) इस प्रकार जीव का विषय वर्णन करके अब भगवान् अपने परमपद-रूपी धाम को सर्व आत्मभाव से निरूपण करते हैं—

(क) सूर्य, चन्द्रमा और अग्नि में जो तेज सारे जगत् को प्रकाशता है, उसे तू मेरा ही तेज समझ।

(ख) उस तेज से मैं पृथिवी में प्रविष्ट होकर सारे भूतों को धारण करता हूँ और रसमय सोम होकर सारी ओषधियों को पुष्ट करता हूँ।

(ग) मैं ही सब प्राणियों के अन्दर वैश्वानर होता हुआ चार (सर्व) प्रकार के अन्नों को पचाता हूँ।

(घ) सबके हृदय में मैं ही रहता हूँ, मुझसे ही स्मृति, ज्ञान और इन दोनों की उत्पत्ति और अभाव होते हैं। वेदों से जानने-योग्य वास्तव में मैं ही हूँ, और मैं ही वेदान्त का कर्ता और वेद-वेत्ता वास्तव में हूँ।

(५) इस प्रकार अपने परम पद को सोपाधिक-रूप से वर्णन करके अब भगवान् उसी को निरुपाधिक-रूप से वर्णन करते हैं—

(क) इस संसार में दो पुरुष हैं। एक क्षर और दूसरा अक्षर। क्षर तो सारे भूत हैं और अक्षर कूटस्थ है।

(ख) पर उत्तम पुरुष जो परमात्मा कहलाता है, वह इन दोनों पुरुषों से इतर (दूसरा) है, और वही अविनाशी ईश्वर हुआ तीनों लोकों में प्रविष्ट होकर उन्हें धारण करता है।

(ग) क्योंकि मैं उक्त क्षर से भी अतीत और अक्षर से भी परे (उत्तम पुरुष) हूँ, इसलिये लोकों और वेदों में मेरा नाम पुरुषोत्तम प्रसिद्ध है।

(६) अब उक्त अर्थवाले पुरुषोत्तम पुरुष के ज्ञान का फल भगवान् ऐसे वर्णन करते हैं—

(क) हे अर्जुन ! जो मोह-रहित पुरुष इस प्रकार मुझ पुरुषोत्तम को जानता है, वह सर्वज्ञ होता है और मुझे ही सब भाव से भजता है।

(ख) अथवा जो इस प्रकार मुझे पुरुषोत्तम जानता है, वह मोह-रहित हुआ सर्वज्ञ होता है और मुझको ही सम्पूर्ण निश्चय से भजता रहता है।

(७) अन्त में अध्याय की स्तुति करते हुए भगवान् उक्त विषय का इस प्रकार उपसंहार करते हैं—

हे अर्जुन ! इस गुह्यतम शास्त्र को (जो मैंने तुझसे कहा है) जानकर पुरुष बुद्धिमान् (तत्त्ववेत्ता) और कृतकृत्य (कृतार्थ) हो जाता है। अतएव तू भी ऐसा हो।

इस प्रकार श्रीभगवान् से गाये हुए अर्थात् कहे हुए उपनिषद् में, ब्रह्मविद्यान्तर्गत योगशास्त्र-विषयक, श्रीकृष्ण और अर्जुन के संवाद में, पुरुषोत्तमयोग-नामक पन्द्रहवाँ अध्याय समाप्त हुआ।

---

* ॐ *

षोडशोऽध्यायः

सम्बन्ध—पूर्वाध्याय में भगवान् ने अपना अत्यन्त गुप्त या रहस्य-रूप शास्त्र फल के सहित विस्तारपूर्वक वर्णन किया। अब इस शास्त्र को किस प्रकार की प्रकृति (स्वभाव) से युक्त पुरुष पाते अथवा पाने का यत्न करते हैं, और किस प्रकार की प्रकृतिवाले इससे विमुख वा वञ्चित रहते हैं; अथवा इस शास्त्र को सुन लेने पर किस प्रकार की प्रकृतिवाले मरकर पुनरावृत्ति को प्राप्त नहीं होते बल्कि सीधा परम पदों को पाते हैं, और कौन-सी प्रकृतिवाले मरकर पुनरावृत्ति को प्राप्त होते अर्थात् बार-बार जन्मते-मरते अनेक योनियों में भ्रमते फिरते हैं, इसका विस्तारपूर्वक वर्णन भगवान् अब करने लगे हैं, जिस पर सोलहवाँ अध्याय आरम्भ होता है। पूर्व नवम अध्याय के श्लोक १२ और १३ में भगवान् ने यद्यपि दैवी, आसुरी और राक्षसी इस भेद से तीन प्रकार की सम्पदा का वर्णन किया था, परन्तु वहाँ यह वर्णन केवल सूत्र-रूप से अर्थात् सूचना-मात्र था। अब उसी राक्षसी और आसुरी इन दो प्रकार की सम्पदा को केवल आसुरी सम्पदा के अंतर्गत करके भगवान् आसुरी और दैवी इस भेद से दो प्रकार की सम्पदा (प्रकृतिवालों) का विस्तारपूर्वक वर्णन फल के सहित करने लगे हैं। पहले भगवान् दैवी सम्पदा का विस्तार तीन श्लोकों में कहते हैं—*

---

* इस अध्याय का विलक्षण सम्बन्ध श्रीतिलक महाराज यों निरूपण करते हैं—

श्रीभगवानुवाच—

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः ।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ॥ १ ॥

अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम् ।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम् ॥ २ ॥

तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता ।
भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत ॥ ३ ॥

"पुरुषोत्तम योग से क्षर-अक्षर-ज्ञान की परमावधि हो चुकी ; सातवें अध्याय में जिस ज्ञान-विज्ञान के निरूपण का आरम्भ यह दिखलाने के लिये किया गया था कि कर्मयोग का आचरण करते रहने से ही परमेश्वर का ज्ञान होता है और उसी से मोक्ष मिलता है, उसकी यहाँ समाप्ति हो चुकी और अब यहीं उसका उपसंहार करना चाहिए । परन्तु नवें अध्याय (९. १२) में भगवान् ने जो यह बिलकुल संक्षेप में कहा था कि राक्षसी मनुष्य मेरे अव्यक्त और श्रेष्ठ स्वरूप को नहीं पहचानते, उसी का स्पष्टीकरण करने के लिये इस अध्याय का आरम्भ किया गया है और अगले अध्याय में इसका कारण बतलाया गया है कि मनुष्य-मनुष्य में भेद क्यों होते हैं । और अठारहवें अध्याय में पूरी गीता का उपसंहार है ।"

अभयं[1], सत्त्व-संशुद्धिः[2]*	निर्भयता[1], अन्तः-करण की शुद्धि[2]	दया[1], भूतेषु[2], अलोलुप्त्वं[3]	प्राणियों[2] पर दया[1], निर्लोभता[3]
ज्ञान[1]-योगे[2]-व्यव[3]-स्थितिः	ज्ञान-योग[2] में दृढ़ता[3] (स्थिति वा निष्ठा)	मार्दवं[1], ह्रीः[2], अचापलं[3]	कोमलता[1], लज्जा[2], अचपलता[3]
दानं[1], दमः[2], च[3], यज्ञः[4]	दान[1], दम[2] और[3] यज्ञ[4]	तेजः[1], क्षमा[2], धृतिः[3], शौचं[4]	तेज[1], क्षमा[2], धैर्य[3], पवित्रता[4]
च[3], स्वाध्यायः[1], तपः[2], आर्जवं[4]	स्वाध्याय[1], तप[2] और[3] सरलता[4]	अद्रोहः[1], न[3], अतिमानिता[2]	द्रोहाभाव[1], अतिमानी[2] न[3] होना
अहिंसा[1], सत्यं[2], अक्रोधः[3]	अहिंसा[1], सत्य[2], अक्रोध[3]	भवन्ति[5], सम्पदं[3], दैवीं[2], अभिजातस्य[4], भारत[1]	हे अर्जुन[1]! दैवी[2] सम्पदा में[3] उत्पन्न[4] हुए के (ये सब गुण) होते[5] हैं
त्यागः[1], शांतिः[2], अपैशुनं[3]	त्याग[1], शांति[2], चुग़ली[3] का अभाव		

अन्वयार्थ—श्रीभगवान् बोले—निर्भयता[1], अन्तःकरण की शुद्धि[2], ज्ञान[3]-योग में स्थिति, दान[4], दम[5], यज्ञ[6], स्वाध्याय[7], तप[8], सरलता[9], अहिंसा[10], सत्य[11], अक्रोध[12], त्याग[13], शान्ति[14], चुग़ली[15] का अभाव, प्राणियों[16] पर दया, निर्लोभता[17], कोमलता[18], लज्जा[19], अचपलता[20], तेज[21], क्षमा[22], धैर्य[23], पवित्रता[24], द्रोहाभाव[25] और अतिमानी[26] न होना (ये सब स्वभाव) हे अर्जुन ! दैवी सम्पदा में उत्पन्न हुए (पुरुष) के होते हैं ॥ १, २, ३ ॥

व्याख्या—कृपालु भगवान् बोले—हे भरत-पुत्र अर्जुन ! (१)

---

* सत्त्व-संशुद्धिः=अन्तःकरण की शुद्धि (श्रीशङ्कराचार्य, श्रीरामानुज, मधुसूदन स्वामी, आनन्दगिरि इत्यादि)। बुद्धि की प्रसन्नता (श्रीश्रीधर स्वामी)। शुद्ध सात्त्विक वृत्ति (श्रीतिलक महाराज व काशी के स्वामी दयानन्द)।

निर्भयता (स्वभाव से ही भय का न होना या सन्मार्ग में किसी से न डरना, अथवा शरीर, वाणी, मन करके किसी को भी डर न देना, अर्थात् सबको अभय दान देने का भाव वा स्वभाव) । (२) सत्त्व-संशुद्धि अथवा शुद्ध सात्त्विक वृत्ति अर्थात् अन्तःकरण की शुद्धि (संसार के सब व्यवहारों में झूठ, कपट, दम्भ इत्यादि के त्याग से मन को नित्य शुद्ध करना, या अन्तःकरण की सम्यक् निर्मलता, अथवा अन्तःकरण की ऐसी शुद्धि कि उसमें परमेश्वर-स्वरूप के जानने की योग्यता हो, अथवा श्रवण, मनन और निदिध्यासन इन तीनों की परिपक्वता से अन्तःकरण का असम्भावना तथा विपरीत भावनादि मलों से रहित रहना) । (३) ज्ञानयोग में स्थिति वा दृढ़ता (ज्ञान अर्थात् शास्त्र या आचार्य द्वारा आत्मा के स्वरूप का निश्चय ; योग अर्थात् उस निश्चित स्वरूप के अनुभवार्थ चित्तवृत्ति को विषयों से हटाकर किसी उपाय से आत्म-ध्यान में युक्त वा आरूढ़ रखना। अथवा ज्ञान अर्थात् "अहं ब्रह्मास्मि," इस प्रकार का जो परोक्ष आत्म-साक्षात्कार, और योग अर्थात् मनोनाश और वासनाक्षय, इन दोनों के अनुकूल जो प्रयत्न ; इस प्रकार के ज्ञान और योग दोनों में दृढ़ स्थिति वा निष्ठा) । (४) दान (सुपात्र को यथाशक्ति अन्नादि पदार्थों का देना) । (५) दम (श्रोत्रादि बाह्य इन्द्रियों का दमन, अर्थात् इन इन्द्रियों को अपने-अपने विषय से निवृत्त करके अपने वश में करना) । (६) यज्ञ (श्रुति-स्मृति में कहे हुए अग्निहोत्रादिक तथा बलिवैश्वदेवादिक यज्ञों का करना, अथवा आत्मज्ञान-रूपी अग्नि में नित्य अपनी चित्तवृत्तियों का अर्पण वा स्वाहा करना) । (७) स्वाध्याय (ऋग्वेदादि का केवल धर्मबुद्धि से अध्ययन करना, अथवा वेदान्त-शास्त्र अर्थात् अपने स्वरूप का मनन वा चिन्तन करानेवाली धर्मपुस्तकों का नित्य पढ़ना-पढ़ाना) । (८) तप (ब्रह्मचर्यादि व्रतों से शरीर आदि को वश में रखना, अथवा जो तीन प्रकार का तप

आगे सत्रहवें अध्याय में निरूपण हुआ है, उसका नित्य करना) । (६) सरलता (सदा कोमल वा सरल-स्वभाव रहना, अर्थात् सीधा-सादापन वा निष्कपटता से युक्त रहना) । (१०) अहिंसा (हिंसा न करना, अर्थात् शरीर, मन और वाणी से किसी को भी पीड़ा वा दुःख न पहुँचाना, अथवा जिस-जिस प्राणी का जिस-जिस वृत्ति से जीवन होता है, उस-उस प्राणी की उस वृत्ति अर्थात् पेशे का कभी भी छेदन न करना) । (११) सत्य (जैसा देखा वैसा यथार्थ कहना, अथवा जैसा हृदय में हो वैसा ही उसे प्रेमभरे शब्दों में प्रकट करना, पर उससे अनर्थ न उत्पन्न होता हो) । (१२) अक्रोध (क्रोध का अभाव, अर्थात् किसी दूसरे से निरादर वा तङ्ग किये जाने पर जब क्रोध उत्पन्न हो आवे, तो उसे झटपट शान्त कर लेना) । (१३) त्याग (सर्व पदार्थों से ममत्व का त्याग, या समस्त विषय-वासनाओं का त्याग, अथवा शास्त्र-विधि के अनुसार सर्व कर्मों का संन्यास-रूप त्याग) । (१४) शान्ति (चित्त में उद्विग्नता न होने देना अर्थात् अन्तःकरण का उपशम, निरोध या सहनशील स्वभाव, अथवा अन्तःकरण का अपने वश में रखना) । (१५) चुग़ली का अभाव (किसी की अनुपस्थिति में या परोक्ष-काल में उसका अवगुण दूसरे से न कहना) । (१६) प्राणियों पर दया (दुःखित वा पीड़ित प्राणियों पर कृपा-रूप दया, अर्थात् सब जीवों को अपने समान वा अपना आत्मा समझकर उनके कष्टों से उन्हें छुड़वाने का भरसक यत्न करना) । (१७) निर्लोभता (लोभ वा लालच का अभाव, अर्थात् विषय-भोगों के मौजूद होने पर और उनके भोगने-योग्य शक्ति रखने पर भी उनमें मन न लगाना वा उनकी लालसा न करना, अथवा उनके लिये चित्त में विकार उत्पन्न होने न देना) । (१८) कोमलता (नर्म दिल, अर्थात् क्रूरस्वभाव न होना और किसी के साथ क्रूरता न वर्तनी, अथवा किसी से भी कड़वी बात न कहना,

छोटे-बड़े या नीचे-ऊँचे पदवाले सबसे मीठा बोलना)। (१९) लज्जा (न करने योग्य कर्म के करने में अपयश से डरना वा शर्माना)। (२०) अचपलता (चपलता का अभाव, अर्थात् विना प्रयोजन हाथ-पैर का न चलाना, या व्यर्थ चेष्टा न करनी)। (२१) तेज (अपने गुण-गौरव से तेजस्वी, सामर्थ्यवान् वा प्रभावशाली रहना जिससे दूसरा उसकी दृष्टि-मात्र से दब जावे)। (२२) क्षमा (बदला लेने की शक्ति के होने पर भी किसी के अपराध को सहन कर जाना, अथवा अपना तिरस्कार होने पर भी अन्तःकरण में क्रोधादि विकार का उत्पन्न होने न देना। अर्थात् क्रोधादि विकार का उत्पन्न न होना क्षमा कहलाता है, और उत्पन्न हुए क्रोध को शान्त कर लेना अक्रोध कहलाता है)। (२३) धैर्य (धीरजता, अर्थात् आपत्ति आ पड़ने पर धीरज पकड़ना, अथवा देह इन्द्रियाँ जब शोकादि कारण से व्याकुल हो रही हों, उस समय ज्ञानादि माहात्म्य से उस व्याकुलता को निवारण करनेवाली अन्तःकरण की वृत्ति अथवा व्याकुलता के प्राप्त होने पर भी देह-इन्द्रियों को स्थिर करने का प्रयत्न)। (२४) पवित्रता (शरीर, मन, वाणी से पवित्र रहना, अर्थात् मृत्तिका जलादि से बाहर के शरीर की शुद्धता रखनी और किसी के साथ छल-कपट राग-द्वेषादि न करने से मन-बुद्धि को शुद्ध निर्मल रखकर भीतर अन्तःकरण की शुद्धता रखना अर्थात् बाहर और भीतर से पवित्र रहना)। (२५) द्रोह का अभाव (किसी को मारने वा पीड़ा पहुँचाने की इच्छा न करना, अथवा किसी से घृणा वा वैर न रखना)। (२६) बहुत मानी न होना (अपने आपको बहुत पूज्य न मान बैठना, अथवा अहङ्कार-वश होकर अपने आपको दूसरों से बहुत बड़ा मानने का जो घमण्ड या गर्व है उसको न करना, अथवा अपने से जो पूज्य हों उनके आगे नम्र भाव रहना)। ये पूर्वोक्त २६ *

* २६ लक्षण=अभयादि से लेकर तप तक आठ लक्षण संन्यास, गृहस्थ,

गुण, लक्षण वा स्वभाव उन पुरुषों के होते हैं, अर्थात् उन मनुष्यों में पाये जाते हैं जो दैवी सम्पत्ति को आश्रय करके उत्पन्न होते हैं। अर्थात् जो देवताओं की सम्बन्धिनी सम्पत्ति है, अथवा जो परमदेव (परमात्मा) के भाव को प्राप्त करानेवाली सम्पत्ति है, इसकी अभिलाषा से उत्पन्न हुआ-हुआ जो इस संसार में मनुष्य है, अथवा जो सात्त्विकी वासनाओं को आश्रय करके जन्म लेता है, उस मनुष्य में उक्त २६ गुण वा लक्षण अथवा स्वभाव पाये जाते हैं ॥ १, २, ३ ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार दैवी सम्पदा के लक्षण कहकर अब भगवान् आसुरी सम्पदा के गुण (लक्षणों) को वर्णन करते हैं—

दम्भो दर्पोऽभिमानश्च* क्रोधः पारुष्यमेव च।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ सम्पदमासुरीम् ॥ ४ ॥

दम्भः[1], दर्पः[2], अभिमानः[4], च[3]	दम्भ[1], दर्प[2] और[3] अभिमान[4]	अज्ञानं[2], च[1], अभिजातस्य[6], पार्थ[3], सम्पदं[5], आसुरीम्[4]	और[1] अज्ञान[2] (ये स्वभाव) हे अर्जुन[3]! आसुरी[4] सम्पदा[5] में उत्पन्न[6] हुए के हैं
क्रोधः[1], पारुष्यं[4], एव[3], च[2]	क्रोध[1] और[2] ऐसे ही[3] पारुष्य[4]		

ब्रह्मचर्य और वानप्रस्थ, इन चार आश्रमों के लिये हैं। सरलता से लेकर चपलता के अभाव तक ये १२ लक्षण (धर्म) ब्राह्मण के हैं। तेज, क्षमा, धैर्य ये तीन तो क्षत्रिय के असाधारण धर्म हैं। शौच और अद्रोह ये दो धर्म वैश्य के और अतिमानी न होना यह एक असाधारण धर्म शूद्र का है। ऐसा कई एक टीकाकार निरूपण करते हैं।

* किसी-किसी टीका में अभिमान के स्थान पर अतिमान पाठ है। वहाँ अर्थ बड़ा मान करने का गर्व पाठक कर लें।

अन्वयार्थ—दंभ, दर्प, अभिमान, क्रोध, पारुष्य और अज्ञान (ये स्वभाव) हे अर्जुन ! आसुरी सम्पदा में उत्पन्न हुए के होते हैं ॥ ४ ॥

व्याख्या—हे पृथा-पुत्र अर्जुन ! (१) दम्भ (अपने महानपने की प्रसिद्धि के लिये लोगों के समीप अपने को अत्यन्त धर्मात्मा-रूप से प्रसिद्ध करना, अथवा अपने अवगुणों को छिपाकर लोभ के लिये अपने को धर्मात्मा वा परमात्मा-रूप से प्रकट करना, या अपने में कोई तिनका भर गुण हो उसको अनेक प्रकार से महान् करके दर्शाना, अथवा दूसरों को दिखलाने के लिये धर्म करना, अर्थात् पाखण्ड)। (२) दर्प (घमण्ड अर्थात् धन, कुल वा विद्यादि का गर्व करना)। (३) अभिमान (अपने में पूज्यत्व भाव का आरोपण करना, अर्थात् अपने आपको दूसरों से पुजाने की बुद्धि रखना, या अपने को दूसरों के आगे पूज्य वा बड़ा मानना, अथवा आचार्य, महात्मा, साधु और ईश्वर-भक्तों के सामने नम्र न होना। अथवा जो पूर्व श्लोक में अतिमानिता पद का अर्थ किया है, वही यहाँ अभिमान का अर्थ है)। (४) क्रोध (द्वेषाग्नि से अन्तःकरण में दाह-रूपी बुद्धि का उत्पन्न होना)। (५) पारुष्य (प्रत्यक्ष और अत्यन्त रूखे वचन उच्चारण करना, अथवा किसी को दुखाने के लिये कठोर वा कड़वे वचन कहना)। (६) अज्ञान (विवेक का अभाव, या यथार्थ ज्ञान का न होना, अथवा उलटी बुद्धि रखना, या कर्तव्य विषयों की विचार-हीनता)। ये छ स्वभाव (लक्षण वा गुण) उस पुरुष के होते हैं, जो आसुरी सम्पत्ति को आश्रय करके उत्पन्न होता है। अर्थात् जो लोग आसुरी सम्पत्ति की वासनाओं को साथ लेकर उत्पन्न होते हैं, उनमें ये छ स्वभाव (गुण) पाये जाते हैं ॥ ४ ॥

सम्बन्ध—अब भगवान् उक्त दोनों सम्पदाओं का भिन्न-भिन्न फल वा कार्य निरूपण करते हैं—

दैवी सम्पद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता ।
मा शुचः सम्पदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव ॥५॥

दैवी-सम्पद्, विमोक्षाय	दैवी सम्पद् मोक्ष के लिये	मा, शुचः, सम्पदं, दैवीं,	तू मत शोक कर हे अर्जुन ! तू दैवी
निबन्धाय, आसुरी, मता	आसुरी बन्धन के लिये मानी जाती है	अभिजातः, असि, पाण्डव	सम्पदा में उत्पन्न हुआ-हुआ है

अन्वयार्थ—दैवी सम्पदा मोक्ष के लिये और आसुरी सम्पदा बन्धन के लिये मानी जाती है । हे अर्जुन ! मत शोक कर, तू दैवी सम्पदा में उत्पन्न हुआ-हुआ है ॥ ५ ॥

व्याख्या—हे पाण्डु-पुत्र अर्जुन ! पूर्व ऋषि-मुनियों से वा सच्छास्त्रों में ऐसा निश्चय हुआ है कि उक्त दोनों सम्पदाओं में जो २६ लक्षणोंवाली दैवी सम्पदा है, वह तो संसार-बन्धन से छुड़ाने के लिये होती है, अर्थात् कैवल्यमुक्ति की प्राप्ति में हेतु होती है ; दूसरी जो छ लक्षणोंवाली आसुरी सम्पदा है, जिसके अन्तर्गत राक्षसी सम्पदा भी है, वह निस्सन्देह संसार में फँसानेवाली वा संसार-बन्धन में डालनेवाली होती है, अर्थात् पुनः-पुनः जन्म-मरण-रूप संसार-बन्धन की प्राप्ति में हेतु होती है। इसलिये यह दूसरी आसुरी सम्पदा त्यागने-योग्य है । भगवान् का ऐसा वचन सुनकर जब अर्जुन अपनी उत्पत्ति के विषय संशय-युक्त प्रतीत हुआ, तब भगवान् बोले कि हे अर्जुन ! तू अपने विषय में शोक मत कर, क्योंकि तू तो दैवी सम्पदा के गुणों के साथ उत्पन्न हुआ-हुआ है, अर्थात् तू तो दैवी सम्पत्ति की (अथवा पुण्य-रूप) वासनाओं को साथ लेकर उत्पन्न हुआ-हुआ है । इसलिये तेरा कल्याण अवश्य होगा ॥ ५ ॥

सम्बन्ध—दैवी सम्पदा तो पूर्व तीन श्लोकों में विस्तारपूर्वक वर्णन की

गई, और आसुरी केवल एक श्लोक में संक्षेप से की थी। अब भगवान् आसुरी सम्पदा को खोलकर कहने की प्रतिज्ञा करते हैं—

द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन्दैव आसुर एव च।
दैवो विस्तरशः प्रोक्त आसुरं पार्थ मे शृणु ॥६॥

द्वौ, भूत-सर्गौ, लोके, अस्मिन्	इस लोक में भूतों की सृष्टि दो प्रकार की है	दैवः, विस्तरशः, प्रोक्तः	दैवी विस्तार से कही गई है
दैवः, आसुरः, एव, च	दैवी और ऐसे ही आसुरी	आसुरं, पार्थ, मे, शृणु	हे अर्जुन! आसुरी मुझसे सुन

अन्वयार्थ—इस लोक में भूतों की सृष्टि दो प्रकार ❀ की है, दैवी और आसुरी। हे अर्जुन! दैवी तो विस्तार से कही जा चुकी है, अब आसुरी को तू मुझसे सुन ॥ ६ ॥

व्याख्या—हे पृथा-पुत्र अर्जुन! इस संसार में प्राणियों की दो प्रकार की सृष्टि है, एक तो दैवी अर्थात् सात्त्विकी स्वभाववाली और दूसरी आसुरी अर्थात् राजसी और तामसी स्वभाववाली। दैवी सम्पदा का वर्णन

❀ श्रुति में दो प्रकार की सृष्टि का ऐसे वर्णन है—"द्वया ह प्राजापत्या देवाश्चासुराश्च। ततः कानीयसा एव देवा ज्यायसा असुराः।"=प्रजापति की सन्तान दो भागों में विभक्त हुई, एक देवता और दूसरी असुर। उनमें से देवता छोटे थे और असुर बड़े। इत्यादि (बृह० उप० १.३.१)। यहाँ गीता में भी इसी श्रुति के अनुसार वर्णन है। पूर्व नवें अध्याय में जो दैवी, आसुरी और राक्षसी तीन भेद से सृष्टि कही गई है, वहाँ आसुरी के अन्तर्गत दो भेद हैं। इस प्रकार राक्षसी सृष्टि को आसुरी के अन्तर्गत करके भगवान् यहाँ दो प्रकार ही की सृष्टि कहते हैं।

तो "अभयं सत्त्व-संशुद्धिः" से लेकर "नातिमानिता" तक अर्थात् पूर्व तीन श्लोकों में विस्तारपूर्वक २६ गुणों से किया जा चुका है। आसुरी का केवल एक श्लोक में ही छः गुणों से संक्षेपपूर्वक वर्णन हुआ था, अब उसका विस्तार तू ध्यान देकर मुझसे सुन ॥ ६ ॥

सम्बन्ध—अपनी प्रतिज्ञानुसार भगवान् अब आसुरी संपदा (सृष्टि) का विस्तार आगे १२ श्लोकों में कहते हैं—

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः ।
न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते ॥ ७ ॥

प्रवृत्तिं, च, निवृत्तिं, च	प्रवृत्ति और निवृत्ति को	न, शौचं, न, अपि, च, आचारः, न, सत्यं, तेषु, विद्यते	न पवित्रता न आचार और न ही सत्य उनमें होता है
जनाः, न, विदुः, आसुराः	आसुर लोग नहीं जानते हैं		

अन्वयार्थ—आसुर लोग प्रवृत्ति और निवृत्ति को नहीं जानते। उनमें न पवित्रता, न आचार और न सत्य ही होता है ॥ ७ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! जो दम्भ-दर्पादि आसुरी स्वभाववाले लोग हैं, वे यह नहीं जानते कि प्रवृत्ति वास्तव में क्या है और निवृत्ति वास्तव में क्या है; अर्थात् प्रवृत्ति वास्तव में किस अवस्था को कहते हैं और निवृत्ति किस अवस्था को, अथवा क्या करना चाहिए वा किसमें प्रवृत्त होना चाहिए और क्या न करना चाहिए वा किससे निवृत्त होना चाहिए, इस समस्त ज्ञान को वे लोग जानते नहीं। इसलिये न उनमें बाहर-भीतर से पवित्रता पाई जाती है, न सदाचार और न सत्य ; अर्थात् वे अपवित्र, दुराचारी और झूठे कपटी होते हैं ॥ ७ ॥

और—

असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम् ।
अपरस्परसम्भूतं किमन्यत्कामहैतुकम् ॥ ८ ॥

असत्यं, अप्रतिष्ठं, ते, जगत्, आहुः, अनीश्वरम्	वे जगत् को झूठा विना प्रतिष्ठा और विना ईश्वर के कहते हैं	अपरस्पर-सम्भूतं	अपरस्पर से उत्पन्न हुआ
		किं, अन्यत्, काम-हैतुकं	काम-हेतु से अन्य क्या हो सकता है

अन्वयार्थ—वे कहते हैं कि जगत् झूठा, विना प्रतिष्ठा और विना ईश्वर के है। अपरस्पर से उत्पन्न हुआ है, और कामदेव से अतिरिक्त इसका दूसरा हेतु क्या हो सकता है ॥ ८ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन! आसुरी स्वभाववाले लोग ऐसा कहते वा मानते हैं कि यह जगत् सारा झूठा है; अर्थात् जैसा हम झूठे हैं, वैसा यह जगत् झूठा है; अथवा जैसा वेद, पुराण, स्मृति शास्त्रादि इस जगत् को वर्णन करते हैं, वैसा यह नहीं है। इसलिये इसकी स्थिति का कारण (मूल) कोई नहीं, अर्थात् धर्म-अधर्म-रूप प्रतिष्ठा जो इस जगत् की स्थिति का हेतु वेद-शास्त्रों में मानी जाती है, आसुरी लोग इस जगत् को उस प्रतिष्ठा से रहित मानते हैं, अर्थात् उनकी मति में यह जगत् विना किसी आधार वा आश्रय के स्थित है। और इसीलिये उनकी मति में यह जगत् विना ईश्वर के है, अर्थात् कोई भी इस जगत् का नियन्ता; प्रेरक; कर्म-फल का देनेवाला, रचनेवाला और स्वामी नहीं है। केवल अपरस्पर से उत्पन्न हुआ इस जगत् को वे मानते हैं, अर्थात् पर और अपर से भिन्न जो स्त्री-पुरुष हैं, इन दोनों के परस्पर संयोग से ही यह जगत् उत्पन्न हुआ है; अथवा सांख्य-शास्त्र में जो जगत् के विषय कह

है कि यह जगत् "परस्परसम्भूत" है अर्थात् गुणों के परस्पर मिलाप से उत्पन्न हुआ है, ऐसा आसुरी स्वभाववाले लोग नहीं मानते। उनका ऐसा ही निश्चय है कि यह जगत् या तो स्वतः हुआ है, किसी गुण वा गुणी के परस्पर मिलाप से नहीं हुआ है, और या यह केवल स्त्री-पुरुष के मिलाप से ही हुआ है। इसीलिये वे लोग अन्त में ऐसा कहते हैं कि कामदेव से अतिरिक्त इस जगत् का और दूसरा कारण हो ही क्या सकता है, अर्थात् कामदेव से अतिरिक्त और किसी को वे आसुरी स्वभाव के लोग इस जगत् का कारण नहीं मानते हैं ॥ ८ ॥

और—

एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः।
प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः ॥ ९ ॥

एतां, दृष्टिं, अवष्टभ्य	इस दृष्टि का सहारा लेकर	प्रभवन्ति, उग्र-कर्माणः, क्षयाय, जगतः, अहिताः	ये उग्र कर्मवाले जगत् के नाश के लिये शत्रु उत्पन्न होते हैं
नष्ट-आत्मानः, अल्प-बुद्धयः	ये नष्टात्मा और अल्पबुद्धि		

अन्वयार्थ—इस दृष्टि का सहारा लेकर वे उग्र कर्मवाले नष्टात्मा और अल्पबुद्धि लोग जगत् के नाश के लिये शत्रु उत्पन्न होते हैं ॥ ९ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन! इस प्रकार इस उक्त दृष्टि (निश्चय वा विचार) का सहारा लेकर, अर्थात् ऐसे निश्चय को स्वीकार करते हुए ये नष्ट आत्मा (नष्ट चित्त वा मलीन चित्त) और अल्पबुद्धि (तुच्छ मति वा क्षुद्र समझवाले) और दुष्ट तथा अति क्रूर कर्म करनेवाले आसुरी प्रकृति के लोग जो इस संसार में उत्पन्न होते हैं, वे केवल जगत् के नाशार्थ उत्पन्न होते हैं, इसलिये वे समस्त संसार के केवल शत्रु ही उत्पन्न होते हैं, ऐसा तू निश्चय कर ॥ ९ ॥

और—

काममाश्रित्य दुष्पूरं दम्भमानमदान्विताः ।
मोहाद्गृहीत्वाऽसद्ग्राहान् प्रवर्त्तन्तेऽशुचिव्रताः॥१०

कामं, आश्रि-त्य, दुष्-पूरं	कठिनता से पूर्ण होनेवाले काम का आश्रय करके	मोहात्, गृही-त्वा, असत्-ग्राहान्	मोह से झूठे निश्चयों को स्वीकार करके
दम्भ-मान-मद-अन्विताः	दम्भ, मान, मद से युक्त	प्रवर्त्तन्ते, अशुचि-व्रताः	अपवित्र व्रतोंवाले हुए प्रवृत्त होते हैं

अन्वयार्थ—कठिनता से पूर्ण होनेवाले काम का आश्रय करके, दम्भ, मान और मद से युक्त होकर, मोह से झूठे निश्चयों को पकड़कर, वे अपवित्र व्रतोंवाले हुए प्रवृत्त होते हैं ॥ १० ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! मरण पर्यन्त अथवा शतकोटि वर्ष पर्यन्त भी विषय-भोगों से न तृप्त होनेवाला जो कामदेव है, अथवा अतीव कठिनता से तृप्त होनेवाली जो विषय-वासनायें हैं, इनका आश्रय लेकर, अर्थात् इनसे युक्त होकर वे आसुरी प्रकृतिवाले दुष्टात्मा लोग दम्भ, मान और मद से पूर्ण होते हैं ; अर्थात् वे पाखण्डी, ठग, धोखेबाज़, घमण्डी और अहङ्कार के मद से भरे हुए होते हैं। और इसी कारण वे झूठे निश्चयों, अर्थात् इस मन्त्र से इन स्त्रियों को आकर्षण कर लूँगा या अमुक मन्त्र से उसको मार डालूँगा या मांस मदिरादि के सेवन करने के अपवित्र निश्चयों को ग्रहण करते अथवा कुमार्ग को पकड़ते हैं, जिनसे फिर अपवित्र व्रतोंवाले होकर (अर्थात् गन्दे निश्चयों, सङ्कल्पों वा ख्यालों वाले) होकर निन्दित मार्गों में प्रवृत्त होते हैं ॥ १० ॥

और—

चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः ।
कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः ॥११॥
आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः ।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसञ्चयान् ॥१२॥

चिन्ताँ, अपरि-मेयां, च, प्रलय-अन्ताँ, उपाश्रिताः	और प्रलय तक अपरिमित चिन्ताओं का आश्रय किये हुए	आशा - पाश-शतैः, बद्धाः	सैकड़ों आशा-पाशों से बँधे हुए
		काम-क्रोध-परायणाः	काम-क्रोध के परायण हुए
काम-उपभोग-परमाः, एता-वत्, इति, निश्चिताः	विषयों का उपभोग ही परम है, केवल इतना निश्चय किये हुए	ईहन्ते, काम-भोग-अर्थं, अन्यायेन, अर्थ-सञ्चयान्	काम-भोग के लिये अन्याय से धन के सञ्चय की इच्छा करते हैं

अन्वयार्थ—और प्रलय तक अपरिमित चिन्ताओं का आश्रय किये हुए, 'विषयों का उपभोग ही परम है' केवल इतना निश्चय किये हुए, सैकड़ों आशा-पाशों से बँधे हुए, और काम-क्रोध के परायण हुए (ये आसुरी स्वभाव लोग) काम-भोग के लिये अन्याय से धन-सञ्चय की इच्छा करते हैं ॥११,१२॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! मरना ही अन्त जिसका है, ऐसी प्रमाणरहित चिन्ता ; अर्थात् जिस चिन्ता में मृत्यु भी हो जाय पर चिन्ता आप न मिटे, ऐसी अपार चिन्ता, अथवा प्रलय तक जिसकी सीमा वा अन्त है, अर्थात् जो हज़ारों वर्ष तक न मिटे अथवा जो मरण पर्यन्त बनी रहे,

ऐसी बेअन्दाज़ (अपरिमित, अनन्त, असंख्य) चिन्ताओं का वे आसुरी स्वभाव के लोग आश्रय किये हुए होते हैं, अर्थात् वे नित्य कमाने और जमा करने तथा उसकी रक्षा करने के धन्धों, फ़िक्रों वा सोचों में ही लगे रहते हैं। ये जो भाँति-भाँति के विषय-भोग हैं "इनका पाना और भोगना केवल इतना ही मनुष्यों का परम पुरुषार्थ वा मुख्य उद्देश्य है" ऐसा ॐ निश्चय किये हुए वे लोग होते हैं। अर्थात् इन विषय-भोगों से अतिरिक्त अन्य कोई श्रेष्ठ सुख नहीं, ऐसा ये आसुरी प्रकृति के लोग मानते हैं। इस प्रकार के निश्चय से युक्त होने के कारण वे सैकड़ों प्रकार की आशा-रूपी फाँसों (बन्धनों) में फँसे हुए अथवा उनसे जकड़े हुए होते हैं, अर्थात् जितने-जितने धनादि कमाने के उपाय ये लोग करते हैं, उन सबमें इनकी आशा लगी हुई होती है, इस प्रकार ये आसुर लोग असंख्यात आशाओं में फँसे वा जकड़े हुए होते हैं। और काम-क्रोध के परायण होते हैं, अर्थात् परस्त्रियों के सम्भोग की अभिलाषा से तथा दूसरों का बुरा करने की अभिलाषा से ये आसुर लोग युक्त हुए होते हैं। इसलिये इन नाना प्रकार के विषय-भोगों की ख़ातिर नाना प्रकार की अनीति (चोरी, मक्कारी, छल इत्यादि) और अन्याय से ये लोग धन को इकट्ठा करने (बटोरने) की इच्छा करते हैं, अथवा कामनाओं के भोगों को भोगने की ख़ातिर ये आसुरी स्वभाव के लोग अन्य पुरुषों के सञ्चय किये हुए धन अथवा धन के कोषों को अन्याय से हर लेने की इच्छा करते हैं। अर्थात् इन लोगों को धन की प्राप्ति होने पर भी इनकी धन की तृष्णा कभी मिटती नहीं; बल्कि दिन-प्रति-दिन बढ़ती ही रहती है ॥ ११, १२ ॥

ॐ आसुर लोगों का मत बृहस्पति ने ऐसे कहा है—"चैतन्यविशिष्टः कायः पुरुषः । काम एवैकः पुरुषार्थः ।"=चैतन्य-रूप धर्म से विशिष्ट जो यह स्थूल शरीर है, यही आत्म पुरुष है, और इस लोक के विषयों का भोग ही परम पुरुषार्थ है ।

और—

इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम् ।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम् ॥१३॥

इदं, अद्य, मया, लब्धं	यह आज मुझसे प्राप्त किया गया है	इदं, अस्ति, इदं, अपि, मे, भविष्यति, पुनः, धनं,	यह धन मेरा है और यह भी पुनः मेरा होगा
इमं, प्राप्स्ये, मनोरथं	इस मनोरथ को मैं पाऊँगा		

अन्वयार्थ—यह आज तो मुझे मिल चुका और इस मनोरथ को मैं (कल) पाऊँगा । यह धन तो मेरा है, और यह (दूसरा) भी फिर मेरा हो जायगा ॥ १३ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! और उन आसुर लोगों में ऐसी-ऐसी तरङ्गें उठती रहती हैं या वे ऐसी बातों के फेर में पड़े रहते हैं कि इतना मनोरथ तो मैंने आज प्राप्त कर लिया है (अथवा इतना मनवांछित फल तो मुझे अभी मिल गया है), और इतना अभी पाना रहता है (या मुझे जल्दी प्राप्त होगा) । इसी तरह इतना धन तो मेरा हो गया है और मेरे पास है, पर इतना अभी और पाना रहता है, जो अगले वर्ष या समय पर मैं पा लूँगा । फिर वह भी मेरा धन हो जायगा और इस प्रकार मैं बड़ा धनी या कोटपति हो जाऊँगा ॥ १३ ॥

और—

असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि ।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान्सुखी ॥१४॥

असौ, मया, हतः, शत्रुः	वह शत्रु मुझसे मारा गया है	ईश्वरः, अहं, अहं, भोगी	मैं ईश्वर हूँ, मैं भोगी हूँ
हनिष्ये, च, अपरान्, अपि	और दूसरों को भी मार लूँगा	सिद्धः, अहं, बलवान्, सुखी	मैं सिद्ध, बलवान् और सुखी हूँ

अन्वयार्थ—वह शत्रु तो मुझसे मार डाला गया, और दूसरों को भी मार डलूँगा। मैं ईश्वर हूँ, मैं भोगी हूँ, और मैं सिद्ध, बलवान् तथा सुखी हूँ ॥ १४ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! और मनोराज वे आसुर लोग यह करते रहते हैं कि वह भारी शत्रु तो मैंने मार डाला है, और दूसरे जितने भी अभी रह गये हैं, उन सबको मैं मार डालूँगा। मेरे तुल्य कोई नहीं है, क्योंकि मैं ही सबका मालिक, ईश्वर और पालन-पोषण-कर्ता हूँ, अर्थात् मैं मनुष्य नहीं, बल्कि सबका स्वामी ईश्वर हूँ; मैं ही भोगी (भोगोंवाला) हूँ, अर्थात् विषय-भोगों के सब साधनों से मैं युक्त हूँ, अब ऐसा कोई भी भोग नहीं जो मेरे पास न हो, या मुझे पाना दुर्लभ हो। मैं अब सर्वप्रकार से सिद्ध हूँ, अर्थात् अनेक सिद्धियों से युक्त हूँ, अथवा पुत्र-पौत्र आदि कुटुम्बियों से मैं सम्पन्न हूँ और सम्पत्ति से भी युक्त हूँ; और जैसा कोई साधारण मनुष्य होता है, वैसा मैं अब नहीं हूँ और न उनके समान दुःखी, दुर्बल और पृथिवी पर भार ही हूँ, बल्कि मैं बड़ा बलवान्, सर्व प्रकार से नीरोगी और सुखी हूँ ॥ १४ ॥

और—

आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः ॥ १५ ॥

अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः ।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ ॥ १६ ॥

आढ्यः, अभिजनवान्, अस्मि	मैं धनवान् और कुलीन हूँ	अनेक-चित्त-विभ्रान्ताः	अनेक चित्त से घबराये हुए
कः, अन्यः, अस्ति, सदृशः, मया	मेरे समान दूसरा कौन है	मोह-जाल-समावृताः	मोह-जाल से घिरे हुए
यक्ष्ये, दास्यामि, मोदिष्ये	मैं यज्ञ करूँगा, दान दूँगा, मौज करूँगा	प्रसक्ताः, काम-भोगेषु	विषय-भोगों में फँसे हुए
इति, अज्ञान-विमोहिताः	इस प्रकार अज्ञान से मोहित हुए	पतन्ति, नरके, अशुचौ	अपवित्र नरक में गिरते हैं

अन्वयार्थ—मैं धनवान्, कुलीन हूँ ; मेरे समान दूसरा कौन है ? मैं यज्ञ करूँगा, दान दूँगा, और मौज करूँगा। इस प्रकार अज्ञान से विमोहित, अनेक चित्त से विभ्रान्त, मोह-जाल से घिरे हुए, और विषय-भोगों में फँसे हुए वे अपवित्र नरक में गिरते हैं ॥ १५, १६ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! वे आसुर लोग फिर यह ख्याल करते रहते हैं कि इस समय मैं ही बड़ा धनवान् और कुलीन हूँ, मेरे जैसा दूसरा अब कौन हो सकता है ? अर्थात् मेरे से बढ़कर या मेरे समान इस समय पृथिवी पर कोई नहीं है। मेरे पास धन अब अगणित है, इसलिये मैं अब महान् यज्ञ करूँगा, और मेरी जो इन यज्ञों में स्तुति करनेवाले नट, भाट, नर्तकी आदि होंगे उन्हें खूब दान दूँगा, इससे दूसरे सब यज्ञ करनेवाले अपने आप मेरे से नीचे हो जायँगे (वा मेरे से हल्के पड़

जायँगे), और वे मुझे सबसे बड़ा धनी और दानी मानेंगे। इस कीर्ति से मैं अति हर्ष को प्राप्त हूँगा और आनन्द भोगूँगा वा मौज लूटूँगा। इस प्रकार अज्ञान से मूढ़ अथवा अज्ञान से अपने आपको भूले हुए आसुर लोग अनेक मनोराज्य में विभ्रान्त-चित्त होते हैं (अथवा अनेक विषयों में चित्त रहने से घबराये हुए, या अनेक प्रकार की चित्तवृत्ति वा सङ्कल्पों से भ्रान्ति को प्राप्त हुए होते हैं)। इसलिये तरह-तरह के मोह-माया के जाल में फँसे हुए वा घिरे हुए होते हैं (अथवा अविवेक के बन्धनों में बँधे हुए होते हैं) और इसी प्रकार विषय-भोगों में खूब आसक्त होते हैं। ये ऐसे मूढ़ और आसक्त आसुर लोग मरकर अपवित्र अर्थात् मल-मूत्र से भरे हुए अथवा मलीन पुरुषों के घोर नरक में ही गिरते हैं॥ १५, १६॥

सम्बन्ध—इन आसुर लोगों के ये उक्त यज्ञ दानादि किस प्रकार के होते हैं, इसे भगवान् अब दर्शाते हैं—

आत्मसम्भाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विताः।
यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम् ॥१७॥

आत्म-सम्भा-विताः, स्तब्धाः	अपने ही आप बड़े बने हुए, और अकड़वाले	यजन्ते, नाम-यज्ञैः, ते	वे नाम-मात्र के यज्ञों से यज्ञ करते हैं
धन-मान-मद-अन्विताः	धन-मान-मद से युक्त	दम्भेन, अविधि-पूर्वकं	दम्भ से और अविधिपूर्वक

अन्वयार्थ—अपने आप बड़े बने हुए, अकड़वाले, धन-मान-मद से युक्त लोग नाम-मात्र के यज्ञ दम्भ और अविधि के साथ करते हैं॥ १७॥

व्याख्या—हे अर्जुन! वे आसुर लोग जिन स्वभावों से युक्त हो और

जिस प्रकार के यज्ञ करते हैं, उनको तू अब मुझसे सुन। वे अपने आपको सब गुणों से सम्पन्न समझते हैं और सर्वथा बड़ी अकड़ वा ऐंठ रखते हैं, अर्थात् अपने आपको सबसे श्रेष्ठ समझते हुए वे प्रायः किसी से भी नम्र होकर नहीं बल्कि सबके साथ अकड़ से वर्तते हैं। धन के कारण मान और मद से भरे रहते हैं, इसीलिये वे दम्भ से युक्त होकर नाम-मात्र (केवल औरों को दिखलाने के लिये) यज्ञों को शास्त्र-विधि से रहित करते हैं। अर्थात् न तो उनको यज्ञ में श्रद्धा होती है, न यज्ञ की विधि का ज्ञान होता है, न यज्ञ की विधि में रुचि, और इसीलिये न शास्त्र-विधि से ही वे यज्ञ करते हैं, बल्कि वे तो केवल इस पाखण्ड की बुद्धि से यज्ञ करते हैं कि लोग उनको यज्ञ करता देखकर उन्हें यज्ञी और धर्मी समझें। इसलिये उन आसुरों के यज्ञ केवल नाम-मात्र के यज्ञ होते हैं, और इसीलिये उनका उत्तम फल कुछ नहीं होता, बल्कि दम्भ से किये जाने के कारण वे यज्ञ इन आसुरों को घोर नरक में ही गिराते हैं, स्वर्गादि उच्च लोकों को प्राप्त नहीं होने देते हैं ॥ १७ ॥

और—

अहङ्कारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः ।
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः ॥ १८ ॥

अहङ्कारं, बलं, दर्पं, कामं, क्रोधं, च, संश्रिताः	अहङ्कार, बल, दर्प, काम और क्रोध का सहारा लिए हुए	मां, आत्म-पर-देहेषु	मुझे अपने और दूसरों के देहों में
		प्रद्विषन्तः अभ्यसूयकाः	निन्दक द्वेष करते हैं

पहला अन्वयार्थ—अहंकार, बल, दर्प, काम और क्रोध का सहारा लिए हुए वे निन्दक अपने और दूसरों के देहों में मेरा द्वेष करते हैं ॥ १८ ॥

दूसरा अन्वयार्थ—अहङ्कार, बल, घमण्ड, काम और क्रोध का सहारा लिए हुए वे (आसुर लोग) अपने और दूसरों के देहों में मेरे विद्वेषी और निन्दक हैं ॥ १८ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन! देहाभिमानी का अहं अभिमान रूप जो अहङ्कार है, काम-राग-युक्त जो बल है, जिससे मनुष्य दूसरों का तिरस्कार करने लग पड़ता है, अन्तःकरण में रहनेवाला जो घमण्ड अर्थात् दर्प-रूप दोष है कि जिसके प्रकट होने पर पुरुष धर्म को उल्लङ्घन कर जाता है; विषय-भोग का सुख, अथवा विषय-वासना-रूप जो काम है; और अनिष्ट वस्तु की प्राप्ति पर जो द्वेष-रूप क्रोध है, इन सबका वे आसुर लोग आश्रय किये हुए होते हैं (अर्थात् इन सब उक्त दोषों से वे आसुर युक्त हुए होते हैं)। इसलिये वे मुझे अपनी देह में तथा अन्य लोगों की देह में निन्दते और द्वेष करते हैं। अर्थात् "मैं जो सर्वव्यापक, सबका स्वामी, सब देहों में साक्षी-रूप से स्थित हूँ", ऐसा वे आसुर लोग मुझे नहीं मानते बल्कि अपने आपको देह-बुद्धि से वे सबका मालिक (ईश्वर) समझते हैं, जिससे मेरी अवज्ञा और ईर्ष्या करते हैं, और मेरी श्रुति-स्मृति-रूप आज्ञा का पालन नहीं करते, इससे मेरा द्वेष करते हैं और मुझे सबके भीतर न देखते हुए अपने उक्त दोष-युक्त स्वभावों के कारण लोगों से द्वेष करते हैं, जिससे वास्तव में वे मेरे ही द्वेषी होते हैं। ऐसे पुरुष केवल नरकगामी होते हैं॥ १८॥

सम्बन्ध—इस प्रकार आसुर पुरुषों के लक्षण विस्तारपूर्वक कहकर अब भगवान् उनके फल को सविस्तर कहते हैं—

तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान् ।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु ॥ १६ ॥

तान्, अहं, द्विषतः, क्रूरान्, संसारेषु, नर-अधमान्	मैं उन द्वेष करने-वाले, क्रूर और नीच पुरुषों को लोकों में	क्षिपामि, अजस्रं, अशु-भान, आसुरीषु, एव, योनिषु	(उन) अशुभ लोगों को मैं निरन्तर आसुरी योनियों में ही फेंकता हूँ

अन्वयार्थ—उन द्वेष करनेवाले, क्रूर, नीच और अशुभ लोगों को मैं लोकों ※ में निरन्तर आसुरी योनियों में ही फेंकता हूँ ॥ १६ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! अब तू इन मेरे द्रोही आसुरों की करतूतों का फल सुन कि स्वर्ग-नरकादि सब लोकों में, अथवा इस संसार में जो ये सबके द्वेष करनेवाले (अथवा मेरे द्वेषी), क्रूर (कठोर या निर्दयी), नीच और अशुभ आचरणवाले आसुर पुरुष हैं, उनको मैं निरन्तर उनकी नीच करतूतों के कारण आसुरी योनियों में ही दे पटकता हूँ ; अर्थात् क्रूर कर्म करनेवाली जो सिंह, व्याघ्र, सर्पादि योनियाँ हैं और जिनमें आसुरी स्वभाव वा गुण बहुलता से पाये जाते हैं और जो इसी कारण से प्राणियों में आसुरी योनियाँ कहलाती हैं, उन योनियों में मैं उन धर्म के द्रोही और परमेश्वर वा साधु-महात्माओं के द्वेषी आसुरों को निरन्तर फेंकता रहता हूँ । इस प्रकार इनकी अधोगति ही होती रहती है ॥ १६ ॥

सम्बन्ध—आसुरी योनियों को पाकर जैसी उन (आसुरों) की आगे गति होती है, उसे भगवान् अब स्पष्ट करते हैं—

※ 'संसारेषु' का अर्थ कुछ टीकाकारों ने 'नरकों' या 'नरक-मार्गों' में लिया है । पर यह अर्थ व्यर्थ खींचातानी का कार्य समझकर नहीं दिया गया । इस लोक से अतिरिक्त अन्य लोकों में भी दैवी और आसुरी स्वभाव की योनियाँ हैं । इसलिये 'संसारेषु' का अर्थ 'लोकों में' ठीक बैठता है ।

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम्॥ २०॥

आसुरीं, योनिं, आपन्नाः, मूढाः, जन्मनि, जन्मनि	आसुरी योनि को प्राप्त हुए मूढ़ लोग जन्म-जन्म में	माम्, अप्राप्य, एव, कौन्तेय, ततः, यान्ति, अधमाम्, गतिम्	हे अर्जुन! मुझको न पाकर ही फिर अधम गति को प्राप्त होते हैं

अन्वयार्थ—आसुरी योनि को प्राप्त हुए (ये) मूढ़ लोग जन्म-जन्म में मुझको न पाकर, हे अर्जुन! फिर अधम गति को ही प्राप्त होते हैं ॥ २० ॥

व्याख्या—हे अर्जुन! वे आसुरी स्वभाववाले मूर्खजन उक्त दुष्टचित्त प्राणी अर्थात् व्याघ्र, सिंह, सर्पादि आसुरी योनियों को प्राप्त होने के कारण मुझ सच्चिदानन्द-स्वरूप को अथवा मेरे तत्त्वज्ञान को प्राप्त होने नहीं पाते, इसलिये वे जन्म-जन्म में पहले से भी निचली योनियों अर्थात् अधोगति को प्राप्त होते हैं; अर्थात् वे अपनी इन नीच कर्तूतों के कारण नीचे ही नीचे गिरते जाते हैं और ऊपर शीघ्र उठने नहीं पाते ॥ २० ॥

सम्बन्ध—(१) इस प्रकार आसुरी लोगों का और उनको मिलनेवाली गति का विस्तारपूर्वक वर्णन करके अब इससे छुटकारा पाने की युक्ति भगवान् अध्याय पर्यन्त वर्णन करते हैं—

अथवा (२) आसुरी संपदा के मुख्य तीन दोषों और उनसे छुटकारा पाने की विधि को भगवान् अब स्पष्ट करते हैं—

अथवा (३) आसुरी संपदा का मुख्य स्वरूप अब भगवान् संक्षेप से दर्शाते हैं—

अथवा (४) आसुरी संपदा के किन-किन दोषों को छोड़ने से इससे छुटकारा हो जाता है, इसे भगवान् अब स्पष्ट करके वर्णन करते हैं—

अथवा (५) आसुरी संपदा में कौन-से दोष सब अनर्थों का मूल हैं, इसे भगवान् अब दर्शाते हैं—

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः ।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत् त्रयं त्यजेत् ॥ २२

त्रि-विधं, नर-कस्य, इदं, द्वारं	यह तीन प्रकार का नरक का द्वार है	कामः, क्रोधः, तथा, लोभः	काम-क्रोध और लोभ
नाशनं-आत्मनः	अपने आप (आत्मा) का नाश करनेवाला	तस्मात्, एतत्, त्रयं, त्यजेत्	इसलिये (नर) इन तीनों को त्यागे

अन्वयार्थ—काम, क्रोध और लोभ ये तीन प्रकार के नरक के द्वार आत्मा का नाश करनेवाले हैं, इसलिये (नर) इन तीनों को त्यागे ॥ २१ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! आसुर सम्पत् के कारणभूत जो ये तीन काम, क्रोध और लोभ हैं, इन तीनों से नरक ही मिलता है, अर्थात् आसुर लोग इन तीनों का सदुपयोग करना नहीं जानते ; बल्कि इनका दुरुपयोग करते हुए इन तीनों के दास वा अधीन हो जाते हैं, जिससे ये तीनों उनके लिये नरक का द्वार वा नरक के मुख्य साधन ही होते हैं। क्योंकि उन्हें इन तीनों से अधम योनियों तथा नरकों की प्राप्ति होती है, जिनमें पहुँचकर मनुष्य नितान्त मूढ़ और स्वार्थपरायण हुआ आत्मानुभव के अयोग्य हो जाता है, जिससे अपने आपको अर्थात् अपने परम-स्वरूप वा सच्चिदानन्द-स्वरूप आत्मा को नितान्त भूल जाता है, इसलिये ये तीनों (काम, क्रोध और लोभ) मनुष्य के आत्मा का नाश करनेवाले कहलाते हैं, अर्थात् प्राणी को ये तीनों अपना स्वरूप भुला देनेवाले, अथवा उसके आत्मज्ञान को नष्ट करनेवाले या उसके अन्तःकरण को नष्ट-भ्रष्ट वा मलीन करनेवाले होते हैं। इसीलिये पुरुष को चाहिए कि वह इन तीनों

को शीघ्र ही त्याग दे, जिससे उसके कल्याण में वाधा वा हानि न हो ॥ २१ ॥

सम्बन्ध—अब इन तीनों के त्याग का फल भगवान् वर्णन करते हैं—

एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः ।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम् ॥ २२ ॥

एतैः, विमुक्तः, कौन्तेय, तमः, द्वारैः, त्रिभिः, नरः	हे अर्जुन ! तम के इन तीनों द्वारों से छूटा हुआ मनुष्य	आचरति, आत्मनः, श्रेयः	अपने कल्याण का आचरण करता है
		ततः, याति, पराम्, गतिम्	फिर परम गति को प्राप्त होता है

अन्वयार्थ—हे अर्जुन ! तम के इन तीनों द्वारों से छूटा हुआ मनुष्य अपने हित का आचरण करता है, फिर परम गति को प्राप्त होता है ॥ २२ ॥

व्याख्या—हे कुन्ती-पुत्र अर्जुन ! अन्धकार से ढके हुए लोक अर्थात् नरक की प्राप्ति के साधनभूत तथा अत्यन्त नीच योनियों की प्राप्ति के हेतुभूत जो ये काम, क्रोध और लोभ ऊपर वर्णन हुए हैं, जब मनुष्य इन तीनों नरक के द्वारों से छूट जाता अर्थात् रहित होता है, तो फिर वह अपने हित का आचरण करता है, अर्थात् फिर वह अपनी भलाई के यत्न में लगता है ; अथवा वेद-शास्त्र में जो भगवद्भजन आदि अनेक साधन मनुष्य के कल्याण के लिये विधान किये हुए हैं, उनके अनुष्ठान में तत्पर होता है, जिससे फिर वह परम गति अर्थात् मोक्ष को प्राप्त होता है। तात्पर्य संक्षेप से यह है कि जब तक मनुष्य नरक वा अन्धकार के इन तीन द्वारों वा साधनों अर्थात् काम, क्रोध, लोभ को त्यागता नहीं, तब तक वह अपना कल्याण किञ्चित्-मात्र नहीं कर सकता, और न इनके

होते हुए वह परम गति को ही प्राप्त हो सकता है। पस, मनुष्य को चाहिए कि पहले वह इन तीनों के पंजे से छूटने का प्रयत्न करे और तत्पश्चात् अपने हित का आचरण करे। इस रीति से वह अवश्य मुक्त हो जायगा ॥ २२ ॥

सम्बन्ध—(१) "नरक के तीनों द्वारों से रहित होने पर अपने हित का आचरण करने से मुक्ति होती है," ऐसा भगवान् ने सविस्तर वर्णन किया, पर वहाँ यह नहीं बतलाया कि कौन-सा आचरण हित का है, और कहाँ से पता लगता है कि अमुक-अमुक आचरण हित का है और अमुक-अमुक अहित का, इस विषय को भगवान् अब दो श्लोकों में स्पष्ट करते हैं—

अथवा (२) आसुरी संपदा का त्याग और अपनी भलाई में लगना अर्थात् दैवी संपदा का आश्रय करना, इस सबकी विधियों का विस्तार शास्त्र में ही है, शास्त्र के प्रमाण से ही ये सब जाने जाते हैं। इसलिये भगवान् अब दो श्लोकों से अर्जुन की रुचि शास्त्र में बढ़ाते हैं—

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्त्तते कामकारतः ।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ॥ २३ ॥

यः, शास्त्र-विधिं, उत्सृज्य	जो शास्त्र की विधि को छोड़कर	न, सः, सिद्धिं, अवाप्नोति, न, सुखं, न, परां, गतिं	न वह सिद्धि को प्राप्त होता है, न सुख को और न परम गति को
वर्त्तते, काम-कारतः	अपनी इच्छा से वर्तता है		

अन्वयार्थ—जो शास्त्र की विधि को त्यागकर अपनी इच्छा से वर्तता है, वह न सिद्धि को प्राप्त होता है, न सुख को और न परम गति को ॥ २३ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन! काम आदि का त्याग अर्थात् उनका अपने वश में होना, अथवा काम आदि के त्याग के बाद श्रेय का मिलना इसलिये

सम्भव नहीं होता कि मनुष्य शास्त्रों के उपदेशों वा उपायों को छोड़कर अपनी इच्छानुसार वर्तता है। इसलिये ये वेद-शास्त्र (श्रुति-स्मृति वा पुराणादि) जो असुरी संपदा को त्यागने और दैवी संपदा को ग्रहण करने की विधियों से भरे पड़े हैं, इनकी विधियों को छोड़कर वा इनकी कुछ परवाह न करके, अपनी इच्छानुसार जो वर्तता वा विचरता है अर्थात् जो अपना मनमाना आचरण करता है, वह पुरुष न तो सिद्धि अर्थात् तत्त्वज्ञान को प्राप्त होता है, न लोक-परलोक के सुख (अथवा निजानन्द) को प्राप्त होता है, और न वह परम गति (मोक्ष) को ही पाता है ॥ २३ ॥

सम्बन्ध—जब ऐसा है, तो इसलिये—

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्मकर्तुमिहार्हसि ॥२४॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे दैवासुरसम्पद्विभागयोगो नाम षोडशोऽध्यायः ।

तस्मात्, शास्त्रं, प्रमाणं, ते, कार्य-अकार्य-व्यवस्थितौ	इसलिये कार्य और अकार्य की व्यवस्था में शास्त्र तुझे प्रमाण हो	ज्ञात्वा, शास्त्र-विधान, उक्तं कर्म, कर्तुं, इह, अर्हसि	शास्त्र में कही हुई विधि को जानकर यहाँ तू कर्म करने के योग्य है (अर्थात् तुझे कर्म करना उचित है)

अन्वयार्थ—इसलिये कार्य और अकार्य की व्यवस्था में शास्त्र तेरे लिये प्रमाण हो। और शास्त्रोक्त विधि को समझकर तुझे यहाँ कर्म करना उचित है ॥ २४ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! क्योंकि अपनी मनमानी विधि से आचरण करने से न कोई ठीक सिद्धि मिलती है, न सुख और न परम गति ; इसलिये "यह करने योग्य है" और "यह नहीं करने योग्य है" इसकी व्यवस्था करने में शास्त्र को तुझे प्रमाण समझना चाहिए ; अर्थात् तुझे क्या करना उचित वा कर्तव्य है और क्या करना अनुचित वा अकर्तव्य है, इस प्रकार की जो व्यवस्था है, इसके निर्णय करने में तुझे श्रुति-स्मृति-रूप शास्त्र की आज्ञा ही प्रमाण होनी चाहिए, अपनी मनमानी कल्पना नहीं। और शास्त्रोक्त जो विधान वा उपाय है, अथवा शास्त्र की विधि से कहा हुआ जो विहित कर्म या कर्तव्य है, उसको ठीक-ठीक समझकर, उसके अनुसार ही तुझे यहाँ (इस संसार में) कर्म करना उचित है। इस रीति से तू संसार-समुद्र तर जायगा ॥ २४ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतानुवादे दैवासुरसम्पद्विभागयोगो नाम षोडशोऽध्यायः ।

सोलहवें अध्याय का संक्षेप

(१) पूर्वाध्याय में भगवान् ने जो अपना अतिगुप्त वा रहस्य-रूप शास्त्र फल के सहित वर्णन किया, 'उस शास्त्र को किस प्रकार की प्रकृतिवाले पुरुष अनुभव कर सकते हैं और कौन-से उससे वञ्चित रहते हैं' इसका विस्तारपूर्वक वर्णन वहाँ नहीं कर सके। अब उस विषय को भगवान् दैवी और आसुरी संपदा के नामों तले इस प्रकार से वर्णन करते हैं—

(क) निर्भयता[1], अन्तःकरण[2] की शुद्धि अथवा शुद्ध सात्त्विक वृत्ति, ज्ञानयोग[3] में स्थिति (निष्ठा), यज्ञ[4], दान[5], दम[6], तप[7], स्वाध्याय[8], सरलता[9], अहिंसा[10], सत्य[11], अक्रोध[12], त्याग[13], शान्ति[14], चुगली[15] का अभाव, प्राणियों[16] पर दया, निर्लोभता[17], कोमलता[18], लज्जा[19], अचपलता[20], तेज[21], क्षमा[22], धैर्य[23], पवित्रता[24], द्रोह[25] का अभाव और अति मानी[26] न होना, ये २६ लक्षण वा स्वभाव दैवी संपदा में उत्पन्न हुए मनुष्य में पाये जाते हैं।

(ख) दम्भ[1], दर्प[2], अभिमान[3], क्रोध[4], कटुवचन[5] कहना और अज्ञान[6] ये छ लक्षण वा स्वभाव आसुरी संपदा में उत्पन्न हुए पुरुषों के होते हैं।

(ग) दैवी संपदा तो मोक्ष का साधन होती है और आसुरी संपदा बंधन का।

(२) इस प्रकार दैवी संपदा में उत्पन्न हुए मनुष्यों को अपने गुह्यतम शास्त्र तथा मोक्ष का अधिकारी, और आसुरी संपदा में उत्पन्न हुए मनुष्यों को बन्धन वा पुनरावृत्ति का अधिकारी दर्शाकर अब आसुरी संपदा को भगवान् ऐसे सविस्तर कहने लगे हैं—

(क) हे अर्जुन ! भूतों की सृष्टि दो प्रकार की है, एक दैवी और दूसरी आसुरी। दैवी तो विस्तारपूर्वक मैं कह चुका हूँ, अब आसुरी को विस्तारपूर्वक तू सुन।

(ख) आसुर लोग प्रवृत्ति और निवृत्ति को नहीं जानते। उनमें न पवित्रता होती है, न आचार और न सत्य।

(ग) उनका ऐसा निश्चय होता है कि जगत् असत्य, विना प्रतिष्ठा और नियन्ता (ईश्वर) के है, गुणों के परस्पर मिलाप से वा केवल स्त्री-पुरुष दोनों के परस्पर संयोग से ही यह संसार उत्पन्न हुआ है, और इसलिये कामदेव से अतिरिक्त अन्य कोई इस जगत् का वनानेवाला न है और न हो सकता है।

(घ) ऐसे निश्चय वा दृष्टि से युक्त हुए वे आसुर लोग उग्रकर्मा, नष्टात्मा और अल्पबुद्धि होते हैं और केवल जगत् के नाश-निमित्त जगत् के शत्रु होकर उत्पन्न होते हैं।

(ङ) वे कभी भी तृप्त न होनेवाले काम अर्थात् विषय-भोग की इच्छा का आश्रय करते हैं; दम्भ, मान और मद से युक्त रहते हैं; और मोह के कारण झूठमूठ विश्वास अर्थात् मनमानी कल्पना करके गन्दे काम करने के लिये नित्य प्रवृत्त होते हैं।

(च) वे प्रलय तक (वा मरने तक) अन्त न होनेवाली इच्छाओं का आश्रय करते हैं। "काम (विषयों) का उपभोग ही मनुष्य का परम लक्ष्य वा उद्देश्य है।" ऐसा निश्चय करके सैकड़ों आशा-पाशों में फँस जाते वा जकड़े हुए होते हैं। और काम-क्रोध के परायण होकर विषय-सुख (काम-भोग) लूटने के लिये अन्याय से बहुत-सा अर्थ सञ्चय करने की तृष्णा करते हैं।

(छ) "यह आज तो मुझे मिल गया है और उस मनोरथ को कल मैं पा लूँगा", "यह धन तो मेरा हो चुका और वह दूसरा भी मेरा हो जायगा", "वह शत्रु तो मैंने मार डाला है और दूसरे को भी मैं मार डालूँगा", "मैं ईश्वर हूँ", "मैं भोगोंवाला हूँ", "मैं सिद्ध,

बलवान् तथा सुखी हूँ", "मैं धनवान् और कुलीन हूँ", "मेरे समान दूसरा कोई नहीं है", "मैं यज्ञ करूँगा, दान दूँगा और मौज करूँगा", इस प्रकार के अज्ञान-युक्त निश्चयों से विमोहित अनेक प्रकार की कल्पनाओं से विभ्रान्त, मोह-जाल में जकड़े हुए और विषय-भोगों में आसक्त हुए वे मल-मूत्र से भरे अथवा अपवित्र नरक में ही जाकर गिरते हैं।

(ज) इन आसुर लोगों के यज्ञ दान भी विचित्र प्रकार के होते हैं, क्योंकि अपने आप ही बड़े बनकर, अकड़ वा ऐंठवाले होकर, धन के कारण मान-मद से युक्त ये लोग दम्भ से और शास्त्र-विधि को छोड़कर केवल नाम के लिये (वा दिखलावे-मात्र) यज्ञ करते हैं।

(झ) अहङ्कार, बल, घमण्ड, काम और क्रोध का सहारा लिए हुए ये आसुर लोग अपने वा दूसरों के देहों में मेरे निन्दक और विद्वेषी होते हैं।

(३) इस प्रकार आसुर पुरुषों के लक्षण विस्तारपूर्वक कहकर अब भगवान् इनके फल को ऐसे निरूपण करते हैं—

उन (उक्त) द्वेष करनेवाले, क्रूर, नीच और अशुभ कर्म करनेवाले आसुर लोगों को मैं लोकों में निरन्तर आसुरी योनियों में ही फेंकता रहता हूँ। जहाँ पहुँचकर ये मुझको नहीं प्राप्त होने पाते, अतएव बार-बार पहले से भी अधिक अधोगति को ही प्राप्त होते रहते हैं।

(४) अब भगवान् आसुरी संपदा को पहुँचानेवाले तीन मुख्य द्वार वा दोष-रूप उपाय और उनसे छुटकारा पाने की विधि ऐसे कहते हैं—

काम, क्रोध और लोभ ये तीन प्रकार के नरक के द्वार आत्मा

(अपना वा अपने चित्त) का नाश करनेवाले हैं, इसलिये मनुष्य को ये तीनों त्याग देने चाहिए।

(५) अब उक्त "काम, क्रोध और लोभ" के त्यागने का फल भगवान् ऐसे कहते हैं—

अन्धकार के इन तीनों द्वारों (काम, क्रोध, लोभ) को त्यागकर मनुष्य अपने हित का आचरण करता है, अर्थात् अपनी भलाई में लग जाता है और तत्पश्चात् परम गति को प्राप्त होता है।

(६) "अपने हित में लगकर वह परम गति को पाता है", इस उक्त उपदेश से यह पता नहीं चलता कि कौन-सा आचरण हित का होता है और किस प्रमाण से वह वैसा जाना जा सकता है। इसलिये भगवान् अब इसी विषय को समझाते हुए अंत में अर्जुन को ऐसे उपदेश देते हैं—

(क) जो शास्त्र-विधि को त्यागकर अपनी इच्छानुसार वर्तता है, वह न सिद्धि पाता है, न सुख और न परम गति। ऐसा कर्म वा व्यवहार तू अपने हित का मत समझ।

(ख) इसलिये कार्य और अकार्य की व्यवस्था में तेरे लिये शास्त्र प्रमाण होना चाहिए और शास्त्रोक्त विधि को समझकर तुझे कर्म करना उचित है। अटाय-शटाय रीति या मनमानी विधि से कर्म करने में न तेरा ठीक कल्याण होगा, न सिद्धि और न परम गति प्राप्त होगी।

इस प्रकार श्रीभगवान् से गाये हुए अर्थात् कहे हुए उपनिषद् में, ब्रह्मविद्यान्तर्गत योगशास्त्र-विषयक, श्रीकृष्ण और अर्जुन के संवाद में, दैवासुरसम्पद्विभागयोग-नामक सोलहवाँ अध्याय समाप्त हुआ।

॥ ॐ ॥

सप्तदशोऽध्यायः

सम्बन्ध—पूर्व अध्याय १६ के अन्त में जो भगवान् ने कहा कि "शास्त्र-विधि को छोड़कर जो अपनी इच्छानुसार चलता है, वह न सिद्धि को पाता है, न सुख को और न परम गति को। इसलिये, हे अर्जुन! तुझे शास्त्र की विधि को ठीक जानकर उसके अनुसार कर्म करना चाहिए, इत्यादि।" इसको सुनकर अर्जुन के चित्त में शङ्का उठी कि जो लोग शास्त्रविधि से परिचित नहीं या जो परिचित हैं और आलस्य के कारण उसके अनुसार चलते नहीं, पर कर्म पूर्ण श्रद्धा से करते हैं, तो ऐसे विधि-विहीन किन्तु पूर्ण श्रद्धा से युक्त होकर कर्म करनेवालों की क्या गति होती है? इसके निवारणार्थ वह भगवान् से प्रश्न करता है, और इस प्रश्नोत्तर पर सत्रहवाँ अध्याय आरम्भ होता है—

अर्जुन उवाच—

ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेषां निष्ठा तु का कृष्ण सत्त्वमाहो रजस्तमः॥१॥

ये[1], शास्त्र[2]-विधिं[3], उत्सृज्य[4], यजन्ते[5], श्रद्धया[5]-अन्विताः[6]	जो[1] शास्त्र[2]-विधि[3] को त्यागकर[4] श्रद्धा[5] से युक्त[3] हुए यज्ञ[5] करते हैं	तेषां[3], निष्ठा[4], तु[2], का[5], कृष्ण[1]	हे कृष्ण[1] ! परन्तु[2] उनकी[3] निष्ठा[4] कैसी[5] है
		सत्त्वं[1], आहो[2], रजः[3], तमः[4]	सत्त्व[1] है या[2] रज[3] वा तम[4]

अन्वयार्थ—अर्जुन बोला—परन्तु हे कृष्ण ! जो शास्त्र-विधि को छोड़कर श्रद्धा से युक्त हुए यज्ञ करते हैं, उनकी निष्ठा कैसी है, सत्त्व है या रज वा तम ? ॥ १ ॥

व्याख्या—"शास्त्र-विधि को छोड़कर जो अपनी इच्छानुसार चलता है, उसे न सिद्धि मिलती है, न सुख और न परम गति" ऐसा भगवान् के उपदेश को सुनकर अर्जुन ने प्रश्न किया कि हे भगवान् कृष्ण ! जो मनुष्य श्रुति-स्मृति-रूप शास्त्र की विधि से नितांत परिचित ही नहीं जैसे सर्वसाधारण वा ग्रामीण लोग, या जो किंचित् परिचित होने के बाद भी आलस्यादि दोषों के कारण उसे त्याग बैठा हो, पर अपने पिता पितामहादि वृद्धों के व्यवहार के अनुसार पूर्ण श्रद्धा के साथ देव-पूजनादिक कर्मों (यज्ञ) को करता रहता हो, तो ऐसे श्रद्धालु पुरुष की निष्ठा (स्थिति, गति) क्या होती है ? सात्त्विकी, राजसी या तामसी ? इस प्रश्न का अभिप्राय यह है कि पूर्व सोलहवें अध्याय के श्लोक २३ और २४ में जो भगवान् ने कहा कि "शास्त्र-विधि को त्यागकर जो अपनी इच्छानुसार कर्म करते हैं, वे न सिद्धि, न सुख और न मोक्ष को पाते हैं, इसलिये शास्त्र-विधि को जानकर उसके अनुसार कर्म करना चाहिए।" उस पर अर्जुन को यह शङ्का हो रही है कि संसार में कर्म करनेवाले तो सब शास्त्रवेत्ता नहीं और न समस्त शास्त्रवेत्ता व हिन्दू-धर्मानुयायी हो ही सकते हैं। पर जो अपरिचित भी अपने पूर्वजों की रीति-अनुसार पूर्ण श्रद्धा से देव-पूजा आदि कर्म करते रहते हैं, तो ऐसे पुरुषों की क्या गति होती है ? अर्थात् इस संसार में कर्म करनेवाले तीन प्रकार के लोग

होते हैं। एक तो वे जो शास्त्र-विधि चाहे जानते हैं या नहीं, पर उसमें श्रद्धा किञ्चित्-मात्र नहीं रखते, इसलिये उसकी उपेक्षा करते हैं, और उसको बिलकुल त्यागकर अपनी मनमानी रीति से थोड़े-बहुत कर्म करते हैं, ऐसे लोग तो असुर कहलाते हैं। दूसरे वे होते हैं कि जो शास्त्र-विधि को पूर्ण तरह से जानते हैं और उसमें अनन्य श्रद्धा भी रखते हैं, और पूर्ण श्रद्धा से तद्विधि के अनुसार कर्म भी करते हैं, ऐसे लोग देव कहलाते हैं। और तीसरे वे होते हैं कि जो आलस्य से या अज्ञानता से शास्त्र को नहीं पढ़ते और न इसी कारण शास्त्र-विधि जानते हैं, परन्तु "महाजनो येन गतः स पन्था" के अनुसार जैसे-जैसे पूर्व पुरुष कर्म करते आये हैं, उस-उसमें पूर्ण श्रद्धा रखकर उनको करते रहते हैं, और जिन कर्मों को पूर्वजों ने बुरा माना है उन्हें वे त्यागते रहते हैं, ऐसे पुरुष किस श्रेणी में गिने जायँगे और उनकी निष्ठा किस प्रकार की कहनी चाहिए। और ऐसी निष्ठा का फल क्या होना चाहिए, इत्यादि ॥ १ ॥ ❀

सम्बन्ध—अब भगवान् अर्जुन के प्रश्न का उत्तर देते हैं—

❀ इस प्रश्न का अभिप्राय अन्य रीति से यह भी हो सकता है कि भारतवर्ष से अतिरिक्त असंख्य लोग अन्य द्वीपों व मुल्कों में बसते हैं, जो भिन्न-भिन्न धर्मानुयायी हैं जिससे वेद-शास्त्र को जानते तक नहीं। और ये जो भारतवर्ष-निवासी भी हैं वे भी सब वेदोक्त मतावलंबी नहीं बल्कि भिन्न-भिन्न मतों के अनुयायी हैं। कोई मूर्तिपूजक है, कोई मूर्ति का खंडन करना और मूर्ति द्वारा भगवत्-पूजन का न करना अपना धर्म समझते हैं। कोई वेदों को मानते हैं, कोई वेदों का खंडन करते हुए अन्य धर्म-ग्रन्थों को मानते हैं। पर अपने-अपने धर्म वा शुद्ध विचारों के अनुसार पूर्ण श्रद्धा से युक्त होकर भगवत्-पूजा वा प्राणी-मात्र की सेवार्थ कर्म करते हैं, ऐसे शुद्धात्मा और श्रद्धालु सज्जनों (जिनमें असंख्य ग्रामीण व अन्य मतानुयायी हैं) की क्या गति होती

श्रीभगवानुवाच—

त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा ।
सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु ॥२॥

त्रि-विधा, भवति, श्रद्धा, देहिनां, सा, स्वभाव-जा	देहधारियों के स्वभाव-जन्य वह श्रद्धा तीन प्रकार की होती है	सात्त्विकी, राजसी, च, एव, तामसी, च, इति, तां, शृणु	सात्त्विकी, राजसी और ऐसे ही तामसी, इस प्रकार तू इन्हें सुन

अन्वयार्थ—श्रीभगवान् बोले—देहधारियों की वह स्वभाव-जन्य श्रद्धा सात्त्विकी, राजसी और तामसी ऐसे तीन प्रकार की होती है। उसको तू (अब) सुन ॥ २ ॥

व्याख्या—अर्जुन के प्रश्न के उत्तर में भगवान् ऐसे बोले कि हे प्यारे ! जो मनुष्य शास्त्र-विधि को त्यागकर जिस पूर्ण श्रद्धा से युक्त होकर देव-पूजादि कर्म करते हैं, ऐसे देह-धारियों की स्वभावजन्य श्रद्धा तीन प्रकार की होती है, सात्त्विकी, राजसी और तामसी। उसको तू अब विस्तारपूर्वक मुझसे सुन। तात्पर्य यह कि जन्म-जन्मान्तरों में किये हुए धर्म-अधर्म आदि कर्मों के जो संस्कार हैं, उनमें से जिन-जिन संस्कारों के कारण मनुष्य के जन्म का आरम्भ होता है, उन संस्कारों का नाम स्वभाव है; अथवा इस जन्म में भी पुरुषों की सङ्गति से जो गुण अन्तःकरण में उत्पन्न हो आते हैं, वे भी पीछे चलकर मनुष्य का स्वभाव कहलाते हैं। और जैसे गुण तीन प्रकार के होते हैं, वैसे स्वभाव भी तीन प्रकार के कहे जाते हैं, और उन स्वभावों से उत्पन्न हुई श्रद्धा भी अपने-अपने कारण के

है ? क्या ऐसे लोग असुरों के समान सब-के-सब अपवित्र नरकों में ही जाते हैं या उन्हें कोई और स्थान मिलता है ?

अनुसार सात्त्विकी, राजसी और तामसी, ऐसे तीन प्रकार से कहलाती है, उसे भगवान् अब विस्तारपूर्वक अर्जुन को सुनाने लगे हैं ॥ २ ॥

सम्बन्ध—अपने उक्त आशय को भगवान् अब सविस्तर स्पष्ट करते हैं—

सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत ।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः ॥ ३ ॥

सत्त्वे-अनुरूपा, सर्वस्य, श्रद्धा, भवति, भारत	हे अर्जुन ! अन्तः-करण के अनुसार सबकी श्रद्धा होती है	श्रद्धामयः, अयं, पुरुषः	यह पुरुष श्रद्धा-मय है
		यः, यत्-श्रद्धः, सः, एव, सः	जो जिस श्रद्धावाला है, वह ही वह है

अन्वयार्थ—हे अर्जुन ! अन्तःकरण के अनुसार सबकी श्रद्धा होती है, श्रद्धामय यह पुरुष है, जो जिस श्रद्धावाला है, वही वह होता है ॥ ३ ॥

व्याख्या—हे भरत की सन्तान अर्जुन ! सत्त्वगुण की प्रधानतावाले पञ्च महाभूतों से बना हुआ जो अन्तःकरण है और जो इसी कारण से सत्त्व कहा जाता है, उस अन्तःकरण* वा पूर्व संस्कारजन्य स्वभाव के अनुसार मनुष्य की अपनी श्रद्धा होती है। यदि अन्तःकरण सात्त्विकी

---

* सत्त्व शब्द का अर्थ देहस्वभाव, बुद्धि अथवा अन्तःकरण है। कठ उपनिषद् में 'सत्त्व' शब्द इसी अर्थ में आया है (कठ० ६. ७), और वेदान्तसूत्र के शाङ्कर भाष्य में भी 'क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ' पद के स्थान में 'सत्त्व-क्षेत्रज्ञं' पद का उपयोग किया गया है (वे० सू० शां० भा० १. २. १२)। तात्पर्य यह है कि दूसरे श्लोक का 'स्वभाव' शब्द और तीसरे श्लोक का 'सत्त्व' शब्द यहाँ दोनों ही समानार्थक हैं। क्योंकि सांख्य और वेदान्त दोनों को ही यह सिद्धान्त मान्य है कि स्वभाव का अर्थ प्रकृति है और इसी प्रकृति से बुद्धि एवं अन्तःकरण उत्पन्न होते हैं। (श्रीतिलक महाराज)

स्वभाववाला है, तो श्रद्धा भी सात्त्विकी ही होती है, और यदि अन्य स्वभाव से युक्त है, तो श्रद्धा भी अन्य स्वभाव की होती है। परन्तु पुरुष किसी-न-किसी प्रकार की श्रद्धावाला अवश्य होता है। अर्थात् प्रथम तो वह अपने पूर्व-जन्म के संस्कारों के कारण किसी-न-किसी प्रकार के स्वभाव वा गुणों से युक्त अन्तःकरण के साथ उत्पन्न होता है, जिससे विना किसी प्रकार के यत्न वा सङ्गति के मनुष्य का वह स्वभाव (गुण) उसकी कुछ वड़ी आयु होने पर स्वतः प्रकट हो आता है; फिर वह मनुष्य जिस प्रकार की सङ्गति में दिन-रात रहता है, वैसे उसके अन्तःकरण का गुण वा स्वभाव भी हो जाता है, और उसी स्वभाव के अनुसार उसकी श्रद्धा भी प्रकट होती रहती है; इस तरह वह किसी-न-किसी प्रकार के स्वभाव और तदनुसार श्रद्धा से युक्त अवश्य होता है, जिससे वह श्रद्धामय पुरुष अर्थात् श्रद्धा का पुतला कहलाता है। इसलिये यह निर्णय पाया है कि जो जिस श्रद्धावाला दिखाई देता है या जिस श्रद्धा से जो पुरुष युक्त है, वह अवश्य भीतर से वैसे स्वभाववाला ही होता है, अर्थात् वह स्वयं भी वैसा ही होता है। दूसरी रीति से इसका तात्पर्य ऐसे निरूपण किया जा सकता है कि "श्रद्धा यह शब्द 'श्रत्' और 'धा' दोनों से मिलकर वना है। 'श्रत्' के अर्थ निश्चय, विश्वास तथा प्रतिज्ञा के होते हैं, 'धा' के अर्थ धारण करना, ग्रहण करना, प्रकट करना, उत्पन्न करना, स्थित होना इत्यादि होते हैं। अर्थात् श्रद्धा उस निश्चय-रूप शक्ति अथवा धारणा वा अवस्था का नाम है कि जो अन्तःकरण के भीतर उसके गुणानुसार मन से धारण की हुई होती है, अथवा जिसमें मन विशेष काल तक स्थित रहता है। और यह स्पष्ट है कि जैसा पुरुष का अन्तःकरण होता है, वैसे मन से सङ्कल्प, विकल्प, निश्चय और विचार इत्यादि प्रकट होते हैं। वास्तव में यह मन (अन्तःकरण) ही है कि जिसके कारण यह प्राणी मनुष्य कहलाता है। अतएव मन के गुण का

नाम ही वास्तव में मनुष्य का स्वभाव है और इसी के अनुसार मनुष्य की श्रद्धा प्रकट होती रहती है। इसलिये जैसी जिसकी श्रद्धा होती है, वैसा ठीक वह स्वयं ही होता है, अर्थात् यदि श्रद्धा सात्त्विकी है, तो पुरुष भी अवश्य सात्त्विक स्वभाव होता है, और यदि राजसी या तामसी है, तो पुरुष भी वैसा ही होता है, और उसी नाम से वह कहलाता है। पस, पुरुष की पहचान वा गति इसी श्रद्धा से ही होती है" ॥ ३ ॥ ❀

सम्बन्ध—(१) अब उक्त श्रद्धा वा स्वभाव के अनुसार पूजा, यज्ञ और कर्मादि के भेद भगवान् दर्शाते हैं—

अथवा (२) अब भगवान् बतलाते हैं कि जब प्रकृति भी सत्त्व, रज और तम इन तीन गुणों से युक्त है, तब प्रत्येक मनुष्य में श्रद्धा के भी त्रिधा भेद और उनके त्रिधा परिणाम होते हैं—

अथवा (३) पुरुष की श्रद्धा किस प्रकार की है, यह कैसे जानी जाती है, इसे भगवान् अब स्पष्ट करते हैं—

अथवा (४) चूँकि श्रद्धामय पुरुष है, अतएव पूजा के भेद से भी सत्त्वादि गुणों में स्थिति जानी जाती है, इसे भगवान् अब कहते हैं—

यजन्ते सात्त्विका देवान् यक्षरक्षांसि राजसाः ।
प्रेतान्भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः ॥४॥

❀ अभिप्राय यह है कि पुरुष की श्रद्धा उसके चरित्र को प्रकट करती है, जो जिस पूज्य में श्रद्धावाला होता है, वह पूजक भी वही होता है, पूज्य के गुणोंवाला ही पूजक होता है, इसलिये उसी नाम से कहने योग्य होता है। (श्रीबलदेव और श्रीविश्वनाथ)

यजन्ते, सात्त्विकाः, देवान्	सात्त्विक जन देवताओं को पूजते हैं	प्रेतान्, भूतगणान्, च, अन्ये, यजन्ते, तामसाः, जनाः	दूसरे तामस लोग प्रेतों और भूतगणों को पूजते हैं
यक्ष-रक्षांसि, राजसाः	राजस लोग यक्ष राक्षसों को		

अन्वयार्थ—सात्त्विक जन देवताओं को पूजते हैं, राजस यक्ष* और राक्षसों को, और तामस लोग प्रेतों तथा भूतगणों को पूजते हैं ॥ ४ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन! ऊपर जो शास्त्रजन्य विवेक-ज्ञान से रहित पुरुषों की स्वभावजन्य श्रद्धा त्रिधा (तीन प्रकार की) दर्शाई गई है, उसकी पहचान अब तू मुझसे सुन, अथवा उसी श्रद्धा के अनुसार जो उनकी देवपूजा का भेद है, वह अब मुझसे सुन। सात्त्विक पुरुष अर्थात् सतोगुणी स्वभाव वा श्रद्धावाले लोग तो शेष, महेश, सुरेश व गणेश इत्यादि देवताओं को पूजते हैं; अर्थात् जिनको शास्त्रज्ञान तो नहीं, परन्तु स्वभाव से सात्त्विक हैं, वे वैदिक मन्त्रों से इन्द्र वरुणादि देवताओं को अथवा सगुण ब्रह्म वा अवतारों को पूजते हैं। राजस लोग अर्थात् रजोगुणी स्वभाव वा श्रद्धावाले यक्ष राक्षसों को पूजते हैं, अर्थात् कुबेरादि यक्षों और नैर्ऋत आदि राक्षसों की वे रजोगुणी स्वभाव वा श्रद्धावाले तन्त्र-मन्त्रों से पूजा वा उपासना करते हैं। और जो स्वभाव वा

---

* यक्ष, धातुओं के अधिष्ठाता को कहते हैं, जैसे कुबेरादि। राक्षस उसे कहते हैं कि जो बड़े ऐश्वर्य और शक्ति से युक्त होते हैं, दृष्टि में आना वा छिप जाना उनके अपने अख़्तियार में होता है, जैसे नैर्ऋत आदि। प्रेत उसे कहते हैं कि जो अपने धर्म-भ्रष्ट होने के कारण मरकर वायवीय शरीर धारण किये हुए होते हैं, जैसे उल्कामुखादि। और भूतगण सप्त मातृकादिकों का नाम है, ऐसा माना जाता है।

श्रद्धा से तमोगुणी लोग होते हैं, वे भूत प्रेत पिशाचादि की उपासना करते हैं ॥ ४ ॥ *

सम्बन्ध—(१) सात्त्विक श्रद्धा तो बहुत कम पाई जाती है, राजसी और तामसी श्रद्धावाले संसार में बहुत लोग होते हैं, इसलिये भगवान् सात्त्विकी श्रद्धावालों को तो दैवी कक्षा में रखकर और इन दोनों राजसी और तामसी श्रद्धावालों को आसुरी नामवाली कक्षा के अन्तर्गत करके आसुरी लक्षणों के साथ अब वर्णन करते हैं—

अथवा (२) इस प्रकार शास्त्रीय यज्ञ यागादि से ही फल विशेष होता है, अशास्त्रीय तप इत्यादि से नहीं, बल्कि उनमें मेरी आज्ञा के विरुद्ध चलने से उल्टा अनर्थ ही होता है, उत्तम फल तो कहाँ। इस अभिप्राय को भगवान् अब स्पष्ट करते हैं—

अथवा (३) अब भगवान् बतलाते हैं कि शास्त्र पर श्रद्धा न रखनेवाले कामपरायण और दम्भी पुरुष किस श्रेणी में आते हैं—

अथवा (४) तामस भावोंवाले लोग भी कई प्रकार के तपस्वी देखे जाते हैं, फिर उनकी श्रद्धा तामसी कैसे कही जा सकती है ? इस संशय की भगवान् अब निवृत्ति करते हैं—

अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः ।
दम्भाहङ्कारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः ॥ ५ ॥

---

* इस श्लोक से एक अभिप्राय और भी निकलता है, वह यह कि जो जैसे को भजता है, वह वैसा ही हो जाता है। द्विज लोग, जो आजकल अपने धर्म से गिरकर भूत-प्रेतों को पूजते हैं, वे मरकर भूत-प्रेत होते हैं, जो राक्षसों को पूजते हैं, वे राक्षस होते हैं, जो देवताओं व अवतारों को पूजते हैं, वे देवता और अवतार होते हैं। और जो एक-मात्र ब्रह्म की उपासना करते हैं, वे ब्रह्म ही हो जाते हैं।

कर्षयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः ।
मां चैवान्तःशरीरस्थं तान्विद्ध्यासुरनिश्चयान् ॥ ६ ॥

अ-शास्त्र-विहितं, घोरं, तप्यन्ते, ये, तपः, जनाः	शास्त्र के विरुद्ध घोर तप को जो लोग तपते हैं	कर्षयन्तः, शरीर-स्थं, भूत-ग्रामं, अचेतसः	मूर्ख शरीरमें स्थित भूतों के समूह (इन्द्रियादि) को दुर्बल करते हुए
दम्भ-अहङ्कार-संयुक्ताः	दम्भ, अहङ्कार से युक्त	मां, च, एव, अन्तः-शरीर-स्थं	और ऐसे ही मुझ शरीर के भीतर स्थित को
काम-राग-बल-अन्विताः	काम, राग और बल से युक्त	तान्, विद्धि, आ-सुर-निश्चयान्	उनको असुरों के निश्चयवाला जान

पहला अन्वयार्थ—जो लोग दम्भ, अहङ्कार, काम, राग और बल से युक्त होकर शरीर में स्थित भूतों के समूह (इन्द्रियां) को और ऐसे ही शरीर के भीतर स्थित मुझको दुर्बल करते हुए शास्त्र के विरुद्ध घोर तप करते हैं, उनको तू असुरों के निश्चयवाला जान ॥ ५, ६ ॥

दूसरा अन्वयार्थ—जो लोग दम्भ, अहङ्कार, काम, राग और बल से युक्त होकर शास्त्र के विरुद्ध घोर तप करते हैं तथा जो मूर्ख लोग शरीर में स्थित भूतों के समूह को और वैसे ही शरीर के भीतर स्थित मुझको कृश करते हैं, उनको तू आसुरी निश्चयवाला जान ॥ ५, ६ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! दम्भ (भीतर से धार्मिक न होते हुए अपने आपको धार्मिक दर्शाना), अहंकार (मैं ही सबसे श्रेष्ठ हूँ, ऐसा दुष्ट अभिमान अर्थात् देहादि में अहं बुद्धि), काम (विषय-वासना अथवा विषय-भोग), राग (विषय-भोगों में प्रीति वा आसक्ति), बल (हठ अथवा विषय-

भोगों की प्रीति के कारण औषध आदि के सेवन से बढ़ा हुआ बल), इस (दम्भ, अहङ्कार, काम, राग और बल) से युक्त होकर जो मनुष्य अशास्त्रविहित घोर तपों को तपते हैं; अर्थात् ऋग्वेदादि शास्त्रों से न विधान किये हुए घोर तप (जैसे धूनी जलाकर उलटा होकर ऊपर लटकना, अथवा अग्नियाँ तपना या कभी टाँग को और कभी हाथ को लगातार ऊपर उठाये रखना इत्यादि भयङ्कर तप) जो तपते हैं, जिनका कि शास्त्रों ने विधान नहीं किया है बल्कि जो शास्त्रों से निषेध किये गये हैं जिससे शास्त्रों के विरुद्ध हैं, और जो मूर्ख लोग (अविवेकी, सब पुरुषार्थ से भ्रष्ट-चित्त, परम श्रेय से विमुख अर्थात् नष्टचित्त वा मूढ़ात्मा पुरुष) शरीर में स्थित भूतों के समूह को कृश करते हैं, अर्थात् देह-इन्द्रिय आदि रूप संघात जो पृथिवी आदि पञ्चभूतों का समूह है, इसको; अथवा इस देह में स्थित इन्द्रियों के समूह को जो मूर्खजन व्यर्थ उपवासादि * से कृश, शिथिल वा दुर्बल करते हैं और मैं जो सबका साक्षी तथा अन्तर्यामी-रूप से इस पाञ्चभौतिक शरीर के भीतर स्थित हूँ, ऐसे मुझ साक्षी परमात्मा को न जानकर और मेरी शास्त्र-रूप आज्ञा का उल्लंघन करने से वे स्वयं आत्महत्यारे होते हैं, जिससे मानो मुझे कृश करते हैं। ऐसे तपी वा मूर्ख लोगों को, हे अर्जुन ! तू असुरों के निश्चयवाला जान। अथवा ऐसे घोर तपियों को तू नष्टचित्त और आसुरी श्रद्धावाला समझ ॥ ५, ६ ॥ †

---

* वृथा उपवासादि से शरीर को दुर्बल करते हुए और अन्तर्यामी की आज्ञा के विरुद्ध चलने से मानो उसको दुर्बल करते हुए, धूनी जलाकर उलटा ऊपर लटकना आदि भयङ्कर तप जिनका शास्त्र ने विधान नहीं किया है। ऐसा करनेवाले व्यर्थ शरीर और आत्मा को दुर्बल करते हैं, फल कुछ नहीं होता है। (आर्यसमाज के पं० राजाराम)

† इन श्लोकों का भावार्थ यह है कि मनुष्य की श्रद्धा उसके

सम्बन्ध—श्रद्धा की न्याईं आहार, यज्ञ, तप, दान इन चारों को भी गुण-भेद से भगवान् अब त्रिविध निरूपण करते हैं—

आहारस्त्वपि सर्वस्य त्रिविधो भवति प्रियः।
यज्ञस्तपस्तथा दानं तेषां भेदमिमं शृणु ॥ ७ ॥

आहारः, तु, अपि, सर्वस्य, त्रि-विधः, भवति, प्रियः	और आहार भी सबका प्यारा तीन प्रकार का होता है	यज्ञः, तपः, तथा, दानं	यज्ञ, तप और दान
		तेषां, भेदं, इमं शृणु	उनके इस भेद को तू सुन

अन्वयार्थ—और सबका प्यारा आहार भी तीन प्रकार का होता है, (ऐसे ही) यज्ञ, तप और दान भी। उनके इस (प्रकार के) भेद को तू सुन ॥ ७ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! पूर्वोक्त श्रद्धा ही केवल तीन प्रकार की नहीं है बल्कि सब लोगों का प्यारा आहार भी, सात्त्विक, राजस, तामस, इस भेद से तीन प्रकार का होता है, और इसी तरह यज्ञ, तप और दान भी तीन प्रकार के होते हैं। उन सबके इस सत्त्व आदि रूप-भेद को, हे प्यारे ! तू अब मुझसे विस्तारपूर्वक सुन ॥ ७ ॥

प्रकृति-स्वभावानुसार, सात्त्विक, राजस अथवा तामस होती है, और उसके अनुसार उसके कर्मों में अन्तर होता है, तथा उन कर्मों के अनुरूप ही उसे पृथक्-पृथक् गति प्राप्त होती है। परन्तु केवल इतने से ही कोई आसुरी कक्षा में लेख नहीं लिया जाता। अपनी स्वाधीनता का उपयोग कर और शास्त्रानुसार आचरण करके प्रकृति-स्वभाव को धीरे-धीरे सुधारते जाना प्रत्येक मनुष्य का कर्तव्य है। हाँ, जो ऐसा नहीं करते और दुष्ट प्रकृति-स्वभाव का ही अभिमान रखकर शास्त्र के विरुद्ध आचरण करते हैं, उन्हें आसुरी बुद्धि के कहना चाहिए। यही इन श्लोकों का भावार्थ है। (श्रीतिलक महाराज)

सम्बन्ध—सबसे पहले आहार के तीन भेद भगवान् निरूपण करते हैं—

आयुः सत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः ।

रस्याःस्निग्धाःस्थिरा हृद्याआहाराःसात्त्विकप्रियाः८

आयुः[१], सत्त्व[२]-बल[३]-आरोग्य[४]-सुख[५]-प्रीति[६]-विवर्धनाः	आयु[१], उत्साह[२], बल[३], आरोग्य[४], सुख[५] और प्रीति[६] के बढ़ाने-वाले	रस्याः[१], स्निग्धाः[२], स्थिराः[३], हृद्याः[४], आहाराः[५], सात्त्विक-प्रियाः[६]	रसदार[१], चिकने[२], चिरस्थायी[३], हृदय[४] को अभीष्ट (दिल-पसन्द), आहार[५] सात्त्विक[६] को प्यारे हैं

अन्वयार्थ—आयु, उत्साह, बल, आरोग्य, सुख और प्रीति के बढ़ानेवाले, तथा रसदार, चिकने, चिरस्थायी, दिलपसन्द आहार सात्त्विकी पुरुष को प्यारे होते हैं ॥ ८ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! जो आहार * आयु (चिरकाल पर्यंत जीवन), सत्त्व (चित्त को धीरजता, स्थिरता वा उत्साह अथवा सात्त्विक वृत्ति), बल (शारीरिक सामर्थ्य), आरोग्य (ज्वर, शूल रोगादि व्याधियों का अभाव), सुख (मन का आह्लाद) और प्रीति (भोजन में प्रीति वा रुचि) इन सबको बढ़ावे। और जो रसदार (मधुर आदि रससंयुक्त, अर्थात् अत्यन्त स्वादु), चिकने (घृत से तर या कोमल हों, रूखे न हों), चिरस्थायी (बहुत काल शरीर में पराक्रम देनेवाले, सारवाले वा लम्बे फलवाले) और दिल-पसन्द (चित्त को भानेवाले वा हृदय को प्रसन्न रखनेवाले) हों, ऐसे आहार सतोगुणी पुरुषों को प्यारे होते हैं ॥ ८ ॥

---

* आहार से अभिप्राय "भक्ष्य, भोज्य, लेह्य और चोष्य" इस भेद से चार प्रकार के आहार से है, जिसका सविस्तर वर्णन अध्याय १५ के श्लोक १४ में हो चुका है।

और—

कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः ।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः ॥ ९ ॥

कटु, अम्ल, लवण, अति-उष्ण - तीक्ष्ण-रूक्ष, विदाहिनः	कड़वा, खट्टा, नमकीन, अति गरम, तीक्ष्ण, रूखा, दाह (जलन) उत्पन्न करनेवाला	आहाराः, राजसस्य, इष्टाः, दुःख - शोक-आमय-प्रदाः	दुःख, शोक और रोग के देनेवाले आहार रजोगुणी पुरुष को प्यारे हैं

अन्वयार्थ—कड़वे, खट्टे, नमकीन, अति गरम, तीक्ष्ण, रूखे, दाह करनेवाले तथा दुःख, शोक और रोग के देनेवाले आहार रजोगुणी पुरुष को प्यारे होते हैं ॥ ९ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! कटु (बहुत कड़वे जैसे मिरच आदि, जिसे चरपरा भी कहते हैं), खट्टे (निम्बू तथा आम का अचार आदि), नमकीन (अधिक नमकवाले पदार्थ), अति गरमागरम, तीक्ष्ण (बहुत तेज़ जैसे राई, अद्रक आदि), रूखे (शुष्क, अर्थात् विना घृत के अथवा रूखे अन्न, जैसे कंगनी, कोदों आदि), और दाहकारक (खाने के पीछे जलन उत्पन्न करनेवाले), और जो यद्यपि ऊपर से ऐसे दिखाई नहीं देते पर भीतर से वास्तव में दुःख, शोक और रोग के बढ़ानेवाले होते हैं; ऐसे आहार रजोगुणी स्वभाववाले पुरुष को प्यारे होते हैं ॥ ९ ॥

और—

यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत् ।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम् ॥१०॥

यातं - यामं, गतं - रसं	देर का बना हुआ (ठण्ढा), गये हुए रसवाला (नीरस)	उच्छिष्टं, अपि, च, अमेध्यं, भोजनं, तामस-प्रियं	जूठा और अपवित्र भी भोजन तामसी को प्यारा है
पूति, पर्युषितं, च, यत्	जो दुर्गन्धित और बासी है		

अन्वयार्थ—ठण्ढा, नीरस, दुर्गन्धित, बासी, जूठा और अपवित्र आहार तमोगुणी पुरुष को प्यारा होता है ॥ १० ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! जिस भोजन को बने बहुत काल बीत गया हो अर्थात् ठण्ढा हो (या जो आधा कच्चा और आधा पक्का हो, अथवा जो क्षुधा के समय को उल्लंघन करके भोजन किया जाय); जो दूर हुए रसवाला हो, अर्थात् नीरस हो (अथवा जो स्वादहीन हो, या रक्खे-रक्खे जिसका रस दूर हो गया हो, अथवा सारांश निकल गया हो); जो दुर्गन्धित हो, अर्थात् जिससे दुर्गन्ध आती हो, जो बासी, जूठा और अशुद्ध वा अपवित्र भी हो ; इस प्रकार का निकृष्ट आहार तमोगुणी पुरुषों को प्यारा होता है ॥ १० ॥ ❀

सम्बन्ध—आहार के तीन भेद दर्शाकर अब भगवान् यज्ञ के तीन भेद निरूपण करते हैं, पहले सात्त्विक यज्ञ के लक्षण कहते हैं—

❀ ८, ९, १० इन तीनों श्लोकों पर श्रीतिलक महाराज अपनी टिप्पणी ऐसे देते हैं—"सात्त्विक मनुष्य को सात्त्विक, राजस को राजस तथा तामस को तामस भोजन प्रिय होता है। इतना ही नहीं, यदि आहार शुद्ध अर्थात् सात्त्विक हो, तो मनुष्य की वृत्ति भी क्रम-क्रम से शुद्ध या सात्त्विक हो सकती है। उपनिषदों में कहा है कि 'आहारशुद्धौ सत्त्व-शुद्धिः' (छां० ७. २६. २)। क्योंकि मन और बुद्धि प्रकृति के विकार हैं, इसलिये जहाँ सात्त्विक आहार हुआ, वहाँ बुद्धि भी आप ही आप सात्त्विक बन जाती है।"

अफलाकांक्षिभिर्यज्ञो विधिदृष्टो य इज्यते ।
यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्त्विकः ॥११॥

अफल[1]-आकांक्षिभिः[2], यज्ञः[4], विधि[5]-दृष्टः[6], यः[3], इज्यते[7]	न[1] फल की अभि[2]-लाषावालों से जो[3] यज्ञ[4] विधि[5] देखकर[6] किया[7] जाता है	यष्टव्यं[1], एव[2], इति[3], मनः[4], समाधाय[5], सः[6], सात्त्विकः[7]	यज्ञ[1] करना ही[2] चाहिए, ऐसा[3] मन[4] को समाधान[5] करके (जो किया जाता है) वह[6] सात्त्विक[7] है

अन्वयार्थ—'यज्ञ करना ही चाहिए' ऐसा मन को समाधान करके फल की अभिलाषा से रहित पुरुषों से जो यज्ञ विधि देखकर किया जाता है, वह सात्त्विक होता है ॥ ११ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! जो यज्ञ ऐसे पुरुषों से शास्त्रोक्त विधि के अनुसार किया जाता है कि जिनको उस यज्ञ के फल की किञ्चित् अभिलाषा भी नहीं है, अर्थात् जो पूर्ण निष्कामी है, और जो शास्त्र की विधि वा आज्ञा को देखकर इस निश्चय वा भावना से यज्ञ करते हैं कि "यज्ञ करना हमारा कर्तव्य है, इससे हमें कोई अपना निजी प्रयोजन नहीं।" ऐसा यज्ञ सात्त्विक कहलाता है ॥ ११ ॥

और—

अभिसन्धाय तु फलं दम्भार्थमपि चैव यत् ।
इज्यते भरतश्रेष्ठ तं यज्ञं विद्धि राजसम् ॥१२॥

अभिसन्धाय, तु, फलं, दम्भार्थं, अपि, च, एव, यत्	पर फल का उद्देश्य करके और जो केवल दम्भार्थ ही	इज्यते, भरत-श्रेष्ठ !	हे भरतों में श्रेष्ठ (अर्जुन) ! किया जाता है
		तं, यज्ञं, विद्धि, राजसं	उसको तू राजस यज्ञ जान

अन्वयार्थ—पर हे अर्जुन ! जो (यज्ञ) फल का उद्देश्य करके और केवल दम्भार्थ किया जाता है, उस यज्ञ को तू राजस जान ॥ १२ ॥

व्याख्या—परन्तु हे भरत-कुल में श्रेष्ठ अर्जुन ! जो यज्ञ अन्तःकरण की शुद्धि-निमित्त नहीं बल्कि जो केवल इस उद्देश्य से किया जाता है कि इससे मुझे लोक-परलोक में अमुक-अमुक फल मिले और लोगों में मैं धर्मात्मा प्रसिद्ध हो जाऊँ ; इस प्रकार की कामना और दिखलावे के उद्देश्य से किये हुए यज्ञ को तू राजस यज्ञ समझ ॥ १२ ॥

और—

विधिहीनमसृष्टान्नं मन्त्रहीनमदक्षिणम् ।
श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते ॥ १३ ॥

विधि-हीनं, अ-सृष्ट-अन्नं	विधि-हीन, विना दिये अन्न के	श्रद्धा-विरहितं, यज्ञं	श्रद्धा से शून्य यज्ञ को
मन्त्र-हीनं, अ-दक्षिणं	मंत्र-हीन, दक्षिणा-रहित	तामसं, परिचक्षते=तामस कहते हैं	

अन्वयार्थ—विधि-हीन, विना अन्न दिये, मन्त्र-हीन, दक्षिणा-रहित और श्रद्धा से शून्य यज्ञ को तामस कहते हैं ॥ १३ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! जो यज्ञ शास्त्र-विधि से हीन हो, जिसमें

ब्राह्मणादि के लिये कुछ भी अन्न दान न किया गया हो, अर्थात् ब्राह्मणादि को भोजन तक न दिया गया हो, जो मन्त्र-हीन हो, अर्थात् उदात्तादि स्वर और ककारादि वर्ण इनके दोषों से अशुद्ध मन्त्र जिसमें उच्चारण किये जायँ; जो दक्षिणा से रहित हो, अर्थात् विद्वानों को जिसमें किञ्चित् दक्षिणा न दी गई हो; और जो श्रद्धा-शून्य हो, अर्थात् यज्ञ तथा ऋत्विजादि ब्राह्मणों में यज्ञकर्ता की नाम-मात्र भी श्रद्धा न हो। ऐसा पाँच दोषों से युक्त यज्ञ तामस कहलाता है ॥ १३ ॥

सम्बन्ध—(१) आहार और यज्ञ के समान तप के भी तीन भेद भगवान् अब कहते हैं। पहले तप के कायिक, वाचिक और मानसिक-रूप से तीन भेद वर्णन करते हैं। फिर इन तीनों में से प्रत्येक में सत्त्व, रज और तम गुणों से जो त्रिविध-भेद होता है, उसका निरूपण करते हैं—

अथवा (२) यहाँ तक सात्त्विक, राजस, तामस ऐसे तीन प्रकार के यज्ञ वर्णन किये, अब इन्हीं तोन भेदों से तप को वर्णन करने के उद्देश्य से भगवान् पहले तप को कायिक, वाचिक और मानसिक इन तीन भेदों से वर्णन करते हैं। सबसे पहले कायिक तप को कहते हैं—

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम् ।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते ॥१४॥

देवं, द्विजं-गुरुं-प्राज्ञ-पूजनं, शौचं, आर्जवं	देव, ब्राह्मण, गुरु और विद्वानों का पूजन, शुद्धि, सरलता	ब्रह्मचर्यं, अहिंसा, चं	ब्रह्मचर्य और अहिंसा
		शारीरं, तंप, उच्यते	शारीरिक तप कहलाता है

अन्वयार्थ—देव, ब्राह्मण, गुरु और विद्वानों का पूजन, शुद्धि, सरलता, ब्रह्मचर्य और अहिंसा, यह शारीरिक तप कहलाता है ॥ १४ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! अब तू तप के भेद भिन्न-भिन्न रूप से सुन । ब्रह्मा, विष्णु, शिव, सूर्य, अग्नि, वरुण, दुर्गा इत्यादि देव (अथवा अपने इष्टदेव) का पूजन ; द्विज (सदाचारी ब्राह्मण अथवा श्रेष्ठ ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य, इन तीनों) का पूजन वा सत्कार करना ; आचार्य और विद्वानों का पूजन ; अर्थात् माता, पिता, आचार्य इत्यादि वृद्ध पुरुषों का पूजन ; और वेदों के पाठ तथा अर्थ के जाननेवाले विद्वानों का पूजन ; अपने भीतर बाहर से शुद्धि ; सरलता (या कोमलता), अर्थात् अकुटिल स्वभाव रहना ; ब्रह्मचर्य करना, अर्थात् शास्त्रनिषिद्ध मैथुन से रहित रहना, अथवा शमदमादि साधनों से सम्पन्न होकर वेदाध्ययन करना ; और हिंसा न करना, अर्थात् मन, वाणी तथा शरीर से किसी को भी पीड़ा वा दुःख न देना ; यह सब शारीरिक तप कहलाता है ॥ १४ ॥

सम्बन्ध—अब भगवान् वाणी का तप कहते हैं—

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत् ।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते ॥ १५ ॥

अनुद्वेग-करं, वाक्यं	न उद्वेग-कारी वाक्य	स्वाध्याय-अभ्य-सनं, च, एव	और ऐसे ही स्वाध्याय का अभ्यास
सत्यं, प्रियं, हितं, च, यत्	जो सत्य, प्रिय और हितकर	वाङ्मयं, तपः, उच्यते	वाचिक तप कहलाता है

अन्वयार्थ—न उद्वेगकारक, सत्य,* प्रिय और हितकर वाक्य तथा स्वाध्याय का अभ्यास, यह वाचिक तप कहलाता है ॥ १५ ॥

---

* इस श्लोक में 'सत्य, प्रिय और हित', तीनों शब्द मनु के इस वचन को लक्ष्य कर कहे गये हैं—'सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात् सत्यमप्रियम् ।

व्याख्या—हे अर्जुन ! अब वाणी का तप सुन। जो वचन न उद्वेगकारक हो (अर्थात् जो वक्ता के अपने मन को उद्विग्न वा क्षुभित करनेवाला न हो, अथवा जो किसी के भी चित्त में क्षोभ, भय वा उद्वेग उत्पन्न न करे, और जो किसी सुननेवाले को किञ्चित् क्लेश वा दुःख न दे) ; जो सच्चा हो और प्यारा भी हो (अर्थात् सत्य वचन होते हुए भी वह मधुर वा दिल-पसन्द हो, कटु न हो ; और जो हितकर अर्थात् भलाई करनेवाला वा सुख देनेवाला हो ; इस प्रकार के चार विशेषणों से युक्त वचन और ऐसे ही स्वाध्याय का अभ्यास) अर्थात् वेद-शास्त्र का पठन-पाठन वा तत्त्वज्ञान की पुस्तकों का अभ्यास) ; यह सब वाचिक अर्थात् वाणी का तप कहलाता है ॥ १५ ॥

सम्बन्ध—अब भगवान् मन के तप को कहते हैं—

मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः ।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते ॥ १६ ॥

मनः-प्रसादः, सौम्यत्वं, मौनं, आत्म-विनिग्रहः	मन की प्रसन्नता, सौम्य-भाव, मौन और मनोनिग्रह	भाव-संशुद्धिः, इति	भावना की शुद्धि, इतना
		एतत्, तपः, मानसं, उच्यते	यह तप मानस कहलाता है

प्रियञ्च नानृतं ब्रूयादेष धर्मः सनातनः ॥' (मनु० ४. १३८)—यह सनातनधर्म है कि सच और मधुर (तो) बोलना चाहिए, परन्तु अप्रिय सच न बोलना चाहिए। तथापि महाभारत में ही विदुर ने दुर्योधन से कहा है कि 'अप्रियस्य च पथ्यस्य वक्ता श्रोता च दुर्लभः ।' (देखो म० भा० ६३. १७) । (श्रीतिलक महाराज)

अन्वयार्थ—मन की प्रसन्नता, सौम्य-भाव, मौन, मनोनिग्रह और भावना की शुद्धि, इतना यह मानस तप कहलाता है ॥ १६ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! अब तू मन के तप को सुन । मन का प्रसाद (मन की प्रसन्नता, शान्ति, निर्मलता और राग-द्वेष वा चित्त की व्याकुलता से रहित अवस्था अर्थात् मन की स्वस्थावस्था), सौम्य-भाव (सबके हित की इच्छा करनी या सबकी भलाई में झुके रहना, क्रूर न होना बल्कि सदा नम्रचित्त रहना, शास्त्र-निषिद्ध पदार्थों का चिन्तन न करना, अथवा मुख की प्रसन्नता करनेवाली अन्तःकरण की वृत्ति, अर्थात् वह वृत्ति जिससे मुख सदा प्रसन्न ही रहे), मौन (मित-भाषण या चिन्तन-रूप निदिध्यासन अथवा वाक्-इन्द्रिय के संयम का हेतुभूत जो मन का संयम है), आत्मविनिग्रह (अपने आपको वश में रखना वा मन की वृत्तियों का निरोध), और भावना की शुद्धि (व्यवहार में किसी से भी छल-कपट न करना, अथवा हृदय-रूप भाव की काम-क्रोध-रूपी मल से पूर्ण निवृत्ति) । इतना यह सब मानस तप कहलाता है ॥ १६ ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार कायिक, वाचिक और मानसिक तप का स्वरूप दर्शाकर अब भगवान् इसी तप को सात्त्विक, राजस, तामस इस प्रकार के तीन भेदों से निरूपण करते हैं—

श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत् त्रिविधं नरैः ।
अफलाकांक्षिभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते ॥१७॥

श्रद्धया, परया, तप्तं	परम श्रद्धा से तपा हुआ	नरैः, अ-फल-आकांक्षिभिः, युक्तैः	न फल की इच्छा करनेवाले युक्त पुरुषों से
तपः, तत्, त्रि-विधं	वह तीन प्रकार का तप	सात्त्विकं, परिचक्षते	सात्त्विक कहते हैं

अन्वयार्थ—फल की अभिलाषा न रखनेवाले युक्त पुरुषों से परम श्रद्धा के साथ तपा हुआ यह तीन प्रकार का तप सात्त्विक कहलाता है ॥ १७ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन! अब सात्त्विक, राजस और तामस भेद से उक्त तीनों प्रकार के (कायिक, वाचिक और मानसिक) तपों को तू सुन। पूर्वोक्त कायिक, वाचिक और मानसिक तप जब परम श्रद्धा के साथ ऐसे पुरुषों से तपे जाते हैं कि जो उनके फल की इच्छा नहीं रखते, और जो पूर्ण समाहित चित्त होते हैं, अर्थात् अपने स्वरूप के ध्यान में युक्त हुए निष्कामी पुरुषों से परम श्रद्धा के साथ जब उक्त तीनों प्रकार के तप तपे जाते हैं, तब लोग वा शास्त्र उस तप को सात्त्विक तप कहते हैं ॥ १७ ॥

और—

सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत्।
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम् ॥ १८ ॥

सत्कार[1]-मान[2]-पूजा[3]-अर्थं[4]	सत्कार[1], मान[2] और पूजा[3] के लिये[4]
तपः[3], दम्भेन[5], च[1], एव[4], यत्[2], क्रियते	और[1] जो[2] तप[3] केवल[4] दम्भ[5] से किया[6] जाता है
तत्[1], इह[4], प्रोक्तं[6], राजसं[5], चलं[2], अध्रुवं[3]	वह[1] चञ्चल[2] और अस्थिर[3] तप इस[4] लोक में (यहाँ) राजस[5] कहा[6] जाता है

अन्वयार्थ—और जो तप सत्कार, मान और पूजा के लिये केवल दम्भ के साथ किया जाता है, वह चञ्चल और अस्थिर (तप) यहाँ राजस कहलाता है ॥ १८ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन! "यह बड़ा तपस्वी है, इसके लिये उठ खड़े होना चाहिए, और इसके पैर धोकर पुष्पादि से इसकी पूजा करनी

चाहिए" इस प्रकार के सत्कार ❀ (आदर), मान (प्रशंसा) और पूजा (प्रतिष्ठा) कराने के विचार से जो तप दिखलावे के भाव से (वा कपट से) किया जाता है, वह इस लोक में तुच्छ और अस्थायी फलवाला होने से चञ्चल और अदृढ़ (न टिकनेवाला वा क्षणिक) होता है और इस हेतु वह राजस तप कहलाता है ॥ १८ ॥

और—

मूढग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः ।
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम् ॥१६॥

मूढ-ग्राहेण, आत्मनः, यत्, पीडया, क्रियते, तपः	जो तप मूढ़-आग्रह से अपने को पीड़ा देकर किया जाता है	परस्य, उत्सादन-अर्थं, वा	या दूसरे के उखाड़ने (नाश) के लिये
		तत्, तामसं, उदाहृतम्	वह तामस कहा गया है

अन्वयार्थ—जो तप मूढ़-आग्रह से, अपने को पीड़ा देकर, अथवा दूसरे के नाशार्थ किया जाता है, वह तामस कहा गया है ॥ १६ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! जो तप हठ वा मूर्खता-भरे आग्रह या निश्चय से, अर्थात् "इन शत्रुओं को मैं इससे जरूर मार डालूँगा" इत्यादि बुरे निश्चय वा दुराग्रह से शरीर इन्द्रियादि को कष्ट देकर किया जाता है, वह तप तामस कहलाता है ॥ १६ ॥

सम्बन्ध—अब भगवान् इसी रीति से दान के भी तीन भेद निरूपण करते हैं—

❀ मन से आदर=सत्कार ; वाणी से प्रशंसा = मान ; और शरीर से नमस्कारादि=पूजा है । (श्रीरामानुजाचार्य)

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे ।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम् ॥२०॥

दातव्यं, इति, यत्, दानं, दीयते, अनुपकारिणे	देना ही है, ऐसा जो दान अनुपकारी को दिया जाता है	देशे, काले, च, पात्रे, च	देश और काल और पात्र को देखकर
		तत्, दानं, सात्त्विकं, स्मृतं	वह दान सात्त्विक माना गया है

अन्वयार्थ—देना उचित है, ऐसा (समझकर) जो दान देश, ॐ काल और पात्र का विचार करके अनुपकारी को दिया जाता है, वह दान सात्त्विक माना गया है ॥ २० ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! अब तू दान के तीन भेद सुन । दान देना ही उचित है, अर्थात् श्रुति-स्मृति-रूप शास्त्र की आज्ञानुसार यह दान देना हमारा अवश्य कर्तव्य है, इस प्रकार की भावना से युक्त होकर जो दान उत्तम देश, काल और पात्र को देखकर, विना फल की इच्छा के, ऐसे सुपात्र को दिया जाता है कि जो उस दान के वदले में प्रत्युपकार करने के तो असमर्थ है, अर्थात् जो उस दान का पलटा वा वदला न दे सकने के कारण यद्यपि अनुपकारी कहलाता है, पर वेद-वेदाङ्ग का जाननेवाला, निर्धन और शुद्ध-आचरण होने के कारण सुपात्र है और हमारे इस दान से उसका वास्तव में उपकार वा कल्याण हो सकता है, तो ऐसा दान सात्त्विक माना जाता है ॥ २० ॥

ॐ देश=जैसे हरिद्वार, कुरुक्षेत्र इत्यादि तीर्थस्थान, काल=सूर्यग्रहणादि पर्व, अनुपकारी=जो सुपात्र ब्राह्मण हो, अथवा ऐसा लूला-लँगड़ा हो जिससे हमारा कोई उपकार तो उससे न हो सकता हो, पर हमारे दान से उसका उपकार वा कल्याण अवश्य हो सकता हो ।

और—

यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः ।
दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम् ॥२१॥

यत्, तु, प्रत्युप-कार-अर्थं	पर जो प्रत्युपकार के लिये	दीयते, च, परिक्लिष्टं	और क्लेश-पूर्वक दिया जाता है
फलं, उद्दिश्य वा, पुनः	अथवा पुनः फल के उद्देश्य से	तत्, दानं, राजसं, स्मृतं	वह दान राजस माना गया है

अन्वयार्थ—पर जो (दान) प्रत्युपकार के लिये, वा पुनः फल के उद्देश्य से और क्लेशपूर्वक दिया जाता है, वह दान राजस माना गया है ॥ २१ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! जो दान इस उद्देश्य और भावना से दिया जाता है कि "उसके पलटे में मुझे स्वर्गादि (अथवा लौकिक-पारलौकिक) फल मिले, और जिसको दान दिया जा रहा है, वह उसके पलटे वा बदले में मेरा (दाता का) कुछ उपकार करे ।" और जो बड़े क्लेश, दुःख वा तङ्गी से दिया जाता है, अथवा जो प्रत्युपकारार्थ फल का उद्देश्य करके राहु आदि ग्रह-निमित्त उग्र दान दिया जाता है, वह दान राजस माना जाता है ॥२१॥

और—

अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते ।
असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम् ॥२२॥

अ-देश-काले, यत्, दानं, अपात्रेभ्यः, च, दीयते	और विना देश काल के जो दान अपात्रों के तई दिया जाता है	अ-सत्कृतं, अव-ज्ञातं	विना सत्कार और विना आदर के
		तत्, तामसं, उदाहृतं	वह तामस कह-लाता है

अन्वयार्थ—और जो दान विना देश-काल के, विना सत्कार और विना आदर के अपात्रों को दिया जाता है, वह (दान) तामस कहा गया है ॥ २२ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! जो दान उत्तम देश-काल का कुछ विचार न करके बल्कि अपवित्र देश और सूतकादि अपवित्र काल में अपात्रों को दिया जाता है, अर्थात् मूर्ख, चोर, ठग, जुआरी और वेश्यागामी ब्राह्मणों, पण्डों वा अन्य दुराचारी मनुष्यों को दिया जाता है ; और जिसको देते समय लेनेवाले का किञ्चित् भी सत्कार और आदर नहीं किया जाता, बल्कि जो दान अनादर और तिरस्कार के साथ दिया जाता है, वह दान तामस कहलाता है ॥ २२ ॥

सम्बन्ध—(१) इस प्रकार आहार, यज्ञ, तप और दान के भेद दर्शाकर अब भगवान् उस भगवत्-नाम (ब्रह्म-निर्देश) को निरूपण करने लगे हैं कि जिस नाम से ये यज्ञ तपादि आरम्भ किये जाते हैं और जिस नाम के उच्चारण से आरम्भ किये हुए कर्म यदि विगुण भी हों, तो सद्गुण हो जाते हैं—

अथवा (२) जिस विधि वा नियम से आरम्भ किये हुए यज्ञ, दान, तपादि कर्म पूर्ण वा सफल होते हैं, उसे भगवान् अब निरूपण करते हैं—

अथवा (३) भगवद्भावना से वर्जित यज्ञ, दान, तप मोक्ष-प्राप्ति के सहायक नहीं होते, सो कैसे इनको भगवद्भावना से युक्त करना चाहिए, इसे भगवान् अब दर्शाते हैं—

अथवा (४) इस प्रकार यज्ञ, तप आदि का गुण-भेद-प्रकरण समाप्त करके अब भगवान् ब्रह्म-निर्देश के आधार पर उक्त सात्त्विक कर्म की श्रेष्ठता और संग्राह्यता सिद्ध करने लगे हैं—

अथवा (५) इस प्रकार यज्ञ, तप, दान आदि के भेद से सात्त्विक कर्म की श्रेष्ठता सिद्ध हुई, पर सात्त्विक यज्ञ, तप, दान के करनेवाले भी प्रायः प्रमाद की बाहुल्यता से उन कर्मों को करते समय उनके किसी-न-किसी अङ्ग की न्यूनाधिकता वा विगुणता कर बैठते हैं; सो इस विगुणता की निवृत्ति करने के लिये 'ॐ तत्सत्' इस भगवत्-नाम का उच्चारण-रूप सामान्य प्रायश्चित्त जो है, उसे कृपालु भगवान् अब निरूपण करते हैं—

अथवा (६) यज्ञ, दान, तप आदि का भावनानुसार त्रिविध भेद बताकर, अब किस अद्वितीय मौलिक भावना के द्वारा ये सभी सार्थक व परिपूर्ण बन सकते हैं, उसी का उल्लेख भगवान् अब करते हैं—

अथवा (७) यज्ञ, दान और तप आदि को सद्गुण-संपन्न बनाने के लिये जिस विधि का वर्ता जाना आवश्यक है, उसका भगवान् अब उपदेश देते हैं—

ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः ।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा ॥ २३ ॥

ॐ, तत्, सत्, इति, निर्देशः, ब्रह्मणः, त्रि-विधः, स्मृतः	'ॐ तत् सत्,' ऐसा तीन प्रकार का ब्रह्म का निर्देश माना गया है	ब्राह्मणाः, तेन, वेदाः, च, यज्ञाः, च, विहिताः, पुरा	उससे ब्राह्मण, वेद और यज्ञ पहले (आदि-काल में) रचे गये हैं

अन्वयार्थ—'ॐ तत् सत्', ऐसा तीन प्रकार का ब्रह्म का निर्देश माना गया है। (सबसे) पहले उससे (ही) ब्राह्मण, वेद और यज्ञ रचे गये हैं ॥ २३ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन! जिस ब्रह्म-निर्देश से ये उक्त यज्ञ-तप-दान-रूप कर्म पूर्ण वा सफल होते हैं, उसे तू अब सुन। 'ॐ तत् सत्' ऐसा तीन प्रकार का ब्रह्म का नाम माना वा कहा गया है, अर्थात् जैसे अकार, उकार,

मकार, इन तीन (अ, उ, म्) अवयववाला एक ही प्रणव ॐ नाम परब्रह्म का होता है, वैसे 'ॐ तत् सत्' इस प्रकार का तीन अवयववाला ब्रह्म का नाम भी वेदवित् वा ब्रह्मवित् पुरुषों ने वेदान्त-ग्रन्थों में माना है, इसलिये यह नाम स्मरण करने-योग्य है, अर्थात् प्रत्येक कार्य के आरंभ में वर्तने वा उच्चारण करने के योग्य है। और सब कर्म इस नाम के स्मरण वा उच्चारण-मात्र से पूर्ण वा सफल होते हैं। इस निर्देश (ॐ तत् सत्) से ही सृष्टि के आदि-काल में ब्राह्मण (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, जो यज्ञकर्ता हैं, अथवा ब्राह्मण-ग्रन्थ), वेद (यज्ञ के कारण) और यज्ञ (कर्म) ये तीनों रचे गये वा निर्माण हुए हैं ॥ २३ ॥ ❀

सम्बन्ध—(१) अब पृथक्-पृथक् करके ॐ आदि की उत्तमता वा माहात्म्य को भगवान् दर्शाते हैं—

अथवा—(२) अब उक्त निर्देश की स्तुति भगवान् आगे चार श्लोकों में करते हैं—

अथवा—(३) उक्त निर्देश का प्रयोग कर्मयोग की दृष्टि से भगवान् पृथक् पृथक् निरूपण करते हैं—

❀ इस पर श्रुति स्मृति ऐसे कहती है—"प्रमादात्कुर्वतो कर्म प्रच्यवेताध्वरेषु यत्। स्मरणादेव तद्विष्णोः सम्पूर्णं स्यादिति श्रुतिः ॥"=यज्ञादि कर्म करनेवाले का किसी प्रमाद के कारण उन कर्मों में यदि कोई मन्त्रादि-रूप अङ्ग-भङ्ग हो जाय, तो वह अङ्ग-भङ्ग विष्णु भगवान् के स्मरण-मात्र से परिपूर्ण हो जाता है। इस प्रकार स्मृति कहती है।" इस ब्रह्म-निर्देश पर अनेक श्रुति इस प्रकार कहती हैं—"ओमिति ब्रह्म"=ओम्; यह ब्रह्म का नाम है (तै० उप० १. ८)। इसी को देखो (कठ० २. १५-१७, मांडूक्य० १. १२, प्रश्न० ५. २, छान्दो० १. १, मैत्र्यु० ६. ३. ४)। और "तदिति एतस्य महतो भूतस्य नाम भवति" ऐतरेय इत्यादि में 'तत' ब्रह्म का नाम है। और "सदेव सोम्येदमग्र आसीत्" (छां० ६. २. १) इत्यादि में 'सत' ब्रह्म का नाम है।

अथवा (४) उक्त निर्देश का पृथक्-पृथक् अङ्ग से विनियोग भगवान् अब आगे चार श्लोकों में करते हैं—

तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपः क्रियाः ।
प्रवर्त्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम् ॥२४॥

तस्मात्, ओम्, इति, उदाहृत्य	इसलिये ॐ ऐसा उच्चारण करके	प्रवर्त्तन्ते, विधान-उक्ताः, सततं, ब्रह्म-वादिनां	ब्रह्मवादियों की शास्त्र-विधि से कही हुई (शास्त्रोक्त क्रियाएँ) सदा प्रवृत्त होती हैं
यज्ञ-दान-तपः-क्रियाः	यज्ञ, दान और तप की क्रियाएँ		

अन्वयार्थ—इसलिये ब्रह्मवादियों की शास्त्रोक्त यज्ञ, दान और तप की क्रियाएँ सदा 'ओम्' ऐसा उच्चारण करके प्रवृत्त होती हैं ॥ २४ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! 'ओमिति ब्रह्म' इत्यादि श्रुतियों में ॐ ब्रह्म का नाम है, इसलिये ब्रह्मविद्या के वर्णन करनेवाले वेदवेत्ता पुरुषों की शास्त्रोक्त यज्ञ, दान और तप की क्रियाएँ जब आरम्भ होती हैं तब सबसे पहले ओम् (यह नाम) नित्य उच्चारण किया जाता है, अर्थात् आरम्भ में ओम् उच्चारण किये विना वे अपनी यज्ञ दानादि क्रियाएँ आरम्भ नहीं करते, और ऐसा समझते हैं कि उन क्रियाओं में यदि कोई विगुणता भी हो गई हो, तो वह इस नाम से निवृत्त हो जाती है। इसलिये 'ओम् तत् सत्', इस नाम में जो ओम् (प्रथम अव्यय) है, उसे सब कर्मों के आरम्भ में उच्चारण करना चाहिए ॥ २४ ॥

और—

तदित्यनभिसन्धाय फलं यज्ञतपः क्रियाः ।
दानक्रियाश्च विविधाः क्रियन्ते मोक्षकांक्षिभिः ॥२५॥

तत्, इति, अनभिसन्धाय, फलं	'तत्' ऐसा कहकर फल का न ध्यान करके	दान-क्रियाः, च, विविधाः	और नाना प्रकार की दान की क्रियाएँ
यज्ञ-तपः-क्रियाः	यज्ञ और तप की क्रियाएँ	क्रियन्ते, मोक्ष-कांक्षिभिः	मोक्ष के चाहनेवालों से की जाती हैं

अन्वयार्थ—'तत्' ऐसा कहकर मोक्ष चाहनेवाले पुरुषों से नाना प्रकार की यज्ञ, तप और दान की क्रियाएँ फल का ध्यान न करके की जाती हैं ॥ २५ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! 'तत्त्वमसि' वा 'तदिति एतस्य महतो भूतस्य नाम भवति' इत्यादि श्रुतियों से 'तत्' ब्रह्म का नाम वा सङ्केत है, इस नाम का उच्चारण करके, अथवा इस दूसरे सङ्केत से 'तदर्थ' अर्थात् परमेश्वरार्थ कर्म है, ऐसी बुद्धि से कर्म-फल का किञ्चित्-मात्र भी ध्यान न धरकर, अर्थात् कर्म-फल की इच्छा से नितान्त रहित होकर, मोक्ष-पद के चाहनेवाले मोक्ष के जिज्ञासु लोग नाना प्रकार की यज्ञ, तप, दान-रूप क्रियाएँ करते हैं ॥ २५ ॥

और—

सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते ।
प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते ॥२६॥

सद्-भावे, साधु-भावे, च	सद्भाव और साधु-भाव में	प्रशस्ते, कर्मणि, तथा	और मङ्गल कर्म में
सत्, इति, एतत्, प्रयुज्यते	सत्, ऐसा यह प्रयोग किया जाता है	सत्, शब्दः, पार्थ, युज्यते	हे अर्जुन ! सत् शब्द का प्रयोग किया जाता है

अन्वयार्थ—हे अर्जुन ! सद्भाव और साधु-भाव में 'सत्' इस नाम का प्रयोग किया जाता है, और मङ्गल-कर्म में 'सत' शब्द जोड़ा जाता है ॥ २६ ॥

व्याख्या—हे पृथा-पुत्र अर्जुन ! "सदेव सोम्येदमग्र आसीत्" इत्यादि श्रुतियों से 'सत्' ब्रह्म का नाम है, यह नाम सद्भाव और साधु-भाव में उच्चारण किया जाता है, अर्थात् जिस वस्तु के अविद्यमानपने या अश्रेष्ठपने की शङ्का हो, उसके विद्यमानपने तथा श्रेष्ठपने में 'सत्' शब्द वर्ता जाता है, जैसे 'अस्ति पुत्रः श्रेष्ठः' ; और ऐसे ही विवाहादि मङ्गल-कार्यों में भी 'सत्' शब्द ही उच्चारण किया जाता है। अथवा दूसरी रीति से इसकी व्याख्या ऐसे भी हो सकती है कि समग्र विद्यमान पदार्थों में जो वास्तव में सत्य-स्वरूप ब्रह्म है, जिसके आधार पर ये सब मिथ्या पदार्थ विद्यमान हुए स्थित हैं, इन विद्यमान पदार्थों में उस असली सत्य-स्वरूप की ओर ध्यान दिलाने के लिये, या "ये सब विद्यमान पदार्थ मिथ्या ही हैं," उनमें सत्य केवल ब्रह्म ही है, ऐसा निश्चय दृढ़ कराने के लिये, और उन पदार्थों में श्रेष्ठता वा विनोद इत्यादि उसी परब्रह्म का है, ऐसा स्मरण कराने के लिये इन यज्ञ तपादि कामों में 'सत्' शब्द वर्ता जाता है ॥ २६ ॥

और—

यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते ।
कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते ॥ २७ ॥

यज्ञे, तपसि, दाने, च, स्थितिः	यज्ञ, तप और दान में स्थिति	कर्म, च, एव, तत्-अर्थीयं	और कर्म उस (प्रभु) के लिये ही हो
सत्, इति, च, उच्यते	और 'सत्' इस नाम से कही जाती है	सत्, इति, एव, अभिधीयते	सत् ऐसे ही कहा जाता है

अन्वयार्थ—यज्ञ, तप और दान में स्थिति 'सत्' इस नाम से कही जाती है, और तदर्थीय कर्म भी 'सत्' इस नाम से कहा जाता है ॥ २७ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! यज्ञ, तप और दान में जो स्थिति (स्थिर भावना, निष्ठा, निश्चय वा तत्परता) है वह 'सत्'-रूप जो ब्रह्म का निर्देश (संकेत) है, उस नाम से कही जाती है ; और ऐसे ही इस निष्ठा वा स्थिति-निमित्त जो कर्म है, अर्थात् इस स्थिर भावना-रूप निष्ठा-निमित्त जो कर्म है ; अथवा जिस ब्रह्म का यह 'सत्' नाम वा 'ॐ तत् सत्' करके नाम ऊपर कहा गया है, उस ब्रह्म के अर्थ जो कर्म है ; अथवा ऊपर जो शुद्ध ब्रह्म-विषयक ज्ञान वर्णन हुआ, उस ज्ञान के अनुकूल कर्म ; अथवा भगवदर्पण-रूप बुद्धि से किया हुआ कर्म ; अथवा परमेश्वर की प्राप्ति-निमित्त कर्म, ऐसा तदर्थीय कर्म जो है, उसको भी विद्वान् लोग 'सत्' ब्रह्म के इस निर्देश से कहते हैं, इसलिये इस 'सत्' नाम से यज्ञ तपादि कर्मों में विगुणता-रूपी दोषों की निवृत्ति होती है, जिससे यह अत्यन्त श्रेष्ठ है । तात्पर्य इस सारे का यह है कि ॐ तत् सत्, ये तीनों ब्रह्म के उत्तम नाम हैं, या यह तीन अवयववाला ब्रह्म का नाम है; इसलिये प्रत्येक कर्म की सद्गुणता के लिये इन नामों का वा इस (तीन अवयवों के समुदाय-रूप) नाम का उच्चारण करना उचित और आवश्यक है । 'ॐ' सर्व कर्मों के आरम्भ में (चाहे कर्म सकाम हों चाहे निष्काम) वर्ता जाना चाहिए ; 'तत्' केवल निष्काम कर्मों में वर्ता जाना चाहिए ; और 'सत्' किसी वस्तु की विद्यमानता, श्रेष्ठता वा मङ्गलकारी अवस्था और उस वस्तु वा अवस्था में स्थिर भावना तथा उसी निमित्त कर्म में वर्ता जाना चाहिए ॥ २७ ॥ ⁕

⁕ श्लोक २४ से २७ तक का भावार्थ श्रीतिलक महाराज ऐसे करते हैं—

सम्बन्ध—(१) इस प्रकार सब कर्मों में श्रद्धा की आवश्यकता और उस श्रद्धापूर्वक प्रवृत्ति का फल वर्णन करके अब भगवान् अश्रद्धा-कृत कर्म की निष्फलता स्पष्ट करते हैं और इसी स्पष्टीकरण से अध्याय की समाप्ति करते हैं—

अथवा (२) अब भगवान् सारे कर्मों में श्रद्धापूर्वक प्रवृत्ति के लिये अश्रद्धाकृत प्रत्येक कर्म की निन्दा करते हैं—

अथवा (३) अब भगवान् असत् कर्म के विषय में कहते हैं—

अथवा (४) आलस्यादि दोषों से शास्त्र-विधि को छोड़कर जो केवल वृद्ध पुरुषों के व्यवहारानुसार पूर्ण श्रद्धा से यज्ञ, तप, दानादि कर्म करते हैं और उन कर्मों में जो इन श्रद्धालु पुरुषों के किसी प्रमाद से कोई विगुणता रह जाती है, वह विगुणता इस 'ॐ तत् सत'-रूप मन्त्र (ब्रह्मनिर्देश) के उच्चारण से निवृत्त हो जाती है। पर जो श्रद्धा-रहित पुरुषों से शास्त्र-विधि का त्याग करके अपनी इच्छा-मात्र से यज्ञ-तपादि कर्म किये जाते हैं, उनमें जो भी विगुणताएँ हैं, उनकी निवृत्ति इस 'ॐ तत् सत्'-रूपी निर्देश के उच्चारण से कदापि नहीं होती, इसे भगवान् अब दर्शाने लगे हैं—

"यज्ञ, तप और दान मुख्य धार्मिक कर्म हैं, तथा इसके निमित्त जो कर्म किया जाता है, उसी को मीमांसक लोक सामान्यतः यज्ञार्थ कर्म कहते हैं। इन कर्मों को करते समय यदि फल की आशा हो, तो वह भी धर्म के अनुकूल रहती है, इस कारण ये कर्म 'सत'-श्रेणी में गिने जाते हैं, और सब निष्काम कर्म 'तत्' (वह अर्थात् परे की) श्रेणी के लिखे जाते हैं। प्रत्येक कर्म के आरम्भ में जो यह 'ॐ तत् सत्' ब्रह्मसङ्कल्प कहा जाता है, इसमें इस प्रकार से दोनों प्रकार के कर्मों का समावेश होता है; इसलिये इन दोनों कर्मों को ब्रह्मानुकूल ही समझना चाहिए।"

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत् ।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह ॥२८॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे श्रद्धात्रयविभागयोगो नाम
सप्तदशोऽध्यायः ।

अश्रद्धया, हुतं, दत्तं, तपः, तप्तं, कृतं, च, यत्	अश्रद्धा से हवन किया हुआ, दिया हुआ, तप तपा हुआ और जो कुछ किया होता है	असत्, इति, उच्यते, पार्थ	हे अर्जुन ! असत् है, ऐसा कहा जाता है
		न, च, तत्, प्रेत्य, नो, इह	न वह मरकर और न यहाँ (इस जन्म में)

अन्वयार्थ—हे अर्जुन ! अश्रद्धा से हवन किया हुआ, (दान) दिया हुआ, तप तपा हुआ, और जो कुछ भी किया होता है, वह 'असत्' है, ऐसा कहलाता है । वह (कर्म) न मरकर और न इस जन्म में (फल देता है) ॥ २८ ॥

व्याख्या—हे पृथा-पुत्र अर्जुन ! पूर्व श्लोकों में ऊपर जो कुछ कहा वह श्रद्धापूर्वक कर्म के विषय में कहा गया है, अश्रद्धापूर्वक कर्म के विषय में नहीं, क्योंकि अश्रद्धापूर्वक कर्म चाहे बड़े आयास वा परिश्रम से भी क्यों न किये जायँ, वे न इस लोक में कुछ फल रखते हैं और न परलोक में, इसलिये यज्ञ, दान, तप आदि जो कुछ भी कर्म अश्रद्धालु पुरुषों से किये जाते हैं, वे सब 'असत्' हैं, ऐसा कहा जाता है ; अर्थात् उन अश्रद्धापूर्वक कर्मों का इस जन्म में या मरने के पीछे कोई फल नहीं होता, इसलिये उनका करना व्यर्थ, निष्फल, निन्दित और असत् है,

और इसलिये 'ॐ तत् सत्' इस ब्रह्म-निर्देश का न वहाँ प्रयोग किया जाता है और न उसके उच्चारण से उन कर्मों के दोषों की निवृत्ति होती है ॥ २८ ॥ *

इति श्रीमद्भगवद्गीतानुवादे श्रद्धात्रयविभागयोगो नाम सप्तदशोऽध्यायः ।

---

* इस पर श्रीतिलक महाराज अपनी विचित्र टीका इस प्रकार करते हैं— "तात्पर्य यह है कि ब्रह्म-स्वरूप के बोधक इस सर्वमान्य संकल्प में ही निष्काम बुद्धि से अथवा कर्तव्य समझकर, किये हुए सात्विक कर्म का और शास्त्रानुसार सद्बुद्धि से किये हुए प्रशस्त कर्म अथवा सत्कर्म का समावेश होता है। अन्य सब कर्म वृथा हैं। इससे सिद्ध होता है कि उस कर्म को छोड़ देने का उपदेश करना उचित नहीं है कि जिस कर्म का ब्रह्म-निर्देश में ही समावेश होता है, और जो ब्रह्मदेव के साथ ही उत्पन्न हुआ है (गी० ३. १०) तथा जो किसी से छूट भी नहीं सकता। 'ॐ तत्सत्'-रूपी ब्रह्म-निर्देश के उक्त कर्मयोग-प्रधान अर्थ को, इसी अध्याय में कर्म-विभाग के साथ ही, बतलाने का हेतु भी यही है। क्योंकि केवल ब्रह्म-स्वरूप का वर्णन तो तेरहवें अध्याय में और उसके पहले भी हो चुका है। गीतारहस्य के नवें प्रकरण के अंत में बतला चुके हैं कि 'ॐ तत्सत्' पद का असली अर्थ क्या होना चाहिए। आजकल 'सच्चिदानन्द' पद से ब्रह्म-निर्देश की प्रथा है। परंतु इसको स्वीकार न करके यहाँ जब उस 'ॐ तत्सत्' ब्रह्म-निर्देश का ही उपयोग किया गया है, तब इससे यह अनुमान निकल सकता है कि 'सच्चिदानंद' पद-रूपी ब्रह्म-निर्देश गीता-ग्रंथ के निर्मित हो चुकने पर साधारण ब्रह्म-निर्देश के रूप से प्रायः प्रचलित हुआ होगा।"

सत्रहवें अध्याय का संक्षेप

(१) पूर्वाध्याय में जो अन्त में कहा गया कि "शास्त्र-विधि को छोड़कर जो अपनी इच्छानुसार विचरता है, वह न सिद्धि को पाता है, न सुख को और न परम गति को, इसलिये, हे अर्जुन! तुझे शास्त्र की विधि को ठीक-ठीक जानकर तदनुसार कर्म करना चाहिए, इत्यादि।" इसको सुनकर अर्जुन के चित्त में शङ्का उठी, जिसके निवारणार्थ वह ऐसे प्रश्न करता है—

हे प्रभो! जो लोग शास्त्र-विधि को आलस्यादि दोषों के कारण अथवा उससे नितान्त अपरिचित होने के कारण त्याग देते हैं, पर अपने पूर्ववृद्धों के व्यवहारानुसार पूर्ण श्रद्धा के साथ यज्ञ, तपादि कर्म करते हैं, उनकी निष्ठा कैसी होती है, सात्त्विकी, राजसी या तामसी?

(२) अर्जुन के प्रश्न के उत्तर में भगवान् पहले श्रद्धा के तीन भेद इस प्रकार निरूपण करते हैं—

(क) हे अर्जुन! देह-धारियों की स्वभाव-जन्य श्रद्धा तीन प्रकार की अर्थात् सात्त्विक, राजस और तामस होती है।

(ख) सबकी अपने-अपने अन्तःकरण वा स्वभाव के अनुसार श्रद्धा होती है। क्योंकि श्रद्धामय यह पुरुष है, इसलिये जो जिसकी श्रद्धा होती है, वही वह स्वयं होता है।

(ग) सात्त्विक स्वभाववाले लोग देवताओं को पूजते हैं, राजस यक्ष और राक्षसों को, और तामस लोग प्रेतों तथा पिशाचादि की उपासना करते हैं।

(३) सात्त्विक स्वभाव या श्रद्धा तो संसार में बहुत कम पाई जाती है, राजस तथा तामस बहुत अधिक। इसलिये भगवान् अब सात्त्विक स्वभाव वा श्रद्धा को दैवी कहा और राजस तथा तामस श्रद्धा वा स्वभाव को आसुरी

कक्षा के अन्तर्गत करके आसुरी कक्षा की श्रद्धा को इस प्रकार निरूपण करते हैं—

जो लोग दम्भ, अहङ्कार, काम, राग और बल से युक्त होकर शास्त्र के विरुद्ध घोर तप करते और जो मूर्ख शरीर इन्द्रियों को और उनमें स्थित मुझको कृश करते हैं, उनको तू आसुरी श्रद्धावाला समझ।

(४) अब श्रद्धा की तरह आहार, यज्ञ, तप, दान इन चारों के भी भेद भगवान् क्रमशः ऐसे निरूपण करते हैं—

(क) हे अर्जुन ! सबका प्यारा आहार भी तीन प्रकार का होता है, ऐसे ही यज्ञ, तप, दान भी। तू अब पहले आहार के भेद मुझसे सुन।

(ख) आयु, उत्साह, बल, आरोग्य, सुख और प्रीति के बढ़ानेवाला, रसदार, चिकना, चिरस्थायी, दिलपसन्द आहार सात्त्विकी पुरुष को प्यारा होता है।

(ग) कड़वा, खट्टा, नमकीन, अतिगर्म, तीक्ष्ण, रूखा, दाह करनेवाला, दुःख-शोक-रोग का देनेवाला आहार रजोगुणी को प्यारा होता है।

(घ) ठण्ढा, नीरस, दुर्गन्धित, बासी, जूठा और अपवित्र आहार तमोगुणी पुरुष को प्यारा होता है।

(५) आहार के भेद के बाद अब भगवान् यज्ञ के तीन भेद निरूपण करते हैं—

(क) 'यज्ञ करना ही चाहिए', ऐसे निश्चय के साथ जो यज्ञ निष्कामी पुरुष से विधिपूर्वक किया जाता है, वह सात्त्विक होता है।

(ख) जो यज्ञ फल की कांक्षा से केवल दंभ के साथ किया जाता है, वह राजस यज्ञ होता है।

(ग) विधिहीन, मन्त्रहीन, विना अन्नदान और दक्षिणा दिये, जो यज्ञ श्रद्धा से शून्य होकर किया जाता है, वह तामस यज्ञ होता है।

(६) अब यज्ञ के समान तप के भेद भी कायिक, वाचिक, मानसिक रूप से तथा गुण-भेद से भगवान् क्रमशः ऐसे कहते हैं—

(क) देव, ब्राह्मण, गुरु और विद्वानों का पूजन, भीतर-बाहर से शुद्धि, सरलता, ब्रह्मचर्य और अहिंसा, यह शारीरिक तप कहलाता है।

(ख) न उद्वेगकारक, सत्य, प्रिय और हितकर वाक्य, तथा स्वाध्याय का अभ्यास, यह वाचिक तप कहलाता है।

(ग) मन की प्रसन्नता, सौम्यभाव, मौन, मनोनिग्रह और भावना की शुद्धि, इतना यह मानस तप कहलाता है।

(घ) निष्कामी कर्मयोगी पुरुषों से जो तप परम श्रद्धा के साथ तपा जाता है, वह तप सात्त्विक कहलाता है।

(ङ) सत्कार, मान और पूजा के लिये जो तप केवल दंभ के साथ तपा जाता है, वह राजस कहलाता है।

(च) जो तप अपने को पीड़ा देकर, अथवा दूसरों के नाशार्थ केवल दुराग्रह से तपा जाता है, वह तामस कहलाता है।

(७) अब भगवान् दान के भी तीन भेद उक्त रीति से निरूपण करते हैं—

(क) 'देना उचित है', ऐसे निश्चय से जो दान देश, काल और पात्र का विचार करके ऐसे सुपात्र को दिया जाता है, जो उस दान के बदले हमारा प्रत्युपकार तो कुछ न कर सके, और उसका कल्याण उस दान से अवश्य होता हो, तो वह दान सात्त्विक कहलाता है।

(ख) जो दान प्रत्युपकार वा फल के उद्देश्य से क्लेश के साथ दिया जाता है, वह दान राजस कहलाता है।

(ग) जो दान देश-काल को न देखकर तिरस्कार और अनादर के साथ किसी अपात्र को दिया जाता है, वह तामस दान कहलाता है।

(८) अब ये उक्त यज्ञ, दान, तपादि कर्म जिस ब्रह्म-निर्देश, विधि वा नियम के साथ आरम्भ करने पर सफल होते हैं, उसे भगवान् ऐसे कहते हैं—

(क) 'ॐ तत् सत्' ऐसा तीन प्रकार का ब्रह्म का निर्देश है। सबसे पहले ब्राह्मण, वेद और यज्ञ, अर्थात् कर्मकर्ता, कर्म और कारण, इसी से निर्माण हुए माने जाते हैं।

(ख) इसलिये ब्रह्मवादी उक्त शास्त्रोक्त यज्ञ दानादि क्रियाओं में सदा ॐ नाम को उच्चारण करके प्रवृत्त होते हैं।

(ग) 'तत्' इस नाम के साथ मोक्ष के जिज्ञासु, नाना प्रकार की यज्ञ तपादि क्रियायें निष्काम-भाव से करते हैं।

(घ) सद्भाव और साधु-भाव तथा मङ्गलकारी कर्म में 'सत्' इस नाम का प्रयोग किया जाता है।

(ङ) यज्ञ, तप और दान में स्थिति, अर्थात् निष्ठा वा स्थिर भावना, 'सत्' इस नाम से होती मानी जाती है, और तदर्थीय कर्म में भी 'सत्' नाम का ही प्रयोग किया जाता है।

(९) उक्त श्रद्धायुक्त कर्मों का फल दर्शाकर अब भगवान् अश्रद्धायुक्त कर्मों का परिणाम दर्शाते हुए इस प्रकरण वा अध्याय की ऐसे समाप्ति करते हैं—

हे अर्जुन ! अश्रद्धायुक्त यज्ञ, तप, दान अथवा कोई भी कर्म हो, वह 'असत्' कहलाता है, इसलिये न इस जन्म में और न मरकर उसका कोई

फल मिलता है। अतएव ये सब श्रद्धा से शून्य यज्ञ तपादि कर्म व्यर्थ, निरर्थक, निष्फल और निन्दित हैं, इनको तू मत कर।

इस प्रकार श्रीभगवान् से गाये हुए, अर्थात् कहे हुए उपनिषद् में, ब्रह्मविद्यान्तर्गत योगशास्त्र-विषयक, श्रीकृष्ण और अर्जुन के संवाद में, श्रद्धात्रय-विभागयोग-नामक सत्रहवाँ अध्याय समाप्त हुआ।

॥ ॐ ॥

अष्टादशोऽध्यायः

सम्बन्ध—सत्रहवें अध्याय में श्रद्धा, आहार, यज्ञ, तप, दान को तीन प्रकार का (सात्त्विक, राजस, तामस) सुनकर अर्जुन को सन्देह हुआ कि जब ये यज्ञादि तीन प्रकार हैं, तो संन्यास, त्याग और ज्ञान आदि शब्द जो गीता-शास्त्र में बार-बार निरूपण हुए हैं, इनका तात्पर्य भी उक्त श्रद्धादिवत् तीन प्रकार से अवश्य होगा। और जब शास्त्र की विधि से सात्त्विक यज्ञ-तप-दान आदि का करना मनुष्य के लिये अवश्य कर्तव्य और लाभदायक है, वैसे ही संन्यास और ज्ञान की भी दशा होगी; पर पूर्व अध्यायों में भगवान् ने जो संन्यास अथवा त्याग और ज्ञान का उपदेश किया है, उससे तो यही सिद्ध होता है कि ये यज्ञ-तप आदि सब प्रकार के कर्म (आरम्भ) दोषयुक्त हैं, इनसे परे रहना ही उचित है, जैसे—"त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।" (२. ४५)। "सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते।" (४. ३३)। "सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी। नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन्।" (५. १३) "योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते।" (६. ३)। "संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि।" (९. २८)। "सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः।" (१२. १६) इत्यादि। और यदि शरीर-यात्रा-निमित्त अथवा शरीर के स्वभाव से विवश होकर इनको करना ही है, तो इनके किसी प्रकार के फल को हेतु बनाकर नहीं करना है, बल्कि

इनके सर्व प्रकार के अच्छे और बुरे फलों को नितान्त त्यागकर और फल से किञ्चित् आसक्ति न रखते हुए इन्हें चेष्टा-मात्र से करना है, जैसे—"योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय।" (२. ४८)। "त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः। कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किञ्चित्करोति सः।" (४. २०) "सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान्।" (१२. ११) इत्यादि। इस प्रकार सत्रहवें अध्याय के यज्ञ, तप, दान आदि के कथन को पूर्व अध्यायों में वर्णित संन्यास, त्याग और ज्ञानादि के अभिप्राय से परस्पर विलक्षण देखकर संशययुक्त हुआ अर्जुन भगवान् से पुनः संन्यास और त्याग के विषय में प्रश्न करता है, जिस पर अठारहवाँ अध्याय आरम्भ होता है। चूँकि यह विषय सम्पूर्ण गीताशास्त्र का सार है और पूर्वले समग्र अध्यायों में ओतप्रोत है, बल्कि वेदों का तात्पर्य भी इसी में समाप्त होता है, इसलिये कृपालु भगवान् अब अर्जुन के प्रश्न के उत्तर में पूर्वोक्त सर्व अध्यायों का उपसंहार करते हुए अति स्पष्ट रीति से इस विषय को दर्शाते हैं ॐ—

ॐ श्रीलोकमान्य बाल गङ्गाधर तिलक महाराज इस अध्याय का सम्बन्ध इस रूप से वर्णन करते हैं—"अठारहवाँ अध्याय पूरे गीताशास्त्र का उपसंहार है, अतः यहाँ तक जो विवेचन हुआ है, उसका हम इस स्थान में संक्षेप से सिंहावलोकन करते हैं। पहले अध्याय से स्पष्ट होता है कि स्वधर्म के अनुसार प्राप्त हुए युद्ध को छोड़ भीख माँगने पर उतारू होनेवाले अर्जुन को अपने कर्तव्य में प्रवृत्त करने के लिये गीता का उपदेश किया गया है। अर्जुन को शङ्का थी कि गुरु-हत्या आदि सदोष कर्म करने से आत्म-कल्याण कभी न होगा। अतएव आत्मज्ञानी पुरुषों के स्वीकृत किये हुए, आयु बिताने के दो प्रकार के मार्गों का—सांख्य (संन्यास)-मार्ग का और कर्मयोग (योग)-मार्ग का—वर्णन दूसरे अध्याय के आरम्भ में ही किया गया है। और अन्त में यह सिद्धान्त किया गया है कि यद्यपि ये दोनों ही मार्ग मोक्ष देते हैं, तथापि इनमें से कर्मयोग ही अधिक श्रेयस्कर है

अर्जुन उवाच—

संन्यासस्य महाबाहो तत्त्वमिच्छामि वेदितुम्।
त्यागस्य च हृषीकेश पृथक् केशिनिषूदन ॥ १ ॥

(गी० ५. २)। फिर तीसरे अध्याय से लेकर पाँचवें अध्याय तक इन युक्तियों का वर्णन है कि कर्मयोग में बुद्धि श्रेष्ठ समझी जाती है ; बुद्धि के स्थिर और सम होने से कर्म की बाधा नहीं होती ; कर्म किसी के भी नहीं छूटते तथा उन्हें छोड़ देना भी किसी को उचित नहीं, केवल फलाशा को त्याग देना ही काफ़ी है ; अपने लिये न सही तो भी लोक-संग्रह के हेतु कर्म करना आवश्यक है ; बुद्धि अच्छी हो तो ज्ञान और कर्म के बीच विरोध नहीं होता ; तथा पूर्व-परम्परा देखो जाय, तो ज्ञात होगा कि जनक आदि ने इसी मार्ग का आचरण किया है। अनन्तर इस बात का विवेचन किया है कि कर्मयोग की सिद्धि के लिये बुद्धि की जिस समता की आवश्यकता होती है, उसे कैसे प्राप्त करना चाहिए और इस कर्मयोग का आचरण करते हुए अन्त में उसी के द्वारा मोक्ष कैसे प्राप्त होता है। बुद्धि की इस समता को प्राप्त करने के लिये इन्द्रियों का निग्रह करके पूर्णतया यह जान लेना आवश्यक है कि एक ही परमेश्वर सब प्राणियों में भरा हुआ है— इसके अतिरिक्त और दूसरा मार्ग नहीं है। अतः इन्द्रिय-निग्रह का विवेचन छठवें अध्याय में किया गया है। फिर सातवें अध्याय से सत्रहवें अध्याय तक बतलाया गया है कि कर्मयोग का आचरण करते हुए ही परमेश्वर का ज्ञान कैसे प्राप्त होता है, और वह ज्ञान क्या है। सातवें और आठवें अध्याय में क्षर-अक्षर अथवा व्यक्त-अव्यक्त के ज्ञान-विज्ञान का विवरण किया गया है। नवें अध्याय से बारहवें अध्याय तक इस अभिप्राय का वर्णन किया गया है कि यद्यपि परमेश्वर के व्यक्त स्वरूप की अपेक्षा अव्यक्त स्वरूप श्रेष्ठ है, तो भी इस बुद्धि को न डिगने दे कि परमेश्वर एक ही है, और व्यक्त स्वरूप की ही

संन्यासस्य, महाबाहो, तत्त्वं, इच्छामि, वेदितुम्	हे महाबाहु (कृष्ण)! संन्यास का तत्त्व मैं जानना चाहता हूँ	त्यागस्य, च, हृषीक-ईश, पृथक्, केशि-निषूदन	हे इन्द्रियों के मालिक और हे केशी दैत्य के मारनेवाले! त्याग के (तत्त्व को) अलग-अलग

उपासना प्रत्यक्ष ज्ञान देनेवाली अतएव सबके लिये सुलभ है। अनन्तर तेरहवें अध्याय में क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ का विचार किया गया है कि क्षर-अक्षर के विवेक में जिसे अव्यक्त करते हैं, वही मनुष्य के शरीर में अन्तरात्मा है। इसके पश्चात् चौदहवें अध्याय से लेकर सत्रहवें अध्याय तक, चार अध्यायों में, क्षर-अक्षर-विज्ञान के अन्तर्गत इस विषय का विस्तारसहित विचार किया गया है कि एक ही अव्यक्त से प्रकृति के गुणों के कारण जगत् में विविध स्वभावों के मनुष्य कैसे उपजते हैं, अथवा और अनेक प्रकार का विस्तार कैसे होता है, एवं ज्ञान-विज्ञान का निरूपण समाप्त किया गया है। तथापि स्थान-स्थान पर अर्जुन को यही उपदेश है कि तू कर्म कर; और यही कर्म-योग-प्रधान आयु बिताने का मार्ग सब में उत्तम माना गया है कि जिसमें शुद्ध अन्तःकरण से परमेश्वर की भक्ति करके 'परमेश्वरार्पण-पूर्वक स्वधर्म के अनुसार केवल कर्तव्य समझकर मरण पर्यन्त कर्म करते रहने' का उपदेश है। इस प्रकार ज्ञान-मूलक और भक्तिप्रधान कर्मयोग का साङ्गोपाङ्ग विवेचन कर चुकने पर अठारहवें अध्याय में उसी धर्म का उपसंहार करके अर्जुन को स्वेच्छा से युद्ध करने के लिये प्रवृत्त किया है। गीता के इस मार्ग में—कि जो गीता में सर्वोत्तम कहा गया है—अर्जुन से यह नहीं कहा गया कि 'तू चतुर्थ आश्रम को स्वीकार करके संन्यासी हो जा।' हाँ, यह अवश्य कहा गया है कि इस मार्ग से आचरण करनेवाला मनुष्य 'नित्य-संन्यासी' है (गी० ५. ३)। अतएव अब अर्जुन का प्रश्न है कि चतुर्थ आश्रम-रूपी संन्यास लेकर किसी समय सब कर्मों को सचमुच त्याग देने का तत्त्व इस

अन्वयार्थ—अर्जुन बोला—हे महाबाहु ! हे हृषीकेश ! हे केशिनिषूदन

कर्मयोग-मार्ग में है या नहीं ; और नहीं है, तो 'संन्यास' एवं 'त्याग' शब्दों का अर्थ क्या है ?"

इस अध्याय की सङ्गति श्रीज्ञानदेवजी अपने प्रसिद्ध विचित्र ढङ्ग से इस प्रकार करते हैं—

"अब सत्रहवें अध्याय के अनन्तर अठारहवें अध्याय की रचना कैसी की गई है, वह सम्बन्ध जैसा मुझे जान पड़ता है वैसा निवेदन करता हूँ। गङ्गा और यमुना का जल यद्यपि प्रवाह-भेद से अलग जान पड़ता है तथापि जलत्व में एक ही है, अथवा अर्धनारीनटेश्वर के रूप में दोनों आकृतियों की कुछ हानि न होकर दोनों को मिलाकर एक ही रूप रचा हुआ दिखाई देता है, अथवा चन्द्र-कला दिन-दिन बढ़ती हुई चन्द्र-बिम्ब में विस्तृत दिखाई देती है पर चन्द्रमा एक ही है, उस पर चन्द्र-कला की कोई जुदी-जुदी तह नहीं चढ़ती, वैसे ही प्रति अध्याय में प्रति श्लोक के चारों चरण जुदे-जुदे जान पड़ते हैं, परन्तु जो सिद्धान्त व्यक्त किया गया है उसके रूप कोई जुदे-जुदे नहीं हैं। जैसे एक ही डोरी अनेक रत्न-मणि धारण करनेहारी रहती है, अथवा अनेक मोती मिलने पर जैसे एक ही हार बनता है और उनकी शोभा देनेहारी कान्ति भी एक ही होती है, फूलों का हार बनाते हुए फूलों की संख्या अधिक होती जाती है तथापि उनकी सुगन्ध की गणना करने के लिये एक के अतिरिक्त दूसरी अँगुली का उपयोग नहीं हो सकता, उसी प्रकार इन अध्यायों का और श्लोकों का हाल समझना चाहिए। श्लोक सात सौ हैं और अध्यायों की संख्या अठारह है, परन्तु श्रीकृष्ण ने जिस तत्त्व का निरूपण किया वह एक ही है, दूसरा नहीं। और मैंने भी उस मार्ग का अवलम्बन न छोड़कर ग्रन्थ का स्पष्टीकरण किया है। सम्प्रति उसी मार्ग के अनुसार निरूपण करता हूँ, सुनो। सत्रहवाँ अध्याय समाप्त होते समय अन्तिम श्लोक में श्रीकृष्ण ने कहा कि हे अर्जुन ! ब्रह्म नाम के विषय में आस्था-बुद्धि छोड़कर जितने कर्म किये जायँ

(भगवान् कृष्णचन्द्र) ! मैं संन्यास और त्याग के तत्त्व को पृथक्-पृथक् जानना चाहता हूँ ॥ १ ॥

व्याख्या—अर्जुन ने प्रश्न किया कि हे विशाल-भुजा❀ (वा बल)

उतने सब असत्कर्म होते हैं। श्रीकृष्ण के ये वचन सुनते ही अर्जुन को आनन्द हुआ। उसने सोचा कि श्रीकृष्ण ने कर्मनिष्ठ लोगों को दोष दिया। वे बेचारे अज्ञानान्ध सम्मुख खड़े हुए ईश्वर को नहीं पहचानते, तो उन्हें नाम की श्रेष्ठता कैसे ज्ञान पड़े ? और रज और तम दोनों का नाश हुए बिना श्रद्धा अल्प ही रहती है, तो वह ब्रह्म-नाम में कैसे लग सकती है ? अतः शस्त्र को आलिङ्गन देना, वार्ता सुनते ही दौड़ना या नागिन को खिलाना आदि बातें जैसे घातक होती हैं, वैसे ही दुर्घट कर्म करने से जन्मान्तर ही की प्राप्ति होती है। कर्म से ऐसा दुःखद लाभ होता है। यदि भाग्य-वशात् कर्म यथासाङ्ग हो, तभी उसे ज्ञान की योग्यता हो सकती है, अन्यथा उससे नरक ही प्राप्त होता है। यहाँ तक कर्म में अनेक अड़चनें हैं, तो फिर कर्मठों को मोक्ष की पारी कब आ सकती है ! अतः कर्म की पराधीनता मिट जाय, इसलिये सम्पूर्ण कर्म का ही त्याग कर देना चाहिए, और पूर्ण संन्यास का स्वीकार करना चाहिए। जिनके द्वारा ऐसा आत्म-ज्ञान प्राप्त हो जाता है कि जिससे कभी कर्म-बाधा के भय की वार्ता ही नहीं रहती, जो ज्ञान के आवाहन-मन्त्र हैं, अथवा ज्ञान के उत्तम खेत हैं, अथवा ज्ञान को आकर्षित करनेहारे सूत्र हैं, उन संन्यास और त्याग का अनुष्ठान करने से संसार की मुक्ति होती है, इसलिये यही बात उत्तम रीति से और स्पष्ट पूछ लेनी चाहिए। ऐसा सोचकर पार्थ ने त्याग और संन्यास का स्पष्टीकरण करने के लिये श्रीकृष्ण से प्रश्न किया। उस पर श्रीकृष्ण ने जो वचन कहे, वही अठारहवें अध्याय के रूप से प्रकट हुए हैं।"

❀ 'विशालबाहु और केशिनिषूदन' श्रीकृष्ण को इस आशय से कहा गया कि वह बाहर का दुःख दूर करने में समर्थ हैं, और हृषीकेश इसलिये कहा कि उनमें भीतर का दुःख मिटाने की पूरी-पूरी शक्ति थी।

वाले ! हे इन्द्रियों के प्रवर्तक (स्वामी) ! और हे केशी दैत्य के मारने-वाले श्रीकृष्णजी ! मैं अलग-अलग यह जानना चाहता हूँ कि संन्यास का तत्त्व क्या है और त्याग का तत्त्व क्या है, अर्थात् इनके यथार्थ रूप भेद के सहित न्यारे-न्यारे जानने की मेरी इच्छा है, कृपया इस मेरी जिज्ञासा को पूर्ण कीजिए ॥ १ ॥ ❀

❀ श्रीज्ञानदेवजी इस श्लोक की व्याख्या अपने विचित्र ढंग से ऐसे करते हैं—

"महाराज ! संन्यास और त्याग दोनों का सम्बन्ध एक ही अर्थ से है। जैसे सङ्घात और सङ्घ दोनों का अर्थ एक समुदाय ही होता है, वैसे ही त्याग और संन्यास दोनों से त्याग ही कहा जाता है। हम तो यही समझते हैं, पर यदि कोई भिन्न अर्थ हो तो देव उसे स्पष्ट करें। इस पर श्रीमुकुन्द ने कहा कि उनका अर्थ भिन्न है; तथापि हे अर्जुन ! त्याग और संन्यास दोनों का अर्थ एक ही मालूम होता है, यह मैं भी ख़ूब समझता हूँ। इन दोनों शब्दों से असल में त्याग का ही अर्थ होता है, पर भेद इतना ही है कि जब सर्वथैव कर्म को छोड़ दिया जाता है, तब उसे संन्यास कहते हैं और केवल फल का त्याग करना त्याग कहलाता है। अब किस कर्म का फल त्याग करना चाहिए और किस कर्म का निःशेष त्याग करना चाहिए, उसका भी हम स्पष्ट वर्णन करते हैं, ध्यान दो। जङ्गल में और पर्वतों पर जैसे आप ही आप अगणित वृक्ष उत्पन्न होते हैं, वैसे किसी धान्य के पेड़ या बग़ीचे के झाड़ नहीं उत्पन्न होते। विना बोये जैसे घास जहाँ-तहाँ उगती है, वैसे खेत में विना जमाये धान नहीं उग सकता ; अथवा शरीर तो आप ही आप उत्पन्न होता है पर उसके आभरण उद्योग से ही तैयार होते हैं ; नदी आप ही आप होती है पर कुएँ खुदवाये जाते हैं ; इसी प्रकार नित्य और नैमित्तिक कर्म स्वाभाविक होते हैं, पर सकाम कर्म कामना से अलग नहीं होता।"

इस पर श्रीतिलक महाराज अपनी टिप्पणी ऐसे देते हैं—"संन्यास और

सम्बन्ध—अर्जुन के प्रश्न के उत्तर में भगवान् अब इस विषय को सविस्तर वर्णन करते हैं—

श्रीभगवानुवाच—

काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः॥ २ ॥

त्याग शब्दों के उन अर्थों अथवा भेदों को जानने के लिये यह प्रश्न नहीं किया गया है कि जो कोषकारों ने किये हैं। यह न समझना चाहिए कि अर्जुन यह भी नहीं जानता था कि दोनों का धातु-अर्थ 'छोड़ना' है। परन्तु बात यह है कि भगवान् कर्म छोड़ देने की आज्ञा कहीं भी नहीं देते। बल्कि चौथे, पाँचवें अथवा छठवें अध्याय (४.४१ ; ५.१३ ; ६. १) में, या अन्यत्र जहाँ कहीं संन्यास का वर्णन है, वहाँ उन्होंने यही कहा है कि केवल फलाशा का 'त्याग' करके (गी० १२. ११) सब कर्मों का 'संन्यास' करो अर्थात् सब कर्म परमेश्वर को समर्पण करो (३.३० ; १२.६)। और, उपनिषदों में देखो तो कर्मत्याग-प्रधान संन्यास-धर्म के ये वचन पाये जाते हैं कि 'न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैकेनामृतत्वमाशुः' (कै० १. २ ; नारायण १२. ३)।=सब कर्मों का स्वरूपतः 'त्याग' करने से ही कई एकों ने मोक्ष प्राप्त किया है ; अथवा 'वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः संन्यासयोगाद्यतयः शुद्धसत्त्वाः' (मुण्डक० ३. २. ६)=कर्मत्याग-रूपी 'संन्यास'-योग से शुद्ध होनेवाले 'यति' या 'किं प्रजया करिष्यामः' (बृ० ४. ४. २२)=हमें पुत्र-पौत्रादि प्रजा से क्या काम है ? अतएव अर्जुन ने समझा कि भगवान् स्मृति-ग्रन्थों में प्रतिपादित चार आश्रमों में से कर्मत्याग-रूपी संन्यास-आश्रम के लिये 'त्याग' और 'संन्यास' शब्दों का उपयोग नहीं करते, किन्तु वे और किसी अर्थ में उन शब्दों का उपयोग करते हैं। इसीसे अर्जुन ने चाहा कि उस अर्थ का पूर्ण स्पष्टीकरण हो जाय। इसी हेतु से उसने उक्त प्रश्न किया है।"

काम्यानां, कर्मणां, न्यासं,	काम्य कर्मों के त्याग को	सर्व-कर्म-फल-त्यागं	सब कर्मों के फल के त्याग को
संन्यासं, कवयः, विदुः	कवि लोग संन्यास जानते हैं	प्राहुः, त्यागं, विचक्षणाः	विचारकुशल त्याग कहते हैं

अन्वयार्थ—श्रीभगवान् बोले—कवि लोग काम्य* कर्मों के त्याग को

---

* 'काम्य' शब्द से इस स्थान में मीमांसकों का नित्य, नैमित्तिक, काम्य और निषिद्ध कर्म-विभाग अभिप्रेत नहीं है। कर्मयोग-मार्ग में सब कर्मों के दो ही विभाग किये जाते हैं; एक 'काम्य' अर्थात् फलाशा से किये हुए कर्म और दूसरे 'निष्काम्' अर्थात् फलाशा छोड़कर किये हुए कर्म। मनुस्मृति में इन्हीं को क्रम से 'प्रवृत्त' कर्म और 'निवृत्त' कर्म कहा है (देखो मनु० १२. ८८ और ८९)। कर्म चाहे नित्य हों, काम्य हों, नैमित्तिक हों, कायिक हों, वाचिक हों, मानसिक हों, अथवा सात्त्विक आदि भेद के अनुसार और किसी भी प्रकार के हों, उन सबको 'काम्य' अथवा 'निष्काम' इन दो में से किसी एक विभाग में आना ही चाहिए। क्योंकि, काम अर्थात् फलाशा का होना, अथवा न होना, इन दोनों के अतिरिक्त फलाशा की दृष्टि से तीसरा भेद हो ही नहीं सकता। शास्त्र में जिस कर्म का जो फल कहा गया है—जैसे पुत्र-प्राप्ति के लिये पुत्रेष्टि—उस फल की प्राप्ति के लिये वह कर्म किया जाय, तो वह 'काम्य' कर्म है तथा मन में उस फल की इच्छा न रखकर वही कर्म केवल कर्तव्य समझकर किया जाय, तो वह 'निष्काम' हो जाता है। इस प्रकार सब कर्मों के 'काम्य' और 'निष्काम' (अथवा मनु की परिभाषा के अनुसार प्रवृत्त और निवृत्त) यही दो भेद सिद्ध होते हैं। अब कर्मयोगी सब 'काम्य' कर्मों को सर्वथा छोड़ देता है, अतः सिद्ध हुआ कि कर्मयोग में भी काम्य कर्म का संन्यास करना पड़ता है। फिर बच रहे निष्काम कर्म; सो गीता में कर्मयोगी को निष्काम कर्म करने का निश्चित उपदेश किया गया है सही,

संन्यास समझते हैं, और सब कर्मों के फल के त्याग को विचार-कुशल लोग त्याग कहते हैं ॥ २ ॥

व्याख्या—अर्जुन के प्रश्न के उत्तर में भगवान् यों बोले कि हे अर्जुन ! "स्वर्गकामो यजेत, पुत्रकामो यजेत, पशुकामो यजेत ।" इस प्रकार के जो ज्योतिष्टोमादि काम्य कर्म हैं, अथवा स्त्री-धनादि की कामना से युक्त जो भी काम्य कर्म हैं, अथवा कर्तव्य-रूप से प्राप्त (शास्त्र-विहित) सकाम कर्म जो हैं, उनके ही त्याग को कवि लोग अर्थात् सूक्ष्मदर्शी बुद्धिमान्

परन्तु उसमें भी 'फलाशा' का सर्वथा त्याग करना पड़ता है (गी० ६. २)। अतएव त्याग का तत्त्व भी गीता-धर्म में स्थिर ही रहता है। तात्पर्य यह कि सब कर्मों को न छोड़ने पर भी कर्मयोग-मार्ग में 'संन्यास' और 'त्याग' दोनों तत्त्व बने रहते हैं। अर्जुन को यही बात समझा देने के लिये इस श्लोक में संन्यास और त्याग दोनों की व्याख्या यों की गई है कि 'संन्यास' का अर्थ 'काम्य कर्मों को सर्वथा छोड़ देना' है और 'त्याग' का यह मतलब है कि 'जो कर्म करने हों, उनकी फलाशा न रक्खे'। पीछे जब यह प्रतिपादन हो रहा था कि संन्यास (अथवा सांख्य) और योग दोनों तत्त्वतः एक ही हैं, तब 'संन्यासी' शब्द का अर्थ (गी० ५. ३-६ और ६. १-२ देखो) तथा इसी अध्याय में आगे 'त्यागी' शब्द का अर्थ भी (गी० १८. ११) इसी भाँति किया गया है, और इस स्थान में वही अर्थ इष्ट है। यहाँ स्मार्तों का यह मत प्रतिपाद्य नहीं है कि क्रमशः ब्रह्मचर्य, गृहस्थाश्रम और वानप्रस्थ आश्रम का पालन करने पर 'अन्त में प्रत्येक मनुष्य को सर्वत्याग-रूपी संन्यास अथवा चतुर्थाश्रम लिए विना मोक्ष-प्राप्ति हो नहीं सकती।' इससे सिद्ध होता है कि कर्मयोगी यद्यपि संन्यासियों का गेरुआ भेष धारण कर सब कर्मों का त्याग नहीं करता तथापि वह संन्यास के सच्चे तत्त्व का पालन किया करता है, इसलिये कर्मयोग का स्मृति-ग्रन्थों से कोई विरोध नहीं होता। (श्रीतिलक महाराज)

पुरुष संन्यास शब्द का अर्थ समझते हैं, इससे इतर और किसी को नहीं। और हे अर्जुन! सर्व काम्य कर्म तथा अनुष्ठान किये जानेवाले सर्व नित्यकर्मादि का जो अपने से सम्बन्ध रखनेवाला फल है, केवल उसका छोड़ देना ही विचक्षण (विचार में कुशल वा निपुण) पुरुष त्याग कहते हैं। तात्पर्य भगवान् के कथन का यह है कि फल-सहित काम्य कर्म-मात्र का त्याग तो संन्यास * कहलाता है और कर्मों के फल-मात्र का

---

* यद्यपि अर्जुन ने संन्यास और त्याग दो अलग-अलग पूछे हैं और इस श्लोक में उत्तर भी अलग-अलग कर दिया गया है, तथापि चौथे श्लोक में केवल त्याग का ही प्रयोग करने से और सातवें में संन्यास और त्याग को पर्यायतया कहने से इनमें आन्तरिक भेद कुछ नहीं रहता। कहने का अभिप्राय चाहे काम्य कर्मों का (स्वरूप से) त्याग और चाहे समस्त कर्मों के फल का त्याग ही हो, सभी प्रकार से इन दोनों शब्दों (संन्यास और त्याग) का अर्थ एक-मात्र त्याग ही है। घड़ा और वस्त्र आदि शब्दों की भाँति भिन्न जातीय अर्थ के बोधक ये दोनों शब्द नहीं हैं। केवल बाह्य-भेद में संन्यास एक आश्रम की रीति से है जिसमें काम्य कर्म त्यागे जाते हैं, और त्याग केवल कर्मों के फल का त्यागना है जो गृहस्थ भी कर सकता है। इस प्रकार संन्यास के ही दो भेद 'संन्यास और त्याग' हैं जिनको अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग संन्यास भी कहते हैं। अन्तरङ्ग संन्यास जिसका त्याग से किञ्चित् भेद नहीं उसे तो भगवान् आप त्याग के नाम से इस अध्याय में भले प्रकार वर्णन कर रहे हैं। बहिरङ्ग संन्यास जो चतुर्थ आश्रम कहलाता है उसका विस्तार गीता में नहीं, इसलिये यहाँ दिया जाता है। बहिरङ्ग संन्यास बहुत प्रकार का है—कुटीचर १, चैत्र २, बहूदक ३, विविदिषा ४, विद्वत् ५, हंस ६, परमहंस ७ इत्यादि। इनके लक्षण अङ्क के क्रम से लिखे जाते हैं—(१) वाणिज्यादि व्यवहार छोड़कर ग्राम से बाहर शरीर-यात्रा-मात्र कुटी में बैठकर भगवत्-भजन वा ब्रह्म-विचार करना। अपने सम्बन्धियों तथा अन्य पुरुषों को सम समझना। कोई घर का अथवा

त्यागना त्याग कहलाता है। भेद दोनों का इतना ही है कि संन्यास में

बाहर का पुरुष भोजन दे जाय, उसी से शारीरिक निर्वाह करना, यह कुटीचर संन्यासी का लक्षण है। और कनिष्ठ अङ्ग उसका यह भी है कि देह-यात्रा-मात्र कुछ आजीविका का यत्न करके एकान्त में निवास करना। (२) जैसे कुटीचर का लक्षण कहा, वैसे कुटी शब्द की जगह क्षेत्र समझ लेना चाहिए। क्षेत्र-संन्यास में देह-यात्रा के लिये मधुकरी माँग खाने में भी दोष नहीं समझा जाता है। (३) घर को त्याग कर विचरता रहे, एक स्थान पर दीर्घ काल तक स्थित न रहे, यह बहूदक संन्यासी का लक्षण है। (४) वेदान्त-शास्त्र श्रवण करने के लिये गृहस्थाश्रम को त्यागना और त्याग के पीछे दिन-रात सदा श्रवण मनन निदिध्यासन करते रहना, यह विविदिषा-संन्यास है। (५) जीवन्मुक्ति का जो आनंद है, उसके लिये गृहस्थाश्रम का त्याग करना यह विद्वत्-संन्यास है। इसको वही ज्ञानवान् धारण करते हैं कि जिनको गृहस्थाश्रम में ही संशय-विपर्यय-रहित आत्मसाक्षात्कार अर्थात् ब्रह्मज्ञान का अनुभव हो जाता है। (६) जिस प्रकार हंस दूध और पानी को जुदा करके दूध ही पान करता है, इस प्रकार देहादि पदार्थों से अपने स्वरूप को पृथक् अर्थात् विलक्षण समझकर सदा स्वरूप ही में निष्ठा रहनी, यह हंस-संन्यासी का लक्षण है। (७) जो वस्त्रादि को भी त्यागकर केवल अपने स्वरूप में निष्ठा रखता हुआ मौन रहता है, वह परमहंस संन्यासी कहलाता है। यह संक्षिप्त वर्णन बहिरङ्ग संन्यास का है। यदि कुटीचरादि सर्व प्रकार के वैदिक (अति प्राचीन काल के) संन्यास को विस्तार-पूर्ण रीति से जानना हो, तो उपनिषदों और मन्वादि धर्मशास्त्र में देखो।

आजकल भारतवर्ष में वैदिक अर्थात् उपनिषद्-काल का संन्यास प्रचलित नहीं, दशनाश संन्यास प्रचलित है जो श्रीमत् जगद्गुरु श्रीस्वामी शङ्कराचार्यजी के पीछे से आरम्भ हुआ है। यह दशनाम संन्यास श्रीस्वामी शङ्कराचार्य के चार शिष्य जो चार मठों में स्थापित थे, उनके शिष्यों के नाम से प्रचलित हुआ

तो सर्व प्रकार का कर्म नहीं होता, त्याग में कर्म तो होते हैं, केवल फलाशा नहीं होती ॥ २ ॥ ※

है । चार शिष्य (१) श्रीस्वरेश्वराचार्य, (२) श्रीपद्मपाद, (३) श्रीहस्तामल और (४) श्रीतोटक स्वामी थे । इनके दश शिष्य गिरि १, पर्वत २, सागर ३, तीर्थ ४, आश्रम ५, वन ६, अरण्य ७, सरस्वति ८, भारती ९ और पूरि १० हुए, जिनके नामों से दशनाम संन्यास आरम्भ हो गया । यह संक्षिप्त वर्णन आजकल के दशनाम संन्यास का है । यदि अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग दोनों प्रकार का संन्यास हो (अर्थात् बाहर से सब काम्य कर्मों का त्याग और मन से सब कर्मों के साथ आसक्ति और उनके फलों का त्याग हो), तो वह संन्यास सबसे श्रेष्ठ कहा जाता है, ऐसा संन्यासी सबका पूज्य माना जाता है; इसी को सिद्ध अथवा विद्वत्-संन्यास कहते हैं । और यदि केवल बहिरङ्ग संन्यास हो (अर्थात् काम्य कर्मों का ही त्याग हो) और चित्त भीतर से निस्सम्बन्धता और निष्कामता से युक्त न हो, तो वह कनिष्ठ अथवा साधन संन्यास कहलाता है ।

※ श्रीज्ञानदेवजी ने अपने विचित्र ढङ्ग से इस श्लोक की व्याख्या ऐसे की है—

"अश्वमेध इत्यादि जो यज्ञ किये जाते हैं, उनका अनुष्ठान करना कामनाओं का ही समूह इकट्ठा करना है । तालाब, कुएँ, बग़ीचे और बड़े-बड़े गाँव दान देना, और भी नाना प्रकार के व्रतों का आचरण करना इत्यादि जो सम्पूर्ण इष्टापूर्त्ति के कर्म हैं उनके मूल में केवल कामना ही रहती है, और उनसे कर्मानुसार फलों का भोग अवश्य ही प्राप्त होता है । हे धनञ्जय ! शरीर-रूपी गाँव में आकर जैसे जन्म-मृत्यु का संस्कार नहीं मेटा जा सकता, अथवा ललाट में जो लिखा रहता है वह जैसे, कुछ भी करो, नहीं टलता, अथवा मनुष्य का कालापन या गोरापन जैसे धोने से भी नहीं मिटता, वैसे ही सकाम कर्म फल-भोग के लिये धरना दे बैठता है, जैसे कि साहूकार का तगादेवाला ऋण वसूल करने के लिये धरना देकर बैठता है; अथवा यदि अकस्मात् कामना के बिना भी बन पड़े, तथापि वह काम्य कर्म ऐसा घातक होता है जैसे झूठे युद्ध में

सम्बन्ध—संन्यास और त्याग को बाह्य भेद से पृथक्-पृथक् वर्णन करके अब भगवान् त्याग के विषय में अन्य विद्वानों का मत-भेद दर्शाते हैं—

भी लग जाने पर कोई बाण घातक होता है। विना जाने भी गुड़ मुँह में डाला जाय तो मीठा ही लगेगा, अंगारे को राख समझकर भी दबाया जाय तथापि हाथ अवश्य ही जलेगा, वैसे ही फल देना काम्य कर्म में एक स्वाभाविक सामर्थ्य है। अतएव मुमुक्षुओं को ऐसा कर्म कुतूहल से भी नहीं करना चाहिए। बहुत क्या कहें, हे पार्थ! ऐसा जो काम्य कर्म है उसका त्याग उबके हुए विष के समान करना चाहिए। हे सर्व-ज्ञानी! ऐसे त्याग को संसार में अन्तर्दृष्टचा संन्यास कहते हैं। द्रव्य का त्याग करना जैसे चोरी का डर छोड़ देना है, वैसे ही काम्य कर्म का त्याग करना कामना का ही उन्मूलन करना है। और चन्द्र या सूर्य-ग्रहण के समय श्राद्ध या दान करना, माता-पिता की मृत्यु का दिन मानना, अथवा अतिथि की पूजा इत्यादि करना ऐसे जो कर्म करने पड़ते हैं, वे नैमित्तिक कर्म समझने चाहिए। वर्षा ऋतु में आकाश खलबलाता है, वसन्त ऋतु में वन की शोभा दुगुनी बढ़ती है, यौवन में शरीर की सुन्दरता प्रकट होती है, अथवा सोमकान्त-मणि चन्द्र को देखकर पसीजती है, कमल का फूल सूर्य का दर्शन होते ही खिलता है, इन सबों में जैसे उनका विद्यमान गुण ही विस्तार पाता है, दूसरा नहीं, वैसे ही जो नित्य कर्म है वही जब किसी निमित्त के समय नियम से किया जाय तो वह श्रेष्ठ समझा जाता है; इससे उसे नैमित्तिक नाम दिया गया है। और प्रातःकाल, मध्याह्न व सन्ध्या के समय जो प्रतिदिन कर्तव्य ही है, परन्तु दृष्टि जैसे नेत्रों से परिमित रहती है और उनसे अधिक नहीं रहती, अथवा उपयोग के पूर्व गति जैसे चरणों में ही रहती है, अथवा प्रभा जैसे दीप-बिम्ब में रहती है, आने के पूर्व सुगन्धि जैसे चन्दन में ही रहती है, वैसे ही जो अधिकार का स्वरूप प्रकट करनेहारा कर्म है, उसे हे पार्थ! संसार में नित्य-कर्म कहते हैं। इस प्रकार हम तुम्हें नित्य और नैमित्तिक दोनों कर्म समझा चुके। ये नित्य और नैमित्तिक कर्म अवश्यमेव कर्तव्य हैं। कोई

त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः ।
यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यमिति चापरे ॥ ३ ॥

उन्हें निष्फल भी समझते हैं। परन्तु जैसे भोजन से यह फल होता है कि तृप्ति होती तथा भूख का नाश होता है, वैसे ही नित्य और नैमित्तिक कर्म सब तरह से फलदायक हैं। निकृष्ट सोना अग्नि में डाला जाय, तो उसके मल का नाश होता और उसके कस का गुण बढ़ता जाता है, उसी प्रकार नित्य-नैमित्तिक कर्म का फल समझो। क्योंकि ज्यों-ज्यों पाप का नाश होता है, त्यों-त्यों मनुष्य का अधिकार बढ़ता जाता है और उसे तत्काल सद्गति प्राप्त होती है। नित्य-नैमित्तिक कर्मों का इतना बड़ा फल है। परन्तु उस फल का, मूल नक्षत्र में उपजे हुए बालक के समान, त्याग करना चाहिए। वसन्त ऋतु में ज्योंही सम्पूर्ण लताएँ बढ़ने लगती हैं त्योंही आम्र-वृक्ष भी पल्लवित होता है, परन्तु वसन्त ऋतु जैसे उन्हें हाथ न लगाकर उनका त्याग कर चला जाता है, वैसे ही कर्म की सीमा का उल्लङ्घन न करके नित्य-नैमित्तिक कर्मों की ओर चित्त देना चाहिए, परन्तु उनके सम्पूर्ण फलों को उवके हुए अन्न के समान त्याज्य समझना चाहिए। इस कर्मफल के त्याग को ज्ञानी जन त्याग कहते हैं। इस प्रकार हम तुम्हें त्याग और संन्यास की व्याख्या सुना चुके। जब संन्यास किया जाता है तब काम्य कर्म की बाधा नहीं हो सकती तथा निषिद्ध कर्म तो स्वभावतः निषिद्ध होने के कारण ही तज दिया जाता है। जो नित्य इत्यादि कर्म रहे, वे फलत्याग के द्वारा नष्ट हो जाते हैं, जैसे शिर छाँट डालने से शेष शरीर का भी अन्त हो जाता है। अन्त में फ़सल के पकने पर जैसे धान्य हाथ आता है, वैसे ही सम्पूर्ण कर्म का अन्त होने पर आत्मज्ञान आप ही आप खोजता हुआ आ पहुँचता है। ऐसी युक्ति के साथ त्याग और संन्यास दोनों का अनुष्ठान करने से वे आत्मज्ञान की योग्यता प्राप्त करा देते हैं। अन्यथा इस युक्ति में भूल हो जाय और फिर यदि अनुमान से कर्मत्याग किया जाय, तो कुछ त्याग नहीं

त्याज्यं, दोषवत्, इति, एके, कर्म, प्राहुः, मनीषिणः	कर्म दोषवत् त्यागने योग्य है, कई एक बुद्धिमान् ऐसा कहते हैं	यज्ञ-दान-तपः-कर्म, न, त्याज्यं, इति, च, अपरे	यज्ञ दान तप कर्म त्यागने-योग्य नहीं है, ऐसा और दूसरे (कहते हैं)

अन्वयार्थ—कई एक बुद्धिमान् ऐसा कहते हैं कि कर्म दोषवत् त्यागने-योग्य है और दूसरे लोग ऐसा कहते हैं कि यज्ञ, दान, तप-रूप कर्म त्यागने-योग्य नहीं है ॥ ३ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन! कई एक मननशील पुरुष (बुद्धिमान् वा पण्डित लोग) ऐसा कहते हैं कि नित्य, नैमित्तिक, काम्य, प्रायश्चित्त इत्यादि प्रकार के सब ही कर्म बन्धन का हेतु होने से दोषवाले हैं, इसलिये जैसे दोष का त्यागना मनुष्य के लिये उचित और आवश्यक है, वैसे ही इन सारे कर्मों का त्यागना उसके लिये उचित और आवश्यक है। और कई दूसरे ऐसा कहते हैं कि अन्तःकरण की शुद्धि करनेवाले यज्ञ, तप, दान-रूप जो कर्म हैं वे कभी भी त्यागने-योग्य नहीं हैं, इनसे इतर और जो भी कर्म अन्तःकरण को मलिन और आसक्त करनेवाले हैं वे सब-के-सब त्याग देने चाहिए। तात्पर्य यह कि पहले मनुष्य यज्ञादि को भी हिंसादि दोषोंवाला कर्म समझकर त्यागना उचित समझते हैं और

होता, किन्तु और भी अधिक उलझाव होता है। यदि रोग से अपरिचित ओषधि का सेवन किया जाय, तो वह विष-रूप हो जाती है; अन्न का त्याग करने से क्या भूख से मृत्यु नहीं हो जाती? अतएव जो कर्म त्याज्य नहीं है उसका त्याग नहीं करना चाहिए, और जो त्याज्य है उसका लोभ भी न रखना चाहिए। त्याग के सूक्ष्म मार्ग में भूल हो जाय, तो जो कुछ त्याग किया जाय वह सब बोझा ही होता है। अतः जो वैराग्य-सम्पन्न हैं, वे सर्वदा निषिद्ध कर्मों का नाश करने में प्रवृत्त रहते हैं।"

इसलिये इन सभी के त्यागनेवाले को ही वे त्यागी कहते हैं, और दूसरे लोग वेद की आज्ञा में शंका करना अनुचित समझकर सब प्रकार के वेदोक्त यज्ञों का करना आवश्यक और श्रेष्ठ कर्तव्य मानते हैं, अतएव इनके मत में यज्ञ, तप और दान-रूप कर्म का करनेवाला भी त्यागी वा संन्यासी कहलाता है ॥ ३ ॥ ※

※ इस श्लोक की श्रीज्ञानदेवजी ऐसे व्याख्या करते हैं—

"कुछ लोग, जो फल-त्याग नहीं कर सकते, कहते हैं कि कर्म बन्धक ही होते हैं, जैसे कोई स्वयं नङ्गा हो और कहे कि संसार बड़ा लड़ाका है; अथवा हे धनञ्जय ! जैसे कोई जिह्वा-लम्पट रोगी नाना प्रकार के अन्नों को दूषण दे, अथवा जैसे कोई कोढ़ी अपने शरीर पर न रूठकर मक्खियों पर कोप करे, वैसे ही जो फलेच्छा के वश रहते हैं, वे कहते हैं कि कर्म करना ही बुरा है, और इसलिये वे निर्णय करते हैं कि कर्म का त्याग ही करना चाहिए। कोई कहते हैं कि यज्ञ इत्यादि कर्म अवश्य ही करना चाहिए क्योंकि इनके अतिरिक्त चित्त शुद्ध करनेहारी दूसरी वस्तु ही नहीं है। मन-शुद्धि के मार्ग में यदि शीघ्र ही विजय-सम्पादन करना हो, तो कर्म-रूपी शस्त्र को हाथ में लेने में आलस्य न करना चाहिए। सोना शुद्ध करना हो, तो जैसे अग्नि से न उकताना चाहिए, अथवा दर्पण स्वच्छ करना हो, तो रजःकणों का सञ्चय करना चाहिए अथवा कपड़े स्वच्छ करने की इच्छा हृदय में हो, तो जैसे धोबी की नाँद अशुद्ध समझकर न छोड़नी चाहिए वैसे ही कर्मों को क्लेशकारक समझकर उनका अनादर नहीं करना चाहिए। रींधे विना क्या सुन्दर अन्न का लाभ हो सकता है ? ऐसे-ऐसे वचनों से कई लोग जान-बूझकर कर्म-प्रवृत्ति का प्रतिपादन करते हैं। इस प्रकार त्याग के विषय में विरुद्ध-वाद मचा है तथापि वाद मिट जाय और त्याग का निश्चित अर्थ-ज्ञान हो, अतः हम उस अर्थ का अच्छी तरह विवरण करते हैं, सुनो।"

श्रीशङ्कराचार्यजी इस श्लोक की व्याख्या ऐसे करते हैं—

सम्बन्ध—इस प्रकार त्याग के विषय में मतभेद दर्शाकर अब भगवान् अपना निश्चय तीन श्लोकों में वर्णन करन लगे हैं—

"कितने ही सांख्यवादी पंडितजन कहते हैं कि जिसमें दोष हो, वह दोषवत् है। अतः बन्धन के हेतु होने के कारण सभी कर्म दोषयुक्त हैं, इसलिये कर्म करनेवाले कर्माधिकारी मनुष्यों के लिये भी वे त्याज्य हैं, अथवा जैसे राग-द्वेषादि रोग त्यागे जाते हैं, वैसे ही समस्त कर्म भी त्याज्य हैं।

इसी विषय में दूसरे विद्वान् कहते हैं कि यज्ञ, दान और तप-रूप कर्म त्याग करने-योग्य नहीं हैं।

(पर) ये सब विकल्प कर्म करनेवाले कर्माधिकारियों को लक्ष्य करके ही किये गये हैं, समस्त भोगों से विरक्त ज्ञाननिष्ठ संन्यासियों को लक्ष्य करके नहीं।

(अभिप्राय यह कि) सांख्य-योगियों की निष्ठा ज्ञान-योग के द्वारा मैं पहले कह चुका हूँ, इस प्रकार जो (संन्यासी) कर्माधिकार से अलग कर दिये गये हैं, उनके विषय में यहाँ कोई विचार नहीं करना है।......क्योंकि उनका त्याग मोह या दुःख के निमित्त से होनेवाला नहीं हो सकता। इच्छा और द्वेष आदि को शरीर के ही धर्म जान लेने के कारण सांख्यनिष्ठ संन्यासी शारीरिक पीड़ा के निमित्त से होनेवाले दुःखों को आत्मा में नहीं देखते। अतः ये शारीरिक क्लेशजन्य दुःख के भय से कर्म नहीं छोड़ते। तथा वे आत्मा में कर्मों का अस्तित्व भी नहीं देखते जिससे कि उनके द्वारा मोह से नियत कर्मों का परित्याग किया जा सकता हो। 'सारे कर्म गुणों के हैं, मैं कुछ भी नहीं करता।' ऐसा समझकर ही वे कर्म-संन्यास करते हैं, क्योंकि 'सब कर्मों को मन से त्यागकर' इत्यादि वाक्यों द्वारा तत्त्व-ज्ञानियों के संन्यास का प्रकार (ऐसा ही) बतलाया गया है। सुतरां जो अन्य आत्म-ज्ञान-रहित कर्माधिकारी मनुष्य हैं, जिनके मोह द्वारा या शारीरिक क्लेश के भय से कर्मों का त्याग किया जाना सम्भव है, वे ही तामस और राजस त्यागी हैं। ऐसा

निश्चयं शृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम ।
त्यागो हि पुरुषव्याघ्र त्रिविधः सम्प्रकीर्त्तितः ॥४॥

निश्चयं, शृणु, मे, तत्र, त्यागे, भरत-सत्तम	उस त्याग में हे भरतों में श्रेष्ठ (अर्जुन)! मेरा निश्चय तू सुन	त्यागः, हि, पुरुष-व्याघ्र, त्रि-विधः, सम्प्रकीर्त्तितः	क्योंकि त्याग, हे पुरुषोंमें श्रेष्ठ (अर्जुन)! तीन प्रकार का कहा गया है

अन्वयार्थ—हे भरतों में श्रेष्ठ (अर्जुन)! उस त्याग में तू अब मेरा निश्चय सुन, क्योंकि हे पुरुषों में श्रेष्ठ ! त्याग तीन प्रकार का कहा गया है ॥ ४ ॥

व्याख्या—हे भरत-कुल में श्रेष्ठ अर्जुन! उस त्याग के विषय में तू औरों का मतभेद तो सुन चुका, अब इस विषय में तू मेरा निश्चय ध्यानपूर्वक सुन । हे पुरुषों में शेर (श्रेष्ठ) अर्जुन ! जैसे यज्ञ, तप, दान, आहारादि तीन प्रकार के कहे जाते हैं, वैसे त्याग भी निस्सन्देह तीन प्रकार का माना जाता वा कहा जाता है ॥ ४ ॥

सम्बन्ध—वह निश्चय क्या है, इसे भगवान् अब स्पष्ट करते हैं—

यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत् ।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥ ५ ॥

कहकर आत्म-ज्ञान-रहित कर्माधिकारियों के कर्म-फल-त्याग की स्तुति करने के लिये उन राजस-तामस त्यागियों की निन्दा की जाती है ।

क्योंकि 'सर्वारम्भपरित्यागी', 'मौनी', 'संतुष्टो येनकेनचित्', 'अनिकेतः स्थिरमतिः' इत्यादि विशेषणों से (बारहवें अध्याय में) और गुणातीत के लक्षणों में भी यथार्थ संन्यासी का वर्णन किया गया है, तथा 'ज्ञान की जो परा निष्ठा है' इस प्रकरण में भी यही बात कहेंगे । इसलिये यहाँ यह विवेचन ज्ञाननिष्ठ संन्यासियों के विषय में नहीं है ।"

यज्ञ-दान-तपः-कर्म, न, त्याज्यं	यज्ञ दान-तप रूप कर्म त्याज्य नहीं है	यज्ञः, दानं, तपः, च, एव, पावनानि, मनीषिणां	यज्ञ, दान और तप निस्सन्देह बुद्धिमानों के पवित्र करनेवाले हैं
कार्यं, एव, तत्=वह करने-योग्य ही है			

अन्वयार्थ—यज्ञ, दान, तप-रूप कर्म त्यागने-योग्य नहीं, (अपितु) करने-योग्य ही हैं, (क्योंकि) यज्ञ, दान और तप निस्सन्देह बुद्धिमानों के पवित्र करनेवाले हैं ॥ ५ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! श्रौत-स्मार्त-रूप जो अग्निहोत्रादि यज्ञ है ; उत्तम देश-काल में सुपात्र के तईं शास्त्र की विधि अनुसार जो गौ, स्वर्ण, अन्नादि पदार्थों का दान है, और कृच्छ्र चान्द्रायणादि-रूप जो तप हैं, ऐसे यज्ञ-दान-तप-रूप कर्म कदापि त्यागने नहीं चाहिएँ बल्कि उन्हें अवश्य करना ही चाहिए, क्योंकि ये यज्ञ-दान-तप आदि कर्म बुद्धिमानों (पण्डितों वा फलाशा से रहित पुरुषों) को सर्व प्रकार से शुद्ध पवित्र करनेवाले होते हैं ॥ ५ ॥ ❀

❀ श्रीज्ञानदेवजी अपने विचित्र ढंग से इसकी व्याख्या ऐसे करते हैं—

"पथिक को जैसे मार्ग में पगडण्डी या रास्ता न छोड़ना चाहिए, वैसे ही मनुष्य को यज्ञ, दान, तप इत्यादि जो आवश्यक कर्म हैं उनका त्याग न करना चाहिए। जैसे जब तक खोई हुई वस्तु न मिल जाय, तब तक उसकी खोज न छोड़नी चाहिए, अथवा तृप्ति न हो तब तक सामने की थाली अलग न करनी चाहिए, जब तक किनारे न लग जाय तब तक नाव न छोड़नी चाहिए, फल लगने के पूर्व केले के वृक्ष का त्याग न करना चाहिए, रक्खी हुई वस्तु जब तक न मिले तब तक हाथ का दीपक रखना न चाहिए, वैसे ही जब तक आत्म-ज्ञान के विषय में उत्तम रीति से निश्चय न हो जाय, तब तक यज्ञ इत्यादि कर्मों से उदासीन न होना चाहिए। बरन् अपने-अपने अधिकार के अनुसार

सम्बन्ध—परन्तु ये कर्म भी कैसे करने चाहिएँ, इसे भगवान् अब कहते हैं—

उन यज्ञ, दान, तप इत्यादि कर्मों का अनुष्ठान आग्रह-पूर्वक तथा अधिकाधिक करना चाहिए। चलने का वेग यदि बढ़ता ही जाय, तो उस वेग के कारण मनुष्य को थककर बैठना ही पड़ता है, वैसे ही कर्मातिशय भी निष्कामता का हेतु होता है। औषध खाने का धैर्य ज्यों-ज्यों अधिक बढ़ता है, त्यों-त्यों रोग का निवारण भी जल्दी होता जाता है। जैसे ही ज्यों-ज्यों बारम्बार विधिपूर्वक कर्म किये जाते हैं, त्यों-त्यों रज और तम निःशेष होते जाते हैं। सुवर्ण को ज्यों-ज्यों एक के अनन्तर एक इस प्रकार अनेक पुटों में क्षार दिया जाता है, त्यों-त्यों उसकी अशुद्धता जल्दी-जल्दी निकलती जाती है और वह निर्दोष होता जाता है, वैसे ही निष्ठा से कर्म किया जाय, तो वह रज और तम का नाश कर सत्त्व-शुद्धि का स्थान प्रत्यक्ष करता है, अतः हे धनञ्जय ! सत्त्व-शुद्धि की प्राप्ति की इच्छा करनेहारे के लिये कर्म तीर्थों की बराबरी करते हैं। तीर्थों से बाहरी मल की शुद्धि होती है और कर्मों से अन्तःकरण उज्ज्वल होता है। अतः सत्कर्म निर्मल तीर्थ ही हैं। मरु-देश में चलती हुई घाम की लुहें जैसे किसी प्यासे के लिये अमृत बरसा दें, अथवा किसी अन्धे के नेत्रों को जैसे सूर्य का प्रकाश ही प्राप्त हो जाय, बूड़ते हुए को जैसे नदी ही तारक हो जाय, अथवा गिरते हुए को पृथिवी ही दया से बचा ले, अथवा मरते हुए को स्वयं मृत्यु ही और अधिक आयुष्य अर्पण कर दे, वैसे, हे पाण्डु-सुत ! कर्म ही मुमुक्षुओं को कर्मबद्धता से मुक्त कर देते हैं। जैसे रसायन की रीति से लेने से विष ही मृत्यु से बचाता है, वैसे ही, हे धनञ्जय ! कर्म करने की भी एक युक्ति है जिससे वे बन्धन से छुड़ाने के लिये समर्थ होते हैं। अब, हे किरीटी ! हम उस युक्ति का वर्णन करते हैं, जिससे कर्म करने से कर्म का नाश हो जाता है।"

एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च ।
कर्त्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम् ॥ ६ ॥

एतानि, अपि, तु, कर्माणि	परन्तु ये कर्म भी	कर्तव्यानि, इति, मे, पार्थ, निश्चितं, मतं, उत्तमम्	करने-योग्य हैं, ऐसा मेरा हे पार्थ ! निश्चित उत्तम मत है
सङ्गं, त्यक्त्वा, फलानि, च	सङ्ग और फलों को त्यागकर		

अन्वयार्थ—परन्तु ये कर्म भी, हे पार्थ ! सङ्ग और फलों को त्यागकर करने-योग्य हैं, ऐसा मेरा निश्चित उत्तम मत है ॥ ६ ॥

व्याख्या—परन्तु हे पृथा-पुत्र अर्जुन ! ये यज्ञ, दान आदि कर्म भी, जिनका अवश्य करना ऊपर कहा है, इनका सङ्ग और फल त्याग कर करने चाहिए। अर्थात् जैसे देहाभिमानी पुरुष कर्म के साथ लगाव रखकर (अर्थात् कर्म में आसक्त होकर) फलाशा से यज्ञादि कर्म करते हैं, वैसे इन्हें न करना चाहिए, क्योंकि इस रीति से तो ये कर्म बन्धन और अपवित्रता का हेतु होते हैं, बल्कि इन्हें निरासक्त बुद्धि से और निष्काम भाव के साथ करना चाहिए, अर्थात् मैं यह कर्म करता हूँ, ऐसा अभिमान छोड़कर और इन कर्मों से फलाशा छोड़कर इन्हें करना चाहिए, क्योंकि इस रीति से ही किये हुए ये यज्ञ, दान आदि कर्म अन्तःकरण की शुद्धि और ज्ञान का साधन होते हैं। ऐसा मेरा निश्चय किया हुआ (अनुभव-सिद्ध) श्रेष्ठ मत (निर्णीत सिद्धान्त) है ॥ ६ ॥ ❀

❀ श्रीतिलक महाराज श्लोक ३ से ६ तक की टिप्पणी इस प्रकार लिखते हैं—"कर्म का दोष अर्थात् बन्धकता कर्म में नहीं, फलाशा में है। इसलिये पहले अनेक बार जो कर्मयोग का यह तत्त्व कहा गया है कि सभी कर्मों को फलाशा छोड़कर निष्काम बुद्धि से करना चाहिए, उसका यह उपसंहार है।

सम्बन्ध—(१) "यज्ञ-दान-तप-रूप कर्म त्याज्य नहीं हैं" ऐसा अपना पक्ष दर्शाकर भगवान् अब दूसरों के पक्षानुसार जो त्याग वर्णन हुआ है कि

संन्यास-मार्ग का यह मत गीता को मान्य नहीं है कि सब कर्म दोषयुक्त; अतएव त्याज्य हैं (देखो गीता १८. ४८ और ४९)। गीता केवल काम्य-कर्मों का संन्यास करने के लिये कहती है ; परन्तु धर्मशास्त्र में जिन कर्मों का प्रतिपादन है, वे सभी काम्य ही हैं (गीता २. ४२-४४), इसलिये अब कहना पड़ता है कि उनका भी संन्यास करना चाहिए ; और यदि ऐसा करते हैं, तो यज्ञचक्र बन्द हुआ जाता है (३. १६), एवं इससे सृष्टि के उद्ध्वस्त होने का भी अवसर आ जाता है। प्रश्न होता है कि तो फिर करना क्या चाहिए ? गीता इसका यों उत्तर देती है कि यज्ञ, दान प्रभृति कर्म स्वर्गादि फल-प्राप्ति के हेतु करने के लिये यद्यपि शास्त्र में कहा है तथापि ऐसी बात नहीं है कि ये ही कर्म लोक-संग्रह के लिये इस निष्काम बुद्धि से न हो सकते हों कि यज्ञ करना, दान देना और तप करना आदि मेरा कर्तव्य है (देखो गीता १७. ११, १७ और २०)। अतएव लोक-संग्रह के निमित्त स्वधर्म के अनुसार जैसे अन्यान्य निष्काम कर्म किये जाते हैं, वैसे ही यज्ञ, दान आदि कर्मों को भी फलाशा और आसक्ति छोड़कर करना चाहिए। क्योंकि वे सदैव 'पावन' अर्थात् चित्त-शुद्धि-कारक अथवा परोपकार-बुद्धि बढ़ानेवाले हैं। मूल श्लोक में जो 'एतान्यपि=यह भी' शब्द हैं, उनका अर्थ यही है कि 'अन्य निष्काम कर्मों के समान यज्ञ, दान आदि कर्म भी करना चाहिए।' इस रीति से ये सब कर्म फलाशा छोड़कर अथवा भक्ति-दृष्टि से केवल परमेश्वरार्पण-बुद्धिपूर्वक किये जावें तो सृष्टि का चक्र चलता रहेगा ; और कर्ता के मन की फलाशा छूट जाने के कारण ये कर्म मोक्ष-प्राप्ति में बाधा भी नहीं डाल सकते। इस प्रकार सब बातों का ठीक-ठीक मेल मिल जाता है। कर्म के विषय में कर्मयोग-शास्त्र का यही अन्तिम और निश्चित सिद्धान्त है।"

श्रीज्ञानदेवजी इस पर अपनी विचित्र व्याख्या ऐसे करते हैं—

दोषवत् सब कर्म समझकर त्याग देने चाहिए, उसकी अपेक्षा से वा उसको दृष्टि में रखते हुए त्याग को तीन प्रकार का वर्णन करते हैं—

अथवा (२) अब पूर्व प्रस्तावनानुसार त्याग के तीन भेद भगवान् स्पष्ट करते हैं—

अथवा (३) आत्म-ज्ञान-रहित कर्माधिकारी मुमुक्षुओं के त्याग के भिन्न-भिन्न भेद भगवान् अब दर्शाते हैं—

"महायाग प्रमुख कर्म, शुद्ध रीति से करते हुए, यह अभिमान न होना चाहिए कि मैं यह यज्ञ करनेहारा हूँ। जो दूसरे के पैसे से तीर्थ को जाता है जैसे वह सन्तोष के साथ ऐसी डींग नहीं मार सकता कि मैं यात्रा कर रहा हूँ, अथवा हे राजा ! जो किसी राजा की मोहरबन्द आज्ञा के आधार पर अकेला ही किसी को पकड़ लाता है, वह जैसे ऐसा गर्व नहीं कर सकता कि मैं जीतनेहारा हूँ, अथवा जो दूसरे के सहारे से तैरता है उसमें जैसे तैरने का अभिमान नहीं रहता, अथवा पुरोहित जैसे दातृत्व का अभिमान नहीं रख सकता, वैसे ही कर्तृत्व का अहङ्कार ग्रहण न करके यथाकाल सम्पूर्ण कर्म-रूपी मोहरें सरकाते जाना चाहिए। हे पाण्डव ! किये हुए कर्म की जो फल-प्राप्ति हो उसकी ओर चित्त न जाने देना चाहिए। पहले से ही फल की आशा छोड़कर कर्मों का इस प्रकार आचरण करना चाहिए जैसे कि दाई पराये बालक को सँभालती है। पाकर की आशा से जैसे कोई पीपल के वृक्ष को जल नहीं देता, वैसे ही फल के विषय में निराश हो कर्म करना चाहिए। चरवाहा जैसे दूध की आशा न रखकर गाँव की सब गायें इकट्ठी करता है वैसे ही कर्म-फल की आशा छोड़नी चाहिए। ऐसी युक्ति के साथ जो कर्म करेगा, उसे अपने में ही आत्म-प्राप्ति हो जायगी। अतः मेरा उत्तम सन्देश यही है कि फल की आशा और देहाभिमान को छोड़कर कर्म करना चाहिए। बन्ध से जो जीव कष्टी है, और अपनी मुक्ति के लिये परिश्रम करता है, उससे मैं वार-बार कहता हूँ कि इस वचन के विपरीत आचरण मत करो।"

नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते ।
मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्त्तितः ॥ ७ ॥

नियतस्य, तु, संन्यासः, कर्मणः, न, उपपद्यते	और नियत कर्म का त्याग नहीं उचित होता है	मोहात्, तस्य, परित्यागः	मोह से उसका त्याग
		तामसः, परिकीर्त्तितः	तामस कहा गया है

अन्वयार्थ—और नियत कर्म का त्याग उचित नहीं होता है। मोह से उसका त्याग तामस कहलाता है ॥ ७ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन! जो स्वर्गादि फल की इच्छावाले काम्य कर्म हैं, उनसे तो अन्तःकरण की शुद्धि होती नहीं, इसलिये उन्हें अवश्य त्याग देना उचित है। पर जो अपनी उन्नति-निमित्त नियत किये हुए कर्म हैं, अथवा जो शरीर-यात्रा-निमित्त अवश्य कर्तव्य-रूप कर्म हैं, या जो श्रुति-स्मृति से विधान किये हुए अग्निहोत्र संध्योपासनादिक नित्य-नैमित्तिक कर्म हैं कि जिनके करते रहने से अन्तःकरण की शुद्धि होती है और शरीर की नीरोगता बनी रहती है, ऐसे नियत नैमित्तिक कर्मों को जान-बूझकर या भूल और मूर्खता से त्यागना कदापि उचित नहीं। इसीलिये मैंने पहले ऐसा कहा है कि "आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्मकारणमुच्यते"= योगारूढ़ होने वा योग-मार्ग के शिखर पर चढ़ने की इच्छावाले के लिये कर्म साधन कहलाता है (गीता ६. ३)। पस, ऐसे अन्तःकरण की शुद्धि करनेवाले तथा शरीर को नीरोग रखनेवाले अथवा लोकोपकार करनेवाले नियत कर्मों * को जब कोई मूर्खता, भूल या प्रमाद से त्यागता है, अर्थात् मोहवश हुआ उनको करना छोड़ बैठता है, तो वह त्याग तामस कहलाता है ॥ ७ ॥

---

* 'नियत कर्म'=नित्य-नैमित्तिक कर्म (श्रीशङ्कराचार्य)। 'नियत कर्म'=

और—

दुःखमित्येव यत्कर्म कायक्लेशभयात्त्यजेत् ।
स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत् ॥ ८॥

दुःखं, इति, एव, यत्, कर्म	दुःख-रूप ही है, ऐसा जानकर जो कर्म को	सः, कृत्वा, राजसं, त्यागं	वह राजस त्याग को करके
काय-क्लेश-भयात्, त्यजेत्	शरीर के क्लेश के भय से त्याग दे	न, एव, त्याग-फलं, लभेत्	त्याग-फल को नितान्त नहीं पावे है

अन्वयार्थ—(कर्म) दुःख-रूप ही है, ऐसा जानकर जो कोई शरीर के क्लेश के भय से कर्म को त्याग दे, तो वह राजस त्याग करके त्याग के फल को नितान्त नहीं पाता है ॥ ८ ॥

अवश्य कर्तव्य कर्म (श्रीआनन्दगिरि, आर्यसमाज के पं० राजाराम)। 'नियत कर्म'=श्रुति-स्मृति-रूप शास्त्र-विहित अग्निहोत्र सन्ध्योपासनादिक नित्य कर्म (श्रीमधुसूदन स्वामी)।

'नियत' शब्द का अर्थ कुछ लोग नित्य-नैमित्तिक आदि भेदों में से 'नित्य' कर्म समझते हैं ; किन्तु यह ठीक नहीं है। 'नियतं कुरु कर्म त्वं' (गीता ३. ८) पद में 'नियत' शब्द का जो अर्थ है, वही अर्थ यहाँ पर भी करना चाहिए। हम ऊपर कह चुके हैं कि यहाँ मीमांसकों की परिभाषा विवक्षित नहीं है। गीता ३. १९ में 'नियत' शब्द के स्थान में 'कार्य' शब्द आया है और यहाँ नवें श्लोक में 'कार्य' एवं 'नियत' दोनों शब्द एकत्र आ गये हैं ; इस अध्याय के आरम्भ में, दूसरे श्लोक (की टिप्पणी) में, यह कहा गया है कि स्वधर्मानुसार प्राप्त होनेवाले किसी भी कर्म को न छोड़कर उसी को कर्तव्य समझकर करते रहना चाहिए (देखो गीता ३. १९), इसी को सात्त्विक त्याग कहते हैं ; और कर्मयोगशास्त्र में इसी को 'त्याग' अथवा 'संन्यास' कहते हैं। इसी सिद्धान्त का इस श्लोक में समर्थन किया गया है। (श्रीतिलक महाराज)

व्याख्या—हे अर्जुन ! जो पुरुष यह समझता है कि कर्म दुःख-रूप ही है अथवा दुःख की खानि है, और ऐसी समझ से प्रेरित होकर शरीर के क्लेश के भय से कर्म करना छोड़ बैठता है, अर्थात् नियत कर्म वा कर्तव्य कर्म करना भी छोड़ देता है, तो ऐसे पुरुष का त्याग राजस त्याग है। ऐसा पुरुष उस राजस त्याग के कारण त्याग के फल को नितान्त नहीं पाता है, अर्थात् ज्ञानपूर्वक जो निष्काम बुद्धि से सर्व कर्मों के फल-सङ्ग-त्याग का परिणाम अन्तःकरण की शुद्धि और मोक्ष-प्राप्ति है, उसे वह कदापि नहीं प्राप्त होता है ॥ ८ ॥

और—

कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन ।
सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः ॥९॥

कार्यं, इति, एव, यत्, कर्म, नियतं, क्रियते, अर्जुन	करने-योग्य ही है, ऐसा समझकर जो नियत कर्म, हे अर्जुन! किया जाता है	सङ्गं, त्यक्त्वा, फलं, च, एव	कर्मसङ्ग और फल को भी त्यागकर
		सः, त्यागः, सात्त्विकः, मतः	वह त्याग सात्त्विक माना गया है

अन्वयार्थ—(कर्म) 'करने-योग्य ही है', ऐसा समझकर, हे अर्जुन ! जो नियत कर्म (उसके) फल और सङ्ग को त्यागकर किया जाता है, वह त्याग सात्त्विक माना गया है ॥ ९ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! जब पुरुष ऐसा जान लेता है कि कर्म करना ही उचित है, अथवा शास्त्रोक्त (नियत) कर्म अपने और दूसरों के कल्याण के लिये करने आवश्यक वा कर्तव्य-रूप हैं, और फिर उन नियत कर्मों को उनके कर्तृत्व भाव का सङ्ग छोड़कर और उनके फल की इच्छा को भी त्यागकर केवल कर्तव्य-बुद्धि से जब वह करता है, तब वह (सङ्ग

और फलाशा का) त्याग सात्त्विक-त्याग कहलाता है, जो मुझे भी अभिमत है ॥ ६ ॥ *

सम्बन्ध—(१) इस प्रकार के सात्त्विक त्याग में स्थित पुरुष के लक्षण भगवान् अब कहते हैं—

अथवा (२) इस प्रकार त्याग और संन्यास के अर्थों का स्पष्टीकरण

---

* इसकी व्याख्या श्रीज्ञानदेवजी ऐसे करते हैं—

"जो अपने अधिकारानुसार स्वभावतः प्राप्त कर्म का विधि-विधान-सहित आचरण करता है, परन्तु जिसके हृदय में यह स्मृति भी नहीं रहती कि यह कर्म मैं कर रहा हूँ तथा जो फल की आशा को तिलाञ्जलि देता है, [जैसे माता की अवज्ञा करना अथवा उसके विषय में काम रखना, ये दोनों बातें अधोगति का हेतु होती हैं, अतः इन दोनों पापों का त्यागकर माता की सेवा करनी चाहिए, अन्यथा गाय का मुँह अपवित्र है, इसलिये क्या कोई गाय का ही त्याग कर देता है ? जो फल भाता है उसके छिलके और गुठली में रस न होने के कारण क्या कोई उस फल को ही फेंक देता है ? वैसे ही कर्तृत्व का अभिमान और कर्म-फल की इच्छा दोनों को कर्म का बन्ध कहते हैं ; अतः इन दोनों के विषय में जो इस प्रकार रहता है जैसा कि बाप बेटी के विषय में निरभिलाष रहता है] वह मनुष्य विहित कर्म करता हुआ कभी दुःखी नहीं हो सकता। यही त्याग एक श्रेष्ठ वृक्ष है जिसमें मोक्ष-रूपी महाफल लगता है। संसार में यही त्याग सात्त्विक नाम से प्रसिद्ध है। अब जैसे बीज जला देने से वृक्ष निर्वंश हो जाता है, वैसे ही जो फल का त्याग कर कर्म-त्याग करता है, उसके रज और तम ऐसे छूट जाते हैं जैसे पारस का स्पर्श होते ही लोहे का अमंगल दोष निकल जाता है। फिर शुद्ध सत्त्व के कारण आत्मज्ञान-रूपी नेत्र खुलते हैं, और सन्ध्या के समय जैसे मृगजल नहीं दिखाई देता, वैसे ही उस सात्त्विक मनुष्य की बुद्धि इत्यादि के सम्मुख इतना बड़ा विश्वाभास भी, आकाश-जैसा, कहीं दिखाई नहीं देता।"

हो चुकने पर भगवान् अब इसी तत्त्व के अनुसार बतलाते हैं कि वास्तविक त्यागी और संन्यासी कौन है—

अथवा (३) उक्त सात्त्विक त्याग को ग्रहण कराने के लिये भगवान् अब इस त्याग का फल वर्णन करते हैं—

अथवा (४) कर्म करता हुआ सङ्ग से रहित कैसे होता है, इसे भगवान् अब कहते हैं—

अथवा (५) यथार्थ त्यागी कैसे होता है, इसे भगवान् अब स्पष्ट करते हैं—

अथवा (६) विशुद्ध और प्रसन्न अन्तःकरण ही आध्यात्मिक विषय की आलोचना में समर्थ होता है, उक्त प्रकार नियत कर्मों के करने से जिसका अन्तःकरण विशुद्ध हो गया है और इस कारण जो आत्म-ज्ञान के अभिमुख है, उसको उस आत्म-ज्ञान में जिस प्रकार क्रमपूर्वक स्थिति होती है, उसे भगवान् अब स्पष्ट करते हैं—

न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते ।
त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः ॥ १० ॥

न, द्वेष्टि, अकुशलं, कर्म	न अकुशल कर्म से द्वेष करता है	त्यागी, सत्त्व-समाविष्टः	त्यागी, सत्त्व से व्याप्त (पूर्ण)
कुशले, न, अनुषज्जते	न कुशल में अनुराग करता है	मेधावी, छिन्न-संशयः	बुद्धिमान् दूर हुए संशयवाला

पहला अन्वयार्थ—दूर हुए संशयवाला, बुद्धिमान् और सत्त्व से व्याप्त (सात्त्विक) त्यागी तो न अकुशल* कर्म से द्वेष करता है और न कुशल* (कर्म) में अनुराग करता है ॥ १० ॥

* अकुशल=दुःखदायी जैसे सर्दी में प्रातःकाल स्नानादि । कुशल=सुखदायी जैसे गरमी में मध्याह्न स्नानादि (श्री श्रीधर) ।

दूसरा अन्वयार्थ—जो किसी अकुशल कर्म का द्वेष नहीं करता और कुशल कर्म में अनुषक्त नहीं होता, वह सत्त्वशील, बुद्धिमान् और सन्देह-विरहित त्यागी होता है ॥ १० ॥

पहली व्याख्या—हे अर्जुन ! सात्त्विक त्याग के अनुष्ठान से अन्तः-करण की शुद्धि द्वारा जिसके हृदयगत सारे संशय अपने स्वरूप के साक्षात्कार से कट गये अर्थात् नितान्त निवृत्त हो गये हैं, जो उसी शुद्धि के कारण तत्त्वज्ञान की वुद्धि से सम्पन्न बुद्धिमान् है, और जो आत्मा तथा अनात्मा के विवेक के हेतुरूप सत्त्वगुण से व्याप्त (पूर्ण) है, ऐसा सात्त्विक त्यागी तो अकुशल (दुःख देनेवाले, अशुभ वा अकल्याण-कारक) कर्म से द्वेष नहीं करता और कुशल (सुख देनेवाले, शुभ वा काल्याण-कारक अथवा हितकारी) कर्म में अनुराग (प्रीति, आसक्ति वा लगाव) नहीं करता है। अर्थात् अन्य साधारण लोगों के समान कर्मों का इष्ट वा अनिष्ट फल उसको कर्म में युक्त करानेवाला वा कर्म से उपराम करानेवाला नहीं होता, किन्तु जैसा भी कर्म प्रारब्धानुसार उसके सम्मुख आ जाय, उसे वह अपना कर्तव्य समझकर, विना उसके फल की कामना के, बल्कि सब प्रकार से निरासक्त होकर करता रहता है ॥ १० ॥

दूसरी व्याख्या—हे अर्जुन ! जो त्यागी उक्त सात्त्विक त्याग से युक्त है, अर्थात् जो श्रुति-स्मृति-रूप शास्त्रविहित यज्ञ, तप, दान आदि कर्मों को वा शरीर-यात्रा-निमित्त नियत अर्थात् कर्तव्य कर्मों को उनके कर्तृत्व अभिमान से रहित होकर और उनके स्वर्गादि फल की इच्छा को त्यागकर केवल कर्तव्य-बुद्धि से करता रहता है, वह तब आत्म-अनात्म-विवेक-ज्ञान के हेतुभूत सत्त्व से व्याप्त हो जाता है, अर्थात् पहले जो सकाम कर्म कर्तृत्वाभिमान के साथ करने से अन्तःकरण मलिन हुआ-हुआ था, वह इस सात्त्विक त्याग से नितांत निर्मल और विशुद्ध चित्त हो

जाता है, जिससे वह फिर मेधावी (स्थितप्रज्ञ) होता है, अर्थात् आत्म-ज्ञान के लक्षण-युक्त जो बुद्धि है उससे वह युक्त हो जाता है। और इस बुद्धि से युक्त होने पर निजस्वरूप के विषय में संशय-विपर्यय-रहित हो जाता है, अर्थात् 'अहं ब्रह्मास्मि' इस प्रकार की ब्रह्मविद्या-रूप मेधा के प्राप्त होने पर अविद्या दूर हो जाती है, जिससे उसके सब संशय-विपर्यय निवृत्त हो जाते हैं। और संशय-विपर्ययों के निवृत्त होने पर वह फिर अकुशल (अशुभ, दुःखदायी, बुरे वा पाप) कर्मों से द्वेष नहीं करता और कुशल (शुभ, सुखदायी, अच्छे वा पुण्य) कर्मों में प्रीति वा लगाव नहीं करता है। अर्थात् कर्मों का अशुभ वा पाप-भाव तथा शरीर का क्लेश उसको कर्म से उपराम होने नहीं देता, और कर्मों का शुभ वा पुण्य-भाव तथा शारीरिक सुख उसे कर्म में प्रेरता नहीं है, बल्कि वह इन दो भावों से ऊपर होता हुआ केवल कर्तव्य-बुद्धि से जो भी करने-योग्य (नियत) कर्म अथवा प्रारब्धानुसार कर्म उसके सामने आ जाय, उसके कर्तृत्व-भाव से विरहित होकर (निरासक्त वृत्ति से) और उसके अच्छे-बुरे फल की इच्छा को त्यागकर करता है, जिससे वह कर्म-बन्धन में फँसने नहीं पाता बल्कि उक्त रीति से कर्म करता हुआ भी वह नित्य-मुक्त और निर्लिप्त रहता है, और उसके सब कर्म उसको विना अच्छा-बुरा फल दिये, स्वतः नष्ट हो जाते हैं। और इसके सम्बन्ध में श्रुति भी स्पष्ट-रूप से कहती है कि— "भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः। क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे।" (मुण्डक० २ खं० २ मं० ८) 'मैं ब्रह्म हूँ' इस प्रकार के ब्रह्मसाक्षात्कार होने पर हृदय की ग्रन्थि खुल जाती है, सारे संशय कट जाते हैं, और उसके पुण्य-पाप-रूप अच्छे-बुरे सब कर्म क्षीण हो जाते हैं ॥ १० ॥*

---

* श्रीज्ञानदेवजी इसकी व्याख्या ऐसे करते हैं—

"और प्रारब्धानुसार जो भले-बुरे कर्म प्राप्त होते हैं वे, जैसे मेघ आकाश

सम्बन्ध—(१) पूर्वोक्त सात्त्विक त्याग के विषय में भगवान् अब हेतु कहते हैं—

में विलीन हो जायँ वैसे, उस सात्त्विक मनुष्य की दृष्टि से निर्मल हो जाते हैं। इसलिये वह सुख-दुःख से सन्तोषी या दुखी नहीं होता। शुभ कर्म का ज्ञान होने पर आनन्द से उसका अनुष्ठान करना अथवा अशुभ कर्म का द्वेष करना ये दोनों बातें उसमें नहीं होतीं। जैसे जाग्रत मनुष्य को स्वप्न के विषय में कुछ सन्देह नहीं रहता, वैसे ही उस सात्त्विक मनुष्य को इन शुभाशुभ कर्मों के विषय में कुछ संशय नहीं रहता। अतः हे पाण्डु-सुत! कर्म और कर्ता-रूपी द्वैत-भाव की वार्ता न जानना ही सात्त्विक त्याग है। इस त्याग के द्वारा कर्मत्याग किया जाय, तभी कर्मों का सर्वथा त्याग होता है, नहीं तो अन्य रीति से त्याग करने से वे और भी अधिक बन्धन करनेहारे होते हैं।"

श्रीशंकराचार्यजी इस श्लोक की ऐसे व्याख्या करते हैं—

"अकुशल=काम्य कर्मों से (वह) द्वेष नहीं करता, अर्थात् काम्य-कर्म पुनर्जन्म देनेवाले होने के कारण संसार के कारण हैं, इनसे मुझे क्या प्रयोजन है, इस प्रकार उनसे द्वेष नहीं करता।

कुशल=शुभ, नित्यकर्मों में (वह) आसक्त नहीं होता, अर्थात् अंतःकरण की शुद्धि, ज्ञान की उत्पत्ति और उसमें स्थिति के हेतु होने से नित्यकर्म मोक्ष के कारण हैं, इस प्रकार उनमें आसक्त नहीं होता, अर्थात् उनमें भी अपना कोई प्रयोजन न देखकर प्रीति नहीं करता।

वह कौन है? त्यागी, जो कि पूर्वोक्त आसक्ति और फल के त्याग से सम्पन्न एवं कर्मों में आसक्ति और उनका फल छोड़कर कर्मों का अनुष्ठान करनेवाला है, ऐसा त्यागी।

ऐसा पुरुष किस अवस्था में काम्य कर्मों से द्वेष नहीं करता? सो कहते हैं—जबकि वह सात्त्विक भाव से युक्त होता है, अर्थात् आत्म-अनात्म-विषयक

अथवा (२) इस प्रकार सङ्ग और फल का त्याग ही त्याग होता है, न कि स्वरूप से कर्म का त्याग, ऐसा निश्चय अपना स्पष्ट करके भगवान् अब जो स्वरूप से कर्म का त्याग मानते हैं, उनके प्रति अपने निश्चय वा सिद्धान्त का प्रत्यक्ष कारण निरूपण करते हैं—

अथवा (३) कोई यह समझे कि कर्मों का सङ्ग और फल त्यागने की अपेक्षा कर्मों का ही त्यागना ठीक है, तो उसके प्रति भगवान् यों कहते हैं—

अथवा (४) संन्यास-धर्म में तो सब कर्मों का त्याग ही कथन किया गया है, फिर आप कैसे कहते हो कि कर्म करता हुआ ही त्यागी होता है, इस आशंका को सम्मुख रखते हुए भगवान् अब अपना सिद्धान्त पुनः निरूपण करते हैं—

अथवा (५) (श्रीशङ्कराचार्य के अनुसार) परन्तु जो पुरुष कर्माधिकारी है और शरीर में आत्माभिमान रखनेवाला होने के कारण देहधारी अज्ञानी है, जिसका आत्म-विषयक कर्तृत्व-ज्ञान नष्ट न होने के कारण 'मैं करता हूँ'

विवेक-ज्ञान के हेतु स्वरूप सत्त्वगुण से भरपूर—भली प्रकार व्याप्त होता है। इसीलिये वह मेधावी है, अर्थात् आत्मज्ञान-रूप बुद्धि से युक्त है। मेधावी होने के कारण ही छिन्न-संशय है—अविद्याजनित संशय से रहित है अर्थात् आत्म-स्वरूप में स्थित होना ही परम कल्याण का साधन है, और कुछ नहीं, इस निश्चय के कारण संशय-रहित है।

जो अधिकारी पुरुष पूर्वोक्त प्रकार से कर्मयोग के अनुष्ठान द्वारा क्रम से विशुद्धांतःकरण होकर जन्मादि विकारों से रहित और क्रिया-रहित आत्मा को भली प्रकार अपना स्वरूप समझ गया है, वह 'समस्त कर्मों को मन से त्यागकर' 'न कुछ करता और न कराता हुआ रहनेवाला' (आत्मज्ञानी) कर्माभाव-रूप ज्ञाननिष्ठा को भोगता है। इस प्रकार इस श्लोक द्वारा यह पूर्वोक्त कर्मयोग का फल बतलाया गया है ॥ १० ॥"

ऐसी निश्चित बुद्धि है, उससे कर्म का अशेष त्याग होना असंभव होने के कारण उसका कर्मफल त्याग के सहित विहित कर्मों के अनुष्ठान में ही अधिकार है, उनके त्याग में नहीं, यह अभिप्राय दिखलाने के लिये भगवान् अब यह कहते हैं कि

न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः।
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते ॥११॥

न, हि, देह-भृता, शक्यं, त्यक्तुं, कर्माणि, अशेषतः	क्योंकि देह-धारी समस्त कर्मों के त्यागने को समर्थ नहीं हैं	यः, तु, कर्म-फल-त्यागी	इसलिये जो कर्म-फल त्यागी है
		सः, त्यागी, इति, अभिधीयते	वह त्यागी है, ऐसा कहा जाता है

अन्वयार्थ—क्योंकि देहधारी समस्त कर्मों के त्यागने में समर्थ नहीं है, इसलिये जो (केवल) कर्मफल का त्यागी है, वह (ठीक) त्यागी है, ऐसा कहा जाता है ॥ ११ ॥

पहली व्याख्या*—हे अर्जुन ! 'मैं मनुष्य हूँ', 'मैं ब्राह्मण हूँ' या

---

* इस पर श्रीज्ञानदेवजी अपनी व्याख्या ऐसे करते हैं—

"हे सव्यसाची ! शरीर धारण कर जो कर्म से ऊबते हैं, वे अज्ञानी हैं। घट मिट्टी से ऊबकर क्या करेगा ? पट तन्तु का त्याग क्योंकर कर सकेगा ? वैसे ही अग्नि स्वयं उष्ण है, और उष्णता से उकतावे अथवा दीप अपनी प्रभा से द्वेष करे, तो क्या होगा ? हींग अपनी गन्ध से अकुलावे तथापि उसे सुगन्ध कहाँ से प्राप्त हो सकती है ? जल अपनी जलता छोड़ कहाँ रह सकता है ? वैसे ही मनुष्य जब तक शरीर के रूप से रहता है तब तक कर्म-त्याग का पागलपन वृथा है। हम तिलक लगा सकते हैं अतः उसे पोंछ भी सकते हैं, पर क्या माथे को भी वैसे ही लगा या मिटा सकते हैं ? वैसे ही विहित कर्म हम स्वयं

'मेरी यह देह है', अथवा 'मैं इस शरीर का स्वामी हूँ', इस भाव से देह को धारण और पोषण करने के कारण जो देहधारी* है, वह समस्त कर्म क्योंकि त्याग ही नहीं सकता है, अर्थात् कायिक, वाचिक, मानसिक

आरम्भ करते हैं, इसलिये उसका त्याग किया जाय तो हो सकता है, परन्तु जो कर्म देह-रूप ही हो गया है। वह कैसे छोड़ा जा सकता है? क्योंकि श्वास और उच्छ्वास तो नींद में भी होते रहते हैं, कुछ भी न करो तथापि वे होते ही रहते हैं। इसी प्रकार इस शरीर के मिस से कर्म ही मनुष्य के पीछे लगा है; वह जीते जी तथा मृत्यु के अनन्तर भी पीछा नहीं छोड़ता। इस कर्म के त्याग की रीति एक यही है कि कर्म करते हुए फलाशा के अधीन न होना चाहिए। कर्म का फल ईश्वर को समर्पित किया जाय, तो उसके प्रसाद से ज्ञान प्रकट होता है, और फिर रज्जु के ज्ञान से जैसे उस पर होनेवाला सर्प का भ्रम मिट जाता है, वैसे ही उस आत्मज्ञान से अविद्या के साथ कर्म का नाश हो जाता है। हे पार्थ! ऐसा त्याग करना ही वास्तव में त्याग है। अतएव संसार में जो इस प्रकार कर्मों का त्याग करता है, वही महात्यागी है। दूसरे जो त्यागी हैं, वे ऐसे हैं जैसे कि किसी रोगी को मूर्च्छा आने से कोई समझे कि उसे आराम हुआ, अथवा जैसे कोई छड़ी के बदले घूँसे की मार खाने को प्रवृत्त हो, वैसे ही वे एक कर्म से दुखी हो विश्रान्ति के हेतु दूसरे कर्म में प्रवृत्त होते हैं। परन्तु अस्तु, तीनों लोकों में त्यागी वही है जिसने फल-त्याग के द्वारा कर्म को निष्कर्मता की स्थिति प्राप्त करा दी है।"

* देहधारी=देह को धारण करे सो देहधारी, इस व्युत्पत्ति के अनुसार शरीर में आत्माभिमान रखनेवाला देहभृत् कहा जाता है, विवेकी नहीं, क्योंकि 'वेदाविनाशिनम्' इत्यादि श्लोकों से वह (विवेकी) कर्तापने के अधिकार से अलग कर दिया गया है, अतः (यह अभिप्राय समझना चाहिए कि) जिस कारण उस देहधारी—अज्ञानी से समस्त कर्मों का पूर्णतया त्याग किया जाना संभव नहीं है, इसलिये जो तत्त्वज्ञान-रहित अधिकारी नित्यकर्मों

सारे-के-सारे कर्म क्योंकि उससे त्यागे ही नहीं जा सकते हैं, इसलिये जो समस्त कर्मों को नहीं बल्कि कर्मों के सङ्ग और फल को ही त्यागता है, वह त्यागी है, ऐसा कहा जाता है। अर्थात् वह देहधारी जिसकी निज स्वरूप में दृढ़ निष्ठा से और ब्रह्मानन्द के तेज से (समाधि-काल में) समस्त कायिक, वाचिक और मानसिक क्रियायें किञ्चित् रुक जाती हैं, वह तो ठीक जीवनमुक्त है, त्यागी या संन्यासी नहीं है, बल्कि वही पुरुष वास्तव में त्यागी है कि जिसकी (समाधि-अवस्था को न प्राप्त होने के कारण) समस्त कायिक, वाचिक, मानसिक क्रियायें कभी रुकती नहीं हैं, पर उन समस्त कर्मों में जो उनके सङ्ग और फल को त्यागे हुए होता है ॥ ११ ॥

दूसरी व्याख्या—हे अर्जुन ! यदि कोई पूछे कि कर्म के केवल सङ्ग और फल को छोड़नेवाला ही सात्त्विक त्यागी क्यों कहलाता है, समस्त कर्मों को छोड़नेवाला ऐसा क्यों नहीं कहलाता ? तो उसका उत्तर यह है कि इस पृथिवी पर कोई भी देहधारी जब तक उसे होश है समस्त कर्मों को त्याग ही नहीं सकता, अर्थात् अपनी सचेत वा जाग्रत-अवस्था में किसी भी देहधारी से अपने कायिक, वाचिक और मानसिक कर्म त्यागे जाने संभव नहीं हैं, इसलिये जो समस्त कर्मों को नहीं किन्तु उनके फल और लगाव को ही त्यागता है, वही यथार्थ में त्यागी होता है और उसी को सात्त्विक त्यागी कहते हैं ॥ ११ ॥ ❀

का अनुष्ठान करता हुआ उन कर्मों के फल का त्यागी है, अर्थात् कर्म-फल की वासना-मात्र को छोड़नेवाला है, वह कर्म करनेवाला होने पर भी स्तुति के अभिप्राय से 'त्यागी' कहा जाता है। (भगवान् शङ्कराचार्यजी)

❀ उक्त दोनों (१०, ११) श्लोकों से भगवान् ने यह स्पष्ट किया है कि ज्ञानवान् भी मरते दम तक कर्म करता ही रहता है; नितान्त जड़ मूक आलसी ही नहीं बन जाता। और यह भी ज़रूरी नहीं कि वह सर्वदा विहित, शुभ

सम्बन्ध—(१) उक्त कर्म-फल-त्यागी का भगवान् अब परिणाम वर्णन करते हैं—

अथवा (२) उक्त कर्म-फल-त्यागी और अत्यागी के परिणाम में परस्पर भेद अब भगवान् वर्णन करते हैं—

अथवा (३) भगवान् अब यह स्पष्ट करने लगे हैं कि उक्त प्रकार से अर्थात् कर्म न छोड़कर केवल कर्म में आसक्ति व फलाशा छोड़कर जो त्यागी हुआ हो, उसे उसके कर्म के फल कोई भी बन्धक नहीं होते—

अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम् ।
भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु संन्यासिनां क्वचित् ॥ १२ ॥

अनिष्टं, इष्टं, मिश्रं, च,	इष्ट, अनिष्ट और मिश्रित	भवति, अत्यागिनां, प्रेत्य	मरकर अत्यागियों को होता है
त्रि-विधं, कर्मणः, फलं	कर्म का तीन प्रकार का फल	न, तु, संन्यासिनां, क्वचित्	परन्तु त्यागियों को कहीं (कभी) नहीं

वा सुख देनेवाले कर्म ही करे और उनसे विपरीत शास्त्र-विरुद्ध अशुभ वा कष्ट देनेवाले कर्म न करे । बल्कि वह किसी प्रकार के कर्म विशेष से लगाव नहीं रखता । उसके लिये शास्त्र-विहित अथवा शास्त्र-अविहित कर्म दोनों ही एक प्रकार से समान होते हैं । वह कर्मों के फलों से प्रेरित होकर कर्म नहीं करता, बल्कि शरीर-यात्रा-निमित्त वा प्रारब्धानुसार जैसा भी कर्म कर्तव्य-रूप से उसके सामने उपस्थित हो जाय, उसे वह अपना केवल कर्तव्य समझकर करता है, और उससे अपना कोई सम्बन्ध तथा फलाशा नहीं रखता, जिससे वह कर्म करते हुए भी निर्लिप्त रहता है, और पुनः जन्म-मरण को प्राप्त होने नहीं पाता, बल्कि निजानन्द को भोगता हुआ मुक्त होता है । इसलिये वह सात्त्विक त्यागी कहलाता है ।

अन्वयार्थ—इष्ट, अनिष्ट और मिश्रित (ऐसा) तीन प्रकार का कर्म-फल अत्यागियों को मरकर होता है, परन्तु त्यागियों को कहीं (कभी) नहीं ॥१२॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! इष्ट (अनुकूल, प्रिय, भला अर्थात् स्वर्ग तथा इन्द्रादि देवयोनि की प्राप्ति), अनिष्ट (प्रतिकूल, बुरा, अप्रिय अर्थात् नरक या शूकर, कीट, कृमि आदि निकृष्ट योनि की प्राप्ति), और मिश्रित (मिला-जुला अर्थात् पुण्य-पाप से मिश्रित मनुष्य-योनि की प्राप्ति), ऐसा तीन प्रकार का कर्म-फल होता है। इन तीन प्रकार के फलों को वे ही लोग मरकर प्राप्त होते हैं कि जो त्यागी नहीं हैं, अर्थात् जो कर्म-फल और कर्म-सङ्ग का त्याग करके कर्म करनेवाले नहीं हैं, वल्कि जो सकामी और आसक्त हैं। और वह जो कर्म-फल और कर्म-सङ्ग का त्याग करके निष्काम और निरासक्त हुए कर्म करते हैं, अर्थात् जो सच्चे त्यागी हैं, वे मरकर इन फलों को प्राप्त नहीं होते, अर्थात् उन्हें शरीर छोड़ने के बाद उक्त तीन फलों में से किसी भी फल को भोगना नहीं पड़ता, वल्कि वे इस निरासक्ति और निष्काम अवस्था के कारण शुद्ध अंतःकरण द्वारा आत्मज्ञान को प्राप्त हुए इस शरीर को त्यागते ही सीधा मुक्त होते अपने शुद्ध स्वरूप में विलीन होते हैं ॥ १२ ॥

सम्बन्ध—(१) कर्म-फल और कर्म-सङ्ग को छोड़नेवाला (त्यागी) क्यों कर्म-बन्धन में आने नहीं पाता अथवा क्यों उससे लिपायमान नहीं होता ? और सकामी तथा आसक्त (अत्यागी) मनुष्य क्यों बन्धायमान या लिपायमान होता है ? इस सारे का हेतु भगवान् अब चार श्लोकों में विस्तार-पूर्वक निरूपण करते हैं—

अथवा (२) कर्म में सङ्ग त्याग के लिये कर्म-सिद्धि के जानने-योग्य कारण भगवान् अब चार श्लोकों में सविस्तर वर्णन करते हैं—

अथवा (३) जिस प्रकार निष्काम कर्मी को सब कर्म बन्धन का हेतु नहीं होते, उस प्रकार को भगवान् अब चार श्लोकों द्वारा वर्णन करते हैं—

अथवा (४) ममता-युक्त फलाशा का अर्थात् अहङ्कार-युक्त बुद्धि का त्याग ही सच्चा त्याग है, इसी सिद्धान्त को दृढ़ करने के लिये भगवान् अब और कारण आगे के चार श्लोकों में दिखलाते हैं—*

पञ्चैतानि महाबाहो कारणानि निबोध मे ।
सांख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम् ॥ १३ ॥

पञ्च[3], एतानि[2], महाबाहो[1], कारणानि[4], निबोध[6], मे[5]	हे अर्जुन[1] ! ये[2] पाँच[3] कारण[4] तू मुझसे[5] जान[6] (सुन)	सांख्ये-कृतान्ते[1]†, प्रोक्तानि[3]	सांख्य[1]-सिद्धान्त[2] में कहे[3] हुए
		सिद्धये[3], सर्व-कर्मणाम्[2]	सब[1] कर्मों[2] की सिद्धि[3] के लिये

* भगवान् शंकराचार्यजी इस श्लोक का सम्बन्ध इस प्रकार देते हैं—"इसलिये क्रिया, कारक और फल आदि आत्मा में अविद्या से आरोपित होने के कारण परमार्थदर्शी (आत्मज्ञानी) ही सम्पूर्ण कर्मों का अशेषतः त्यागी हो सकता है, कर्म करनेवाले अधिष्ठान (शरीर) आदि कारकों को आत्म-भाव से देखनेवाला अज्ञानी सम्पूर्ण कर्मों का अशेषतः त्याग नहीं कर सकता, यह बात भगवान् अगले श्लोक में दिखलाते हैं—"

† सांख्ये-कृतान्ते=जिस शास्त्र में जानने-योग्य पदार्थों की संख्या (गणना) की जाय, उसका नाम सांख्य अर्थात् वेदांत है। कृतान्त उसी का विशेषण है। कृत कर्मों को कहते हैं, जहाँ उसका अन्त अर्थात् जहाँ कर्मों की समाप्ति हो जाती है वह कृतान्त है—यानी कर्मों का अन्त है (श्रीशंकराचार्य)। कई टीकाकारों ने 'सांख्य' शब्द का अर्थ वेदांत-शास्त्र किया है, पर हमारा मत है कि 'सांख्य' शब्द से अभिप्राय इस स्थान में कापिल सांख्य-शास्त्र ही है (श्रीतिलक महाराज)। 'कृतान्ते सांख्ये' कर्म सिद्धांत निर्णयकारी सांख्य-शास्त्र में (भारत धर्म महामंडल के स्वामी दयानन्द)।

अन्वयार्थ—हे अर्जुन ! सब कर्मों की सिद्धि के लिये सांख्य-सिद्धान्त में कहे हुए ये पञ्च कारण तू मुझसे समझ ॥ १३ ॥

व्याख्या—हे विशालबाहु अर्जुन ! लौकिक या वैदिक जितने भी कर्म हैं, उन सबकी सिद्धि के लिये जो पाँच कारण सांख्य-सिद्धान्त अर्थात् वेदान्त-शास्त्र में कहे गये हैं, उनको तू मुझसे समझ, जिससे तुझे पता लग जाय कि किस हेतु से पुरुष इन कारणों द्वारा कर्म में आसक्त और बन्धायमान होता है और कैसे वह कर्म से निर्लिप्त और निरासक्त रहता है ॥ १३ ॥

सम्बन्ध—अब भगवान् पाँच कारण कहते हैं—

अधिष्ठानं तथा कर्त्ता करणं च पृथग्विधम् ।
विविधाश्च पृथक् चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम् ॥१४॥

अधिष्ठानं, तथा, कर्त्ता	अधिष्ठान और कर्ता	विविधाः, च, पृथक्, चेष्टा	और नाना प्रकार की अलग-अलग चेष्टायें
करणं, च, पृथक्, विधं	और भिन्न-भिन्न आकार का करण	दैवं, च, एव, अत्र, पञ्चमं	और इसमें पाँचवाँ दैव भी

अच्छी तरह परमात्मा का स्वरूप जिस शास्त्र से जाना जाय, उसे कहते हैं 'सांख्य' अर्थात् 'ब्रह्मविद्या' । और किये हुए कर्म (कृत) की जिसमें समाप्ति (अन्त) है, उसका नाम है 'कृतान्त' । अथवा आत्म-अनात्म दोनों का तत्त्व जिस शास्त्र में निश्चय किया गया है, उस शास्त्र का नाम है सांख्य अर्थात् वेदांत । और यह स्पष्ट है कि आत्मज्ञान की अग्नि से सब किये हुए कर्म (कृत) भस्म (अन्त) होते हैं, और यह आत्मज्ञान स्पष्टतया उपनिषद्-रूप वेदान्त-शास्त्र में है, अतएव 'सांख्य-कृतान्त' से अभिप्राय यहाँ वेदांत-शास्त्र है । (टीकाकार)

अन्वयार्थ—अधिष्ठान, कर्ता, भिन्न-भिन्न प्रकार का करण, नाना प्रकार की अलग-अलग चेष्टायें और इसमें पाँचवाँ दैव भी (ये पाँच कारण कर्म के हैं) ॥ १४ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! वे पाँच कारण कर्म के ये हैं—(१) **अधिष्ठान** इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, चेतना इत्यादि धर्मों का आश्रय-रूप स्थूल शरीर अर्थात् देह, जिसमें भोक्ता अपने भोग्य के साथ रहता है। इन्द्रिय-रूपी दसों द्वारों से रात और दिन कष्टकर प्रकृति के द्वारा जो सुख और दुःख प्राप्त होते हैं, उन्हें भोगने के लिये पुरुष को और दूसरा स्थान ही नहीं है, इसलिये देह को अधिष्ठान कहा है। यह देह चौबीस तत्त्वों के रहने का निवास-स्थान है, बन्ध और मोक्ष की उलझन यहीं टूटती है, बहुत क्या कहें यह देह जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओं का अधिष्ठान है, इसलिये इसे अधिष्ठान नाम दिया गया है। कर्म का दूसरा कारण **कर्ता** है, अर्थात् कर्म करने के भाववाला अहङ्कार जो कर्तृत्वादि धर्मों का आत्मा में आरोपण करता है, और जो चैतन्य का प्रतिबिम्ब कहलाता है। जैसे आकाश ही पानी बरसाता है, पानी डबरों में भर रहता है, और फिर वह आकाश ही उसमें प्रतिबिम्बित होता और तदाकार हो जाता है, अथवा जैसे घोर निद्रा के वश हो राजा अपना राजत्व भूलकर स्वप्न में रङ्क बन जाता है, वैसे ही अपनी विस्मृति के कारण जो चैतन्य ही देहाकार प्रतिभासित होता और देह-रूप प्रकट होता है; जो लोगों में उपाधि-स्वरूप भोक्ता जीव नाम से प्रसिद्ध है और जिसने मानो देह को सम्पूर्ण विषय प्राप्त कर देने की प्रतिज्ञा कर रक्खी है, यद्यपि प्रकृति कर्म करती है, तथापि जो भ्रमी कहता है कि मैं करता हूँ, उस जीव को यहाँ कर्ता नाम दिया गया है। तीसरा कारण कर्म का पृथक्-पृथक् प्रकार का **करण** अर्थात् श्रोत्रादि (पाँच कर्म इन्द्रियाँ, पाँच ज्ञान इन्द्रियाँ तथा मन, ऐसे ग्यारह) इन्द्रियाँ

हैं जो शब्दादि विषयों की उपलब्धि का साधन-रूप हैं। कर्म का चौथा कारण नाना प्रकार की **चेष्टा** अर्थात् प्राणों की नाना क्रिया वा प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान आदि रूप से प्राणों के भिन्न-भिन्न व्यापार हैं जिनके कारण यह शरीर स्थिर रहता है और जिनके विना शरीर की कोई चेष्टा सम्भव नहीं हो सकती है। और पाँचवा कारण कर्म का **दैव** है, अर्थात् शरीर चक्षुरादि इन्द्रियों तथा पाँच प्राणों के प्रकाशक वा उन पर अनुग्रह करनेवाले अधिष्ठातृ देवता हैं कि जिनके विना प्राण-इन्द्रियादि किञ्चित् काम नहीं कर सकते, जैसे चक्षु विना अपने अधिष्ठातृ देवता आदित्य के कुछ काम नहीं कर सकते, वैसे ही श्रोत्र, त्वक्, रसना, घ्राण विना अपने-अपने अधिष्ठातृ देवता दिक्, वात, अर्क, प्रचेता और अश्विनी के कुछ काम नहीं कर सकते, ऐसे ही वाक्, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ ये पाँचों विना अपने-अपने अधिष्ठातृ देवता (वह्नि, इन्द्र, उपेन्द्र, मित्र, प्रजापति) के कुछ काम नहीं कर सकते; ऐसे ही प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान ये पाँचों विना अपने-अपने देवता (सद्योजात, वामदेव, अघोर, तत्पुरुष और ईशान) के कुछ कर्म नहीं कर सकते हैं; और ऐसे ही शरीर विना अपने पृथिवी देवता के और मन, बुद्धि, अहङ्कार विना अपने-अपने देवता (चन्द्र, बृहस्पति और रुद्र) के कुछ क्रिया नहीं कर सकते, इत्यादि। इस प्रकार यह देव-समूह कर्म का पाँचवाँ कारण समझो। इस प्रकार ये पाँचो कारण कर्म की सिद्धि में हेतु माने गये हैं॥ १४॥

सम्बन्ध—(१) अपने उक्त कथन को भगवान् अब और स्पष्ट करते हैं—

अथवा (२) इन्हीं पाँचों को सभी कर्मों का कारण अब भगवान् बतलाते हैं—

शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः ।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः ॥ १५ ॥

शरीर - वाक्-मनोभिः, यत्, कर्म, प्रारभते, नरः	शरीर, वाणी, मन से जो कर्म मनुष्य आरम्भ करता है	न्याय्यं, वा, विपरीतं, वा	न्याय अथवा अन्याय रूप (भला वा उल्टा)
		पञ्च, एते, तस्य, हेतवः	ये पाँच उसके हेतु होते हैं

अन्वयार्थ—हे अर्जुन ! जो भी न्याय्य-रूप अथवा अन्याय्य-रूप कर्म मनुष्य करता है, ये पाँच उसके हेतु होते हैं ॥ १५ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! जो भी न्याय्य-रूप अथवा अन्याय्य-रूप, अर्थात् जो भी धर्म-रूप वा अधर्म-रूप कर्म (या भला वा बुरा कर्म) यह मनुष्य अपने मन, वाणी और शरीर से करता है, उसके हेतु ये पूर्वोक्त अधिष्ठानादि पाँच कारण ही हैं। अर्थात् शरीर, अहङ्कारोपाधि जीव, इन्द्रियाँ, प्राण और सूर्यादि अधिष्ठातृ देवता, ये जो पाँच कारण कर्म की सिद्धि के ऊपर कहे हैं, यही सब प्रकार के (मानसिक, वाचिक और कायिक) कर्म का हेतु हैं, विना इनके कोई कर्म नहीं हो सकता ॥१५॥ ❀

❀ इस पर श्रीज्ञानदेवजी की विचित्र ढङ्ग से ऐसे व्याख्या है—

"अकस्मात् वसन्त ऋतु आ जाती है, तो वही नूतन पल्लवों की उत्पत्ति का हेतु हो जाती है। पल्लवों से पुष्प-समुदाय उत्पन्न होता और पुष्पों से फल उत्पन्न होते हैं, अथवा वर्षा-काल के आने से मेघ उत्पन्न होते हैं, मेघों से वृष्टि होती और वृष्टि के कारण धान्य-सुख का उपभोग प्राप्त होता है; अथवा पूर्व दिशा से अरुण का उदय होता है, अरुण से सूर्योदय होता और सूर्य से सम्पूर्ण दिन प्रकाशित होता है ; वैसे ही, हे पाण्डव ! कर्मसङ्कल्प का हेतु मन है, उस सङ्कल्प से वाणी-रूपी दीपक प्रकाशित होता है और

सम्बन्ध—इन उक्त पाँचो कारणों के होते हुए फिर जो साक्षी आत्मा को ही सारे कर्मों का कारण वा कर्ता मानते हैं, उनके विषय में अब भगवान् अपना निश्चय प्रकट करते हैं—

यह वाचा-दीपक सम्पूर्ण कर्मों के मार्गों को प्रकाशित करता है जिससे कर्ता कर्तृत्व के व्यापार में प्रवृत्त होता है। वस्तुतः शरीर इत्यादि समुदाय का हेतु शरीर ही है, जैसे लोहे का काम लोहे से ही किया जाता है, अथवा जैसे तन्तु का ही ताना और तन्तु का ही बाना, इस प्रकार, हे ज्ञानी ! तन्तु ही कपड़ा बनता है, वैसे ही मन, वाचा और देह के कर्म का हेतु मन इत्यादि ही है जैसे कि रत्न समुदाय का हेतु रत्न ही है। यहाँ यदि कोई यह पूछे कि शरीर इत्यादि जो कर्म के कारण हैं, वही क्योंकर हेतु कहे जाते हैं, तो सुनिए। देखिए, सूर्य के प्रकाश का हेतु और कारण जैसे सूर्य ही है, अथवा ईख की गँडेरी जैसे ईख की बाढ़ का हेतु है, अथवा वाग्देवी की स्तुति करने के लिये जैसे वाचा को ही श्रम करना पड़ता है, अथवा वेदों की महिमा जैसे वेदों से ही बखानी जा सकती है, वैसे ही शरीर इत्यादि कर्म के कारण तो हैं ही पर यह भी मिथ्या नहीं कि वही कर्म के हेतु भी हैं। देह इत्यादि कारणों का देह इत्यादि हेतुओं से मेल होते ही जो कर्म-मात्र की घटना होती है, वह कर्म यदि शास्त्र-सम्मत मार्ग के अनुसार हो तो न्याय का हेतु (न्याय्य कर्म) होता है। जैसे बरसात के जल का प्रवाह कदाचित् धान में बह जाय तो वह वहाँ सोख जाता है पर उससे लाभ भी ख़ूब होता है, अथवा क्रोध से भी घर छोड़कर कोई अकस्मात् द्वारका का मार्ग ले तो, वह दुःखी हो तथापि, उसका उस मार्ग से चलना निष्फल नहीं जाता, वैसे ही हेतु और कारण के मेल से कोई अन्ध कर्म भी उत्पन्न हो तथापि उस पर यदि शास्त्र की दृष्टि पड़े तो वही न्याय्य कर्म कहलाता है। अथवा दूध जब उफनता है है तब बढ़ते-बढ़ते बर्तन के मुँह तक पहुँचकर स्वभावतः बाहर गिरता है, वह भी वस्तुतः दूध का ख़र्च ही है, पर जैसे उसे ख़र्च नहीं कहते वैसे ही शास्त्र

तत्रैवं सति कर्त्तारमात्मानं केवलं तु यः ।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः ॥१६॥

तत्र, एवं, सति, कर्त्तारं, आत्मानं, केवलं, तु, यः	वहाँ ऐसा होते हुए फिर जो केवल आत्मा को कर्त्ता (देखता है)	पश्यति, अकृत-बुद्धित्वात्	अकृत बुद्धि होने से देखता है
		न, सः, पश्यति, दुर्मतिः	वह दुर्मति (ठीक) नहीं देखता है

अन्वयार्थ—वहाँ ऐसा होते हुए फिर जो केवल आत्मा को कर्ता देखता है, वह दुर्मति अकृत-बुद्धि होने से (ठीक) नहीं देखता है ॥ १६ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! सब प्रकार के कर्म में उक्त पाँच कारणों के होते हुए भी फिर जो केवल साक्षी और असङ्ग आत्मा को इन समस्त कर्मों का कर्ता देखता वा समझता है, वह दुर्मति (कम समझ, मूर्ख या मन्द) है, और अस्वच्छ, कच्ची, अपूर्ण वा असंस्कृत बुद्धिवाला होने के कारण वह यथार्थ नहीं देखता है, बल्कि जैसे बालक बादलों के चलने

की सहायता के विना किया हुआ कर्म यद्यपि वृथा न समझा जाय तथापि क्या द्रव्य का लूटा जाना दान किये जाने के समान लेखा जा सकता है ? अजी हे पाण्डु-सुत ! ऐसा कौन-सा मन्त्र है जो वर्णमाला के बावन अक्षरों में न हो ? और ऐसा कौन-सा जीव है जो इन्हीं बावन अक्षरों को न उच्चारता हो ? परन्तु हे कोदण्डपाणि ! जब तक मन्त्र की युक्ति मालूम नहीं होती तब तक वाचा को उस मन्त्र के उच्चारण-फल का लाभ नहीं होता, वैसे ही कारण और हेतु के मेल से जो अनियमित कर्म उत्पन्न होता है उसे जब तक शास्त्र की अनुकूलता का लाभ नहीं होता तब तक यद्यपि कर्म होता ही रहता है तथापि वह वास्तव में कर्म करना नहीं, अन्याय है तथा वह अन्याय का ही हेतु होता है ।”

पर चन्द्रमा को चलता देखते हैं, अथवा जैसे सवारी पर बैठा पुरुष दूसरी सवारियों को दौड़ता देखकर समझने लग पड़ता है कि मैं दौड़ रहा हूँ, वैसे ही यह दुर्मति भी विपरीत देखता है ॥ १६ ॥ॐ

ॐ श्रीज्ञानदेवजी की विचित्र व्याख्या इस श्लोक पर ऐसे है—

"इस प्रकार हे उत्तम कीर्तिमान् अर्जुन ! कर्म के पाँच कारणों के ये पाँच हेतु होते हैं। अब कहो तो कि इनमें क्या आत्मा दिखाई देता है ? बात यह है कि सूर्य जैसे विषय-रूप न होकर नेत्रों के विषयों को प्रकाशित करता है वैसे ही आत्मा कर्म-रूप न होकर कर्म प्रकट करता है। हे वीरेश ! देखनेहारा जैसे प्रतिबिम्ब या दर्पण दोनों न होकर दोनों को प्रकाशित करता है, अथवा हे पाण्डु-सुत ! सूर्य जैसे दिन या रात्रि न होते हुए दिन और रात्रि को प्रकट करता है, वैसे ही आत्मा कर्म या कर्ता-रूप न होकर उन दोनों को प्रकट करता है। परन्तु जिसकी बुद्धि को यह विस्मृति हुई है कि मैं देह हूँ और इस कारण जो बुद्धि देह में ही व्याप्त हो गई है, उसे आत्मा के विषय में मानों मध्य रात्रि का अन्धकार रहता है। जो समझता है कि चैतन्य-रूपी ईश्वर या ब्रह्म की परम सीमा देह ही है, उसका यह दृढ़ विश्वास चाहे भले ही हो जाय कि आत्मा कर्ता है परन्तु उसे यह तत्त्वतः निश्चय नहीं रहता कि आत्मा ही कर्म-कर्ता है। वह समझता है कि मैं जो देह हूँ वह कर्म करता है क्योंकि यह बात वह कभी कानों से नहीं सुनता कि मैं कर्म के परे हूँ और सब कर्मों का साक्षी हूँ। इसलिये मुझ अपरिमित आत्मा को वह देह से मापने की चेष्टा करता है ; इसमें क्या आश्चर्य है ? घुग्घू क्या दिन को रात नहीं बना देता ? जिसने कभी आकाश-स्थित सत्य सूर्य नहीं देखा है, वह क्या डबरे में दिखाई देनेहारे सूर्य को ही सत्य न समझेगा ? डबरे का होना सूर्य की उत्पत्ति का कारण हो जाता है, तथा उसके नाश से सूर्य का भी नाश होता है और उसके कम्पायमान होने से सूर्य भी कँपता हुआ दिखाई देता है ; निद्रित मनुष्य को जब तक चेत नहीं आता तब तक स्वप्न सत्य ही रहता है, डोरी

सम्बन्ध—(१) अब जो यथार्थ देखनेवाला सुमति पुरुष है, उसके विषय में भगवान् अपना निश्चय कहते हैं---

अथवा (२) "पञ्चैतानि महाबाहो" इत्यादि चार श्लोकों से बारहवें श्लोक के (अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम् । भवत्यत्यागिनां प्रेत्य)

का अज्ञान होते हुए सर्प का डर रहे, इसमें आश्चर्य क्या है ? जब तक आँखों में पीलिया रोग है, तब तक चन्द्रमा पीला दिखाई देता है ; मृग भी क्या मृग-जल की भूल में न पड़े ? इसी प्रकार शास्त्र या गुरु का तो कहना ही क्या, जो अपनी सीमा को उनकी हवा भी नहीं लगने देता, जो केवल मूर्खता के बल जीवन धारण करता है वह, जैसे गीदड़ मेघों के वेग को चन्द्र पर ही आरोपित करते हैं वैसे ही, देहात्म-बुद्धि के कारण आत्मा पर देह-रूपी जाल फैलाता है । और फिर वह उस भूल के कारण देह-रूपी क़ैदख़ाने में मानों कर्म की दृढ़ गाँठ से बाँधा जाता है । देखो, दृढ़ बन्ध की भावना के कारण नली पर बैठा हुआ वेचारा तोता क्या पञ्जे मुक्त रहते हुए भी नहीं फँसता ? अतएव जो निर्मल आत्मस्वरूप पर प्रकृति के किये हुए कर्म आरोपित करता है, वह कोट्यवधि कल्पों के माप से कर्मों की गणना करता रहता है । अब जो कर्म से व्याप्त है परन्तु समुद्र का जल जैसे बड़वानल को स्पर्श नहीं करता वैसे ही, जिसे कर्म स्पर्श नहीं करता, जो यों जुदा रहता हुआ कर्म से व्याप्त है उसे कौन पहचान सकता है, कहूँ ? क्योंकि जैसे अपनी खोई हुई वस्तु दीपक से देखने पर दिखाई देती है वैसे ही मुक्त का निश्चय करते हुए निज को ही मुक्ति का लाभ हो जाता है, अथवा, जैसे दर्पण रगड़कर साफ़ किया जावे तो अपना ही रूप दिखाई दे सकता है ; अथवा जैसे लवण को जल का लाभ हो तो वह जल-रूप ही हो जाता है, यह भी रहने दो, प्रतिबिम्ब यदि लौटकर बिम्ब को देखे तो वह देखना नहीं बिम्ब ही बन जाता है, वैसे ही जिस आत्मा की विस्मृति हो गई है उसका जब लाभ हो जाय तभी सन्तों की स्थिति का निश्चय हो सकता है । अतएव सर्वदा सन्तों

तीन चरणों की व्याख्या की। अब भगवान् "न तु संन्यासिनां क्वचित्" इस चतुर्थ चरण की व्याख्या करते हैं—

अथवा (३) अब भगवान् अकर्तापन के फल को स्पष्ट करते हैं—

अथवा (४) तब कौन वह सुमति है जिसको कर्म का लेप नहीं होता, इस आकांक्षा में भगवान् अपना आशय स्पष्ट करते हैं—

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते ।
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते ॥१७॥

यस्य, न, अहंकृतः, भावः	जिसका अहंकृत भाव नहीं	हत्वा, अपि, सः, इमान्, लोकान्	वह इन लोकों को मारकर भी
बुद्धिः, यस्य, न, लिप्यते	जिसकी बुद्धि नहीं लिप्त होती	न, हन्ति, न, निबध्यते	न मारता है, न बन्धायमान होता है

अन्वयार्थ—जिसका अहंकृत भाव नहीं है, जिसकी बुद्धि लिप्त नहीं होती है, वह इन लोकों को मारकर भी न मारता है और न बन्धायमान होता है ॥ १७ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! जिसका अहंकृत भाव नहीं है, अर्थात् जिस पुरुष को शास्त्र और गुरु के उपदेश द्वारा संस्कार-युक्त बुद्धि होने से किसी कर्म में "मैं यह करता हूँ" इस प्रकार का कर्तापने का भाव नहीं है; अथवा जो यह समझता है कि शरीर, अन्तःकरण (अहङ्कारोपाधि जीव), इन्द्रिय, पञ्चप्राण और दैव जो ऊपर पाँच कारण कर्म के कहे

की ही स्तुति और उनका वर्णन करना चाहिए। अतः जो कर्मों में रहकर सुख-दुःखों के वश नहीं होता, तथा जैसे चर्म-चक्षु के चाम से दृष्टि बद्ध नहीं रहती, वैसे ही जो मुक्त है, उसका हम उपपत्ति-रूपी हाथ उठाकर वर्णन करते हैं।'

गये हैं और मुझमें माया से कल्पना कर लिए जाते हैं, केवल इन पाँच कारणों से ही सब कर्म होते हैं, मैं स्वयं किसी कर्म का कारण नहीं होता। मैं तो देह इन्द्रिय आदि पाँचों कारणों और उनके कर्मों का केवल साक्षी और असङ्गात्मा हूँ; अर्थात् प्राण, इन्द्रिय और अन्तःकरण आदि से मेरा कुछ भी सम्बन्ध नहीं है, मैं इन सब उपाधियों और विकारों से रहित अकर्ता, अभोक्ता हूँ, अतएव मैं अज, अमर, अविनाशी आत्मा हूँ। और इस समझ के कारण जिसकी बुद्धि अर्थात् विवेचना-शक्ति किसी भी कर्म से लिपायमान नहीं होती है, ऐसा सुमति पुरुष इन लोकों अर्थात् इन लोकों के प्राणियों को मारता हुआ भी वास्तव में न मारता है और न उस कर्म के सङ्गदोष तथा फल से किञ्चित् बन्धायमान होता है। सिद्धान्त-रूप से तात्पर्य इस सारे का यह है कि जब सब कर्मों में सङ्ग और फल का त्याग कर रक्खा होता है, तब कर्मों में न राग-द्वेष होता है और न ही राग-द्वेष की प्रेरणा पर कर्म होते हैं, बल्कि ऐसी दशा में सब कर्म मनुष्य के स्वाभाविक वा स्वतः प्राप्त कर्म होते हैं और उनमें उसका कर्तृत्व (मैं करता हूँ) का भाव नहीं होता, जिससे उन कर्मों का बुरा या अच्छा प्रभाव उसके अन्तःकरण पर नहीं पड़ता। ऐसी अवस्था में वह जो कुछ भी करता दिखाई देता है, वह उसके न करने के ही समान होता है, जैसे स्वभावतः श्वास-प्रश्वास चलने से जो क्षुद्र जीवों की मृत्यु होती है उससे वह श्वास लेनेवाला लिप्त नहीं होता। इस प्रकार जब निरासक्त और निष्कामी पुरुष का प्रत्येक कर्म वास्तव में अकर्म होता है, तो जब वह किसी को मारता भी दिखाई देता है, तो वास्तव में वह न मारनेवाला ही होता है, और इसीलिये वह मारने का कर्म उसे किसी प्रकार से लिपायमान वा बन्धायमान करने नहीं पाता। इसीलिये भगवान् ने पूर्व भी अनेक बार ऐसा कहा है—"त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः। कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किञ्चित्करोति सः।" (४. २०) "ब्रह्मण्याधाय

कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः । लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥" (५. १०) । इत्यादि ॥ १७ ॥ ❀

सम्बन्ध—(१) पूर्व अधिष्ठानादि पाँचों को सब कर्मों का हेतु कथन करके आत्मा को इन सब कर्मों के स्पर्श से रहित निरूपण किया, अब इसी अर्थ को भगवान् ज्ञान-ज्ञेयादि प्रक्रिया की रचना करके तथा त्रैगुण्य-भेद द्वारा पूर्व से विलक्षण रीति से वर्णन करते हैं—

अथवा (२) कर्म सिद्धि के पाँच कारण और सुमति पुरुष की सब कर्मों से असङ्गता व निर्लिप्तता दर्शाकर अब भगवान् कर्म के प्रवर्तक, कर्म के आश्रय और कर्म के फल आदि को त्रिगुणादि भेद से विस्तारपूर्वक वर्णन करने लगे हैं, ताकि आत्मा वा आत्मवेत्ता की कर्मों से निस्सम्बन्धता अधिकतर स्पष्ट हो जाय—

अथवा (३) "मारकर भी न मारता है" और "न उस कर्म से बँधता है।" इसी के उपपादन करने के लिये कर्म के प्रवर्तक, कर्म के आश्रय और कर्म के फलादि को त्रिगुणात्म बतलाते हुए भगवान् त्रिगुणातीत आत्मा का उनसे वास्तव में सम्बन्ध नहीं है, इस अभिप्राय से उक्त विषय को विस्तारपूर्वक निरूपण करने लगे हैं—

❀ इस श्लोक से यह अभिप्राय न निकाल लेना चाहिए कि जिसका कर्मसङ्ग और फलाशा छूट गये हैं, वह जो कुकर्म चाहे कर सकता है। साधारण मनुष्य जो कुछ करते हैं, वह स्वार्थ के लोभ से करते हैं, इसलिये उनका बर्ताव अनुचित हुआ करता है। पर जिसका स्वार्थ और लोभ नष्ट हो गया, अथवा फलाशा जिसकी विलीन हो गई, जिसके लिये प्राणि-मात्र एकसमान हो गये, उससे किसी का अनहित भला कैसे हो सकता है? क्योंकि दोष बुद्धि में होता है न कि कर्म में। उसकी बुद्धि स्वच्छ होने से उसका कोई कर्म भी चाहे देखने में दोषयुक्त हो, पर वास्तव में दोषवाला नहीं हो सकता।

अथवा (४) कर्मसिद्धि के विषय में सविस्तर विचार करके अब भगवान् कर्मोत्पत्ति के विषय में सविस्तर विचार करने लगे हैं—

अथवा (५) सत्रहवें अध्याय में कर्म के सात्त्विक आदि भेदों का जो विचार आरम्भ किया गया था, उसी को यहाँ कर्मयोग की दृष्टि से भगवान् अब पूरा करते हैं—

अथवा (६) उक्त रीति से वेदांत-शास्त्र के आशय का उपसंहार करके अब भगवान् कर्मों का प्रवर्तक आदि निरूपण करते हैं—

ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना ।
करणं कर्म कर्त्तेति त्रिविधः कर्मसंग्रहः ॥१८॥

ज्ञानं, ज्ञेयं, परिज्ञाता	ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञाता	करणं, कर्म, कर्त्ता, इति, त्रि-विधः, कर्म-संग्रहः	करण, कर्म और कर्ता यह तीन प्रकार का कर्म-संग्रह है
त्रि-विधा, कर्म-चोदना	तीन प्रकार की कर्म-प्रेरणा है		

अन्वयार्थ—ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञाता, यह तीन प्रकार की कर्म-चोदना है और करण, कर्म तथा कर्ता, यह तीन प्रकार का कर्म-संग्रह है ॥ १८ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! ज्ञान, अर्थात् किसी वस्तु का जानना, अथवा जिससे वस्तु का यथार्थ स्वरूप प्रकाशमान (मालूम) हो ; ज्ञेय, अर्थात् जानने-योग्य वस्तु या ज्ञान से जो घटपटादि वस्तु जानी जाय ; ज्ञाता, अर्थात् जाननेवाला, दूसरे शब्दों में ज्ञान-रूप क्रिया का आश्रय-भूत और अन्तःकरण-रूप उपाधि से कल्पित भोक्ता जीव (चिदाभास) ; ये तीनों कर्म-चोदना* अर्थात् कर्म की प्रेरणा वा कर्म में प्रवर्तक हैं । ज्ञेय

---

* कर्म-चोदना और कर्म-संग्रह पारिभाषिक शब्द हैं । इन्द्रियों के द्वारा कोई भी कर्म होने के पूर्व, मन से उसका निश्चय करना पड़ता है । अतएव

और ज्ञाता के होते हुए भी यदि वस्तु का ज्ञान न हो, तो कर्म में प्रवृत्ति नहीं होती। और ज्ञान तथा ज्ञाता के होते हुए भी यदि जानने-योग्य (ज्ञेय) वस्तु न हो, तो भी कर्म में प्रवृत्ति नहीं होती। अर्थात् इन तीनों में से किसी एक के भी न होने पर कर्म आरम्भ नहीं हो सकता, इसलिये "ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय", ये तीनों कर्म के प्रवर्तक हैं। यह श्लोक के पूर्वार्द्ध का अर्थ हुआ, अब उत्तरार्द्ध की व्याख्या होती है। करण, अर्थात् जिसके व्यापार के अनन्तर क्रिया की सिद्धि हो, अथवा जिससे क्रिया की सिद्धि हो, अर्थात् कर्म का साधन। यह दो प्रकार का है, अर्थात् श्रोत्रादि इन्द्रिय यह बाह्य करण है और मन बुद्धि आदि अन्तःकरण है। कर्म, अर्थात् क्रिया, जिसके साथ कर्ता का सम्बन्ध हो, अथवा जो कर्ता पुरुष को क्रिया के साथ सम्बन्ध करानेवाला हो, जैसे यज्ञादि। और कर्ता, अर्थात् कर्म करनेवाला, अथवा मन बुद्धि आदि

इस मानसिक विचार को 'कर्म-चोदना' अर्थात् कर्म करने की प्राथमिक प्रेरणा कहते हैं। और, यह स्वभावतः ज्ञान, ज्ञेय एवं ज्ञाता के रूप से तीन प्रकार की होती है। एक उदाहरण लीजिए—प्रत्यक्ष घड़ा बनाने के पूर्व कुम्हार (ज्ञाता) अपने मन से निश्चय करता है कि मुझे अमुक बात (ज्ञेय) करना है, और वह अमुक रीति से (ज्ञात) होगी। यह क्रिया कर्म-चोदना हुई। इस प्रकार से मन का निश्चय हो जाने पर वह कुम्हार (कर्ता) मिट्टी, पहिया इत्यादि साधन (करण) इकट्ठे कर प्रत्यक्ष घड़ा (कर्म) तैयार करता है। यह कर्म-संग्रह हुआ। कुम्हार का कर्म घट है तो ; पर उसी को मिट्टी का कार्य भी कहते हैं। इससे मालूम होगा कि कर्म-चोदना शब्द से मानसिक अथवा अन्तःकरण की क्रिया का बोध होता है, और कर्म-संग्रह शब्द से उसी मानसिक क्रिया की जोड़ की बाह्य क्रियाओं का बोध होता है। किसी भी कर्म का पूर्ण विचार करना हो, तो 'चोदना' और 'संग्रह' दोनों का विचार करना चाहिए। (श्रीतिलक महाराज)

करणों को भी व्यापार में प्रवृत्त करानेवाला, अथवा जो इतर कारकों से अप्रयोज्य और सकल कारकों का प्रयोजक हो, अर्थात् चित् अचित् की ग्रन्थि-स्वरूप ; दूसरे शब्दों में अहङ्कार बुद्धि आदि उपाधियुक्त चेतन-आत्मा (जीव वा चिदाभास)। दृष्टान्तरूप से—"मैं हाथ से पानी पीता हूँ"। मैं=कर्ता, पानी=कर्म, हाथ से=करण और पीता हूँ=क्रिया ; इस प्रकार ये तीनों (कर्ता, कर्म, करण) कर्म का संग्रह अर्थात् आश्रय हैं। विना इन तीनों के विद्यमान हुए उपर्युक्त ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय-रूप प्रवर्तकों के होते हुए भी कर्म की सिद्धि कदापि नहीं होती। इसलिये ये तीनों प्रत्येक कर्म का आश्रय हैं। इन छ हेतुओं में कर्ता और ज्ञाता तो एक ही हैं, शेष चार मिलाकर पाँच कारण कर्म के होते हैं। इस प्रकार कर्म-सिद्धि के पूर्वोक्त पाँच कारणों को ही भगवान् ने अब कर्म के प्रवर्तक और आश्रय-रूप से दर्शाया है। इस श्लोक से भगवान् ने यह अभिप्राय भी सिद्ध किया है कि जो-जो कर्म के प्रवर्तक और जो-जो कर्म के आश्रय होते हैं, वे सब कारक-रूप और त्रिगुणात्मक ही होते हैं। और आत्मदेव तो सब कारक भाव से तथा तीनों गुणों से भी रहित है जिससे सब कामों के स्पर्श से भी वह रहित है॥ १८॥

सम्बन्ध—(१) उक्त कर्म के कारणों (अर्थात् प्रवर्तकों और आश्रयों) में से ज्ञान, कर्म और कर्ता को भगवान् अब गुण-भेद से तीन प्रकार का निरूपण करने लगे हैं—

अथवा (२) अब प्रसंगोपात कर्म, कर्ता और ज्ञान आदि विषयों पर त्रिगुणानुसार विचार करके आत्मा का अकर्तृत्व तथा सात्त्विक त्याग का रहस्य भगवान् और भी स्पष्ट करते हैं—

ज्ञानं कर्म च कर्त्ता च त्रिधैव गुणभेदतः।
प्रोच्यते गुणसंख्याने यथावच्छृणु तान्यपि॥१९॥

ज्ञानं, कर्म, च, कर्त्ता, च	ज्ञान, कर्म और कर्ता	प्रोच्यते, गुण-संख्याने	गुणसंख्यानशास्त्र में कहे गये हैं
त्रि-धा, एव, गुण-भेदतः	गुण-भेद से तीन प्रकार का ही	यथावत्, शृणु, तानि, अपि	उनको भी यथावत् तू सुन

अन्वयार्थ—ज्ञान,* कर्म और कर्ता गुणसंख्यानशास्त्र में गुण-भेद से तीन प्रकार के ही कहे गये हैं। इनको भी ठीक-ठीक (तू मुझसे) सुन ॥१९॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! सत्त्व, रज, तम इन तीन भेदों से गुणों की संख्या करनेवाले, वा गुणों के प्रतिपादन करनेवाले शास्त्र अर्थात् कपिल मुनि-कृत सांख्यशास्त्र में इन ज्ञान, कर्म और कर्ता को जैसा गुण-भेद से तीन प्रकार का कहा है, वैसा ही ठीक-ठीक मैं तुझसे कहता हूँ, तू ध्यान देकर सुन ॥ १९ ॥

सम्बन्ध—सबसे पहले ज्ञान को भगवान् सत्त्वादि गुण-भेद से निरूपण करते हैं—

> **सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते ।**
> **अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम्॥ २०॥**

---

* पूर्व श्लोक में ज्ञान, ज्ञेय, ज्ञाता और करण, कर्म, कर्ता, छ हेतु कर्म की सिद्धि में कहे थे। उनमें से ज्ञाता और कर्ता तो एक हैं। और ज्ञेय (घड़ा इत्यादि) तथा करण (मिट्टी, पहिया इत्यादि साधन) बाह्य वस्तु होने से स्पष्ट त्रिगुणात्मक हैं, और मन-बुद्धि-रूप अन्तःकरण भी अनेक अर्थों में पूर्व तीन गुणों से वर्णन हो चुके हैं, इसलिये शेष ज्ञान, कर्म और कर्ता ही अब गुण-भेद से निरूपणीय रहते हैं, जिन्हें भगवान् अब वर्णन करते हैं—

सर्व-भूतेषु, येन, एकं, भावं, अव्ययं, ईक्षते	जिससे सब भूतों में एक अविनाशी भाव को (पुरुष) देखता है	अविभक्तं, विभक्तेषु	विभक्तों में अविभक्त को
		तत्, ज्ञानं, विद्धि, सात्त्विकं	उस ज्ञान को तू सात्त्विक जान

अन्वयार्थ—जिस (ज्ञान) से सब विभक्त भूतों में एक अविभक्त अविनाशी भाव को (पुरुष) देखता है, उस ज्ञान को तू सात्त्विक जान ॥ २० ॥

व्याख्या*—हे अर्जुन ! जिस ज्ञान की सहायता से जब द्रष्टा (पुरुष)

---

* श्रीज्ञानदेवजी की विचित्र व्याख्या इस श्लोक पर ऐसे है—

"हे अर्जुन ! शुद्ध सात्त्विक ज्ञान असल में वह है जिसका उदय होते ही ज्ञेय वस्तु ज्ञाता-सहित विलीन हो जाय। जैसे सूर्य कभी अन्धकार नहीं देखता, समुद्र कभी यह नहीं जानता कि नदी कैसी होती है, अथवा जैसे कभी अपनी छाया को आलिङ्गन नहीं दिया जा सकता, वैसे ही जिस ज्ञान के द्वारा शिव से लेकर तृण-पर्यन्त सम्पूर्ण भूत-व्यक्तियाँ भिन्न नहीं दिखाई देतीं, अथवा जैसे लिखे हुए चित्र पर हाथ फेरने पर, लवण को जल से धोने पर, अथवा स्वप्न से जाग्रत होने पर जैसी स्थिति होती है वैसे ही जिस ज्ञान के द्वारा ज्ञेय को देखते ही न ज्ञाता, न ज्ञान, न ज्ञेय शेष रहता है ; जैसे अलङ्कार को गलाकर सोना नहीं अलगाया जा सकता, अथवा पानी छानकर तरङ्ग अलग नहीं की जा सकती, वैसे ही जिस ज्ञान से कोई दृश्य वस्तु भिन्न दिखाई नहीं देती, वही ज्ञान वास्तव में सात्त्विक ज्ञान है। कुतूहल से दर्पण देखने जाइए तो देखनेहारा ही सम्मुख आ खड़ा होता है, वैसे ही जिस ज्ञान के द्वारा ज्ञेय ज्ञाता का ही उलटकर आया हुआ स्वरूप जान पड़ता है वही, मैं फिर कहता हूँ, सात्त्विक ज्ञान है जो मानों मोक्ष-लक्ष्मी का मन्दिर है। अस्तु, अब राजस ज्ञान का लक्षण सुनो।"

इन सब विभक्त (परस्पर एक दूसरे से पृथक् खंडित वा भिन्न-भिन्न) पदार्थों में एक अविभक्त (अखण्ड) और अविनाशी भाव (निर्विकार आत्मा) को देखता अर्थात् साक्षात्कार करता है, उस ज्ञान को तू सात्त्विक समझ ॥ २० ॥ †

सम्बन्ध—अब भगवान् राजस ज्ञान का स्वरूप वर्णन करते हैं—

पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान्पृथग्विधान् ।
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम् ॥२१॥

पृथक्त्वेन, तु, यत्, ज्ञानं	पर जो ज्ञान अलग-अलग भाव से	वेत्ति, सर्वेषु, भूतेषु	सब भूतों में जानता है
नाना-भावान्, पृथक्-विधान्	भिन्न-भिन्न प्रकार के नाना भावों को	तत्, ज्ञानं, विद्धि, राजसं	उस ज्ञान को तू राजस जान

अन्वयार्थ—पर जो ज्ञान पृथक्-पृथक् रूप से सब भूतों में भिन्न-भिन्न प्रकार के नाना भावों को जानता है, उस ज्ञान को तू राजस जान ॥ २१ ॥

---

† २० से २२ तक तीन श्लोकों में श्रीशङ्कराचार्य और श्रीरामानुज के आशयों में बहुत मत-भेद पाया जाता है। श्रीशङ्कराचार्य इस श्लोक की यों व्याख्या करते हैं कि सब भूतों में एक आत्मा देखना सात्त्विक ज्ञान है। श्रीरामानुज इन श्लोकों को कर्म के सम्बन्ध में लगाते हैं। क्योंकि पूर्व श्लोक १८ में ज्ञान को कर्म का प्रवर्तक कहकर उसका भेद किया है। उनका आशय यह है कि सब भूतों में अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रियादि में आत्मा एक रूप से है। शरीर यद्यपि श्वेत, काला अथवा लम्बा-चौड़ा इत्यादि होने से एक दूसरे से भिन्न है, तथापि आत्मा ऐसे भेद से रहित सब में ज्ञानप्रकार है। शरीर नाशवान् है, आत्मा अविनाशी है। कर्माधिकार समय में आत्मा को ऐसा देखना सात्त्विक ज्ञान है।

व्याख्या※—हे अर्जुन ! जिस ज्ञान द्वारा पुरुष इन सब नाना प्रकार के पदार्थों में भिन्न-भिन्न रूप से नाना भावों को देखता है और पूर्ववत् एक अखण्ड वा निर्विकार भाव को नहीं देखता, उस ज्ञान को तू राजस जान। अर्थात् जो ज्ञान इन ऊपर से परस्पर भिन्न-भिन्न पदार्थों में एकता

※ श्रीज्ञानदेवजी की विचित्र रूप से व्याख्या इस पर ऐसी है—

"हे पार्थ ! सुनो, भेद का आश्रय कर जो ज्ञान प्रवृत्त होता है, वह राजस है। भूत-मात्र में भिन्नत्व से व्याप्त हो जिस ज्ञान ने उसे विचित्रता प्राप्त करा दी है और उससे ज्ञाता को जिसने अत्यन्त भ्रम में डाल दिया है, जैसे निद्रा सत्यस्वरूप पर विस्मृति-रूपी परदा डालकर जीव को स्वप्न-रूपी कष्ट का अनुभव कराती है, वैसे ही आत्मज्ञान के मन्दिर के बाहर—मिथ्या मोह से वर्तुल के भीतर—जो ज्ञान जीव को जागृति, स्वप्न और सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओं का खेल दिखाता है, अलङ्कारत्व से ढका हुआ सोना जैसे बालकों को प्रतीत नहीं होता वैसे ही जिस ज्ञान से नाम और रूप का ही ज्ञान होता और अद्वैत दूर रह जाता है, मूर्ख लोग जैसे घड़ों या मटकों के रूपवाली पृथ्वी को नहीं पहचान सकते, दीपक का रूप लेने से जैसे अग्नि अपरिचित हो जाती है, अथवा वस्त्रता का आरोपण होने के कारण मूर्ख मनुष्य यह नहीं पहचानता कि वह तन्तु का ही रूप है, अथवा चित्र देखकर जैसे अज्ञानी मनुष्य को पट की विस्मृति होती है वैसे ही जिस ज्ञान के कारण भूत-व्यक्तियों को भिन्न देखकर एकता-ज्ञान की भावना नष्ट हो जाती है, और इंधन भिन्न होने से जैसे अग्नि भिन्न जान पड़ती है, फूल जुदे-जुदे होने से जैसे सुगन्ध भिन्न जान पड़ती है, अथवा जुदे-जुदे जलाशय होने से जैसे चन्द्रमा, पूर्ण होने पर भी, भिन्न दिखाई देता है, वैसे ही पदार्थों में अनेक भेद देखकर जो सर्वत्र छोटा-बड़ा इत्यादि वेष से भरा हुआ है, उसे राजस ज्ञान कहते हैं। अब तामस ज्ञान का लक्षण कहते हैं। उसे भी भली भाँति पहचान लो, जैसे कि डोम के घर से बचने के हेतु उसे पहचान सकते हैं।"

को नहीं जनाता, बल्कि सब प्राणियों की देह में रहनेवाले एक आत्मा को जो नाना प्रकार से भिन्न-भिन्न दर्शाता है, उसे राजस ज्ञान कहते हैं। संक्षेप से तात्पर्य यह कि जो ज्ञान सब परस्पर भिन्न पदार्थों में उनकी भीतरी एकता को दर्शाता है, वह सात्त्विक ज्ञान है और जो ज्ञान सब पदार्थों में अनेकता दर्शाता है, वह राजस ज्ञान है ॥ २१ ॥ †

सम्बन्ध—अब भगवान् तामस ज्ञान का स्वरूप वर्णन करते हैं—

यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन्कार्ये सक्तमहैतुकम् ।
अतत्त्वार्थवदल्पञ्च तत्तामसमुदाहृतम् ॥ २२ ॥

यत्[2], तु[1], कृत्स्न[3]-वत्[4], एकस्मिन्[5], कार्ये[6], सक्तं[7], अहैतुकं[8]	और[1] जो[2] (ज्ञान) परिपूर्ण[3] अर्थवत्[4] एक[5] कार्य[6] में आसक्त[7] और युक्ति से रहित[8] है	अतत्त्व[1] - अर्थ[2]-वत्[3], अल्पं[5], च[4]	वह मिथ्या[1] अर्थ[2]-वत्[3] और[4] तुच्छ[5] है
		तत्[1], तामसं[2], उदाहृतं[3]	वह[1] तामस[2] कहलाता[3] है

अन्वयार्थ—और जो (ज्ञान) एक कार्य में परिपूर्ण अर्थवत् आसक्त, युक्ति से रहित, मिथ्या अर्थ के समान और तुच्छ है, वह (ज्ञान) तामस कहलाता है॥२२॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! जिस ज्ञान के कारण पुरुष किसी एक कार्य (पदार्थ, देह वा प्रतिमा) में निष्कारण ऐसा आसक्त हो जाता है; अथवा जो ज्ञान, विना प्रयोजन के, पुरुष को किसी एक वस्तु वा मूर्ति में ऐसा आसक्त कर देता है कि उसे वही वस्तु वा मूर्ति परिपूर्ण अर्थ देनेवाली दिखाई देती है, अर्थात् वह तब ऐसा समझने लगता है कि "बस, यही वस्तु या मूर्ति ही सब कुछ है, यही आत्मा है, यही ईश्वर है, इससे परे और कुछ नहीं है, इसी से सब अर्थों की सिद्धि होती है,

† श्रीशङ्कराचार्य के अनुसार भिन्न-भिन्न देहों में भिन्न-भिन्न आत्मा का ज्ञान राजस ज्ञान है, और श्रीरामानुज के अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकार के देहों में भिन्न-भिन्न प्रकार के आत्मा जानना राजस ज्ञान है।

इत्यादि" जैसे चारवाकवाले देह को और मूढ़ पुरुष एक पाषाणादि-रूप प्रतिमा को ही सब कुछ समझ लेते हैं। और जो ज्ञान विना युक्ति, प्रमाण और उत्पत्ति-रूप हेतु के है, अर्थात् निर्मूल वा निष्कारण है, और जो ज्ञान मिथ्या अर्थ के समान है, अर्थात् जिस ज्ञान का विषय तत्त्वार्थ नहीं, अथवा जो परमार्थ वा यथार्थ विषयवाला नहीं, अथवा जिसमें कुछ तत्त्वार्थ नहीं बल्कि जो झूठा और बेबुनियाद है। और जो इसीलिये तुच्छ है। ऐसा ज्ञान ॐ तमोगुणी कहलाता है ॥ २२ ॥ †

ॐ उक्त तीन प्रकार के ज्ञान पर श्रीतिलक महाराज अपनी टिप्पणी ऐसे देते हैं—"भिन्न-भिन्न ज्ञानों के लक्षण बहुत व्यापक हैं। अपने बाल-बच्चों और स्त्री को ही सारा संसार समझना तामस ज्ञान है। इससे कुछ ऊँची सीढ़ी पर पहुँचने से दृष्टि अधिक व्यापक होती जाती है और अपने गाँव का अथवा देश का मनुष्य भी अपना-सा जँचने लगता है, तो भी यह बुद्धि बनी ही रहती है कि भिन्न-भिन्न गाँवों अथवा देशों के लोग भिन्न-भिन्न हैं। यही ज्ञान राजस कहलाता है। परन्तु इससे भी ऊँचे जाकर परिणाम-मात्र में एक ही आत्मा को पहचानना पूर्ण और सात्त्विक ज्ञान है। सार यह हुआ कि 'विभक्त में अविभक्त' अथवा 'अनेकता में एकता' को पहचानना ही ज्ञान का सच्चा लक्षण है। और बृहदारण्यक एवं कठोपनिषदों के वर्णानुसार जो यह पहचान लेता है कि इस जगत् में नानत्व नहीं है—"नेह नानास्ति किञ्चन" वह मुक्त हो जाता है; परन्तु जो इस जगत् में अनेकता देखता है, वह जन्म-मरण के चक्कर में पड़ा रहता है—"मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति" (बृ० ४. ४. १६ ; कठ० ४. ११); इस जगत् में जो कुछ ज्ञान प्राप्त करना है, वह यही है (गी० १३. १६), और ज्ञान की यही परम सीमा है; क्योंकि सभी के एक हो जाने पर फिर एकीकरण की ज्ञान-क्रिया को आगे बढ़ने के लिये स्थान ही नहीं रहता।"

† श्रीशङ्कराचार्य के अनुसार एक ही कार्य अर्थात् बाहर की प्रतिमा वा

सम्बन्ध—अब भगवान् गुण-भेद से तीन प्रकार का कर्म कहते हैं ; पहले सात्त्विक कर्म निरूपण करते हैं—

नियतं सङ्गरहितमरागद्वेषतः कृतम् ।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते ॥२३॥

नियतं, सङ्ग-रहितं	नियत और आसक्ति से रहित	अ-फल-प्रेप्सुना, कर्म, यत्	न फल चाहने-वाले से जो कर्म
अ-राग-द्वेषतः-कृतं	विना राग-द्वेष के किया हुआ (कर्म)	तत्, सात्त्विकं, उच्यते	वह सात्त्विक कहलाता है

अन्वयार्थ—जो नियत* (कर्म) आसक्ति से रहित, विना राग-द्वेष के

देहादि में इतना आसक्त ज्ञान कि आत्मा या ईश्वर बस इतना ही है, इससे परे और कुछ नहीं, जैसे चारवाको लोग स्थूल देह को ही आत्मा वा सब कुछ मानते हैं। वा जैसे मूढ़ लोग पाषाण-काष्ठादि प्रतिमा-मात्र को ही ईश्वर मानते हैं, ऐसा ज्ञान तामस है। पर श्रीरामानुज के अनुसार एक कार्य एक कर्म है, छोटे फलवाला जैसे प्रेत-भूत आदि का आराधन, उसी को पूर्ण फलवाला जानना तामस ज्ञान है ; क्योंकि ऐसा ज्ञान अयथार्थ विषयवाला और अत्यल्प फलवाला होता है, और विना युक्ति के ही उसको वह ऐसा मान लेते हैं।

* नियत कर्म—जो श्रुति-स्मृति रूप शास्त्र-विहित नित्य कर्म (श्री-शङ्कराचार्य)। अपने वर्णाश्रम के अनुसार उचित और अवश्य कर्तव्य कर्म (श्रीरामानुज)। जो नित्य कर्म अपने अधिकारानुसार किया जाता है, और मान्य होता है (श्रीज्ञानदेव)। नित्य नैमित्तिक कर्म (श्रीमधुसूदन स्वामी)। स्वधर्मानुसार जो नियत अर्थात् नियुक्त किया हुआ कर्म (श्रीतिलक महराज)। जो अपनी उन्नति-निमित्त नियत हुआ-हुआ या जो शरीर-यात्रा-निमित्त अवश्य कर्तव्य कर्म (टीकाकार)।

और फल न चाहनेवाले पुरुष से किया जाता है, वह सात्त्विक कहलाता है ॥ २३ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! जो कर्म नियत हो, अर्थात् जो अपनी उन्नति-निमित्त नियत किया हुआ हो, या जो शरीर-यात्रा-निमित्त अवश्य कर्तव्य हो, या जो अपने वर्णाश्रमानुसार उचित और अवश्य कर्तव्य कर्म हो, अथवा जो नित्य कर्म हो, या जो स्वधर्मानुसार नियत अर्थात् नियुक्त किया हुआ कर्म हो। जो कर्म सङ्गरहित हो, अर्थात् जिस कर्म के साथ उसके कर्ता की कोई आसक्ति वा संग भीतर से न हो, अथवा जो कर्ता के अपनत्व के लगाव या अहंकृत-भाव से रहित हो, या जिस कर्म में कर्ता को कर्तृत्व-भाव या कर्म करने का अभिमान किञ्चिन्मात्र न हो। जो बिना राग-द्वेष के हो अर्थात् जिस कर्म में कर्ता की प्रीति वा अप्रीति किञ्चिन्मात्र न हो, अथवा जो कर्म किसी प्रकार के राग और द्वेष की प्रेरणा से न किया हुआ हो; बल्कि जो कर्तव्य समझकर निरासक्त बुद्धि से किया गया हो और जो फल न चाहनेवाले निष्कामी पुरुषों से किया हुआ हो, ऐसा कर्म सात्त्विक कहलाता है ॥ २३ ॥ ❀

सम्बन्ध—अब भगवान् राजस कर्म का स्वरूप वर्णन करते हैं—

❀ श्रीज्ञानदेवजी की विचित्र व्याख्या इस श्लोक पर ऐसे है—

"जैसे पतिव्रता अपने प्रिय पति को आलिङ्गन देती है वैसे ही जो कर्म अपने अधिकारानुसार किया जाता है और मान्य होता है, साँवले शरीर पर जैसे चन्दन अथवा स्त्रियों के नेत्रों में जैसे काजल शोभता है, वैसे ही जो कर्म सर्वदा अधिकार को शोभा देनेहारा होता है। वह नित्य कर्म उत्तम कहा है; और नैमित्तिक कर्म उसका सहकारी हो तो मानों सोने में सुगन्ध ही प्राप्त हो जाती है। माता जैसे तन-मन ख़र्च करके बालक की रक्षा करती है तथापि उससे उकताना कभी नहीं जानती, वैसे ही अपना सर्वस्व समझकर

यत्तु कामेप्सुना कर्म साहङ्कारेण वा पुनः ।
क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम् ॥२४॥

यत्, तु, काम-ईप्सुना, कर्म, स-अहङ्कारेण, वा, पुनः	पर जो कर्म फल चाहनेवाले से और फिर सहित अहङ्कार के	क्रियते, बहुल-आयासं	बड़े क्लेश से किया जाता है
		तत्, राजसं, उदाहृतं	वह राजस कहलाता है

अन्वयार्थ—पर जो कर्म फल-कामनावाले से अहङ्कार के साथ और अति क्लेश से किया जाता है, वह राजस कहलाता है ॥ २४ ॥

व्याख्या*—हे अर्जुन ! जो कर्म स्वर्गादि फलों की इच्छावाले सकाम पुरुष से, अहंकृत भाव के साथ (या कर्तृत्व भाव के अभिमान से युक्त

जो कर्म करता है, परन्तु उस कर्म का फल दृष्टि के सम्मुख नहीं रखता, सम्पूर्ण क्रिया ब्रह्म में ही समर्पित करता है ; और जैसे प्रियजन भोजन को आवें तो कोई यह नहीं सोचता कि यह पदार्थ मेरे लिये बचेगा या नहीं, वैसे ही यदि सत्कर्म रह जाय तो जो कर्म के न होने से मन में दुखी नहीं होता, तथा कर्म बन पड़े तो उस आनन्द से जो फूलना भी नहीं जानता, ऐसी-ऐसी युक्ति के साथ जो कर्म करता है उसके उस कर्म को, हे धनञ्जय ! सात्त्विक-सरीखा सत्त्वगुण-सम्बन्धी नाम दिया गया है। अब हम राजस कर्म के लक्षण वर्णन करते हैं, अवधान न्यून मत होने दो।"

* श्रीज्ञानदेवजी की विचित्र व्याख्या राजस-कर्म पर ऐसे है—

"मूर्ख जैसे घर में माता-पिता से अच्छी तरह नहीं बोलता पर बाहर सब संसार का आदर करता है, अथवा तुलसी के पेड़ में दूर से एक छींटा भी नहीं डालता पर द्राक्षा की जड़ में दूध देता है, वैसे ही जो नित्य-नैमित्तिक आवश्यक कर्म हैं उनके नाम से बैठक छोड़ उठ नहीं सकता, पर दूसरे काम्य

होकर) किया जाता है और जो अति क्लेशवाला होता है, अर्थात् जिस कर्म में फल से अधिक दुःख वा परिश्रम उठाना पड़ता है। ऐसा कर्म राजस कहलाता है ॥ २४ ॥

सम्बन्ध—अब भगवान् तामस कर्म का स्वरूप वर्णन करते हैं—

कर्मों के लिये जो अपना सब तन और धन भी ख़र्च करना बहुत नहीं समझता, अजी ! जहाँ ड्योढ़ा मूल्य आता है वहाँ बिक्री करने से जैसे कोई नहीं अघाता, बीज बोते हुए जैसे कोई नहीं थकता, अथवा पारस हाथ लगे तो साधक जैसे लोहा मोल लेने के लिये सब सम्पत्ति ख़र्च कर देता है और उन्नति प्राप्त करता है, वैसे ही अगले फल देखकर कठिन-कठिन काम्य कर्म करता हुआ जो उन्हें थोड़ा ही समझता है, वह फलेच्छा करनेहारा जितनी काम्य क्रियायें यथाविधि और भली भाँति करता है उतनी सब क्रियायें राजस कर्म हैं। और कर्म कर जो उसके साथ उस कर्म की डौंड़ी पीटता है और अपने अधिकार के बायन बाँटता फिरता है इस प्रकार जो कर्माभिमान से फूलता है और, कालज्वर जैसे ओषधि को नहीं मानता वैसे ही, जो पिता या गुरु को भी नहीं मानता, ऐसे अहङ्कार से जो फल की इच्छा करनेहारा मनुष्य आदर के साथ जो-जो क्रिया करे वह राजस कर्म है ; एवं वह क्रिया भी जो प्रायः कष्ट के साथ करता है, बाजीगर लोग जैसे पेट भरने के लिये कष्ट करते हैं अथवा चूहा जैसे एक कण के लिये सम्पूर्ण पहाड़ में छेद कर डालता है, या दादुर जैसे सेवार खोजने के लिये सम्पूर्ण समुद्र को गँदला कर डालता है, या सँपेरा जैसे भीख के अतिरिक्त और कुछ प्राप्त नहीं करता तथापि साँप लिए फिरता है, वैसे ही क्या किया जाय, जिसे कष्ट करना ही भाता है, अथवा एक परमाणु के लाभ के लिये दीमक जैसे पाताल नाँघ जाती है वैसे ही जो स्वर्ग-सुख के लोभ से जो कुछ श्रम करता है, उस सक्लेश और सकाम कर्म को राजस कर्म समझना चाहिए। अब तामस कर्म के लक्षण सुनो।"

अनुबन्धं क्षयं हिंसामनपेक्ष्य च पौरुषम् ।
मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते ॥ २५ ॥

अनुबन्धं[1], क्षयं[2], हिंसां[3], अनपेक्ष्य[6], च[4], पौरुषं[5]	अनुबन्ध[1], क्षय[2], हिंसा[3] और[4] पौरुष[5] की परवाह[6] न करके	मोहात्[3], आरभ्यते[4], कर्म[2], यत्[1],	जो[1] कर्म[2] मोह[3] से आरम्भ[4] किया जाता है
		तत्[1], तामसं[2], उच्यते[3]	वह[1] तामस[2] कहलाता[3] है

अन्वयार्थ—अनुबन्ध, क्षय, हिंसा और पौरुष की परवाह न करके जो कर्म मोह से आरम्भ किया जाता है, वह तामस कहलाता है ॥ २५ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! अनुबन्ध (आगे होनेवाला अशुभ फल वा परिणाम), क्षय (शारीरिक सामर्थ्य तथा धनादि का विनाश), हिंसा (परपीड़ा वा प्राणियों की पीड़ा) और पौरुष (कर सकने की शक्ति, बल, सामर्थ्य वा पुरुषार्थ), इन चारों का विचार न करके जो कर्म मारे मोह (अविवेक वा मूर्खता) के किया जाता है, वही तामस कहलाता है। दूसरे शब्दों में तामस कर्म वह है, जो मोह से विना इन बातों का विचार किये आरम्भ किया जाता है कि इस कर्म का अनुबन्ध अर्थात् परिणाम आगे क्या होगा, पौरुष अर्थात् अपना सामर्थ्य कितना है, और (होनहार में) नाश अथवा हिंसा होगी या नहीं ॥ २५ ॥

सम्बन्ध—अब भगवान् सात्त्विकादि गुण-भेद से तीन प्रकार का कर्ता निरूपण करते हैं, पहले सात्त्विक कर्ता का वर्णन करते हैं—

मुक्तसङ्गोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः ।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्त्ता सात्त्विक उच्यते ॥ २६

मुक्त-सङ्गः, अनहं-वादी	मुक्त-सङ्ग, अनहं-वादी	सिद्धि-असि-द्धयोः, निर्विकारः	सिद्धि-असिद्धि में निर्विकार
धृति-उत्साह-समन्वितः	धृति और उत्साह से युक्त	कर्त्ता, सात्त्विक, उच्यते	कर्ता सात्त्विक कहलाता है

अन्वयार्थ—मुक्त-सङ्ग, अनहंवादी, धृति और उत्साह से युक्त, और सिद्धि-असिद्धि में निर्विकार कर्ता सात्त्विक कहलाता है ॥ २६ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! जो कर्म का करनेवाला मुक्त-सङ्ग हो, अर्थात् जिस कर्ता का कर्म के साथ अथवा कर्म-फल के साथ कोई लगाव वा आसक्ति न हो ; जो अनहंवादी हो, अर्थात् जो कभी इस प्रकार अभिमान का वचन न कहता हो कि मैं कर्म का कर्ता हूँ, या अमुक काम को मैंने ही किया है, मेरे विना वह काम हो ही नहीं सकता था इत्यादि, अथवा जो अपने गुणों की श्लाघा न करता हो ; जो धैर्य और उत्साह, हिम्मत, हौसला, वा उमङ्ग से भरा हुआ हो, और जो सिद्धि-असिद्धि (लाभ-हानि, जीत-हार, फल की प्राप्ति) में हर्ष-विषादादि विकार से रहित हो, अर्थात् जो सर्व दशा में एकरस रहनेवाला हो, ऐसा कर्ता सात्त्विक कहलाता है ॥ २६ ॥

सम्बन्ध—अब भगवान् राजस कर्ता का स्वरूप वर्णन करते हैं—

रागी कर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः ।
हर्षशोकान्वितः कर्त्ता राजसः परिकीर्तितः ॥२७॥

रागी, कर्म-फल-प्रेप्सुः	रागी, कर्म-फल का चाहनेवाला	हर्ष-शोक-अन्वितः, कर्ता	हर्ष शोक से युक्त कर्ता
लुब्धः, हिंसा-त्मकः, अशुचिः	लोभी, हिंसात्मक और अपवित्र	राजसः, परिकीर्तितः	राजस कहलाता है

अन्वयार्थ—रागी, कर्म-फल का चाहनेवाला, लोभी, हिंसात्मक, अपवित्र और हर्ष-शोक से युक्त कर्ता राजस कहलाता है ॥ २७ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! जो कर्म करनेवाला रागी हो, अर्थात् कर्म अथवा विषयों में राग (प्रीति वा आसक्ति) रखनेवाला और इसी कारण कर्म-फल की इच्छावाला हो ; जो लोभी हो, अर्थात् पराये धन की अभिलाषा करनेवाला हो ; जो हिंसात्मक हो, अर्थात् जो स्वभाव से ही दूसरों को दुःख वा पीड़ा देनेवाला, सर्वप्रकार से तङ्ग करनेवाला, या क्रूर (बेरहम) हो ; जो भीतर-बाहर से अपवित्र हो, अर्थात् मन और शरीर से मलिन हो ; और हर्ष-शोक से भरा हुआ हो, अर्थात् जो सिद्धि के समय हर्षवान् और असिद्धि के समय शोकातुर हो जाता हो ; ऐसा कर्ता राजस कहलाता है ॥ २७ ॥

सम्बन्ध—अब भगवान् तामस कर्ता का स्वरूप वर्णन करते हैं—

अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः शठो नैष्कृतिकोऽलसः।
विषादी दीर्घसूत्री च कर्त्ता तामस उच्यते ॥२८॥

अयुक्तः, प्राकृतः, स्तब्धः	अयुक्त, असभ्य, अनम्र	विषादी, दीर्घसूत्री, च	विषादी और दीर्घ-सूत्री
शठः, नैष्कृतिकः, अलसः	शठ, द्रोही, आलसी	कर्ता, तामसः, उच्यते	कर्ता तामस कहलाता है

अन्वयार्थ—अयुक्त, असभ्य, अनम्र, शठ, द्रोही, आलसी, विषादी और दीर्घसूत्री कर्ता तामस कहलाता है ॥ २८ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! जो कर्म करनेवाला अयुक्त हो, अर्थात् जो असावधान, चञ्चल चित्त हो, अथवा विषय-लम्पट होने से कर्म करने के

योग्य न हो, अथवा जिसका चित्त कर्म में न लगता हो ; जो असभ्य वा गँवार हो, अर्थात् जो मूढ़ बालक के समान प्रकृति के अधीन, और धर्मादि संस्कारों से रहित बुद्धिवाला हो ; जो अनम्र हो, अर्थात् हठी, ढीठ, ज़िद्दी, उजड्डु, कठोर स्वभाव और जो गुरु-देवता के आगे भी न झुकनेवाला, बल्कि गर्व से फूलनेवाला हो ; जो शठ हो, अर्थात् ऊपर से तो वेदोक्त कर्म कर रहा हो, परन्तु भीतर से दूसरों को धोखा दे रहा हो, अथवा जो ठग वा मायावी हो ; जो द्रोही हो, अर्थात् चुग़लख़ोर, कीनावर और दूसरों की आजीविका का उच्छेदन करनेवाला हो, अथवा जो दूसरों की हानि करनेवाला हो ; जो आलसी हो, अर्थात् अवश्य करने-योग्य कर्म में भी जो न प्रवृत्त होनेवाला हो ; जो विषादी हो, अर्थात् जो अप्रसन्नचित्त वा असंतुष्ट स्वभाववाला होने से निराश या शोकग्रस्त हो, और जो दीर्घसूत्री हो, अर्थात् जो ढिलमट्ठ करनेवाला, अथवा एक घड़ी के काम को महीने-भर में करनेवाला हो, या कामों को उलसेट में डालनेवाला हो, ऐसा कर्ता तामस (तमोगुणी) कहलाता है ॥ २८ ॥ ❀

सम्बन्ध—(१) अब भगवान् बुद्धि और धृति के भेदों को सुनने की ओर अर्जुन की वृत्ति खींचते हैं—

अथवा (२) ऊपर जो श्लोक २६ में सात्त्विक कर्ता के लक्षण में

❀ इन तीन प्रकार के कर्ताओं में से सात्त्विक कर्ता ही अकर्ता, अलिप्त कर्ता अथवा कर्मयोगी है। ऊपरवाले श्लोक २६ से प्रकट है कि फलाशा छोड़ने पर भी कर्म करने की आशा, उत्साह और सारासार-विचार उस कर्मयोगी में बना ही रहता है। जगत् के त्रिविध विस्तार का यह वर्णन ही अब बुद्धि, धृति और सुख के विषय में भी किया जाता है। (श्रीतिलक महाराज)

"मुक्तसङ्गोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः" आया है अब उस धृति और बुद्धि को सात्त्विकादि गुण-भेद से भगवान् तीन प्रकार का वर्णन करने लगे हैं, जिससे अर्जुन का ध्यान सुनने की ओर आकर्षण करते हैं—

बुद्धेर्भेदं धृतेश्चैव गुणतस्त्रिविधं शृणु ।
प्रोच्यमानमशेषेण पृथक्त्वेन धनञ्जय ॥ २९ ॥

बुद्धेः, भेदं, धृतेः, च, एव	बुद्धि और धृति के भेद भी	प्रोच्यमानं, अशेषेण, पृथक्त्वेन, धनञ्जय	हे अर्जुन ! सम्पूर्णतया अलग-अलग कहे हुओं को (तू सुन)
गुणतः, त्रिविधं, शृणु	गुण से तीन प्रकार का तू सुन		

अन्वयार्थ—हे अर्जुन ! बुद्धि ❋ और धृति के भेद भी, जो गुण-भेद से तीन प्रकार के हैं और सब अलग-अलग कहे जा रहे हैं, उनको तू सुन ॥ २९ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! बुद्धि (निश्चय करनेवाली इन्द्रिय, वा अन्तःकरण अथवा व्यवसायात्मिका बुद्धि) और धृति (धारण करनेवाली क्रिया-शक्ति अथवा उसी बुद्धि की वृत्ति विशेष वा धैर्य) इन दोनों के भेद भी सात्त्विक आदि गुण-भेद से तीन प्रकार के हैं, जो सारे-के-सारे अलग-अलग आगे छ श्लोकों में कहे जाने हैं, अथवा जो

❋ बुद्धि का अर्थ यहाँ वही व्यवसायात्मिका बुद्धि अथवा निश्चय करनेवाली इन्द्रिय अभीष्ट है कि जिसका वर्णन दूसरे अध्याय (२. ४२) में हो चुका है (श्रीमधुसूदन स्वामी, श्रीतिलक महाराज आदि)। पूर्व ज्ञान तीन प्रकार का कहा है, बुद्धि अन्तःकरण है, और ज्ञान उसकी वृत्ति होती है, यह दोनों में भेद है। (पं० राजाराम)

मैं न्यारे-न्यारे सम्पूर्णतया अब कहने लगा हूँ, सो तू उनको भी ध्यान देकर सुन ॥ २९ ॥

सम्बन्ध—अब बुद्धि के सात्त्विकादि तीन भेद भगवान् निरूपण करते हैं। पहले सात्त्विक का स्वरूप वर्णन करते हैं—

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये ।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी॥३०॥

प्रवृत्तिं, चं, निवृत्तिं, च	प्रवृत्ति और निवृत्ति	बन्धं, मोक्षं, चं, यां, वेत्तिं	बन्ध और मोक्ष को जो जानती है
कार्य-अकार्ये, भय-अभये	कार्य, अकार्य, भय और अभय	बुद्धिः, सा, पार्थ, सात्त्विकी	हे अर्जुन ! वह बुद्धि सात्त्विकी है

अन्वयार्थ—प्रवृत्ति और निवृत्ति, कार्य और अकार्य, भय और अभय, बन्ध और मोक्ष को जो बुद्धि जानती है वह, हे अर्जुन ! सात्त्विकी है ॥३०॥

व्याख्या—हे पृथा-पुत्र अर्जुन ! जो बुद्धि यह जानती है कि प्रवृत्ति (कर्म में लगना वा कर्म-मार्ग) वास्तव में क्या है और निवृत्ति (कर्म में न लगना वा कर्म से निवृत्त होना वा संन्यास-मार्ग) वास्तव में क्या है, अर्थात् जो बुद्धि कर्म में लगने वा कर्म से हटने के वास्तव अर्थ और उनके परिणाम को यथार्थ जानती है ; और जो यह भी ठीक-ठीक जानती है कि करने-योग्य क्या है और न करने-योग्य क्या है, अर्थात् जो कर्तव्य और अकर्तव्य को जानती है ; जो भय और अभय तथा बन्ध और मोक्ष को सहित उनके कारणों के ठीक-ठीक जानती है, अर्थात् जो यह स्पष्ट जानती है कि किससे डरना चाहिए और किससे न डरना चाहिए, किससे बन्ध होता है और किससे मोक्ष । वह बुद्धि सात्त्विकी होती है ॥ ३० ॥

सम्बन्ध—अब राजसी बुद्धि का स्वरूप भगवान् वर्णन करते हैं—

यया धर्ममधर्मञ्च कार्यं चाकार्यमेव च ।
अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी॥ ३१ ॥

यया, धर्मं, अधर्मं, च, कार्यं, च, अकार्यं, एव, च	जिससे धर्म और अधर्म तथा कार्य और ऐसे ही अकार्य	अयथावत्, प्रजानाति	(मनुष्य) अयथार्थ जानता है
		बुद्धिः, सा, पार्थ, राजसी	वह बुद्धि, हे अर्जुन! राजसी है

अन्वयार्थ—जिस बुद्धि से (पुरुष) धर्म और अधर्म, तथा कार्य और अकार्य को अयथार्थ जानता है, वह बुद्धि, हे अर्जुन ! राजसी है ॥ ३१ ॥

व्याख्या*—हे पृथा-पुत्र अर्जुन ! जिस बुद्धि के कारण मनुष्य यह यथार्थ नहीं जानता कि धर्म और अधर्म, अर्थात् श्रुति-स्मृति-रूप शास्त्र से

---

* श्रीज्ञानदेवजी इस पर ऐसे व्याख्या करते हैं—

"बगलों के गाँव में जैसे दूध और पानी मिला हुआ ही पिया जाता है (अलग नहीं किया जाता), अथवा अन्धा जैसे दिन और रात का भेद नहीं जानता, जो फूलों के मकरन्द का सेवन करता है वही लकड़ी में भी छेद करता है पर जैसे उसका भ्रमरत्व नष्ट नहीं होता, वैसे ही जो बुद्धि कार्य और अकार्य, धार्मिक और अधार्मिक विषयों को यथार्थतः न समझकर उनका आचरण करती है, अजी ! जैसे परखे विना मोती लिये जायँ तो कदाचित् ही अच्छे मिलें, वरन् अच्छे न मिलना तो रक्खा ही हुआ है, वैसे ही जो बुद्धि-निषिद्ध कर्म कदाचित् प्राप्त न हो तो ही बचती है अन्यथा जो भले-बुरे दोनों कर्मों का समान ही आचरण करती है, जैसे कोई योग्यायोग्य का विचार न करके सब जन-समुदाय को निमन्त्रण दे, वैसे ही जो बुद्धि उत्तम कर्म की परख नहीं करती उसे राजसी कहते हैं ।"

विहित और निषिद्ध कर्म जो अदृष्ट अर्थ की प्राप्ति वा अप्राप्ति में हेतु माने जाते हैं, वास्तव में क्या हैं, तथा दृढ़ अर्थ की प्राप्ति करानेवाले कार्य अकार्य, अर्थात् देश-काल के अनुसार कर्तव्य-अकर्तव्य, काज-अकाज और उचित-अनुचित कर्म, वास्तव में क्या हैं, ऐसी अयथार्थ ज्ञान देनेवाली बुद्धि राजसी होती है ॥ ३१ ॥

सम्बन्ध—अब तामसी बुद्धि का स्वरूप भगवान् वर्णन करते हैं—

अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता ।
सर्वार्थान् विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी॥३२॥

अधर्मं, धर्मं, इति, या, मन्यते, तमसा, आवृता	अधर्म को धर्म ऐसा जो तम से ढकी हुई मानती है	सर्व - अर्थान्, विपरीतान्, च	और सब बातों को विपरीत
		बुद्धिः, सा, पार्थ, तामसी	वह बुद्धि हे अर्जुन ! तामसी है

अन्वयार्थ—अधर्म को धर्म ऐसा जो अन्धकार से ढकी हुई बुद्धि सब बातों को उलटा मानती है, वह, हे अर्जुन ! तामसी है ॥ ३२ ॥

व्याख्या—हे पृथा-पुत्र अर्जुन ! जो बुद्धि अज्ञान-रूपी अन्धकार से ढक जाने के कारण अधर्म को धर्म मान लेती है और ऐसे ही अन्य सारे अर्थों (विषयों, बातों वा उपदेशों) को उलटा समझ लेती है; अर्थात् भले को बुरा या बुरे को भला, तथा सच्चे को झूठा वा झूठे को सच्चा मान लेती है, वह बुद्धि तामस अर्थात् तमोगुणी होती है ॥ ३२ ॥*

---

* इसपर श्रीज्ञानदेवजी की ऐसे व्याख्या है—

"जैसे राजा जिस मार्ग से जाता है वही चोर के लिये जङ्गल का रास्ता है (यानी राजमार्ग चोर के काम का नहीं), अथवा राक्षस के लिये जैसे दिन का प्रकाश ही रात है, अथवा भाग्यहीन के लिये गड़ा हुआ द्रव्य

सम्बन्ध—अब भगवान् वृत्ति के सात्त्विकादि तीन भेद निरूपण करते हैं—

धृत्या यया धारयते मनः प्राणेन्द्रियक्रियाः ।
योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥ ३३ ॥

धृत्या, यया, धारयते, मनः, प्राणः-इन्द्रिय-क्रियाः	जिस धृति से (मनुष्य) मन, प्राण और इन्द्रियों की क्रियाओं को धारण करता है	योगेन, अव्य-भिचारिण्या	अव्यभिचारिणी से योग द्वारा
		धृतिः, सा, पार्थ, सात्त्विकी	वह धृति हे पार्थ ! सात्त्विकी है

अन्वयार्थ—जिस अव्यभिचारिणी धृति* से मनुष्य योग द्वारा मन,

जैसे कोयले का ढेर बन जाता है, अथवा स्वयं विद्यमान रहते हुए भी जैसे कोई अपने को अविद्यमान समझ ले, वैसे ही जितने धर्म-विषय हैं उतने सब जिस बुद्धि को पाप-रूप दिखाई देते हैं ; सत्य को जो मिथ्या ही समझती है, सम्पूर्ण शुद्ध अर्थों का जो विपरीत अर्थ करती है, जो-जो अच्छे गुण हैं, उन्हें जो दोष ही मानती है, बहुत क्या कहें, वेदों ने जिन विषयों को आश्रय दे मान्य किया है, उन सबों को जो विपरीत ही समझती है, उसे, हे पाण्डु-सुत ! विना किसी से पूछे तामसी बुद्धि समझना चाहिए। रात को सत्यता सिद्ध करने के लिये क्या धर्म-शास्त्रों के अर्थ देखने की आवश्यकता होती है ? इस प्रकार हे ज्ञान-रूपी कमल के सूर्य ! बुद्धि के तीनों भेद हम तुमसे विशद रीति से कह चुके। अब इसी बुद्धि-वृत्ति से जब कर्मों का निश्चय किया जाता है तब जिस धृति का उपक्रम होता है, वह धृति भी त्रिविध है। उस धृति के भी तीनों विभागों का उनके लक्षणों-सहित वर्णन करते हैं, सुनो।"

* 'धृति' शब्द का अर्थ धैर्य है ; परन्तु यहाँ पर शारीरिक धैर्य से अभिप्राय नहीं है। इस प्रकरण में धृति शब्द का अर्थ मन का दृढ़ निश्चय है। निर्णय करना बुद्धि का काम है सही ; परन्तु इस बात की भी आवश्यकता

प्राण और इन्द्रियों की क्रियाओं को धारण करता है, वह धृति, हे पार्थ! सात्त्विकी है ॥ ३३ ॥

है कि बुद्धि जो योग्य निर्णय करे, वह सदैव स्थिर रहे। बुद्धि के निर्णय को ऐसा स्थिर या दृढ़ करना मन का धर्म है, अतएव कहना चाहिए कि धृति अथवा मानसिक धैर्य का गुण मन और बुद्धि दोनों की सहायता से उत्पन्न होता है। परन्तु इतना ही कह देने से सात्त्विक धृति का लक्षण पूर्ण नहीं हो जाता कि अव्यभिचारी अर्थात् इधर-उधर विचलित न होनेवाली धैर्य के बल पर मन, प्राण और इन्द्रियों के व्यापार करना चाहिए। बल्कि यह भी बतलाना चाहिए कि वे व्यापार किस वस्तु पर होते हैं, अथवा इन व्यापारों का कर्म क्या है। वह 'कर्म'-योग शब्द से सूचित किया गया है। अतः 'योग'-शब्द का अर्थ केवल 'एकाग्र चित्त' कर देने से काम नहीं चलता। इसीलिये हमने इस शब्द का अर्थ, पूर्वापर सन्दर्भ के अनुसार, कर्मफल-त्याग-रूपी योग किया है। सात्त्विक कर्म और सात्त्विक कर्ता आदि के लक्षण बतलाते समय जैसे 'फल की आसक्ति छोड़ने' को प्रधान गुण माना है, वैसे ही सात्त्विक धृति का लक्षण बतलाने में भी उसी गुण को प्रधान मानना चाहिए। इसके सिवा अगले ही श्लोक में यह वर्णन है कि राजस धृति फलाकांक्षी होती है; अतः इस श्लोक से भी सिद्ध होता है कि सात्त्विक धृति, राजस धृति के विपरीत, अफलाकांक्षी होनी चाहिए। तात्पर्य यह है कि निश्चय की दृढ़ता तो निरी मानसिक क्रिया है, उसके भली या बुरी होने का विचार करने के अर्थ यह देखना चाहिए कि जिस कार्य के लिये उस क्रिया का उपयोग किया जाना है, वह कार्य कैसा है? नींद और आलस्यादि कर्मों में ही दृढ़ निश्चय किया गया हो, तो वह तामस है, फलाशापूर्वक नित्य व्यवहार के काम करने में लगाया गया हो तो राजस है; और फलाशा त्याग-रूपी योग में वह दृढ़ निश्चय किया गया हो, तो सात्त्विक है। इस प्रकार ये धृति के भेद हुए। (श्रीतिलक महाराज)

व्याख्या—हे पृथा-पुत्र अर्जुन ! जो धृति अव्यभिचारिणी है, अर्थात् सन्मार्ग से इधर-उधर न डिगनेवाली, अथवा अपने नियत मार्ग से न हटनेवाली, या जो एक विषय धारण किया हुआ हो उस एक विषय को छोड़कर अन्य विषय में न लगनेवाली, या जो अनन्य चित्त की धारणा, अथवा जो समाधि-रूप योग से व्याप्त है, ऐसी अटल धारणा वा धृति के योगबल से, अथवा जिस अटल धारणा से युक्त होकर मनुष्य अपने मन, प्राण और इन्द्रियों की क्रियाओं को धारण करता है; या जिस अव्यभिचारिणी धृति की सहायता से एकाग्रचित्त हुआ मनुष्य अपने मन, प्राण और इन्द्रियों के व्यापारों को शास्त्र-निषिद्ध मार्ग (कुमार्ग) से रोकता वा निरोध करता है; अथवा जिस अटल धारणा के निरन्तर विद्यमान होने से मनुष्य के मन, बुद्धि, प्राण और इन्द्रियों की क्रियायें स्वतः निरुद्ध हो जाती हैं और फिर समाधि लग जाती है, वह धृति वास्तव में सात्त्विकी होती है ॥ ३३ ॥ ॐ

ॐ श्रीज्ञानदेवजी की अति विचित्र व्याख्या इस श्लोक पर ऐसे है—

"सूर्य का उदय होते ही जैसे चोरी और अन्धकार दोनों का अन्त हो जाता है, अथवा जैसे राजा की आज्ञा से बुरे कर्मों को प्रतिबन्ध हो जाता है, अथवा वायु का वेग तीव्र हो तो मेघ जैसे गर्जना करते और स्वयं अपना शरीर भी छोड़ देते हैं, अथवा अगस्त्य का दर्शन होते ही समुद्र जैसे चुप हो जाते हैं, अथवा चन्द्र का उदय होते ही कमल जैसे बन्द हो जाते हैं, अथवा सिंह यदि सम्मुख आ खड़ा हो तो मदोन्मत्त हाथी उठाया हुआ पाँव आगे नहीं रख सकता, वैसे ही अन्तःकरण में जिस धैर्य का उदय होने से मन इत्यादि अपने व्यापार फ़ौरन् छोड़ देते हैं, और हे किरीटी ! इन्द्रियों के और विषयों के सम्बन्ध आप ही आप छूट जाते हैं, दसों इन्द्रियाँ मन-रूपी माता के पेट में समा जाती हैं, ऊर्ध्ववायु और अधोवायु का मार्ग बन्द कर प्राण नवों वायुओं की गठरी बाँध सुषुम्ना में कूद पड़ता है, और मन सङ्कल्प-

सम्बन्ध—अब राजसी धृति का स्वरूप भगवान् वर्णन करते हैं—

यया तु धर्मकामार्थान्धृत्या धारयतेऽर्जुन ।
प्रसङ्गेन फलाकांक्षी धृतिः सा पार्थ राजसी ॥ ३४ ॥

यया, तु, धर्म-काम-अर्थान्, धृत्या, धारयते, अर्जुन	और जिस धृति से हे अर्जुन ! (मनुष्य) धर्म, काम और अर्थों को धारण करता है	प्रसङ्गेन, फल-आकांक्षी	प्रसङ्गानुसार फल की इच्छावाला
		धृतिः, सा, पार्थ, राजसी	हे अर्जुन ! वह धृति राजसी है

अन्वयार्थ—हे अर्जुन ! प्रसङ्गानुसार फल की इच्छावाला पुरुष जिस धृति से धर्म, अर्थ और काम को धारण करता है, वह धृति, हे पार्थ ! राजसी है ॥ ३४ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! धर्मादि के प्रसङ्ग से अनेक प्रकार के फलों की इच्छा करनेवाला पुरुष, अर्थात् अमुक-अमुक धर्म से यह-यह फल मिलता है, इत्यादि श्रवण से फलाकांक्षी पुरुष, अथवा कर्तृत्वादि के लगाव से फल की आकांक्षावाला पुरुष जिस धृति से धर्म, अर्थ और काम को धारण करता, अर्थात् प्राप्त करता वा सिद्ध करता है, वह धृति वा धारणा राजसी है ॥ ३४ ॥ *

विकल्प-रूपी आवरण छोड़कर बुद्धि के पीछे चुपचाप जा बैठता है, इस प्रकार जो धैर्यराज मन, प्राण और इन्द्रियों से उनके व्यापारों का समारम्भ छुड़वा देता है, और फिर उन सबों को अकेले रख योग की युक्ति से ध्यान के हृदय-कमल में बन्द कर देता है, और जब तक वे परमात्मा-रूपी चक्रवर्ती को उसके हाथ विना रिशवत लिए न सौंप दें तब तक जो धैर्य उन्हें पकड़े रहता है, वह धैर्य, श्रीलक्ष्मीकान्त अर्जुन से कहते हैं, केवल सात्त्विक धैर्य कहलाता है।"

* इस श्लोक पर श्रीज्ञानदेवजी की विचित्र व्याख्या ऐसे है—

"जो निज को शरीर समझकर धर्म, अर्थ और काम-रूपी तीन उपाय,

सम्बन्ध—अब तामसी धृति के स्वरूप को भगवान् वर्णन करते हैं—

यया स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदमेव च ।
न विमुञ्चति दुर्मेधा धृतिः सा पार्थ तामसी ॥ ३५ ॥

यया, स्वप्नं, भयं, शोकं, विषादं, मदं, एवं, च	जिससे स्वप्न, भय, शोक, विषाद और ऐसे ही मद	न, विमुञ्चति, दुर्मेधा	दुर्बुद्धि नहीं छोड़ता है
		धृतिः, सा, पार्थ, तामसी	वह धृति, हे पार्थ ! तामसी है

अन्वयार्थ—जिस धृति से दुर्बुद्धि पुरुष स्वप्न, भय, शोक, विषाद और मद को नहीं त्यागता है, वह धृति, हे अर्जुन ! तामसी है ॥ ३५ ॥

व्याख्या—हे पृथा-पुत्र अर्जुन ! जिस धृति वा धारणा से दुष्ट बुद्धिवाला पुरुष स्वप्न (निद्रा), भय (डर वा प्रतिकूल वस्तु का दर्शनजन्य भास), शोक (इष्ट वस्तु का वियोगजन्य सन्ताप), विषाद (इन्द्रियों की व्याकुलता, वैमनस्य, निराशता वा पछतावा), और मद (गर्व, अहङ्कार वा विषय-सेवन अर्थात् विषय-भोग में उन्मत्तता), इन सबको नहीं छोड़ता है ; अर्थात् जिस विपरीत निश्चय करनेवाली अन्तःकरण की वृत्ति-रूप धारणा से दुर्बुद्धि (अविवेकी) पुरुष निद्रादि को कर्तव्यता-रूप करके धारण किये रहता है, वह धृति तामसी अर्थात् तमोगुणी है ॥ ३५ ॥

से स्वर्ग और संसार दोनों घर रहता और पेट भरता है, वह मनुष्य मनोरथ-रूपी समुद्र में धर्म, अर्थ और काम-रूपी जहाज़ों के द्वारा जिस बल से युक्त हो व्यापार करता है, जिस धृति के बल से ऐसा साहस करता है कि जिस कर्म की पूँजी लगावे उसके चौगुने का लाभ उठाता है उसे, हे पार्थ ! राजस धृति कहते हैं । अब तीसरी जो तामस है, सो सुनो ।"

सम्बन्ध—कर्म तथा कर्ता आदि कारकों के तीन-तीन भेद कहकर अब भगवान् उन कर्मों के फल-रूप सुख के तीन भेद निरूपण करते हैं—

सुखं त्विदानीं त्रिविधं शृणु मे भरतर्षभ ।
अभ्यासाद्रमते यत्र दुःखान्तं च निगच्छति ॥३६॥

सुखं, तु, इदानीं, त्रि-विधं, शृणु, मे भरत-ऋषभ	और हे भरतों में श्रेष्ठ (अर्जुन)! अब तू मेरे से तीन प्रकार का सुख सुन	अभ्यासात्, रमते, यत्र	जिसमें अभ्यास से रमण करता है
		दुःख-अन्तं, च, निगच्छति	और दुःखके अन्त को प्राप्त होता है

अन्वयार्थ—हे अर्जुन ! अब तीन प्रकार का सुख तू मुझसे सुन जिसमें अभ्यास से मनुष्य रमता है और दुःख के अन्त को प्राप्त होता है ॥ ३६ ॥

व्याख्या—हे भरतों में श्रेष्ठ अर्जुन ! यहाँ तक तो तूने कर्म और कर्तादि कारकों के तीन भेद सुने, अब जो इन कर्मों का परिणाम-रूप सुख है, जिसमें अभ्यास से, अर्थात् निरन्तर परिचय से अथवा मन-सहित इन्द्रियों के निरोध से, मनुष्य रमण करता हुआ (आनन्द मनाता हुआ) दुःखों के अन्त को प्राप्त हो जाता है, उस सुख के अब सात्त्विकादि तीन भेद मुझसे तू ध्यान देकर सुन ॥ ३६ ॥ ❀

❀ इस श्लोक पर श्रीज्ञानदेवजी की विचित्र व्याख्या ऐसे है—

"श्रीकृष्ण कहते हैं, हे प्राज्ञ ! त्रिविध सुख के लक्षण कहने की जो हमने प्रतिज्ञा की थी, सो सुनो । हे किरीटी ! सुख का रूप हम वह समझते हैं कि जो जीव को आत्मा की भेंट होने पर प्राप्त हो । जैसे दिव्य ओषधि मात्रा-मात्रा

सम्बन्ध—सब से पहले भगवान् सात्त्विक सुख का स्वरूप निरूपण करते हैं—

यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम् ।
तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम् ॥ ३७॥

यत्, तत्, अग्रे, विषं, इव	वह जो पहले विष के समान हो	तत्, सुखं, सात्त्विकं, प्रोक्तं	वह सुख, सात्त्विक कहा गया है
परिणामे, अमृत-उपमं	परिणाम में अमृत के तुल्य	आत्म-बुद्धि-प्रसाद-जम्	आत्म-बुद्धि के प्रसाद से उत्पन्न होता है

अन्वयार्थ—वह जो पहले तो विष के समान और परिणाम में अमृत-तुल्य होता है और जो आत्म-बुद्धि के प्रसाद से उत्पन्न होता है, वह सुख सात्त्विक कहा गया है ॥ ३७ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! जो सुख आरम्भ में तो विष के समान हो अर्थात् जिस सुख का आरम्भ दुःखद होता है, जिसमें शम, दम, यम, नियम आदि साधनों का समुदाय इकट्ठा करना पड़ता है, जिससे ऐसा वैराग्य उठता है कि जो सब विषय-प्रीति दूर करता और स्वर्ग तथा संसार-रूपी प्रतिबन्ध निकाल फेंकता है, जिसमें विवेक का श्रवण और

के प्रमाण से ली जाती है, अथवा राँगे की चाँदी, कीमिया की कृति से, पुटों पर पुट देकर बनाई जाती है, अथवा लवण का पानी करने के लिये जैसे उसे दो-चार बार जल से धोना पड़ता है, वैसे ही थोड़ा-सा सुख हो तो बार-बार वही अभ्यास करने से जहाँ जीव-दशा के दुःख का नाश हो जाता है, वही आत्म-सुख है। वह त्रिगुणात्मक है। अब हम उसके एक-एक रूप का वर्णन करते हैं।"

तीव्र तथा कठोर व्रतों का आचरण करते-करते बुद्धि इत्यादि के लत्ते उड़ जाते हैं, अर्थात् ज्ञान-वैराग्य द्वारा ध्यान-समाधि के आरम्भ-काल में जो अत्यन्त आयास करके सिद्ध होता है, इस प्रकार जिसके आरम्भ में इतने भारी क्लेश हैं, पर परिणाम में, अर्थात् ज्ञान-वैराग्य की परिपाक दशा में वही अमृत के तुल्य हो जाता वा अमृत-समान अनुभव होता है। और जो सुख आत्म-बुद्धि के प्रसाद से उत्पन्न होता है, अर्थात् जो सुख विषय-भोगों से नहीं किन्तु आत्मविषयक बुद्धि की निर्मलता वा स्वच्छता के प्रताप से प्रकट होता है, अथवा जो सुख जैसे, सागर में गङ्गा वैसे आत्मा में बुद्धि के मिलने वा लीन होने से, आप ही आप, अद्वयानन्द की खानि-रूप प्रकट होता है। ऐसे प्रकार का आध्यात्मिक सुख विद्वान् पुरुषों से सात्त्विक कहा गया है ॥ ३७ ॥ *

---

* श्रीतिलक महाराज इस पर अपनी ऐसे टिप्पणी देते हैं—"३७वें श्लोक में आत्मबुद्धि का अर्थ हमने 'आत्मनिष्ठ बुद्धि' किया है, परन्तु 'आत्म' का अर्थ 'अपना' करके उसी पद का अर्थ 'अपनी बुद्धि' भी हो सकेगा। क्योंकि पहले (६.२१ में) कहा गया है कि अत्यन्त सुख केवल 'बुद्धि से ही ग्राह्य' और 'अतीन्द्रिय' होता है। परन्तु अर्थ कोई भी क्यों न किया जाय, तात्पर्य एक ही है। कहा तो है कि सच्चा और नित्य सुख इन्द्रियोपभोग में नहीं है, किन्तु वह केवल बुद्धि-ग्राह्य है ; परन्तु जब विचार करते हैं कि बुद्धि को सच्चा और अत्यन्त सुख प्राप्त होने के लिये क्या करना पड़ता है तब गीता के छठे अध्याय (६.२१, २२) से प्रकट होता है कि यह परमावधि का सुख आत्मनिष्ठ बुद्धि हुए विना प्राप्त नहीं होता। 'बुद्धि' एक ऐसी इन्द्रिय है कि वह एक ओर से तो त्रिगुणात्मक प्रकृति के विस्तार की ओर देखती है और दूसरी ओर से उसको आत्मस्वरूपी परब्रह्म का भी बोध हो सकता है कि जो इस प्रकृति के विस्तार के मूल में अर्थात् प्राणिमात्र में समानता से व्याप्त है। तात्पर्य यह है कि इन्द्रिय-निग्रह के द्वारा बुद्धि को त्रिगुणात्मक प्रकृति

सम्बन्ध—अब भगवान् राजस सुख का स्वरूप वर्णन करते हैं—

विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम् ।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम् ॥ ३८ ॥

विषय-इन्द्रिय-संयोगात्	विषयों और इन्द्रियों के सम्बन्ध से	परिणामे, विषं, इव	परिणाम में विष के समान है
यत्, तत्, अग्रे, अमृत-उपमं	वह जो पहले अमृत के तुल्य है	तत्, सुखं, राजसं, स्मृतं	वह सुख राजस कहा जाता है

अन्वयार्थ—वह सुख जो इन्द्रियों और (उनके) विषयों के सम्बन्ध से पहले अमृत के तुल्य और परिणाम में विष के समान होता है, वह राजस कहलाता है ॥ ३८ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! जो सुख उक्त आत्म-विषयक बुद्धि के प्रसाद से नहीं, अर्थात् उक्त ज्ञान-वैराग्य की परिपाक दशा अथवा ध्यान-समाधि के प्रताप से नहीं, बल्कि इन्द्रियों और उनके विषयों के सम्बन्ध से प्रकट होता है, और जो इसी कारण से आरम्भ में तो अमृत के तुल्य होता है और परिणाम में, अर्थात् भोगने के अन्त में बल, वीर्य-रूप प्रज्ञा, धन, उत्साह की हानि का हेतु होने से विष के समान दुःख-रूप अनुभव होता है। ऐसा सुख राजस अर्थात् रजोगुणी कहलाता है ॥ ३८ ॥

सम्बन्ध—अब भगवान् तामस सुख का स्वरूप वर्णन करते हैं—

के विस्तार से हटाकर जहाँ अन्तर्मुख और आत्मनिष्ठ किया—और पातञ्जल योग के द्वारा साधनीय विषय यही है—तहाँ वह बुद्धि प्रसन्न हो जाती है और मनुष्य को सत्य एवं अत्यन्त सुख का अनुभव होने लगता है।”

यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः ।
निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम् ॥ ३९ ॥

यत्, अग्रे, च, अनुबन्धे, च, सुखं, मोहनं, आत्मनः	और जो सुख आरम्भ में तथा अनुबन्ध में आत्मा का मोहनेवाला	निद्रा, आलस्य, प्रमाद-उत्थं	निद्रा, आलस्य, प्रमाद से उत्पन्न
		तत्, तामसं, उदाहृतं	वह तामस कहा गया है

अन्वयार्थ—और जो सुख आरम्भ तथा परिणाम में आत्मा का मोहनेवाला, और निद्रा, आलस्य तथा प्रमाद से उत्पन्न हुआ होता है, वह तामस कहा गया है ॥ ३९ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! जो सुख आदि में और अन्त में, अर्थात् आरम्भ और फल दोनों में आत्मा को मोहनेवाला होता है, अर्थात् भोक्ता के मन और बुद्धि को धोखे और भूल में डाले रखता है, और जो सुख सात्त्विक सुख के समान आत्मविषयक बुद्धि के प्रसाद से जन्य नहीं और न राजस सुख के समान विषय-इन्द्रियों के संयोग से ही जन्य है, बल्कि जो निद्रा, आलस्य और प्रमाद से उत्पन्न हुआ होता है, ऐसा सुख तामस अर्थात् तमोगुणी कहलाता है ॥ ३९ ॥

सम्बन्ध—(१) अब शेष सब पदार्थों को भी तीनों गुणोंवाला कथन करके भगवान् इस प्रकरण का उपसंहार करते हैं—

अथवा (२) न कहे विषय का संग्रह करते हुए भगवान् अब इस प्रकरण का उपसंहार करते हैं—

न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः ।
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात् त्रिभिर्गुणैः॥ ४० ॥

न, तत्, अस्ति, पृथिव्यां, वा, दिवि, देवेषु, वा, पुनः	पृथिवी या द्यौ या फिर देवताओं में सो वस्तु नहीं है	सत्त्वं, प्रकृतिजैः, मुक्तं, यत्, एभिः, स्यात्, त्रिभिः, गुणैः	जो पदार्थ प्रकृति से उत्पन्न इन तीन गुणों से मुक्त हो

अन्वयार्थ—पृथिवी या द्यौ या देवताओं में ऐसा पदार्थ कोई नहीं है, जो प्रकृति से उत्पन्न हुए इन तीनों गुणों से छूटा हुआ हो ॥ ४० ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! पृथिवी में अर्थात् मनुष्यलोक में ; या द्यौ में अर्थात् आकाश, परलोक वा स्वर्ग अथवा देवलोक में ; या देवताओं में, जो द्यौ में रहते हैं, ऐसा कोई पदार्थ विद्यमान नहीं है, जो सत्त्व, रज, तम इन तीन गुणों की साम्य अवस्था-रूप प्रकृति, अथवा माया-रूप प्रकृति के तीन गुणों से रहित हो, या उनसे उत्पन्न न हुआ हो ; अर्थात् सारे लोक अपने-अपने पदार्थों-सहित त्रिगुणात्मक हैं। तात्पर्य यह है कि शुद्ध सच्चिदानन्द-स्वरूप नित्य मुक्त आत्मा, स्थूल सूक्ष्म कारण शरीरों से पृथक्, तीनों अवस्थाओं का साक्षी, अकर्ता और अभोक्ता तथा गुणातीत है, इससे इतर समस्त पदार्थ चाहे इस लोक के और चाहे परलोक के जो-जो देखने वा सुनने में आते हैं, वे सब माया-मात्र हैं या प्रकृति-रूप हैं, जिससे उसके गुणों से ही उत्पन्न हुए-हुए हैं ॥ ४० ॥ ❀

❀ व्याख्याकारों की भिन्न-भिन्न टीका इस श्लोक पर ऐसी है—"इसलिये स्वर्ग में वा मृत्युलोक में ऐसी वस्तु ही नहीं है जो सत्त्व इत्यादि, जो प्रकृति का आभास है, उससे सम्बद्ध न हो। ऊन के विना कम्बल कैसे रह सकता है ? मिट्टी के विना ढेला कैसे रह सकता है ? अथवा जल के विना तरङ्ग कैसे हो सकता है ? वैसे ही गुण के न होते सृष्टि का व्यापार करे, ऐसा कोई प्राणी ही नहीं है। अतः यह सम्पूर्ण सृष्टि केवल तीनों गुणों की बनी हुई है जानो। गुणों ने ही ब्रह्मा, विष्णु, महेश ऐसी देवों की त्रयी की है। गुणों

सम्बन्ध—(१) जब कर्ता, कर्म और फलादि सब पदार्थ सर्वत्र त्रिगुणात्मक हैं, तो इन तीनों गुणों के बन्धन से सिद्धि वा मुक्ति कैसे होती है ? इस गुह्य रहस्य को जो सब गीता के अर्थ का सार है, उसको भगवान् अब नए प्रकरण से संग्रह करके वर्णन करने लगे हैं। पहले प्राणियों के गुण कर्म स्वभाव अपने-अपने वर्णानुसार, कि जिनके पालन से उनको सिद्धि प्राप्त होती है, क्रम से निरूपण करते हैं—

अथवा (२) अब भगवान् इस बात को (नए प्रकरण द्वारा) वर्णन करने लगे हैं कि मनुष्यों में चार वर्णों का भेद भी इन सत्त्वादि गुणों से ही होता है—

से ही स्वर्ग, मृत्यु और पाताल ऐसी लोकों की त्रिपुटी हुई है, और गुणों से ही चारों वर्णों के जुदे-जुदे कर्म नियत हुए हैं।" (श्रीज्ञानदेव)

"अठारहवें श्लोक से यहाँ तक ज्ञान, कर्म, कर्ता, बुद्धि, धृति और सुख के भेद बतलाकर अर्जुन की आँखों के सामने इस बात का एक चित्र रख दिया है कि सम्पूर्ण जगत् में प्रकृति के गुण-भेद से विचित्रता कैसे उत्पन्न होती है; तथा फिर यह प्रतिपादन किया है कि इन सब भेदों में सात्त्विक भेद श्रेष्ठ और ग्राह्य है। इन सात्त्विक भेदों में भी जो सबसे श्रेष्ठ स्थिति है, उसी को गीता में त्रिगुणातीत अवस्था कहा है। गीतारहस्य के सातवें प्रकरण (पृ० १६७. १६८) में हम कह चुके हैं कि त्रिगुणातीत अथवा निर्गुण अवस्था गीता के अनुसार कोई स्वतन्त्र या चौथा भेद नहीं है। इसी न्याय के अनुसार मनुस्मृति में भी सात्त्विक गति के ही उत्तम, मध्यम और कनिष्ठ तीन भेद करके कहा गया है कि उत्तम सात्त्विक गति मोक्षप्रद है और मध्यम सात्त्विक गति स्वर्गप्रद है (मनु० १२. ४८—५० और ८९—९१ देखो)। जगत् में जो प्रकृति है, उसकी विचित्रता का यहाँ तक वर्णन किया गया। अब इस गुण-विभाग से ही चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था की उत्पत्ति का निरूपण किया जाता है। यह बात पहले कई बार कही जा चुकी है कि स्वधर्मानुसार प्रत्येक मनुष्य को अपना

अथवा (३) अब भगवान् इस गुण-विभाग से ही चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था की उत्पत्ति का निरूपण करते हैं—

अथवा (४) "सत्त्व, रज, तम यह तीन गुणात्मक क्रियाकारक फलस्वरूप सब ही संसार मिथ्या ज्ञान से कल्पित अनर्थ-रूप है" यह जो चौदहवें अध्याय में वर्णन हो चुका था, उसका भगवान् ने यहाँ तक उपसंहार किया। अब पन्द्रहवें अध्याय में संसार को अश्वत्थ निरूपण करके उसे दृढ़ असङ्ग शस्त्र से काटकर, परमपद की प्राप्ति करने के लिये जो कहा गया है, उस असङ्ग शस्त्र की प्राप्ति यद्यपि अति दुर्घट है, तथापि अपने-अपने धर्मानुसार वर्तने से इस असङ्ग शस्त्र की प्राप्ति प्राणी को हो जाती है। ऐसा गीता का जो सार-रूप अर्थ है उसके कहने के लिये भगवान् अब चातुर्वर्ण्य का प्रकरण उन वर्णों के गुण कर्म स्वभाव दर्शाते हुए निरूपण करने लगे हैं—

अथवा (५) अब भगवान् त्रिगुणानुसार वर्ण-धर्म का विवेचन करते हैं—

'नियत' अर्थात् नियुक्त किया हुआ कर्म फलाशा छोड़कर, परन्तु धृति, उत्साह और सारासार-विचार के साथ करते जाना ही संसार में उसका कर्तव्य है। परन्तु जिस बात से कर्म 'नियत' होता है, उसका बीज अब तक कहीं भी नहीं बतलाया गया। पीछे एक बार चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था का कुछ थोड़ा-सा उल्लेख कर (४.१३) कहा गया है कि कर्तव्य-अकर्तव्य का निर्णय शास्त्र के अनुसार करना चाहिए (गीता १६. २४)। परन्तु जगत् के व्यवहार को किसी नियमानुसार जारी रखने के हेतु जिस गुण-कर्म-विभाग के तत्त्व पर चातुर्वर्ण्य-रूपी शास्त्र-व्यवस्था निर्मित की गई है, उसका पूर्ण स्पष्टीकरण उस स्थान में नहीं किया गया। अतएव जिस संस्था से समाज में हरएक मनुष्य का कर्तव्य नियत होता है, अर्थात् स्थिर किया जाता है, उस चातुर्वर्ण्य की गुणत्रय-विभाग के अनुसार उपपत्ति के साथ ही साथ अब प्रत्येक वर्ण के नियत किये हुए कर्तव्य भी कहे जाते हैं।" (श्रीतिलक महाराज)

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परन्तप ।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः ॥ ४१ ॥

ब्राह्मण-क्षत्रिय-विशां, शूद्राणां, च, परन्तप	हे अर्जुन ! ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों को	कर्माणि, प्रविभक्तानि, स्वभाव, प्रभवैः, गुणैः	स्वभाव से उत्पन्न हुए गुणों से कर्म अलग-अलग बटे हुए हैं

अन्वयार्थ—हे अर्जुन ! ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों के कर्म (अपने-अपने) स्वभाव से उत्पन्न हुए गुणों से पृथक्-पृथक् बटे हुए हैं ॥ ४१ ॥

व्याख्या—हे शत्रुओं को तपानेवाले अर्जुन ! जिस-जिस स्वभाव* या प्रकृति के गुणों के साथ ये ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र उत्पन्न हुए-हुए हैं, अर्थात् इस त्रिगुणात्मिका प्रकृति के जिस-जिस गुण की अधिकता को लिए ये (ब्राह्मण-क्षत्रिय आदि वर्ण) उत्पन्न होते हैं, उस स्वभावजन्य गुणानुसार उनके कर्म भी पृथक्-पृथक् विभक्त हैं। उसके विस्तार को तू अब मुझसे सुन ॥ ४१ ॥†

---

* 'स्वभाव'=इस शब्द से अभिप्राय ईश्वर की त्रिगुणात्मिका प्रकृति वा माया है, जिसके गुण-भेद से भिन्न-भिन्न वर्ण और तदनुसार पृथक्-पृथक् कर्म उत्पन्न हुए माने जाते हैं। इसका भेद निम्न नक़्शे से विदित है—

ब्राह्मण			क्षत्रिय			वैश्य			शूद्र		
सत्त्व ३	रज २	तम १	रज ३	सत्त्व २	तम १	रज ३	तम २	सत्त्व १	तम ३	रज २	सत्त्व १

† इस श्लोक में 'ब्राह्मणक्षत्रियविशाम्' इन तीनों पदों का जो समास है यह ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य इन तीनों वर्णों में द्विजपने को प्रतिपादन करने के

सम्बन्ध—स्वाभाविक गुणानुसार जो ब्राह्मण के कर्म हैं, उन्हें भगवान् अब निरूपण करते हैं—

लिये है। और शूद्राणां, इस वचन से जो उक्त तीन वर्णों से शूद्रों का पृथक्पना वर्णन किया है, सो इन शूद्रों में एक जातिपन प्रतिपादन करने के लिये है। यह बात वसिष्ठ मुनिजी ने भी कही है—"चत्वारो वर्णा ब्राह्मण-क्षत्रियवैश्यशूद्रास्तेषां त्रयो वर्णा द्विजातयो ब्राह्मक्षत्रियवैश्यास्तेषां—मातुरग्रे हि जननं द्वितीयं मौंजिबन्धने, अत्रास्य माता सावित्री पिता त्वाचार्य उच्यते इति।"=ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र ये चार वर्ण हैं। इनमें से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य ये तीन वर्ण द्विजाति हैं। (दो माता-पिता से जिसका जन्म हो वह द्विज वा द्विजाति कहलाता है)। इन ब्राह्मणादि तीन वर्णों का प्रथम जन्म तो लोकप्रसिद्ध पिता-माता से होता है और दूसरा जन्म मौंजिबन्धन कर्म द्वारा होता है। और इस द्वितीय जन्म में इन ब्राह्मणादिक तीन वर्णों की सावित्री माता है और उपदेशकर्ता आचार्य पिता है। इस प्रकार उत्पत्ति के स्थानविशेष से भी इन चार वर्णों का श्रुति द्वारा विभाग ही सिद्ध होता है—श्रुति—"ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः। ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत इति।"=इस परमेश्वर के मुखस्थान से ब्राह्मण उत्पन्न हुए, बाहुस्थान से क्षत्रिय उत्पन्न हुए, ऊरु स्थान से वैश्य और दोनों पाँव से शूद्र उत्पन्न हुए। इस प्रकार वर्णों का विभाग अन्य श्रुति में भी वर्णन हुआ है—श्रुति—"गायत्र्या ब्राह्मणमसृजत। त्रिष्टुभा राजन्यम्। जगत्या वैश्यं, न केनचिच्छन्दसा शूद्रमिति।"=परमेश्वर ने गायत्री छन्द द्वारा ब्राह्मणों को उत्पन्न किया, त्रिष्टुभ् छन्द द्वारा क्षत्रिय को उत्पन्न किया, और जगती छन्द द्वारा वैश्य को उत्पन्न किया। और शूद्र को किसी भी छन्द से उत्पन्न नहीं किया, अर्थात् शूद्रों को विना छन्द के उत्पन्न किया। इस प्रकार श्रुति-स्मृति में चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था प्रतिपादन हुई है। इससे स्पष्ट होता है कि यह चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था स्वभावजन्य गुण-भेद से निर्मित केवल गीता

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च ।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ॥४२॥

शमः, दमः, तपः, शौचं	शम, दम, तप, पवित्रता	ज्ञानं, विज्ञानं, आस्तिक्यं	ज्ञान, विज्ञान, आस्तिकता
क्षान्तिः, आर्जवं, एव, च	क्षमा और ऐसे ही सरलता	ब्रह्म-कर्म, स्वभाव-जम्	ब्राह्मण के स्वभाव-जन्य कर्म हैं

अन्वयार्थ—शम, दम, तप, पवित्रता, क्षमा, सरलता, ज्ञान, विज्ञान और आस्तिक्य, (ये सब) ब्राह्मण के स्वभावजन्य कर्म हैं ॥ ४२ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! शम=अतःकरण का निग्रह, अर्थात् मन, बुद्धि, चित्त, अहङ्कार का निरोध । दम=इन्द्रियों का निग्रह, अर्थात्

में ही पहले-पहल नहीं बतलाई गई है बल्कि श्रुति-स्मृति में भी आ चुकी है, और इसी प्रकार महाभारत के वनपर्व (वन० १८० और २११) के अन्तर्गत नहुष-युधिष्ठिर-संवाद में और द्विज-व्याध-संवाद में आई है। और ऐसे ही शान्तिपर्व (शां० १८८) के अन्तर्गत भृगु-भारद्वाज-संवाद में, अनुशासनपर्व (अनु० १४३) के अन्तर्गत उमा-महेश्वर-संवाद में, और अश्वमेधपर्व (३९. ११) की अनुगीता में गुण-भेद की यही उत्पत्ति कुछ अन्तर से पाई जाती है। जिसका कुछ विवरण (४. १३ के फुट नोट में) विस्तार से दिया जा चुका है। यह पहले कहा जा चुका है कि जगत् के विविध व्यवहार सब-के-सब त्रिगुणात्मिका प्रकृति के सत्त्व रजादि गुण-भेद से ही हो रहे हैं। अब यह सिद्ध किया जा रहा है कि मनुष्य का यह कर्तव्य कर्म, कि किसे क्या करना चाहिए, जिस चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था से नियत किया जाता है वह व्यवस्था भी प्रकृति के गुण-भेद का परिणाम है। अब भगवान् गुण-भेद से वर्णानुसार उनके कर्म का निरूपण करने लगे हैं।

श्रोत्रादि इन्द्रियों का वश में करना। तप=व्रतादि कर्म द्वारा शरीर का संयम करना; अथवा सत्रहवें अध्याय में कहा हुआ जो कायिक वाचिक और मानसिक, तीन प्रकार का तप है। पवित्रता=बाह्य भीतर की अर्थात् शरीर और अन्तःकरण की शुद्धि। क्षमा=सहनशीलता, अर्थात् शक्ति-सम्पन्न होते हुए भी अपने को मारने या गाली देनेवाले पर कोपित न होना। सरलता=कुटिलता-रहितपना अर्थात् सादापन, अथवा चित्त की कोमलता, वा दयाभाव का होना। ज्ञान=सब शास्त्र के अर्थ का यथार्थ जानना। विज्ञान=आत्मस्वरूप का साक्षात्कार अर्थात् आत्मानुभव। आस्तिकता=ईश्वर पर विश्वास अर्थात् पूर्व कही हुई सात्त्विकी श्रद्धा। इस प्रकार सत्त्वगुण-प्रधान-रूप ब्राह्मण के स्वभाव-कृत यह नव धर्म ब्रह्म-कर्म कहे जाते हैं। अर्थात् जिस प्राणी के ये नव कर्म स्वाभाविक* होते हैं, वह ब्राह्मण ही होता है, ऐसा समझना चाहिए। यद्यपि ये शम दम आदि क्षत्रिय आदि में भी होते हैं, पर उनमें ये स्वभावजन्य नहीं किन्तु यत्न-साध्य होते हैं, जो किसी-किसी अवसर पर प्रकट होते हैं। इसलिए उनमें ये निरन्तर नहीं पाये जाते, यह परस्पर भेद है॥ ४२॥†

---

* स्वभावजन्य गुणों द्वारा विभाग पूर्व बतलाया था, यहाँ भी तदनुसार स्वभावजन्य कहा है; अर्थात् सूर्य जैसा निज-प्रकाश को अलग न करते हुए प्रकाश से अलंकृत रहता है, अथवा चम्पे का वृक्ष जैसे चम्पे के फूल से सुशोभित रहता है, अथवा चन्द्रमा अपनी चाँदनी से जैसे प्रकाशित रहता है, अथवा जैसे चन्दन अपनी ही सुगन्ध से चर्चित रहता है, वैसे ही यह नव गुणों से जड़ा हुआ हार ब्राह्मण का निर्दोष अलङ्कार है, वह ब्राह्मण के शरीर से कभी जुदा नहीं होता, जिससे ये नव धर्म ब्राह्मण के स्वाभाविक हैं।

† और महाभारत के आरण्यक पर्व में भी सर्प भाव को प्राप्त हुए नहुषराजा के प्रति राजा युधिष्ठिर ने यह वचन कहा है—"सत्यं दानं क्षमा

सम्बन्ध—अब भगवान् क्षत्रिय के स्वाभाविक गुणानुसार कर्म कहते हैं—

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम् ।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम् ॥४३॥

शौर्यं[1], तेजः[2], धृतिः, दाक्ष्यं	शूरता, तेज[2], धैर्य[3], दक्षता	दानं, ईश्वर-भावः, च[2]	दान और[2] हुकूमत करने का भाव
युद्धे, च, अपि, अपलायनं	और[2] युद्ध में भी[3] पीठ न देना	क्षात्रं, कर्म, स्वभाव-जम्	क्षत्रिय के स्वभाव जन्य कर्म हैं

अन्वयार्थ—शूरता, तेज, धैर्य, दक्षता, युद्ध में पीठ न देना, दान और हुकूमत करने का भाव, (ये सब) क्षत्रिय के स्वभावजन्य कर्म हैं ॥ ४३ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! शूरता=सूरमापन, अर्थात् अत्यन्त बलवान् को भी प्रहार करने में प्रवृत्ति-रूप विक्रम (बहादुरी)। तेज=स्वभाव से तेजस्वी, अर्थात् किसी से न दबना। [3]धैर्य=भारी विपत्ति आ पड़ने पर भी चित्त का व्याकुल न होना। दक्षता=चतुरता, निपुणता अर्थात् शीघ्र

शीलमानृशंस्यं तपो घृणा। दृश्यन्ते यत्र नागेन्द्र स ब्राह्मण इति स्मृतः ॥ यत्रै तल्लक्ष्यते सर्प वृत्तं स ब्राह्मणः स्मृतः । यत्रैतन्न भवेत्सर्प तं शूद्रमिति निर्दिशेत्॥"=हे नागेन्द्र ! सत्य, दान, क्षमा, शील, क्रूरभाव से रहित-पना, तप, दया ये सब धर्म जिस पुरुष में देखे जायँ, वह पुरुष ब्राह्मण ही जानना कहा गया है। हे सर्प ! ये सत्यादि धर्म जिस पुरुष में विद्यमान हों वह ब्राह्मण कहलाता है और जिस पुरुष में ये विद्यमान नहीं होते, उसे शूद्र ही जानना कहा गया है। इससे यह सिद्ध हुआ कि इस श्लोक में जो शमदमादि धर्म कहे हैं, वे दैवीसम्पत्ति-रूप हैं और वह शमदमादि दैवीसम्पद ब्राह्मण को स्वभावसिद्ध है।

वा अकस्मात् उत्पन्न हुए कार्यों में भी व्यामोह से रहित होकर प्रवृत्ति-रूप फुरती वा कुशलता। अपलायन=युद्ध में महान् शस्त्रों के प्रहार होने पर भी पीठ न देना अर्थात् युद्ध से पीछे न हटना। दान=सङ्कोच से रहित होकर सुवर्ण, गो, भूमि आदि धन में अपना ममत्व छोड़कर सुपात्र को दान देना अर्थात् उदारता का भाव। ईश्वर-भाव=दूसरों पर हुकूमत करने का स्वभाव, अर्थात् प्रजाओं के प्रति अपनी प्रभुता का प्रकट करना। ये सात कर्म क्षत्रिय के स्वाभाविक गुणों से उत्पन्न होने के कारण स्वाभाविक हैं॥ ४३॥

सम्बन्ध—अब वैश्य, शूद्र, दोनों के स्वाभाविक गुणानुसार कर्म भगवान् कहते हैं—

कृषिगोरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम्।
परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम्॥४४॥

कृषि-गो-रक्ष-वाणिज्यं	खेती, गो-रक्षा, व्यापार	परिचर्या-आत्मकं, कर्म	सेवा-रूप कर्म
वैश्य-कर्म, स्वभाव-जं	वैश्य के स्वभाव-जन्य कर्म हैं	शूद्रस्य, अपि, स्वभाव-जं	शूद्र का भी स्व-भाव-जन्य है

अन्वयार्थ—खेती, गो-रक्षा, व्यापार, ये वैश्य के स्वभावजन्य कर्म हैं। सेवा-रूप कर्म शूद्र का ही स्वभावजन्य है॥ ४४॥

व्याख्या— हे अर्जुन! कृषि=खेती करना। गोरक्षा=गौओं की रक्षा करना और वाणिज्य=व्यापार करना, ये तीन कर्म वैश्य के स्वाभाविक गुणों से प्रकट होते हैं। और सेवा-रूप कर्म अर्थात् पराई सेवा करना वा तीनों वर्णों की सेवा-टहल करना ही शूद्र का स्वाभाविक कर्म है॥ ४४॥

सम्बन्ध—(१) अपने-अपने स्वभावजन्य कर्म को पूरा करते रहने से जो फल मिलता है, उसे भगवान् अब कहते हैं—

अथवा (२) वर्णों के स्वभावजन्य कर्मों को बताकर अब भगवान् तदनुसार कर्तव्यपालन का उपदेश करते हैं—

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः ।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु ॥४५॥

स्वे, स्वे, कर्मणि, अभिरतः	अपने-अपने कर्म में लगा हुआ	स्वे-कर्म, निरतः, सिद्धिं, यथा, विन्दति, तत्, शृणु	अपने कर्म में लगा हुआ जैसे सिद्धि को पाता है, वह तू सुन
संसिद्धिं, लभते, नरः	मनुष्य संसिद्धि को प्राप्त होता है		

अन्वयार्थ—अपने-अपने कर्म में लगा हुआ मनुष्य सिद्धि को पाता है। और अपने कर्म में लगा हुआ मनुष्य जैसे सिद्धि को पाता है, वह तू (मुझसे) सुन ॥ ४५ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! अपने-अपने स्वभावजन्य कर्म में लगा हुआ अर्थात् (स्वाभाविक कर्म के अनुष्ठान-परायण होकर) मनुष्य संसिद्धि को पाता है, अर्थात् अपने-अपने कर्म में लगे रहने से पुरुष अन्तःकरण की शुद्धि पाकर तदनन्तर ज्ञाननिष्ठा की योग्यता-रूप सिद्धि को प्राप्त होता है। और अपने स्वाभाविक कर्म में तत्पर पुरुष जिस प्रकार से उस सिद्धि को पाता है, उसे तू ध्यान देकर अब मुझसे सुन ॥ ४५ ॥

सम्बन्ध—अब भगवान् अपने कथनानुसार उस प्रकार को कहते हैं—

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥४६॥

यतः, प्रवृत्तिः, भूतानां	जिससे भूतों की प्रवृत्ति है	स्वकर्मणा, तं, अभ्यर्च्य	अपने कर्म से उसको पूजकर
येन, सर्वं, इदं, ततं	जिससे यह सब व्याप्त है	सिद्धिं, विन्दति, मानवः	मनुष्य सिद्धि को पाता है

अन्वयार्थ—जिस (परमात्मा) से भूतों की प्रवृत्ति (निकास) हुई है, जिस (परमात्मा) से यह सब (जगत्) व्यात है, उसको अपने कर्म से पूजकर मनुष्य सिद्धि को पाता है ॥ ४६ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! वह प्रकार या रीति यह है कि जिस परमात्मा से आकाशादि सर्व-पदार्थों की प्रवृत्ति अर्थात् निकास वा उत्पत्ति हुई है ; अथवा जिसकी सत्ता से सब भूत (प्राणी) चेष्टा करते हैं ; और जिस सर्वव्यापक ईश्वर से यह सब नाम-रूप जगत् व्याप्त हो रहा है, अर्थात् जो सर्व विश्व में फैला हुआ है, उस सर्वव्यापी अन्तर्यामी का अपने-अपने कर्म द्वारा आराधन करके मनुष्य सिद्धि को पाता है। अर्थात् केवल वाणी अथवा फूलों से नहीं बल्कि अपने-अपने वर्णानुसार स्वाभाविक कर्म के अनुष्ठान से मनुष्य उस परमात्मा को पूजता वा सन्तुष्ट करता है ; अथवा अपने स्वाभाविक कर्मों को निष्काम भाव से परमेश्वरार्पण बुद्धि से करके विराट् स्वरूप परमेश्वर का जब यजन, पूजन वा मनन करता है, तब वह अन्तःकरण की शुद्धि पाता हुआ ज्ञाननिष्ठा की योग्यता-रूप सिद्धि को प्राप्त होता है, और ज्ञाननिष्ठा के प्राप्त होने पर मनुष्य अपने परम स्वरूप में लीन होकर परमपद अर्थात् मोक्ष को प्राप्त होता है ॥ ४६ ॥

सम्बन्ध—(१) अपने उक्त कथन में भगवान् अब हेतु वर्णन करते हैं—

अथवा (२) उक्त गुण-भेदानुसार स्वभावतः प्राप्त कर्म किसी दूसरी दृष्टि से सदोष अथवा अप्रिय भी हो सकता है ; जैसे क्षत्रियधर्म के अनुसार

युद्ध करने में प्राणियों वा बान्धवों की हत्या होने के कारण कभी-कभी अपने को या दूसरों को वह कर्म सदोष दिखाई देता है; तो ऐसे समय पर मनुष्य को क्या करना उचित वा कर्तव्य है? क्या वह स्वधर्म को छोड़कर अन्य धर्म स्वीकार कर लें, या कुछ भी हो, स्वकर्म को ही करता जाय, इत्यादि शङ्का का उत्तर भगवान् अब स्पष्ट करते हैं—

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥४७॥

श्रेयान्, स्वधर्मः, विगुणः, पर-धर्मात्, सु-अनुष्ठितात्	अपना विगुण धर्म दूसरे के ठीक-ठीक अनुष्ठान किये हुए धर्म से अच्छा है	स्वभाव, नियतं, कर्म, कुर्वन्	स्वभाव से नियत कर्म करता हुआ
		न, आप्नोति, किल्बिषं	पाप को नहीं प्राप्त होता है

अन्वयार्थ—अपना विगुण धर्म दूसरे के ठीक-ठीक अनुष्ठान किये हुए धर्म से अच्छा है। (क्योंकि) स्वभावानुसार नियत कर्म करता हुआ पुरुष पाप को प्राप्त नहीं होता ॥ ४७ ॥

व्याख्या* —हे अर्जुन! यदि अपना धर्म गुणरहित भी प्रतीत हो और पराया धर्म अर्थात् दूसरे किसी का धर्म अच्छी रीति से अनुष्ठान

---

* श्रीज्ञानदेवजी इसपर अपनी विचित्र व्याख्या ऐसे करते हैं—

"अजी! अपना धर्म यद्यपि आचरण में कठिन हो तथापि परिणाम में जो फल होनेवाला है, उसकी ओर ध्यान देना चाहिए। हे धनञ्जय! यदि अपने सुख के लिये नीम ही उपयोगी है, तो उसकी कड़वाहट से उकताना नहीं चाहिए। फलने के पूर्व केले के वृक्ष को देखकर निराशा-सी होती है, पर उसी समय उसका त्याग कर देने से उसके मधुर फल कैसे मिलेंगे? उसी प्रकार स्वधर्म को कठिन जानकर दूर कर दिया जाय, तो मनुष्य मोक्ष-सुख से

किया हुआ तथा गुणवान् ही दिखाई दे, तो भी मनुष्य को अपना धर्म वा कर्तव्य कदापि नहीं छोड़ना चाहिए, बल्कि अपना गुणविहीन धर्म भी दूसरे के गुणविहीन धर्म से महा कल्याणकारी समझना चाहिए; क्योंकि अपने-अपने गुणकृत स्वभावजन्य जो धर्म वा कर्म होता है, उसे मनुष्य ठीक रीति से और निष्काम भाव से सुगमतापूर्वक कर सकता है और वही निष्काम भाव से स्वभावानुसार करते रहने से मनुष्य कभी भी पाप को प्राप्त नहीं होता, बल्कि पाप तो दूर रहा, उलटा सिद्धि को प्राप्त होता है। और इसीलिये पूर्व (अध्याय २. ३८ में) भगवान् ने स्पष्ट अर्जुन को "सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ। ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि" इत्यादि वचनों से ऐसा उपदेश किया था। तात्पर्य यह है कि प्रत्येक मनुष्य अपने-अपने स्वभाव के

वञ्चित रहेगा। अपनी माता यद्यपि कुब्जा हो, तथापि जो प्रेम अपना जीवन है, उसका वह प्रेम कुछ टेढ़ा नहीं है? अन्य जो रम्भा से भी सुन्दर स्त्रियाँ हैं, उनसे बालक को क्या मतलब? अजी! जल की अपेक्षा घी में निश्चय ही बहुतेरे गुण हैं, तथापि मछली क्या घी में रह सकती है? सम्पूर्ण जगत् के लिये जो विष है, वही विष कीड़े के लिये अमृत है, और जगत् के लिये जो मधुर है वही वस्तु उस कीड़े के लिये मृत्युकारक होती है। अतएव जिसके लिये जो कर्म विहित है (जिससे कि संसार का धरना छूटे), वह कर्म यद्यपि कठिन हो तथापि उसे उसी का आचरण करना चाहिए। दूसरों के आचार का आश्रय करने से ऐसा हाल होगा जैसे कि पाँवों से चलने की क्रिया शिर से की जाय। इसलिये अपने जाति-स्वभाव के अनुसार जो कर्म प्राप्त हो वही करो। उससे कर्म-बन्धन टूटेगा। और हे पाण्डव! यदि यह नियम न किया जाय कि स्वधर्म का पालन करना चाहिए और परधर्म का त्याग करना चाहिए, तो जब तक आत्मा की प्रतीति नहीं होती, तब तक कर्म करना क्या बन्द हो सकता है? और जहाँ कर्म है, वहाँ उसके आचरण के कष्ट पहले हैं।"

अनुकूल नियत कर्मों को ही अच्छी तरह कर सकता है और उसी में उसको सिद्धि प्राप्त होती है। पर जो दूसरे के अच्छे कर्तव्य से प्रेरित होकर अपने सापेक्षक विगुण कर्तव्य को छोड़ बैठता है, तो वह किसी के भी योग्य नहीं रहता, बल्कि जैसे लोक-उक्ति है कि "काक चला हंस की चाल, और वह अपनी (चाल) भी खो बैठा।" ऐसे वह स्वधर्म को त्यागनेवाला प्यारा न अपने कर्तव्य को करने के योग्य रहता है और न पराये के कर्तव्य को, जिससे दोनों ओर से गिरता अधोगति को ही प्राप्त होता है। इसीलिए अपने क्षात्रधर्मानुसार युद्ध में सम्मुख आए बन्धुओं को मारने की अपेक्षा (जो कि कठिन और दोषयुक्त दिखाई देता था) दूसरों के सरल धर्म अर्थात् ब्राह्मधर्मानुसार सहज भीख माँगने के धर्म को अर्जुन जब श्रेष्ठ समझकर ग्रहण करने को तैयार हुआ, तो भगवान् ने उसे झिड़ककर कहा कि "कायर मत बन, यह तेरे योग्य नहीं। बल्कि सुख-दुःख, लाभ-हानि और जीत-हार को एकसमान समझकर उठ, अपना धर्म पालन कर, अपने धर्मानुसार कर्म करने से तू किञ्चित् भी पाप को प्राप्त न होगा।" इसलिये अपने-अपने धर्मानुसार कर्तव्य करना ही प्रत्येक मनुष्य के लिये श्रेष्ठ और सिद्धि को प्राप्त करानेवाला है ॥ ४७ ॥

सम्बन्ध—(१) अब भगवान् सब धर्मों को दोषयुक्त दर्शाते हुए निज धर्म-पालन की आवश्यकता दर्शाते हैं—

अथवा (२) स्वधर्म हानिकारक नहीं होता, परधर्म ही होता है, अतएव निज धर्म को न त्यागने की आवश्यकता भगवान् पुनः अन्य रूप से दर्शाते हैं—

अथवा (३) यदि स्वधर्म का पालन और परधर्म का त्याग, ऐसा नियम न किया जाय, तो जब तक आत्मानुभव नहीं होता, तब तक क्या

कर्म करना बन्द हो सकता है ? इस पर भगवान् अपनी आज्ञा वा सम्मति प्रकट करते हैं—

अथवा (४) निज धर्म पाप का कारण नहीं और पराया धर्म पाप का कारण होता है, और संसार में कोई ऐसा धर्म ही नहीं जो दोष से रहित हो, अतएव दोष के कारण निज धर्म छोड़ने की अनावश्यकता भगवान् अब दर्शाते हैं—

सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत् ।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः ॥४८॥

सहजं, कर्म, कौन्तेय, सदोषं, अपि, न, त्यजेत्	हे अर्जुन ! स्वाभाविक कर्म दोषवाला भी (मनुष्य) न त्यागे
सर्व-आरम्भाः, हि, दोषेण, धूमेन, अग्निः, इव, आवृताः	क्योंकि सारे कर्म धुएँ से अग्नि के समान दोष से आवृत हैं

अन्वयार्थ—हे अर्जुन ! स्वाभाविक कर्म दोषवाला भी पुरुष न त्यागे, क्योंकि धुएँ से अग्नि के समान सारे कर्म दोष से आवृत हैं ॥ ४८ ॥

व्याख्या—हे कुन्ती-पुत्र अर्जुन ! सहज कर्म (अर्थात् जन्म के साथ उत्पन्न होनेवाला कर्म अथवा जन्म से ही गुण-कर्म-विभागानुसार नियत कर्म, अथवा दूसरे शब्दों में स्वाभाविक कर्म) यदि किसी-न-किसी रूप से दोषवाला भी हो, तो भी मनुष्य को त्यागना उचित नहीं ; क्योंकि प्रथम तो संसार में ऐसा कोई कर्म ही नहीं जो किसी-न-किसी प्रकार से दोषवाला न हो, बल्कि क्या अपने और क्या पराये, क्या शास्त्रविहित और क्या शास्त्रविरुद्ध, सब-के-सब आरम्भ (कर्म) त्रिगुणात्मक होने के कारण दोष से ऐसे व्याप्त (आच्छादित) हैं जैसे धुएँ से अग्नि ढकी रहती है ; और दूसरे जब तक आत्म-साक्षात्कार वा निर्विकल्प

समाधि प्राप्त नहीं होती तब तक मनुष्य विना कर्म के रह ही नहीं सकता, इसलिए स्वयं किसी पुरुष को भी निज कर्तव्य किसी प्रकार के भय या दोष के कारण कदापि न छोड़ना चाहिए ॥ ४८ ॥*

सम्बन्ध—(१) जिस प्रकार मनुष्य निज धर्मानुसार कर्म के दोषों से बचकर निर्दोष-पूर्ण सिद्धि को प्राप्त हो सकता है, उसे भगवान् अब स्पष्ट करते हैं—

अथवा (२) जिस रीति से निज धर्मानुसार कर्म करते हुए मनुष्य नैष्कर्म्य-रूप सिद्धि को प्राप्त हो सकता है, उसे भगवान् अब निरूपण करते हैं—

(असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः ।
नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति ॥४९॥

असक्त-बुद्धिः, सर्वत्र	सर्वत्र, निरासक्त बुद्धिवाला	नैष्कर्म्य-सिद्धिं, परमां	परम नैष्कर्म्य सिद्धि को
जित-आत्मा, विगत-स्पृहः	अपने को जीता हुआ और दूर हुई इच्छावाला	संन्यासेन, अधिगच्छति	संन्यास से प्राप्त होता है

अन्वयार्थ—सर्वत्र निरासक्तबुद्धि, जितात्मा और दूर हुई इच्छावाला पुरुष संन्यास से परम नैष्कर्म्य-सिद्धि † को प्राप्त होता है ॥ ४९ ॥

---

* "जैसे धुएँ के दोष को अलग करके प्रताप ही अँधेरे और सरदी आदि के दूर करने के लिये सेवन किया जाता है, इसी प्रकार कर्म में भी दोष का अंश दूर करके गुण का अंश ही चित्त की शुद्धि के लिये सेवन किया जाता है।" (श्रीश्रीधर)

† "नैष्कर्म्य-सिद्धि=निष्क्रिय ब्रह्मरूप आत्म-स्वरूप में स्थिति, अथवा पूर्ण

व्याख्या—हे अर्जुन! जो सर्वत्र निरासक्त बुद्धिवाला है, अर्थात् जिसकी बुद्धि आसक्त करनेवाले पुत्र, पौत्र, स्त्री, घर और धनादि पदार्थों में निष्कामना के कारण फँसी हुई नहीं है, अथवा जिसकी बुद्धि सर्वभूतात्मैक-दृष्टि के कारण सर्वत्र सङ्ग-दोष से रहित है अर्थात् किसी एक पदार्थ वा स्थान में फँसी हुई नहीं है, अथवा जिसकी बुद्धि निज कर्तव्य को पालन करते समय कर्म के किसी प्रकार के (पुण्य-पाप-रूपी) फल व दोष में फँसी हुई नहीं है; जो जितात्मा है, अर्थात् जिसने अपने आपको अर्थात् मन, बुद्धि, चित्त, अहङ्कार को जीत रक्खा (अपने वश में कर लिया) है। और जिसकी सब कामनायें अर्थात् विषय-वासनाएँ (अथवा लोक-परलोक के भोगों की इच्छाएँ) दूर हो गई हैं। ऐसा पुरुष कर्म के सङ्ग और फल के त्याग-रूप संन्यास से (जिसका वर्णन श्लोक ६ से ११ में पूर्व आ चुका है) सब कर्मों की निवृत्ति-रूप परम सिद्धि को प्राप्त होता है, अर्थात् निष्काम कर्म-जन्य अन्तःकरण की शुद्धि द्वारा ज्ञाननिष्ठा की योग्यता-रूप सिद्धि जो पूर्व श्लोक ४५,४६ में कही जा चुकी है, उससे भी परम नैष्कर्म्य-रूप अथवा कर्मों से नितान्त मुक्तिस्वरूप सिद्धि को प्राप्त होता है, जो निज धर्मानुसार कर्तव्य कर्म

निष्कर्मता में स्थिति जो सम्यग्दर्शन-रूप ज्ञानपूर्वक सर्व कर्मों के त्याग से प्राप्त होती है" (श्रीशङ्कराचार्य)। "सर्वकर्मनिवृत्ति-रूप सत्त्वशुद्धि" (श्री श्रीधर)। "अन्तःकरण की शुद्धि-रूप अपरम सिद्धि से भी ऊपर निष्कल, निष्क्रिय और शान्त-स्वरूप सिद्धि जो सर्व कर्मों के त्याग से प्राप्त होती है" (श्रीमधुसूदन स्वामी)। निष्कर्मभाव, अर्थात् स्वरूप से कर्म का त्याग नहीं बल्कि कर्मों में आसक्ति और फल का जो त्याग है, वही निष्कर्मता है जैसा कि पूर्व (३. ४–८) और (४. २०) में स्पष्ट दर्शाया जा चुका है, अथवा सब कर्मों की निवृत्ति-रूप परम सिद्धि जो सङ्ग-दोष और फल के त्याग से निष्काम बुद्धि से निज कर्तव्य-पालन करते-करते स्वतः प्राप्त होती है (टीकाकार)

को निरासक्त और निष्काम बुद्धि से निरन्तर करते रहने से स्वतः प्राप्त हो जाती है ॥ ४६ ॥

सम्बन्ध—(१) नैष्कर्म्य सिद्धि को पाकर जिस प्रकार ब्रह्म-प्राप्ति होती है, उसके सुनने वा जानने की ओर भगवान् अब अर्जुन का ध्यान खैंचते हैं—

अथवा (२) अपने-अपने निज धर्मानुसार कर्तव्य कर्मों को निरासक्त चित्त व निष्काम बुद्धि से करते-करते अन्त में ब्रह्म-प्राप्ति अर्थात् मुक्ति कैसे मिलती है, उसे भगवान् अब स्पष्ट करने लगे हैं—

सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाप्नोति निबोध मे ।
समासेनैव कौन्तेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा ॥५०॥

सिद्धिं, प्राप्तः, यथा, ब्रह्म, तथा, आप्नोति, निबोध, मे	सिद्धि को प्राप्त हुआ जैसे ब्रह्म को प्राप्त होता है, वैसा मुझ से जान	समासेन, एव, कौन्तेय	हे अर्जुन ! संक्षेप से ही (सुन)
		निष्ठा, ज्ञानस्य, या, परा	जो ज्ञान की परा निष्ठा है

अन्वयार्थ—(उक्त) सिद्धि को प्राप्त हुआ पुरुष ब्रह्म को, जो ज्ञान की परानिष्ठा है, जैसे प्राप्त होता है, वैसा संक्षेप से तू मुझसे जान ॥ ५० ॥

व्याख्या—हे कुन्ती-पुत्र अर्जुन ! अपने-अपने वर्णाश्रम के धर्मानुसार कर्मों को निरासक्त चित्त व निष्काम बुद्धि से करते-करते अर्थात् कर्मों को ईश्वरार्पण करते हुए, और उस आराधनापूर्वक ईश्वर के प्रसाद से अन्तःकरण की शुद्धि पाते हुए जो ज्ञाननिष्ठा की योग्यता-रूप सिद्धि उत्पन्न होती है, उस निष्ठा में निरन्तर स्थित होने से जो परम नैष्कर्म्य सिद्धि मिलती है, उस सिद्धि के प्राप्त होने पर जैसे ब्रह्म-साक्षात्कार होता है, जो कि ज्ञान की परानिष्ठा, अर्थात् ज्ञान की सर्वोपरि स्थिति वा अवस्था है, वैसा तू अब संक्षेप से मुझसे ध्यानपूर्वक सुन ॥ ५० ॥

सम्बन्ध—(१) अब भगवान् उस ब्रह्म-प्राप्ति का प्रकार तीन श्लोकों में कहते हैं—

अथवा (२) अब इस ज्ञाननिष्ठा की प्राप्ति का सहित प्रकार के भगवान् वर्णन करते हैं—

बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च ।
शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च ॥५१॥
विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः ।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः ॥५२॥
अहङ्कारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम् ।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥५३॥

बुद्ध्या, विशुद्धया, युक्तः	शुद्ध बुद्धि से युक्त	शब्दादीन्, विषयान्, त्यक्त्वा	शब्दादि विषयों को त्यागकर
धृत्या, आत्मानं, नियम्य, च	और धैर्य से अपने आपको रोककर	रागद्वेषौ, व्युदस्य, च	और राग-द्वेष को अलग करके
विविक्त-सेवी, लघु-आशी	एकांत-सेवी, अल्प-आहारी	ध्यान-योग-परः, नित्यं	नित्य ध्यान-योग-परायण
यत-वाक्-काय-मानसः	वश में किए हुए वाणी, शरीर और मनवाला	वैराग्यं, समुपाश्रितः	वैराग्य का खूब आश्रय लिए हुए
अहङ्कारं, बलं, दर्पं, कामं, क्रोधं, परिग्रहं	अहङ्कार, बल, दर्प, काम, क्रोध और परिग्रह को	विमुच्य, निर्ममः, शान्तः, ब्रह्म-भूयाय, कल्पते	त्यागकर, ममता-रहित और शान्त हुआ ब्रह्म होने के योग्य होता है

अन्वयार्थ—शुद्ध बुद्धि से युक्त, धैर्य से अपने आपको रोककर, शब्दादि विषयों को त्यागकर, राग-द्वेष को अलग करके, एकान्तसेवी, अल्पआहारी, वश में किये हुए वाणी, शरीर और मनवाला होकर, नित्य ध्यानयोगपरायण, वैराग्य का खूब आश्रय लिए हुए, अहङ्कार, बल, दर्प, काम, क्रोध और परिग्रह को त्यागकर, ममतारहित और शान्त पुरुष ब्रह्म होने के योग्य होता है ॥ ५१, ५२, ५३ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! जब निजवर्णाश्रम-धर्मानुसार कर्तव्य को निरासक्त मन से तथा निष्काम वृत्ति से पालन करते-करते नैष्कर्म्य-सिद्धि मिलती है, और उस नैष्कर्म्य-सिद्धि के प्राप्त हो जाने पर जब मनुष्य फिर संशय-विपर्यय से विहीन, अर्थात् निश्चयात्मक तथा निर्मल बुद्धि से युक्त हो जाता है ; जब इसी रीति से पूर्वोक्त सात्त्विक धृति से युक्त हुआ वह अपने आपको अर्थात् मनसहित शरीर-इन्द्रिय-सङ्घात को कुमार्ग वा शास्त्र-निषिद्ध मार्ग से रोककर, शब्दादि विषयों को त्यागकर, और राग-द्वेष को परे रखकर, अर्थात् राग-द्वेष से रहित होकर, एकान्त-सेवी होता है, अल्प आहारी होता है, और शरीर, वाणी तथा मन को भली प्रकार अपने वश में किये होता है। जब इस प्रकार इन्द्रियों को विषयों से हटाकर और उन्हें अपने वश में अच्छी तरह करके किसी विविक्त देश में स्थित हुआ, सांसारिक भोगों से वैराग्यवान् होकर दृढ़ता के साथ ध्यानयोग के निरन्तर परायण होता है, अर्थात् "योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः" ऐसे चित्तवृत्ति के निरोध-रूप योग में युक्त अथवा आत्माकार वृत्ति से युक्त निरन्तर रहता है ; और इस ध्यानयोग में नित्ययुक्त-रहने के कारण देहादि सङ्घात में अहंकृत बुद्धि काम-रागादि-युक्त बल (अथवा धर्मशास्त्रविरुद्ध असत् आग्रह-रूप बल), दर्प (घमण्ड या गर्व), काम (विषय-कामना), क्रोध और परिग्रह इच्छा के अभाव हुए भी शरीर की रक्षा-निमित्त दूसरे लोगों से प्राप्त किये हुए

बाह्य भोग के साधन, अथवा इन्द्रिय और मन के दोषों को त्यागने-निमित्त शरीर धारण के प्रसङ्ग से, अथवा धर्म के करने के लिये बाहर सामग्रियों का अर्थात् अन्न-धनादि का सञ्चय, अथवा भोग के साधनों का अधिक संग्रह वा पाश), इन सबको त्यागकर जब ममता-रहित, अर्थात् देह के जीवन-मात्र में भी ममत्व न रखता हुआ शान्त (चित्त के सब विक्षेपों से रहित) होता है ; तब वह ब्रह्म होने के वा ब्रह्म-भाव के योग्य होता है, अर्थात् तब वह ब्रह्म-साक्षात्कार करने के समर्थ होता है, अथवा तब वह ब्रह्म-स्वरूप होने के वा ब्रह्म-स्वरूप की प्राप्ति के योग्य होता है। संक्षेप से तात्पर्य यह है कि पूर्व छठे अध्याय के श्लोक तीन में "आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते।" इत्यादि वाक्य से भगवान् ने जो यह सिद्धान्त वर्णन किया था कि "योगारूढ़ होने के लिये मनुष्य के वास्ते कर्म साधन होता है और योगारूढ़ हो गये हुए के लिये शम साधन होता है ; अर्थात् बाह्य विषयों इत्यादि को त्यागकर एकान्त स्थान में बैठकर मन इन्द्रियों को बाहर से हटाकर अपने भीतर स्वरूप के ध्यान में वा आत्माकार वृत्ति में युक्त होने का साधन (जो ध्यानयोग कहलाता है) होता है। उसी के अनुसार भगवान् अब पुनः कहते हैं कि जब पुरुष निजधर्मानुसार कर्म को निरासक्त बुद्धि और निष्काम भाव से करते-करते नैष्कर्म्य-सिद्धि अर्थात् योगारूढ़ अवस्था को प्राप्त हो जाता है, तब वह एकान्त में बैठकर पूर्वोक्त साधनों से सम्पन्न होकर निरन्तर ध्यानयोग के परायण होता है, तो उसके राग-द्वेष, काम-क्रोध इत्यादि सब दूर हो जाते हैं, और इसी ध्यानयोग-रूप शम साधन की बदौलत वह पूर्ण ममता-रहित और शान्तचित्त हुआ ब्रह्म-साक्षात्कार के योग्य हो जाता है, अर्थात् वह आत्म-साक्षात्कार कर लेता है अथवा करने के समर्थ* हो जाता है॥ ५१, ५२, ५३॥

---

* ब्रह्मस्वरूप होने के समर्थ होता है ; इससे तात्पर्य यह है कि जब तक

सम्बन्ध—(१) अब भगवान् उक्त ब्रह्मभाव का फल दर्शाते हैं—

अथवा (२) अब उक्त (ब्रह्मभाव के योग्य होने की) दशा के साथ भगवान् भक्ति का भी समन्वय दर्शाते हैं—

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति ।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ॥५४॥

ब्रह्म-भूतः, प्रसन्न-आत्मा	ब्रह्म हुआ, प्रसन्न-चित्त	समः, सर्वेषु, भूतेषु, मद्-भक्तिं, लभते, परां	सब भूतों में सम हुआ मेरी परम भक्ति को पाता है
न, शोचति, न, कांक्षति	न शोक करता है न आकांक्षा करता है		

अन्वयार्थ—ब्रह्म हुआ प्रसन्नचित्त होकर न वह फिर शोक करता है, न आकांक्षा । सब भूतों में सम हुआ वह मेरी परम भक्ति* को पाता है ॥ ५४ ॥

आत्मानुभवी पुरुष विदेह नहीं होता, तब तक पूर्ण रूप से अर्थात् नित्य के लिये ब्रह्मस्वरूप वा ब्रह्मलीन नहीं होता, और साक्षात्कार में तो वह समाधि के समय तक लीन रहता है, तत्पश्चात् पुनः देहाकार वृत्ति उसे किञ्चित् होती रहती है। इसलिये केवल ब्रह्म-साक्षात्कार की अवस्था को आरम्भ में ब्रह्मस्वरूप होने के योग्य ही कहा है।

* 'परम भक्ति' से भगवान् का अभिप्राय यहाँ उस ज्ञान लक्षणवाली चौथी भक्ति है जिसका वर्णन पूर्व (७. १६, १७) में आया है। "वासुदेवः सर्वमिति" इस प्रकार की दृष्टि से सबको सम समझना और उनके भले में लगना, यह परम भक्ति भगवान् की है, उसे वह प्राप्त होता है। इसके विषय में भागवत में ऐसे कहा है—"सर्वभूतेषु येनैकं भगवद्भावमीक्षते । भूतानि भगवत्यात्मन्येष भागवतोत्तमः ॥"=जिस भक्ति से यह पुरुष स्थावर-जङ्गम-रूप

व्याख्या—हे अर्जुन ! उक्त प्रकार के साधनों से ब्रह्मभूत हो जाने पर, अर्थात् पूर्वोक्त रीति से ब्रह्मसाक्षात्कार होने पर, फिर वह (आत्मानुभवी) प्रसन्नचित्त होता है, और प्रसन्नचित्त हुआ न नष्ट हुए पदार्थों और न बीती हुई बातों का शोक करता है और न आगे को कुछ चाहता है। बल्कि ब्रह्मनिष्ठ तथा प्रसन्नचित्त होने के कारण वह सब भूतों में सम होता है, अर्थात् सब भूत उसको अपना आत्मा करके एक समान दीखते वा भान होते हैं, अथवा "ब्रह्मैवेदं सर्वम्" ब्रह्म ही यह सब कुछ है, इस श्रुति के अनुसार उसकी दृष्टि होने से जरायुज, अण्डज, स्वेदज, उद्भिज्ज इन चार प्रकार के प्राणियों इत्यादि में वह विषम-भाव से रहित हो जाता है, जहाँ-जहाँ उसकी दृष्टि पड़ती है उसे वहाँ-वहाँ अपना स्वरूप (ब्रह्म) ही दिखाई देता है, अथवा सब जगत् में अपना ही आत्मस्वरूप व्याप्त भान होने के कारण वह सबके दुःख-सुख को एकसमान अपना ही दुःख-सुख देखता है। इस प्रकार समद्रष्टा होकर वह फिर मेरी परम भक्ति को पाता है, अर्थात् मेरा परम-स्वरूप जो उसका वास्तव में अपना आप है, उसकी निदिध्यासन-रूप अटूट प्रीति (ज्ञान की परानिष्ठा) को वह पाता है ॥ ५४ ॥ॐ

सब पदार्थों में एक भगवद्भाव को देखता है, अर्थात् सब भूतों में अस्ति भाति प्रिय-रूप ब्रह्म को ही व्यापक देखता है, और सब प्राणियों का जो भगवान् आत्म-रूप परब्रह्म है, इस आत्म-रूप परब्रह्म में सब प्राणियों को कल्पित देखता है, वह भगवत् की सर्वोपरि उत्तम भक्ति है, या वह भगवान् का उत्तमतम भक्त है।

ॐ इस पर श्रीज्ञानदेवजी की मनोहर व्याख्या ऐसे है—

"फिर हे पाण्डु-सुत ! ब्रह्म होने की योग्यता के द्वारा वह पुरुष आत्मज्ञान-प्रसन्नता के पद पर जा बैठता है। जिस अग्नि पर रसोई तैयार की जाती है वह जब शान्त हो जाती है, तब रसोई का आनन्द लिया जाता है ; अथवा

सम्बन्ध—अब भगवान् इस परम भक्ति का परिणाम वा फल निरूपण करते हैं—

शरत्काल में ज्वार-भाटा छोड़ जैसे गङ्गा शान्त हो जाती है, अथवा गीत समाप्त होते ही उसके उपाङ्ग—तबला-तम्बूरा इत्यादि—भी जैसे बन्द हो जाते हैं, वैसे ही आत्मज्ञान के लिये उद्यम करने के जो श्रम होते हैं, वे भी जहाँ शान्त हो जाते हैं, उस दशा का नाम आत्मज्ञान-प्रसन्नता है। हे महामति! वह योग्य पुरुष उस दशा का उपभोग लेता है। उस समय 'यह वस्तु मेरी है' ऐसा समझकर सोच करना, अथवा किसी वस्तु की प्राप्ति की इच्छा करना आदि बातों का अन्त हो जाता है। उसमें केवल ऐक्यभाव भरा हुआ रहता है। सूर्य का उदय होते ही सम्पूर्ण नक्षत्र जैसे अपनी दीप्ति खो देते हैं, वैसे ही, हे पार्थ! आत्मानुभव प्राप्त होते ही वह पुरुष अनेकभूत व्यक्तियों की रचना तोड़ते-तोड़ते सब आकाश-रूप हो देखता है। जैसे पाटी पर लिखे हुए अक्षर हाथ से पोंछ लिए जायँ, वैसे ही उसकी दृष्टि से सब भेदान्तरों का लोप हो जाता है। जागृति और स्वप्न ये दो अवस्थायें जो विपरीत ज्ञान का ग्रहण करती हैं उन्हें वह सुषुप्ति-रूपी अज्ञान में लीन कर देता है। फिर ज्यों-ज्यों ज्ञान बढ़ता है त्यों-त्यों वह अव्यक्त भी घटता जाता है और पूर्ण ज्ञान होते ही सम्पूर्ण विलीन हो जाता है। जैसे भोजन करते समय भूख धीरे-धीरे बुझती जाती है और तृप्ति के समय सम्पूर्ण शान्त हो जाती है, अथवा चलते-चलते जैसे रास्ता कटता जाता है और इष्ट स्थान को पहुँचते ही समाप्त हो जाता है, अथवा ज्यों-ज्यों जागृति आती जाती है त्यों-त्यों नींद छूटती जाती है और पूर्ण जाग्रत होने पर उसका पता ही नहीं रहता, अथवा वृद्धि समाप्त होने पर जब चन्द्र अपनी पूर्णता प्राप्त कर लेता है तो शुक्ल पक्ष भी निःशेष समाप्त हो जाता है, वैसे ही वह पुरुष जब ज्ञेय विषयों को लीलकर ज्ञान के द्वारा मुझमें आ मिलता है तब सम्पूर्ण अज्ञान का नाश हो जाता है। तब कल्पान्त के समय जैसे नदी या समुद्र की सीमा के टूट

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः ।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥५५॥

भक्त्या, माम्, अभिजानाति, यावान्, यः, च, अस्मि, तत्त्वतः	भक्ति से मुझको वह जैसा और जो मैं हूँ तत्त्व से जान लेता है	ततः, माम्, तत्त्वतः, ज्ञात्वा, विशते, तत्-अनन्तरं	फिर मुझको तत्त्व से जानकर इसके पीछे वह (मुझमें) प्रवेश करता है

जाने से ब्रह्मलोक तक जल ही जल भर जाता है, अथवा घट या मठ का नाश होने पर जैसे एक आकाश ही सर्वत्र रहता है, अथवा लकड़ी जलाकर जैसे अग्नि ही रह जाती है, अथवा जैसे अलङ्कारों को साँचे में डालकर गलाने से उनके नाम और रूपों का नाश हो सोना ही रह जाता है, यह भी रहने दो, जागने पर जैसे स्वप्न का नाश हो जाता और मनुष्य केवल आप ही रह जाता है वैसे ही उस पुरुष को केवल एक मेरे अतिरिक्त स्वयं अपने समेत और कुछ भी नहीं रहता। इस प्रकार वह मेरी चौथी भक्ति प्राप्त करता है। दूसरे आर्त, जिज्ञासु और अर्थार्थी जिन रीतियों से मेरी भक्ति करते हैं उनकी अपेक्षा से हम इसे चौथी भक्ति कहते हैं। अन्यथा यह न तीसरी है, न चौथी है, न पहली है, न अन्तिम है। वास्तव में मेरी ब्रह्म-रूपी स्थिति का ही नाम भक्ति है। जो मेरे अज्ञान को प्रकाशित कर, मुझे अन्य-रूप से दिखाकर, सबको सब विषयों की रुचि लगा उनका ज्ञान करा देता है, जिस अखण्ड प्रकाश से जो जहाँ जिस वस्तु को देखना चाहे वह वस्तु उसे वहाँ वैसी ही दिखाई देती है, स्वप्न का दिखाई देना न देना जैसे अपने अस्तित्व पर निर्भर है वैसे ही जिस प्रकाश से ही विश्व की उत्पत्ति या लय होता है, वह मेरा जो स्वाभाविक प्रकाश है, उसी को, हे कपिध्वज ! भक्ति

अन्वयार्थ—(परम) भक्ति से वह मुझे "जैसा और जो मैं हूँ" तत्त्व से जान लेता है। तब मुझको तत्त्व से जानकर वह इसके पीछे (मुझमें ही) प्रवेश कर जाता है॥ ५५॥

व्याख्या—हे अर्जुन! उक्त ब्रह्मभाव को प्राप्त होने के योग्य होकर जब वह "वासुदेवः सर्वमिति" रूप मेरी परम भक्ति को पा लेता है, तब वह जैसा मैं हूँ और जो मैं वास्तव में हूँ, उसे यथार्थ जान लेता है,

---

कहते हैं। अतः आर्तों में यह भक्ति इच्छा-रूप हो जिस वस्तु की अपेक्षा करती है, वह मैं ही हूँ। जिज्ञासु में भी, हे वीरेश! यही भक्ति जिज्ञासा-रूप हो मुझे जिज्ञास्य-रूप से प्रकट करती है। और हे अर्जुन! यही भक्ति अर्थ-प्राप्ति की इच्छा बन मानो मुझे ही अपनी प्राप्ति के पीछे लगा मुझे अर्थ नाम का पात्र बनाती है; एवं यदि मेरी भक्ति अज्ञान के साथ हो, तो वह मुझ सर्व-साक्षी को दृश्य-रूप से बताती है। दर्पण में मुख से ही मुख दिखाई देता है, इसमें कुछ सन्देह नहीं; परन्तु यह जो मिथ्या द्वितीयत्व है, उसका हेतु दर्पण है। दृष्टि वास्तव में चन्द्रमा का ही ग्रहण करती है, पर एक चन्द्र के जो दो दिखाई देते हैं वह नेत्र-रोग के कारण। वैसे ही, हे धनञ्जय! वास्तव में मैं ही सर्वत्र निज को ही देखता हूँ परन्तु जो मिथ्या दृश्य-पदार्थ दिखाई देते हैं वह अज्ञान का कारण है। वह अज्ञान उस चौथे भक्त का मिट जाता है; और प्रतिबिम्ब जैसे बिम्ब में मिल जाय, वैसे ही मेरी साक्षिरूपता मुझमें ही समा जाती है। सोना जब मिश्रित स्थिति में रहता है तब भी सोना ही रहता है, परन्तु मिश्रण अलगाने पर जैसे वह शुद्ध-रूप से शेष रहता है, अजी! पूर्णमासी के पहले चन्द्रमा क्या सावयव नहीं रहता, परन्तु जैसे उस दिन उसको पूर्णता उससे आ मिलती है, वैसे ही दिखाई तो मैं ही देता हूँ पर अज्ञान के कारण दृश्य-रूप से और भिन्न दिखाई देता हूँ, और दृष्टत्व विलीन होने पर मुझे ही अपनी प्राप्ति हो जाती है। अतएव, हे पार्थ! दृश्य-पथ के परे जो मेरा भक्तियोग है उसे मैंने चौथा कहा है।"

अर्थात् मेरे निरुपाधि स्वरूप को, जो वास्तव में मैं हूँ, और सब दृश्य-रूप होता हुआ भी जो वास्तव में सबका अपना आप है, ठीक-ठीक जान लेता है। इस प्रकार मुझे तत्त्व से जानकर वह तत्पश्चात्, अर्थात् देह त्याग के पीछे, मुझमें प्रवेश करता है, अर्थात् देह त्यागते ही वह मुझमें ही लीन (ब्रह्मस्वरूप) हो जाता है ॥ ५५ ॥

सम्बन्ध—उक्त श्लोक ४९ से ५५ तक का, अर्थात् अपने-अपने कर्मों द्वारा ईश्वराराधन से सिद्धि और तदनन्तर मोक्ष-प्राप्ति का भगवान् अब उपसंहार करते हैं—

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः ।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम् ॥ ५६ ॥

सर्व-कर्माणि, अपि, सदा, कुर्वाणः, मद्-व्यपाश्रयः	सब कर्मों को भी नित्य करता हुआ मेरे आश्रय हुआ	मत्, प्रसादात्, अवाप्नोति, शाश्वतं, पदं, अव्ययं	मेरे प्रसाद से वह शाश्वत और अव्यय पद को प्राप्त होता है

अन्वयार्थ—सब कर्मों को सदा करता हुआ भी और मेरे आश्रय हुआ पुरुष मेरे प्रसाद से शाश्वत और अव्यय पद को प्राप्त होता है ॥ ५६ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन! पूर्वोक्त अपने-अपने कर्मों द्वारा भगवान् की आराधना-स्वरूप रीति से, अर्थात् अपने निज धर्मानुसार कर्मों को भगवदर्पण करके, जो सदा सब कर्मों को करता हुआ भी मेरे आश्रय रहता है। अर्थात् जो मेरे अर्पण सब कर्मों को करते हुए ज्ञाननिष्ठा की योग्यता-रूप सिद्धि को पाकर उसी निष्काम वृत्ति से कर्म-योग-परायण होते हुए भी ज्ञाननिष्ठा-रूपी परम सिद्धि को पाता है, और उस परम सिद्धि को पाकर मेरी परम भक्ति का लाभ करता है, अर्थात् निरन्तर मेरे

ही परायण रहता है। ऐसा जो मेरे आश्रय हुआ मेरा परम अनन्य भक्त है, वह मेरे प्रसाद से (मेरे अनुग्रह से, हिरण्यगर्भ की न्याईं, 'अहं ब्रह्मास्मि' इस प्रकार के ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति करके) उस पद को अन्त में प्राप्त होता है कि जो शाश्वत, अर्थात् उत्पत्ति-विनाश से रहित होने से नित्य और अव्यय अर्थात् विकार से रहित होने के कारण निर्विकार है। अर्थात् "तद्विष्णोः परमं पदम्" इस श्रुति के अनुसार वह विष्णु-रूप परम पद को प्राप्त होता है जहाँ पहुँचकर पुरुष पुनः आवृत्ति को प्राप्त नहीं होता ॥ ५६ ॥

सम्बन्ध—क्योंकि अपने-अपने कर्मों द्वारा ईश्वराराधन करता हुआ पुरुष भगवत्प्रसाद से अन्त में मोक्ष को प्राप्त होता है, इसलिये भगवान् अब अर्जुन के प्रति ऐसा उपदेश देते हैं—

चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः ।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव ॥५७॥

चेतसा[1], सर्व-[2] कर्माणि[3], मयि[4], संन्यस्य[5], मत्-परः[6]	चित्त[1] से सारे[2] कर्मों[3] को मुझमें[4] अर्पण[5] करके मेरे[6] परायण[6]	बुद्धि-योगं[2], उपाश्रित्य[3], मत्-चित्तः[5], सततं[6], भव[7]	बुद्धि-योग[2] का आश्रय[3] करके मुझमें[4] चित्तवाला[5] सदा[6] हो[7]

अन्वयार्थ—चित्त से सारे कर्मों को मेरे अर्पण करके, मेरे परायण हुआ तू बुद्धियोग का आश्रय लेकर सदा मच्चित्त हो ॥ ५७ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! क्योंकि भगवत्परायण कर्म करने से पुरुष अन्त में भगवत्प्रसाद से मोक्ष को प्राप्त हो जाता है, इसलिये अपने सारे (कायिक, वाचिक और मानसिक) कर्म तू चित्त से मुझ सर्वव्यापी भगवान् के अर्पण कर और मेरे परायण हो। अर्थात् "यत्करोषि,

यदश्नासि, यज्जुहोषि, ददासि यत् । यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ।" ऐसा जो पूर्व (९.२७ में) कहा गया है, इस प्रकार सर्व लौकिक और वैदिक कर्मों को तू चित्त से मुझ परमात्मा के अर्पण करता हुआ मेरे परायण हो । और बुद्धियोग अर्थात् कर्म की सिद्धि वा असिद्धि में समत्व-बुद्धि से युक्त रहने की विधि, अथवा फलाशा में बुद्धि न रखकर कर्म में युक्त होने की विधि, अथवा "वासुदेवः सर्वमिति ।" इस प्रकार की बुद्धि में युक्त रहने की विधि-रूप बुद्धियोग का सहारा लेकर तू सदा मच्चित्त हो, अर्थात् मेरे स्वरूप के ध्यान में ही निरन्तर चित्तवृत्ति लगा, या अपने आपको सब विषयों से हटाकर मुझमें ही अपनी चित्तवृत्ति को लगातार टिका वा लीन कर ॥ ५७ ॥

सम्बन्ध—अब उक्त उपदेशानुसार चलने और न चलने का परिणाम भगवान् स्पष्ट करते हैं—

मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि ।
अथ चेत्त्वमहङ्कारान्न श्रोष्यसि विनंक्ष्यसि ॥५८॥

मत्-चित्तः, सर्व-दुर्गाणि, मत्-प्रसादात्, तरिष्यसि	मुझमें चित्तवाला हुआ तू मेरे प्रसाद से सारे सङ्कटों को तर जायगा	अथ, चेत्, त्वं, अहङ्कारात्, न, श्रोष्यसि, विनंक्ष्यसि	और अगर तू अहङ्कार से न सुनेगा, तो विनष्ट होगा

अन्वयार्थ—मच्चित्त हुआ तू मेरे प्रसाद से सारे सङ्कटों को तर जायगा । और अगर अहङ्कार से तू न सुनेगा, तो विनष्ट हो जायगा ॥ ५८ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! उक्त रीति से मच्चित्त होने पर, अर्थात् मुझ निज स्वरूप में निरन्तर चित्त लगाये रखने पर, तू मेरे अनुग्रह से सारे सङ्कटों, दुस्तर मार्गों, क्लेशों तथा विघ्नों को तर जायगा, अर्थात् इन

सबसे पार टप जायगा। और यदि गर्व-रूप अहङ्कार से तू मेरे इस प्रेम-भरे वा हितकारक वचन को न सुनेगा, अर्थात् तू मेरे उक्त उपदेश वा आज्ञा पर नहीं चलेगा, तो याद रख, तू शीघ्र विनष्ट हो जायगा; अर्थात् न तू लोक का और न परलोक का रहेगा, बल्कि लोक-परलोक दोनों से च्युत होकर तू नष्ट-भ्रष्ट हो जायगा ॥ ५८ ॥

सम्बन्ध—(१) उक्त कथन से भगवान् अब अर्जुन को युद्ध के लिये प्रेरते हैं—

अथवा (२) उक्त कथन का भगवान् अब अधिक स्पष्टीकरण करते हैं—

यदहङ्कारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे ।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति ॥ ५९ ॥

यत्, अहङ्कारं, आश्रित्य, न, योत्स्ये, इति, मन्यसे	जो अहङ्कार का आश्रय करके "मैं युद्ध नहीं करूँगा," ऐसा तू मानता है	मिथ्या, एष, व्यवसायः, ते	यह तेरा निश्चय झूठा है
		प्रकृतिः, त्वां, नियोक्ष्यति	प्रकृति तुझे नियुक्त करेगी

अन्वयार्थ—जो अहङ्कार का आश्रय करके ऐसा तू मानता है कि "मैं युद्ध नहीं करूँगा," तो यह तेरा निश्चय झूठा है। (तेरी) प्रकृति तुझे नियुक्त करेगी ॥ ५९ ॥

व्याख्या—और हे अर्जुन! यदि तू अहङ्कार में आकर, अर्थात् अपने आपको अधिक धर्मात्मा और बुद्धिमान् समझकर, इस गर्व से, यह समझता है कि "युद्ध एक क्रूर कर्म है, इसलिए मैं इसे कभी नहीं करूँगा," तो यह तेरी समझ वा निश्चय तुझे अन्त में नितान्त झूठा और व्यर्थ सिद्ध होगा। क्योंकि चाहे तू अपने को धर्मात्मा मानकर घर बैठने का यत्न कर, या चाहे अपने को स्वतन्त्र और पूर्ण बलवान्

समझकर तू इस धर्मयुद्ध की किञ्चित् परवाह न कर, परन्तु तेरी प्रकृति, अर्थात् तेरा क्षात्र-धर्म वा निजी स्वभाव तुझे कभी निचल्ला नहीं बैठने देगा, बल्कि अवश्य तुझे युद्ध की ओर प्रेरकर उसमें प्रवृत्त कर देगा। इसलिये ऐ प्यारे ! उत्तम वा श्रेष्ठ यही है कि तू आप ही उठकर स्वयं इस युद्ध में निरासक्त मन और निष्काम चित्त से लग ॥ ५६ ॥

सम्बन्ध—उक्त कथन को भगवान् अब और स्पष्ट करके कहते हैं—

स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा ।
कर्त्तुं नेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपि तत् ॥६०॥

स्वभावजेन, कौन्तेय, निबद्धः, स्वेन, कर्मणा	हे अर्जुन ! अपने स्वभाव से उत्पन्न हुए कर्म से बँधा हुआ	कर्त्तुं, न, इच्छसि, यत्, मोहात्	यदि मोह से तू करना नहीं चाहेगा
		करिष्यसि, अवशः, अपि, तत्	वह विवश हुआ भी तू करेगा

अन्वयार्थ—हे अर्जुन ! अपने स्वभावजन्य कर्म से बँधा हुआ तू यदि मोह से (युद्ध) करना नहीं चाहेगा, तो भी विवश हुआ तू उसे करेगा ॥६०॥

व्याख्या—हे कुन्ती-पुत्र अर्जुन ! युद्ध, शूरवीरता आदि स्वाभाविक धर्म क्षत्रिय के ऊपर कहे जा चुके हैं, उन अपने स्वाभाविक गुणों और कर्मों से तू बँधा हुआ अर्थात् जकड़ा हुआ है। ऐसा होते हुए भी यदि तू मूर्खता से (अथवा बन्धुजनों के मोह से, या अपने स्वभाव के अज्ञान से) अपने स्वाभाविक कर्मों (युद्धादि) को करना नहीं चाहेगा, तो यह याद रख, तू अपने स्वभाव से विवश हुआ अवश्यमेव उन कर्मों को करेगा। तात्पर्य यह है कि हे अर्जुन ! इस समय तेरे अन्तःकरण में सत्त्वगुणी वृत्ति का आविर्भाव हो रहा है जिससे तुझे दया आ रही है, युद्ध क्रूर कर्म दिख दे रहा है, जिसलिये युद्ध अच्छा नहीं लगता,

बल्कि भिक्षा माँगकर शेष जीवन का निर्वाह करना उत्तम समझ रहा है, और बान्धवों को मारकर राज करना महापाप मान रहा है। पर जब यह ब्राह्मणोंवाली वृत्ति तिरोधान होगी, और क्षात्रधर्म की रजोगुणी वृत्ति, जिसकी विशेष करके तेरे अन्तःकरण में प्रधानता है, उसका आविर्भाव होगा, उस समय यह तेरी दया इत्यादि सब जाती रहेगी, और तू फिर अपनी स्वाभाविक रजोगुणप्रधान वृत्ति के वश में आकर अवश्यमेव युद्ध को करेगा, और विना इसके किये नहीं रह सकेगा ॥६०॥

सम्बन्ध—(१) अर्जुन की उक्त पराधीनता में भगवान् अब और कारण भी कहते हैं—

अथवा (२) पूर्वोक्त कथन (अवशः) से अर्जुन में अपने स्वभाव-रूप प्रकृति की अधोनता दर्शायी गई, अब भगवान् उसमें अंतर्यामी ईश्वर की अधीनता स्पष्ट करते हैं—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥ ६१॥

ईश्वरः, सर्व-भूतानां, हृद्-देशे, अर्जुन, तिष्ठति	हे अर्जुन ! ईश्वर सर्व प्राणियों के हृदय - देश में स्थित है	भ्रामयन्, सर्व-भूतानि, यन्त्र-आरूढानि, मायया	यन्त्र पर चढ़े हुए सर्व प्राणियों को माया से घुमाता हुआ

अन्वयार्थ—हे अर्जुन ! ईश्वर सब यन्त्रारूढ़ प्राणियों को (अपनी) माया से घुमाता हुआ सब भूतों के हृदय-देश में स्थित है ॥ ६१ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! जैसे कठपुतलियों को नचानेवाला पुतलीगर किसी एकान्त देश में परदे के पीछे बैठकर तार में बँधी हुई पुतलियों को नचाता है और स्वयं उनके नाच का देखनेवाला होता है, वैसे ही यह

सबसे बड़ा पुतलीगर-रूप अन्तर्यामी सूत्रात्मा सब प्राणियों के हृदय-देश (हृदयाकाश वा अन्तःकरण) में बैठा हुआ शरीर-रूपी यन्त्र पर चढ़े हुए सब प्राणियों को अपने माया-रूपी तार से घुमाता वा फिराता है। तात्पर्य संक्षेप से यह है कि यह परिच्छिन्न जीव सम्पूर्ण-रूप से स्वतन्त्र नहीं है बल्कि ईश्वर के और अन्तःकरण के स्वभाव के अधीन होकर सब काम करता है। और जब तक निरासक्त और निष्काम-वृत्ति से कर्तव्य-कर्म करते-करते परम सिद्धि को प्राप्त हुआ मुझमें मेरी परम भक्ति से लीन नहीं हो जाता, तब तक वह सूत्रात्मा और निज प्रकृति से विवश हुआ स्वभावानुसार कर्म करता ही रहता है, मानो वह किसी चक्र पर चढ़ाया गया है। इस विषय में श्रुति का ऐसा वचन है—"यः पृथिव्यां तिष्ठन्पृथिव्या अन्तरो यं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीरं यः पृथिवीमन्तरोयमयति । यच्च किञ्चिज्जगत्सर्वं दृश्यते श्रूयतेऽपि वा । अन्तर्बहिश्च तत्सर्वं व्याप्य नारायणः स्थितः ॥"=जो अन्तर्यामी परमात्मा पृथिवी में स्थित हुआ, पृथिवी के अन्तर है, जिस अन्तर्यामी को यह पृथिवी नहीं जानती है, जिस अन्तर्यामी ईश्वर का यह पृथिवी शरीर है, जिस पृथिवी को यह अन्तर्यामी आत्मा प्रवृत्त करता है, वही अन्तर्यामी ईश्वर तुम्हारा आत्मा है। और जितना यह सब दृश्य-जगत् देखने में आता है अथवा श्रवण करने में आता है, इस नाम-रूपात्मक समस्त जगत् को अन्दर-बाहर से व्याप्य करके नारायण भगवान् स्वयं अचल स्थित है (बृह० ३.७.३) ॥ ६१ ॥

सम्बन्ध—क्योंकि सब प्राणी वास्तव में ईश्वराधीन तथा निज स्वभावाधीन अर्थात् परतन्त्र हैं, अतएव भगवान् अब अर्जुन को अन्त में यह उपदेश देते हैं—

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत ।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ६२

तं, एव, शरणं, गच्छ, सर्व-भावेन, भारत	हे अर्जुन ! सब भावों से तू उसकी ही शरण में जा	तत्, प्रसादात्, परां, शान्तिं, स्थानं, प्राप्स्य-सि, शाश्वतं	उसके प्रसाद से तू परम शान्ति और नित्य स्थान को प्राप्त होगा

अन्वयार्थ—हे अर्जुन ! सर्वभाव से तू उस (ईश्वर) ही की शरण में जा ; उसके प्रसाद से तू परम शान्ति और नित्य स्थान को प्राप्त होगा ॥ ६२ ॥

व्याख्या—हे भरत की सन्तान अर्जुन ! क्योंकि सब प्राणी केवल अपनी प्रकृति के ही अधीन नहीं किन्तु वास्तव में ईश्वराधीन भी हैं, और सबके हृदय में सबका अन्तर्यामी होकर वह परमात्मा सबका प्रेरक स्थित है, इसलिये तू सर्वभाव से, अर्थात् सर्वात्म-भाव से, अथवा तन, मन, धन से, या सर्व प्रकार की भावना से उस एक परमात्मा की ही शरण पकड़ । इस प्रकार उस एक परमात्मा की शरण पकड़ने से अर्थात् अपने को उस एक अन्तर्यामी के ही पूर्ण आश्रित रखने से तू उसके प्रसाद (अनुग्रह) से परम उत्कृष्ट शान्ति (सब दुःखों की निवृत्ति अथवा कार्य-सहित अविद्या की निवृत्ति) और नित्य स्थान (परम पद वा ब्रह्मधाम) को प्राप्त होगा ॥ ६२ ॥ ❀

❀ यहाँ यह प्रश्न उठ आता है कि यदि ईश्वर ही सबको पुतलियों की तरह कल पर चढ़ाकर घुमाता-फिराता है, तो मनुष्य नितान्त बेक़सूर (निरपराधी) है, और उसको जो कुछ सुख-दुःख इस पृथिवी पर होता है, वह सब परमेश्वर स्वयं अपनी इच्छा से देता है (जैसा कि मुसलमान और ईसाई लोग मानते हैं)। फिर कर्म, प्रारब्ध, अपने-अपने गुण-कर्म-स्वभाव की किञ्चित् ज़रूरत नहीं, ये सब व्यर्थ हैं, इत्यादि । पर यह अभिप्राय उक्त श्लोकों का नहीं है । पहले अध्याय तीन के अन्त में भगवान् कह आये हैं कि इन्द्रियाँ स्वयं इस शरीर से प्रबल हैं, इन्द्रियों से मन प्रबल है, मन से

सम्बन्ध—(१) इस प्रकार संपूर्ण गीताशास्त्र का उपसंहार करते हुए भगवान् अब अर्जुन को अन्त में यों कहते हैं—

अथवा (२) अब भगवान् अपने उक्त उपदेश को समाप्त करते हुए अर्जुन को अंत में यों कहते हैं—

इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद्गुह्यतरं मया ।
विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु ॥ ६३ ॥

प्रबल बुद्धि और बुद्धि से प्रबल काम और उससे परे परमात्मा, जिसको जान लेने से सब जीत लिए जाते हैं । अर्थात् प्रत्येक अङ्ग मनुष्य में स्वतन्त्र भी हैं और अपने से ऊपरवाले के अधीन भी हैं । इसीलिये यह सिद्धान्त है कि ईश्वरेच्छा सारे संसार की उत्पत्ति, प्रवृत्ति और लय का कारण है, पर जीव वा मनुष्य की इच्छा (काम) अपनी प्रारब्ध, जन्म-मरण और मुक्ति (अर्थात् परमात्मा के अधीन जीव-सृष्टि) का कारण है । यद्यपि सारे संसार की दृष्टि से केवल ईश्वर स्वतन्त्र है जीव परतन्त्र, पर जीव-सृष्टि की दृष्टि से जीव स्वयं स्वतन्त्र है । यद्यपि ईश्वरेच्छा संसार पर हावी है तथापि जीवेच्छा भी उसकी अपेक्षा कम हावी (प्रबल) नहीं है । जहाँ जीव अपने-अपने सङ्कल्पों वा कर्मों के करने में स्वतन्त्र है, वहाँ ईश्वर उन्हीं कर्मों वा सङ्कल्पों के अनुसार उसकी प्रारब्ध बनाने में परतन्त्र है, अर्थात् ऐसा नहीं है कि मनुष्य बुरे सङ्कल्प वा कर्म करे और ईश्वर उसकी अच्छी प्रारब्ध बना दे, अथवा कर्म अच्छे करे, तो वह प्रारब्ध बुरी बना दे । बल्कि जीव के अपने-अपने कर्मों के अनुसार ही (फल देने में) ईश्वर की इच्छा होती है, उससे विरुद्ध नहीं । पर फल भोगने में जीव परतन्त्र है, कर्म करने में स्वतन्त्र ; और अपनी निजी इच्छा वा सङ्कल्प में ईश्वर स्वतन्त्र, पर फल देने में परतन्त्र । इस प्रकार मुख्य ईश्वरेच्छा होने से मनुष्य को उसकी शरण में जाने को कहा है ।

इति, ते, ज्ञानं, आख्यातं, गुह्यात्, गुह्यतरं, मया	इस प्रकार मेरे से तेरे तईं गुह्य से गुह्यतर ज्ञान कहा गया है	विमृश्य, एतत्, अशेषेण, यथा, इच्छसि, तथा, कुरु	इसको पूरा-पूरा विचारकर जैसा तू चाहता है वैसा कर

अन्वयार्थ—इस प्रकार गुह्य से गुह्यतर ज्ञान मुझसे तेरे तईं कहा गया है। इसको पूरा-पूरा विचारकर जैसा तू चाहता है, वैसा कर ॥ ६३ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! इस पूर्वोक्त प्रकार से (जो समस्त गीताशास्त्र में विस्तारपूर्वक और इस अध्याय में संक्षेपतः वर्णित है) यह गुह्य से भी अत्यन्त गुह्य अर्थात् अत्यन्त गुप्त आत्मज्ञान मैंने तुझे (अपना अत्यन्त प्यारा देखकर) कह दिया है, और तूने इसे दत्तचित्त से सुन लिया है। अब तू इस मेरे विस्तारपूर्वक वर्णित रहस्य को पूरा-पूरा, अर्थात् आदि से अन्त पर्यन्त, ध्यानपूर्वक विचार। विचारने के बाद फिर जैसी तेरी इच्छा हो, तू वैसा कर ॥ ६३ ॥ ✽

✽ श्लोक ५९, ६०, ६१, ६२ और ६३ पर श्रीतिलक महाराज की टिप्पणी इस प्रकार है—"इन श्लोकों में कर्म-पराधीनता का जो गूढ़ तत्त्व बतलाया गया है (उसका विचार गीतारहस्य के १०वें प्रकरण में विस्तारपूर्वक हो चुका है)। यद्यपि आत्मा स्वयं स्वतन्त्र है, तथापि जगत् के अर्थात् प्रकृति के व्यवहार को देखने से मालूम होता है कि इस कर्म के चक्र पर आत्मा का कुछ भी अधिकार नहीं है कि जो अनादि-काल से चल रहा है। जिसकी हम इच्छा नहीं करते, बल्कि जो हमारी इच्छा के विपरीत भी हैं, ऐसी सैकड़ों-हज़ारों बातें संसार में हुआ करती हैं; तथा उनके व्यापार के परिणाम भी हम पर होते रहते हैं, अथवा उक्त व्यापारों का ही कुछ भाग हमें करना पड़ता है; यदि इन्कार करते हैं तो बनता नहीं है। ऐसे अवसर पर ज्ञानी मनुष्य अपनी बुद्धि को निर्मल रखकर और सुख या दुःख

सम्बन्ध—(१) सम्पूर्ण गीताशास्त्र को आदि से अन्त पर्यन्त विचारने के परिश्रम की निवृत्ति करने के लिये कृपालु भगवान् आप ही समस्त गीताशास्त्र के सारभूत अर्थ को संक्षेप से अन्त में अब यों स्पष्ट करते हैं—

को एक-सा समझकर सब कर्म किया करता है; किंतु मूर्ख मनुष्य उनके फंदे में फँस जाता है। इन दोनों के आचरण में यही महत्त्वपूर्ण भेद है। भगवान् ने तीसरे ही अध्याय में कह दिया है कि 'सभी प्राणी अपनी-अपनी प्रकृति के अनुसार चलते रहते हैं, वहाँ निग्रह क्या करेगा ?' (गी० ३. ३३)। ऐसी स्थिति में मोक्षशास्त्र अथवा नीतिशास्त्र इतना ही उपदेश कर सकता है कि कर्म में आसक्ति मत रक्खो। इससे अधिक वह कुछ नहीं कह सकता। यह अध्यात्म-दृष्टि से विचार हुआ; परन्तु भक्ति की दृष्टि से प्रकृति भी तो ईश्वर का ही अंश है। अतः यही सिद्धान्त ६१वें और ६२वें श्लोकों में ईश्वर को सारा कर्तृत्व सौंपकर बतलाया गया है। जगत् में जो कुछ व्यवहार हो रहे हैं, उन्हें परमेश्वर जैसे चाहता है, वैसे करवा रहा है। इसलिये ज्ञानी मनुष्य को उचित है कि अहङ्कार-बुद्धि को छोड़कर अपने आपको सर्वथा परमेश्वर के ही हवाले कर दे। ६३वें श्लोक में भगवान् ने कहा है सही कि 'जैसी तेरी इच्छा हो, वैसा कर,' परन्तु उसका अर्थ बहुत गम्भीर है। ज्ञान अथवा भक्ति के द्वारा जहाँ बुद्धि साम्यावस्था में पहुँची, वहाँ फिर बुरी इच्छा बचने ही नहीं पाती। अतएव ऐसे ज्ञानी पुरुष का 'इच्छा-स्वातन्त्र्य' (इच्छा की स्वाधीनता) उसे अथवा जगत् को कभी अहितकारक नहीं हो सकता। इसलिये उक्त श्लोक का ठीक-ठीक भावार्थ यह है कि 'ज्यों ही तू इस ज्ञान को समझ लेगा (विमृश्य), त्यों ही तू स्वयंप्रकाश हो जायगा; और फिर (पहले से नहीं) तू अपनी इच्छा से जो कर्म करेगा, वही धर्म्य एवं प्रमाण होगा; तथा स्थितप्रज्ञ की ऐसी अवस्था प्राप्त हो जाने पर तेरी इच्छा को रोकने की आवश्यकता ही न रहेगी।"

अथवा (२) अब उपसंहार-रूप से गीताशास्त्र के अनन्य भक्ति-रूपी तत्त्व का उपदेश कृपालु भगवान् पुनः अर्जुन को सुनाते हैं—

अथवा (३) "सब प्रकार से परमात्मा के होकर, परमात्मा पर ही पूरा-पूरा भरोसा रखकर, सारी बागडोरी परमात्मा के हाथ में ही सौंप देना," इस सिद्धान्त के अनुसार अब भगवान् सारे गीताशास्त्र का भक्तिप्रधान उपसंहार यों करते हैं—

अथवा (४) अब उपसंहार-रूप से सार तत्त्व को संक्षेप से भगवान् ऐसे कहते हैं—

अथवा (५) समग्र गीताशास्त्र के उपदेशों में से केवल एक उपदेश को (जिसे अर्जुन को कभी भी छोड़ना न चाहिए) भगवान् अब संक्षेप से ऐसे निरूपण करते हैं—

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः ।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम् ॥६४॥

सर्व-गुह्यतमं, भूयः, शृणु, मे, परमं, वचः	फिर सारे गुह्यों का गुह्यतम मेरा परम वचन तू सुन	इष्टः, असि, मे, दृढं, इति	तू मेरा पक्का प्यारा है, ऐसा
		ततः, वक्ष्यामि, ते, हितं	इसलिये तेरे हित की कहूँगा

अन्वयार्थ—फिर तू मेरा सारे गुह्यों का गुह्यतम परम वचन सुन । तू मेरा अति (पक्का) प्यारा है, इसलिये तेरे हित की मैं कहूँगा ॥ ६४ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! यद्यपि पहले भी मुझसे गुप्त से अतिगुप्त ज्ञान तुझे कहा जा चुका है, तथापि मैं पुनः अपना अत्यन्त गुह्य सारभूत परम वचन तुझसे कहता हूँ, तू उसे ध्यान से सुन । क्योंकि तू मेरा अत्यन्त प्यारा है, अर्थात् पक्का मित्र है, इसलिये मैं जो कुछ कहूँगा वह

तेरे अत्यन्त हित की ही कहूँगा। और तू मेरे इस सारभूत वचन को ख़ूब ध्यान देकर सुन, ताकि तू उसके भाव को ग़लत या उलट न समझ सके ॥ ६४ ॥

सम्बन्ध—उक्त प्रतिज्ञानुसार भगवान् अब अपना परम वचन कहते हैं—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥ ६५ ॥

मत्-मनाः, भव, मत्-भक्तः	मुझमें मनवाला हो, मेरा भक्त हो	माम्, एव, एष्यसि	मुझे ही तू प्राप्त होगा
मत्-याजी, माम्, नमस्कुरु	मेरा पूजन करनेवाला हो, मुझे नमस्कार कर	सत्यं, ते, प्रतिजाने	तेरे लिये मैं सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ
		प्रियः, असि, मे	=तू मेरा प्यारा है

अन्वयार्थ—मुझमें मनवाला हो, मेरा भक्त हो, मेरा पूजन करनेवाला हो, तू मुझे ही प्राप्त होगा, तेरे से मैं सच्ची प्रतिज्ञा करता हूँ, (क्योंकि) तू मेरा प्यारा है ॥ ६५ ॥

व्याख्या*—हे अर्जुन ! तू मुझमें मनवाला हो, अर्थात् सर्वकाल तू

---

* इस पर श्रीज्ञानदेवजी की विचित्र व्याख्या ऐसे है—

"हे वीर ! अपने अन्तर्बाह्य सब व्यापारों का विषय मुझ व्यापक को ही बना दो। वायु जैसे पूर्णतः आकाश से मिली हुई रहती है, वैसे ही तुम सब कर्मों के समय मुझसे ही मिले हुए रहो। बहुत क्या कहें, अपने मन के लिये मुझे ही एक स्थान बना लो और अपने श्रवण मेरे ही गुण-श्रवण से भर लो। जो आत्मज्ञान से निर्मल हुए हैं तथा जो मेरे ही स्वरूप हैं, उन सन्तों पर ही तुम्हारी दृष्टि पड़े, जैसे कि कामी मनुष्य की दृष्टि उसकी इष्ट स्त्री पर ही पड़ती

मुझ वासुदेव का ही चिन्तन कर, अथवा मुझ सच्चिदानन्द-स्वरूप के ध्यान में निरन्तर चित्त दे, या अपना मन-चित्त तू पूरा-पूरा मेरे अर्पण कर, जिससे वह सब नितान्त मेरा ही हो जाय, और मेरी ही इच्छा और संकल्प के अनुसार प्रसन्न होकर चले। (इसी को पूर्व मच्चित्त करके कहा गया है)। मेरा भक्त हो, अर्थात् मेरे साथ तेरी इतनी भारी

है। मैं सब संसार का वसतिस्थान हूँ। मेरे जो शुद्ध नाम हैं, उन्हें अन्तःकरण में आने के लिये वाचा के मार्ग से लगा दो। ऐसी चेष्टा करो कि हाथों का कर्म करना या पाँवों का चलना भी मेरे ही हेतु हो। हे पाण्डव! अपना हो या पराया, उस पर उपकार-रूपी यज्ञ कर मेरे उत्तम याज्ञिक बनो। एक-एक बात क्या सिखाऊँ, अपनी ओर केवल सेवकाई रख अन्य सब कुछ मद्रूप और सेव्य ही समझो, तथा भूत-द्वेष छोड़कर सर्वत्र एक मुझको ही नमन करो। ऐसा करने से तुम्हें मेरे आत्यन्तिक आश्रय का लाभ होगा, और इस भरे हुए संसार में तीसरे की वार्ता मिटकर हमारा-तुम्हारा ही एकान्त हो रहेगा। फिर चाहे जब मैं तुम्हारा और तुम मेरा उपभोग ले सकोगे। इस प्रकार स्वभावतः आनन्द की वृद्धि होगी। और हे अर्जुन! जब प्रतिबन्ध करनेहारी तीसरी वस्तु का नाश हो जायगा, तब तुम मद्रूप ही होने के कारण अन्त में मुझे प्राप्त कर लोगे। जल के प्रतिबिम्ब को, जल के नाश होने पर बिम्ब में मिल जाने के लिये क्या कोई प्रतिबन्ध होता है? वायु को आकाश में मिलने के लिये, अथवा लहरों को समुद्र में मिलने के लिये किसका प्रतिबन्ध है? इसलिये तुम और हम-रूपी द्वैत देह-धर्म के कारण दिखाई देता है। देह-धर्म के नाश के समय तुम मद्रूप हो जाओगे। इस बात में सन्देह मत करो। इसमें कुछ मिथ्या हो, तो तुम्हारी ही शपथ। तुम्हारी शपथ उठाना आत्मस्वरूप को ही स्पर्श करना है, परन्तु प्रेम की जाति ही ऐसी है कि लज्जा का स्मरण नहीं होने देती। अन्यथा जिसके कारण प्रपञ्च-सहित यह विश्वाभास सत्य प्रतीत होता है, तथा जिसकी आज्ञा का प्रताप

प्रीति हो कि तुझमें और मुझमें कोई अन्तर न रहे, बल्कि मेरी ही इच्छा तेरी इच्छा हो, अर्थात् सर्व प्रकार से तेरा चित्त मेरी ही इच्छा पर ऐसा राज़ी प्रसन्न हो कि मानो वह वास्तव में तेरी ही इच्छा है, अथवा तू मेरा अनन्य भक्त हो। मेरा यजन कर अर्थात् सर्व कर्म तू स्वर्गादि-निमित्त नहीं किन्तु मेरे ही निमित्त अर्पण कर, अथवा तेरी मेरे साथ शुष्क प्रीति न हो बल्कि जो कुछ तेरे पास है अथवा जो कुछ

काल को भी जीतता है, वह मैं सत्य-सङ्कल्प ईश्वर हूँ और जगत् का हित-चिन्तक पिता हूँ, फिर मुझे शपथ खाने की चेष्टा क्यों करनी चाहिए ? परन्तु हे अर्जुन ! तुम्हारे प्रेम के कारण मैंने ईश्वरत्व के चिह्नों का त्याग कर दिया है। अजी ! तुम्हारी पूर्णता के सम्मुख मैं अपूर्ण हो रहा हूँ, तथाच राजा जैसे अपने कार्य के हेतु अपनी ही शपथ लेता है, वैसे ही इस ढङ्ग को भी समझो। इस पर अर्जुन ने कहा—हे देव ! ऐसे अद्भुत वचन न कहिए। वास्तव में हमारे सब कार्य केवल आपके एक नाम से ही सिद्ध हो जाते हैं, तिस पर आप स्वयं उपदेश कर रहे हैं, और उसमें शपथ भी खाते हैं ! आपके इस विनोद का कहीं ठिकाना है ? कमलों के वन को सूर्य की एक किरण प्रकाशित कर सकती है, परन्तु वह उसे सदा अपना सम्पूर्ण प्रकाश दे देता है ; पृथ्वी को शान्त कर जो सागर भी भर देती है, वह वर्षा केवल एक चातक के मिस से ही होती है, वैसे ही हे दानियों के राजा, हे कृपानिधि ! आपकी उदारता के लिये मैं एक निमित्त हुआ हूँ। तब श्रीकृष्ण ने कहा—ठहरो, ऐसा कहने का कोई अवसर नहीं है। यह सच है कि उपर्युक्त उपाय से तुम मुझे प्राप्त कर सकोगे। हे धनञ्जय ! जिस क्षण सैन्धव समुद्र में पड़ता है, उसी क्षण वह गल जाता है, फिर शेष रहने का कारण ही कौन-सा है ? वैसे ही सब भावों से मेरी भक्ति करने से, सर्वत्र मुझे ही देखने से, सम्पूर्ण अहङ्कार का नाश हो जायगा और तुम तत्त्वतः मद्रूप हो जाओगे। इस प्रकार कर्म से लेकर मेरी प्राप्ति तक उपायों का स्पष्ट रीति से वर्णन हो चुका

तू कर्तव्य-कर्म करता है, उस सबको मेरे ही अर्पण करता हुआ मेरी ही पूजा-दृष्टि से कर, जिससे प्रीति केवल कथन-मात्र न हो किन्तु व्यवहार में भी प्रत्यक्ष हो। मुझे नमस्कार कर, अर्थात् मेरी पूजा के बाद मुझे नमस्कार कर, अथवा मुझे सर्व-रूपों में भान करते हुए सर्वत्र मुझे ही नमन कर, अथवा जिन-जिन देवताओं का आराधन करते समय तू नमस्कार करता है, उन सब देवताओं में तू मुझे ही उनका सार समझकर नमस्कार कर, अथवा मेरे वास्तव स्वरूप से तू अभेद हो। इस प्रकार वर्तते हुए तू अवश्य मुझे ही प्राप्त होगा अर्थात् मुझ सच्चिदानन्द-स्वरूप में ही आ मिलेगा। अथवा "मैं ही वासुदेव हूँ" ऐसे भाव को प्राप्त हुआ तू मुझे अनुभव करेगा, अर्थात् आत्मानुभव वा ब्रह्म-साक्षात्कार को प्राप्त होगा। इसमें किञ्चित् संशय मत कर। मैं इस बात की सच्ची प्रतिज्ञा करके कहता हूँ कि उक्त रीति-अनुसार चलने से तू अवश्य मुझे ही प्राप्त होगा। तू मेरा अति प्यारा है, इसलिये मैं तेरी ख़ातिर यह सच्ची प्रतिज्ञा लेता हूँ ताकि तुझे किञ्चित् भी मेरे परम वचन

अर्थात् हे पाण्डु-सुत! प्रथम सब कर्मों को मुझे समर्पित कर सर्वतः मेरा प्रसाद प्राप्त करना चाहिए। अनन्तर मेरे प्रसाद से मेरा ज्ञान सिद्ध होता है, और उससे अवश्य ही मेरे स्वरूप की सायुज्यता प्राप्त हो सकती है। फिर हे पार्थ! उस समय साध्य और साधन नहीं रहते, अधिक क्या कहें कुछ भी शेष नहीं रहता। तुमने अपने सब कर्म सर्वदा मुझे समर्पित किये हैं, इसलिये आज मैं तुम पर प्रसन्न हुआ हूँ तथा इस प्रसन्नता के बल से मुक्त हो इस अपूर्व युद्ध के प्रतिबन्ध की परवा न करके मैं एकदम तुम पर भूल गया हूँ। क्योंकि जिससे प्रपञ्च-सहित अज्ञान का नाश होता है, जिससे केवल मैं दृग्गोचर होता हूँ, जो गीता-रूप है, उपपत्तिपूर्वक ऐसे आत्मज्ञान का मैंने तुम्हें नाना प्रकार से उपदेश किया है जिससे कि तुम्हारे पाप-पुण्य-रूपी सम्पूर्ण अज्ञान का नाश हो चुका।"

में संशय न हो, और तू मेरे उपदेश को निःशङ्क हुआ शीघ्र अपने आचरण में लाकर लाभ उठा सके ॥ ६५ ॥*

---

* इस श्लोक में जो बार-बार 'मैं' शब्द आया है, इसका अर्थ भिन्न-भिन्न टीकाकारों ने भिन्न-भिन्न रूप से किया है। कुछ ने 'मैं' का अर्थ भगवान् की व्यक्त मूर्ति लेकर सगुण-उपासना के रूप में इस सारे श्लोक की व्याख्या की है, कुछ ने 'मैं' से अभिप्राय भगवान् का अव्यक्त (सच्चिदानन्द)-रूप लेकर इस श्लोक की ज्ञाननिष्ठा-रूप निर्गुण-उपासना करके व्याख्या की है। पर हमारे विचार में यहाँ दोनों ही अर्थ लिए जा सकते हैं, और दोनों ही यहाँ युक्त बैठते हैं। और भगवान् ने यह श्लोक बोला भी ऐसी रीति से है कि प्रत्येक दृष्टिवाला इसको अपनी-अपनी दृष्टि के अनुसार समझकर इसका उपयोग कर सके, और उस उपयोग से उसी लक्ष्य पर पहुँच सके जिस पर कि दूसरी दृष्टिवाला पहुँचता है। इसमें सन्देह नहीं कि गीता अव्यक्त वा निर्गुण ब्रह्म को मानती है, और स्थान-स्थान पर अपना यह निर्णय भी देती है कि यही अव्यक्त (सच्चिदानन्द-स्वरूप परमात्मा का) सच्चा और श्रेष्ठ रूप है, तथापि गीता का यह भी तो सिद्धान्त है कि अव्यक्त स्वरूप की उपासना का प्रथम और सुलभ साधन व्यक्तोपासना है। यद्यपि ज्ञाननिष्ठा, पराभक्ति और अव्यक्तोपासना को गीता ब्रह्म-प्राप्ति का सर्वोपरि श्रेष्ठ और सीधा मार्ग कहती है, तथापि इसको सहल और सर्वोपयोगी नहीं मानती, बल्कि इसके विपरीत कर्मनिष्ठा, अपराभक्ति वा व्यक्तोपासना, जो टेढ़ा वा लम्बा मार्ग ब्रह्म-साक्षात्कार का है परन्तु गीता इसको सर्वोपयोगी, सरल, सुगम, सुलभ और सर्वसाधारण के लिये आवश्यक मानती है, और इसीलिये इसको श्रेष्ठ कहती है। सिद्धान्त यह है कि जो उपाय पहले साधन-रूप होता है वही परिपक्व होने पर सिद्ध-रूप हो जाता है, दूसरे शब्दों में यह कि जो भी पहले उपाय वा साधन होता है, वह पीछे चलकर स्वभाव वा प्रकृति हो जाता है। दृष्टान्त-रूप से दूसरों के देखादेखी हम गाली देने वा तम्बाकू

सम्बन्ध—(१) ऊपर के उपदेश (अपने परम गुह्य वचन) को भगवान् अब अन्य रीति से कहते हैं—

पीने को ग्रहण करते हैं। ग्रहण करते समय तो यह एक ऐच्छिक क्रिया, उपाय वा साधन होता है, पर जब इसी क्रिया में बार-बार प्रवृत्त होने से इसका निदिध्यासन हो जाता है, तो यही क्रिया हमारा स्वभाव वा प्रकृति-स्वरूप हो जाती है। ऐसे ही जब हम व्यक्तोपासना और अपराभक्ति का साधन अपने हाथ में लेते हैं, और गीता के उपदेशानुसार प्रत्येक कर्म को निष्काम बुद्धि से करते हुए भगवदर्पण करते हैं। चलते-फिरते, सोते-जागते, खाते-पीते सब क्रिया भगवत्परायण करते हैं, और अपने मन, बुद्धि, चित्त, अहङ्कार को सर्वदा भगवदर्पण करते हुए उसकी पूजा में लगाते हैं, और "वासुदेवः सर्वमिति"=यह सब वासुदेव का ही रूप है या इन सब रूपों में वासुदेव ही विराजमान है, ऐसी अनन्य भावना से जब हम सर्वत्र भगवान् को देखते हुए या प्रत्येक व्यक्ति को भगवान् की मूर्ति मानते हुए नमस्कार करते हैं, और इसी रीति से अपनी इच्छा को भी भगवदिच्छा के अधीन करते हुए अपनी इच्छा वा अपने आपको नितान्त खो बैठते हैं, तो अपने में भगवान् को और भगवान् में अपने को पाते हुए उससे नितान्त अभेद हो जाते हैं। आरम्भ में जो अनन्य भक्ति, निष्काम और निरासक्त कर्म साधन-रूप था, अन्त में जाकर वह हमारा स्वभाव या हम उसके तद्रूप हो जाते हैं। भेद केवल इतना है कि ज्ञान-मार्गवाला प्यारा सब नाम-रूप को मिथ्या समझकर और अपने को शरीर, मन, बुद्धि, चित्त, अहङ्कार से रहित शुद्ध सच्चिदानन्द-स्वरूप निश्चय करके, केवल इतने तत्त्व को सत्य मानकर इसका निरन्तर मनन करते हुए जब परिपक्वावस्था पर पहुँचता है, तो उसकी भेद-भावना नितान्त मिट जाती है और सर्वत्र उसे अपना सच्चिदानन्द-स्वरूप ही भान होने लगता है। और ऐसे ही भक्ति वा कर्म-मार्गवाला प्यारा अपने को सच्चिदानन्द-स्वरूप नहीं किन्तु एक परिच्छिन्न अज्ञानी जीव या व्यक्ति

अथवा (२) पूर्व श्लोक ६१, ६२ में जो "ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशे अर्जुन तिष्ठति।" "तमेव सर्वभावेन शरणं गच्छ।" ऐसा वचन कहा है, अब उसी वचन के अर्थ को भगवान् स्पष्ट-रूप से निरूपण करते हैं—

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोचयिष्यामि माशुचः॥ ६६॥

समझता हुआ अपने को पूर्ण-रूप से भगवदर्पण करता, सब में भगवद्भावना रखता और सब कुछ भगवत्-निमित्त करता और सब रूपों वा व्यक्तियों में उसी भगवान् का आराधन करता हुआ भगवत्परायण जब होता है, तो इस अनन्य भक्ति के पकने पर उसकी तुच्छ जीव-भावना स्वतः जाती रहती है, और उसे अपने में और बाहर सर्वत्र भगवान् ही भगवान् भान होता है। इस प्रकार दोनों का परिणाम एक ही होता है। पर पहला मार्ग केवल विचारवान्, सूक्ष्मद्रष्टा, ज्ञानवान् के लिये ही उपयोगी होता है, दूसरों के लिये अति कठिन और भ्रम में डालनेवाला होता है, और दूसरा मार्ग सर्व-साधारण के लिये उपयोगी, सरल और सुलभ है; इसलिये गीता ने इसे श्रेष्ठ कहकर इस पर और मार्गों की अपेक्षा अधिक ज़ोर दिया है। इस श्लोक की व्याख्या यदि इसी अध्याय के पूर्व श्लोकों (५० से ५८) के सम्बन्ध से की जाय, तो इस सबका भाव निर्गुणोपासना-रूप होता है, और यदि अध्याय ९ के श्लोक ३४ को और सारे गीताशास्त्र से प्रतिपादित सुलभ वा सुगम मार्ग को सम्मुख रखकर इसकी व्याख्या की जाय, तो इस सबका अभिप्राय सगुण-उपासना होता है। पर दोनों अभिप्राय यहाँ लिए जा सकते हैं और दोनों ही यहाँ युक्त हैं। अतएव हमने दोनों ही भाव इस श्लोक की व्याख्या में दिये हैं। जिसको जो रुचिकर हो, वह उसी भाव को अपना बनाकर उसका उपयोग करे और तदनुसार वर्तते हुए लाभ उठावे।

सर्व-धर्मान्, परित्यज्य	सारे धर्मों को त्याग कर	अहं, त्वां, सर्व-पापेभ्यः, मोक्षयिष्यामि, मा, शुचः	मैं तुझे सब पापों से छुड़ाऊँगा, मत शोक कर
मां, एकं, शरणं, व्रज	मुझ एक की शरण प्राप्त हो		

अन्वयार्थ—सारे धर्मों को त्यागकर मुझ एक ही की शरण तू ले। मैं तुझे सारे पापों से छुड़ाऊँगा। शोक मत कर ॥ ६६ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन! ईश्वर-प्राप्ति-निमित्त अनेक मार्ग-रूप धर्म जो शास्त्रों में कथन हुए हैं, जैसे अहिंसा, सत्य, मातृ-पितृ-सेवा, गुरु-सेवा और यज्ञ-याग इत्यादि; अथवा वर्णाश्रम के जो नाना धर्म; या शरीर, मन, बुद्धि, चित्त, अहङ्कार और इन्द्रिय आदि के स्वभाव-रूप धर्म जो हैं; इन सबको त्यागकर, अर्थात् फल के सहित इन सब धर्मों को मेरे अर्पण करके, अथवा उक्त सब धर्मों की गड़बड़ में न पड़कर, तू मुझ एक ही की शरण ले, अर्थात् मुझ अकेले को ही तू भज, अथवा मैं जो इन धर्मों का अधिष्ठान-रूप और फलप्रदाता ईश्वर हूँ, ऐसे केवल मेरे परम स्वरूप के ध्यान में ही तू निरन्तर चित्त दे। इस प्रकार जब तू अपना सब कुछ केवल मेरे अर्पण कर देगा, तो मैं तुझे उन सारे पापों से छुड़ा लूँगा कि जो आज तक तुझसे हुए हैं अथवा जो उक्त धर्मों के छोड़ने से तुझे आगे लगने का भय है। इसलिये अपने पूर्वकृत या आगे होनेवाले पापों के विषय में तू शोक मत कर, न बहुत ज्ञान छाँट, न दलीलों में समय नाश कर, बल्कि मेरी प्रतिज्ञा पर पूर्ण विश्वास रखकर मेरे अन्तिम उपदेश (वचन) को आचरण में ला। इसी में तेरा सर्व प्रकार से निस्सन्देह कल्याण होगा। तात्पर्य इस सारे का संक्षेप से यह है कि हे अर्जुन! तू इन सब शरीर, प्राण वा मन, बुद्ध्यादि इन्द्रियों तथा वर्णाश्रम के धर्मों में आसक्त मत हो और न इनके वश में आकर शोक कर, बल्कि इन सबको "यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि

ददासि यत् । यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ।" (६. २७) पूर्व कही रीति के अनुसार फल के सहित मेरे अर्पण करके तू मेरे परायण हो । ऐसा करने से तू उक्त सब धर्मों से निरासक्त रहेगा, जिससे आगे को किसी पाप वा पुण्य-रूपी बन्धन में फँसने न पायेगा । और जो पूर्व इनमें आसक्ति से बन्धन वा पाप उत्पन्न हो चुके हैं, उनसे भी तू उक्त रीति से मुझे प्राप्त होते ही छूट जायगा । इस प्रकार सब तरह के बन्धनों वा पापों से मुक्त हुआ तू मुझ (परब्रह्म) में लीन हो जायगा । इसलिये तू, हे अर्जुन ! अपने पूर्व-कृत पापों का भी शोक मत कर ॥ ६६ ॥ ❀

सम्बन्ध—(१) इस प्रकार सम्पूर्ण गीताशास्त्र का सारभूत उपदेश देकर भगवान् अब इस गीताशास्त्र के पढ़ाने और सुनाने के विषय में नियम प्रतिपादन करते हैं—

❀ अर्जुन के प्रति उपदेश में भगवान् का यह अन्तिम श्लोक है । इसका आशय श्रीशङ्कराचार्यजी यों लेते हैं कि—"समस्त कर्मों को त्यागकर मुझ एक की शरण में आ, अर्थात् सबका आत्मा, सम, सर्वभूतों में स्थित, ईश्वर, अच्युत तथा गर्भ, जन्म, जरा और मरण से रहित 'मैं ही हूँ' इस प्रकार मुझ एक के शरण हो । अभिप्राय यह कि 'मुझसे अन्य कुछ है ही नहीं' ऐसा निश्चय कर । इस प्रकार निश्चयवाले को मैं अपना स्वरूप प्रत्यक्ष कराके समस्त धर्माधर्म बन्धन-रूप पापों से मुक्त कर दूँगा ।" श्रीरामानुज इसका यों आशय लेते हैं कि—"कर्मों में आसक्ति और फल का त्याग ही पूर्व (१८. ९ में) भगवान् ने त्याग कहा है, इसलिये यहाँ धर्मों के त्याग से तात्पर्य यह है कि कर्मों में आसक्ति और फल को त्यागकर केवल ईश्वर-परायण हो । इस प्रकार वर्तने से परमात्मा सारे सञ्चित पापों से तुझे छुड़ा देगा ।" श्रीमाधवाचार्य यों लिखते हैं कि—"धर्म के त्याग से अभिप्राय भगवान् का केवल कर्म-फल के त्याग से है, नहीं तो युद्ध का विधान कैसे होता ।"

अथवा (२) अब इस गीता-धर्म की परम्परा जारी रखने की विधि को भगवान् निरूपण करते हैं—

अथवा (३) गीताशास्त्र के अर्थ का विशेष-रूप से उपसंहार करने के बाद भगवान् अब इस शास्त्र की सम्प्रदाय-विधि को कथन करते हैं—

अथवा (४) अब भगवान् इस गीताशास्त्र को अनधिकारी के प्रति सुनाने का निषेध करते हैं—

श्रीतिलक महाराज इसका यों तात्पर्य निकालते हैं कि—"भगवान् अन्त में अर्जुन को निमित्त बनाकर सभी को आश्वासन देते हैं कि मेरी दृढ़ भक्ति करके मत्परायण बुद्धि से स्वधर्मानुसार प्राप्त होनेवाले कर्म करते जाने पर इहलोक और परलोक दोनों जगह तुम्हारा कल्याण होगा ; डरो मत। यही कर्मयोग कहलाता है और सब गीता-धर्म का सार भी यही है।" आर्य-समाज के पं० राजारामजी यह अभिप्राय इस श्लोक से निकालते हैं कि—"अर्जुन ने जो चाचे आदि के वध के विचार से शोक में पड़कर यह कहा था कि 'भिक्षा माँगकर खा लेना मेरे लिये धर्म है, पर इन पूज्यों के विरुद्ध युद्ध करना धर्म नहीं।' इसका अन्तिम उत्तर श्रीकृष्ण ने यह दिया कि तू सारी बातों को छोड़कर मेरी शरण पकड़, अन्तर्यामी की स्वाभाविक प्रेरणा में प्रवृत्त हो, वह परमात्मा तुझे सारे पापों से बचाकर चलाएँगे। अथवा यह कि सारी बातों को छोड़कर मेरी शरण पकड़, पापों से बचाने के लिये मैं तेरा ज़िम्मेवार हूँ, तू शोक मत कर।" मेरठ के श्रीयुत रामप्रसाद इसका ऐसा आशय निकालते हैं कि—"धर्म शब्द का अर्थ यहाँ उन कर्मों से है, जिनके कारण से मनुष्य की कोई ख़ास हालत, स्वभाव या प्रकृति स्थिर हो जाती है। इस हेतु से यहाँ इस शब्द के अर्थ बुरे-भले दोनों कर्मों के हैं, जिनको मामूली तौर पर धर्म और अधर्म नाम से पुकारते हैं। सब धर्मों के छोड़ने से यहाँ उस भाँति के छोड़ने से मतलब है, जैसा छोड़ना गीताशास्त्र में सिखाया है,

इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन ।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति ॥६७॥

इदं, ते, न, अतपस्काय, न, अभक्ताय कदाचन	यह तुझे न तपहीन के प्रति न कभी भक्तिहीन के प्रति	न, च, अशुश्रूषवे वाच्यं	और न सुनना न चाहनेवाले के प्रति कहना उचित है
		न, च, मां, यः, अभ्यसूयति	और न जो मुझे निन्दता है

अर्थात् अधर्म को बिलकुल छोड़ दे और धर्म को केवल इस प्रकार छोड़े कि उसके फल की अपने वास्ते कुछ इच्छा न रक्खे और न इस हेतु से करे बल्कि ईश्वर के निमित्त उसकी भूत आत्माओं को लाभ पहुँचाने के वास्ते, और ऐसा करना अपना धर्म समझकर करे। यही असल त्याग कर्मों का है जैसा कि ऊपर बयान किया गया है। इसी तरह सब धर्मों को छोड़कर और पुरुषोत्तम परमेश्वर को ही सब स्थानों पर देखकर परमेश्वर-प्राप्ति ही अपनी गति समझनी चाहिए, ऐसा करने से जो कुछ बुरे कर्म दुःख देनेवाले या अच्छे कर्म केवल बदले के लिये दुबारा जन्म-मरण करानेवाले किये हैं, इन सबसे छूट जाता है और मोक्ष हो जाता है।" इस श्लोक पर श्रीज्ञानदेवजी की विचित्र व्याख्या संक्षेप से ऐसे है—"अजी! दिन के पीठ फेरते ही जैसे मृगजल भी अदृश्य हो जाता है, अथवा काठ का त्याग करने से जैसे उसमें रहनेहारी अग्नि का भी त्याग हो जाता है, वैसे ही जिससे धर्माधर्म का कोलाहल प्रतीत होता है उस मूल अज्ञान का त्यागकर सम्पूर्ण धर्म का त्याग करो। फिर अज्ञान मिट जाने पर स्वभावतः एक मैं ही शेष रहता हूँ। जैसे निद्रा-सहित स्वप्न का नाश हो जाने पर मनुष्य आप ही अकेला रह जाता है, वैसे ही केवल एक मेरे अतिरिक्त कोई भिन्न पदार्थ नहीं रहते। ऐसा जो

अन्वयार्थ—यह (गीता-शास्त्र) तुझे न कभी तपहीन, न भक्तिहीन, न सुनना न चाहनेवाले के प्रति और न उसके प्रति कहना उचित है कि जो मुझे निन्दता है ॥ ६७ ॥

मैं हूँ उससे सोऽहं-ज्ञान द्वारा अनन्य हो रहो। निज को भिन्न न समझकर मेरी एकता जानना ही मेरी शरण में आना कहलाता है। जैसे घट के नाश से घटाकाश आकाश में मिल जाता है, वैसी ही एकता मेरी शरण में आकर होनी चाहिए। सुवर्णमणि जैसे सोने में मिल जाता है, तरङ्ग जैसे पानी में मिल जाती है, वैसे ही, हे धनञ्जय! तुम मेरी शरण में आओ। अन्यथा, हे किरीटी! बड़वाग्नि भी समुद्र के पेट की शरण में है तथापि वह जुदी ही जलती रहती है, वैसी सब बातें छोड़ दो। मेरी शरण में आना और फिर जीवाभिमान रखना! धिक्कार है! ऐसा कहते हुए लोगों को लज्जा कैसे नहीं आती? अजी हे धनञ्जय! सामान्य राजा का भी सम्बन्ध करने से उसकी दासी भी उसके बराबरी की हो जाती है, फिर मुझ विश्वेश्वर की भेंट हो और जीव-दशा न छूटे! इन अभद्र शब्दों को सुनना भी न चाहिए। अतः ऐसा करो कि जिसमें मद्रूपता प्राप्त हो जाय और मेरी सेवा सहज में हो सके। ज्ञान से यह बात हाथ आती है। फिर जैसे मट्ठे से निकाला हुआ माखन फिर मट्ठे में डालने से उसमें, चाहे कुछ भी क्यों न करो, नहीं मिलता, वैसे ही अद्वैत भाव से मेरी शरण में आने पर स्वभावतः धर्माधर्म भी तुम्हें स्पर्श न करेंगे। निरे लोहे पर ज़ङ्ग चढ़ता है, पर पारस के सङ्ग से जब वह लोहा सोना हो जाता है, तब उस पर कोई मैल नहीं बैठ सकता। अथवा अगर काठ को रगड़कर अग्नि निकाली जाय, तो वह फिर से काठ में बन्द नहीं हो सकती। हे अर्जुन! सूर्य क्या कभी अँधेरा देखता है? अथवा जागृति होने पर क्या स्वप्न का भ्रम दिखाई दे सकता है? वैसे ही मुझसे एक-रूप होने पर मेरे स्वरूप के अतिरिक्त और कुछ क्योंकर शेष रह सकता है? अतएव उसकी तुम अपने

व्याख्या—हे अर्जुन ! यह परम गुह्य गीता-शास्त्र जो तेरे मोह और दुःख की निवृत्ति के लिये मैंने सिद्धान्त-रूप से विस्तारपूर्वक तुझे सुनाया

मन में कुछ चिन्ता न करो। तुम्हारा सब पाप-पुण्य मैं ही हो जाऊँगा। फिर सब बन्ध-चिह्नों-सहित पाप का भिन्न रह जाना मेरे ज्ञान के कारण मिथ्या हो जायगा। जल में लवण डाला जाय, तो उसका सर्वत्र जल ही हो रहता है, वैसे ही, हे ज्ञानी ! अनन्य रीति से मेरी शरण में आने पर तुम्हें सर्वज्ञ मत्स्वरूप ही प्रतीत होगा। इस प्रकार, हे धनञ्जय ! तुम आप ही आप मुक्त हो जाओगे। मुझे जान लो, तो मैं तुम्हें मुक्त कर दूँगा। अतः मुक्ति की चिन्ता मत करो।.........।" श्रीमधुसूदन स्वामी अन्य रीति से इस श्लोक की व्याख्या ऐसे करते हैं—"मामेकं शरणं व्रज' इस वचन से श्रीभगवान् ने भगवच्छरण का विधान किया है, सो भगवच्छरण शास्त्र में तीन प्रकार से कही गई है। जैसे—'तस्यैवाहं ममैवासौ स एवाहमिति त्रिधा। भगवच्छरणत्वं स्यात्साधनाभ्यासपाकतः ॥'=इस अधिकारी पुरुष को साधनों के अभ्यास के परिपाक से तीन प्रकार की भगवच्छरण होती है। एक तो 'उस परमेश्वर का ही मैं हूँ।' यह सामान्य भगवच्छरण है; दूसरी 'वह परमेश्वर मेरा ही है।' यह विशेष भगवच्छरण है; तीसरी 'वह परमेश्वर मैं ही हूँ।' यह अति उत्तम भगवच्छरण है। इनमें पहली भगवच्छरण मृदु कहलाती है, जैसे—'सत्यपि भेदापगमे नाथ तवाहं न मामकीनस्त्वम्। सामुद्रो हि तरङ्गः क्वच न समुद्रो न तारङ्गः ॥'=हे सर्व जगत् के नाथ (परमेश्वर) ! जैसे समुद्रों का और तरङ्गों का भेद नहीं है, तो भी समुद्र के तरङ्ग कहलाते हैं, कोई समुद्र तरङ्गों का नहीं कहा जाता, वैसे ही तुम्हारा और हमारा यद्यपि भेद नहीं है तथापि मैं तुम्हारा ही हूँ, तू (परमेश्वर) हमारा नहीं है। दूसरी भगवच्छरण मध्यम कहलाती है, जैसे—'हस्तमुत्क्षिप्य यातोसि बलात्कृष्ण किमद्भुतम्। हृदयाद्यदि निर्यासि पौरुषं गणयामि ते ॥'= हे कृष्ण ! बलात्कार से तू मेरे हाथ को छुड़ाकर चला जा रहा है। इससे

वा समझाया है, उसको तुझे ऐसे पुरुष के प्रति कभी न सुनाना चाहिए कि जो न तो तपी हो, अर्थात् जो इन्द्रियों के निग्रह से रहित हो, अथवा जो केवल विषय-लम्पटी हो, जो न मेरा भक्त हो, जो सुनने की इच्छा तक न रखता हो, और जो मुझे एक मनुष्य वा अल्पज्ञ व्यक्ति मानकर मेरी निन्दा करता हो, या मेरे से ईर्षा करता हो। ऐसा समझ कि ये सब गीता-शास्त्र के अनधिकारी हैं ॥ ६७ ॥

तेरा अद्भुत पौरुष सिद्ध नहीं होता ; यदि मेरे हृदय से तुम निकल भागोगे, तो मैं तुम्हारा पौरुष मानूँगा। इस पर सूरदासजी का वचन है—'बाहँ छुड़ाये जात हो निबल जानिके मोय ; हिरदय से जब जाउगे, तब जानूँगो तोय।' और तीसरी भगवच्छरण अतिमात्र कहलाती है, जैसे—'सकलमिदमहं च वासुदेवः परम पुमान्परमेश्वरः स एकः। इति मतिरचला भवत्यनन्ते हृदयगते व्रजतान्विहाय दूरात् ॥'=यह स्थावर-जङ्गम-रूप जगत् और मैं सब वासुदेव-रूप ही है। सो परम पुरुष परमेश्वर एक अद्वितीय रूप ही है। इस प्रकार की अचल मति जिन पुरुषों की अपने हृदयगत परमात्मा के विषय में होती है, हे दूत! ऐसे सर्वत्र ब्रह्मदृष्टिवाले पुरुषों के समीप तुम कभी मत जाइयो, बल्कि ऐसे तत्त्ववेत्ता को दूर से त्यागकर तुम परे गमन करो।" यह तीन प्रकार की भगवच्छरण भक्तिरसायन ग्रन्थ में श्रीमधुसूदन स्वामी ने विस्तारपूर्वक वर्णन की है, और इस गीताशास्त्र में भगवान् ने कर्म-निष्ठा, ज्ञान-निष्ठा और भगवद्भक्ति-निष्ठा, इस प्रकार से तीन तरह की निष्ठा निरूपण की है, और इस अठारहवें अध्याय में भगवान् इन तीनों निष्ठाओं का उपसंहार करते हैं। पहले कर्म-निष्ठा का उपसंहार तो "स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः।" (४६) इस वचन से किया है। और ज्ञान-निष्ठा का उपसंहार "ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्।" (५५) इस वचन से किया है, और तीसरी भगवद्भक्ति-निष्ठा, जो उक्त दोनों निष्ठाओं का साधन-रूप भी है और फल-रूप भी है, इसलिये इसका उपसंहार

सम्बन्ध—(१) अब उक्त दोषों से रहित अर्थात् अधिकारी पुरुष को गीता-शास्त्र के सुनाने का भगवान् फल निरूपण करते हैं—

अथवा (२) अब इस शास्त्र-परम्परा को चलानेवाले के लिये भगवान् फल बतलाते हैं—

य इदं* परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति ।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः ॥ ६८॥

यः, इदं, परमं, गुह्यं	जो इस परम गुह्य (शास्त्र) को	भक्तिं, मयि, परां, कृत्वा	मुझमें परम भक्ति को करके
मत्-भक्तेषु, अभिधास्यति	मेरे भक्तों में धारण करावेगा	माम्, एव, एष्यति, असंशयः	निस्सन्देह मुझे ही प्राप्त होगा

अन्वयार्थ—जो इस परम गुह्य (गीता-शास्त्र) को मेरे भक्तों में धारण करावेगा, वह मुझमें परम भक्ति करके निस्सन्देह मुझे ही प्राप्त होगा ॥ ६८ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! तुम्हारा-हमारा संवाद-रूप जो यह परम गुह्य गीता-शास्त्र है, इसको जो मेरे प्यारों अर्थात् ईश्वर-भक्तों में सुना-समझाकर धारण करावेगा ; अर्थात् भले प्रकार से पाठ करके अथवा सूक्ष्म विचार

भगवान् ने अन्त में "सर्वधर्मान्परित्यज्य" इस वचन से किया है। हमारे ख़्याल में इस श्लोक की व्याख्या आत्म-ज्ञान की दृष्टि से वा भक्ति-दृष्टि दोनों प्रकार से हो सकती है और अधिकारी-भेद से दोनों ही यहाँ युक्त बैठती हैं, अतएव हमने दोनों ही भाव व्याख्या में प्रकट कर दिये हैं, जिसको जो रुचिकर हो, उसे अपना ले।

* कई पुस्तकों में 'इमं' पाठ है और कई में 'इदं' है। दोनों के अर्थ एक समान होने से हमने इदं ही को स्पष्ट समझकर रख लिया है।

से इसको कथा द्वारा समझाते हुए जो सज्जन मेरे इस गुह्य शास्त्र को मेरे भक्तों अर्थात् अधिकारी पुरुषों में खूब स्थापन वा खचित करेगा ; वह पुरुष वास्तव में मेरी परम भक्तिवाला माना जायगा। और इस प्रकार वह मेरी परम भक्ति करता हुआ अवश्यमेव मुझ सच्चिदानन्द को ही प्राप्त होगा, इसमें किञ्चित् भी संशय नहीं ॥ ६८ ॥

सम्बन्ध—अब भगवान् उक्त (गीता-शास्त्र सुनानेवाले) पुरुष की उपमा वा माहात्म्य कथन करते हैं—

न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः ।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि ॥६९॥

न, च, तस्मात्, मनुष्येषु, कश्चिन्, मे, प्रियकृत्-तमः	और मनुष्यों में उससे बढ़कर प्यार करनेवाला मेरा कोई नहीं है	भविता, न, च, मे, तस्मात्, अन्यः, प्रिय-तरः, भुवि	और पृथिवी पर उससे बढ़कर मेरा प्यारा कोई दूसरा नहीं होगा

अन्वयार्थ—मनुष्यों में उससे बढ़कर मुझे प्यार करनेवाला कोई नहीं है और न उससे बढ़कर प्यारा मुझे इस पृथिवी पर कोई दूसरा होगा ॥ ६९ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! जो सज्जन मेरे भक्तों में गीता-शास्त्र का सुनाने और समझानेवाला है, उस प्रचारक महाशय से बढ़कर कोई भी इन मनुष्यों में मेरी भक्ति करनेवाला नहीं हो सकता, अर्थात् ऐसा प्रचारक संसार में सबसे बढ़कर मुझे प्यार करनेवाला होता है। और इस पृथिवी पर उस प्रचारक से बढ़कर कोई भी दूसरा मेरा प्यारा नहीं होता, अर्थात् मैं भी इस लोक में उसी प्रचारक को ही सबसे बढ़कर प्यार करता हूँ ॥ ६९ ॥

सम्बन्ध—पढ़ाने तथा सुनानेवाले का फल और माहात्म्य निरूपण करके भगवान् अब इस गुह्य शा के पढ़ने का फल वर्णन करते हैं—

अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः ।
ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः ॥७०॥

अध्येष्यते[7], च[1], यः[2], इमं[4], धर्म्यं[5], संवादं[6], आवयोः[3]	और[1] जो[2] हम[3] दोनों के इस[4] धर्मयुक्त[5] संवाद[6] को पढ़ेगा[7]	ज्ञान[3]-यज्ञेन[4], तेन[1], अहं[2], इष्टः[5], स्याम्[6], इति[7], मे[8], मतिः[9]	उससे[1] मैं[2] ज्ञान[3]-यज्ञ[4] से पूजा[5] हुआ हूँगा[6], ऐसा[7] मेरा[8] निश्चय[9] है

अन्वयार्थ—और जो हम दोनों के इस धर्मयुक्त संवाद को पढ़ेगा, उससे मैं ज्ञान-यज्ञ द्वारा पूजा हुआ हूँगा। मेरा ऐसा निश्चय है ॥ ७० ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! यह जो मोह और दुःखों की निवृत्ति-निमित्त संवाद तेरे और मेरे बीच हुआ है, और आत्मज्ञान-रूप धर्म का कारण होने से, या स्वधर्म को जनानेवाला होने से, जो धर्ममय है, इस ऐसे धर्ममय संवाद को जो भी प्राणी पढ़ेगा, अर्थात् इसका पाठ तक करेगा, मैं ऐसा समझूँगा कि उसने मेरी अर्थात् मुझ परमात्मा की ज्ञान-यज्ञ द्वारा पूजा की है। अर्थात् चौथे अध्याय में जो मैंने सब यज्ञों से ज्ञान-यज्ञ श्रेष्ठ कहा है, और गीता-शास्त्र का अध्ययन करना भी ज्ञान-यज्ञ ही है, इसलिये इस शास्त्र का अध्ययन करनेवाला भी ज्ञान-यज्ञ करनेवाला है, ऐसा मेरा निश्चय है ॥ ७० ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार गीता-शास्त्र के वक्ता पुरुष के फल को तथा अध्ययन करनेवाले के माहात्म्य को निरूपण करके अब भगवान् इस गीता-शास्त्र के श्रोता पुरुष के फल को वर्णन करते हैं—

श्रद्धावाननसूयश्च शृणुयादपि यो नरः ।
सोऽपि मुक्तः शुभाँल्लोकान् प्राप्नुयात्पुण्यकर्मणाम् ॥ ७१ ॥

श्रद्धावान्, अनसूयः, च, शृणुयात, अपि, यः, नरः	श्रद्धावान् और असूया-रहित होकर जो भी नर सुनेगा	सः, अपि, मुक्तः शुभान्, लोकान्, प्राप्नुयात्, पुण्य-कर्मणाम्	वह भी मुक्त होकर पुण्य कर्मवालों के शुभ लोकों को प्राप्त होगा

अन्वयार्थ—श्रद्धावान् और असूया-रहित होकर जो भी नर (इसको) सुनेगा, वह भी मुक्त होकर पुण्यकर्मवालों के शुभ लोकों को प्राप्त होगा ॥ ७१ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! श्रद्धावान् होकर, अर्थात् इस भगवद्वाक्य-रूपी गीता-शास्त्र पर पूर्ण विश्वास और श्रद्धा से युक्त होकर; और असूया-रहित हुआ, अर्थात् इस भगवदुपदेश में न दोष-दृष्टि रखता हुआ और न इस उपदेश को निन्दता हुआ बल्कि चित्त से ईर्षा को नितान्त निकालकर; जो भी मनुष्य इस धर्मयुक्त (वा रहस्य-रूप) गीता-शास्त्र को सुनेगा, वह मुक्त होकर, अर्थात् शरीर को त्यागने के बाद, अथवा सब झगड़ों और पापों से छूटकर, पुण्य-कर्म करनेवाले पुण्यात्माओं के शुभ लोकों को प्राप्त होगा, अर्थात् जिन उत्तम लोकों को अश्वमेधादि पुण्य-कर्मों के कर्ता प्राप्त होते हैं, उनको ही यह श्रद्धा से गीता-शास्त्र का सुननेवाला भी प्राप्त होता है ॥ ७१ ॥

सम्बन्ध—(१) गीता-शास्त्र का पूर्वोक्त रहस्य सारा-का-सारा अर्जुन की समझ में बैठ गया या नहीं, और इसके श्रवण से अर्जुन के सब संशय निवृत्त हो गये या नहीं, इस आशय से भगवान् अब अर्जुन से ऐसा पूछते हैं—

अथवा (२) यदि मेरे उक्त उपदेश ने पूरा-पूरा काम न किया हो, तो फिर अन्य रीति से मैं उपदेश करूँ, इस भाव से भगवान् अब अर्जुन को इस प्रकार पूछते हैं—

कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा ।
कच्चिदज्ञानसम्मोहः प्रनष्टस्ते धनञ्जय ॥ ७२ ॥

कच्चित्, एतत्, श्रुतं, पार्थ, त्वया, एकाग्रेण, चेतसा	हे अर्जुन ! क्या तुझसे यह एकाग्र चित्त से सुना गया ?	कच्चित्, अज्ञानं-सम्मोहः प्रनष्टः, ते, धनञ्जय	हे अर्जुन ! क्या अज्ञान-जन्य संम्मोह तेरा नष्ट हो गया ?

अन्वयार्थ—हे पार्थ ! क्या यह (सब) तुझसे एकाग्रचित्त से सुना गया ? हे अर्जुन ! क्या (इससे) तेरा अज्ञान-जन्य सम्मोह नष्ट हो गया ? ॥ ७२ ॥

व्याख्या—हे पृथा-पुत्र अर्जुन ! यह जो ब्रह्मविद्या-रूप गीता-शास्त्र मैंने सविस्तर तुझे सुनाया है, क्या तूने एकाग्रचित्त से इस सबको ख़ूब सुन-समझ लिया ? और इसके ठीक-ठीक सुनने और समझने के बाद क्या तेरी सब व्याकुलता और धर्म-विषय-मूर्खता (जो स्वधर्म के अज्ञान तथा निज-स्वरूप के अज्ञान के कारण तुझमें प्रकट हो आई थी) नितान्त नष्ट हो गई या नहीं ॥ ७२ ॥ ❀

सम्बन्ध—भगवान् के प्रश्न के उत्तर में अर्जुन अब विनय करता है—

❀ यदि शिष्य को समझ न आये, तो पुनः-पुनः यत्न करके उसे भिन्न-भिन्न रीतियों से समझाकर कृतार्थ करना, ऐसा आचार्य का धर्म होता है। इस प्रश्न से भगवान् ने अपना आचार्य का धर्म भी स्पष्ट किया है।

अर्जुन उवाच—

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत ।
स्थितोऽस्मि गत सन्देहः करिष्ये वचनं तव ॥७३॥

नष्टः, मोहः, स्मृतिः, लब्धा, त्वत्-प्रसादात्, मया, अच्युत	हे अच्युत ! तेरी कृपा से मोह नष्ट हो गया और स्मृति मुझसे पा ली गई है	स्थितः, अस्मि, गत-सन्देहः	दूर हुए सन्देह-वाला मैं स्थित हूँ
		करिष्ये, वचनं, तव,	तेरा कहना करूँगा

अन्वयार्थ—अर्जुन ने उत्तर दिया—हे अच्युत ! आपकी कृपा से (मेरा) मोह नष्ट हो गया है और स्मृति * मैंने पा ली है। (अब) मैं दूर हुए सन्देहवाला होकर स्थित हूँ। (अब) आपका कहना मैं करूँगा ॥ ७३ ॥

व्याख्या—अर्जुन बोला—हे अपने स्वरूप के निश्चय से किञ्चित्

---

* "स्मृतिर्लब्धा"=अपने स्वरूप के ज्ञान का लाभ हुआ, अर्थात् आत्म-स्मृति प्राप्त हुई (श्रीशङ्कराचार्य)। अपने शुद्ध स्वरूप को प्राणी भूला हुआ वा भूला रहता है, उसको यथार्थ जानना अपने आपकी स्मृति पाना है। इस पर श्रुति ऐसा कहती है—"सत्त्वशुद्धौ ध्रुवाः स्मृतिः । स्मृतिलाभे सर्वग्रंथीनां विमोक्षः।"=अन्तःकरण के शुद्ध होने पर 'मैं ब्रह्म हूँ।' ऐसी स्मृति अटल होती है और इस स्मृति की प्राप्ति पर सारी हृदय-ग्रन्थियाँ खुल जाती हैं, अर्थात् हृदय के संशय-विपर्यय सब दूर हो जाते हैं। इस श्रुति को अनुभव करते हुए अर्जुन ने कहा है कि 'स्थितोऽस्मि गतसन्देहः' इति=सन्देह-रहित हुआ मैं स्थित हूँ (श्रीमधुसूदन स्वामी)। इस पर श्रीतिलक महाराज अपना कटाक्ष जमाते हुए ऐसे विरोध करते हैं—"जिनकी साम्प्रदायिक समझ यह है कि गीता-धर्म में भी संसार को छोड़ देने का

न च्युत होनेवाले (फिसलनेवाले) अथवा अपनी प्रतिज्ञा से किञ्चित् न हिलनेवाले साक्षात् भगवान् कृष्ण! मैं आपके प्रसाद (कृपा वा अनुग्रह) से होश में आ गया हूँ और मेरा भ्रम नष्ट हो गया है, अर्थात् युद्ध में अपने पूजनीय गुरुओं और बान्धवों को देखकर जो मैं व्याकुल हो गया था, अपने आपको भूल गया था, और धर्म से मूढ़ हो गया था, वह भूल वा मूर्खता आपकी कृपा से अब नितान्त नष्ट हो गई है, मैं होश में आ गया हूँ, अब मुझे पता लग गया अथवा स्मरण हो गया है कि मैं वास्तव में कौन हूँ, शरीर इत्यादि क्या और कैसा है, और मेरा धर्म वास्तव में क्या है। इस प्रकार मैं आपके अनुग्रह से अब

उपदेश किया गया है, उन्होंने इस अन्तिम अर्थात् ७३ वें श्लोक की बहुत कुछ निराधार खींचातानी की है। यदि विचार किया जाय कि अर्जुन को किस बात की विस्मृति हो गई थी, तो पता लगेगा कि दूसरे अध्याय (२.७) में उसने कहा है कि 'अपना धर्म अथवा कर्तव्य समझने में मेरा मन असमर्थ हो गया है' (धर्मसम्मूढचेताः)। अतः उक्त श्लोक का सरल अर्थ यही है कि उसी (भूले हुए) कर्तव्य धर्म की अब उसे स्मृति हो गई है। अर्जुन को युद्ध में प्रवृत्त करने के लिये गीता का उपदेश किया गया है, और स्थान-स्थान पर ये शब्द कहे गये हैं कि 'इसलिये तू युद्ध कर।' (गीता २. १८; २. ३७; ३. ३०; ८. ७; ११. ३४); अतएव इस 'आपके आज्ञानुसार करूँगा' पद का अर्थ 'युद्ध करता हूँ' ही होता है।" हमारे विचार में श्रीतिलक महाराज दूसरों को तो खींचातानी करनेवाला समझते हैं, पर स्वयं इस रोग से ख़ाली नहीं हैं। इस श्लोक की व्याख्या ज्ञान और कर्म दोनों दृष्टि से हो सकती है और दोनों ही रीति से ठीक बैठती है, अपनी-अपनी रुचि के अनुसार प्रत्येक को अपनी ही दृष्टि ठीक दीखती है, और दूसरे की ग़लत। इसलिये हमने किसी का पक्ष न करके दोनों को उचित समझते हुए दोनों दृष्टि से व्याख्या की है। (टीकाकार)

कृतार्थ हो गया हूँ, मेरे सारे संशय-विपर्यय ऐसे भाग गये हैं जैसे सूर्य से अन्धकार भागता है, और अब मैं नितान्त सन्देह-रहित हुआ अपने आपमें स्थित हूँ। अब अवश्य आपका वचन ही पालन करूँगा, अर्थात् "सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज" यह जो आपने अन्तिम आज्ञा दी है, उसी का मैं पालन करूँगा; अथवा स्थान-स्थान पर जो आपने मेरा कर्तव्य दर्शाकर मुझे 'युद्धाय युज्यस्व', 'युद्धयस्व' इत्यादि वचनों से युद्ध करने की आज्ञा की है, उसी के अनुसार अब मैं चलूँगा अर्थात् युद्ध इत्यादि करूँगा, अथवा जो आज्ञा आप कृपया अब करेंगे, उसका मैं सहर्ष पालन करूँगा ॥ ७३ ॥

सम्बन्ध—(१) यहाँ तक श्रीकृष्ण और अर्जुन का संवाद समाप्त हुआ। अब सञ्जय और धृतराष्ट्र के पूर्व संवाद अर्थात् कथा का सम्बन्ध अगले पाँच श्लोकों में दर्शाते हुए वेदव्यासजी इस अति उत्तम कथा-रूप ग्रन्थ की समाप्ति करते हैं—

अथवा (२) यहाँ तक तो श्रीकृष्ण और अर्जुन का संवाद समाप्त हुआ। अब सञ्जय धृतराष्ट्र के प्रति इस संवाद का उपसंहार सुनाता है; अथवा पूर्वोक्त कथा के सम्बन्ध का अनुसन्धान करता हुआ सञ्जय अब धृतराष्ट्र के प्रति ऐसे कहता है—

सञ्जय उवाच—

इत्यहं वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः ।
संवादमिममश्रौषमद्भुतं रोमहर्षणम् ॥७४॥

इति, अहं, वासुदेवस्य, पार्थस्य, च, महात्मनः	इस प्रकार मैंने श्रीवासुदेव और महात्मा अर्जुन का	संवादं, इमं, अश्रौषं, अद्भुतं, रोम-हर्षणं	यह अद्भुत और रोमाञ्च करनेवाला संवाद मैंने सुना

अन्वयार्थ—सञ्जय बोला—इस प्रकार मैंने श्रीवासुदेव और महात्मा❀ अर्जुन का यह अद्भुत और रोमाञ्च करनेवाला संवाद सुना ॥ ७४ ॥

व्याख्या—सञ्जय (अपने पूर्व प्रश्नोत्तर के सम्बन्ध में) राजा धृतराष्ट्र से यों बोला कि हे राजन्! यह जो अद्भुत (आश्चर्यजनक) और रोमाञ्च (रोंगटे खड़े) करनेवाला संवाद मुझसे ऊपर आपके प्रति कहा गया है, यह संवाद मैंने हूबहू इसी प्रकार से भगवान् कृष्णचन्द्र और महात्मा अर्जुन के मध्य होता हुआ सुना। अर्थात् जैसा-जैसा संवाद हुआ वैसा-वैसा ही मैंने आपके प्रति कहा है, अपनी ओर से कोई न्यून-अधिक कुछ नहीं किया है ॥ ७४ ॥

सम्बन्ध—यह संवाद कैसे सुना? अथवा किस कारण वा द्वार से सुना, उसे सञ्जय अब धृतराष्ट्र के प्रति कहता है—

व्यासप्रसादाच्छ्रुतवानेतद्†गुह्यमहं परम् ।
योगं योगेश्वरात्कृष्णात्साक्षात्कथयतः स्वयम् ॥७५॥

व्यास-प्रसादात्[1], श्रुतवान्[3], एतद्[3], गुह्यं[3], अहं[2], परं[3], योगं[6]	व्यासजी की कृपा से यह परम गुह्य योग मैंने सुना	योगेश्वरात्, कृष्णात्, साक्षात्, कथयतः, स्वयं	योगेश्वर कृष्ण भगवान् से स्वयं साक्षात् कहते हुए सुना

❀ बहुत टीकाकारों ने 'महात्मा' शब्द अर्जुन के साथ लगाया है, और हमने भी अर्जुन के साथ ही यह उपाधि लगानी ठीक समझी है, क्योंकि श्रीकृष्णचन्द्र तो साक्षात् भगवान् थे। पर एक-दो ने महात्मा की उपाधि भगवान् कृष्ण के साथ लगाई है।

† किसी-किसी पुस्तक में 'श्रुतवानेतद्' के स्थान पर 'श्रुतवानिमं' पाठ है। पर दोनों के अर्थ में किञ्चित् भेद न होने से हमने एक दे दिया है, और दूसरा छोड़ दिया है।

अन्वयार्थ—श्रीव्यासजी की कृपा से यह परम गुह्य योग* मैंने स्वयं योगेश्वर कृष्ण भगवान् से साक्षात् कहते हुए सुना ॥ ७५ ॥

व्याख्या—हे राजा धृतराष्ट्र ! श्रीवेदव्यासजी महाराज ने जो मुझे कृपापूर्वक दिव्य चक्षु (नेत्रादि) दे रक्खे थे, उस प्रसाद की बदौलत मैंने यह अद्भुत और रोमाञ्च करनेवाला संवाद परम गुप्त योग के रूप में साक्षात् योगियों के ईश्वर भगवान् कृष्णचन्द्र को अपने श्रीमुख से कहते हुए सुना अर्थात् जो कुछ मैंने आपको सुनाया है, वह साक्षात् भगवान् कृष्णचन्द्र के अपने मुखारविन्द के वाक्य हैं, मैंने अपनी ओर से कोई वाक्य बढ़ा-घटाकर नहीं सुनाया, और मेरा अपना इसमें कोई वाक्य नहीं है ॥ ७५ ॥

---

* इस योग शब्द की व्याख्या श्रीतिलक महाराज अपने ढङ्ग से ऐसे करते हैं—"श्रीकृष्ण ने जिस 'योग' का प्रतिपादन किया, वह कर्मयोग है। (गीता ४. १–३) और अर्जुन ने पहले उसे 'योग' (साम्ययोग) कहा है (गीता ६. ३३); तथा अब सञ्जय भी श्रीकृष्णार्जुन के संवाद को इस श्लोक में 'योग' ही कहता है। इससे स्पष्ट है कि श्रीकृष्ण, अर्जुन और सञ्जय, तीनों के अनुसार 'योग' अर्थात् कर्मयोग ही गीता का प्रतिपाद्य विषय है। और अध्याय-समाप्ति-सूचक सङ्कल्प में भी वही, अर्थात् योग-शास्त्र शब्द आया है। परन्तु योगेश्वर शब्द में 'योग' शब्द का अर्थ इससे कहीं अधिक व्यापक है। योग का साधारण अर्थ कर्म करने की युक्ति, कुशलता या शैली है। इसी अर्थ के अनुसार कहा जाता है कि बहुरूपिया योग से अर्थात् कुशलता से अपने स्वाँग बना लाता है। परन्तु जब कर्म करने की युक्तियों में श्रेष्ठ युक्ति को खोजते हैं, तब कहना पड़ता है कि जिस युक्ति से परमेश्वर मूल में अव्यक्त होने पर भी वह अपने आपको व्यक्त स्वरूप देता है, वही युक्ति अथवा योग सब में श्रेष्ठ है। गीता में इसी को 'ईश्वरी योग' (गीता ९. ५; ११. ८) कहा है, और वेदान्त में जिसे माया कहते हैं, वह

सम्बन्ध—(१) इस संवाद को साक्षात् भगवान् कृष्णचन्द्र के मुख से सुने हुए की स्मृति-मात्र से सञ्जय के चित्त की जो दशा हुई या हो रही है, उसे वह राजा धृतराष्ट्र से सुनाता है—

अथवा (२) उक्त संवाद की स्मृति-मात्र से जो आह्लाद सञ्जय के चित्त को प्राप्त होता था, उसे वह अब राजा धृतराष्ट्र से कहता है—

भी यही है (गीता ७. २५)। यह अलौकिक अथवा अघटित योग जिसे साध्य हो जाय उसे अन्य सब युक्तियाँ तो हाथ का मैल हैं। परमेश्वर इन योगों का अथवा माया का अधिपति है; अतएव उसे योगेश्वर अर्थात् योगों का स्वामी कहते हैं। 'योगेश्वर' शब्द में योग का अर्थ पातञ्जल योग नहीं है।"

हमारे ख़्याल में यह तो ठीक है और इसमें श्रीतिलक महाराज के साथ हम सहमत भी हैं कि श्रीकृष्ण महाराज ने गीता में अन्य सब योगों की अपेक्षा कर्मयोग को ही सरल और सर्वोपयोगी माना है और उसी के करने की आज्ञा अर्जुन को दी है, क्योंकि अन्य ज्ञान-ध्यानादि योग हरएक के लिये सहल और उपयोगी नहीं हैं, और कर्मयोग में प्रवृत्त होने से अन्त में कर्मयोगी को भी अन्य योग स्वतः प्राप्त हो जाते हैं। पर जैसे श्रीतिलक महाराज के शिर पर केवल कर्मयोग का ख़्याल सवार होता दिखाई दे रहा है, वैसे हम भगवान् कृष्ण पर वह ख़्याल सवार होता नहीं देखते कि जहाँ कहीं शब्द 'योग' बर्ता है, वहाँ कर्मयोग के अर्थ से ही उन्होंने बर्ता है, या कर्मयोग के उद्देश्य से ही उन्होंने इस शब्द का गीता में सर्वत्र प्रयोग किया है। गीता में १८ अध्याय हैं और कोई अध्याय, जहाँ तक देखा जाय, योग शब्द से नहीं छूटा, बल्कि प्रत्येक अध्याय की समाप्ति भी "ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे" करके हुई है। और यह भी स्पष्ट है कि सारे अध्याय कर्मयोग प्रतिपादन करने के लिये नहीं हैं। गीता में ध्यानयोग, भक्तियोग, राजयोग, सांख्ययोग वा ज्ञानयोग इत्यादि अनेक प्रकार का योग प्रतिपादित हुआ है। ऐसी दशा में योग शब्द का अर्थ सब

राजन्संस्मृत्य संस्मृत्य संवादमिममद्भुतम् ।
केशवार्जुनयोः पुण्यं हृष्यामि च मुहुर्मुहुः ॥७६॥

राजन्, संस्मृत्य, संस्मृत्य, संवादं, इमं, अद्भुतम्,	हे राजन् ! इस अद्भुत संवाद को स्मरण करके, पुनः स्मरण करके	केशव:-अर्जुनयो:, पुण्यं हृष्यामि, च मुहु:, मुहु:	केशव और अर्जुन दोनों के पुण्यरूप को और बार-बार मैं हर्षित होता हूँ

जगह कर्मयोग ही करना हमें सिवाय चतुरता, हठ या खींचातानी के और कुछ अधिक नहीं दीखता। जहाँ तक विचार-दृष्टि से गीता को आद्योपान्त पढ़ा गया, हमें तो यही स्पष्ट हुआ है कि योग शब्द से भगवान् अपना आशय समता अवस्था से लेते हैं जैसे भगवान् ने स्वयं "समत्वं योग उच्यते" (२. ४८ में) स्पष्ट-रूप से कहा है। और श्रीपतञ्जलि मुनि ने भी 'योग' शब्द से अभिप्राय "योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः" अर्थात् चित्तवृत्ति की निरोध अवस्था लिया है, जो दूसरे शब्दों में चित्त की सम अवस्था ही होती है। अब जिस युक्ति से चित्त की यह सम अवस्था प्राप्त हो, उसी युक्ति को योग की संज्ञा दी गई है। जब कर्म की युक्ति से चित्त की समता प्राप्त हो, तो कर्मयोग; जब विचार (विवेचना) की युक्ति से वही समता प्राप्त हो, तो सांख्ययोग; यदि आत्मज्ञान के श्रवण-मनन की युक्ति से वह प्राप्त हो, तो ज्ञानयोग; भक्ति की युक्ति से हो, तो भक्तियोग; ऐसे ही ध्यान की युक्ति से हो, तो ध्यानयोग इत्यादि। इस प्रकार अनेक प्रकार की युक्तियों से चित्त की समता प्राप्त हो सकती है, ऐसा भगवान् ने दर्शाया है, और इसीलिये गीता योग-शास्त्र करके मानी जाती है और भगवान् कृष्णचन्द्र योगेश्वर कहे जाते हैं। इसी योग-शास्त्र की दृष्टि से यहाँ यह शब्द गुह्ययोग आया है, केवल एक कर्मयोग या ज्ञानयोग की दृष्टि लेकर नहीं। (टीकाकार)

अन्वयार्थ—हे राजन्! श्रीकृष्ण और अर्जुन के इस अद्भुत और पुण्य-रूप संवाद को पुनः-पुनः स्मरण करके मैं बार-बार हर्षित होता हूँ ॥७६॥

व्याख्या—हे राजा धृतराष्ट्र! श्रीकृष्ण भगवान् और अर्जुन का यह गीताशास्त्र-रूप संवाद, जो अति अद्भुत और पुण्य-रूप है, अर्थात् जिसके श्रवण-मात्र से चित्त विस्मित (चकित) हो जाता, रोमाञ्च उत्पन्न होते और पाप नष्ट हो जाते हैं, इस ऐसे अद्भुत और पुण्यकारक संवाद को पुनः-पुनः याद करके मैं बार-बार हर्षित होता हूँ, अर्थात् बार-बार मेरा चित्त प्रसन्न और प्रफुल्लित होता है ॥ ७६ ॥

सम्बन्ध—अब भगवान् के विराट् रूप के स्मरण से जो सञ्जय के चित्त की दशा होती है, उसे वह स्पष्ट करता है—

तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपमत्यद्भुतं हरेः ।
विस्मयो मे महान् राजन् हृष्यामि च पुनः पुनः ॥७७॥

तत्[3], च[1], संस्मृत्य[7], संस्मृत्य[8], रूपं[6], अति-अद्भुतं[4,5], हरेः[2]	और[1] श्रीकृष्ण[2] के उस[3] अति[4] अद्भुत[5] रूपको[6] स्मरण[7] करके, स्मरण[8] करके	विस्मयः[4], मे[2], महान्[3], राजन्[1]	हे राजन्[1]! मुझे[2] भारी[3] आश्चर्य[4] हो रहा है
		हृष्यामि[3], च[1], पुनः-पुनः[2]	और[1] पुनः-पुनः[2] हर्षित[3] होता हूँ

अन्वयार्थ—और हे राजन्! भगवान् कृष्ण के उस अति अद्भुत रूप को बार-बार स्मरण करके मुझे भारी आश्चर्य होता है और मैं पुनः-पुनः हर्षित होता हूँ ॥७७॥

व्याख्या—और हे राजा धृतराष्ट्र! भगवान् कृष्णचन्द्र ने जो अर्जुन के प्रति ध्यान करने के लिये अपना अति अद्भुत विश्व-रूप (वा विराट्-रूप) दर्शाया था, उस अत्यन्त चकित करनेवाले विश्वरूप को मैं बार-बार याद करके पुनः-पुनः प्रसन्न और प्रफुल्लित होता हूँ ॥ ७७ ॥

सम्बन्ध—(१) बहुत कहना छोड़ केवल अपने सारभूत आशय को सञ्जय अब अन्त में कहता है—

अथवा (२) अब अन्त में सञ्जय अपनी नीति-निपुणता के कारण पाण्डवों की विजय दर्शाकर कथा समाप्त करता है—

अथवा (३) अपने दुर्योधनादि पुत्रों की विजय-आशा का परित्याग कर इन पाण्डवों के साथ अभी मिलाप किया जाय, इस आशय को चित्त में रखते हुए संजय अब राजा धृतराष्ट्र को ऐसे कहता है—

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः ।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ॥७८॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे मोक्षसंन्यासयोगो नाम अष्टादशोऽध्यायः ।

यत्र, योग-ईश्वरः, कृष्णः	जहाँ योग के मालिक श्रीकृष्ण	तत्र, श्रीः, विजयः, भूतिः, ध्रुवा, नीतिः, मतिः, मम	वहाँ लक्ष्मी, विजय, वृद्धि और अटल नीति है, मेरा मत है
यत्र, पार्थः, धनुः-धरः	जहाँ धनुष-धारी अर्जुन हो		

अन्वयार्थ—जहाँ योगेश्वर कृष्ण और धनुर्धारी अर्जुन हैं, वहाँ लक्ष्मी, विजय, वृद्धि और अटल नीति है, यह मेरा मत है ॥ ७८ ॥

व्याख्या—हे राजा धृतराष्ट्रजी ! बहुत कहने से क्या, केवल संक्षिप्त इतने कहने से सब जान लीजिए कि जहाँ (जिस पक्ष में वा जिस ओर में) योगेश्वर कृष्ण (सब योगसिद्धियों के मालिक अथवा सब प्रकार

की युक्तियों में निपुण, वा योग की अनेक युक्तियों के प्रतिपादन करनेवाले योगाचार्य भगवान् कृष्णचन्द्र) हैं, और जिधर धनुर्धारी अर्जुन हैं, वहीं (उसी ओर वा उसी पक्ष में) अवश्य लक्ष्मी, विजय (शत्रुओं का जीतना), भूति (धन की उत्तरोत्तर वृद्धि वा ऐश्वर्य) और अटल नीति (ये चारों) हैं। ऐसा मेरा पक्का निश्चय है। इसलिये अब भी तू अपने पुत्रों (दुर्योधनादि) को समझा-बुझाकर पाण्डवों से मिलाप कर ले, नहीं तो पीछे पछताना पड़ेगा ॥ ७८ ॥ ❀

इति श्रीमद्भगवद्गीतानुवादे मोक्षसंन्यासयोगो नाम
अष्टादशोऽध्यायः ।

❀ श्रीतिलक महाराज इस श्लोक के अन्त में अपनी टिप्पणी ऐसे देते हैं—"यहाँ सिद्धान्त का सार यह है कि जहाँ युक्ति और शक्ति दोनों एकत्रित होती हैं, वहाँ निश्चय ही ऋद्धि-सिद्धि निवास करती हैं ; कोरी शक्ति से अथवा केवल युक्ति से काम नहीं चलता। जब जरासन्ध का वध करने के लिये मन्त्रणा हो रही थी, तब युधिष्ठिर ने श्रीकृष्ण से कहा है कि "अन्धं बलं जडं प्राहुः प्रणेतव्यं विचक्षणैः"। (सभापर्व २०. १६)=बल अन्धा और जड़ है, बुद्धिमानों को चाहिए कि उसे मार्ग दिखलावें ; तथा श्रीकृष्ण ने भी यह कहकर कि "मयि नीतिर्बलं भीमे" (सभा० २०.१६)=मुझमें नीति है और भीमसेन के शरीर में बल है—भीमसेन को साथ ले उसके द्वारा जरासन्ध का वध युक्ति से कराया है। केवल नीति बतलानेवाले को आधा चतुर समझना चाहिए। अर्थात् योगेश्वर यानी योग या युक्ति के ईश्वर और धनुर्धर अर्थात् योधा, ये दोनों विशेषण इस श्लोक में हेतुपूर्वक दिये गये हैं।"

अठारहवें अध्याय का संक्षेप

(१) पूर्व सत्रहवें अध्याय में श्रद्धा, आहार, यज्ञ, तप, दान आदि को सात्त्विक आदि भेद से तीन प्रकार का सुनकर अर्जुन को सन्देह हुआ कि जब ये यज्ञादि तीन प्रकार के हैं, तो संन्यास, त्याग और ज्ञान आदि भी, जो गीता-शास्त्र में बार-बार आये हैं, शायद इसी प्रकार से होंगे। इसलिये अपने सन्देह की निवृत्ति-निमित्त वह यह प्रश्न भगवान् से करता है—

हे भगवन् ! मैं संन्यास और त्याग के तत्त्व को अलग-अलग जानना चाहता हूँ। कृपया मुझे इनमें से प्रत्येक की हक़ीक़त अलग-अलग सुनाइए।

(२) इस पर अर्जुन को भगवान् अब इस प्रकार क्रम से समझाते हैं—

(क) हे प्यारे ! कवि लोग तो काम्य कर्मों के त्याग को संन्यास कहते हैं, और विचारशील सज्जन कर्मों के फल के त्याग को त्याग कहते हैं।

(ख) कुछ बुद्धिमान् ऐसा कहते हैं कि कर्म दोषवत् त्याग देने चाहिएँ, और कुछ ऐसा कहते हैं कि यज्ञ, तप, दान-रूप कर्म कभी भी त्यागने न चाहिएँ।

(ग) पर मेरा निश्चय है कि प्रथम तो यह यज्ञ, दान, तप-रूप कम अवश्य करने-योग्य हैं, त्यागने-योग्य नहीं, क्योंकि ये बुद्धिमानों के पवित्र करनेवाले हैं।

(घ) दूसरे यह कि यज्ञ, दान, तप-रूप कर्म भी उनके सङ्ग (लगाव) और फल को त्यागकर करने चाहिएँ, कर्तृत्व-भाव और फलाशा के साथ ये कर्म भी कभी न करने चाहिएँ।

उक्त त्याग भी तीन प्रकार का है, तू ध्यान देकर सुन—

(३) अब भगवान् त्याग के तीन भेद क्रम से इस प्रकार कहते हैं—

(क) नियत कर्मों का त्याग उचित नहीं होता, मोह से यदि ये कर्म त्यागे जायँ, तो ऐसा त्याग तामस कहलाता है।

(ख) "कर्म दुःख-रूप ही हैं", ऐसा समझकर यदि मारे भय और क्लेश के कर्म छोड़ दिया जाता है, तो यह त्याग राजस कहलाता है। इससे भी त्याग का फल ठीक नहीं मिलता।

(ग) "कर्म करना ही उचित है," ऐसा अपना कर्तव्य समझकर यदि कर्म के सङ्ग और फ़ल की आशा को त्यागकर नियत कर्म किया जाता है, तो यह त्याग सात्त्विक कहलाता है।

(४) त्याग के तीन भेद कहकर अब भगवान् उक्त सात्त्विक त्यागी का लक्षण और फल कहते हैं—

(क) ऐसा सात्त्विक त्यागी अकुशल (बुरे, दुःखदायी) कर्म से द्वेष नहीं करता और कुशल (अच्छे वा सुखदायी) कर्म से प्रीति नहीं रखता, बल्कि स्वयं सत्त्व से व्याप्त, बुद्धिमान् और संशय-रहित हुआ होता है, और जो नियत कर्म सामने आ जाय, वह चाहे कैसा ही क्यों न हो, उसे वह अपना कर्तव्य समझकर करता रहता है।

(ख) क्योंकि देहधारी समस्त कर्मों को त्याग ही नहीं सकता, इसलिये जो केवल कर्म-फल का त्यागी है, वही सात्त्विक त्यागी कहलाता है।

(ग) कर्मों का भला-बुरा और मिला-जुला फल तो अत्यागियों को मिलता है, सच्चे त्यागियों को कभी भी नहीं।

(५) सच्चे त्यागी को कर्म-फल क्यों नहीं मिलता ? इसका कारण भगवान् कर्म के पाँच हेतुओं द्वारा अर्जुन को इस प्रकार समझाते हैं—

(क) कर्म की सिद्धि में सांख्य-शास्त्र ने ये पाँच कारण सब कर्मों के कहे हैं—(१) अधिष्ठान (शरीर), (२) कर्ता (कर्म करने के भाववाला अहङ्कार), (३) भिन्न-भिन्न प्रकार के करण (इन्द्रिय), (४) नाना प्रकार की (प्राण इत्यादि की) क्रियायें, (५) दैव (देह, इन्द्रियों के प्रकाशक)।

(ख) जो भी अच्छे-बुरे कर्म शरीर, मन और वाणी द्वारा किये जाते हैं, उन सबके यह पाँचों ही कारण होते हैं।

(ग) उक्त कारणों के होते हुए भी जो मूर्ख अपने आत्मा को कर्मों का कारण वा कर्ता मान लेता है, वही दुर्मति कर्मों के फल में फँसता है।

(घ) पर जो अपने आत्मा को कर्मों का कर्ता नहीं समझते, और जिनका इसीलिये कर्मों में अहङ्कार-भाव नहीं होता, वही सुमति पुरुष न कर्मों के फलों में फँसते हैं और न किञ्चित् लिपायमान होने पाते हैं।

(६) कर्म के पाँच हेतुओं द्वारा त्यागी की कर्म-फल से निर्लिप्तता दर्शाकर अब भगवान् इसी सिद्धान्त को तीन प्रकार की कर्म-चोदना और तीन प्रकार के कर्म-संग्रह से समझाने लगे हैं—

(क) (१) ज्ञान, (२) ज्ञेय, (३) ज्ञाता, यह तीन प्रकार की कर्म-चोदना (कर्म की प्रेरणायें) हैं। और (१) करण, (२) कर्म, तथा (३) कर्ता, यह तीन प्रकार का कर्म-संग्रह है।

(ख) फिर इनमें से ज्ञान, कर्म और कर्ता गुण-भेद से तीन प्रकार के कहे जाते हैं।

(ग) जिस ज्ञान से विभक्तों में अविभक्त देखा जाता है, वह ज्ञान सात्त्विक है।

(घ) जो ज्ञान पृथक्-पृथक् रीति से सब भूतों में भिन्न-भिन्न प्रकार के नाना भावों को दर्शाता है, वह ज्ञान राजस है, ऐसा जान।

(ङ) जो ज्ञान किसी कार्य में ऐसा फँसा देता है कि उसे वही सब कुछ परिपूर्णवत् भान होने लगता है, और जो स्वयं तुच्छ, युक्तिहीन और अयथार्थ विषयवाला होता है, वह ज्ञान तामस कहलाता है।

(७) अब भगवान् इसी प्रकार कर्म के तीन भेद कहते हैं—

(क) नियत, आसक्ति से रहित, विना राग-द्वेष के, और फल न चाहनेवाले पुरुष से किया हुआ कर्म सात्त्विक कहलाता है।

(ख) पर जो कर्म-फलाकांक्षी से अहङ्कार और अति क्लेश के साथ किया जाता है, वह कर्म राजस कहलाता है।

(ग) परिणाम, सामर्थ्य वा धनादि का नाश, पीड़ा और बल इनकी किञ्चित् न परवाह करके केवल मोह से जो कर्म किया जाता है, वह तामस कहलाता है।

(८) अब भगवान् गुण-भेद से कर्ता के तीन भेद कहते हैं—

(क) कर्म के लगाव से रहित, निरभिमानी, धैर्य और उत्साहवाला तथा सिद्धि और असिद्धि में निर्विकार कर्ता सात्त्विक कहलाता है।

(ख) रागी, कर्म-फलाकांक्षी, लोभी, हिंसात्मक, अपवित्र और हर्ष-शोक से युक्त कर्ता राजस कहलाता है।

(ग) अयुक्त, असभ्य, अनम्र (हठी, कठोर), शठ, द्रोही, आलसी, विषादी और दीर्घसूत्री कर्ता तामस कहलाता है।

(९) अब भगवान् बुद्धि और धृति के भेद सुनाने लगे हैं। पहले बुद्धि के भेद कहते हैं—

(क) प्रवृत्ति, निवृत्ति ; कार्य, अकार्य ; भय, अभय और बन्ध, मोक्ष को जो बुद्धि जानती है, वह सात्त्विकी है।

(ख) जिस बुद्धि से पुरुष धर्म, अधर्म तथा कार्य, अकार्य को ठीक-ठीक नहीं जानता, वह बुद्धि राजसी है।

(ग) जो अन्धकार से ढकी हुई बुद्धि सब बातों को उलटा जानती वा मानती है, वह बुद्धि तामसी है।

(१०) अब भगवान् इसी प्रकार धृति के तीन भेद कहते हैं—

(क) जिस अव्यभिचारिणी धृति से मनुष्य योग द्वारा मन, प्राण और इन्द्रियों की क्रियाओं को धारण करता है, वह धृति सात्त्विकी है।

(ख) प्रसङ्गानुसार फलाकांक्षी पुरुष जिस धृति से धर्म, अर्थ और काम को धारण करता है, वह धृति राजसी है।

(ग) जिस धृति के कारण दुर्बुद्धि पुरुष स्वप्न, भय, शोक, विषाद और मद को नहीं त्यागता, वह धृति तामसी है।

(११) कर्म और उसके साधन आदि के भेद कहने के बाद अब भगवान् (कर्मों के) फल-रूप सुख के तीन भेद कहते हैं—

(क) जो सुख पहले तो विष के समान और अन्त में अमृत के समान हो, और जो आत्मबुद्धि के प्रसाद से उत्पन्न हो, वह सुख सात्त्विक है।

(ख) जो सुख इन्द्रियों और विषयों के सम्बन्ध से आरम्भ में तो अमृत के तुल्य और परिणाम में विष के तुल्य हो, वह सुख राजस है।

(ग) जो सुख आरम्भ और परिणाम में आत्मा को भ्रान्ति में डालने-वाला, और निद्रा, आलस्य तथा प्रमाद से उत्पन्न हो, वह सुख तामस है।

(घ) इस प्रकार लोक या परलोक में ऐसा कोई पदार्थ नहीं है जो इन तीन गुणों से छूटा हुआ हो।

(१२) उक्त प्रकरण का उपसंहार करने के बाद अब भगवान् चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था की उत्पत्ति भी गुण कर्म स्वभाव के अनुसार बतलाते हैं—

(क) शम, दम, तप, पवित्रता, क्षमा, सरलता, ज्ञान, विज्ञान और आस्तिकता, ये नव कर्म ब्राह्मण के स्वभाव-जन्य हैं।

(ख) शूर-वीरता, तेज, धैर्य, चतुराई, युद्ध में पीठ न देना, दान और हुकूमत करने का भाव, ये सात कर्म क्षत्रिय के स्वभाव-जन्य हैं।

(ग) कृषि, गोरक्षा, व्यापार, ये तीन कर्म वैश्य के स्वभाव-जन्य हैं।

(घ) केवल सेवा-रूप कर्म शूद्रों का स्वभाव-जन्य है।

(ङ) अपने-अपने स्वभाव-जन्य कर्म में लगने से मनुष्य को सिद्धि मिलती है।

(१३) अब 'कैसे और क्यों' अपने-अपने स्वभावानुसार कर्म करने से सिद्धि मिलती है, इसे भगवान् स्पष्ट करते हैं—

(क) जिस परमात्मा से भूतों की प्रवृत्ति (वा निकास) है और जिससे यह सब जगत् व्याप्त है, उसको अपने कर्म द्वारा पूजने से ही मनुष्य सिद्धि को पाता है।

(ख) अपना विगुण धर्म भी दूसरे के ठीक-ठीक अनुष्ठान किये हुए धर्म से अच्छा है, क्योंकि स्वभावानुसार नियत कर्म करता हुआ मनुष्य पाप को कभी प्राप्त नहीं होता।

(ग) हे अर्जुन ! स्वाभाविक कर्म दोषवाला भी पुरुष कभी न त्यागे, क्योंकि दोष-रहित भला कौन-सा कर्म है ? बल्कि सारे कर्म धुएँ से अग्नि के समान दोष से ढके हुए हैं।

(घ) सर्वत्र निरासक्त बुद्धि, जितात्मा और विगत इच्छावाला केवल फल के त्याग से (कर्म के त्याग से नहीं) परम नैष्कर्म्य सिद्धि (कर्मों की निवृत्ति-रूप परम सिद्धि) को पाता है।

(ङ) उक्त परम सिद्धि को प्राप्त होकर पुरुष फिर ब्रह्म को, जो ज्ञान की परा निष्ठा है, प्राप्त हो जाता है।

(१४) उक्त परम नैष्कर्म्य सिद्धिवाला पुरुष कैसे ब्रह्म को प्राप्त होता है, इसे भगवान् अब कहते हैं—

जब निज वर्णाश्रम धर्मानुसार कर्तव्य को निरासक्त मन से तथा निष्काम बुद्धि से पालन करते-करते नैष्कर्म्य सिद्धि मिलती है और इस सिद्धि के प्राप्त होने पर जब मनुष्य शुद्ध बुद्धि से युक्त, धैर्य से अपना संयम करके, शब्दादि विषयों को त्यागकर, राग-द्वेष आदि को दूर करके, एकान्त-सेवी और अल्पाहारी होकर, मन, वाणी और शरीर को वश में करके, नित्य ध्यानयोग-परायण होकर, पक्का वैराग्यवान् हुआ, अहङ्कार, बल, दर्प, काम, क्रोध और परिग्रह को त्यागकर जब मनुष्य ममता-रहित हुआ शान्त चित्त होता है, तब वह ब्रह्म-साक्षात्कार के वा ब्रह्मस्वरूप होने के योग्य हो जाता है।

(१५) अब भगवान् इस ब्रह्म-भाव का फल वा परिणाम दर्शाते हैं—

ब्रह्म-भाव को प्राप्त होकर वह प्रसन्नचित्त होता है और ऐसा प्रसन्नचित्त पुरुष न शोक करता है, न आकांक्षा, बल्कि सब भूतों में समचित्त हुआ वह मेरी परम भक्ति को पा लेता है।

(१६) अब भगवान् इस परम भक्ति का परिणाम निरूपण करते हैं—

(क) इस परम भक्ति से पुरुष मुझे—जो मैं हूँ और जैसा मैं हूँ—ठीक-ठीक जान लेता है, और तब वह शरीर छोड़ते ही मुझमें सीधा प्रवेश करता अर्थात् लीन होता है।

(ख) इस प्रकार उक्त रीति से (जो मैंने उक्त नं० १३ से १६ तक में बताई है) सब कर्म करता हुआ पुरुष नितान्त मेरे आश्रय हुआ मेरे प्रसाद से शाश्वत और अव्यय पद को प्राप्त होता है।

(१७) उक्त परिणाम को दर्शाकर भगवान् अब अर्जुन को इस प्रकार उपदेश करते हैं—

(क) चित्त से सारे कर्मों को मेरे अर्पण करके, मेरे परायण हुआ तू बुद्धियोग का आश्रय लेकर (समत्व बुद्धि से युक्त होकर) सदा मच्चित्त हो।

(ख) इस प्रकार मच्चित्त हुआ तू मेरे प्रसाद से सब सङ्कटों को तर जायगा और अगर अहङ्कार से तू न सुनेगा, तो विनष्ट हो जायगा।

(ग) और यदि अहङ्कार से तू ऐसा मानता है कि "मैं युद्ध नहीं करूँगा", तो तेरा यह प्रयत्न वा इरादा नितान्त मिथ्या है, क्योंकि तेरी प्रकृति तुझे अवश्य इसमें नियुक्त करेगी (अर्थात् लगा देगी)।

(घ) हे अर्जुन ! अपने स्वभाव-जन्य कर्म से बँधा हुआ तू यदि मोह से युद्ध करना नहीं चाहेगा, तो (स्वभाव से) विवश हुआ भी तू इसे करेगा।

(ङ) और यह ख्याल रख कि ईश्वर (शरीर-रूपी) यन्त्र पर आरूढ़ सब प्राणियों को अपनी माया से घुमाता हुआ उनके हृदय में रहता है।

(च) इसलिये सब भावों से या सम्पूर्ण भावना से तू उस एक ही परमात्मा की शरण में जा। उसके प्रसाद से तू परम शान्ति और नित्य स्थान को प्राप्त हो जायगा।

(१८) इस प्रकार सम्पूर्ण गीता-शास्त्र का उपसंहार करते हुए भगवान् अन्त में अर्जुन को यों कहते हैं—

(क) इस प्रकार गुह्य से गुह्यतर ज्ञान मैंने तुझे सविस्तर कह सुनाया है। इसको पूरा-पूरा विचारकर अब जैसा तेरा जी चाहे, तू वैसा कर।

(ख) पर तू मेरा अति प्यारा है, इसलिये एक बार पुनः तू मेरे परम गुह्यतम वचन को सुन, मैं तेरे हित की कहूँगा।

(ग) वह परम वचन यह है—"मेरे में मन लगा वा मच्चित्त हो, मेरा भक्त बन, मेरा ही पूजन करनेवाला हो, मुझे ही नमस्कार कर।" इस रीति से करते-करते तू अन्त में मुझे ही प्राप्त होगा। तेरे से मैं सच्ची प्रतिज्ञा करता हूँ।

(घ) पस, सब धर्मों को त्यागकर तू एक मेरी ही शरण ले। मैं तुझे सारे पापों से छुड़ा दूँगा। इसलिये अब तू शोक मत कर।

(१६) इस प्रकार सम्पूर्ण गीता-शास्त्र का सार कहकर अब भगवान् इस गीता-शास्त्र के पढ़ाने और सुनाने के विषय में नियम को फल के सहित विस्तारपूर्वक वर्णन करते हैं—

(क) जो तपहीन, भक्तिहीन, सुनने की इच्छा न रखनेवाला, और मुझ भगवान् को निन्दनेवाला हो, उसे यह गीता-शास्त्र कभी न सुनाना चाहिए।

(ख) पर जो इस परम गुह्य शास्त्र को मेरे भक्तों में धारण कराता है,

वह मेरे साथ परम प्रीति करके मुझमें ही लीन हो जाता है, इसमें किञ्चित् संशय नहीं।

(ग) ऐसा मनुष्य तो संसार में मुझे सबसे बढ़कर प्यारा होता है, और उससे बढ़कर मुझे प्यार करनेवाला संसार में कोई नहीं होता।

(२०) गीता-शास्त्र के पढ़ाने वा सुनानेवाले के विषय में कहने के बाद अब भगवान् इसके पढ़ने और सुनने का फल निरूपण करते हैं—

(क) जो मेरे और अर्जुन के इस धर्मयुक्त संवाद को पढ़ेगा, मैं ऐसा समझूँगा कि उसने मेरी ज्ञान-यज्ञ से पूजा की है।

(ख) श्रद्धावान् और असूया-रहित होकर जो इस संवाद को सुनेगा, वह मरकर पुण्य कर्म करनेवालों के शुभ लोकों को प्राप्त होगा।

(२१) इतना कहने के बाद अब भगवान् यह देखने लगे हैं कि जो कुछ विस्तारपूर्वक अर्जुन को कहा गया, वह उसकी समझ में भी बैठा है या नहीं, और उसका भ्रम इत्यादि अभी तक दूर हुआ है या नहीं ; इस विचार से भगवान् अर्जुन से ऐसे पूछते हैं—

"हे अर्जुन ! जो कुछ मैंने विस्तारपूर्वक तुमसे कहा, क्या तुमने वह सब एकाग्र चित्त से सुना ? क्या तेरा अज्ञान-जन्य सम्मोह (भ्रम) दूर हो गया या नहीं ?"

(२२) इस पर अर्जुन यों उत्तर देता है कि

"हे अच्युत ! आपकी कृपा से मेरा सब मोह नष्ट हो गया है, अपनी स्मृति मैंने पा ली है अर्थात् अब मैं सचेत हो गया हूँ। अब मैं गत-सन्देह हुआ आपका ही कहना करूँगा।"

(२३) यहाँ तक श्रीकृष्णार्जुन का संवाद समाप्त हो गया, अब सञ्जय राजा धृतराष्ट्र से अपने पूर्व प्रश्नोत्तर के सम्बन्ध में इस संवाद का उपसंहार

करते हुए और जैसा प्रभाव उसके अपने चित्त पर इस संवाद का पड़ा, उसका सविस्तर वर्णन करते हुए, इस कथा को समाप्त करता है—

(क) हे राजा धृतराष्ट्र! जो यह परम गुह्य संवाद मैंने आपको सुनाया, हूबहू इसी प्रकार मैंने योगेश्वर कृष्ण से साक्षात् उनको अपने श्रीमुख से कहते सुना था।

(ख) हे राजन्! इस अद्भुत संवाद को पुनः-पुनः स्मरण करके मैं बार-बार हर्षित होता हूँ।

(ग) और भगवान् कृष्ण के अति अद्भुत विराट् रूप को बार-बार स्मरण करके मैं पुनः-पुनः प्रसन्न और प्रफुल्लित हो रहा हूँ।

(घ) हे राजन्! यह मेरा विश्वास है कि जहाँ श्रीयोगेश्वर कृष्ण और धनुर्धारी अर्जुन हैं, वहाँ ही लक्ष्मी, विजय, भूति और अटल नीति हो सकती है। इसलिये अब भी अगर आप अपने पुत्रों को समझा-बुझाकर पाण्डवों से मिलाप कर लोगे, तो अच्छा है, अन्यथा पीछे पछताना पड़ेगा।

इस प्रकार श्रीभगवान् से गाये हुए अर्थात् कहे हुए उपनिषद् में, ब्रह्म-विद्यान्तर्गत, योगशास्त्र-विषयक, श्रीकृष्ण और अर्जुन के संवाद में मोक्षसंन्यासयोग-नामक अठारहवाँ अध्याय समाप्त हुआ।

सिद्धांत के सहित समस्त गीता का उपसंहार

भगवान् शंकराचार्य अपने भाष्य के अंत में यों देते हैं—

यह विचार करना चाहिए कि इस गीता-शास्त्र में निश्चय क्या हुआ ? परम कल्याण (मोक्ष) का साधन ज्ञान है या कर्म, अथवा दोनों ?

यह संदेह इसलिये होता है कि गीता में 'यज्ज्ञात्वाऽमृतमश्नुते', 'ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्' ('जिसको जानकर अमृत भोगता है', 'तदनन्तर मुझे तत्त्व से जानकर मुझमें ही प्रविष्ट हो जाता है') इत्यादि वाक्य तो केवल ज्ञान से मोक्ष की प्राप्ति दर्शाते हैं। और 'कर्मण्येवाधिकारस्ते,' 'कुरु कर्मैव' ('तेरा कर्म में ही अधिकार है', 'तू कर्म ही कर') इत्यादि वाक्य कर्मों की अवश्य-कर्तव्यता दिखलाते हैं। इस प्रकार ज्ञान और कर्म दोनों की कर्तव्यता का उपदेश होने से ऐसा संशय भी हो सकता है कि संभवतः दोनों मिलकर ही मोक्ष के साधन होंगे। इस शास्त्र का आद्योपांत विचार करने से हमारी दृष्टि में यह सिद्धांत निकलता है कि

केवल आत्मज्ञान ही परम कल्याण (मोक्ष) का हेतु (साधन) है, क्योंकि भेद-प्रतीति का वह निवर्तक है. और इसी कारण कैवल्य (मोक्ष) की प्राप्ति ही उसकी अवधि है।

अविद्या के कारण आत्मा में क्रिया कारक और फल-विषयक भेद-बुद्धि सदा से प्रवृत्त हो रही है। 'कर्म मेरे हैं, मैं उनका कर्ता हूँ, मैं अमुक फल के लिये यह कर्म करता हूँ', यही अनादि काल से प्रवृत्त अविद्या है।

'मैं यह केवल (एक मात्र) अकर्ता, क्रिया-रहित और फल से

रहित आत्मा हूँ, मुझसे भिन्न और कोई भी नहीं है', ऐसा आत्म-विषयक ज्ञान इस अविद्या का नाशक है, क्योंकि यह उत्पन्न होते ही कर्म-प्रवृत्ति की हेतु-रूप भेद-बुद्धि का नाश करनेवाला है।........

मोक्ष अकार्य अर्थात् स्वतः सिद्ध है, इसलिये कर्मों को उसका साधन मानना नहीं बन सकता, क्योंकि कोई भी नित्य (स्वतः सिद्ध) वस्तु कर्म या ज्ञान से उत्पन्न नहीं की जाती।

ऐसी दशा में तो ज्ञान भी व्यर्थ होगा ? पर यह बात नहीं है, क्योंकि यह अविद्या का नाशक होने के कारण उसका कैवल्यमोक्षप्राप्ति-रूप फल में समाप्त होना प्रत्यक्ष है। जैसे दीपक के प्रकाश का यह फल है कि रज्जु आदि वस्तुओं में होनेवाली भ्रांति और अंधकार को नष्ट कर दे और उसमें सर्प-विषयक विकल्प को हटाकर केवल रज्जु को प्रत्यक्ष कराके स्वयं समाप्त हो जाय, वैसे ही अविद्या-रूप अंधकार के नाशक आत्म-ज्ञान का भी फल मोक्ष में ही समाप्त होता देखा गया है।

जिस (क्रिया) का फल प्रत्यक्ष है जैसे अरणी-मन्थन द्वारा अग्नि उत्पन्न करना आदि क्रियाएँ। जैसे उन (क्रियाओं) में लगे हुए कर्ता आदि कारकों की, अग्नि प्रज्वलित होना आदि फल से अतिरिक्त किसी अन्य फल में प्रवृत्ति नहीं हो सकती, ऐसे ही जिसका फल प्रत्यक्ष है, ऐसी ज्ञाननिष्ठा-रूप क्रिया में लगे हुए ज्ञाता-रूप कारक की भी आत्मकैवल्य से अतिरिक्त फलवाले किसी अन्य कर्म में प्रवृत्ति नहीं हो सकती।

यदि यह कहा जाय कि भोजन और अग्निहोत्रादि क्रियाओं के समान (इसमें भी समुच्चय) हो सकता है, तो ऐसा कहना ठीक नहीं ; क्योंकि जिसका फल कैवल्य (मोक्ष) है, उस ज्ञान के प्राप्त होने के पश्चात् कर्मफल की इच्छा नहीं रह सकती, अर्थात् सर्वतः संप्लुतोदकस्थानीय

मोक्ष जिसका फल है, ऐसे ज्ञान की प्राप्ति होने के बाद कूप-तड़ागादि-स्थानीय कर्म-फल-रूप तुच्छ सुखों की इच्छुकता का अभाव हो जाने के कारण फलांतर की या उसकी साधनभूत क्रिया की इच्छुकता नहीं रह सकती। क्योंकि जो पुरुष राज्य प्राप्त करा देनेवाले कर्म में लगा हुआ है, उसकी प्रवृत्ति ऐसे कर्म में नहीं लगती कि जिसका फल क्षेत्र-प्राप्ति ही है और न ऐसे कर्म-फल की उसे इच्छा भी होती है।

सुतरां यह सिद्ध हुआ कि परम कल्याण का साधन न तो कर्म है और न ज्ञान कर्म का समुच्चय ही है। कैवल्य (मोक्ष) ही जिसका फल है, ऐसे ज्ञान को कर्मों की सहायता भी अपेक्षित नहीं, क्योंकि ज्ञान अविद्या का नाशक है, इसलिये कर्मों से उसका विरोध है।

यह प्रसिद्ध ही है कि अंधकार का नाशक अंधकार नहीं हो सकता। इसलिये केवल ज्ञान ही परम कल्याण का साधन है।

कुछ लोग ऐसा कहते हैं कि यह सिद्धान्त ठीक नहीं क्योंकि वेद-शास्त्र में कहे हुए नित्य कर्मों को न करने से नरकादि की प्राप्ति-रूप प्रत्यवाय होगा। और जो इन पर आपत्ति करते हैं कि ऐसा होने से तो कर्मों से छुटकारा ही न होगा, अतः मोक्ष के अभाव का प्रसंग हो जायगा, तो ये उत्तर देते हैं कि यह दोष नहीं है, क्योंकि मोक्ष नित्य सिद्ध है। नित्य कर्मों का आचरण करने से तो प्रत्यवाय न होगा, निषिद्ध कर्मों का सर्वथा त्याग कर देने से अनिष्ट (बुरे) शरीर की प्राप्ति न होगी, काम्य कर्मों का त्याग कर देने के कारण इष्ट (अच्छे) शरीर की प्राप्ति न होगी, तथा वर्तमान शरीर को उत्पन्न करनेवाले कर्मों का फल उसके उपभोग से क्षय हो जाने पर इस शरीर का नाश हो जाने के पश्चात् विना कारण अन्य शरीर की उत्पत्ति न होने से और शरीर-सम्बन्धी आसक्ति आदि के न रहने से जो स्वरूप में स्थित होना-रूप

कैवल्य है, वह विना प्रयत्न के ही सिद्ध हो जायगा। पर यह कथन ठीक नहीं, क्योंकि भूतपूर्व अनेक जन्मों के किये हुए जो स्वर्ग-नरक आदि की प्राप्ति-रूप फल देनेवाले अनेक अनारब्ध कर्म सञ्चित हैं, उनके फल का उपभोग न होने के कारण उनका तो नाश नहीं होगा।

इस पर फिर पुनः उन लोगों का कहना है कि यह बात नहीं है, क्योंकि नित्यकर्म के अनुष्ठान में होनेवाले परिश्रम-रूप दुःख-भोग को उन कर्मों के फल का उपभोग माना जा सकता है। अथवा प्रायश्चित्त की भाँति नित्यकर्म भी पूर्वकृत पाप का नाश करनेवाले मान लिए जायँगे तथा प्रारब्ध कर्म का फल भोग से नाश हो जायगा। फिर नये कर्मों का आरम्भ न करने से 'कैवल्य' विना यत्न के सिद्ध ही है।

परन्तु यह सिद्धान्त ठीक नहीं है, क्योंकि श्रुति कहती है—'तमेव विदित्वाऽति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' (श्वे० उ० ३.८)= उस (परमात्मा) को जानकर ही मनुष्य मृत्यु से तरता है; मोक्ष-प्राप्ति के लिये और कोई दूसरा मार्ग नहीं है। इस प्रकार मोक्ष के लिये विद्या के अतिरिक्त अन्य मार्ग का अभाव उक्त श्रुति बतलाती है। और जैसे चमड़े की तरह आकाश को लपेटना असंभव है, इसी प्रकार अज्ञानी की मुक्ति विना ज्ञान के असम्भव है। एवं पुराण और स्मृतियों में भी यही कहा गया है कि ज्ञान से ही कैवल्य-प्राप्ति होती है।

इसके सिवा जो लोग इसके विपरीत कहते हैं, उनके सिद्धान्त में पूर्वकृत पुण्यों के नाश की उत्पत्ति न होने से भी उनका पक्ष ठीक नहीं है। अर्थात् जिस प्रकार पूर्वकृत संचित पापों का होना संभव है, उसी प्रकार संचित पुण्यों का होना भी संभव है ही, अतः देहान्तर को उत्पन्न किये विना उनका क्षय सम्भव न होने से (इस पक्षानुसार) मोक्ष सिद्ध हो नहीं सकता।

इसके सिवा, पुण्य-पाप के कारण-रूप राग, द्वेष और मोहादि दोषों का विना आत्मज्ञान के मूलोच्छेद होना सम्भव न होने के कारण भी पुण्य-पाप का उच्छेद होना सम्भव नहीं।

और श्रुति में (नित्यानां च कर्मणां पुण्यलोक फलश्रुतेः) 'नित्यकर्मों का पुण्यलोक की प्राप्ति-रूप फल' बतलाया जाने के कारण, और स्मृति में (वर्णा आश्रमाश्च स्वकर्म निष्ठा) 'अपने कर्मों में स्थित वर्णाश्रमावलम्बी' इत्यादि वाक्यों द्वारा भी यही बात कही जाने के कारण कर्मों का क्षय (मानना) सिद्ध नहीं होता।

और जो कहते हैं कि नित्यकर्म दुःख-रूप होने के कारण पूर्वकृत पापों का फल ही है, उनका अपने स्वरूप से अतिरिक्त और कोई फल नहीं है, क्योंकि श्रुति में उनका कोई फल नहीं बतलाया गया तथा उनका विधान जीवन-निर्वाह आदि के लिये किया गया है। तो ऐसा कहना भी उनका ठीक नहीं, क्योंकि जो कर्म फल देने के लिये प्रवृत्त नहीं हुए उनका फल होना असम्भव है और नित्यकर्म के अनुष्ठान का परिश्रम अन्य कर्म का फल विशेष सिद्ध भी नहीं हो सकेगा।......

इसके सिवा 'नित्यकर्मों के अनुष्ठान से होनेवाला परिश्रम-रूप दुःख पूर्वकृत पापों का फल है', ऐसा कहना प्रकरण-विरुद्ध भी है। कारण यह है कि जो पूर्वकृत पाप फल देने के लिये अंकुरित नहीं हुए हैं, उनका क्षय नहीं हो सकता, ऐसा प्रकरण है; उसमें तो फल देने के लिये प्रस्तुत हुए पूर्वकृत पापों का ही फल नित्यकर्मों के अनुष्ठान से होनेवाला परिश्रम-रूप दुःख बतलाया गया है, और जो कर्मफल देने के लिये अभी प्रस्तुत नहीं हुए हैं, उनका फल नहीं बतलाया गया।

यदि यह माना जाय कि पूर्वकृत सभी पाप-कर्म फल देने के लिये प्रवृत्त हो चुके हैं, तो फिर नित्यकर्म-अनुष्ठान का परिश्रम-रूप दुःख ही

उनका फल है, यह विशेषण देना अयुक्त ठहरता है और नित्य-कर्म-विधायक शास्त्र को भी व्यर्थ मानने का प्रसंग आ जाता है, क्योंकि फल देने के लिये अंकुरित हुए पापों का तो उपभोग से ही क्षय हो जायगा (उनके लिये तब नित्यकर्मों की क्या आवश्यकता है)।

इसके सिवा (वास्तव में) विहित नित्यकर्मों से होनेवाला परिश्रम-रूप दुःख यदि कर्म का फल हो, तो उन्हीं का फल होना चाहिए, क्योंकि व्यायाम आदि की भाँति वह उनके अनुष्ठान से ही होता हुआ दिखलाई देता है, अतः वह किसी अन्य कर्म का फल है, यह कल्पना युक्तियुक्त नहीं है।

फिर यह कि नित्यकर्मों का विधान जीवनादि के लिये किया गया है। इसलिये भी नित्यकर्मों को प्रायश्चित्त के समान पूर्वकृत पापों का फल मानना युक्तियुक्त नहीं है; जिस पाप-कर्म के लिये शास्त्र में जो प्रायश्चित्त विहित है, वह उस पाप का फल नहीं है। तथापि यदि ऐसा मानें कि प्रायश्चित्त-रूप दुःख (जिसके लिये प्रायश्चित्त किया जाय) उस पाप-रूप निमित्त का ही फल होता है, तो जीवनादि के लिये किये जानेवाले नित्यकर्मों का परिश्रम-रूप दुख भो जीवन आदि हेतुओं का ही फल सिद्ध होगा। क्योंकि नित्य और प्रायश्चित्त ये दोनों ही किसी-न-किसी निमित्त से किये जानेवाले हैं, इनमें कोई भेद नहीं।

इसके सिवा नित्यकर्म के परिश्रम की और काम्य अग्निहोत्रादि कर्म के परिश्रम की समानता होने के कारण नित्यकर्म का परिश्रम ही पूर्वकृत पाप का फल है, काम्य कर्मानुष्ठान का परिश्रम-रूप दुःख उसका फल नहीं है, ऐसा मानने के लिये कोई विशेष कारण नहीं है, अतः वह काम्यकर्म का परिश्रम-रूप दुःख भी पूर्वकृत पाप का ही फल माना जायगा।

सुतरां 'नित्यकर्मों का फल नहीं बतलाया गया है, और उनके अनुष्ठान का विधान है, उस विधान की अन्य प्रकार से उपपत्ति न होने के कारण नित्यकर्मों के अनुष्ठान से होनेवाला दुःख पूर्वकृत पापों का ही फल है,' इस प्रकार की जो अर्थापत्ति की कल्पना की गई थी, उसका खंडन हो गया।

इस तरह प्रकारान्तर से नित्यकर्मों के विधान की अनुपपत्ति होने से और नित्यकर्मों का अनुष्ठान-सम्बन्धी परिश्रम के सिवा दूसरा फल होता है, ऐसा अनुमान होने से यह पक्ष खंडित हो जाता है।

इसके सिवा इस मानने में विरोध होने के कारण भी यह पक्ष कट जाता है। क्योंकि नित्यकर्मों का अनुष्ठान करते हुए दूसरे कर्मों का फल भोगा जाता है, ऐसा मान लेने से यह कहना होता है कि वह उपभोग ही नित्यकर्म का फल है। और साथ ही यह भी प्रतिपादन करते हो कि नित्यकर्म का फल नहीं है, अतः यह कथन परस्पर-विरुद्ध होता है।

इसके सिवा (उक्त मतानुसार) काम्य-अग्निहोत्रादि का अनुष्ठान करते हुए परतंत्रता से नित्य-अग्निहोत्रादि भी उन्हीं के साथ अनुष्ठित हो जाते हैं। अतः उस परिश्रम-रूप दुःखभोग से ही काम्य-अग्निहोत्रादि का भी फल क्षीण हो जायगा, क्योंकि वह उसके अधीन है।

यदि ऐसा माना जाय कि काम्य-अग्निहोत्रादि का स्वर्गादि-प्राप्ति-रूप दूसरा ही फल होता है, तो उनके अनुष्ठान में होनेवाले परिश्रम-रूप दुःख को भी नित्यकर्म के परिश्रम से भिन्न मानना आवश्यक होगा। परन्तु प्रत्यक्ष प्रमाण से विरुद्ध होने के कारण यह नहीं हो सकता, क्योंकि काम्य कर्मों के अनुष्ठान से होनेवाले परिश्रम-रूप दुःख से केवल नित्यकर्म-अनुष्ठान से होनेवाले परिश्रम-रूप दुःख का भेद नहीं है।

इसके सिवा दूसरी बात यह भी है कि जो कर्म न विहित हो और

न प्रतिषिद्ध हो, वही तत्काल फल देनेवाला होता है, शास्त्रविहित या प्रतिषिद्ध कर्म तत्काल फल देनेवाला नहीं होता। यदि ऐसा होता, तो स्वर्ग आदि अदृष्ट फलों के बतलाने में शास्त्र की प्रवृत्ति न होती।......

सुतरां नित्यकर्मों के अदृष्ट फल का अभाव कभी भी सिद्ध नहीं हो सकता। इसलिये यह सिद्ध हुआ कि अविद्यापूर्वक होनेवाले सभी शुभाशुभ कर्मों का अशेषतः नाश करनेवाला हेतु विद्या (ज्ञान) ही है, नित्यकर्म का अनुष्ठान नहीं।

समस्त कर्म अविद्या और कामना-मूलक ही है, ऐसा ही हमने भी सिद्ध किया है कि अग्नि का विषय कर्म है और ज्ञानी का विषय सर्व-कर्म-संन्यास-पूर्वक ज्ञाननिष्ठा है। 'उभौ तौ न विजानीतः' (२. १९)। 'वेदाविनाशिनं नित्यं' (२. २१)। 'ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्' (३.३)। 'तत्त्ववित्, गुणागुणेषु वर्तन्त इतिमत्वा न सज्जते' (३. २८)। 'सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी' (५.१३)। 'नैव किंचित् करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्' (५.८)। इत्यादि वाक्यों के अर्थ से यही सिद्ध होता है कि अज्ञानी ही 'मैं कर्म करता हूँ' ऐसा मानता है (ज्ञानी नहीं)। आरुरुक्ष के लिये कर्म कर्तव्य बतलाये हैं और आरूढ़ के लिये अर्थात् योगस्थ पुरुष के लिये उपशम कर्तव्य बतलाया है। तथा (ऐसा भी कहा है कि) तीनों प्रकार के अज्ञानी भक्त भी उदार हैं, पर ज्ञानी तो मेरा स्वरूप ही है, ऐसा मैं मानता हूँ।

कर्म करनेवाले सकाम अज्ञानी लोग आवागमन को प्राप्त होते हैं और अनन्य भक्त नित्ययुक्त होकर चिंतन करते हुए आत्मस्वरूप आकाश के सदृश शुभ्र निष्पाप परमात्मा की उपासना करते हैं। "ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते"=उन (भक्तों) को मैं वह बुद्धियोग देता हूँ जिससे वे मुझे ही प्राप्त हो जाते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि कर्म

करनेवाले अज्ञानी स्वयं भगवान् को प्राप्त नहीं होते। भगवदर्थ कर्म करनेवाले जो युक्ततम होने पर भी कर्मी होने के नाते अज्ञानी हैं, वे चित्त-समाधान से लेकर कर्मफल-त्याग पर्यन्त उत्तरोत्तर हीन बतलाये हुए साधनों से युक्त होते हैं। तथा जो अनिर्देश्य अक्षर के उपासक हैं, वे 'अद्वेष्टा सर्वभूतानाम्' आदि से लेकर बारहवें अध्याय की समाप्ति पर्यन्त बतलाये हुए साधनों से सम्पन्न और तेरहवें अध्याय से लेकर तीन अध्यायों में बतलाये हुए ज्ञान-साधनों से भी युक्त होते हैं।

अधिष्ठानादि पाँच जिनके कारण हैं, ऐसे समस्त कर्मों का जो संन्यास करनेवाले हैं, जो आत्मा के एकत्व और अकर्तृत्व को जाननेवाले हैं, जो ज्ञान की परानिष्ठा में स्थित हैं, जो भगवत्स्वरूप और आत्मा के एकत्व-ज्ञान की शरण हो चुके हैं, ऐसे भगवान् के तत्त्व को जाननेवाले परमहंस परिव्राजकों को इष्ट-अनिष्ट और मिश्र, ऐसा त्रिविध कर्म-फल नहीं मिलता। इनसे अन्य जो संन्यास न करनेवाले कर्मपरायण अज्ञानी हैं, उनको कर्म का फल अवश्य भोगना पड़ता है। यही गीता-शास्त्र में कहे हुए कर्तव्य और अकर्तव्य का विभाग है।

कुछ लोग कहते हैं कि सभी कर्मों को अविद्या-मूलक मानना युक्ति-संगत नहीं है। पर यह ठीक नहीं, क्योंकि ब्रह्महत्यादि निषिद्ध कर्मों की भाँति सभी कर्म अविद्या-मूलक हैं। नित्यकर्म यद्यपि शास्त्र-प्रतिपादित हैं, तो भी वे अविद्यायुक्त पुरुष के ही कर्म हैं। जैसे प्रतिषेध-शास्त्र से कहे हुए भी अनर्थ के कारण-रूप ब्रह्महत्यादि निषिद्ध कर्म अविद्या और कामनादि से युक्त पुरुष के द्वारा ही हो सकते हैं, इसके सिवा दूसरी तरह उनमें प्रवृत्ति हो नहीं सकती, उसी प्रकार नित्य, नैमित्तिक और काम्य आदि कर्म भी अविद्या और कामना से युक्त मनुष्य से ही हो सकते हैं।

परन्तु 'आत्मा को शरीर से पृथक् समझे विना नित्य-नैमित्तिक आदि कर्मों में प्रवृत्ति का होना असम्भव है', यदि ऐसा कहा जाय, तो ठीक

नहीं, क्योंकि अनात्म-कर्तृत्व चलन-स्वभाव कर्मों में 'मैं करता हूँ', ऐसी प्रवृत्ति अज्ञानियों की देखी जाती है।

यदि यह कहा जाय कि शरीर आदि में जो अहं-भाव है, वह गौण है, मिथ्या नहीं, तो ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि ऐसा मानने से उनके कार्य में भी गौणता सिद्ध होगी।

यदि यह कहा जाय कि जैसे 'हे पुत्र ! तू मेरी आत्मा ही है, इस श्रुति-वाक्य के अनुसार अपने पुत्र में अहं-भाव होता है, तथा संसार में भी जैसे यह गौ मेरा प्राण ही है, इस प्रकार प्रिय वस्तु में अहं-भाव होता देखा जाता है, उसी प्रकार अपने शरीर आदि संघात में भी अहं-भाव गौण है। यह प्रतीति मिथ्या नहीं है। मिथ्या प्रतीति तो वह है कि जो स्थाणु और पुरुष के भेद को न जानकर स्थाणु में पुरुष की प्रतीति होती है।' तो ऐसा कहना भी ठीक नहीं, क्योंकि गौण प्रयोग लुप्तोपमा-शब्द द्वारा अधिकरण की स्तुति के लिये होता है, इसलिये गौण प्रतीति से मुख्य के कार्य की सिद्धि नहीं होती। जैसे कोई कहे कि देवदत्त सिंह है, बालक अग्नि है, तो यह कहना देवदत्त सिंह के समान क्रूर और बालक अग्नि के समान पैङ्गल (गौर) वर्ण, इस प्रकार की समानता के कारण देवदत्त और बालक-रूप अधिष्ठान की स्तुति के लिये ही है, क्योंकि गौण शब्द की प्रतीति से कोई सिंह का कार्य (किसी को भक्षण कर जाना) या अग्नि का कार्य (किसी को जला डालना) सिद्ध नहीं किया जा सकता। परंतु मिथ्या प्रत्यय का कार्य (जन्म-मरण-रूप) अनर्थ (मनुष्य) अनुभव करता है। इसके सिवा गौण प्रतीति के विषय को मनुष्य ऐसा जानता भी है कि वास्तव में यह देवदत्त सिंह और बालक अग्नि नहीं है।

यदि उपर्युक्त प्रकार से शरीरादि संघात में भी आत्म-भाव गौण होता, तो शरीर आदि के संघात-रूप गौण आत्मा द्वारा किये हुए कर्म अहं-भाव

के विषय मुख्य आत्मा के किये हुए नहीं माने जाते, क्योंकि गौण सिंह (देवदत्त) और गौण अग्नि (बालक) द्वारा किये हुए कर्म मुख्य सिंह और अग्नि के नहीं माने जाते। तथा उस क्रूरता और पिंगलता द्वारा कोई मुख्य सिंह और अग्नि का कार्य किया जा भी नहीं सकता, क्योंकि वे केवल स्तुति के लिये कहे हुए होने से हीन-शक्ति हैं। जिनकी स्तुति की जाती है, वे (देवदत्त और बालक) भी यह जानते हैं कि 'मैं सिंह नहीं हूँ, मैं अग्नि नहीं हूँ, तथा सिंह का कर्म मेरा नहीं है, अग्नि का कर्म मेरा नहीं है।' इसी प्रकार (यदि शरीर आदि में गौण भावना होती, तो) संघात के कर्म मुझ मुख्य आत्मा के नहीं हैं, ऐसी ही प्रतीति होनी चाहिए थी, न कि 'मैं कर्ता हूँ', 'मेरे कर्म हैं' (सुतरां यह सिद्ध हुआ कि आत्म-भाव शरीर में गौण नहीं, मिथ्या है)।

जो ऐसा कहते हैं कि आत्मा अपने स्मृति, इच्छा और प्रयत्न आदि कर्म-हेतुओं के द्वारा कर्म करता है, सो यह भी ठीक नहीं; क्योंकि ये सब मिथ्या प्रतीति पूर्वक ही होनेवाले हैं, अर्थात् स्मृति, इच्छा और प्रयत्न आदि सब मिथ्या प्रतीति से होनेवाले इष्ट-अनिष्ट-रूप अनुभूत कर्मफल-जनित संस्कारों को लेकर ही होते हैं। जिस प्रकार इस वर्तमान जन्म में धर्म, अधर्म और उनके फल, शरीर आदि संघात-विषयक आत्म-बुद्धि और रागद्वेषादि द्वारा किये हुए हैं, वैसे ही भूतपूर्व जन्म में और उस से भी पहले के जन्मों में थे। इस न्याय से यह अनुमान करना चाहिए कि यह बीता हुआ और आगे होनेवाला (जन्म-मरण-रूप) अनादि संसार अविद्या-कर्तृक ही है।

इससे यह सिद्ध होता है कि ज्ञाननिष्ठा में सर्व कर्मों के संन्यास से संसार की आत्यंतिक निवृत्ति हो जाती है, क्योंकि देहाभिमान अविद्यामय है, अतः उसकी निवृत्ति होने पर शरीरान्तर की प्राप्ति न होने के कारण (जन्म-मरण-रूप) संसार की प्राप्ति नहीं हो सकती।

शरीर आदि संघात में जो आत्माभिमान है, वह अविद्यामय है, क्योंकि संसार में भी 'मैं गौ आदि से अन्य हूँ और गौ आदि वस्तुएँ मुझसे अन्य हैं', ऐसा जाननेवाला कोई भी मनुष्य उनमें ऐसी बुद्धि नहीं करता कि 'यह मैं हूँ'। न जाननेवाला ही स्थाणु में पुरुष की भ्रांति के समान अविवेक के कारण शरीर आदि संघात में 'मैं हूँ' ऐसा आत्म-भाव कर सकता है, पर विवेकपूर्वक जाननेवाला नहीं कर सकता।........

यदि ऐसा कहा जाय कि 'स्वर्गादि अदृष्ट पदार्थों के लिये कर्मों का विधान करनेवाली श्रुति का प्रमाणत्व होने से यह सिद्ध होता है कि शरीर-इन्द्रिय आदि गौण आत्माओं के द्वारा मुख्य आत्मा के कार्य किये जाते हैं', सो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि उनका आत्मत्व अविद्या-कर्तृक है। अर्थात् शरीर-इंद्रिय आदि गौण आत्मा नहीं हैं।

तो फिर यह प्रश्न उठता है कि इनमें आत्म-भाव कैसे होता है? इसका उत्तर यही है कि मिथ्या प्रतीति से ही संगरहित आत्मा की संगति मानकर इनमें आत्म-भाव किया जाता है, क्योंकि उस मिथ्या प्रतीति के रहते हुए ही उनमें आत्म-भाव की सत्ता है, उसके अभाव से आत्म-भावना का भी अभाव हो जाता है।

अभिप्राय यह कि मूर्ख अज्ञानियों का ही अज्ञान-काल में 'मैं बड़ा हूँ, मैं गौर हूँ', इस प्रकार शरीर-इन्द्रिय आदि के संघात में आत्माभिमान होता है। परंतु 'मैं शरीरादि संघात से अलग हूँ', ऐसा समझनेवाले विवेकशीलों को उस समय शरीरादि संघात में अहं-बुद्धि नहीं होती।

सुतरां, मिथ्या प्रतीति के अभाव से देहात्म-बुद्धि का अभाव होने के कारण यह सिद्ध होता है कि शरीर आदि में आत्म-बुद्धि अविद्या-कृत ही है, गौण नहीं।

जिनकी समानता और विशेषता अलग-अलग समझ ली गई है,

ऐसे सिंह और देवदत्त में या अग्नि और बालक आदि में ही गौण प्रतीति या गौण शब्द का प्रयोग हो सकता है ; जिनकी समानता और विशेषता नहीं समझी गई, उनमें नहीं।

यह जो कहा गया कि श्रुति को प्रमाण-रूप मानने से गौण आत्मा का पक्ष सिद्ध होता है, सो वह भी ठीक नहीं, क्योंकि श्रुति की प्रमाणता अदृष्ट विषयक है, अर्थात् प्रत्यक्षादि प्रमाणों से उपलब्ध न होनेवाले अग्निहोत्रादि के साध्य, साधन और सम्बन्ध के विषय में ही श्रुति की प्रमाणता है, प्रत्यक्षादि प्रमाणों से उपलब्ध होनेवाले विषयों में नहीं। क्योंकि श्रुति की प्रमाणता अदृष्ट विषयों को दिखलाने के लिये ही है। अर्थात् अज्ञात विषयों को बतलाना ही उसका काम है।

सुतरां देहादि संघात में प्रत्यक्ष ही मिथ्या ज्ञान से होनेवाली अहं-प्रतीति को गौण मानना नहीं बन सकता। क्योंकि 'अग्नि ठंढा है या अप्रकाशक है', ऐसा कहनेवाली सैकड़ों श्रुतियाँ भी प्रमाण-रूप नहीं मानी जा सकतीं। यदि श्रुति ऐसा कहे कि 'अग्नि ठंढा है अथवा अप्रकाशक है', तो ऐसा मानना चाहिए कि श्रुति को कोई और ही अर्थ अभीष्ट है क्योंकि अन्य प्रकार से उसकी प्रामाणिकता सिद्ध नहीं हो सकती। परन्तु प्रत्यक्षादि अन्य प्रमाणों के विरुद्ध या श्रुति के अपने वचनों के विरुद्ध श्रुति के अर्थ की कल्पना करना उचित नहीं।

यदि यह कहा जाय कि 'कर्म मिथ्या-ज्ञान-युक्त पुरुष द्वारा ही किये जानेवाले होते हैं, ऐसा मानने से वास्तव में कर्ता का अभाव होने के कारण श्रुति की अप्रमाणता (अनर्थकता) ही सिद्ध होती है।' तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि ब्रह्मविद्या में उसकी सार्थकता सिद्ध होती है।......

तथा अंतरात्मा का ज्ञान होने से पहले देहाभिमान-निमित्तक प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों की भाँति प्रकारान्तर में स्थित (कर्म-विधायक) श्रुतियों की साक्षात् प्रमाणता भी सिद्ध होती है।

यह जो (लोग) मानते हैं कि आत्मा स्वयं क्रिया न करता हुआ भी संनिधि-मात्र से कर्म करता है, यही आत्मा का मुख्य कर्तापन है, जैसे राजा स्वयं युद्ध न करते हुए भी संनिधि-मात्र से ही अन्य योद्धाओं के युद्ध करने से 'राजा युद्ध करता है' ऐसे कहा जाता है तथा 'वह जीत गया, हार गया' ऐसे भी कहा जाता है, इसी प्रकार सेनापति भी केवल वाणी से ही आज्ञा करता है, फिर भी राजा और सेनापति का उस क्रिया के फल से सम्बन्ध होता देखा जाता है। तथा जैसे ऋत्विक् के कर्म यजमान के माने जाते हैं, वैसे ही देहादि संघात के कर्म आत्म-कृत हो सकते हैं क्योंकि उनका फल आत्मा को ही मिलता है। तथा जैसे भ्रामक (भ्रमण कराने वाला) चुम्बक स्वयं क्रिया नहीं करता, तो भी वह लोहे का चलानेवाला है, इसलिये उसी का मुख्य कर्तापन है, वैसे ही आत्मा का मुख्य कर्तापन है।

तो ऐसा मानना भी ठीक नहीं, क्योंकि ऐसा मानने से न करने-वाले को कारक मानने का प्रसंग आ जायगा।

यदि कहा जाय कि कारक तो अनेक प्रकार के होते हैं, तो भी ऐसा कहना ठीक नहीं; क्योंकि राजा आदि का मुख्य कर्तापन भी देखा जाता है, अर्थात् राजा अपने निजी व्यापार द्वारा भी युद्ध करता है, तथा योद्धाओं से युद्ध कराने और उन्हें धन देने से भी निस्संदेह उसका मुख्य कर्तापन है, उसी प्रकार जय-पराजय आदि फल-भोग में भी उसकी मुख्यता है। वैसे ही यजमान का भी प्रधान आहुति देने और दक्षिणा देने के कारण निस्संदेह मुख्य कर्तृत्व है।

यदि इससे यह निश्चय किया जाय कि क्रिया-रहित वस्तु में जो कर्तापन का उपचार (प्रयोग) है, वह गौण है। यदि राजा और यजमान आदि में स्वव्यापार-रूप मुख्य कर्तापन न पाया जाता, तो उनका संनिधि-मात्र से भी मुख्य कर्तापन माना जा सकता था, परंतु चुम्बक

की भाँति राजा और यजमान का स्वव्यापार उपलब्ध न होता हो, ऐसी बात नहीं है। सुतरां संनिधि-मात्र से जो कर्तापन है, वह भी गौण ही है। तो ऐसे निश्चय से उसके फल का संबंध भी गौण ही निश्चय किया जाना चाहिए, क्योंकि गौण कर्ता द्वारा मुख्य कार्य नहीं किया जा सकता। अतः यह मिथ्या ही कहा जाता है कि 'निष्क्रिय आत्मा देहादि की क्रिया से कर्ता-भोक्ता हो जाता है।' क्योंकि भ्रांति के कारण सब कुछ हो सकता है, जैसे कि स्वप्न और माया में होता है। परंतु शरीर आदि में आत्मबुद्धि-रूप अज्ञान-संतति का विच्छेद हो जाने पर सुषुप्ति और समाधि आदि में कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि अनर्थ उपलब्ध नहीं होता।

सुतरां यह सिद्ध हुआ कि यह संसार भ्रम मिथ्या-ज्ञान-निमित्तक ही है, वास्तविक नहीं, अतः पूर्ण तत्त्वज्ञान से उसकी आत्यन्तिक निवृत्ति हो जाती है।*

---

* यह गीता-शास्त्र का सार भगवान् शंकराचार्य ने १८वें अध्याय के ६६वें श्लोक की व्याख्या में अपने भाष्य-रूप से दिया है जिसका संक्षिप्त हिन्दी-अनुवाद 'गीता प्रेस' से प्रकाशित शांकर भाष्य गीता से हमने निकाल कर यहाँ अंत में दे दिया है ताकि विचारवान् पाठकों को स्पष्टतया पता लग जाय कि श्रीशंकराचार्य ने गीतोपदेश का सार क्या निकाला है, और इस सार को कैसे ग़लत समझकर श्रीतिलक महाराज आदि अन्य भाष्यकारों ने अपने मत की पुष्टि में व्यर्थ खैंचातानी से इसके अर्थ का अनर्थ कर दिखलाया है, यद्यपि अंत में सीधे नहीं तो टेढ़े रूप से वे सब इसी सार को अपने-अपने मन-घड़ित ढाँचे में ढालकर प्रतिपादन कर रहे हैं। वास्तव में भेद कुछ नहीं है, पर शब्दों में भेद उत्पन्न कर रक्खा है। (टीकाकार)

पूर्व-वृत्तान्त का उपसंहार

इस प्रकार गीतोपदेश से संतुष्ट व संशय-रहित होकर जब अर्जुन ने वासुदेव से अंत में ऐसे कहा—"हे अच्युत ! आपकी कृपा से मेरा सब मोह नष्ट हो गया है और सर्वप्रकार का संदेह दूर गया है। मैं अब सावधान वा सचेत हो गया हूँ, और आपका कहना करूँगा।" और फिर गांडीव हाथ में लेकर उत्साह-पूर्ण चित्त से युद्ध के लिये तैयार हो गया, तो अन्य महारथी भी अर्जुन को सर्वप्रकार से तैयार देखकर सिंहनाद करने लगे।

जब इस प्रकार युद्ध आरम्भ होने को ही था कि धर्मराज युधिष्ठिर ने कवच उतारकर शस्त्र रख दिये, और रथ से उतरकर शत्रु-सेना की ओर चल दिये। युधिष्ठिर को इस तरह जाते देखकर अर्जुन शीघ्र ही रथ से उतर पड़े और भाइयों के साथ उनके पीछे हो लिए। वासुदेव भी उनके पीछे-पीछे जाने लगे। अन्यान्य राजा लोग भी उत्सुकता के साथ राजा युधिष्ठिर के पीछे चले। अर्जुन, भीमसेन, नकुल और सहदेव ने एक दूसरे के बाद राजा युधिष्ठिर से कहा—"महाराज ! आप क्या कर रहे हैं ? हम लोगों को छोड़कर पैदल ही शत्रु-सेना में कहाँ जा रहे हैं ? आप कवच और सब शस्त्र फेंककर कवच व शस्त्रादि से सुसज्जित शत्रुओं के सामने कहाँ जा रहे हैं ? आप हम लोगों के बड़े भाई हैं, आपको यों जाते देखकर हमारा हृदय डर और दुःख से पीड़ित हो रहा है।"

भाइयों के कहने का कुछ उत्तर न देते हुए राजा युधिष्ठिर शत्रु-सेना के भीतर चलते ही गये। श्रीकृष्ण ने हँसकर अर्जुन आदि से कहा कि "तुम किसी बात की चिंता न करो, हम इनका मतलब समझ गये हैं। यह भीष्म, द्रोण, कृप, शल्य आदि बड़े-बूढ़ों से आज्ञा लेकर शत्रुओं

से युद्ध करना चाहते हैं। मैंने पहले सुन रक्खा है, और मुझे खुद भी जान पड़ता है कि जो आदमी शास्त्र-विधि के अनुसार गुरुजन, वृद्ध बांधव आदि से आज्ञा लेकर प्रबल शत्रु से युद्ध करता है, वह अवश्य विजयी होता है और जो कोई गुरुजन का सम्मान किये विना, उनकी आज्ञा लिए विना युद्ध करता है, वह शत्रुओं से परास्त होता है।"

इधर कौरवों के दल में युधिष्ठिर के इस व्यवहार पर तरह-तरह की बातें होने लगीं। कोई कहने लगा—यह युधिष्ठिर क्षत्रियों के कुल में कलङ्क के समान पैदा हुआ है। मालूम होता है कि यह युद्ध से डर गया है। इसी से भीष्म की शरण लेने दौड़ा आ रहा है। हाय! हाय! यह बड़ा ही कायर और कुपूत निकला। अपने भाइयों का मुँह काला करके, देखो तो, यह कैसा अनुचित काम कर रहा है। अब इसके महाबली भाई भीम और अर्जुन लज्जा के मारे मुँह दिखलाने लायक़ भी न रह जायँगे। और यह स्वयं भी आगे को मुँह छुपाता फिरेगा।

ऐसी ही वे सर-पैर की बातें कौरवों की सेना में सब कहीं होने लगीं। इस तरह शत्रुओं की सेना पांडवों को धिक्कार और दुर्योधन आदि कौरवों की प्रशंसा करके बड़े आनन्द से झंडे हिलाने लगी।

जब युधिष्ठिर उक्त रीति से कौरवों की सेना में घुसकर भीष्मजी के पास पहुँचे, तब सब लोग, यह सुनने के लिये कि देखें युधिष्ठिर क्या कहते हैं और भीष्मजी क्या उत्तर देते हैं, चुपचाप मूर्ति के समान खड़े रहे। भीष्मजी के पास पहुँचकर युधिष्ठिर ने उनके दोनों पैर छूकर कहा—"हे वीर-शिरोमणि! इस युद्ध में हम आपसे लड़ेंगे, सो इसके लिये आप आज्ञा दें और साथ इसके आशीर्वाद भी दें।"

युधिष्ठिर के इस शिष्टाचार को देखकर भीष्मजी बहुत प्रसन्न हुए। वे बोले—"हे राजन्! तुम यदि हम से विना मिले ही युद्ध आरंभ कर

देते, तो हमें ज़रूर दुःख होता और मैं तुमको पराजय का शाप दे देता। पर तुम्हारे इस शिष्टाचार से हम बड़े प्रसन्न हुए हैं। हम तुम्हें आशीर्वाद देते हैं—युद्ध में तुम्हारी ही जीत हो। जाओ, युद्ध करो। हे राजन्! तुम खुद जानते हो कि मनुष्य धन का दास है, धन किसी का दास नहीं; मुझे कौरवों ने धन से ही अधीन कर रक्खा है, जिससे कर्तव्य-वश मैं शत्रु की ओर से आपके साथ लड़ने को लाचार हूँ। इसलिये मुझसे युद्ध-सहायता को छोड़कर और जो वर आप चाहें, माँग सकते हैं।"

युधिष्ठिर ने कहा—"हे प्राज्ञ! आप सदा मेरा हित चाहते हुए मुझे सलाह दें और दुर्योधन के लिये युद्ध करें। अर्थात् 'मन से तो मेरा हित चाहें और शरीर से दुर्योधन का पक्ष लेकर लड़ें,' यही वर मैं माँगता हूँ।"

भीष्म जी बोले—"हे कौरव-श्रेष्ठ! मैं इस विषय में तुम्हें क्या सहायता वा सलाह दे सकता हूँ? मैं दुर्योधन के लिये युद्ध करूँगा। इस कारण युद्ध के सिवा जो चाहो, सो कहो।"

युधिष्ठिर ने कहा—"मैं अपने हित की यह सलाह आपसे चाहता हूँ कि आपको मैं संग्राम में किस तरह जीत सकता हूँ? आपको कोई हरा नहीं सकता, मार नहीं सकता, इसलिये यदि आप मेरा कल्याण चाहते हैं, तो अपनी मृत्यु का उपाय मुझे बता दीजिए।"

भीष्मजी बोले—"बेटा! यह किसी में शक्ति नहीं जो हमें हमारी अपनी इच्छा के विना मार सके। हम जब मरेंगे, अपनी ही इच्छा से मरेंगे। इससे इस समय तुम्हें जिताने के लिये हम कौन-सा उपदेश दें, कुछ समझ में नहीं आता। ख़ैर, तुम किसी और दिन, अच्छा मौक़ा देखकर, हमारे पास आना। हम तुम्हें अवश्य कुछ उपदेश करेंगे।"

तब युधिष्ठिर ने पितामह को प्रणाम किया और उनकी बात को हृदय में धारण करके वे द्रोणाचार्यजी के पास गये और उनसे भी युद्ध के लिये आज्ञा माँगी और साथ ही अपने हित के लिये उनसे प्रार्थना की।

द्रोणाचार्यजी बोले—"हे युधिष्ठिर! तुम यदि गुरु से पूछे बिना युद्ध आरम्भ कर देते, तो हमें जरूर ही तुम पर क्रोध आता और जी से हम यही चाहते कि तुम्हारी हार हो। परन्तु ऐसा न करके जो तुम हमारे पास आये हो, तो हम प्रसन्न होकर तुम्हें आशीर्वाद देते हैं कि तुम्हारी जीत हो। कौरवों का अन्न खाने के कारण हमें उनकी ओर से युद्ध करना पड़ा है। हम बड़े ही दीन भाव से कहते हैं कि तुम हमें अपनी तरफ़ हो जाने की बात के सिवा और जो कुछ चाहो माँग सकते हो, क्योंकि युद्ध तो मैं कौरवों की ओर से लड़ूँगा परन्तु हृदय से अब जय तुम्हारी ही चाहता हूँ।"

युधिष्ठिर ने कहा—"हे गुरु! मैं आपसे यही वर माँगता हूँ कि दुर्योधन के लिये आप लड़िए, मेरी जय दिल से मनाइए और मुझे हित की सलाह दीजिए।"

आचार्यजी ने कहा—"राजन्! साक्षात् कृष्ण जब तुम्हारे मंत्री हैं, तब मैं क्या उपदेश तुमको दे सकता हूँ। हे धर्मराज! जहाँ धर्म है, वहीं कृष्ण है और जहाँ कृष्ण है, वहीं जय है। इससे तुम्हारी ही जीत होगी, इसमें कोई संदेह ही नहीं। मैं तुमको आशीर्वाद देता हूँ, तुम युद्ध में शत्रुओं को जीतोगे। अब जाओ और युद्ध करो। और यदि और कुछ पूछना हो, तो कहो।"

युधिष्ठिर ने कहा—"हे द्विजश्रेष्ठ! आप अजेय हैं; किस प्रकार से मैं आपको संग्राम में जीत सकूँ, इसे कृपा करके मुझे बतलाइए।"

द्रोणाचार्यजी बोले—"राजन् ! मैं जब तक युद्ध-भूमि में लड़ूँगा, तब तक तुम जय नहीं प्राप्त कर सकते। इसलिये भाइयों के साथ तुम शीघ्र मुझे मारने का यत्न करो।"

तब युधिष्ठिर ने कहा—"हे आचार्य ! मैं आपको प्रणाम करता हूँ और विनयपूर्वक पूछता हूँ कि आप कृपा करके मुझे अपनी मृत्यु का उपाय बताइए।"

इस पर आचार्य ने कहा—"हे तात ! जब मैं क्रोधपूर्वक बाणों की वर्षा में प्रवृत्त होता हूँ, तब मुझे कोई भी नहीं मार सकता। हाँ, अगर मैं युद्ध-भूमि में अस्त्र आदि रखकर अचेतन की तरह स्थित होऊँ, तो उस अवस्था में मारा जा सकता हूँ। मैं तुमसे सच कहता हूँ, विश्वास-योग्य सत्यवादी पुरुष के मुँह से कोई अत्यन्त अप्रिय समाचार सुनते ही मैं युद्धभूमि में हथियार रख दूँगा।"

आचार्य के उक्त वचन सुनकर युधिष्ठिर उनको नमस्कार करते हुए फिर कृपाचार्यजी के पास अनुमति के लिये गये। और वहाँ पहुँचकर प्रणाम करके बोले—"हे आचार्य ! मुझे युद्ध करने की आज्ञा दीजिए। मैं न्यायपूर्वक युद्ध करूँगा। अनुमति और आशीर्वाद दीजिए कि मैं आपकी आज्ञा पाकर युद्ध में सब शत्रुओं को जीत सकूँ।"

कृपाचार्यजी बोले—"राजन् ! युद्ध के लिये निश्चय करके अगर मेरी आज्ञा लिए विना तुम युद्ध करने लगते, तो अवश्य मैं कुपित होकर तुमको हारने का शाप दे देता। पर तुम्हारे इस शिष्टाचार से प्रसन्न होकर मैं आशीर्वाद देता हूँ कि तुम्हारी जीत हो। राजन् ! यह सत्य है कि पुरुष धन का दास है; धन किसी का दास नहीं है। धन के द्वारा कौरवों ने मुझे अपने अधीन कर लिया है, इसलिये उन्हीं की ओर से मैं युद्ध करूँगा। युद्ध-सहायता के सिवा मुझसे और क्या चाहते हो,

सो बोलो। धन के कारण मैं कौरवों के अधीन हूँ, इसी से नामर्दों की की तरह तुमसे ये बातें कह रहा हूँ।"

तब युधिष्ठिर युद्ध में उन पर विजय पाने निमित्त उपदेश माँगने को तैयार हुए। परन्तु उनको यह संदेह हुआ कि द्रोण की तरह कृपाचार्य यह न कह दें कि लड़कपन के गुरु को मारे विना जीत की आशा करना व्यर्थ है। यह सोचकर युधिष्ठिर को बड़ा दुःख हुआ। उनका कंठ भर आया; मुँह से बात न निकली।

युधिष्ठिर की इस कातरता का कारण मालूम होने पर कृपाचार्यजी बार-बार आशीर्वाद देकर कहने लगे—"महाराज! हम तुम्हारे हाथ से अवध्य जरूर हैं, हम तुम्हारे द्वारा वध किये जाने के पात्र नहीं। तथापि कोई चिंता की बात नहीं। हमें मारे विना भी तुम्हारी जीत होने में कोई बाधा न आवेगी। मैं तुमसे वादा करता हूँ और सच कहता हूँ कि नित्य सवेरे उठकर ईश्वर से मैं तुम्हारे जीतने की प्रार्थना करूँगा।"

यह सुनकर युधिष्ठिर को बहुत कुछ ढाढ़स हुआ, और अंत में अपने मामा शल्यराज के पास जाकर प्रणामपूर्वक बोले—"मामाजी! मैं आपसे युद्ध की आज्ञा माँगने आया हूँ। मैं न्यायपूर्वक युद्ध करूँगा। आज्ञा और आशीर्वाद दीजिए कि मैं युद्ध में शत्रुओं को जीत सकूँ।"

शल्य ने कहा—"राजन्! तुम युद्ध के लिये निश्चय करने के बाद जो मुझसे आज्ञा माँगने न आते, तो अवश्य मैं तुमको युद्ध में परास्त होने का शाप दे देता। तुमने आकर मेरा सम्मान किया, इससे मैं तुम पर संतुष्ट हूँ। तुम जो चाहते हो, वही होगा। मैं तुमको आज्ञा देता हूँ, युद्ध करो और जय पाओ। बेटा! तुम्हारे शत्रुओं की ओर होकर लड़ने के लिये हम किस तरह प्रतिज्ञा में बँधे हैं, सो तुम जानते ही हो। इस समय कहो कि युद्ध-सहायता के सिवा हम तुम्हारा क्या हित-साधन कर सकते हैं?"

युधिष्ठिर ने कहा—"राजन्! मैं यही प्रार्थना करता हूँ कि नित्य मेरे हित को सोचिए, और इच्छानुसार कौरवों की ओर से लड़िए।"

शल्य ने कहा—"हे युधिष्ठिर! मैं तुम्हारी क्या सहायता कर सकता हूँ? मुझे कौरवों ने धन के द्वारा अपने वश में कर लिया है; इस कारण मैं उन्हीं की ओर से युद्ध करूँगा।"

युधिष्ठिर ने कहा—"महाराज! आपने जो पहले प्रतिज्ञा की है कि युद्ध के समय सूत-पुत्र (कर्ण) के तेज को हम कम कर देंगे, उसे न भूल जाइएगा, उस प्रतिज्ञानुसार अपनी चेष्टा करते रहिएगा, यही वरदान मैं आपसे माँगता हूँ।"

शल्य ने कहा—"हे कुन्ती-पुत्र! तुम्हारी यह इच्छा पूरी होगी। मैं तुमसे इसका वादा करता हूँ, विश्वास करो। जाओ, युद्ध करो।"

इसके बाद राजा युधिष्ठिर मामा शल्य को सम्मानपूर्वक प्रणाम करके अपने भाइयों के साथ भयंकर शत्रु-सेना से बाहर निकल आये।

उधर वासुदेव ने कर्ण के पास जाकर कहा—"हे वीर, मैंने सुना है कि तुम भीष्म से विद्वेष रखने के कारण जब तक संग्राम-भूमि में भीष्मजी रहेंगे, तब तक युद्ध नहीं करोगे। इसलिये जब तक भीष्मजी मारे न जायँ तब तक तुम हमी लोगों की ओर से युद्ध करो। जो तुम दोनों पक्षों को समान दृष्टि से देखते हो, तो भीष्म के मारे जाने पर फिर दुर्योधन की सहायता के लिये उस ओर जाकर युद्ध करने लग जाना।"

कर्ण ने कहा—"हे केशव! दुर्योधन की इच्छा के विरुद्ध हम कोई काम न कर सकेंगे। आप इस बात को निश्चय समझिए कि हम उनके भले के लिये अपने प्राण तक दे देने में संकोच न करेंगे।"

कर्ण के उक्त वचन सुनकर वहाँ से लौटकर श्रीकृष्ण फिर पांडवों के पास आ गये। जिस समय युधिष्ठिर कौरवों की सेना से बाहर होने लगे, उस समय उन्होंने जोर से पुकारकर कहा—"यदि कौरवों के पक्षवालों में से हमारा कोई हित-चिंतक हो—हमारा कोई भला चाहनेवाला हो, तो वह हमारे पास निःशंक चला आवे। हम उसे प्रेमपूर्वक अपने पक्ष में लेने को तैयार हैं।"

तब वेश्या के गर्भ से उत्पन्न धृतराष्ट्र के पुत्र युयुत्सु ने सबकी ओर देखकर युधिष्ठिर की बात का इस प्रकार उत्तर दिया—"हे धर्मराज! यदि आप लोग मुझे ग्रहण करें, तो मैं आपके पक्ष में होकर दुर्योधन आदि से युद्ध करने को तैयार हूँ।

युधिष्ठिर ने कहा—"भाई युयुत्सु, आओ आओ। वासुदेव और हम सब तुमको ग्रहण करते हैं। तुम हमारी ओर होकर, हमारे साथ होकर, अपने मूढ़ भाइयों से युद्ध करो। धृतराष्ट्र के वंश और पिंड की रक्षा तुम्हीं से होगी। उनके बुढ़ापे की लकड़ी अकेले तुम ही होगे। तुम्हारे और सब भाई जरूर ही उस युद्ध में मारे जायँगे।" ऐसा उत्साह पाते ही युयुत्सु अपने भाइयों को छोड़कर डंका बजाते हुए पांडवों की सेना में आ गये।

राजा युधिष्ठिर ने प्रसन्न होकर फिर सुवर्णमय चमकीला कवच पहन लिया, और-और योद्धा लोग भी अपने-अपने रथों पर चढ़कर, पहले की तरह फिर व्यूह बनाकर, असंख्य नगाड़े आदि बजाते हुए घोर सिंहनाद करने लगे।

पुरुषसिंह धृष्टद्युम्न आदि राजा लोग पांडवों को फिर रथ पर सवार और युद्ध के लिये उद्यत देखकर अत्यंत प्रसन्न हुए। मान्य पुरुषों के मान की रक्षा करनेवाले पांडवों का गौरव देखकर सब राजा

लोग उनकी प्रशंसा करने लगे। चारों ओर लोग पांडवों की स्तुति करते हुए उन्हें साधुवाद देने लगे। इसके बाद उसी समय सैकड़ों-हज़ारों नगाड़ों और शंखों को मनस्वी वीरगण प्रसन्न होकर बजाने लगे। जिस पर घोर युद्ध होने लग पड़ा।
